माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमालायाः

३९. एकोनचत्वारिंशत्तमो ग्रन्थः ।

स्वविवृतियुतलघीयस्त्रयस्य अलङ्कारभूतः

॥ न्या य कु मु द च न्द्रः ॥

[द्वितीयो भागः]


स्व० सेठ माणिकचन्द्र हीराचन्द्र जे० पी०

सम्पादकः —
न्यायाचार्यमहेन्द्रकुमारः
स्या० वि० काशी



प्रकाशकः —
पं० नाथूरामप्रेमी
मन्त्री ग्रन्थमाला बम्बई

[मूल्यं ८॥) रूप्यकाणि]

माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला

जैनदर्शन-साहित्य-पुराण आगमादिप्राचीनसाहित्योद्धारिका प्राकृत-संस्कृत
अपभ्रंशादिभाषागुम्फिता जैनग्रन्थावलि ।

इयञ्च

साधुचरित सदाशय-दानवीर स्व० सेठ श्री माणिकचन्द्र-हीराचन्द्र जे पी
महाशयाना स्मरणकृते दि० जैनसमाजेन संस्थापिता ।

—≫ ≪—

अवै० मन्त्री— { श्री प० नाथूराम प्रेमी, बंबई ।
श्री प्रो० हीरालाल M A LL B अमरावती ।

कोषाध्यक्ष — श्री ठाकुरदास-भगवानदास जवेरी बंबई ।

ग्रन्थांकः—३९.

प्राप्तिस्थानम्—

मन्त्री—श्री माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला

हीराबाग

पो० गिरगाँव, बंबई न० ४

—≫ ≪—

स्थापनाब्दः] [वि० सं० १९७२

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितस्य

स्वविवृतिसहितलघीयस्त्रयस्य

अलङ्कारभूतः

श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

न्या य कु मु द च न्द्रः

[द्वितीयो भागः]

(न्यायाचार्यमहेन्द्रकुमारलिखितटिप्पणादिसहित)

स चायम्

काशीस्थ-श्रीस्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालयस्य न्यायाध्यापकपदप्रतिष्ठितेन
'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड-अकलङ्कग्रन्थत्रया'दिग्रन्थाना सम्पादकेन
न्यायाचार्य-न्यायदिवाकर-जैन-प्राचीनन्यायतीर्थाद्युपाधिभूषितेन
पं० म हे न्द्र कु मा र शा स्त्रि णा
प्रस्तावना पाठान्तर तुलनार्थबोधकटिप्पणी अवतरणनिर्देश-परिशिष्टादिभिः
संस्कृत्य संशोधितः, सम्पादितश्च ।

प्रकाशक –

मन्त्री–श्री पं० नाथूराम प्रेमी,
माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला
हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई नं० ४ ।

मुद्रक –बाबू रामकृष्णदास बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस ।

वीरनिर्वाणाब्दा २४६७

विक्रमाब्दा १९९८] प्रथमावृत्ति ६०० प्रति [क्रिस्ताब्दा १९४१

MÂṆIK CHANDRA DIG. JAIN
GRANTHMÂLÂ

A SERIES PUBLISHING CRITICAL EDITIONS OF CANONICAL PHILOSOPHICAL HISTORICAL LITERARY NARRATIVE ETC WORKS OF JAIN LITERATURE IN PRAKRITA SAMSKRIT AND APABHRAMŜA

FOUNDED

BY

THE DIG JAIN SAMÂJA

IN MEMORY OF

LATE, DÂNVÎR, SÊTH MÂNIK CHANDRA HIRA CHANDRA

JUSTICE OF PEACE BOMBAY

NUMBER 39

HONY SECRETARIES

Pandit Nathu Ram Premi, *Bombay*

Prof Hiralal, M A , LL B *Amraoti*

CASHIER —

Seth Thakur Das, Bhagwan Das Javery, *Bombay*

TO BE HAD FROM—

Secy MANIK CH DIG JAIN SERIES

HIRABAG

Post Girgaon, BOMBAY, 4

Founded]

[1915 A D

NYÂYA KUMUD CHANDRA

OF

ŚRÎMAT PRABHÂCHANDRÂCHÂRYA

[VOL II]

A commentary on Bhattâkalankadêva's Laghîyastraya

EDITED WITH —*INTRODUCTION EXHAUSTIVE ANNOTATIONS COMPARATIVE STUDY OF JAIN BUDDHIST AND VEDIC—PHILOSOPHIES AND THE VARIENT READINGS INDEXES ETC*

BY

PT MAHENDRA KUMAR NYAYACHARYA

NYAYA DIVAKAR JAIN & PRACHIN NYAYÂTÎRTHA

EDITOR OF *AKALANK GRANTHATRAY PRAMEYA KAMAL MARTAND ETC*

JAIN DARŚANÂDHYÂPAK

SRI SYÂDVÂD DIG JAIN MAHÂVIDYÂLAYA

BHADAINI, KASHI

PUBLISHED BY

SECY PANDIT NATHU RAM PREMI

MÂNIK CHANDRA DIG JAIN SERIES

HIRABAG GIRGAON

BOMBAY 4

PRINTED BY—RAMA KRISHNA DAS AT THE BENARES HINDU UNIVERSITY PRESS BENARES

V E 1998] *First Edition, 600 Copies* [1941 A D

न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भागका अनुक्रम





समर्पणम्—

"श्रीजैनसिद्धान्तमहोदधेर्यः समग्रसिद्धान्तगुरुर्वराम्भि ।
वंशीधरो जैनकुलावतंसो हर्षीपति न्यायनये जनोऽयम् ॥ १ ॥

स न्यायालङ्कारश्चस्याद्वादवारिधिर्धीमान् ।
वाग्देवीनर्मज्ञो मर्मज्ञः कर्मकाण्डस्य ॥ २ ॥

तस्याद्य षष्टिवर्षायामुपहारधिया मया ।
सम्पाद्य न्यायकुमुदचन्द्रग्रन्थमिदमर्प्यते ॥ ३ ॥"

तच्चरणशिष्येण
न्यायाचार्यमहेन्द्रकुमारेण

आ० मद्दक, ईडरभण्डारीय त्रुटित प्रति का ११ वाँ पत्र, द्वितीय पार्श्व

प्रकाशककी ओरसे



[illegible] दो वर्षके बाद न्यायकुमुदचन्द्रका यह दूसरा भाग भी पाठकोंके सामने उपस्थित किया जा रहा है और इस तरह [illegible] वर्षके बाद इस महान् ग्रन्थको प्रकाशित करनेकी मेरी इच्छा पूरी हो रही है। [illegible] भी समान सुन्दर पद्धतिसे सम्पादन और संशोधन किया गया है और इसके [illegible] इसका यह परिश्रम और अध्यवसाय दूसरे विद्वानोंके लिए ग्रन्थ-[illegible] का काम देगा। हमें आशा करनी चाहिए कि आगे जो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित [illegible] इसी परिश्रमसे हों।

[illegible] इस ग्रन्थमालाकी ओर से महापुराणका दूसरा खण्ड और जटासिंहनन्दिका वराङ्गचरित, [illegible] और भी प्रकाशित हो चुके हैं। महापुराणका तीसरा खण्ड प्रेसमें है, और आशा है कि वह भी [illegible] समाप्त हो जायगा।

[illegible] आर्थिक सम्बन्धी बात मैं पहले लिख चुका हूँ, वह अभी चल ही रहा है। ग्रन्थमालाके [illegible] अपने हाथकी अन्य संस्थाओंसे कुछ रकम कर्जके तौर पर [illegible] इस तरह [illegible] अधूरे ग्रन्थोंको पूरा करनेकी समस्याको हल कर लिया गया है। आगे [illegible] भविष्य [illegible] अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

[illegible] अधिकारकी सीमाके भीतर नहीं आती कि यह ग्रन्थकर्त्ताके समय [illegible] भी कुछ लिख और उसकी ऐसी कोई जरूरत भी नहीं मालूम होती। परन्तु सम्पादक [illegible] है कि मुझे कुछ लिखना ही चाहिए अत एव विवश हूँ।

[illegible] भूमिकामें पं० कैलाशचन्द्रजीने और इस भागकी भूमिकामें पं० महेन्द्रकुमारजीने आचार्य [illegible] विषयमें खूब विस्तारके साथ ऊहापोह किया है। यद्यपि दोनों विद्वानोंमें अनेक बातोंमें [illegible] है फिर भी उनके इस प्रयत्नसे पाठकोंके समक्ष आचार्य प्रभाचन्द्रके समयकी शताब्दी तो कमसे कम [illegible] हो जाती है और यह बहुत बड़ी बात है।

[illegible] प्रभाचन्द्राचार्य जैसा कि उनके ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें ही लिखा है, धारानरेश भोज [illegible] जयसिंहदेवके समयके विद्वान् हैं और अब इस विषयमें जरा भी सन्देहकी [illegible] है।

[illegible] समयनिर्णयमें सबसे बड़ा बाधक भगवज्जिनसेनके आदिपुराणका वह चन्द्रांशुशुभ्र [illegible] था, जिसने विद्वानोंमें एक ऐसा विभ्रम उत्पन्न कर दिया था कि वे जिनसेनके बाद [illegible] हो नहीं सकते थे। क्योंकि उसमें 'प्रभाचन्द्रकवि' और 'कृत्वा चन्द्रोदय' पद [illegible] प्रभाचन्द्राचार्य और न्यायकुमुदचन्द्रके सिवाय दूसरी ओर किसीकी दृष्टि ही [illegible] जहाँ तक मैं जानता हूँ सबसे पहले पं० कैलाशचन्द्रजीने उक्त श्लोकके माने हुए अर्थमें [illegible] किया कि जिनसेन स्वामीने किसी और ही प्रभाचन्द्रकी स्तुतिकी होगी और [illegible] नामका ग्रन्थ भी होगा।

[illegible] हरिवंशपुराणके 'आकूपार यशो लोके' आदि श्लोक से यह भी अनुमान

---

* [illegible] । कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत् ॥

[illegible] । शुभ्र कुमारसेनस्य [illegible] ॥

किया कि ये प्रभाचन्द्र कुमारसेन गुरुके शिष्य थे जब कि न्यायकुमुदचन्द्रकर्त्ताके गुरु पद्मनन्दि थे। अत एव दोनों जुदा जुदा समयके जुदा जुदा विद्वान् हैं।

इस उलझनके सुलझ जानेपर प्रभाचन्द्रके समय निर्णयका मार्ग सुगम हो गया और अब तो पं० महेन्द्रकुमारजीने उनके ग्रन्थोंके अन्तरंग प्रमाणों तथा बहिःप्रमाणोंसे बिल्कुल निश्चित ही कर दिया है।

प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदके अतिरिक्त उनके और कौन कौन ग्रन्थ हैं, इसका पता लगानेकी और यह सप्रमाण सिद्ध करनेकी कि वे उन्हींके हैं दूसरे प्रभाचन्द्र नामधारियोंके नहीं हैं, अभी और जरूरत है।

मेरी समझमें प्रभाचन्द्रने टीका टिप्पण ग्रन्थ बहुत लिखे हैं और अभी तक जिन्हें दूसरे प्रभाचन्द्रोंका समझा जाता था उनमेंसे नीचे लिखे टीका-ग्रन्थ तो उनके ही हैं यह प्रायः निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है। भूमिकामें इनमेंसे कुछकी चर्चा भी की जा चुकी है—

१ तत्त्वार्थवृत्तिपद विवरण (सर्वार्थसिद्धि टिप्पण)।
२ प्रवचनसरोजभास्कर। ६ समाधितन्त्र-टीका।
३ शब्दाम्भोजभास्कर। ७ आत्मानुशासन तिलक।
४ रत्नकरण्ड-टीका। ८ महापुराण (पुष्पदन्त) टिप्पण।
५ क्रियाकलाप-टीका। ९ द्रव्यसंग्रह-पञ्जिका।

पिछले ग्रन्थकी सूचना अभी हाल ही मुझे रायल एशियाटिक सोसाइटी बाम्बे ब्रांचके हस्तलिखित ग्रन्थोंके कैटलॉगमें मिली। उक्त ग्रन्थकी प्रति सं० १८२२ की लिखी हुई है। उसका मङ्गलाचरण यह है—

"नत्वा जिनाख्यमपहरिततसमस्तदोषं लोकत्रयाधिपतिसंस्तुतपादपद्मम्।
ज्ञानप्रभाप्रकटिताखिलवस्तुसार्थं षड्द्रव्यनिर्णयमहं प्रकटं प्रवक्ष्ये॥"

मङ्गलाचरणकी यह शैली प्रभाचन्द्रकी ही है और उनके अन्य मङ्गलाचरणोंके साथ इसका शब्दसाम्य भी है।

आराधनाकथाकोश (गद्य) भी इन्हींका बनाया हुआ है।

अन्य ग्रन्थसूचियोंमें प्रभाचन्द्रके नामसे नीचे लिखे टीका ग्रन्थोंके नाम और भी मिलते हैं। मेरा अनुमान है कि इनमेंसे अधिकांश इन्हीं प्रभाचन्द्रके होंगे—

१ अष्टपाहुड-पञ्जिका ५ पञ्चास्तिकायटीका
२ स्वयम्भूस्तोत्र-पञ्जिका ६ मूलाचारटीका
३ देवागम-पञ्जिका ७ आराधना-टीका
४ समयसार टीका ८ पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाटीका

इन टीका-ग्रन्थोंकी छान-बीन होने पर समयादिके सम्बन्धमें और भी पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हो सकेंगे। मैं गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेजके प्रिंसिपल डॉ० मङ्गलदेवजी शास्त्री और हिन्दू विश्वविद्यालयके जैनदर्शनाध्यापक पं० सुखलालजीका आभार मानता हूँ जिन्होंने आमुख और प्राक्कथनके रूपमें बहुमूल्य विचार उपस्थित किए हैं।

बम्बई
२०-१-४१

—नाथूराम प्रेमी
मन्त्री ग्रन्थमाला।

॥ आदिवचन ॥

भारतीय दर्शनशास्त्रका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। भिन्न भिन्न समयमें अधिकारिभेदसे अनेक दर्शनोंका उत्थान इस देशमें हुआ। दृश्य जगत्‌के सम्पर्कसे विभिन्न परिस्थितियोंके कारण मनुष्यके हृदयमें जो अनेक प्रकारकी जिज्ञासा उत्पन्न होती हैं उनका समाधान करना ही किसी दर्शनका मुख्य लक्ष्य होता है। जिज्ञासाभेदसे दर्शनोंका भेद स्वाभाविक है। भारतीय दर्शनोंमें जैनदर्शनका भी एक प्रधान स्थान है। इसका हमारी समझमें एक मुख्य वैशिष्ट्य यह है कि इसके आचार्योंने प्रचलित परम्परागत विचार और रूढियोंसे अपनेको पृथक् करके स्वतन्त्र दृष्टिसे दार्शनिक प्रमेयोंके विश्लेषणकी चेष्टा की है। हम यहां विश्लेपण शब्दका प्रयोग जान बूझकर कर रहे हैं। वस्तुस्थितिमें एक दार्शनिकका कार्य–जिस प्रकार एक वैयाकरण शब्दका व्याकरण अर्थात् विश्लेपण, न कि निर्माण, करता है–इसी प्रकार पदार्थोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले हमारे विचारों और उनके सम्बन्धोंके रहस्यका उद्घाटन करना होता है। 'पदार्थोंकी सत्ता हमारे विचारोंसे निरपेक्ष, स्वतः सिद्ध है' इस सिद्धान्तको प्रायः लोग भूल जाते हैं। हम समझते हैं कि जैनदर्शनका अनेकान्तवाद, जिसको कि उसकी मूलभित्ति कहा जा सकता है, उपर्युक्त मूलसिद्धान्तको लेकर ही प्रवृत्त हुआ है।

अनेकान्तवादका मौलिक अभिप्राय यही हो सकता है कि तत्त्वके विषयमें आग्रह न

होते हुए भी उसके विषयमें तत्तदवस्थाभेदके कारण दृष्टिभेद संभव है। इस सिद्धान्तकी मौलिकतामें किसको सन्देह हो सकता है ? क्या हम

"श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।" [महाभारत]

"यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥" [केनोपनिषद् २।३] इत्यादि वचनोंको मूलमें अनेकान्तवादका ही प्रतिपादक नहीं कह सकते ? 'दर्शन' शब्द ही स्वतः दृष्टिभेदके अर्थको प्रकट करता है। इस अभिप्रायसे जैनाचार्योंने अनेकान्तवादके द्वारा दार्शनिक आधार पर विभिन्न दर्शनोंमें विरोध भावनाको हटाकर परस्पर समन्वय स्थापित करनेका एक सत्प्रयत्न किया है।

अनेक अवस्थाओंसे बद्ध, सर्वथा विभिन्न दृष्टिकोणोंसे पदार्थोंको देखनेका अभ्यासी, मनुष्य किसी पदार्थके अखण्ड सकल स्वरूपको कैसे जान सकता है ? उस अखण्ड मूल-स्वरूपको हम सच्चे अर्थमें "गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्" कह सकते हैं। "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" [यजुर्वेद पुरुषसूक्त] इस वैदिकश्रुतिका भी वास्तविक तात्पर्य यही है। इसमें सन्देह नहीं कि जैनदर्शनमें प्रतिपादित अनेकान्तवादके इस मौलिक अभिप्रायको समझनेसे दार्शनिक जगत्में परस्पर विरोध तथा कलहकी भावनाओंके नाशसे परस्पर सौमनस्य और शान्तिका साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

जैनधर्मकी भारतीय संस्कृतिको सबसे बड़ी देन अहिंसावाद है। जो कि वास्तवमें दार्शनिक भित्तिपर स्थापित अनेकान्तवादका ही नैतिकशास्त्रकी दृष्टिसे अनुवाद कहा जा सकता है। धार्मिक दृष्टिसे यदि अहिंसावादको ही जैनधर्ममें सर्वप्रथम स्थान देना आवश्यक हो तो हम अनेकान्तवादको ही उसका दार्शनिकदृष्टिसे अनुवाद कह सकते हैं। अहिंसा शब्दका अर्थ भी मानवीय सभ्यताके उत्कर्षानुरूपकी दृष्टिसे भिन्न भिन्न किया जा सकता है। एक साधारण मनुष्यके स्थूल विचारोंकी दृष्टिसे हिंसा किसीकी जान लेनेमें ही हो सकती है। किसीके भावोंको आघात पहुँचानेको वह हिंसा नहीं कहेगा। परन्तु एक सभ्य मनुष्य तो विरुद्ध विचारोंकी असहिष्णुताको भी हिंसा ही कहेगा। उसका सिद्धान्त तो यही होता है कि—

"अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता।
सैव दुर्भाषिता राजन् अनर्थायोपपद्यते॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः॥"

[विदुरनीति २।७७,८०]

सभ्य जगत्का आदर्श विचारस्वातन्त्र्य है। इस आदर्शकी रक्षा अहिंसावाद (हिंसा-असहिष्णुता) के द्वारा ही हो सकती है। विचारोंकी सङ्कीर्णता या असहिष्णुता

ईर्षा द्वेषकी जननी है। इस असहिष्णुताको हम किसी अन्धकारसे कम नहीं समझते। आज हमारे देशमे जो अशान्ति है उसका एक मुख्य कारण यही विचारोंकी सङ्कीर्णता है। प्राचीन संस्कृत साहित्यमे पाया जानेवाला **'आनृशंस्य'** शब्द भी इसी अहिंसावादका द्योतक है। इस प्रकारके अहिंसावादकी आवश्यकता सारे संसारको है। जैनधर्मके द्वारा इसमे बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। उपर्युक्त दृष्टिसे जैनदर्शन भारतीय दर्शनोमे अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

चिरकालसे ही हमारी यह हार्दिक इच्छा रही है कि हमारे देशमे दार्शनिक अध्ययन साम्प्रदायिक सङ्कीर्णतासे निकलकर विशुद्ध दार्शनिकदृष्टिसे किया जावे। और उसमे दार्शनिक समस्याओंको सामने रखकर तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टिका यथासंभव अधिकाधिक उपयोग हो। इसी पद्धतिके अवलम्बनसे भारतीय दर्शनका क्रमिक विकास समझा जा सकता है, और दार्शनिक अध्ययनमे एक प्रकारकी सजीवता आ सकती है।

यह प्रसन्नताकी बात है कि कुछ विद्वानोंने बहुत कुछ इसी पद्धतिके अनुसार ग्रन्थोंका सम्पादन प्रारम्भ कर दिया है। प्रज्ञाचक्षु प्रसिद्ध विद्वान् पं० सुखलालजीका नाम इस सम्बन्धमे विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। दार्शनिक विद्वान् पं० महेन्द्रकुमारजी शास्त्रीने भी इसी पद्धतिका अवलम्बन कर जैनदर्शनके साहित्यका सम्पादन करना प्रारम्भ कर दिया है। अब तक आप न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभाग, अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके विद्वत्तापूर्ण संस्करण प्रकाशित कर चुके हैं। न्यायकुमुदचन्द्रका यह द्वितीय भाग भी उसी प्रकार बडे परिश्रमसे सम्पादन करके प्रकाशित किया जा रहा है। आपकी प्रस्तावनाओं और टिप्पणियोंसे पगपग पर यह स्पष्ट है कि आपने अनेकानेक अन्य ग्रन्थोंके साथ तुलना करके यथासंभव इस बातकी चेष्टा की है कि प्रकृतग्रन्थका उनके साथ जो कुछ भी सम्बन्ध हो वह स्पष्ट हो जावे। इसके लिए संस्कृत विद्वन्मण्डली सम्पादक महाशयकी अवश्य आभारी होगी। हम अपनी ओरसे उनको हृदयसे इस सफलता पर बधाई देते हैं, और आशा करते हैं कि अन्य ग्रन्थ सम्पादक महाशय उनकी पद्धतिका अवलम्बन करेंगे।

—मङ्गलदेव शास्त्री,
M A D Phil (Oxon)
[प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस
रजिस्ट्रार गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज इग्जामिनेशन्स
यू० पी०, बनारस]

सरस्वती भवन,
२८।३।४१

॥ प्राक्कथन ॥



न्यायकुमुदचन्द्रके प्रथम भागमें मैं अपना प्राक्कथन लिख चुका हूँ। फिर भी इस दूसरे भागकी प्रस्तावना जब मैं सुन गया तब प्राक्कथन रूपसे कुछ भी लिखनेके संपादकीय अनुरोधको टाल न सका। इसीलिए कुछ लिखने को प्रवृत्त हुआ हूँ। न्यायकुमुदचन्द्र यह दर्शनका ग्रन्थ है सो भी सम्प्रदायविशेषका, अतएव सर्वोपयोगिताकी दृष्टिसे यह विचार करना उचित होगा कि दर्शनका मतलब क्या समझा जाता है और वस्तुतः उसका मतलब क्या होना चाहिए। इसी तरह यह भी विचारना समुचित होगा कि सम्प्रदाय क्या वस्तु है और उसके साथ दर्शन का सम्बन्ध कैसा रहा है तथा उस साम्प्रदायिक सम्बन्धके फल स्वरूप दर्शनमें क्या गुण दोष आए हैं इत्यादि।

सब कोई सामान्यरूपसे यही समझते और मानते आए हैं कि दर्शनका मतलब है तत्त्वसाक्षात्कार। सभी दार्शनिक अपने अपने साम्प्रदायिक दर्शनको साक्षात्काररूप ही मानते आए हैं। यहाँ सवाल यह है कि साक्षात्कार किसे कहना? इसका जवाब एक ही हो सकता है कि साक्षात्कार वह है जिसमें भ्रम या संदेहको अवकाश न हो और साक्षात्कार किए गए तत्त्वमें फिर मतभेद या विरोध न हो। अगर दर्शनकी उक्त साक्षात्कारात्मक व्याख्या सबको मान्य है तो दूसरा प्रश्न यह होता है कि अनेक सम्प्रदायाश्रित विविध दर्शनोंमें एक ही तत्त्वके विषयमें इतने नाना मतभेद कैसे? और उनमें असमाधेय समझा जानेवाला परस्पर विरोध कैसा? इस शङ्काका जवाब देनेके लिए हमारे पास एक ही रास्ता है कि हम दर्शन शब्दका कुछ और अर्थ समझें। उसका जो साक्षात्कार अर्थ समझा जाता है और जो चिरकालसे शास्त्रोंमें भी लिखा मिलता है, वह अर्थ अगर यथार्थ है, तो मेरी रायमें वह समग्र दर्शनों द्वारा निर्विवाद और असंदिग्धरूपसे सम्मत निम्नलिखित आध्यात्मिक प्रमेयोंमें ही घट सकता है—

१–पुनर्जन्म, २–उसका कारण, ३–पुनर्जन्मग्राही कोई तत्त्व, ४–साधनविशेषद्वारा पुनर्जन्मके कारणोंका उच्छेद।

ये प्रमेय साक्षात्कारके विषय माने जा सकते हैं। कभी न कभी किसी तपस्वी द्रष्टा या द्रष्टाओंको उक्त तत्त्वोंका साक्षात्कार हुआ होगा ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि आज तक किसी आध्यात्मिक दर्शनमें इन तथा ऐसे तत्त्वोंके बारेमें न तो मतभेद प्रकट हुआ है और न उनमें किसीका विरोध ही रहा है। पर उक्त मूल आध्यात्मिक प्रमेयोंके विशेष विशेष स्वरूपके विषयमें तथा उनके ब्यौरेवार विचारमें सभी प्रधान प्रधान दर्शनोंका, और कभी कभी तो एक ही दर्शनकी अनेक शाखाओंका इतना अधिक मतभेद और विरोध शास्त्रोंमें देखा जाता है कि जिसे देखकर तटस्थ समालोचक यह कभी नहीं मान सकता कि किसी एक या सभी सम्प्रदायके ब्यौरेवार मन्तव्य साक्षात्कारके विषय हुए हों। अगर वे मन्तव्य साक्षात्कृत हों तो किस सम्प्रदायके? किसी एक

सम्प्रदायको ब्यौरेके बारेमें साक्षात्कर्ता–द्रष्टा साबित करना टेढ़ी खीर है। अतएव बहुत हुआ तो उक्त मूल प्रमेयोंमें दर्शनका साक्षात्कार अर्थ मान लेनेके बाद ब्यौरेके बारेमें दर्शनका कुछ और ही अर्थ करना पड़ेगा।

विचार करनेसे जान पड़ता है, कि दर्शनका दूसरा अर्थ 'सबलप्रतीति' ही करना ठीक है। शब्दके अर्थोंके भी जुदे जुदे स्तर होते हैं। दर्शनके अर्थका यह दूसरा स्तर है। हम वाचक उमास्वातिके **"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"** इस सूत्रमें तथा इसकी व्याख्याओंमें यह दूसरा स्तर स्पष्ट पाते हैं। वाचकश्रीने साफ कहा है कि प्रमेयोंकी श्रद्धा ही दर्शन है। यहाँ यह कभी न भूलना चाहिए कि श्रद्धाके माने है बलवती प्रतीति या विश्वास, न कि साक्षात्कार। श्रद्धा या विश्वास, साक्षात्कारको सम्प्रदायमें जीवित रखनेकी एक भूमिका-विशेष है, जिसे मैंने दर्शनका दूसरा स्तर कहा है।

यों तो सम्प्रदाय हर एक देशके चिन्तकोंमें देखा जाता है। यूरोपके तत्त्वचिन्तनकी आद्य भूमि ग्रीसके चिन्तकोंमें भी परस्पर विरोधी अनेक सम्प्रदाय रहे हैं, पर भारतीय तत्त्वचिन्तकोंके सम्प्रदायकी कथा कुछ निराली ही है। इस देशके सम्प्रदाय मूलमें धर्मप्राण और धर्मजीवी रहे हैं। सभी सम्प्रदायोंने तत्त्वचिन्तनको आश्रय ही नहीं दिया बल्कि उसके विकास और विस्तार में भी बहुत कुछ किया है। एक तरहसे भारतीय तत्त्वचिन्तनका चमत्कारपूर्ण बौद्धिकप्रदेश जुदे जुदे सम्प्रदायोंके प्रयत्नका ही परिणाम है। पर हमें जो सोचना है वह तो यह है कि हर एक सम्प्रदाय अपने जिन मन्तव्यों पर सबल विश्वास रखता है और जिन मन्तव्योंको दूसरा विरोधी सम्प्रदाय कतई माननेको तैयार नहीं है वे मन्तव्य साम्प्रदायिक विश्वास या साम्प्रदायिक भावनाके ही विषय माने जा सकते हैं साक्षात्कारके विषय नहीं। इस तरह साक्षात्कारका सामान्य स्रोत सम्प्रदायोंकी भूमि पर ब्यौरेके विशेष प्रवाहोंमें विभाजित होते ही विश्वास और प्रतीतिका रूप धारण करने लगता है।

जब साक्षात्कार विश्वास रूपमें परिणत हुआ तब उस विश्वासको स्थापित रखने और उसका समर्थन करनेके लिए सभी सम्प्रदायोंको कल्पनाओंका–दलीलोंका तथा तर्कोंका सहारा लेना पड़ा। सभी साम्प्रदायिक तत्त्वचिन्तक अपने अपने विश्वासकी पुष्टिके लिए कल्पनाओंका सहारा पूरे तौरसे लेते रहे फिर भी यह मानते रहे कि हम और हमारा सम्प्रदाय जो कुछ मानते हैं वह सब कल्पना नहीं किन्तु साक्षात्कार है। इस तरह कल्पनाओंका तथा सत्य असत्य और अर्धसत्य तर्कोंका समावेश भी दर्शनके अर्थमें हो गया। एकतरफसे जहाँ सम्प्रदायने मूलदर्शन यानी साक्षात्कारकी रक्षाकी और जहाँ उसे स्पष्ट करने के लिए अनेक प्रकारके चिन्तनको चालू रखा तथा उसे व्यक्त करनेकी अनेक मनोरम कल्पनाएँकी, वहाँ दूसरी तरफसे संप्रदायकी बाड़ पर बढ़ने तथा फूलने-फलनेवाली तत्त्वचिन्तनकी बेल इतनी पराश्रित हो गई कि उसे संप्रदायोंके सिवाय दूसरा कोई सहारा ही न रहा। फलतः पर्दबन्द पद्मिनियोंकी तरह तत्त्वचिन्तनकी बेल भी कोमल और संकुचितदृष्टिवाली बन गई।

हम साम्प्रदायिक चिन्तकोंका यह मुकार रोज देखते हैं कि वे अपने चिन्तनमें तो कितनी ही कमी या अपनी दलीलोंमें कितनाही कचापन क्यों न हो उसे प्राय देख नहीं पाते। और दूसरे विरोधी सम्प्रदायके तत्त्वचिन्तनोंमें कितना ही सादृगुण्य और वैशद्य क्यों न हो उसे स्वीकार करनेमें भी हिचकिचाते हैं। साम्प्रदायिक तत्त्वचिन्तकोंका यह भी मानस देखा जाता है कि वे सम्प्रदायान्तरके प्रमेयोंको या विशेष चिन्तनोंको अपनाकर भी मुक्तकण्ठसे उसके प्रति कृतज्ञता दर्शानेमें हमेशा हिचकिचाते हैं। दर्शन जब साक्षात्कारकी भूमिकाको लाँघकर विचारकी भूमिका पर आया और उसमें कल्पनाओं तथा सत्यासत्य तर्कोंका भी समावेश किया जाने लगा, तब दर्शन साम्प्रदायिक सङ्कुचित दृष्टियोंमें आवृत होकर, मूलमें शुद्ध आध्यात्मिक होते हुए भी अनेक दोषोंका पुञ्ज भी बन गया। अब तो यह पृथक्करण करना ही कठिन हो गया है कि दार्शनिक चिन्तनोंमें क्या कल्पनामात्र है, क्या सत्य तर्क है, या क्या असत्य तर्क है? हर एक सम्प्रदायका अनुयायी चाहे वह अपढ़ हो, या पढ़ा लिखा, विद्यार्थी एवं पंडित, यह मानकर ही अपने तत्त्वचिंतक ग्रन्थोंको सुनता है या पढ़ता पढ़ाता है, कि इस हमारे तत्त्वग्रन्थमें जो कुछ लिखा गया है वह अक्षरशः सत्य है, इसमें भ्रान्ति या संदेहको अवकाश ही नहीं है। तथा इसमें जो कुछ है वह दूसरे किसी सम्प्रदायके ग्रन्थमें नहीं है। और अगर है तो भी वह हमारे सम्प्रदायसे ही उनमें गया है। इस प्रकारकी प्रत्येक सम्प्रदायकी अपूर्णमें पूर्ण मान लेनेकी प्रवृत्ति इतनी अधिक बलवती है कि अगर इसका कुछ इलाज न हुआ तो मनुष्य जातिका उपकार करनेके लिए प्रवृत्त हुआ यह दर्शन मनुष्यताका ही घातक सिद्ध होगा।

मैं समझता हूँ कि उक्त दोषको दूर करनेके अनेक उपायोंमें से एक उपाय यह भी है कि जहाँ दार्शनिक प्रमेयोंका अध्ययन तात्त्विकदृष्टिसे किया जाय वहाँ साथ ही साथ वह अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे भी किया जाय। जब हम किसी भी एक दर्शनके प्रमेयोंका अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे करते हैं तब हमें अनेक दूसरे दर्शनोंके प्रमेयोंके बारेमें भी जानकारी प्राप्त करनी पड़ती है। वह जानकारी अधूरी या विपर्यस्त नहीं। पूरी और यथासंभव यथार्थ जानकारी होते ही हमारा मानस व्यापक ज्ञानके आलोकसे भर जाता है। ज्ञानकी विशालता और स्पष्टता हमारी दृष्टिमेंसे सङ्कुचितता तथा तज्जन्य भय आदि दोषोंको उसी तरह हटाती है जिस तरह प्रकाश तम को। हम असर्वज्ञ और अपूर्ण हैं, फिर भी अधिकसे अधिक सत्यके निकट पहुँचना चाहते हैं। अगर हम योगी नहीं हैं फिर भी अधिकारिक सत्य या तत्त्वदर्शनके अधिकारी बनना चाहते हैं तो हमारे वास्ते साधारण मार्ग यही है कि हम किसी भी दर्शनको यथा संभव सर्वांगीण ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे भी पढ़ें।

न्यायकुमुदचन्द्रके संपादक पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने मूल ग्रन्थके नीचे एक एक छोटे बड़े मुद्देपर जो बहुश्रुतत्वपूर्ण टिप्पण दिये हैं और प्रस्तावनामें जो अनेक सम्प्रदायोंके आचार्योंके ज्ञानमें एक दूसरेसे लेनदेनका ऐतिहासिक पर्यालोचन किया है, उन सबकी सार्थकता उपयुक्त दृष्टिसे अध्ययन करने करानेमें ही है। सारे न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पण तथा प्रस्तावनाका

मर्मांश अगर कार्यसाधक है तो सर्वप्रथम अध्यापकोंके लिए। जैन हो या जैनेतर, सच्चा जिज्ञासु इसमें से बहुत कुछ पा सकता है। अध्यापकोंकी दृष्टि एक बार साफ हुई, उनका अवलोकन प्रदेश एक बार विस्तृत हुआ, फिर वह सुवास विद्यार्थियोंमें तथा अपढ़ अनुयायियोंमें भी अपने आप फैलने लगती है। इस भावी लाभकी निश्चित आशासे देखा जाय तो मुझको यह कहनेमें लेश भी सङ्कोच नहीं होता कि संपादकका टिप्पण तथा प्रस्तावनाविषयक श्रम दार्शनिक अध्ययन क्षेत्रमें साम्प्रदायिकताकी सङ्कुचित मनोवृत्ति दूर करनेमें बहुत कारगर सिद्ध होगा।

भारतवर्षको दर्शनोंकी जन्मस्थलीऔर क्रीडाभूमि माना जाता है। यहाँका अपढ़ जन भी ब्रह्मज्ञान, मोक्ष तथा अनेकान्त जैसे शब्दोंको पद पद पर प्रयुक्त करता है, फिर भी भारतका दार्शनिक पौरुषशून्य क्यों होगया है? इसका विचार करना जरूरी है। हम देखते हैं कि दार्शनिक प्रदेशमें कुछ ऐसे दोष दाखिल हो गए हैं जिनकी ओर चिन्तकोंका ध्यान अवश्य जाना चाहिए। पहली बात दर्शनोंके पठन-सम्बन्धी उद्देश्यकी है। जिसे दूसरा कोई क्षेत्र न मिले और बुद्धि-प्रधान आजीविका करनी हो तो बहुधा वह दर्शनोंकी ओर झुकता है। मानो दार्शनिक अभ्यास का उद्देश्य या तो प्रधानतया आजीविका हो गया है या वादविजय एवं बुद्धिविलास। इसका फल हम सर्वत्र एक ही देखते हैं कि या तो दार्शनिक गुलाम बन जाता है या सुखशील। इस तरह जहाँ दर्शन शाश्वत अमरताकी गाथा तथा अनिवार्य प्रतिक्षण-मृत्युकी गाथा सिखाकर अभयका संकेत करता है वहाँ उसके अभ्यासी हम निरे भीरु बन गए हैं। जहाँ दर्शन हमें सत्य-असत्यका विवेक सिखाता है वहाँ हम उलटे असत्यको समझनेमें भी असमर्थ होरहे हैं, तथा अगर उसे समझ भी लिया, तो उसका परिहार करनेके विचारसे ही काँप उठते हैं। दर्शन जहाँ दिन रात आत्मैक्य या आत्मौपम्य सिखाता है वहाँ हम भेद-प्रभेदोंको और भी विशेषरूपमें पुष्ट करनेमें ही लग जाते हैं। यह सब विपरीत परिणाम देखा जाता है। इसका कारण एक ही है, और वह है दर्शनके अध्ययनके उद्देश्यको ठीक ठीक न समझना। दर्शन पढ़नेका अधिकारी वही हो सकता है और उसेही पढ़ना चाहिए कि जो सत्य-असत्यके विवेकका सामर्थ्य प्राप्त करना चाहता हो और जो सत्यके स्वीकारकी हिम्मतकी अपेक्षा असत्यका परिहार करनेकी हिम्मत या पौरुष सर्वप्रथम और सर्वाधिक प्रमाणमें प्रकट करना चाहता हो। संक्षेपमें दर्शनके अध्ययनका एक मात्र उद्देश्य है जीवनकी बाहरी और भीतरी शुद्धि। इस उद्देश्यको सामने रखकर ही उस का पठन-पाठन जारी रहे तभी वह मानवताका पोषक बन सकता है।

दूसरी बात है दार्शनिक प्रश्नोंमें नये संशोधनोंकी। अभी तक यही देखा जाता है कि प्रत्येक सम्प्रदायमें जो मान्यताएँ और जो कल्पनाएँ रूढ़ हो गई हैं उन्हींको उस सम्प्रदायमें सर्वज्ञप्रणीत माना जाता है। और आवश्यक नये विचार प्रकाशका उनमें प्रवेश ही नहीं होने पाता। पूर्व-पूर्व पुरुषोंके द्वारा किए गए और उत्तराधिकारमें दिए गए चिन्तनों तथा धारणोंका प्रवाह ही सम्प्रदाय है। हर एक सम्प्रदायका माननेवाला अपने मन्तव्योंके समर्थनमें ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकी प्रतिष्ठाका उपयोग तो करना चाहता है, पर इस दृष्टिका उपयोग वह वहाँ तक

ही करता है जहाँ उसे कुछ भी परिवर्तन न करना पड़े। परिवर्तन और संशोधनके नामसे या तो सम्प्रदाय घबड़ाता है या अपनेमें पहलेसे ही सब कुछ होनेकी डींग हाँकता है। इसलिए भारतका दार्शनिक पीछे पड़ गया है। जहाँ जहाँ वैज्ञानिक प्रमेयोंके द्वारा या वैज्ञानिक पद्धतिके द्वारा दार्शनिक विषयोंमें संशोधन करनेकी गुंजाइश हो वहाँ सर्वत्र उसका उपयोग अगर न किया जायगा तो यह सनातन दार्शनिकविद्या केवल पुराणोंकी ही वस्तु रह जायगी। अत एव दार्शनिक क्षेत्रमें संशोधन करनेकी प्रवृत्तिकी ओर भी झुकाव होना जरूरी है।

दर्शन सम्बन्धी इतनी सामान्य चर्चा कर लेनेके बाद कुछ ऐतिहासिक प्रश्नों पर भी लिखना आवश्यक है। पहला प्रश्न है अकलङ्कके समयका। पं० महेन्द्रकुमारजीने "अकलङ्कग्रन्थत्रय" की प्रस्तावनामें धर्मकीर्ति और उसके शिष्यों आदिके ग्रन्थोंकी तुलनाके आधार पर अकलङ्कका समय निश्चित करते समय जो विक्रमार्कीय शकसंवत् का अर्थ विक्रमीयसंवत् न लेकर शक-संवत् लेनेकी ओर संकेत किया है वह मुझको भी विशेष साधार मालूम पड़ता है। इस विषयमें पंडितजीने जो धवलाटीकागत उल्लेख तथा प्रो० हीरालालजीके कथनका उल्लेख प्रस्तावना (पृ० ५) में किया है वह उनकी अकलङ्कग्रन्थत्रयमें स्थापित विचारसरणीका ही पोषक है। इस बारेमें सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० जयचन्द्र विद्यालङ्कारजीका§ विचार भी पं० महेन्द्रकुमारजीकी धारणाका ही पोषक है। मैं तो पहिलेसे ही मानता आया हूँ कि अकलङ्कका समय विक्रमकी आठवीं

§ वे भारतीय इतिहासकी रूपरेखा (पृ० ८२४-२९) में लिखते हैं कि-'महमूद गजनवीके समकालीन प्रसिद्ध विद्वान् यात्री अल्बरूनीने अपने भारत विषयक ग्रन्थमें शकराजा और दूसरे विक्रमादित्यके युद्धका हाल इस प्रकार लिखा है- शकसंवत् अथवा शककालका आरम्भ विक्रमादित्यके संवत्से १३५ वर्ष पीछे पड़ता [illegible]। प्रस्तुत शकने उन (हिन्दुओं) के देश पर सिन्ध नदी और समुद्रके बीच आर्यावर्तके उस राज्यको अपना निवास स्थान बनानेके बाद बड़े अत्याचार किए। कइयों का कहना है वह अलमन्सूरा नगरीका शूद्र था, दूसरे कहते हैं वह हिन्दू था ही नहीं और भारतमें पश्चिम से आया था। हिन्दुओंको उससे बहुत कष्ट सहने पड़े। अन्तमें उन्हें पूरब से सहायता मिली जब कि विक्रमादित्यने उस पर चढ़ाई की, उसे भगा दिया और मुलतान तथा लोनीके कोटके बीच करूर प्रदेशमें उसे मार डाला। तब यह तिथि प्रसिद्ध हो गई क्योंकि लोग उस प्रजापीडककी मौतकी खबरसे बहुत खुश हुए और उस तिथिसे एक संवत् शुरू हुआ जिसे ज्योतिषी विशेषरूपसे बरतने लगे। ... किन्तु विक्रमादित्य संवत् कहे जानेवाले संवत् के आरम्भ और शकके मारे जाने के बीच बड़ा अन्तर है, इससे मैं समझता हूँ कि उस संवत् का नाम जिस विक्रमादित्य के नामसे पड़ा है वही शकको मारनेवाला विक्रमादित्य नहीं है, केवल दोनोंका नाम एक है। पृ० (८२४-२५) 'इस पर एक शंका उपस्थित होती है शालिवाहनवाली अनुश्रुतिके कारण। अल्बरूनी स्पष्ट कहता है कि ७८ ई० का संवत् राजा विक्रमादित्य (सातवाहन) ने शकको मारने की यादगारमें चलाया। वही बात ज्योतिषी भट्टोत्पल (९६६ ई०) और ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) ने भी लिखी है। वह संवत् अब भी पञ्चाङ्गोंमें शालिवाहन शक अर्थात् शालिवाहनाब्द कहलाता है। ...' (पृ० ८३६)। इन दो अवतरणोंसे इतनी बात निर्विवाद सिद्ध है कि विक्रमादित्य (सातवाहन) ने शकराजाको मारकर अपनी शकविजयके उपलक्ष्यमें एक संवत् चलाया था। जो सातवीं शताब्दी (ब्रह्मगुप्त) से ही शालिवाहनाब्द माना जाता है। धवलाटीका आदिमें जिस विक्रमार्कशक संवत् का उल्लेख आता है वह यही शालिवाहनशक होना चाहिए। उसका विक्रमार्कशक नाम शकविजयके उपलक्ष्यमें विक्रमादित्य द्वारा चलाए गए शकसंवत् का स्पष्ट सूचन कर रहा है।

शताब्दीका उत्तरार्ध और नवमीं शताब्दीका पूर्वार्ध ही हो सकता है जैसा कि याकिनीसूनु हरिभद्रका है। मेरी रायमें अकलंक, हरिभद्र, तत्त्वार्थभाष्यटीकाकार सिद्धसेनगणि, ये सभी थोड़े बहुत प्रमाणमें समसामयिक अवश्य हैं। आगे जो स्वामी समन्तभद्रके समयके बारेमें कुछ कहना है उससे भी इसी समयकी पुष्टि होती है।

आचार्य प्रभाचन्द्रके समयके विषयमें पुरानी नवमीं सदीकी मान्यताका तो निरास पं० कैलाशचन्द्रजीने कर ही दिया है। अब उसके सम्बन्धमें इस समय दो मत हैं, जिनका आधार 'भोजदेवराज्ये' और 'जयसिंहदेवराज्ये' वाली प्रशस्तिओंका प्रक्षिप्तत्व या प्रभाचन्द्रकर्तृकत्वकी कल्पना है। अगर उक्त प्रशस्तियाँ प्रभाचन्द्रकर्तृक नहीं हैं तो समयकी उत्तरावधि ई० स० १०२०, और अगर प्रभाचन्द्रकर्तृक मानी जाय तो उत्तरावधि ई० स० १०६५ है। यही दो पक्षोंका सार है। पं० महेन्द्रकुमारजीने प्रस्तावनाम उक्त प्रशस्तिओंको प्रामाणिक सिद्ध करनेके लिए जो विचारक्रम उपस्थित किया है वह मुझको ठीक मालूम होता है। मेरी रायमें भी उक्त प्रशस्तिओंको प्रक्षिप्त सिद्ध करनेकी कोई बलवत्तर दलील नहीं है। ऐसी दशामें प्रभाचन्द्रका समय विक्रमकी ११ वीं सदीके उत्तरार्धसे बारहवीं सदीके प्रथम पाद तक स्वीकार कर लेना सब दृष्टिसे सयुक्तिक है।

मैंने 'अकलङ्क ग्रन्थत्रय'के प्राक्कथनमें ये शब्द लिखे हैं—"अधिक सभव तो यह है कि समन्तभद्र और अकलंकके बीच साक्षात् विद्याका ही सम्बन्ध रहा है, क्योंकि समन्तभद्रकी कृतिके ऊपर सर्वप्रथम अकलंककी ही व्याख्या है।" इत्यादि। आगेके कथनसे जब यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि समन्तभद्र पूज्यपादके बाद कभी हुए हैं। और यह तो सिद्ध ही है कि समन्तभद्रकी कृतिके ऊपर सर्वप्रथम व्याख्या अकलंककी है, तब इतना मानना होगा कि अगर समन्तभद्र और अकलंकमें साक्षात् गुरु-शिष्य भाव न भी रहा हो तब भी उनके बीचमें समयका कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे समन्तभद्रका अस्तित्व विक्रमकी सातवीं शताब्दीका अमुक भाग हो सकता है।

मैंने अकलङ्कग्रन्थत्रयके ही प्राक्कथनमें विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा* एवं अष्टसहस्रीके स्पष्ट

*'श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधे' वाला जो श्लोक आप्तपरीक्षामें है उसमें 'इद्धरत्नोद्भवस्य' ऐसा सामासिक पद है। श्लोकका अर्थ या अनुवाद करते समय उस सामासिक पदको 'अम्बुनिधि' का समानाधिकरण विशेषण मानकर विचार करना चाहिए। चाहे उसमें समास 'इद्धरत्नोंका उद्भव प्रभवस्थान' ऐसा तत्पुरुष किया जाय, चाहे 'इद्धरत्नोंका उद्भव उत्पत्ति हुआ है जिसमेंसे' ऐसा बहुव्रीहि किया जाय। उभय दशामें यह अम्बुनिधिका समानाधिकरण विशेषण ही है। ऐसा करनेसे 'प्रोत्थानारम्भकाले' यह पद ठीक अम्बुनिधिके साथ अपुनरुक्त रूपसे सम्बद्ध हो जाता है। और फलितार्थ यह निकलता है कि तत्त्वार्थशास्त्ररूप समुद्रकी प्रोत्थान भूमिका बांधते समय जो स्तोत्र किया गया है। इस वाक्यार्थमें ध्यान देनेकी मुख्य वस्तु यह है कि तत्त्वार्थका प्रोत्थान बांधनेवाला अर्थात् उसकी उत्पत्तिका निमित्त बतलानेवाला और स्तोत्रका रचयिता ये दोनों एक हैं। जिसने तत्त्वार्थशास्त्रकी उत्पत्तिका निमित्त बतलाया उसीने उस निमित्तको बतलानेके पहिले 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' यह स्तोत्र भी रचा। इस विचारके प्रकाशमें सर्वार्थसिद्धिकी भूमिका जो पढ़ता उसे यह सन्देह ही नहीं हो सकता कि 'यह स्तोत्र खुद पूज्यपाद का है या नहीं'।

उल्लेखोंके आधार पर यह निःशंक रूपसे बतलाया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादके आप्तस्तोत्रके मीमांसाकार हैं अतएव उनके उत्तरवर्ती ही हैं। मेरा यह विचार तो बहुत दिनोंके पहिले स्थिर हुआ था, पर प्रसंग आनेपर उसे संक्षेपमें अकलङ्कग्रन्थत्रयके प्राक्कथनमें निर्दिष्ट किया था। पं० महेन्द्रकुमारजीने मेरे संक्षिप्त लेखका विशद और सबल भाष्य करके प्रस्तुत भागकी प्रस्तावना (पृ० २५) में यह अच्छी तरहसे स्थिर किया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादके उत्तरवर्ती हैं। अलबत्ता उन्होंने मेरी सप्तभङ्गीवाली दलीलको निर्णायक न मानकर विचारणीय कहा है। पर इस विषयमें पंडितजी तथा अन्य सज्जनोंसे मेरा इतना ही कहना है कि मेरी वह दलील विद्यानन्दके स्पष्ट उल्लेखके आधार पर किए गए निर्णयकी पोषक है। और उसे मैंने वहाँ स्वतन्त्र प्रमाणरूपसे पेश नहीं किया है। यद्यपि मेरे मनमें तो वह दलील एक स्वतन्त्र प्रमाणरूपसे भी रही है। पर मैंने उसका उपयोग उस तरहसे वहाँ नहीं किया। जो जैन परम्परामें संस्कृत भाषाके प्रवेश, तर्कशास्त्रके अध्ययन और पूर्ववर्ती आचार्योंकी छोटीसी भी महत्त्वपूर्ण कृतिका उत्तरवर्ती आचार्योंके द्वारा उपयोग किया जाना इत्यादि जैन मानसको जानता है उसे तो कभी संदेह हो ही नहीं सकता कि पूज्यपाद, दिग्नागके पद्यको तो निर्दिष्ट करें पर अपने पूर्ववर्ती या समकालीन समन्तभद्रकी असाधारण कृतियोंका किसी अंशमें स्पर्श भी न करें। क्या वजह है कि उमास्वातीके भाष्यकी तरह सर्वार्थसिद्धिमें भी सप्तभङ्गीका विशद निरूपण न हो? जो कि समन्तभद्रकी जैन परंपराको उस समयकी नई देन रही। अस्तु। इसके सिवाय मैं और भी कुछ बातें विचारार्थ उपस्थित करता हूँ जो मुझे स्वामी समन्तभद्रको धर्मकीर्तिके समकालीन माननेकी ओर झुकाती हैं--

मुद्देकी बात यह है कि अभीतक ऐसा कोई जैन आचार्य या उनका ग्रन्थ नहीं देखा गया जिसका अनुकरण ब्राह्मणों या बौद्धोंने किया हो। इसके विपरीत १३०० वर्षका तो जैन संस्कृत एवं तर्कवाङ्मयका ऐसा इतिहास है जिसमें ब्राह्मण एवं बौद्ध परम्पराकी कृतिओंका प्रतिबिम्ब ही नहीं, कभी कभी तो अक्षरशः अनुसरण है। ऐसी सामान्य व्याप्ति बाँधनेका जो कारण है उनकी चर्चा यहाँ अप्रस्तुत है। पर अगर यह सामान्य व्याप्तिकी धारणा भ्रान्त नहीं है तो धर्मकीर्ति तथा समन्तभद्रके बीच जो कुछ सदृशता साम्य है उस पर ऐतिहासिकोंको विचार करना ही पड़ेगा। व्याख्यानकारके धर्मकीर्तिके द्वारा प्रयुक्त एक मात्र अभ्रान्त पदके बलपर सूक्ष्मदर्शी प्रो० याकोबीने सिद्धसेन दिवाकरके समयके बारेमें सूचन किया था, उस पर विचार करनेवाले हम लोगों को समन्तभद्रकी कृतिमें पाये जाने वाले धर्मकीर्तिके साम्य पर भी विचार करना ही होगा।

पहली बात तो यह है कि दिग्नागके प्रमाणसमुच्चयगत मङ्गलश्लोकके ऊपर ही उसके व्याख्यानरूपसे धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक का प्रथम परिच्छेद रचा है। जिसमें धर्मकीर्तिने प्रमाणरूपसे सुगतको ही स्थापित किया है। ठीक उसी तरह से समन्तभद्रने भी पूज्यपादके **'मोक्षमार्गस्य नेतारम्'** वाले मङ्गल पद्यको लेकर उसके ऊपर आप्तमीमांसा रची है और उसके द्वारा जैन तीर्थंकरको ही आप्त प्रमाणरूप स्थापित किया है। असल बात यह है कि कुमारिलने श्लोकवार्तिकमें चोदना-वेद कोही अंतिम प्रमाण स्थापित किया, और **'प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे'**

इस मंगलपद्यके द्वारा दिङ्नागप्रतिपादित बुद्धप्रामाण्यको खण्डित किया। इसके जवाब में धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके प्रथम परिच्छेदमें बुद्धका प्रामाण्य अन्ययोगव्यवच्छेदरूपसे अपने ढंगसे सविस्तर स्थापित किया। जान पड़ता है इसी सरणीका अनुसरण प्रबलप्रज्ञ समन्तभद्रने किया। पूज्यपादका **'मोक्षमार्गस्य नेतारम्'** वाला सुप्रसिद्ध पद्य उन्हें मिला फिर तो उनकी प्रतिभा और जग उठी। प्रमाणवार्तिकके सुगतप्रामाण्यके स्थानमें समन्तभद्रने अपनी नई सप्तभंगी सरणीके द्वारा अन्ययोगव्यवच्छेदरूपसे ही अर्हत्-जिन को ही आप्तप्रमाण स्थापित किया। यह तो विचारसरणीका साम्य हुआ। पर शब्दका सादृश्य भी बड़े मार्के का है। धर्मकीर्तिने सुगतको– **'युक्त्यागमाभ्यां विमृशन्'** (प्रमाणवा० १।१३५) **"वैफल्याद् वक्ति नानृतम्"** (प्र० वा० १।१४७) कह कर अविरुद्धभाषी कहा है। समन्तभद्रने भी **"युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्"** (आप्तमी० का० ६) कह कर जैन तीर्थंकर को सर्वज्ञ स्थापित किया है।

धर्मकीर्तिने चतुरार्यसत्यके उपदेशकरूपसे ही बुद्धको सुगत-यथार्थरूप साबित किया है, स्वामी समन्तभद्रने चतुरार्यसत्यके स्थानमें स्याद्वादन्याय या अनेकान्तके उपदेशक रूपसे ही जैन तीर्थंकरको यथार्थरूप सिद्ध किया है। समन्तभद्रने स्याद्वादन्यायकी यथार्थता स्थापित करनेकी दृष्टिसे उसके विषयरूपसे अनेक दार्शनिक मुद्दोंको लेकर चर्चा की है, सिद्धसेनने भी सन्मतिके तीसरे काण्डमें अनेकान्तके विषयरूपसे उन्हीं मुद्दों पर चर्चा की है। सिद्धसेन और समन्तभद्रकी चर्चामें मुख्य अन्तर यह है कि सिद्धसेन प्रत्येक मुद्देकी चर्चामें जब केवल अनेकान्तदृष्टिकी स्थापना करते हैं तब स्वामी समन्तभद्र प्रत्येक मुद्दे पर सयुक्तिक सप्तभंगी प्रणालीके द्वारा अनेकान्त दृष्टिका स्थापन करते हैं। इस तरह धर्मकीर्ति, समन्तभद्र और सिद्धसेनके बीचका साम्य-वैषम्य एक खास अभ्यासकी वस्तु है।

स्वामी समन्तभद्रको धर्मकीर्ति समकालीन या उनसे अनन्तरोत्तरकालीन होनेकी जो मेरी धारणा हुई है, उसकी पोषक एक और भी दलील विचारार्थ उपस्थित करता हूँ। समन्तभद्रके **"द्रव्यपर्यायपृथग्भावम्"** तथा **"सदसत्त्वाविशेषाच्च"** (आप्तमी० ७१, ७२) इन दो पद्योंके और प्रत्येक शब्दका खण्डन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चटने किया है, जिसे पं० महेन्द्रकुमारजीने नवमी शताब्दीका लिखा है। अर्चटने हेतुबिन्दु टीकामें प्रथम समन्तभद्रोक्त कारिकाके अंशोंको लेकर गद्यमें खण्डन किया है और फिर 'आह च' कहकर खण्डनपरक ४५ कारिकाएँ दी हैं। पंडित महेन्द्रकुमारजीने अपनी सुविस्तृत प्रस्तावनामें (पृ० २७) यह संभावना की है कि अर्चटोद्धृत हेतुबिन्दुटीकागत कारिकाएँ धर्मकीर्तिकृत होंगी। पण्डितजीका अभिप्राय यह है कि धर्मकीर्तिने अपने किसी ग्रन्थमें समन्तभद्रकी कारिकाओंका खण्डन पद्यमें किया होगा जिसका अवतरण धर्मकीर्तिका टीकाकार अर्चट कर रहा है। पर इस विषयमें निर्णायक प्रकाश डालनेवाला एक ग्रन्थ और प्राप्त हुआ है जो अर्चटीय हेतुबिन्दु टीकाकी अनुटीका है। इस अनुटीकाका प्रणेता है दुर्वेक मिश्र, जो ११ वीं शताब्दीके आसपासका ब्राह्मण विद्वान् है। दुर्वेक मिश्र बौद्ध शास्त्रों का, खासकर धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंका, तथा उसके टीकाकारोंका गहरा अभ्यासी था। उसने अनेक

बौद्ध ग्रन्थों पर व्याख्याएँ लिखी हैं। जान पड़ता है कि वह उस समय किसी विद्यासम्पन्न बौद्ध विहारमें अध्यापक रहा होगा। वह बौद्ध शास्त्रोंके बारेमें बहुत मार्मिकतासे और प्रमाणरूपसे लिखने वाला है। उसकी उक्त अनुटीका नेपालके ग्रन्थसंग्रहमेंसे कॉपी होकर भिक्षु राहुलजीके द्वारा मुझको मिली है। उसमें दुर्वेक मिश्रने स्पष्ट रूपसे उक्त ४५ कारिकाओंके बारेमें लिखा है कि–ये कारिकाएँ अर्चटकी हैं। अब विचारना यह है कि समन्तभद्रकी उक्त दो कारिकाओंका शब्दशः खण्डन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चटने किया है न कि धर्मकीर्तिने। अगर धर्मकीर्तिके सामने समन्तभद्रकी कोई कृति होती तो उसकी उसके द्वारा समालोचना होनेकी विशेष संभावना थी। पर ऐसा हुआ जान पड़ता है कि जब समन्तभद्रने प्रमाणवार्तिकमें स्थापित सुगतप्रामाण्यके विरुद्ध आप्तमीमांसामें जैनतीर्थंकरका प्रामाण्य स्थापित किया और बौद्धमतका जोरोंसे निरास किया तब इसका जवाब धर्मकीर्तिके शिष्योंने देना शुरू किया। कर्णकगोमीने भी जो धर्मकीर्तिका टीकाकार है, समन्तभद्रकी कारिका लेकर जैनमतका खण्डन किया है। ठीक इसी तरह अर्चटने भी समन्तभद्रकी उक्त दो कारिकाओंका सविस्तर खण्डन किया है। ऐसी अवस्थामें मैं अभी तो इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कमसे कम समन्तभद्र धर्मकीर्तिके पूर्वकालीन तो हो ही नहीं सकते।

ऐसी हालतमें विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्रीवाली उक्तियोंकी ऐतिहासिकतामें किसी भी प्रकारके सन्देहका अवकाश ही नहीं है।

पण्डितजीने प्रस्तावना (पृ० २७) में तत्त्वार्थभाष्यके उमास्वातिप्रणीत होनेके बारेमें भी अपर्याप्त सन्देहका उल्लेख किया है। मैं समझता हूँ कि सन्देहका कोई भी आधार नहीं है। ऐतिहासिक सत्यकी गवेषणामें साम्प्रदायिक संस्कारके वश होकर अगर सन्देह प्रकट करना हो तो शायद निर्णय किसी भी वस्तुका कभी भी नहीं हो सकेगा, चाहे उसके बलवत्तर कितने ही प्रमाण क्यों न हों। अस्तु।

अन्तमें मैं पण्डितजीकी प्रस्तुत गवेषणापूर्ण और श्रमसाधित सत्कृतिका सच्चे हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ, और साथ ही जैन समाज, खासकर दिगम्बर समाजके विद्वानों और श्रीमानोंसे भी अभिनन्दन करनेका अनुरोध करता हूँ। विद्वान् तो पण्डितजीकी सभी कृतियोंका उदारभावसे अध्ययन-अध्यापन करके अभिनन्दन कर सकते हैं और श्रीमान्, पण्डितजीकी साहित्यपरायण शक्तियोंका अपने साहित्योद्धार तथा भण्डारोद्धार आदि कार्योंमें विनियोग कराकर अभिनन्दन कर सकते हैं।

मैं पण्डितजीसे भी एक अपना नम्र विचार कहे देता हूँ। वह यह कि आगे अब वे दार्शनिक प्रमेयोंको, खासकर जैन प्रमेयोंको केन्द्रमें रखकर उनपर तात्त्विक दृष्टिसे ऐसा विवेचन करें जो प्रत्येक या मुख्य मुख्य प्रमेयके स्वरूपका निरूपण करनेके साथ ही साथ उसके सम्बन्धमें सब दृष्टिओंसे प्रकाश डाल सके।

हिन्दू विश्वविद्यालय
काशी।
२५।८।४१

–सुखलाल संघवी
(प्रधान जैनदर्शनाध्यापक ओरियण्टल कालेज
हिन्दू विश्वविद्यालय काशी,
भूतपूर्व दर्शनाध्यापक गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद)

॥ सम्पादकीयम् ॥

सितम्बर सन् १९३८ में न्यायकुमुदचन्द्र का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था। करीब २॥ वर्ष बाद उसका अवशिष्टांश दूसरे भाग के रूप में सम्पादित करके चित्त आनन्द से किसी अनिर्वचनीय उल्लाघता का अनुभव कर रहा है, सो इसलिए कि–इस भाग के सम्पादन का पूरा भार मुझे ही ढोना पड़ा है। इस भाग को प्रथम भाग से भी अधिक परिष्कृत तथा सामग्री-समृद्ध रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय प्रथमभाग के रसिक विद्वन्मण्डल को ही दिया जाना चाहिए। उन्हीं के सदभिप्रायों में इसके प्रेरणाबीज निहित हैं।

इस भाग का सम्पादन संशोधन ब०, आ० तथा श्र० प्रति के आधार से किया गया है। इनका परिचय प्रथम भाग के सम्पादकीय स्तम्भ में दिया जा चुका है। ओरियण्टल बुक् एजेंसी पूना के अध्यक्ष श्री देसाई ने कृपा करके न्यायकुमुदचन्द्र की एक अधूरी प्रति हमारे पास भेजी थी, उसका भी यथावसर उपयोग किया है। इस भाग के टिप्पणों में प्रथम भाग में उपयुक्त ग्रन्थों के सिवाय प्रमाणवार्तिकस्ववृत्ति, प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका, प्रमाणवार्तिक-मनोरथनन्दिनीवृत्ति जैसे दुर्लभ ग्रन्थों के प्रूफ तथा हेतुबिडम्बनोपाय, हेतुबिन्दुटीका, सिद्धिविनि-श्चयटीका, सत्यशासनपरीक्षा, न्यायविनिश्चयविवरण जैसे अलभ्य लिखित ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया है। अर्थोद्घाटन करने वाले टिप्पण भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गये हैं।

टिप्पणों में समस्त दर्शनशास्त्रों के प्रमुख ग्रन्थों से की गयी बहुमुखी तुलना से जिज्ञासु पाठकों को न केवल ग्रन्थ के हार्द को ही समझने में सहायता मिलेगी किन्तु प्रत्येक दार्शनिक मुद्दे के क्रमविकास का सारा इतिवृत्त दृष्टिपट पर अङ्कित हो सकेगा। वीरहिमाचल से निकली हुई अर्धमागधीमय स्याद्वाद-वाणी की धारा कितने उच्चावच दर्शनस्थानों से बहकर उन्हें सम बनाती है तथा कितनेक समन्तभद्र सिद्धसेन पूज्यपाद मल्लवादि अकलङ्क जिनभद्र हरिभद्र विद्यानन्द जैसे तीर्थों पर मिलने वाले सहायकनदीकल्प दार्शनिकवादों के स्वच्छ युक्तिसलिल-सम्भार से समृद्ध बनती है। आज वह इस विकसित दार्शनिक रूप में एकान्तवाद के कदाग्रह से सन्तप्त जिज्ञासुओं को शीतल, समन्वयकारक, मानसअहिंसा के प्रतिरूप, अनेकान्तवाद-रूप जीवन से अन्य आप्यायक सुषमा का सहज भाव से अनुभव कराती है। वीर हिमाचल की यह वाग्गङ्गा प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र की पूर्ण विकसित ज्योत्स्ना में आज काशी की गङ्गा की तरह धीर और उदात्तभाव से बह रही है। उसके उदर में कितनी ऐतिहासिक घटनाएँ द्रव्य में पर्याय या उद्दाम जवानी में लोल बालभाव की तरह छिपी पड़ी हैं। उसमें कितने उच्चावच शिलाखण्डकल्प दार्शनिकवाद आज रेत बनकर तदात्म हो रहे हैं। इस सब क्रमविकास की धारा का यत्किञ्चित् आभास इन टिप्पणों में की गयी बहुगामी तुलना से

बौद्ध ग्रन्थों पर व्याख्याएँ लिखी हैं। जान पड़ता है कि वह उस समय किसी विद्यासम्पन्न बौद्ध विहारमें अध्यापक रहा होगा। वह बौद्ध शास्त्रोंके बारेमें बहुत मार्मिकतासे और प्रमाणरूपसे लिखने वाला है। उसकी उक्त अनुटीका नेपालके ग्रन्थसंग्रहमेंसे कॉपी होकर भिक्षु राहुलजीके द्वारा मुझको मिली है। उसमें दुर्वेक मिश्रने स्पष्ट रूपसे उक्त ४५ कारिकाओंके बारेमें लिखा है कि–ये कारिकाएँ अर्चटकी हैं। अब विचारना यह है कि समन्तभद्रकी उक्त दो कारिकाओंका शब्दशः खण्डन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चटने किया है न कि धर्मकीर्तिने। अगर धर्मकीर्तिके सामने समन्तभद्रकी कोई कृति होती तो उसकी उसके द्वारा समालोचना होनेकी विशेष सम्भावना थी। परन्तु ऐसा हुआ जान पड़ता है कि जब समन्तभद्रने प्रमाणवार्तिकमें स्थापित सुगतप्रामाण्यके विरुद्ध आप्तमीमांसामें जैनतीर्थंकरका प्रामाण्य स्थापित किया और बौद्धमतका जोरोंसे निरास किया तब इसका जवाब धर्मकीर्तिके शिष्योंने देना शुरू किया। कर्णकगोमीने भी जो धर्मकीर्तिका टीकाकार है, समन्तभद्रकी कारिका लेकर जैनमतका खण्डन किया है। ठीक इसी तरह अर्चटने भी समन्तभद्रकी उक्त दो कारिकाओंका सविस्तर खण्डन किया है। ऐसी अवस्थामें मैं अभी तो इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कमसे कम समन्तभद्र धर्मकीर्तिके पूर्वकालीन तो हो ही नहीं सकते।

ऐसी हालतमें विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्रीवाली उक्तियोंकी ऐतिहासिकतामें किसी भी प्रकारके सन्देहका अवकाश ही नहीं है।

पंडितजीने प्रस्तावना (पृ० ३७) में तत्त्वार्थभाष्यके उमास्वातीप्रणीत होनेके बारेमें भी अन्यदीय सन्देहका उल्लेख किया है। मैं समझता हूँ कि सन्देहका कोई भी आधार नहीं है। ऐतिहासिक सत्यकी गवेषणामें साम्प्रदायिक संस्कारके वश होकर अगर सन्देह प्रकट करना हो तो शायद निर्णय किसी भी वस्तुका कभी भी नहीं हो सकेगा, चाहे उसके बलवत्तर कितने ही प्रमाण क्यों न हों। अस्तु।

अन्तमें मैं पंडितजीका प्रस्तुत गवेषणापूर्ण और श्रमसाधित सत्कृतिका सच्चे हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ, और साथ ही जैन समाज, खासकर दिगम्बर समाजके विद्वानों और श्रीमानोंसे भी अभिनन्दन करनेका अनुरोध करता हूँ। विद्वान् तो पंडितजीकी सभी कृतियोंका उदारभावसे अध्ययन अध्यापन करके अभिनन्दन कर सकते हैं और श्रीमान्, पंडितजीकी साहित्यसम्पन्न शक्तियोंका अपने साहित्योत्कर्ष तथा भण्डारोद्धार आदि कार्योमें विनियोग कराकर अभिनन्दन कर सकते हैं।

मैं पंडितजीसे भी एक अपना नम्र विचार कहे देता हूँ। वह यह कि आगे अब वे दार्शनिक प्रमेयोंको, खासकर जैन प्रमेयोंको केन्द्रमें रखकर उनपर तात्त्विक दृष्टिसे ऐसा विवेचन करें जो प्रत्येक या मुख्य मुख्य प्रमेयके स्वरूपका निरूपण करनेके साथ ही साथ उसके सम्बन्धमें सब दृष्टिओंसे प्रकाश डाल सके।

हिन्दू विश्वविद्यालय
काशी।
२५।३।४१

–सुखलाल संघवी
[प्रधान दर्शनाध्यापक ओरियण्टल कालेज
हिन्दू विश्वविद्यालय काशी
भूतपूर्व दर्शनाध्यापक गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद]

॥ सम्पादकीयम् ॥

सितम्बर सन् १९३८ में न्यायकुमुदचन्द्र का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था। करीब २॥ वर्ष बाद उसका अवशिष्टांश दूसरे भाग के रूप में सम्पादित करके चित्त आनन्द से किसी अनिर्वचनीय उल्लाघता का अनुभव कर रहा है, सो इसलिए कि–इस भाग के सम्पादन का पूरा भार मुझे ही ढोना पड़ा है। इस भाग को प्रथम भाग से भी अधिक परिष्कृत तथा सामग्री-समृद्ध रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय प्रथमभाग के रसिक विद्वमण्डल को ही दिया जाना चाहिए। उन्हीं के सदभिप्रायों में इसके प्रेरणाबीज निहित हैं।

इस भाग का सम्पादन संशोधन ब०, आ० तथा श्र० प्रति के आधार से किया गया है। इनका परिचय प्रथम भाग के सम्पादकीय स्तम्भ में दिया जा चुका है। ओरियण्टल बुक् एजेंसी पूना के अध्यक्ष श्री देसाई ने कृपा करके न्यायकुमुदचन्द्र की एक अधूरी प्रति हमारे पास भेजी थी, उसका भी यथावसर उपयोग किया है। इस भाग के टिप्पणों में प्रथम भाग में उपयुक्त ग्रन्थों के सिवाय प्रमाणवार्तिकस्ववृत्ति, प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका, प्रमाणवार्तिक-मनोरथनन्दिनीवृत्ति जैसे दुर्लभ ग्रन्थों के प्रूफ तथा हेतुबिडम्बनोपाय, हेतुबिन्दुटीका, सिद्धिविनि-श्चयटीका, सत्यशासनपरीक्षा, न्यायविनिश्चयविवरण जैसे अलभ्य लिखित ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया है। अर्थोद्घाटन करने वाले टिप्पण भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गये हैं।

टिप्पणों में समस्त दर्शनशास्त्रों के प्रमुख ग्रन्थों से की गयी बहुमुखी तुलना से जिज्ञासु पाठकों को न केवल ग्रन्थ के हार्द को ही समझने में सहायता मिलेगी किन्तु प्रत्येक दार्शनिक मुद्दे के क्रमविकास का सारा इतिवृत्त दृष्टिपट पर अङ्कित हो सकेगा। वीरहिमाचल से निकली हुई अर्धमागधीमय स्याद्वाद-वाणी की धारा कितने उच्चावच दर्शनस्थानों से बहकर उन्हें सम बनाती है तथा कितनेक समन्तभद्र सिद्धसेन पूज्यपाद मल्लवादि अकलङ्क जिनभद्र हरिभद्र विद्यानन्द जैसे तीर्थों पर मिलने वाले सहायकनदीकल्प दार्शनिकवादों के स्वच्छ युक्तिसलिल-संभार से समृद्ध बनती है। आज वह इस विकसित दार्शनिक रूप में एकान्तवाद के कदाग्रह से सन्तप्त जिज्ञासुओं को शीतल, समन्वयकारक, मानसअहिंसा के प्रतिरूप, अनेकान्तवाद-रूप जीवन से अक्षय आप्यायक सुषमा का सहज भाव से अनुभव कराती है। वीर हिमाचल की यह वाग्गंगा प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र की पूर्ण विकसित ज्योत्स्ना में आज काशी की गंगा की तरह धीर और उदात्तभाव से बह रही है। उसके उदर में कितनी ऐतिहासिक घटनाएँ द्रव्य में पर्याय या उद्दाम जवानी में लोल बालभाव की तरह छिपी पड़ी हैं। उसमें कितने उच्चावच शिलाखण्डकल्प दार्शनिकवाद आज रेत बनकर तदात्म हो रहे हैं। इस सब क्रमविकास की धारा का यत्किञ्चित् आभास इन टिप्पणों में की गयी बहुगामी तुलना से

हो सकेगा। इन उदात्त आचार्यों ने अपनी अहिंसारूपा अनेकान्तदृष्टि से विरोधी दर्शनों की सुयुक्तियों को भी उचित स्थान देकर उनका समन्वय किया है। दार्शनिक क्षेत्र में एकान्तमूलक चौका न लगाकर अनेकान्त का प्रकाश सर्वत्र फैलाया है और उसमें अहिंसा की जान स्याद्वाददृष्टि से सभी एकान्तों का उचित आदर किया है। और इस तरह उन्होंने दार्शनिक वाग्विवादों का समन्वय कर अहिंसा का मार्ग प्रशस्त किया है तथा उन वादों का उचित फैसला करने का प्रयत्न किया है। आज तक कितनेक वाद उदित हुए, अस्त हुए, तथा कितने आज भी अन्तिम श्वास ले रहे हैं और वे किस पर अपना कितना और कैसा प्रभाव छोड़ गए हैं, यह सब कहानी इन टिप्पणों के परिशीलन से मानस पटल पर चित्रित होगी।

दर्शनशास्त्र स्थूलरूप से यदि मानसिक व्यायाम का प्रदर्शन है तो इसका दूसरा रूप अनेकों वादों के उत्थान पतनों का अजायबघर भी है। इसके परिशीलन से उन उन युगों की विद्वन्मनोवृत्ति के साथ ही साथ अनेक सामाजिक प्रवृत्तियों का पूरा पूरा प्रतिबिम्ब झलकने लगता है। दर्शन ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसके क्रमविकास की कहानी का तटस्थभाव से अवलोकन, हमें इस नतीजे पर पहुँचाता है कि खण्डन मण्डन में सिद्धान्तों की समता और विषमता के कारण एक वादी दूसरे वादी का सहकार प्राप्त करने में, उसकी युक्तियों का अपने ढंग से अनुसरण करने में कभी नहीं हिचकता था। प्रत्युत ऐसी विनिमयपरम्परा के कारण ही आज दर्शनशास्त्र इस विकास को पा सका है। उदाहरणार्थ–नैयायिकाभिमत सृष्टिकर्तृत्व के खण्डन में जहाँ जैन और बौद्धों के साथ मीमांसक भी अपना कन्धा लगाता है वहाँ मीमांसकाभिमत वेद के अपौरुषेयत्व के खण्डन में नैयायिक, जैन और बौद्धों का साथ देता है। इसी तरह वैशेषिक आदि के खण्डन में साथ साथ चलने वाले बौद्ध और जैन भी, जहाँ क्षणिकत्व का विचार होता है, वहाँ वादी और प्रतिवादी बन जाते हैं। उस समय वैशेषिक आदि यथासंभव जैन का खण्डन करने में बौद्धों का तथा बौद्धों का खण्डन करने में जैन का साथ देते हैं। पर जहाँ चार्वाक का खण्डन करने का प्रसंग है वहाँ वैदिक दर्शनों के साथ ही साथ बौद्ध और जैन भी पूरी तरह मैदान में डट जाते हैं। सर्वज्ञत्व के विचार में जैन बौद्ध तथा वैशेषिक आदि मिलकर मीमांसक का मुकाबिला करते हैं। पर जहाँ ब्राह्मणत्वजाति का विचार आता है वहाँ केवल बौद्ध और जैन ही एक ओर रह जाते हैं। इस तरह इस दार्शनिक महाभारत में सिद्धान्तों की समता और विषमता के कारण परस्पर विरोधी वादी भी कहीं समानतन्त्रीय बनकर किसी तीसरे वादी का खण्डन करते हुये देखे जाते हैं तो कहीं एक दूसरे का खण्डन करने में ही अपना बुद्धिकौशल दिखाते हैं। अतः विभिन्न वादों की समालोचना के समय एक ग्रन्थकार का दूसरे ग्रन्थकार की युक्तियों का शब्द अर्थ और भाव की दृष्टि से अनुसरण करना सिद्धान्तों के साम्य-वैषम्य का ही फल है। दार्शनिक क्षेत्र में यह कोई अनहोनी या अनुचित बात नहीं है क्योंकि यह विचार विनिमय ही तो दर्शन शास्त्र के विकास का आधार होता है और इसी में उसकी प्राणप्रतिष्ठा है।

दर्शनशास्त्र का चरम उद्देश तो वस्तु के यथार्थ स्वरूप का यथावत् परिज्ञान करके शान्तिलाभ करना है। सद्दर्शनप्रभावना, लाभ पूजा ख्याति आदि तो वादियों के चित्त की विजिगीषा के परिणाम हैं। सच्चा दार्शनिक इस स्तरके ऊपर रहता है और वस्तुतत्त्व की समीक्षा में तटस्थ्य रखने में ही अपनी बुद्धि का सदुपयोग मानता है।

संस्करणपरिचय–इस भाग का मुद्रण भी प्रथम भाग की तरह ही कराया गया है। विशेषता यह है कि टिप्पणों में ग्रन्थों के नाम मोटे टाइप में दे दिये हैं। जिस ग्रन्थ का पाठ लिया है उस ग्रन्थ का (–) ऐसे डश के साथ पाठ के बाद सर्वप्रथम निर्देश किया है। अन्य जिन ग्रन्थों के मात्र पृष्ठस्थल दिये हैं उन ग्रन्थों में वैसी ही आनुपूर्वी से पाठ का होना आवश्यक नहीं है। उन ग्रन्थों के नाम तो अर्थसादृश्य, भावसादृश्य और कहीं शब्दसादृश्य मूलक तुलना के लिए दिये हैं। जो अर्थबोधक टिप्पण आ० प्रति के हॉसिए में लिखे थे उनके आगे 'आ० टि०' ऐसा विभाजक निर्देश किया गया है। बाकी टिप्पण स्वयं सम्पादक द्वारा ही लिखे गये हैं। टिप्पण या मूल ग्रन्थ में जो शब्द त्रुटित थे या नहीं थे उनकी जगह सम्पादक ने जिन शब्दों को अपनी ओर से रखा है वे [ ] ऐसे ब्रेकिट में मुद्रित हैं। तथा जिन अशुद्ध शब्दों को सुधारने का प्रसङ्ग आया है वहाँ सम्पादक द्वारा कल्पित शुद्ध पाठ ( ) ऐसे ब्रेकिट में दिया गया है।

भूमिका में जो विषय प्रथम भाग की प्रस्तावना में चर्चित हो चुके हैं उनकी चरचा यहाँ नहीं की है। आ० प्रभाचन्द्र के समय के विषय में ही कुछ विशिष्ट सामग्री के साथ ऊहापोह किया है। मैं अकलङ्कदेव के समय विषयक अपने विचार सिंघी सीरीज में प्रकाशित **"अकलङ्कग्रन्थत्रय"** की प्रस्तावना में लिख आया हूँ। अतः यहाँ आवश्यक होने पर भी पुनरुक्ति नहीं कर रहा हूँ।

परिशिष्ट–*इस भाग में निम्नलिखित १२ परिशिष्ट लगाए गए हैं।* जिनसे ऐतिहासिक या तात्त्विकदृष्टिवाले जिज्ञासु, ग्रन्थ के विषयों को अपनी दृष्टि से सहज ही खोज सकेंगे। १ लघीयस्त्रय के कारिकार्ध का अकाराद्यनुक्रम। २ लघीयस्त्रय और उसकी स्वविवृति में आए हुए अवतरण वाक्यों की सूची। ३ लघीयस्त्रय और स्वविवृति के विशेष शब्दों की सूची, इसमें लाक्षणिक शब्द काले टाइप में दिए हैं। ४ लघीयस्त्रय की कारिकाएँ तथा विवृति के अंश जिन दि० श्वे० आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किए हैं या उन्हें अपने ग्रन्थों में शामिल किया है उन आचार्यों के उन ग्रन्थों की सूची। ५ न्यायकुमुदचन्द्र में आए हुए ग्रन्थान्तरों के उद्धरणों की सूची। ६ न्यायकुमुदचन्द्र में उपयुक्त न्यायों की सूची। ७ न्यायकुमुदचन्द्रगत प्राचीन ऐतिहासिक पुरुषों के नाम तथा भौगोलिक शब्दों की सूची। ८ न्यायकुमुदचन्द्र में उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की सूची। ९ न्यायकुमुदचन्द्र में जिन शब्दों के लक्षण या निरुक्तियाँ की गई हैं उन लाक्षणिक शब्दों की सूची। १० न्यायकुमुदचन्द्र के कुछ विशिष्ट शब्द। ११ न्यायकुमुदचन्द्र के दार्शनिक शब्दों की सूची। १२ टिप्पणी में तथा मूलग्रन्थ

में आए हुए अवतरणों के मूलस्थल निर्दिष्ट करने में जिन ग्रन्थों का उपयोग किया है उन ग्रन्थों के संस्करण आदि का परिचय, संकेत विवरण तथा न्यायकुमुद के जिन पृष्ठों पर उनका उपयोग किया है उन पृष्ठों की सूची।

शुद्धिपत्र–प्रूफ देखने में पर्याप्त सावधानी रखने पर भी दृष्टिदोष, यन्त्रपरिचालन आदि के कारण होने वाली स्थूल अशुद्धियों का निर्देश ही इस पत्रक में किया है।

आभार–आदरणीय प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी ने अपनी सहज विचाररसिकता से यथावसर सत्परामर्श दिये हैं तथा सिद्धिविनिश्चयटीका, हेतुबिन्दुटीका एवं तत्त्वोपप्लवसिंह आदि लिखित ग्रन्थों के उपयोग करने की पूरी पूरी सुविधा दी है। ग्रन्थमाला के प्राण, निर्व्याज साहित्योपासक यथार्थोपनामक पं० नाथूराम जी प्रेमी ने प्रभाचन्द्र के समय में उपयुक्त होने वाली प्रशस्तियाँ, श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र नामक लेख की कच्ची नक्ल तथा अन्य आवश्यक सामग्री को बड़ी तत्परता एवं निरुत्सेक सहज भाव से जुटाया है। सच पूछो तो प्रेमीजी जैसे सद्वृत्त मन्त्री की सदाशयता से ही इस ग्रन्थ का इस रूप में सम्पादन, मुद्रण आदि हो सका है। त्रिपिटकाचार्य महापण्डित राहुलसांकृत्यायन ने प्रमाणवार्तिकस्ववृत्ति, स्ववृत्तिटीका के दुर्लभ प्रूफ तथा प्रमाणवार्तिकालङ्कार की समग्र अलभ्य प्रेस कापी से यथेष्ट नोट्स लेने दिये हैं। सुहृद्वर पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के सहयोग से ही प्रथम भाग की प्रेस कापी के समय इस भाग में मुद्रित अंश का प्रथमवाचन हुआ था और व० प्रति के पाठान्तर लिए गये थे।

पं० परमानन्दजी वीर सेवा मन्दिर सरसावा ने प्राकृतपञ्चसंग्रह की गाथाओं के स्थल खोज कर भेजे। ओरियण्टल बुक् एजेन्सी पूना के अध्यक्ष श्री देसाइ ने न्यायकुमुदचन्द्र की एक त्रुटित प्रति भेजी। भाण्डारकर प्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिर के अध्यक्ष ने हेतुविडम्बनोपाय तथा जैनसिद्धान्तभवन आरा के पुस्तकाध्यक्ष श्री के० भुजबली शास्त्री ने सत्यशासनपरीक्षा ग्रन्थ के उपयोग करने का अवसर दिया तथा पत्रोत्तर दिए। श्रीमान् प्रो० हीरालाल जी, प्रो० ए० एन० उपाध्ये, पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार, पं० चेनसुखदास जी, पं० लोकनाथ जी शास्त्री, पं० वर्धमान शास्त्री, सा० र० पं० हीरालाल शास्त्री, पं० नाथूलाल जी आदि विद्वन्मण्डल ने यथासमय प्रशस्ति आदि के बाबत ज्ञातव्य प्रश्नों के उत्तर दिये। पद्याचार्य पं० भूपनारायण जी झा ने प्रशस्ति श्लोकों की रचना करके सहायता की। श्री विजयमूर्ति जी एम० ए०, शास्त्री ने पाठान्तर लेने में तथा प्रियशिष्य गुलाबचन्द्र जी न्याय साहित्यतीर्थ और उदयचन्द्रजी ने परिशिष्ट बनाने में पूरी पूरी मदद की है। मैं उक्त सभी महाशयों का हार्दिक आभार मानता हूँ।

पौष शुक्ल पूर्णिमा
मकरसंक्रांति
वी० नि० २४६७

सम्पादक—
न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार
स्या० वि० शास्त्री।

॥ प्र स्ता व ना ॥

इस संस्करणमें मुद्रित मूलग्रन्थ लघीयस्त्रय और उसकी व्याख्या न्यायकुमुदचन्द्रका परिचय इसी ग्रन्थके प्रथमभागकी प्रस्तावनामें दिया जा चुका है। यहाँ ग्रन्थकारोंके विषय में ही कुछ लिखना इष्ट है। प्रस्तुतग्रन्थके कर्ता आचार्य प्रभाचन्द्र हैं। यह न्यायकुमुदचन्द्र अकलङ्कदेवके स्वविवृतियुक्त लघीयस्त्रय प्रकरणकी विस्तृत व्याख्या है। अतः मूलकार अकलङ्कदेव और व्याख्याकार प्रभाचन्द्रके विषयमें लिखना ही यहाँ प्रस्तुत है। न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावनामें सुहृद्वर प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने इन दोनों आचार्योंके समय आदिके विषयमें यथेष्ट ऊहापोह किया है। मैं अकलङ्कदेवके समयविषयक अपने विचार "अकलङ्कग्रन्थत्रय" की प्रस्तावनामें विस्तार के साथ लिख चुका हूँ। जिस–

"विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि।
कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥"

कारिकाके 'विक्रमार्कशक' शब्द पर विद्वानों का मतभेद है कि 'अकलङ्कदेव का शास्त्रार्थ विक्रमसंवत् ७०० में हुआ है, या शक संवत् ७०० में।' उसके विषयमें इतना और विशेष वक्तव्य है कि–'विक्रमार्कशक' शब्दका प्रयोग अनेक प्राचीन आचार्योंने 'शकसंवत्' के अर्थमें किया है। उदाहरणार्थ धवलाटीकाकी अन्तिम प्रशस्तिकी यह गाथा ही पर्याप्त है–

"अठतीसम्हि सतसए विक्कमरायंकिए सुसगणामे।
वासे सुतेरसीए भाणुविलग्गे धवलपक्खे॥"

षट्खण्डागम प्रथमभागकी प्रस्तावना (पृ० ३५-४५) में प्रो० हीरालालजीने बहुसुन्दर ऊहापोहके अनन्तर यह सिद्ध किया है कि उक्त गाथा में वर्णित 'विक्कमरायंकिए सुसगणामे' पदसे 'शकसंवत्' ही ग्राह्य हो सकता है। इसी प्रस्तावना (पृ० ४०) में प्रो० सा० ने अपने मतके समर्थनकेलिए त्रिलोकसारके (गा० ८५०) टीकाकार श्रीमाधवचन्द्रत्रैविद्यका यह अवतरण दिया है–"श्रीवीरनाथनिर्वृतेः सकाशात् पंचोत्तरषट्शतवर्षाणि (६०५) पंचमासयुतानि गत्वा पश्चात् 'विक्रमाङ्कशकराजो' जायते" इससे अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि शकराजको भी 'विक्रमाङ्कशक' लिखने की प्राचीन परम्परा रही है और इसीलिए 'शकसंवत्' का उल्लेख भी 'विक्रमाङ्कशकसंवत्' पदसे किया जाता था। मैंने "अकलङ्कग्रन्थत्रय" की प्रस्तावनामें अन्य प्रमाणोंके आधारसे विक्रमार्कशकाब्दका शक संवत् ७०० अर्थ करके अकलङ्कदेवका समय ई० ७२० से ७८० सिद्ध किया है। अस्तु।

आ० प्रभाचन्द्र

आ० प्रभाचन्द्रके समयविषयक इस निबन्धको वर्गीकरणके ध्यानसे तीन स्थूल भागों में बाँट दिया है–१ प्रभाचन्द्र की इतर आचार्यों से तुलना, २ समयविचार, ३ प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ।

§१ प्रभाचन्द्र की इतर आचार्यों से तुलना–

इस तुलना नामक भागको प्रत्येक परम्पराके अपने क्रमविकासको लक्ष्यमें रखकर निम्नलिखित उपभागोंमें क्रमशः विभाजित कर दिया है। १ वैदिक दर्शन–वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, महाभारत, वैयाकरण, सांख्ययोग, वैशेषिक न्याय, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा। २ अवैदिक दर्शन–बौद्ध, जैन दिगम्बर, श्वेताम्बर।

(वैदिकदर्शन)

वेद और प्रभाचन्द्र–आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डमें पुरातनवेद ऋग्वेदसे "पुरुष एवेद यद्भूत" "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" आदि अनेक वाक्य उद्धृत किये हैं। कुछ अन्य वेदवाक्य भी न्यायकुमुदचन्द्र (पृष्ठ ७२६) में उद्धृत हैं–"प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत्, ततस्त्रयो वेदा अन्वसृज्यन्त" "रुद्र वेन्यक्त्तारम्" आदि। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ७७०) में "आदौ ब्रह्मा मुखतो ब्राह्मणं ससर्ज, बाहुभ्यां क्षत्रियमुरूभ्यां वैश्यं पद्भ्यां शूद्रम्" यह वाक्य उद्धृत है। यह ऋग्वेद के "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्" आदि सूक्तकी छाया रूप ही है।

उपनिषद् और प्रभाचन्द्र–आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनों न्यायग्रन्थोंमें ब्रह्माद्वैतवाद तथा अन्य प्रकरणोंमें अनेकों उपनिषदों के वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किये हैं। इनमें बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, कठोपनिषत्, श्वेताश्वतरोपनिषत्, तैत्तिर्युपनिषत्, ब्रह्मबिन्दूपनिषत्, रामतापिन्युपनिषत्, जाबालोपनिषत् आदि उपनिषद् मुख्य हैं। इनके अवतरण अवतरणसूची में देखना चाहिये।

स्मृतिकार और प्रभाचन्द्र–महर्षि मनुकी मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यकी याज्ञवल्क्यस्मृति प्रसिद्ध हैं। आ० प्रभाचन्द्रने कारकसाकल्यवादके पूर्वपक्ष (प्रमेयक० पृ० ८) में याज्ञवल्क्यस्मृति (२।२२) का "लिखितं साक्षिणो भुक्तिः" वाक्य कुछ शाब्दिक परिवर्तनके साथ उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५७५) में मनुस्मृतिका "अकुर्वन् विहितं कर्म" श्लोक उद्धृत है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६३४) में मनुस्मृतिके "यज्ञार्थं पशवः सृष्टा" श्लोकका "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इस कूर्मपुराणके वाक्यसे विरोध दिखाया गया है।

पुराण और प्रभाचन्द्र–प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें मत्स्यपुराणका "प्रतिमन्वन्तरञ्चैव श्रुतिरन्या विधीयते।" यह श्लोकांश उद्धृत मिलता है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६३४) में कूर्मपुराण (अ० १६) का "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है।

व्यास और प्रभाचन्द्र—महाभारत तथा गीताके प्रणेता महर्षि व्यास माने जाते हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ५८०) में महाभारत वनपर्व (अ० ३०।२८) से "अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन सुखदुःखयो " श्लोक उद्धृत किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३६८ तथा ३०९) में भगवद्गीताके निम्नलिखित श्लोक 'व्यासवचन' के नामसे उद्धृत हैं—"यथैधासि समिद्धोऽग्नि " [गीता ४।३७] "द्वाविमौ पुरुषौ लोके, उत्तमपुरुषस्त्वन्य " [गीता १५।१६,१७] इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३५८) में गीता (२।१६) का "नाभावो विद्यते सत" अंश प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है।

पतञ्जलि और प्रभाचन्द्र—पाणिनिसूत्रके ऊपर महाभाष्य लिखनेवाले ऋषि पतञ्जलिका समय इतिहासकारोंने ईसवी सन्से पहिले माना है। आ० प्रभाचन्द्रने जैनेन्द्रव्याकरणके साथ ही पाणिनिव्याकरण और उसके महाभाष्यका गभीर परिशीलन और अध्ययन किया था। वे शब्दाम्भोजभास्करके प्रारम्भमें स्वय ही लिखते हैं कि—

"शब्दानामनुशासनानि निखिलान्याध्यायताऽहर्निशम्"

आ० प्रभाचन्द्रका पातञ्जलमहाभाष्यका तलस्पर्शी अध्ययन उनके शब्दाम्भोजभास्करमें पद पद पर अनुभूत होता है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २७५) में वैयाकरणोंके मतसे गुण शब्दका अर्थ बताते हुये पातञ्जलमहाभाष्य (५।१।११९) से "यस्य हि गुणस्य भावात् शब्दे द्रव्यविनिवेश" इत्यादि वाक्य उद्धृत किया है। शब्दोंके साधुत्वासाधुत्व-विचारमें व्याकरणकी उपयोगिताका समर्थन भी महाभाष्यकी ही शैलीमें किया है।

भर्तृहरि और प्रभाचन्द्र—ईसाकी ७ वीं शताब्दीमें भर्तृहरि नामके प्रसिद्ध वैयाकरण हुए हैं। इनका वाक्यपदीय ग्रन्थ प्रसिद्ध है। ये शब्दाद्वैतदर्शनके प्रतिष्ठाता माने जाते हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें शब्दाद्वैतवादके पूर्वपक्षको वाक्यपदीयकी अनेक कारिकाओंको उद्धृत करके ही परिपुष्ट किया है। शब्दोंके साधुत्व असाधुत्व विचारमें पूर्वपक्षका खुलासा करनेके लिए वाक्यपदीयकी सरणीका पर्याप्त सहारा लिया है। वाक्यपदीयके द्वितीयकाण्डमें आए हुए "आख्यातशब्द" आदि दशविध या अष्टविध वाक्यलक्षणोंका सविस्तर खण्डन किया है। इसी तरह प्रभाचन्द्रकी कृति जैनेन्द्रन्यासके अनेक प्रकरणोंमें वाक्यपदीयके अनेक श्लोक उद्धृत मिलते हैं। शब्दाद्वैतवादके पूर्वपक्षमें वैखरी आदि चतुर्विधवाणीके स्वरूपका निरूपण करते समय प्रभाचन्द्रने जो "स्थानेषु विवृते वायौ" आदि तीन श्लोक उद्धृत किये हैं वे मुद्रित वाक्यपदीयमें नहीं हैं। टीकामें उद्धृत हैं।

व्यासभाष्यकार और प्रभाचन्द्र—योगसूत्र पर व्यास-ऋषि का व्यासभाष्य प्रसिद्ध है। इनका समय ईसाकी पञ्चम शताब्दी तक समझा जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १०९) में योगदर्शनके आधारसे ईश्वरवादका पूर्वपक्ष करते समय योगसूत्रोंके अनेक उद्धरण दिए हैं। इसके विवेचनमें व्यासभाष्यकी पर्याप्त सहायता ली गई है। अणिमादि अष्टविध

ऐश्वर्यका वर्णन योगभाष्यसे मिलता जुलता है। न्यायकुमुदचन्द्रमें योगभाष्यसे "तत्त्वं पुरुषस्य स्वरूपम्" "चिच्छक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसङ्क्रमा" आदि वाक्य उद्धृत किये गये हैं।

ईश्वरकृष्ण और प्रभाचन्द्र–ईश्वरकृष्णकी सांख्यसप्तति या सांख्यकारिका प्रसिद्ध है। इनका समय ईसाकी दूसरी शताब्दी समझा जाता है। सांख्यदर्शनके मूलसिद्धान्तोंका सांख्यकारिकामें संक्षिप्त और स्पष्ट विवेचन है। आ० प्रभाचन्द्रने सांख्यदर्शनके पूर्वपक्षमें सर्वत्र सांख्यकारिकाओंका ही विशेष उपयोग किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें सांख्योंके कुछ वाक्य ऐसे भी उद्धृत हैं जो उपलब्ध सांख्यग्रन्थोंमें नहीं पाये जाते। यथा–"बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" "आसर्गप्रलयादेका बुद्धिः" "प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्या शक्तिरभिव्यज्येत" "प्रकृतिपरिणामः शुक्लं कृष्णञ्च कर्म" आदि। इससे ज्ञात होता है कि ईश्वरकृष्णकी कारिकाओंके सिवाय कोई अन्य प्राचीन सांख्य ग्रन्थ प्रभाचन्द्रके सामने था जिससे ये वाक्य उद्धृत किये गए हैं।

माठराचार्य और प्रभाचन्द्र–सांख्यकारिकाकी पुरातन टीका माठरवृत्ति है। इसके रचयिता माठराचार्य ईसाकी चौथी शताब्दीके विद्वान् समझे जाते हैं। प्रभाचन्द्रने सांख्यदर्शनके पूर्वपक्षमें सांख्यकारिकाओंके साथ ही साथ माठरवृत्तिको भी उद्धृत किया है। जहाँ कहीं सांख्यकारिकाओंकी व्याख्याका प्रसङ्ग आया है, माठरवृत्तिके ही आधारसे व्याख्या की गई है।

प्रशस्तपाद और प्रभाचन्द्र–कणादसूत्र पर प्रशस्तपाद आचार्यका प्रशस्तपादभाष्य उपलब्ध है। इनका समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रशस्तपादभाष्यकी "तत्र धर्मविना धर्मिणामेव निर्देशः कृतः" इस पंक्तिको प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ५३१) में 'पदार्थप्रवेशकग्रन्थ' के नामसे उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड दोनोंकी षट्पदार्थपरीक्षाका यावत् पूर्वपक्ष प्रशस्तपादभाष्य और उसकी पुरातनटीका व्योमवतीसे ही स्पष्ट किया गया है। प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० २७०) के ईश्वरवादके पूर्वपक्षमें 'प्रशस्तमतिना च' लिखकर "सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारो" इत्यादि अनुमान उद्धृत है। यह अनुमान प्रशस्तपादभाष्यमें नहीं है। तत्त्वसंग्रह की पञ्जिका (पृ० ४३) में भी यह अनुमान प्रशस्तमतिके नामसे उद्धृत है। ये प्रशस्तमति, प्रशस्तपादभाष्यकारसे भिन्न मालूम होते हैं, पर इनका कोई ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं है।

व्योमशिव और प्रभाचन्द्र–प्रशस्तपादभाष्यके पुरातन टीकाकार आ० व्योमशिवकी व्योमवती टीका उपलब्ध है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनों ग्रन्थोंमें, न केवल वैशेषिकमतके पूर्वपक्षमें ही व्योमवतीको अपनाया है किन्तु अनेक मतोंके खंडनमें भी इसका पर्याप्त अनुसरण किया है। यह टीका उनके विशिष्ट अध्ययनकी वस्तु थी। इस टीकाके तुलनात्मक अंशोंको न्यायकुमुदचन्द्रकी टिप्पणीमें देखना चाहिए। आ० व्योमशिवके समयके विषयमें विद्वानोंका मतभेद चला आ रहा है। डॉ० कीथ इन्हें नवमशताब्दी का कहते हैं तो डॉ० दासगुप्ता इन्हें छठवीं शताब्दीका। मैं इनके समयका कुछ विस्तार से विचार करता हूँ–

राजशेखरने प्रशस्तपादभाष्यकी 'कन्दली टीकाकी पंजिका' में प्रशस्तपादभाष्यकी चार टीकाओंका इस क्रमसे निर्देश किया है–सर्वप्रथम 'व्योमवती' (व्योमशिवाचार्य), तत्पश्चात् 'न्यायकन्दली' (श्रीधर), तदनन्तर 'किरणावली' (उदयन) और उसके बाद 'लीलावती' (श्रीवत्साचार्य)। ऐतिह्यपर्यालोचनासे भी राजशेखरका यह निर्देशक्रम संगत जान पड़ता है। यहाँ हम व्योमवतीके रचयिता व्योमशिवाचार्यके विषयमें कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं।

व्योमशिवाचार्य शैव थे। अपनी गुरुपरम्परा तथा व्यक्तित्वके विषयमें स्वयं उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा। पर रणिपद्रपुर (रानोद, वर्तमान नारोदग्राम) की एक वापी प्रशस्ति * में इनकी गुरुपरम्परा तथा व्यक्तित्व विषयक बहुतसी बातें मालूम होती हैं, जिनका कुछ सार इस प्रकार है—

"कदम्बगुहाधिवासी मुनीन्द्रके शंखमठिकाधिपति नामक शिष्य थे, उनके तेरम्बिपाल, तेरम्बिपालके आमर्दकतीर्थनाथ और आमर्दकतीर्थनायक पुरन्दरगुरु नामके अतिशय प्रतिभाशाली तार्किक शिष्य हुए। पुरन्दरगुरुने कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा है क्योंकि उसी प्रशस्ति शिलालेखमें अत्यन्त स्पष्टतासे यह उल्लेख है कि–"इनके वचनोंका खण्डन आज भी बड़े बड़े नैयायिक नहीं कर सकते।' † स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थोंमें पुरन्दरके नामसे कुछ वाक्य उद्धृत मिलते हैं, सम्भव है वे पुरन्दर ये ही हों। इन पुरन्दरगुरुको अवन्तिवर्मा उपेन्द्रपुरसे अपने देशको ले गया। अवन्तिवर्माने इन्हें अपना राज्यभार सौंप कर शैवदीक्षा धारण की और इस तरह अपना जन्म सफल किया। पुरन्दरगुरुने मत्तमयूरमें एक बड़ा मठ स्थापित किया। दूसरा मठ रणिपद्रपुरमें भी इन्होंने स्थापित किया था। पुरन्दरगुरुका कवचशिव और कवचशिवका सदाशिव नामक शिष्य हुआ, जो कि रणिपद्रपुरके तापसाश्रममें तप साधन करता था। सदाशिवका शिष्य हृदयेश और हृदयेशका शिष्य व्योमशिव हुआ, जोकि अच्छा प्रभावशाली, उत्कट प्रतिभासम्पन्न और समर्थ विद्वान् था।' व्योमशिवाचार्यके प्रभावशाली होनेका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इनके नामसे ही व्योममन्त्र प्रचलित हुए थे। ‡ 'ये सदनुष्ठानपरायण, मृदु मितभाषी विनय नय-संयमके अद्भुत स्थान तथा अप्रतिम प्रतापशाली थे। इन्होंने रणिपद्रपुरका तथा रणिपद्रमठका उद्धार एवं सुधार किया था और वहीं एक शिवमन्दिर तथा वापीका भी निर्माण कराया था। इसी वापीपर उक्त प्रशस्ति खुदी है।

इनकी विद्वत्ताके विषयमें शिलालेखके ये श्लोक पर्याप्त हैं–

'सिद्धान्तेषु महेश एष नियतो न्यायेऽक्षपादो मुनिः। गम्भीरे च कणाशिनस्तु कणभुक्शास्त्रे श्रुतौ जैमिनिः ॥
सांख्येऽनल्पमतिः स्वयं स कपिलो लोकायते सद्गुरुः। बुद्धो बुद्धमते जिनोक्तिषु जिनः को वाथ नायं कृती ॥
यद्भूतं यदनागतं यदधुना किञ्चित्क्वचिद्वर्तते। सम्यग्दर्शनसम्पदा तदखिलं पश्यन् प्रमेयं महत् ॥
सर्वज्ञः स्फुटमेव कोपि भगवानस्मिन् क्षितौ स(न्)करः। धत्ते किन्तु न शान्तधीर्विषमदृग्रौद्रं वपुः केवलम् ॥

इन श्लोकोंमें बतलाया है कि 'व्योमशिवाचार्य शैवसिद्धान्तमें स्वयं शिव, न्यायमें अक्षपाद, वैशेषिक शास्त्रमें कणाद, मीमांसामें जैमिनि, सांख्यमें कपिल, चार्वाकशास्त्रमें बृहस्पति, बुद्धमतमें बुद्ध तथा जिनमतमें स्वयं जिनके समान थे। अधिक क्या, अतीतानागतवर्तमानवर्ती यावत् प्रमेयोंको अपनी सम्यग्दर्शनसम्पत्तिसे स्पष्ट देखने जानने वाले सर्वज्ञ थे। और ऐसा मालूम होता था कि मात्र विषमनेत्र (तृतीयनेत्र) तथा रौद्रशरीर का धारण किए बिना ये पृथ्वी पर दूसरे शङ्कर भगवान् ही अवतरे थे। इनके गगनेश, व्योमशम्भु, व्योमेश, गगनशशिमौलि आदि भी नाम थे।

शिलालेखके आधारसे समय–व्योमशिवके पूर्ववर्ती चतुर्थगुरु पुरन्दरको अवन्तिवर्मा राजा अपने नगरमें ले गया था। अवन्तिवर्माके चाँदीके सिक्कों पर "विजितावनिरवनिपतिः श्री अवन्तिवर्मा दि

---

* प्राचीन लेखमाला द्वि० भाग शिलालेख नं० १०८।

† "यस्याद्यापि विबुधैरनिहन्यमानि व्याख्याने न वचनं नयमार्गविज्ञैः ॥"

‡ "अस्य व्योमपदादिमन्त्ररचनाम्नायाभिधानस्य च। –वापीप्रशस्ति

व्योमवती टीकाका उल्लेख करनेवाले परवर्ती ग्रन्थकारोंमें शान्तरक्षित, विद्यानन्द, जयन्त, वाचस्पति, सिद्धर्षि, श्रीधर, उदयन, प्रभाचन्द्र, वादिराज, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र तथा गुणरत्न, विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं।

शान्तरक्षितने वैशेषिक सम्मत षट्पदार्थोंकी परीक्षा की है। उसमें वे प्रशस्तपादके साथ ही साथ शंकरस्वामी नामक नैयायिकका मत भी पूर्वपक्षरूपसे उपस्थित करते हैं। परन्तु जब हम ध्यानसे देखते हैं तो उनके पूर्वपक्षमें प्रशस्तपादव्योमवतीके शब्द स्पष्टतया अपनी छाप मारते हुए नजर आते हैं। (तुलना–तत्त्वसंग्रह पृ० २०६ तथा व्योमवती पृ० ३४३।) तत्त्वसंग्रहकी पंजिका (पृ० २०६) में व्योमवती (पृ० १२९) के स्वकारणसमवाय तथा सत्तासमवायरूप उत्पत्तिके लक्षणका उल्लेख है। शान्तरक्षित तथा उनके शिष्य कमलशीलका समय ई० की आठवीं शताब्दिका पूर्वार्द्ध है। (देखो, तत्त्वसंग्रहकी भूमिका पृ० X CVI)

विद्यानन्द आचार्यने अपनी आप्तपरीक्षा (पृ० २६) में व्योमवती टीका (पृ० १०७) से समवायके लक्षणकी समस्त पदकृत्य उद्धृत की है। 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवाय द्रव्यका लक्षण है' व्योमवती (पृ० १४९) के इस मन्तव्यकी समालोचना भी आप्तपरीक्षा (पृ० ६) में की गई है। विद्यानन्द ईसाकी नवम शताब्दीके पूर्वार्द्धवर्ती हैं।

जयन्तकी न्यायमंजरी (पृ० २३) में व्योमवती (पृ० ६२१) के अनर्थजत्वात् स्मृतिको अप्रमाण माननेके सिद्धान्तका समर्थन किया है, साथही पृ० ६५ पर व्योमवती (पृ० ५५६) के फलविशेषणपक्षको स्वीकारकर कारकसामग्रीको प्रमाणमाननेके सिद्धान्तका अनुसरण किया है। जयन्तका समय हम आगे ईसाकी ९ वीं शताब्दीका पूर्वभाग सिद्ध करेंगे।

वाचस्पति मिश्र अपनी तात्पर्यटीकामें (पृ० १०८) प्रत्यक्षलक्षणसूत्रमें 'यत' पदका अध्याहार करते हैं तथा (पृ० १०२) लिंगपरामर्श ज्ञानको उपादानबुद्धि कहते हैं। व्योमवतीटीकामें (पृ० ५५६) 'यत' पदका प्रयोग प्रत्यक्षलक्षणमें किया है तथा (पृ० ५६१) लिंगपरामर्श ज्ञानको उपादानबुद्धि भी कहा है। वाचस्पति मिश्रका समय ८४१ A D है।

प्रभाचन्द्र आचार्यने मोक्षनिरूपण (प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ३०७) आत्मस्वरूपनिरूपण (न्याय-कुमुदचन्द्र पृ० ३४९, प्रमेयकमलमा० पृ० ११०) समवायलक्षण (न्यायकुमु० पृ० २९५, प्रमेयकमलमा० पृ० ६०४) आदिमें व्योमवती (पृ० २०, ३९३, १०७) का पर्याप्त सहारा लिया है। स्वसंवेदनसिद्धिमें व्योमवतीके ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादका खंडन भी किया है।

श्रीधर तथा उदयनाचार्यने अपनी कन्दली (पृ० ४) तथा किरणावलीमें व्योमवती (पृ० २० क) के 'नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते सन्तानत्वात् यथा प्रदीपसन्तान।' इस अनुमानको 'तार्किकाः' तथा 'आचार्याः' शब्दके साथ उद्धृत किया है। कन्दली (पृ० २०) में व्योमवती (पृ० १४९) के 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवाय द्रव्यत्वेन योग' इस मतकी आलोचना की गई है। इसी तरह कन्दली (पृ० १८) में व्योमवती (पृ० १२९) के 'अनित्यत्वं तु प्रागभावप्रध्वंसाभावोपलक्षिता वस्तुसत्ता।' इस अनित्यत्वके लक्षणका खण्डन किया है। कन्दली (पृ० २००) में व्योमवती (पृ० ५९३) के 'अनुमानलक्षणमें विद्यांक सामान्यलक्षणकी अनुवृत्ति करके सशयादिका व्यवच्छेद करना तथा स्मरणके व्यवच्छेदके लिये द्रव्यादिषु उत्पद्यते' इस पदका अनुवर्तन करना इन दो मतोंका समालोचन किया है। कन्दलीकार श्रीधरका समय कन्दलीके अन्तमें दिए गए "त्र्यधिकदशोत्तरनवशतशाकाब्दे" पदके अनुसार ९१३ शक अर्थात् ९९१ ई० है। और उदयनाचार्यका समय ९८४ ई० है।

वादिराज अपने न्यायविनिश्चय विवरण (लिखित पृ० १११ B तथा १११ A) में व्योमवतीसे पूर्वपक्ष करते हैं। वादिदेवसूरि अपने स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ३१८ तथा ४१८) में पूर्वपक्षरूपसे व्योमवतीका उद्धरण देते हैं।

सिद्धर्षि न्यायावतारवृत्ति (पृ० ९) में, हेमचन्द्र प्रमाणमीमांसा (पृ० ७) में तथा गुणरत्न अपनी षड्दर्शनसमुच्चयकी वृत्ति (पृ० ११४ A) में व्योमवतीके प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम रूप

प्रमाणविन्दकी वार्तिकपरम्पराका पूर्वपक्ष करते हैं। इस तरह व्योमवतीकी मनिष्ट तुलनासे ज्ञात हो सकता है कि व्योमवतीका जयन्तसे विशिष्ट सम्बन्ध है।

इस प्रकार हम व्योमशिवका समय शिलालेख तथा उनके ग्रन्थके उल्लेखोंके आधारसे ईसाकी सातवीं शताब्दीका उत्तर भाग अनुमान करते हैं। यदि ये आठवीं या नवमी शताब्दीके विद्वान होते तो अपने समसामयिक शङ्कराचार्य और शान्तरक्षित जैसे विद्वानोंका उल्लेख अवश्य करते। हम देखते हैं कि व्योमशिव शङ्करवेदान्तका उल्लेख भी नहीं करते तथा विपर्यय ज्ञानके विषयमें अलौकिकख्याति, स्मृतिप्रमोष आदिका खण्डन करने पर भी शङ्करके अनिर्वचनीयार्थख्यातिवादका नाम भी नहीं लेते। व्योमशिव जैसे बहुश्रुत एवं सैकड़ों मतमतान्तरोंका उल्लेख करनेवाले आचार्यके द्वारा किसी भी अष्टम शताब्दी या नवम शताब्दीवर्ती आचार्यके मतका उल्लेख न किया जाना ही उनके सप्तम शताब्दीवर्ती होनेका प्रमाण है।

अतः डॉ० कीथका इन्हें नवमी शताब्दीका विद्वान लिखना तथा डॉ० एस० एन० दासगुप्ताका इन्हें छठी शताब्दीका विद्वान् बतलाना ठीक नहीं जँचता।

श्रीधर और प्रभाचन्द्र—प्रशस्तपाद भाष्यकी टीकाओंमें न्यायकन्दली टीकाका भी अपना अच्छा स्थान है। इसकी रचना श्रीधरने शक ९१३ (ई० ९९१) में की थी। श्रीधराचार्य अपने पूर्व टीकाकार व्योमशिवका शब्दानुसरण करते हुए भी उनसे मतभेद प्रदर्शित करनेमें नहीं चूकते। व्योमशिव बुद्ध्यादि विशेष गुणोंकी सन्ततिके अत्यन्तोच्छेदको मोक्ष कहते हैं और उसकी सिद्धिके लिए 'सन्तानत्वात्' हेतुका प्रयोग करते हैं (प्रश० व्यो० पृ० २०८)। श्रीधर आत्यन्तिक अहितनिवृत्तिको मोक्ष मानकर भी उसकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त होनेवाले 'सन्तानत्वात्' हेतुको पार्थिवपरमाणुकी रूपादिसन्तानसे व्यभिचारी बताते हैं (कन्दली पृ० ४)। आ० प्रभाचन्द्रने भी वैशेषिकोंकी मुक्तिका खडन करते समय न्यायकुमुद० (पृ० ८२६) और प्रमेयकमल० (पृ० ३१८) में 'सन्तानत्वात्' हेतुको पाकजपरमाणुओंकी रूपादिसन्तानसे व्यभिचारी बताया है। इसी तरह और भी एकाधिकस्थलोंमें हम कन्दलीकी आभा प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंपर देखते हैं।

वात्स्यायन और प्रभाचन्द्र—न्यायसूत्रके ऊपर वात्स्यायनकृत न्यायभाष्य उपलब्ध है। इनका समय ईसाकी तीसरी-चौथी शताब्दी समझा जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें इनके न्यायभाष्यका कहीं न्यायभाष्य और कहीं भाष्य शब्दसे उल्लेख किया है। वात्स्यायनका नाम न लेकर सर्वत्र न्यायभाष्यकार और भाष्यकार शब्दोंसे ही इनका निर्देश किया गया है।

उद्योतकर और प्रभाचन्द्र—न्यायसूत्रके ऊपर न्यायवार्तिक ग्रन्थके रचयिता आ० उद्योतकर ई० ६ वीं सदी, अन्तत सातवीं सदीके पूर्वपादके विद्वान् हैं। इन्होंने दिङ्नागके प्रमाणसमुच्चयके खडनके लिए न्यायवार्तिक बनाया था। इनके न्यायवार्तिकका खडन धर्मकीर्ति (ई० ६३५ के बाद) ने अपने प्रमाणवार्तिकमें किया है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डके सृष्टिकर्तृत्व प्रकरणके पूर्वपक्षमें (पृ० २६८) उद्योतकरके अनुमानोंको 'वार्तिककारेणापि' शब्दके साथ उद्धृत किया है। प्रमेयकमलमार्तण्डमें एकाधिकस्थानोंमें 'उद्योतकर' का नामोल्लेख करके न्यायवार्तिकसे पूर्वपक्ष किए गए हैं। न्यायकुमुदचन्द्रके षोडशपदार्थवादका पूर्वपक्ष भी उद्योतकरके न्यायवार्तिकसे पर्याप्त पुष्टि पाया है। "पूर्ववच्छेषवत्" आदि अनुमानसूत्रकी वार्तिककारकृत

विविध व्याख्याएँ भी प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें खंडित हुई हैं। वार्तिककारकृत साधकतमत्वका "भावाभावयोस्तद्वत्ता" यह लक्षण प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें प्रमाणरूपसे उद्धृत है।

भट्ट जयन्त और प्रभाचन्द्र—भट्टजयन्त जरन्नैयायिकके नामसे प्रसिद्ध थे। इन्होंने न्यायसूत्रोंके आधारसे न्यायकलिका, और न्यायमञ्जरी ग्रन्थ लिखे हैं। न्यायमञ्जरी तो कतिपय न्यायसूत्रोंकी विशद व्याख्या है। अब हम भट्टजयन्तके समयका विचार करते हैं—

जयन्तकी न्यायमञ्जरीका प्रथम संस्करण विजयनगर सीरीजमें सन् १८९५ में प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक म० म० गंगाधर शास्त्री मानवल्ली हैं। उन्होंने भूमिकामें लिखा है कि—'जयन्तभट्टका गंगेशोपाध्यायने अनुमानचिन्तामणि (पृ० ६१) में जरन्नैयायिक शब्दसे उल्लेख किया है तथा जयन्तभट्टने न्यायमञ्जरी (पृ० ३१२) में वाचस्पति मिश्रकी तात्पर्य टीकासे "जातं च सम्बद्धं चेत्येकः कालः" यह वाक्य 'आचार्य' करके उद्धृत किया है। अतः जयन्तका समय वाचस्पति (841 A. D.) से उत्तर तथा गंगेश (1175 A. D.) से पूर्व होना चाहिए।" इन्हींका अनुसरण करके न्यायमञ्जरीके द्वितीय संस्करणके सम्पादक पं० सूर्यनारायणजी शुक्ल, तथा 'संस्कृतसाहित्यका संक्षिप्त इतिहास'के लेखकोंने भी जयन्तको वाचस्पतिका परवर्ती लिखा है। स्व० डा० शतीशचन्द्र विद्याभूषण भी उक्त वाक्यके आधार पर इनका समय ९ वीं १० वीं शताब्दी तक मानते थे※। अतः जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन माननेकी परम्पराका आधार म० म० गंगाधर शास्त्री-द्वारा 'जातं च सम्बद्धं चेत्येकः कालः' इस वाक्यको वाचस्पति मिश्रका लिख देना ही मालूम होता है। वाचस्पति मिश्रने अपना समय न्यायसूचीनिबन्धके अन्तमें स्वयं दिया है। यथा—

"न्यायसूचीनिबन्धोऽयमकारि सुधियां मुदे। श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे।"

इस श्लोकमें ८९८ वत्सर लिखा है।

म० म० विन्ध्येश्वरीप्रसादजीने 'वत्सर' शब्दसे शकसंवत् लिया है†। डॉ० शतीशचन्द्र विद्याभूषण विक्रम संवत् लेते हैं‡। म० म० गोपीनाथ कविराज लिखते हैं§ कि तात्पर्यटीकाकी परिशुद्धिटीका बनानेवाले आचार्य उदयनने अपनी लक्षणावली शक सं० ९०६ (984 A. D.) में समाप्त की है। यदि वाचस्पतिका समय शक सं० ८९८ माना जाता है तो इतनी जल्दी उस पर परिशुद्धि जैसी टीका बन जाना सम्भव मालूम नहीं होता।

अतः वाचस्पति मिश्रका समय विक्रम संवत् ८९८ (841 A. D.) प्रायः सर्वसम्मत है। वाचस्पति मिश्रने वैशेषिक दर्शनको छोड़कर प्रायः सभी दर्शनों पर टीकाएँ लिखी हैं। सर्वप्रथम इन्होंने मण्डनमिश्रके विधिविवेक पर 'न्यायकणिका' नामकी टीका लिखी है, क्योंकि इनके दूसरे ग्रन्थोंमें प्रायः इसका निर्देश है। उसके बाद मण्डनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिकी व्याख्या 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' तथा तत्त्वबिन्दु, इन दोनों ग्रन्थोंका निर्देश तात्पर्य-टीकामें मिलता है, अतः उनके बाद 'तात्पर्य-टीका' लिखी गई। तात्पर्य टीकाके साथही न्यायसूची निबन्ध लिखा होगा, क्योंकि न्यायसूत्रोंका निर्णय तात्पर्य-टीकामें अत्यन्त अपेक्षित है। 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में तात्पर्य टीका उद्धृत है, अतः तात्पर्यटीकाके बाद सांख्यतत्त्वकौमुदी' की रचना हुई। योगभाष्यकी तत्त्ववैशारदी टीकामें 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' का निर्देश है, अतः निर्दिष्ट कौमुदीके बाद 'तत्त्ववैशारदी' रची गई। और इन सभी ग्रन्थोंका भामती टीकामें निर्देश होनेसे 'भामती' टीका सबके अन्तमें लिखी गई है।

※ हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लाजिक, पृ० १४६।

† न्यायवार्तिक भूमिका, पृ० १४५।

‡ हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लाजिक, पृ० १३३।

§ हिस्ट्री एंड बिब्लोग्राफी ऑफ दि न्याय वैशेषिक Vol. III, पृ० १०१।

जयन्त वाचस्पति मिश्रके समकालीन वृद्ध हैं—वाचस्पति मिश्र अपनी आद्यकृति 'न्याय कणिका' के मङ्गलाचरणमें न्यायमञ्जरीकारको बड़े महत्त्वपूर्ण शब्दोंमें गुरुरूपसे स्मरण करते हैं। यथा—

अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिराम्। प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे॥'

अर्थात्—जिन्होंने अज्ञानतिमिरका नाश करनेवाली प्रतिवादियोंका दमन करनेवाली रुचिर न्यायमञ्जरीको जन्म दिया उन समर्थ विद्यातरु गुरुको नमस्कार हो।

इस श्लोकमें स्मृत 'न्यायमञ्जरी' भट्ट जयन्तकी 'न्यायमञ्जरी' जैसी प्रसिद्ध 'न्यायमञ्जरी' ही होनी चाहिए। अभी तक कोई दूसरी न्यायमञ्जरी तो सुनने में भी नहीं आई। जब वाचस्पति जयन्तका गुरुरूपमें स्मरण करते हैं तब जयन्त वाचस्पति के उत्तरकालीन कैसे हो सकते हैं। यद्यपि वाचस्पतिने तात्पर्य-टीकामें 'त्रिलोचनगुरून्नीत' इत्यादि पद देकर अपने गुरुरूपसे त्रिलोचनका उल्लेख किया है, फिर भी जयन्तको उनके गुरु अथवा गुरुसम होने में कोई बाधा नहीं है क्योंकि एक व्यक्तिके अनेक गुरु भी हो सकते हैं।

अभी तक 'जातश्च सम्बद्ध चेत्येक काल' इस वचनके आधार पर ही जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन माना जाता है। पर यह वचन वाचस्पतिकी तात्पर्य-टीकाका नहीं है किन्तु न्यायवार्तिककार श्री उद्योतकरका है (न्यायवार्तिक पृ० २३६) जिस न्यायवार्तिक पर वाचस्पतिकी तात्पर्यटीका है। इनका समय धर्मकीर्तिसे पूर्व होना निर्विवाद है।

म० म० गोपीनाथ कविराज अपनी हिस्ट्री एण्ड बिब्लोग्राफी आफ न्याय वैशेषिक लिटरेचर में लिखते हैं † कि— वाचस्पति और जयन्त समकालीन होने चाहिए, क्योंकि जयन्तके ग्रन्थों पर वाचस्पतिका कोई असर देखने में नहीं आता।' 'जातश्च' इत्यादि वाक्यके विषय में भी उन्होंने सन्देह प्रकट करते हुए लिखा है कि— यह वाक्य किसी पूर्वाचार्य का होना चाहिए। वाचस्पतिसे पहले भी शबरस्वामी आदि नैयायिक हुए हैं जिनका उल्लेख तत्त्वसंग्रह आदि में पाया जाता है।

म० म० गङ्गाधर शास्त्री जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन मानकर न्यायमञ्जरी (पृ० १२०) में उद्धृत 'मतमनुमितोऽर्थः' इस पद्यको टिप्पणीमें 'भामती टीकासे लिया' लिख दिया है। पर वस्तुतः यह पद्य वाक्यपदीय (१-३४) का है और न्यायमञ्जरी की तरह भामती टीकामें भी उद्धृत ही है मूलका नहीं है।

न्यायसूत्रके प्रत्यक्ष-लक्षणसूत्र (१।१।४) की व्याख्यामें वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि— व्यवसाया त्मक पदसे सविकल्पक प्रत्यक्षका ग्रहण करना चाहिए तथा अव्यपदेश्य पदसे निर्विकल्पक ज्ञानका। मनःपातका निराकरण तो 'अव्यभिचारी' पदसे हो ही जाता है इसलिये संशयज्ञानका निराकरण करना व्यवसायात्मक पदका मुख्य कार्य नहीं है। यह बात मैं गुरुनीत मार्ग का अनुगमन करके कह रहा हूँ। इसी तरह कोई व्याख्याकार अयमर्थ इत्यादि शब्दसंसृष्ट ज्ञानको उभयजज्ञान कहकर उसकी प्रत्य क्षताका निराकरण करनेके लिए अव्यपदेश्य पदकी सार्थकता बताते हैं। वाचस्पति अयमर्थ इस ज्ञानको उभयजज्ञान न मानकर ऐन्द्रियक कहते हैं। और वह भी अपने गुरुके द्वारा उपदिष्ट इस गाथाके आधार पर—

शब्दजत्वेन शाब्दश्चेत् प्रत्यक्षं चाक्षजत्वतः। स्पष्टग्रहरूपत्वात् युक्तमैन्द्रियकं हि तत्॥

इसलिये वे 'अव्यपदेश्य' पदका प्रयोजन निर्विकल्पका संग्रह करना ही बतलाते हैं।

न्यायमञ्जरी (पृ० ७८) में उभयजज्ञानका व्यवच्छेद करना अव्यपदेश्यपदका कार्य है इस मतका आचार्या इस शब्दके साथ उल्लेख किया गया है। उसपर व्याख्याकारकी अनुपपत्ति दिखाकर न्याय मञ्जरीकारने उभयजज्ञानका खंडन किया है।

---

† सरस्वती भवन सीरीज् III पार्ट।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने इस 'आचार्या' पदके नीचे 'तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्रा' यह टिप्पणी की है। यहाँ यह विचारणीय है कि-यह मत वाचस्पति मिश्र का है या अन्य किसी पूर्वाचार्यका। तात्पर्य टीका (पृ० १४८) में तो स्पष्ट ही उभयजज्ञान नहीं मानकर उसे ऐन्द्रियक कहा है। इसलिये वह मत वाचस्पतिका तो नहीं है। व्योमवती* टीका (पृ० ५५५) में उभयजज्ञानका स्पष्ट समर्थन है, अतः यह मत व्योमशिवाचार्यका हो सकता है। व्योमवतीमें न केवल उभयजज्ञानका समर्थन ही है किन्तु उसका व्यवच्छेद भी अव्यपदेश्य पदसे किया है। हाँ, उसपर जो व्याख्याकार की अनुपपत्ति है वह कदाचित वाचस्पतिकी तरफ लग सकती है, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि वाचस्पतिने अपने गुरुकी जिस गाथाके अनुसार उभयजज्ञानको ऐन्द्रियक माना है, उससे साफ मालूम होता है कि वाचस्पतिके गुरुके सामने उभयजज्ञानको माननेवाले आचार्य (सम्भवतः व्योमशिवाचार्य) की परम्परा थी जिसका खण्डन वाचस्पतिके गुरुने किया। और जिस खण्डनको वाचस्पतिने अपने गुरुकी गाथाका प्रमाण देकर तात्पर्य टीकामें स्थान दिया है।

इसी तरह तात्पर्य टीकामें (पृ० १०२) 'यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्' इस भाष्यका व्याख्यान करते हुए वाचस्पति मिश्रने उपादेयताज्ञानको 'उपादान' पदसे लिया है और उसका क्रम भी 'तोयालोचन, तोयविकल्प, दृष्टतज्जातीयसंस्कारोद्बोध, स्मरण, तज्जातीयञ्चेदम् इत्याकारकपरामर्श इत्यादि बताया है।

न्यायमंजरी (पृ० ६६) में इसी प्रकरणमें शङ्का की है कि- प्रथम आलोचन ज्ञानको फल उपादानादिबुद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें कई क्षणोंका व्यवधान पड़ जाता है'? इसका उत्तर देते हुए मंजरीकारने 'आचार्याः' शब्द लिखकर 'उपादेयताज्ञानको उपादानबुद्धि कहते हैं' इस मतका उल्लेख किया है। इस 'आचार्याः' पद पर भी म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः' ऐसा टिप्पण किया है। न्यायमञ्जरीके द्वितीय संस्करणके सम्पादक पं० सूर्यनारायणजी न्यायाचार्यने भी उन्हींका अनुसरण करके उसे बड़े टाइपमें हेडिंग देकर छपाया है। मंजरीकारने इस मतके बाद भी एक व्याख्याताका मत दिया है जो इस परामर्शात्मक उपादेयता ज्ञानको नहीं मानता। यहाँ भी यह विचारणीय है कि-यह मत स्वयं वाचस्पतिका है या उनके पूर्ववर्ती उनके गुरुका? यद्यपि यहाँ उन्होंने अपने गुरुका नाम नहीं लिया है तथापि जब व्योमवती‡ जैसी प्रशस्तपादकी प्राचीन टीका (पृ० ५६१) में इसका स्पष्ट समर्थन है, तब इस मतकी परम्परा भी प्राचीन ही मानना होगी। और 'आचार्याः' पदसे वाचस्पति न लिए जाकर व्योमशिव जैसे कोई प्राचीन आचार्य लेना होगे। मालूम होता है म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने "ज्ञातञ्च सम्बद्धञ्चेत्येकः कालः" इस वचनको वाचस्पतिका माननेके कारण ही उक्त दो स्थलों में 'आचार्याः' पद पर 'वाचस्पतिमिश्राः' ऐसी टिप्पणी कर दी है, जिसकी परम्परा चलती रही। हाँ, म० म० गोपीनाथ कविराजने अवश्य ही उसे सन्देह कोटिमें रखा है।

भट्ट जयन्तकी समयावधि-जयन्त मंजरीमें धर्मकीर्तिके मतकी समालोचनाके साथ ही साथ उनके टीकाकार धर्मोत्तरकी आदिवाक्यकी चर्चाको स्थान देते हैं। तथा प्रज्ञाकरगुप्तके 'एकमेवेदं हर्षविषाद

---

* 'न, इन्द्रियसहकारिणा शब्देन यज्जन्यते तस्य व्यवच्छेदार्थत्वात्, तथा ह्यकृतसमयो रूपं पश्यन्नपि चक्षुषा रूपमिति न जानीते रूपमिति शब्दोच्चारणानन्तरं प्रतिपद्यते इत्युभयजं ज्ञानम्, ननु च शब्देन्द्रिययोरेकस्मिन् काले व्यापारासम्भवादयुक्तमेतत्। तथाहि मनसाऽधिष्ठितं न श्रोत्रं शब्दं गृह्णाति पुनः क्रियाक्रमेण चक्षुषा सम्बन्धे सति रूपग्रहणम्। न च शब्दज्ञानस्य तावत्कालमवस्थानं सम्भवतीति कथमुभयजं ज्ञानम्? अत्रैका श्रोत्रसम्बद्धे मनसि क्रियातोऽन्या विभागमारभते ततः स्वज्ञानसहायशब्दसहकारिणा चक्षुषा रूपज्ञानमुत्पाद्यते इत्युभयजं ज्ञानम्। यदि वा भवत्येवोभयजं ज्ञानम्'-प्रश० व्यो० पृ० ५५५।

‡ 'द्रव्यादिजातीयस्य पूर्वं सुखदुःखसाधनत्वोपलब्धेः तज्ज्ञानानन्तरं यदुत द्रव्यादिजातीयं तत्तत्सुखसाधनमित्यविनाभावस्मरणम्, तथा चेदं द्रव्यादिजातीयमिति परामर्शज्ञानम्, तस्मात् सुखसाधनमिति विनिश्चयः तत उपादेयज्ञानम्'-प्रश० व्यो० पृ० ५६१।

अनेकाकारविवर्त्तपर्याय तत्र यथेष्ट संज्ञा क्रियताम्" (भिक्षु राहुलजीकी वार्तिकालंकारकी प्रेसकापी पृ० ४२९) इस वचनका खंडन करते हैं (न्यायमंजरी पृ० ७४)।

भिक्षु राहुलजीने तिब्बतीय गुरुपरम्पराके अनुसार धर्मकीर्तिका समय ई० ६२५, प्रज्ञाकरगुप्तका ७०० धर्मोत्तर और रविगुप्तका ७२५ ईस्वी लिखा है। जयन्तने एक जगह रविगुप्तका भी नाम लिया है। अतः जयन्तकी पूर्वावधि ७६० A. D. तथा उत्तरावधि ८४० A. D. होनी चाहिए। क्योंकि वाचस्पतिका न्यायसूचीनिबन्ध ८४१ A. D. में बनाया गया है इससे पहिले भी वे ब्रह्मसिद्धि, तत्त्वबिन्दु और तात्पर्यटीका लिख चुके हैं। संभव है कि वाचस्पतिने अपनी आद्यकृति न्यायकणिका ८१५ ई० के आसपास लिखी हो। इस न्यायकणिका में जयन्तकी न्यायमंजरीका उल्लेख होनेसे जयन्तकी उत्तरावधि ८४० A. D. ही मानना समुचित ज्ञात होता है। यह समय जयन्तके पुत्र अभिनन्द द्वारा दी गई जयन्तकी पूर्वजावलीसे भी संगत बैठता है। अभिनन्द अपने कादम्बरी कथासारमें लिखते हैं कि–

'भारद्वाज कुलमें शक्ति नामका गौड ब्राह्मण था। उसका पुत्र मित्र, मित्रका पुत्र शक्तिस्वामी हुआ। यह शक्तिस्वामी कर्कोटवंशके राजा मुक्तापीड ललितादित्यके मंत्री थे। शक्तिस्वामीके पुत्र कल्याणस्वामी, कल्याणस्वामीके पुत्र चन्द्र तथा चन्द्रके पुत्र जयन्त हुए जो नववृत्तिकारके नामसे मशहूर थे। जयन्तके अभिनन्द नामका पुत्र हुआ।

काश्मीरके कर्कोट वंशीय राजा मुक्तापीड ललितादित्यका राज्य काल ७३३ से ७६८ A. D. तक रहा है*। शक्तिस्वामी के, जो अपनी प्रौढ अवस्थामें मन्त्री होंगे, अपने मंत्रित्वकालके पहिले ही ई० ७२० में कल्याणस्वामी उत्पन्न हो चुके होंगे। इसके अनन्तर यदि प्रत्येक पीढीका समय २० वर्ष भी मान लिया जाय तो कल्याण स्वामीके ईस्वी सन् ७४० में चन्द्र, चन्द्रके ई० ७६० में जयन्त उत्पन्न हुए और उन्होंने ईस्वी ८०० तकमें अपनी न्यायमंजरी बनाई होगी। इसलिए वाचस्पतिके समयमें जयन्त वृद्ध होंगे और वाचस्पति इन्हें आदरकी दृष्टिसे देखते होंगे। यही कारण है कि उन्होंने अपनी आद्यकृतिमें न्यायमंजरीकारका स्मरण किया है।

जयन्तके इस समयका समर्थक एक प्रबल प्रमाण यह है कि–हरिभद्रसूरिने अपने षड्दर्शनसमुच्चय (श्लो० २०) में न्यायमंजरी (विजयानगरम् पृ० १२९) के

'गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः। रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः॥

त्वङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिशङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः। वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः॥

इन दो श्लोकोंके द्वितीय पादोंको ज्योंका त्यों शामिल कर लिया है। प्रसिद्ध इतिवृत्तज्ञ मुनि जिनविजयजीने जैन साहित्यसंशोधक (भाग १ अंक १) में अनेक प्रमाणोंसे खासकर उद्योतनसूरिकी कुवलयमाला कथामें हरिभद्रका गुरुरूपसे उल्लेख होनेके कारण हरिभद्रका समय ई० ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है। कुवलयमाला कथाकी समाप्ति शक ७०० (ई० ७७८) में हुई थी। मेरा इस विषयमें इतना संशोधन है कि उस समयकी आयु स्थिति देखते हुए हरिभद्रकी निर्धारित आयु स्वल्प मालूम होती है। उनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक माननेसे वे न्यायमंजरीको देख सकेंगे। हरिभद्र जैसे सैकड़ों प्रकरणोंके रचयिता विद्वानके लिए १०० वर्ष जीना अस्वाभाविक नहीं हो सकता। अतः ई० ७१० से ८१० तक समयवाले हरिभद्रसूरिके द्वारा न्यायमंजरीके श्लोकोंका अपने ग्रन्थमें शामिल किया जाना जयन्तके ७६० से ८४० ई० तकके समयका प्रबल साधक प्रमाण है।

आ० प्रभाचन्द्रने वात्स्यायनभाष्य एवं न्यायवार्तिककी अपेक्षा जयन्तकी न्यायमञ्जरी एवं न्यायकलिकाका ही अधिक परिशीलन एवं समुचित उपयोग किया है। षोडशपदार्थके निरूपणमें जयन्तकी न्यायमञ्जरीके ही शब्द अपनी आभा दिखाते हैं। प्रभाचन्द्रको न्यायमंजरी खूब अभ्यस्त

* देखो संस्कृतसाहित्यका इतिहास परिशिष्ट (ख) पृ० १५।

थी। वे कहीं कहीं मञ्जरीके ही शब्दोंको 'तथा चाह भाष्यकार' लिखकर उद्धृत करते हैं। भूतचैतन्यवादके पूर्वपक्षमें न्यायमञ्जरी में 'अपि च' करके उद्धृत की गईं १७ कारिकाएँ न्यायकुमुदचन्द्रमें भी ज्योंकी त्यों उद्धृत की गईं हैं। जयन्तके कारकसाकल्यका सर्वप्रथम खण्डन प्रभाचन्द्रने ही किया है। न्यायमञ्जरीकी निम्नलिखित तीन कारिकाएँ भी न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत की गईं हैं।

(न्यायकुमु० पृ० ३२६) "ज्ञात सम्यगसम्यग्वा यन्मोक्षाय भवाय वा।
तत्प्रमेयमिहाभीष्टं न प्रमाणार्थमात्रकम् ॥" [न्यायम० पृ० ४४७]

(न्यायकुमु० पृ० ४११) "भूयोऽवयवसामान्ययोगो यद्यपि मन्यते।
सादृश्य तस्य तु ज्ञप्ति गृहीते प्रतियोगिनि ॥" [न्यायम० पृ० १४६]

(न्यायकुमु० पृ० ५११) "नन्वस्त्येव गृहद्वारवर्तिन मगतिग्रह।
भावेनाभावसिद्धौ तु कथमेतद्भविष्यति ॥" [न्यायम० पृ० ३८]

इस तरह न्यायकुमुदचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमें न्यायमञ्जरीका नाम लिखा जा सकता है।

वाचस्पति और प्रभाचन्द्र—षड्दर्शनटीकाकार वाचस्पतिने अपना न्यायसूचीनिबन्ध ई० ८४१ में समाप्त किया था। इनने अपनी तात्पर्यटीका (पृ० १६५) में सांख्यों के अनुमान के मात्रामात्रिक आदि सात भेद गिनाए हैं और उनका खण्डन किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४६२) में भी सांख्योंके अनुमानके इन्हीं सात भेदोंके नाम निर्दिष्ट हैं। वाचस्पतिने शांकरभाष्यकी भामती टीकामें अविद्यासे अविद्याके उच्छेद करनेके लिए "यथा पय पयोऽन्तर जरयति स्वय च जीर्यति, विष विषान्तर शमयति स्वय च शाम्यति, यथा वा कतकरजो रजोऽन्तराविले पाथसि प्रक्षिप्त रजोन्तराणि भिन्दत् स्वयमपि भिद्यमानमनाविल पाथ करोति " इत्यादि दृष्टान्त दिए हैं। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ६६) में इन्हीं दृष्टान्तों को पूर्वपक्ष मे उपस्थित किया है। न्यायकुमुदचन्द्रके विधिवादके पूर्वपक्षमें विधिविवेक के साथही साथ उसकी वाचस्पतिकृत न्यायकणिका टीकाका भी पर्याप्त सादृश्य पाया जाता है। वाचस्पतिके उक्त ई० ८४१ समयका साधक एक प्रमाण यह भी है कि इन्होंने तात्पर्यटीका (पृ० २१७) में शान्तरक्षितके तत्त्वसग्रह (श्लो० २००) से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—"नर्त्तकीभ्रूलताक्षेपो न ह्येक पारमार्थिक। अनेकाणुसमूहत्वात् एकत्व तस्य कल्पितम् ॥" शान्तरक्षितका समय ई० ७६२ है।

शबर ऋषि और प्रभाचन्द्र—जैमिनिसूत्र पर शाबरभाष्य लिखने वाले महर्षि शबरका समय ईसाकी तीसरी सदी तक समझा जाता है। शाबरभाष्यके ऊपर ही कुमारिल और प्रभाकर ने व्याख्याएँ लिखी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद आदिमें कुमारिल के श्लोकवार्तिकके साथ ही साथ शाबरभाष्य की दलीलों को भी पूर्वपक्षमें रखा है। शाबरभाष्य से ही "गौरित्यत्र क शब्द ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्ष " यह उपवर्ष ऋषि का मत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४६४) में उद्धृत किया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २७१) में शब्दको वायवीय माननेवाले शिक्षाकार मीमांसकोंका मत भी शाबरभाष्यसे ही

उद्धृत हुआ है। इसके सिवाय न्यायकुमुदचन्द्र में शाबरभाष्यके कई वाक्य प्रमाणरूपमें और पूर्वपक्ष में उद्धृत किए गए हैं।

कुमारिल और प्रभाचन्द्र—भट्टकुमारिलने शाबरभाष्य पर मीमांसाश्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और टुप्टीका नामकी व्याख्या लिखी है। कुमारिलने अपने तन्त्रवार्तिक (पृ० २५१-२५३) में वाक्यपदीयके निम्नलिखित श्लोककी समालोचना की है—

"अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु॥" [वाक्यप० २।१२१]

इसी तरह तन्त्रवार्तिक (पृ० २०९-१०) में वाक्यपदीय (१।७) के "तत्त्वावबोध शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते" अंश उद्धृत होकर खंडित हुआ है। मीमांसाश्लोकवार्तिक (वाक्याधिकरण श्लो० ५१) में वाक्यपदीय (२।१-२) में निर्दिष्ट दशविध या अष्टविध वाक्यलक्षणोंका समालोचन किया गया है। भर्तृहरिके स्फोटवादकी आलोचना भी कुमारिलने मीमांसाश्लोकवार्तिकके स्फोटवादमें बड़ी प्रखरतासे की है। चीनी यात्री इत्सिंगने अपने यात्राविवरणमें भर्तृहरिका मृत्युसमय ई० ६५० बताया है। अतः भर्तृहरिके समालोचक कुमारिलका समय ईसाकी ७ वीं शताब्दी का उत्तर भाग मानना समुचित है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें सर्वज्ञवाद, शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, आगमादिप्रमाणोंका विचार, प्रामाण्यवाद आदि प्रकरणोंमें कुमारिलके श्लोकवार्तिकसे पचासों कारिकाएँ उद्धृत की हैं। शब्दनित्यत्ववाद आदि प्रकरणोंमें कुमारिलकी युक्तियोंका सिलसिलेवार सप्रमाण उत्तर दिया गया है। कुमारिलने आत्माको व्यावृत्त्यनुगमात्मक या नित्यानित्यात्मक माना है। प्रभाचन्द्रने आत्माकी नित्यानित्यात्मकताका समर्थन करते समय कुमारिलकी "तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मकः" आदि कारिकाएँ अपने पक्षके समर्थनमें भी उद्धृत की हैं। इसी तरह सृष्टिकर्तृत्वखंडन, ब्रह्मवादखंडन, आदिमें प्रभाचन्द्र कुमारिलके साथ साथ चलते हैं। सारांश यह है कि प्रभाचन्द्रके सामने कुमारिलका मीमांसाश्लोकवार्तिक एक विशिष्ट ग्रन्थके रूप में रहा है। इसीलिए इसकी आलोचना भी जमकर की गई है। श्लोकवार्तिक की भट्ट उम्वेककृत तात्पर्यटीका अभी ही प्रकाशित हुई है। इस टीकाका आलोडन भी प्रभाचन्द्रने ज़रूर किया है। सर्वज्ञवादमें कुछ कारिकाएँ ऐसी भी उद्धृत हैं जो कुमारिलके मौजूदा श्लोकवार्तिकमें नहीं पाई जाती। संभव है ये कारिकाएँ कुमारिलकी बृहट्टीका या अन्य किसी ग्रंथ की हों।

मण्डनमिश्र और प्रभाचन्द्र—आ० मण्डनमिश्रके मीमांसानुक्रमणी, विधिविवेक, भावनाविवेक, नैष्कर्म्यसिद्धि, ब्रह्मसिद्धि, स्फोटसिद्धि आदि ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। इनका समय ईसाकी ८वीं शताब्दीका पूर्वभाग है। आचार्य विद्यानन्दने (ई० ९ वीं शताब्दी का पूर्वभाग) अपनी अष्टसहस्रीमें मण्डनमिश्र का नाम लिया है। यतः मण्डनमिश्र अपने ग्रन्थोंमें सप्तमशतकवर्ती कुमारिलका नामोल्लेख करते हैं। अतः इनका समय ई० की सप्तमशताब्दीका अन्तिमभाग तथा

१ देखो बृहती द्वि० भागकी प्रस्तावना।

८ वीं सदी का पूर्वार्ध सुनिश्चित होता है। आ० प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १४९) में मण्डनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका "आहुर्विधातृ प्रत्यक्ष" श्लोक उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५७२) में विधिवादके पूर्वपक्ष में मण्डनमिश्रके विधिविवेकमें वर्णित अनेक विधिवादियोंका निर्देश किया गया है। उनके मतनिरूपण तथा समालोचन में विधिविवेक ही आधारभूत मालूम होता है।

प्रभाकर और प्रभाचन्द्र–शाबरभाष्यकी बृहती टीकाके रचयिता प्रभाकर करीब करीब कुमारिलके समकालीन थे। भट्टकुमारिलका शिष्य परिवार भाट्टके नामसे ख्यात हुआ तथा प्रभाकर के शिष्य प्राभाकर या गुरुमतानुयायी कहलाए। प्रभाकर विपर्ययज्ञानको स्मृतिप्रमोष या विवेकाख्याति रूप मानते हैं। ये अभावको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। वेदवाक्योंका अर्थ नियोगपरक करते हैं। प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें प्रभाकरके स्मृतिप्रमोष, नियोगवाद आदि सभी सिद्धान्तों का विस्तृत खण्डन किया है।

शालिकनाथ और प्रभाचन्द्र–प्रभाकरके शिष्योंमें शालिकनाथका अपना विशिष्ट स्थान है। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दी है। इन्होंने बृहतीके ऊपर ऋजुविमला नाम की पञ्जिका लिखी है। प्रभाकरगुरुके सिद्धान्तोंका विवेचन करनेके लिए इन्होंने प्रकरणपञ्चिका नामका स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा है। ये अन्धकारको स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते किन्तु ज्ञानानुत्पत्तिको ही अन्धकार कहते हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० २३८) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६६६) में शालिकनाथके इस मतकी विस्तृत समीक्षा की है।

शङ्कराचार्य और प्रभाचन्द्र–आद्य शङ्कराचार्यके ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, गीताभाष्य, उपनिषद्भाष्य आदि अनेकों ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय ई० ७८८ से ८२० तक माना जाता है। शाङ्करभाष्यमें धर्मकीर्तिके 'सहोपलम्भनियमात्' हेतुका खण्डन होनेसे यह समय समर्थित होता है। आ० प्रभाचन्द्रने शङ्करके अनिर्वचनीयार्थख्यातिवादकी समालोचना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें की है। न्यायकुमुदचन्द्रके परमब्रह्मवादके पूर्वपक्षमें शाङ्करभाष्यके आधार से ही वैषम्य नैर्घृण्य आदि दोषोंका परिहार किया गया है।

सुरेश्वर और प्रभाचन्द्र–शङ्कराचार्यके शिष्योंमें सुरेश्वराचार्यका नाम उल्लेखनीय है। इनका नाम विश्वरूप भी था। इन्होंने तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, मानसोल्लास, पञ्चीकरणवार्तिक, काशीमृतिमोक्षविचार, नैष्कर्म्यसिद्धि आदि ग्रन्थ बनाए हैं। आ० विद्यानन्द (ईसाकी ९ वीं शताब्दी) ने अष्टसहस्री (पृ० १६२) में बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकसे "ब्रह्माविद्यावदिष्टञ्चेन्ननु" इत्यादि कारिकाएँ उद्धृत की हैं। अत इनका समय भी ईसाकी ९ वीं शताब्दीका पूर्वभाग होना चाहिए। ये शङ्कराचार्य (ई० ७८८ से ८२०) के साक्षात् शिष्य थे। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४४-४५)

१ द्रष्टव्य–अच्युतपत्र वर्ष ३ अङ्क ४ में म० म० गोपीनाथ कविराज का लेख।

तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १४१) में अद्वैतवादके पूर्वपक्षमें इनके बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य वार्तिक (३।५।४३ ४४) से "यथा विशुद्धमाकाशं" आदि दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

भामह और प्रभाचन्द्र–भामहका काव्यालङ्कार ग्रन्थ उपलब्ध है। शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रह (पृ० २९१) में भामहके काव्यालङ्कारकी अपोहखण्डन वाली "यदि गौरित्यय शब्द" आदि तीन कारिकाओंकी समालोचनाकी है। ये कारिकाएँ काव्यलङ्कारके ६ वें परिच्छेद (श्लो० १७–१९) में पाई जाती हैं। तत्त्वसंग्रहकारका समय ई० ७०५–७६२ तक सुनिर्णीत है। बौद्धसम्मत प्रत्यक्षके लक्षणका खण्डन करते समय भामहने (काव्यालङ्कार ५।६) दिङ्नागके मात्र 'कल्पनापोढ' पदवाले लक्षणका खण्डन किया है, धर्मकीर्तिके 'कल्पनापोढ और अभ्रान्त' उभयविशेषणवाले लक्षणका नहीं। इससे ज्ञात होता है कि भामह दिङ्नागके उत्तरवर्ती तथा धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती हैं। अन्ततः इनका समय ईसाकी ७ वीं शताब्दी का पूर्वभाग है। आ० प्रभाचन्द्रने अपोहवादका खण्डन करते समय भामहकी अपोहखण्डन-विषयक "यदि गौरित्यय" आदि तीनों कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४३२) में उद्धृत की हैं। यह भी सम्भव है कि ये कारिकाएँ सीधे भामहके ग्रन्थसे उद्धृत न होकर तत्त्वसंग्रहके द्वारा उद्धृत हुई हों।

बाण और प्रभाचन्द्र–प्रसिद्ध गद्यकाव्य कादम्बरीके रचयिता बाणभट्ट, सम्राट् हर्षवर्धन (राज्य ६०६ से ६४८ ई०) की सभाके कविरत्न थे। इन्होंने हर्षचरितकी भी रचना की थी। बाण, कादम्बरी और हर्षचरित दोनों ही ग्रन्थोंको पूर्ण नहीं कर सके। इनकी कादम्बरीका आद्यश्लोक "रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये" प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० २१८) में उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने वेदापौरुषेयत्वप्रकरणमें (प्रमेयक० पृ० ३९३) कादम्बरीके कर्तृत्वके विषयमें सन्देहात्मक उल्लेख किया है–"कादम्बर्यादीनां कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेः"–अर्थात् कादम्बरी आदिके कर्ताके विषयमें विवाद है। इस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रके समयमें कादम्बरी आदि ग्रन्थोंके कर्ता विवादग्रस्त थे। अब प्रभाचन्द्रका समय आगे ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध करेंगे।

माघ और प्रभाचन्द्र–शिशुपालवध काव्यके रचयिता माघ कविका समय ई० ६६०-६७५ के लगभग है[1]। माघकविके पितामह सुप्रभदेव राजा वर्मलातके मन्त्री थे। राजा वर्मलात का उल्लेख ई० ६२५ के एक शिलालेखमें विद्यमान है अतः इनके नाती माघ कविका समय ई० ६७५ तक मानना समुचित है। प्रभाचन्द्रने माघकाव्य (१।२३) का "युगान्तकाल-प्रतिसंहृतात्मनो " श्लोक प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ६८८) में उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रने माघकाव्यको देखा था।

---

१ देखो संस्कृत साहित्यका इतिहास पृ० १४३।

(अवैदिकदर्शन)

अश्वघोष और प्रभाचन्द्र—अश्वघोषका समय ईसाका द्वितीय शतक माना जाता है। इनके बुद्धचरित और सौन्दरनन्द दो महाकाव्य प्रसिद्ध हैं। सौन्दरनन्दमें अश्वघोषने प्रसङ्गत बौद्धदर्शनके कुछ पदार्थोंका भी सारगर्भ विवेचन किया है। आ० प्रभाचन्द्रने शून्यनिर्वाणवादका खण्डन करते समय पूर्वपक्षमें (प्रमेयक० पृ० ६८७) सौन्दरनन्दकाव्यसे निम्नलिखित दो श्लोक उद्धृत किए हैं—

"दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥"

[सौन्दरनन्द १६।२८,२९]

नागार्जुन और प्रभाचन्द्र—नागार्जुन की माध्यमिककारिका और विग्रहव्यावर्तिनी दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ये ईसाकी तीसरी शताब्दीके विद्वान् हैं। इन्हें शून्यवादके प्रस्थापक होनेका श्रेय प्राप्त है। माध्यमिककारिकामें इन्होंने विस्तृत परीक्षाएँ लिखकर शून्यवादको दार्शनिक रूप दिया है। विग्रहव्यावर्तिनी भी इसी तरह शून्यवादका समर्थन करनेवाला छोटा प्रकरण है। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १३२) में माध्यमिकके शून्यवादका खण्डन करते समय पूर्वपक्षमें प्रमाणवार्तिककी कारिकाओंके साथ ही साथ माध्यमिककारिकासे भी 'न स्वतो नापि परत' और 'यथा मया यथा स्वप्नो' ये दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

वसुबन्धु और प्रभाचन्द्र—वसुबन्धुका अभिधर्मकोश ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनका समय ई० ४०० के करीब माना जाता है। अभिधर्मकोश बहुत अंशोंमें बौद्धदर्शनके सूत्रग्रन्थका कार्य करता है। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३९०) में वैभाषिक सम्मत द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पादका खण्डन करते समय प्रतीत्यसमुत्पादका पूर्वपक्ष वसुबन्धुके अभिधर्मकोशके आधारसे ही लिखा है। उसमें यथावसर अभिधर्मकोशसे २।३ कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं। देखो-न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३९५।

दिङ्नाग और प्रभाचन्द्र—आ० दिग्नागका स्थान बौद्धदर्शनके विशिष्ट संस्थापकोंमें है। इनके न्यायप्रवेश, और प्रमाणसमुच्चय प्रकरण मुद्रित हैं। इनका समय ई० ४२५ के आसपास माना जाता है। प्रमाणसमुच्चयमें प्रत्यक्षका कल्पनापोढ लक्षण किया है। इसमें अभ्रान्तपद धर्मकीर्तिने जोड़ा है। इन्हींके प्रमाणसमुच्चय पर धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक रचा है। भिक्षु राहुलजीने[1] दिग्नाग के आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, और हेतुचक्रडमरु आदि ग्रन्थोंका भी उल्लेख किया है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ८०) में

१ वादन्याय परिशिष्ट पृ० VI

'स्तुतश्च अद्वैतादिप्रकरणानामादौ दिग्नागादिभिः सद्भिः' लिखकर प्रमाणसमुच्चयका 'प्रमाणभूताय' इत्यादि मङ्गलश्लोकांश उद्धृत किया है। इसी तरह अपोहवादके पूर्वपक्ष (प्रमेयक० पृ० ४३६) में दिग्नागके नामसे निम्नलिखित गद्यांश भी उद्धृत किया है– "दिग्नागेन विशेषणविशेष्यभावसमर्थनार्थम् 'नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहुः' इत्युक्तम्।"

धर्मकीर्ति और प्रभाचन्द्र–बौद्धदर्शनके युगप्रधान आचार्य धर्मकीर्ति ईसाकी ७ वीं शताब्दीमें नालन्दाके बौद्धविद्यापीठके आचार्य थे। इनकी लेखनीने भारतीय दर्शनशास्त्रोंमें एक युगान्तर उपस्थित कर दिया था। धर्मकीर्तिने वैदिकसंस्कृति पर दृढ़ प्रहार किए हैं। यद्यपि इनका उद्धार करनेके लिए व्योमशिव, जयन्त, वाचस्पतिमिश्र, उदयन आदि आचार्योंने कुछ उठा नहीं रखा। पर बौद्धोंके खडनमें जितनी कुशलता तथा सतर्कतासे जैनाचार्योंने लक्ष्य दिया है उतना अन्यने नहीं। यही कारण है कि अकलङ्क, हरिभद्र, अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादिदेवसूरि आदिके जैनन्यायशास्त्रके ग्रन्थोंका बहुभाग बौद्धोंके खडनने ही रोक रखा है। धर्मकीर्तिके विषयमें मैं विशेष ऊहापोह "अकलङ्कग्रन्थत्रय" की प्रस्तावना (पृ० १८) में कर आया हूँ। इनके प्रमाणवार्तिक, हेतुबिन्दु, न्यायबिन्दु, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय, सम्बन्धपरीक्षा आदि ग्रन्थोंका प्रभाचन्द्रको गहरा अभ्यास था। इन ग्रन्थों की अनेकों कारिकाएँ, खासकर प्रमाणवार्तिक की कारिकाएँ प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें उद्धृत हैं। मालूम होता है कि सम्बन्धपरीक्षाकी अथ से इति तक २३ कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्त्तण्डके सम्बन्धवादके पूर्वपक्ष में ज्यों की त्यों रखी गई हैं, और खण्डित हुई हैं। विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में इसकी कुछ कारिकाएँ ही उद्धृत हैं। वादन्यायका "हसति हसति स्वामिनि" आदि श्लोक प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें उद्धृत है। संवेदनाद्वैतके पूर्वपक्षमें धर्मकीर्तिके 'सहोपलम्भनियमात्' आदि हेतुओंका निर्देश कर बहुविध विकल्पजालोंसे खण्डन किया गया है। वादन्यायकी "असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयो" कारिकाका और इसके विविध व्याख्यानोंका सयुक्तिक उत्तर प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें दिया गया है। इन सब ग्रन्थोंके अवतरण और उनसे की गई तुलना न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणोंमें देखनी चाहिए।

प्रज्ञाकरगुप्त और प्रभाचन्द्र–धर्मकीर्तिके व्याख्याकारोंमें प्रज्ञाकरगुप्तका अपना खास स्थान है। उन्होंने प्रमाणवार्तिक पर प्रमाणवार्तिकालङ्कार नामकी विस्तृत व्याख्या लिखी है। इनका समय भी ईसाकी ७ वीं शताब्दीका अन्तिम भाग और आठवींका प्रारम्भिक भाग है। इनकी प्रमाणवार्तिकालङ्कार टीका वार्तिकालङ्कार और अलङ्कारके नामसे भी प्रख्यात रही है। इन्हींके वार्तिकालङ्कारसे भावना विधि नियोगकी विस्तृत चरचा विद्यानन्दके ग्रन्थों द्वारा प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें अवतीर्ण हुई है। इतना विशेष है कि–विद्यानन्द और प्रभाचन्द्रने प्रज्ञाकरगुप्तकृत भावना विधि आदिके खडनका भी स्थान स्थान पर विशेष समालोचन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३८०) में प्रज्ञाकरके भाविकारणवाद और भूतकारणवादका उल्लेख तथा

प्रज्ञाकरका नाम देकर किया गया है। प्रज्ञाकरगुप्तने अपने इस मतका प्रतिपादन प्रमाणवार्तिकालङ्कार में ही किया है[1]। भिक्षु राहुलसांकृत्यायनके पास इसकी हस्तलिखित कापी है। प्रभाचन्द्रने धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी तरह उनके शिष्य प्रज्ञाकरके वार्तिकालङ्कारका भी आलोचन किया है।

प्रभाचन्द्रने जो ब्राह्मणत्वजातिका खण्डन लिखा है, उसमें शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहके साथ ही साथ प्रज्ञाकरगुप्त के वार्तिकालङ्कारका भी प्रभाव मालूम होता है। ये बौद्धाचार्य अपनी सम्प्रदायके अनुसार सदैव जातिवाद पर खड्गहस्त रहते थे। धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके निम्नलिखित श्लोकमें जातिवादके मदको जडताका चिह्न बताया है–

"वेदप्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
सन्तापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्च लिङ्गानि जाड्ये॥"

उत्तराध्ययनसूत्रमें 'कम्मुणा बम्हणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ' लिखकर कर्मणा जातिका स्पष्ट समर्थन किया गया है।

दि० जैनाचार्योंमें वराङ्गचरित्रके कर्ता जटासिंहनन्दिने वराङ्गचरितके २५ वें अध्यायमें ब्राह्मणत्वजातिका निरास किया है। और भी रविषेण, अमितगति आदिने जातिवादके खिलाफ थोड़ा बहुत लिखा है पर तर्कग्रन्थोंमें सर्वप्रथम हम प्रभाचन्द्रके ही ग्रन्थोंमें जन्मना जातिका सयुक्तिक खण्डन यथेष्ट विस्तारके साथ पाते हैं।

कर्णकगोमि और प्रभाचन्द्र–प्रमाणवार्तिकके तृतीयपरिच्छेद पर धर्मकीर्तिकी स्वोपज्ञवृत्ति भी उपलब्ध है। इस वृत्तिपर कर्णकगोमिकी विस्तृत टीका है। इस टीकामें प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिकालङ्कारका 'अलङ्कार' शब्दसे उल्लेख है। इसमें मण्डनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका 'आहुर्विधातृ' श्लोक उद्धृत है। अतः इनका समय ई० ८ वीं सदीका पूर्वार्ध समझ है। न्यायकुमुदचन्द्रके शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, स्फोटवाद आदि प्रकरणों पर कर्णकगोमिकी स्ववृत्तिटीका अपना पूरा असर रखती है। इसके अवतरण इन प्रकरणोंके टिप्पणोंमें देखना चाहिये।

शान्तरक्षित, कमलशील और प्रभाचन्द्र–तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित तथा तत्त्वसंग्रहपञ्जिकाके रचयिता कमलशील नालन्दाविश्वविद्यालयके आचार्य थे। शान्तरक्षितका समय ई० ७०५ से ७६२ तथा कमलशीलका समय ई० ७१३ से ७६३ है। शान्तरक्षितकी अपेक्षा कमलशीलकी प्रावाहिक प्रसादगुणमयी भाषाने प्रभाचन्द्रको अत्यधिक आकृष्ट किया है। यों तो प्रभाचन्द्रके प्रायः प्रत्येक प्रकरणपर कमलशीलकी पञ्जिका अपना उन्मुक्त प्रभाव रखती है पर इसके लिए षट्पदार्थपरीक्षा, शब्दब्रह्मपरीक्षा, ईश्वरपरीक्षा, प्रकृतिपरीक्षा, शब्दनित्यत्वपरीक्षा आदि परीक्षाएँ खासतौरसे द्रष्टव्य हैं। तत्त्वसंग्रहकी सर्वज्ञपरीक्षामें कुमारिलकी पचासों कारिकाएँ उद्धृत कर पूर्वपक्ष किया गया है। इनमेंसे अनेकों कारिकाएँ ऐसी हैं जो कुमारिलके श्लोक-

१ इसके अवतरण अकलङ्कग्रन्थत्रयकी प्रस्तावना पृ० २७ में देखना चाहिए।
२ इन आचार्योंके ग्रन्थोंके अवतरणके लिए देखो न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७७८ टि० ९।
३ देखो तत्त्वसंग्रहकी प्रस्तावना पृ० XCVI

वार्तिकमें नहीं पाई जातीं। कुछ ऐसी ही कारिकाएँ प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्याय-कुमुदचन्द्रमें भी उद्धृत हैं। सम्भव है कि ये कारिकाएँ कुमारिलके ग्रन्थसे न लेकर तत्त्वसंग्रहसे ही ली गई हों। तात्पर्य यह कि प्रभाचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमें तत्त्वसंग्रह और उसकी पञ्जिका अग्रस्थान पानेके योग्य है।

अर्चट और प्रभाचन्द्र–धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दु पर अर्चटकृत टीका उपलब्ध है। इसका उल्लेख अनन्तवीर्यने अपनी सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनेकों स्थलोंमें किया है। 'हेतु-लक्षणसिद्धि' में तो धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दुके साथही साथ अर्चटकृत विवरणका भी खण्डन है। अर्चटका समय भी करीब ईसाकी ८ वीं शताब्दी होना चाहिये। अर्चटने अपने हेतुबिन्दु-विवरणमें सहकारित्व दो प्रकारका बताया है–१ एकार्थकारित्व, २ परस्परातिशयाधायकत्व। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० १०) में कारकसाकल्यवादकी समीक्षा करते समय सहकारित्वके यही दो विकल्प किये हैं।

धर्मोत्तर और प्रभाचन्द्र–धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दु पर आ० धर्मोत्तरने टीका रची है। भिक्षु राहुलजी द्वारा लिखित टिबेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार इनका समय ई० ७२५ के आसपास है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० २) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २०) में सम्बन्ध, अभिधेय, शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनरूप अनुबन्धत्रयकी चरचामें, जो उन्मत्तवाक्य, काकदन्तपरीक्षा, मातृविवाहोपदेश तथा सर्वज्वरहरतक्षकचूडारत्नालङ्कारोपदेशके उदाहरण दिए हैं वे धर्मोत्तरकी न्यायबिन्दुटीका (पृ० २) के प्रभावसे अछूते नहीं हैं। इनकी शब्दरचना करीब करीब एक जैसी है। इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २६) में प्रत्यक्ष शब्दकी व्याख्या करते समय अक्षाश्रितत्वको प्रत्यक्षशब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त बताया है और अक्षाश्रितत्वोपलक्षित अर्थसाक्षात्कारित्व को प्रवृत्तिनिमित्त। ये प्रकार भी न्यायबिन्दुटीका (पृ० ११) से अक्षरशः मिलते हैं।

ज्ञानश्री और प्रभाचन्द्र–ज्ञानश्रीने क्षणभङ्गाध्याय आदि अनेक प्रकरण लिखे हैं। उदयनाचार्य ने अपने आत्मतत्त्वविवेकमें ज्ञानश्रीके क्षणभंगाध्यायका नामोल्लेखपूर्वक आनुपूर्वी से खंडन किया है। उदयनाचार्यने अपनी लक्षणावली तर्काम्बराङ्क (९०६) शक, ई० ९८४ में समाप्त की थी। अतः ज्ञानश्रीका समय ई० ९८४ से पहिले तो होना ही चाहिए। भिक्षु राहुल सांकृत्यायनजीके नोट्स देखनेसे ज्ञात हुआ है कि–ज्ञानश्रीके क्षणभंगाध्याय या अपोह सिद्धिके प्रारम्भमें यह कारिका है–

"अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते।"

विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें भी यह कारिका उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने भी अपोहवाद के पूर्वपक्षमें "अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां" कारिका उद्धृत की है। वाचस्पतिमिश्र (ई० ८४१) के ग्रन्थों में ज्ञानश्रीकी समालोचना नहीं है पर उदयनाचार्य (ई० ९८४) के ग्रन्थोंमें है, इसलिए भी ज्ञानश्रीका समय ईसाकी १० वीं शताब्दीके बाद तो नहीं जा सकता।

१ देखो वाद न्यायका परिशिष्ट।

जयसिंहराशिभट्ट और प्रभाचन्द्र–भट्ट श्री जयसिंहराशिका तत्त्वोपप्लवसिंह नामक ग्रन्थ गायकवाड सीरीजमें प्रकाशित हुआ है। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दी है। तत्त्वोपप्लवग्रन्थ में प्रमाण प्रमेय आदि सभी तत्त्वोंका बहुविध विकल्पजालसे खडन किया गया है। आ० विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम तत्त्वोपप्लववादीका पूर्वपक्ष देखा जाता है। प्रभाचन्द्रने संशयज्ञान-का पूर्वपक्ष तथा बाधकज्ञानका पूर्वपक्ष तत्त्वोपप्लव ग्रन्थसे ही किया है और उसका उतने ही विकल्पों द्वारा खडन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ६४८) में 'तत्त्वोपप्लववादि' का दृष्टान्त भी दिया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३३६) में भी तत्त्वोपप्लववादिका दृष्टान्त पाया जाता है। तात्पर्य यह कि परमतके खडनमें क्वचित् तत्त्वोपप्लववादिकृत विकल्पोंका उपयोग कर लेने पर भी प्रभाचन्द्रने स्थान स्थान पर तत्त्वोपप्लववादिके विकल्पोंकी भी समीक्षा की है।

कुन्दकुन्द और प्रभाचन्द्र–दिगम्बर आचार्यों में आ० कुन्दकुन्दका विशिष्ट स्थान है। इनके सारत्रय–प्रवचनसार, पञ्चास्तिकायसमयसार और समयसार–के सिवाय बारसअणुवेक्खा अष्टपाहुड आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रो० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकाम इनका समय ईसाकी प्रथमशताब्दी सिद्ध किया है। कुन्दकुन्दाचार्यने बोधपाहुड (गा० ३७) में केवलीको आहार और निहारसे रहित बताकर कवलाहारका निषेध किया है। सूत्रप्राभृत (गा० २३-२६) में स्त्रीको प्रव्रज्याका निषेध करके स्त्रीमुक्तिका निरास किया है। कुन्दकुन्द-के इस मूलमार्गका दार्शनिकरूप हम प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें केवलिकवलाहारवाद तथा स्त्रीमुक्ति-वादके रूपमें पाते हैं। यद्यपि शाकटायनने अपने केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंमें दिग-म्बरोंकी मान्यताका विस्तृत खडन किया है, जिससे ज्ञात होता है कि शाकटायनके सामने दिगम्बराचार्योंका उक्त सिद्धान्तद्वयका समर्थक विकसित साहित्य रहा है। पर आज हमारे सामने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ ही इन दोनों मान्यताओंके समर्थकरूपमें समुपस्थित हैं। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रवचनसारकी 'जियदु व मरदु व' गाथा, भावपाहुडकी 'एगो मे सस्सदो' गाथा, तथा प्रा० सिद्धभक्तिकी 'पुंवेदं वेदन्ता' गाथा उद्धृत की है। प्राकृत दशभक्तियाँ भी कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं।

समन्तभद्र और प्रभाचन्द्र–आद्यस्तुतिकार स्वामी समन्तभद्राचार्यके बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दी माना जाता है। किन्हीं विद्वानोंका विचार है कि इनका समय विक्रमकी पाचवीं या छठवीं शताब्दी होना चाहिए। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रसे "अनेकान्तोऽप्यनेकान्त" "मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्" "तदेव च स्यान्न तदेव" इत्यादि श्लोक उद्धृत किए हैं।

आ० विद्यानन्दने आप्तपरीक्षाका उपसहार करते हुए निम्नलिखित श्लोक लिखा है कि–

"श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।

स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ॥१२३॥"

अर्थात् तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रसे दीप्तरत्नोंके उद्भवके प्रोत्थानारम्भकाल-प्रारम्भिक समयमें, शास्त्रकारने, पापोंका नाश करनेके लिए, मोक्षके पथको बतानेवाला तीर्थस्वरूप जो स्तवन किया था और जिस स्तवनकी स्वामीने मीमांसा की है, उसीका विद्यानन्दने अपनी स्वशक्तिके अनुसार सत्यवाक्य और सत्यार्थकी सिद्धिके लिए विवेचन किया है।

वे इस श्लोकमें स्पष्ट सूचित करते हैं कि स्वामी समन्तभद्रने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मंगलश्लोकमें वर्णित जिस आप्तकी मीमांसा की है उसी आप्तकी मैंने परीक्षा की है। यह मंगलस्तोत्र तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रसे दीप्त रत्नोंके उद्भवके प्रारम्भिक समयमें शास्त्रकारने बनाया था। यह तत्त्वार्थशास्त्र यदि तत्त्वार्थसूत्र है तो उसका मथन करके रत्नोंके निकालनेवाले आचार्य पूज्यपाद हैं। यह 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक स्वयं सूत्रकारका तो नहीं मालूम होता, क्योंकि भट्टाकलङ्कदेव और विद्यानन्दने अपने राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें इसका व्याख्यान नहीं किया है। यदि विद्यानन्द इसे सूत्रकारकृत ही मानते होते तो वे अवश्य ही श्लोकवार्तिकमें उसका व्याख्यान करते। इस श्लोकमें विद्यानन्दने 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोकको उस शास्त्रकारका बताया है, जिसने तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रका मथन करके दीप्तरत्न निकाले थे। वे इस श्लोकको मूलसूत्रकारका नहीं मानते। परन्तु यही विद्यानन्द आप्तपरीक्षा (पृ० ३) के प्रारम्भमें इसी श्लोकको सूत्रकारकृत भी लिखते हैं। यथा–

"किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते–मोक्षमार्गस्य नेतारं ......" इस पंक्तिमें यही श्लोक सूत्रकारकृत कहा गया है। किन्तु विद्यानन्दकी शैलीका ध्यानसे समीक्षण करने पर यह स्पष्टरूपसे विदित हो जाता है कि वे अपने ग्रन्थोंमें किसी भी पूर्वाचार्यको सूत्रकार और किसी भी पूर्वग्रन्थको सूत्र लिखते हैं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १८४) में वे अकलङ्कदेवका सूत्रकार शब्दसे तथा राजवार्तिकका सूत्र शब्दसे उल्लेख करते हैं–"तेन 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणम्' इत्येतत्सूत्रोपात्तमुक्तं भवति। ततः प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा। द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥ ४ ॥ सूत्रकारा इति ज्ञेयमाकलङ्कावबोधने।" इस अवतरणमें 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष' वाक्य राजवार्तिक (पृ० ३८) का है तथा 'प्रत्यक्षलक्षणं' श्लोक न्यायविनिश्चय (श्लो० ३) का है। अतः मात्र सूत्रकारके नामसे 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोकको उद्धृत करनेके कारण हम 'विद्यानन्दका झुकाव इसे मूल सूत्रकारकृत माननेकी ओर है' यह नहीं समझ सकते। अन्यथा वे इसका व्याख्यान श्लोकवार्तिकमें अवश्य करते। अतः इस पंक्तिमें सूत्रकार शब्दसे भी इद्धरत्नोंके उद्भवकर्ता आचार्यका ही ग्रहण करना चाहिए। 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक वस्तुतः सर्वार्थसिद्धिका ही मंगलश्लोक है। और यदि समन्तभद्रने इसी श्लोकके ऊपर अपनी आप्तमीमांसा बनाई है, जैसा कि विद्यानन्दका उल्लेख है, तो समन्तभद्र पूज्यपादके उत्तरकालीन सिद्ध होते हैं। पं० सुखलालजी का यह तर्क कि–"यदि समन्तभद्र

पूज्यपादके प्राक्कालीन होते तो वे अपने इस युगप्रधान आचार्य की आप्तमीमासा जैसी अनूठी कृतिका उल्लेख किए बिना नहीं रहते" विचारणीय है। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाणो से किसी आचार्यके समयका स्वतन्त्र भावसे साधन बाधन नहीं होता फिर भी विचार की एक स्पष्ट कोटि तो उपस्थित हो ही जाती है। समन्तभद्रकी आप्तमीमासाके चौथे परिच्छेदमे वर्णित "निरूपकार्यारम्भाय" आदि कारिकाओंके पूर्वपक्षों की समीक्षा करनेसे ज्ञात होता है कि समन्तभद्रके सामने सभवत दिग्नागके ग्रन्थ भी रहे हैं। बौद्धदर्शन की इतनी स्पष्ट विचारधाराकी सम्भावना दिग्नागसे पहिले नहीं की जा सकती।

हेतुबिन्दुके अर्चटकृत विवरणमें समन्तभद्रकी आप्तमीमासाकी "द्रव्यपर्याययोरैक्य तयोरव्यतिरेक्त" कारिकाके खडन करनेवाले ३०-३५ श्लोक उद्धृत किए गए हैं। ये श्लोक सभवत धर्मकीर्तिके किसी ग्रन्थके हो। अर्चटका समय ८ वीं सदी है। कुमारिलके मीमासाश्लोकवार्तिकमें समन्तभद्रकी "घटमौलिसुवर्णार्थी" कारिकाके प्रतिच्छायभूत निम्न श्लोक पाये जाते है—

"वर्धमानकभङ्गे च रुचक क्रियते यदा। तदा पूर्वार्थिन शोक प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिन ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्य तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्। न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्॥
स्थित्या विना न माध्यस्थ्य तेन सामान्यनित्यता॥" [मी० श्लो० पृ० ६१९]

कुमारिलका समय ईसाकी ७वीं सदी है। अत समन्तभद्रकी उत्तरावधि तो सातवीं सदी सुनिश्चित है। पूर्वावधिका नियामक प्रमाण दिग्नागका समय होना चाहिए। इस तरह समन्तभद्रका समय ईसाकी ५ वीं और सातवीं शताब्दीका मध्यभाग अधिक सभव है। यदि विद्यानन्दके उल्लेखमें ऐतिहासिक दृष्टि भी निविष्ट है तो इनका समय पूज्यपादके बाद होना चाहिए। अन्यथा दिग्नाग (ई० ४२५) के बाद और पूज्यपादसे कुछ पहिले।

पूज्यपाद और प्रभाचन्द्र—आ० देवनन्दिका अपर नाम पूज्यपाद था। ये विक्रम की पाचवी और छठी सदीके ख्यात आचार्य थे। आ० प्रभाचन्द्रने पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि पर सर्वार्थवृत्तिपदविवरण नामकी लघुवृत्ति लिखी है। इसके सिवाय इन्होंने जैनेन्द्रव्याकरण पर शब्दाम्भोजभास्कर नामका न्यास लिखा है। पूज्यपादकी सस्कृत सिद्धभक्तिसे 'सिद्धि स्वात्मोपलब्धि' पद भी न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें जहा कहीं भी व्याकरणके सूत्रोंके उद्धरण देनेकी आवश्यकता हुई है वहा प्राय जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए गए हैं।

धनञ्जय और प्रभाचन्द्र—'सस्कृतसाहित्यका सक्षिप्त इतिहास' के लेखकद्वयने धनञ्जयका समय ई० १२ वें शतकका मध्य निर्धारित किया है (पृ० १७३)। और अपने इस मतकी पुष्टिके लिए के० बी० पाठक महाशयका यह मत भी उद्धृत किया है कि—"धनञ्जयने द्विसन्धान महाकाव्यकी रचना ई० ११२३ और ११४० के मध्यमे की है।" डॉ० पाठक और उक्त

१ देखो अनेकान्त वर्ष १ पृ० १९७। प्रेमी जी सूचित करते है कि इसकी प्रति बंबईके ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनमें मौजूद है।

इतिहास के लेखकद्वय अन्य कई जैन कवियोंके समय निर्धारणकी भांति धनञ्जयके समयमें भी बड़ी भारी भ्रान्ति कर बैठे हैं। क्योंकि विचार करनेसे धनञ्जयका समय इसाकी ८ वीं सदीका अन्त और नवींका प्रारम्भिक भाग सिद्ध होता है–

१ जल्हण (ई० द्वादशशतक) विरचित सूक्तिमुक्तावलीमें राजशेखरके नामसे धनञ्जयकी प्रशंसामें निम्न लिखित पद्य उद्धृत है–

"द्विसन्धाने निपुणतां सतां चक्रे धनञ्जयः। यया जातं फलं तस्य सतां चक्रे धनञ्जयः॥"

इस पद्यमें राजशेखरने धनञ्जयके द्विसन्धानकाव्यका मनोमुग्धकर सरणिसे निर्देश किया है। संस्कृत साहित्यके इतिहासके लेखकद्वय लिखते हैं कि–"यह राजशेखर प्रबन्धकोशका कर्ता जैन राजशेखर है। यह राजशेखर ई० १३४८ में विद्यमान था।" आश्चर्य है कि १२ वीं शताब्दीके विद्वान् जल्हणके द्वारा विरचित ग्रन्थमें उल्लिखित होने वाले राजशेखरको लेखकद्वय १४ वीं शताब्दीका जैन राजशेखर बताते हैं। यह तो मोटी बात है कि १२ वीं शताब्दीके जल्हणने १४ वीं शताब्दीके जैन राजशेखरका उल्लेख न करके १० वीं शताब्दीके प्रसिद्ध काव्यमीमांसाकार राजशेखरका ही उल्लेख किया है। इस उल्लेखसे धनञ्जयका समय ९ वीं शताब्दीके अन्तिम भागके बाद तो किसी भी तरह नहीं जाता। ई० ९६० में विरचित सोमदेवके यशस्तिलकचम्पूमें राजशेखरका उल्लेख होनेसे इनका समय करीब ई० ९१० ठहरता है।

२ वादिराजसूरि अपने पार्श्वनाथचरित (पृ० ४) में धनञ्जयकी प्रशंसा करते हुए लिखते हैं–

"अनेकभेदसन्धानाः खनन्तो हृदये मुहुः। बाणा धनञ्जयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रिया कथम्॥"

इस श्लिष्ट श्लोकमें 'अनेकभेदसन्धाना' पदसे धनञ्जयके 'द्विसन्धानकाव्य' का उल्लेख बड़ी कुशलतासे किया गया है। वादिराजसूरिने पार्श्वनाथचरित ९४७ शक (ई० १०२५) में समाप्त किया था। अतः धनञ्जयका समय ई० १० वीं शताब्दीके बाद तो किसी भी तरह नहीं जा सकता।

३ आ० वीरसेनने अपनी धवलाटीका (अमरावतीकी प्रति पृ० ३८७) में धनञ्जयकी अनेकार्थनाममालाका निम्न लिखित श्लोक उद्धृत किया है–

"हेतावेवं प्रकाराद्यैः व्यवच्छेदे विपर्यये। प्रादुर्भावे समाप्तौ च इतिशब्दं विदुर्बुधाः॥"

आ० वीरसेनने धवलाटीकाकी समाप्ति शक ७३८ (ई० ८१६) में की थी। अतः धनञ्जयका समय ८ वीं शताब्दीका उत्तरभाग और नवीं शताब्दीका पूर्वभाग सुनिश्चित होता है। धनञ्जयने अपनी नाममालामें–

"प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्। धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥"

इस श्लोकमें अकलङ्कदेवका नाम लिया है। अकलङ्कदेव ईसाकी ८ वीं सदीके आचार्य हैं अतः धनञ्जयका समय ८ वीं सदीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सुसंगत है। आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४०२) में धनञ्जयके द्विसन्धानकाव्यका उल्लेख किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें इसी स्थल पर द्विसन्धानकी जगह त्रिसन्धान नाम लिया गया है।

१ देखो धवलाटीका प्रथम भागकी प्रस्तावना पृ० ६२।

रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र—रविभद्रपादोपजीवि अनन्तवीर्याचार्यकी सिद्धिविनिश्चयटीका समुपलब्ध है। ये अकलङ्कके प्रकरणोंके तलद्रष्टा, विवेचयिता, व्याख्याता और मर्मज्ञ थे। प्रभाचन्द्रने इनकी उक्तियोंसे ही दुरवगाह अकलङ्कवाङ्मयका सुष्ठु अभ्यास और विवेचन किया था। प्रभाचन्द्र अनन्तवीर्यके प्रति अपनी कृतज्ञताका भाव न्यायकुमुदचन्द्रमें एकाधिकबार प्रदर्शित करते हैं। इनकी सिद्धिविनिश्चयटीका अकलङ्कवाङ्मयके टीकासाहित्यका शिरोरत्न है। उसमें सैकड़ों मतमतान्तरोंका उल्लेख करके उनका सविस्तर निरास किया गया है। इस टीकामें धर्मकीर्ति, अर्चट, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकरगुप्त, आदि प्रसिद्ध प्रसिद्ध धर्मकीर्तिसाहित्यके व्याख्याकारोंके मत उनके ग्रन्थोंके लम्बे लम्बे अवतरण देकर उद्धृत किए गए हैं। यह टीका प्रभाचन्द्रके ग्रन्थो पर अपना विचित्र प्रभाव रखती है। शान्तिसूरिने अपनी जैनतर्कवार्तिकवृत्ति (पृ० ९८) में 'एके अनन्तवीर्यादय' पदसे सम्भवत इन्हीं अनन्तवीर्यके मतका उल्लेख किया है।

विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र—आ० विद्यानन्दका जैनतार्किकोंमें अपना विशिष्ट स्थान है। इनकी श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, युक्त्यनुशासनटीका आदि तार्किककृतियाँ इनके अतुल तलस्पर्शी पाण्डित्य और सर्वतोमुख अध्ययन का पदे पदे अनुभव कराती हैं। इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपना समय आदि नहीं दिया है। आ० प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र दोनों ही प्रमुखग्रन्थों पर विद्यानन्दकी कृतियोंकी सुनिश्चित अमिट छाप है। प्रभाचन्द्रको विद्यानन्दके ग्रन्थोंका अनूठा अभ्यास था। उनकी शब्दरचना भी विद्यानन्दकी शब्दभगीसे पूरी तरह प्रभावित है। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डके प्रथमपरिच्छेदके अन्तमें—

"विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम्"

इस श्लोकाशमें श्लिष्टरूपसे विद्यानन्दका नाम लिया है। प्रमेयकमलमार्तण्डमें पत्रपरीक्षासे पत्रका लक्षण तथा अन्य एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है। अत विद्यानन्दके ग्रन्थ प्रभाचन्द्रके लिए उपजीव्य निर्विवादरूपसे सिद्ध हो जाते हैं।

आ० विद्यानन्द अपने आप्तपरीक्षा आदि ग्रन्थोंमें 'सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै' 'सत्यवाक्याधिपा' विशेषणसे तत्कालीन राजाका नाम भी प्रकारान्तरसे सूचित करते हैं। बाबू कामताप्रसादजी (जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ३ किरण ३ पृ० ८७) लिखते हैं कि—"बहुत सभव है कि उन्होंने गगवाडि प्रदेश में बहुवास किया हो, क्योंकि गगवाडि प्रदेशके राजा राजमल्लने भी गगवशमें होने वाले राजाओंमें सर्वप्रथम 'सत्यवाक्य' उपाधि या अपरनाम धारण किया था। उपर्युक्त श्लोकोंमें यह सभव है कि विद्यानन्दजीने अपने समयके इस राजाके 'सत्यवाक्याधिप' नामको ध्वनित किया हो। युक्त्यनुशासनालङ्कारमें उपर्युक्त श्लोक प्रशस्ति रूप है और उसमें रचयिता द्वारा अपना नाम और समय सूचित होना ही चाहिए। समयके लिए तत्कालीन राजाका नाम ध्वनित करना पर्याप्त है। राजमल सत्यवाक्य विजयादित्यका लड़का था और वह सन् ८१६

के लगभग राज्याधिकारी हुआ था। उनका समय भी विद्यानन्दके अनुकूल है। युक्त्यनुशासनालङ्कारके अंतिम श्लोकके "प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः श्रीसत्यवाक्याधिपैः" इस अंशमें सत्यवाक्याधिप और विजय दोनों शब्द हैं, जिनसे गंगराज सत्यवाक्य और उसके पिता विजयादित्यका नाम ध्वनित होता है।" इस अवतरणसे यह सुनिश्चित हो जाता है कि विद्यानन्दने अपनी कृतियाँ राजमल्ल सत्यवाक्य (८१६ ई०) के राज्यकालमें बनाई हैं। आ० विद्यानन्दने सर्वप्रथम अपना तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ बनाया है, तदुपरान्त अष्टसहस्री और विद्यानन्द-महोदय, इसके अनन्तर अपने आप्तपरीक्षा आदि परीक्षान्तनामवाले लघु प्रकरण तथा युक्त्यनुशासनटीका, क्योंकि अष्टसहस्रीमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका, तथा आप्तपरीक्षा आदिमें अष्ट-सहस्री और विद्यानन्दमहोदयका उल्लेख पाया जाता है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीमें, जो उनकी आद्य रचनाएँ हैं, 'सत्यवाक्य' नाम नहीं लिया है, पर आप्तपरीक्षा आदिमें 'सत्यवाक्य' नाम लिया है। अतः मालूम होता है कि विद्यानन्द श्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीको सत्यवाक्यके राज्यसिंहासनासीन होनेके पहिले ही बना चुके होंगे। विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें मण्डनमिश्रके मतका खंडन है और अष्टसहस्रीमें सुरेश्वरके सम्बन्धवार्तिकसे ३।४ कारिकाएँ भी उद्धृतकी गई हैं। मण्डनमिश्र और सुरेश्वरका समय ईसाकी ८वीं शताब्दीका पूर्वभाग माना जाता है। अतः विद्यानन्दका समय ईसाकी ८वीं शताब्दीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सयुक्तिक मालूम होता है। प्रभाचन्द्रके सामने इनकी समस्त रचनाएँ रही हैं। तत्त्वो-पप्लववादका खंडन तो विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें [redacted] विस्तारसे मिलता है, जिसे प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें स्थान दिया है। इसी तरह अष्टसहस्री और श्लोकवार्तिकमें पाई जानेवाली भावना विधि नियोगके विचारकी दुरवगाह चरचा प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रसन्नरूपसे अवतीर्ण हुई है। आ० विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २०६) में न्यायदर्शनके 'पूर्ववत्' आदि अनु-मानसूत्रका निरास करते समय केवल भाष्यकार और वार्तिककारका ही मत पूर्वपक्ष रूपसे उपस्थित किया है। वे न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकारके अभिप्रायको अपने पूर्वपक्षमें शामिल नहीं करते। वाचस्पतिमिश्रने तात्पर्यटीका ई० ८४१ के लगभग बनाई थी। इससे भी विद्या-नन्दके उक्त समयकी पुष्टि होती है। यदि विद्यानन्दका ग्रन्थ रचनाकाल ई० ८४१ के बाद होता तो वे तात्पर्यटीकाका उल्लेख किये बिना न रहते।

अनन्तकीर्ति और प्रभाचन्द्र—लघीयस्त्रयादि संग्रहमें अनन्तकीर्तिकृत लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण मुद्रित हैं। लघीयस्त्रयादिसंग्रहकी ही प्रस्तावनामें पं० नाथूरामजी प्रेमीने इन अनन्तकीर्तिके समयकी उत्तरावधि विक्रम संवत् १०८२ के पहिले निर्धारित की है, और इस समयके समर्थनमें वादिराजके पार्श्वनाथचरितका यह श्लोक उद्धृत किया है—

"आत्मनैवाद्वितीयेन जीवसिद्धिं निबध्नता। अनन्तकीर्तिना मुक्तिरात्रिमार्गेव लक्ष्यते ॥"

वादिराजने पार्श्वनाथचरित की रचना विक्रम संवत् १०८२ में की थी। संभव तो यह है कि इन्हीं अनन्तकीर्तिने जीवसिद्धिकी तरह लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थ बनाये

हों। सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनन्तवीर्यने भी एक अनन्तकीर्तिका उल्लेख किया है। यदि पार्श्वनाथ चरितमें स्मृत अनन्तकीर्ति और सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित अनन्तकीर्ति एक ही व्यक्ति हैं तो मानना होगा कि इनका समय प्रभाचन्द्रके समयसे पहिले है, क्योंकि प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें सिद्धिविनिश्चयटीकाकार अनन्तवीर्यका सबहुमान स्मरण किया है। अस्तु। अनन्तकीर्तिके लघुसर्वज्ञसिद्धि तथा बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थोंका और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रके सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणोंका आभ्यन्तर परीक्षण यह स्पष्ट बताता है कि इन ग्रन्थोंमें एकका दूसरेके ऊपर पूरा पूरा प्रभाव है।

बृहत्सर्वज्ञसिद्धि-(पृ० १८१ से २०४ तक) के अन्तिम पृष्ठ तो कुछ थोड़ेसे हेरफेरसे न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८३८ से ८४७) के मुक्तिवाद प्रकरणके साथ अपूर्व सादृश्य रखते हैं। इन्हें पढ़कर कोई भी साधारण व्यक्ति कह सकता है कि इन दोनोंमेंसे किसी एकने दूसरेका पुस्तक सामने रखकर अनुसरण किया है। मेरा तो यह विश्वास है कि अनन्तकीर्तिकृत बृहत्सर्वज्ञसिद्धिका ही न्यायकुमुदचन्द्र पर प्रभाव है। उदाहरणार्थ-

"किन्तु अज्ञो जनः दुःखानुपक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् सांसारिकेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधनं त्यक्त्वा परित्यज्य आत्मस्नेहात् आत्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु तत्परित्यज्य पेयादौ आरोग्यसाधने प्रवर्तते। उक्तञ्च-तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः॥"-न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ८४२।

"किन्त्वतज्ज्ञो जनो दुःखानुपक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् संसारान्तःपतितेषु दुःखानुपक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधनं त्यक्त्वा परित्यज्य आत्मस्नेहादात्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु आतुरस्तादात्विकसुखसाधनं दध्यादिकं परित्यज्य पेयादावारोग्यसाधने प्रवर्तते। तथा च कस्यचिद्विदुषः सुभाषितम्-तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः॥"-बृहत्सर्वज्ञसिद्धि पृ० १८१।

इस तरह यह समूचा ही प्रकरण इसी प्रकारके शब्दानुसरणसे ओतप्रोत है।

शाकटायन और प्रभाचन्द्र-राष्ट्रकूटवंशी राजा अमोघवर्षके राज्यकाल (ईस्वी ८१४-८७७) में शाकटायन नामके प्रसिद्ध वैयाकरण हो गए हैं। ये यापनीय संघके आचार्य थे। यापनीयसंघका बाह्य आचार बहुत कुछ दिगम्बरोंसे मिलता जुलता था। ये नग्न रहते थे। श्वेताम्बर आगमोंको आदरकी दृष्टिसे देखते थे। आ० शाकटायनने अमोघवर्षके नामसे अपने

१ देखो-पं० नाथूरामप्रेमीका 'यापनीय साहित्यकी खोज' (अनेकान्त वर्ष ३ किरण १) तथा प्रो० ए० उपाध्यायका 'यापनीयसंघ' (जैनदर्शन वर्ष ४ अंक ७) लेख।

शाकटायनव्याकरण पर 'अमोघवृत्ति' नामकी टीका बनाई थी। अतः इनका समय भी लगभग ई० ८०० से ८७१ तक समझना चाहिए। यापनीयसंघके अनुयायी दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंकी कुछ कुछ बातोंको स्वीकार करते थे। एक तरहसे यह संघ दोनों सम्प्रदायोंके जोड़नेके लिए शृंखलाका कार्य करता था। आचार्य मलयगिरिने अपनी नन्दीसूत्रकी टीका (पृ० १५) में शाकटायनको 'यापनीययतिग्रामाग्रणी' लिखा है—"शाकटायनोऽपि यापनीययतिग्रामाग्रणी स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तौ"। शाकटायन आचार्यने अपनी अमोघवृत्तिमें छेदसूत्र निर्युक्ति कालिकसूत्र आदि श्वे० ग्रन्थोंका बड़े आदरसे उल्लेख किया है। आचार्य शाकटायनने केवलिकवलाहार तथा स्त्रीमुक्तिके समर्थनके लिए स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति नामके दो प्रकरण बनाए हैं[1]। दिगम्बर और श्वेताम्बरोंके परस्पर विलगावमें ये दोनों सिद्धान्त ही मुख्य माने जाते हैं। यों तो दिगम्बर ग्रन्थोंमें कुन्दकुन्दाचार्य पूज्यपाद आदिके ग्रन्थोंमें स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिका सूत्ररूपसे निरसन किया गया है, परन्तु इन्हीं विषयोंके पूर्वोत्तरपक्ष स्थापित करके शास्त्रार्थका रूप आ० प्रभाचन्द्रने ही अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें दिया है। श्वेताम्बरोंके तर्कसाहित्यमें हम सर्वप्रथम हरिभद्रसूरिकी ललितविस्तरामें स्त्रीमुक्तिका संक्षिप्त समर्थन देखते हैं, परन्तु इन विषयोंको शास्त्रार्थका रूप सन्मतिटीकाकार अभयदेव, उत्तराध्ययन पाइयटीकाके रचयिता शान्तिसूरि, तथा स्याद्वादरत्नाकरकार वादि देवसूरिने ही दिया है। पीछे तो यशोविजय उपाध्याय, तथा मेघविजयगणि आदिने पर्याप्त साम्प्रदायिक रूपसे इनका विस्तार किया है। इन विवादग्रस्त विषयोंपर लिखे गए उभयपक्षीय साहित्यका ऐतिहासिक तथा तात्त्विकदृष्टिसे सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति विषयोंके समर्थनका प्रारम्भ श्वेताम्बर आचार्योंकी अपेक्षा यापनीयसंघ वालोंने ही पहिले तथा दिलचस्पीके साथ किया है। इन विषयोंको शास्त्रार्थका रूप देनेवाले प्रभाचन्द्र, अभयदेव, तथा शान्तिसूरि करीब करीब समकालीन तथा समदेशीय थे। परन्तु इन आचार्योंने अपने पक्षके समर्थनमें एक दूसरेका उल्लेख या एक दूसरेकी दलीलोंका साक्षात् खण्डन नहीं किया। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिका जो विस्तृत पूर्वपक्ष लिखा गया है वह किसी श्वेताम्बर आचार्यके ग्रन्थका न होकर यापनीयाग्रणी शाकटायनके केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंसे ही लिया गया है। इन ग्रन्थोंके उत्तरपक्षमें शाकटायनके उक्त दोनों प्रकरणोंकी एक एक दलीलका शब्दशः पूर्वपक्ष करके सयुक्तिक निरास किया गया है। इसी तरह अभयदेवकी सन्मतिटीका, और शान्तिसूरिकी उत्तराध्ययन पाइयटीका और जैनतर्कवार्तिकमें शाकटायनके इन्हीं प्रकरणोंके आधारसे ही उक्त बातोंका समर्थन किया गया है। हाँ, वादिदेवसूरिके रत्नाकरमें इन मतभेदोंमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सामने सामने आते हैं। रत्नाकरमें प्रभाचन्द्रकी दलीलें पूर्वपक्षरूपमें पाई जाती हैं। तात्पर्य यह कि—प्रभाचन्द्रने स्त्रीमुक्तिवाद तथा केवलिकवलाहारवादमें श्वेताम्बर आचार्योंकी बजाय शाकटायनके केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंको ही अपने

[1] ये प्रकरण जैनसाहित्यसंशोधक खंड २ अंक ३–४ में मुद्रित हुए हैं।

खण्डनका प्रधान लक्ष्य बनाया है । न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८६९) के पूर्वपक्षमें शाकटायनके स्त्रीमुक्ति प्रकरणकी यह कारिका भी प्रमाण रूपसे उद्धृत की गई है–

"गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वा विख्याता शीलसत्तया जगति ।
सीताद्य कथं तासां तपसि विशीला विसत्त्वाश्च ॥" [स्त्रीमु० श्लो० ३१]

अभयनन्दि और प्रभाचन्द्र–जैनेन्द्रव्याकरणपर आ० अभयनन्दिकृत महावृत्ति उपलब्ध है । इसी महावृत्तिके आधारसे प्रभाचन्द्रने 'शब्दाम्भोजभास्कर' नामका जैनेन्द्रव्याकरण-का महान्यास बनाया है । प० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी' नामक लेखमें जैनेन्द्रव्याकरणके प्रचलित दो सूत्र पाठोंमेंसे अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठको ही प्राचीन और पूज्यपादकृत सिद्ध किया है । इसी पुरातनसूत्रपाठ पर प्रभाचन्द्रने अपना न्यास बनाया है । प्रेमीजीने अपने उक्त गवेषणापूर्ण लेखमें महावृत्तिकार अभयनन्दिको चन्द्रप्रभचरित्रकार वीरनन्दिका गुरु बताया है और उनका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीका पूर्वभाग निर्धारित किया है । आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु भी यही अभयनन्दि थे । गोम्मटसार कर्मकाण्ड (गा० ४३६) की निम्नलिखित गाथासे भी यही बात पुष्ट होती है–

"जस्स य पायपसायेणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो ।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं ॥"

इस गाथासे तथा कर्मकाण्डकी गाथा नं० ७८४, ८९६ तथा लब्धिसार गा० ६४८ से यह सुनिश्चित हो जाता है[³] कि वीरनन्दिके गुरु अभयनन्दि ही नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु थे । आ० नेमिचन्द्रने तो वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि तकको गुरुरूपसे स्मरण किया है । इन सब उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि अभयनन्दि, उनके शिष्य वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि, तथा इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि सभी प्रायः नेमिचन्द्रके समकालीन वृद्ध थे ।

वादिराजसूरिने अपने पार्श्वचरितमें चन्द्रप्रभचरित्रकार वीरनन्दिका स्मरण किया है । पार्श्वचरित शकसंवत् ९४७, ई० १०२५ में पूर्ण हुआ था । अतः वीरनन्दिकी उत्तरावधि ई० १०२५ तो सुनिश्चित है । नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीने गोम्मटसार ग्रन्थ चामुण्डरायके सम्बोधनार्थ बनाया था । चामुण्डराय गंगवंशीयमहाराज मारसिंह द्वितीय (९७५ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीयके मन्त्री थे । चामुण्डरायने श्रवणबेल्गुलस्थ बाहुबलि गोम्मटेश्वरकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा ई० ९८१ में कराई थी, तथा अपना चामुण्डपुराण ई० ९७८ में समाप्त किया था । अतः आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका समय ई० ९८० के आसपास सुनिश्चित किया जा सकता है । और लगभग यही समय आचार्य अभयनन्दि आदिका होना

१ इसका परिचय 'न्यायकुमुदचन्द्रके द्वितीय भाग' की प्रस्तावनामें देखना चाहिए ।
२ जैन साहित्य संशोधक भाग १ अंक २ ।
३ देखो त्रिलोकसार की प्रस्तावना

चाहिए। इन्होंने अपनी महावृत्ति (लिखित पृ० २२१) में भर्तृहरि (ई० ६५०) की वाक्यपदीयका उल्लेख किया है। पृ० ३९३ में माघ (ई० ७ वीं सदी) का पद्य 'सटान्छटाभिन्न' श्लोक उद्धृत किया है। तथा ३।२।५५ की वृत्तिमें 'तत्त्वार्थवार्त्तिकमधीयते' प्रयोगसे अकलङ्कदेव (ई० ८ वीं सदी) के तत्त्वार्थराजवार्तिकका उल्लेख किया है। अतः इनका समय ९ वीं शताब्दीसे पहिले तो नहीं ही है। यदि यही अभयनन्दि जैनेन्द्र महावृत्तिके रचयिता हैं तो कहना होगा कि उन्होंने ई० ९६० के लगभग अपनी महावृत्ति बनाई होगी। इसी महावृत्ति पर ई० १०६० के लगभग आ० प्रभाचन्द्रने अपना शब्दाम्भोजभास्कर न्यास बनाया है, क्योंकि इसकी रचना न्यायकुमुदचन्द्रके बाद की गई है और न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहदेव (राज्य १०५६ से) के राज्य के प्रारम्भकाल में बनाया गया है।

मूलाचारकार और प्रभाचन्द्र—मूलाचार ग्रन्थके कर्त्ताके विषयमें विद्वान् मतभेद रखते हैं। कोई इसे कुन्दकुन्दकृत कहते हैं तो कोई वट्टकेरिकृत। जो हो, पर इतना निश्चित है कि मूलाचारकी सभी गाथाएँ स्वयं उसके कर्त्ताने नहीं रची हैं। उसमें अनेकों ऐसी प्राचीन गाथाएँ हैं, जो कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें, भगवती आराधनामें तथा आवश्यकनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति और सन्मतितर्क आदि में भी पाई जाती हैं। संभव है कि गोम्मटसार की तरह यह भी एक संग्रह ग्रन्थ हो। ऐसे संग्रहग्रन्थोंमें प्राचीनगाथाओंके साथ कुछ संग्रहकाररचित गाथाएँ भी होती हैं। गोम्मटसारमें बहुभाग स्वरचित है जब कि मूलाचारमें स्वरचित गाथाओंका बहुभाग नहीं मालूम होता। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८४५) में "णमो मे सरसदो" "सजोगमूलं जीवेन" ये दो गाथाएँ उद्धृत की हैं। ये गाथाएँ मूलाचारमें (२।४८,४९) दर्ज हैं। इनमें पहिली गाथा कुन्दकुन्दके भावपाहुड तथा नियमसारमें भी पाई जाती है। इसी तरह प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ३३१) में "आचेलक्कुद्देसिय" आदि गाथांश दशविध स्थितिकल्पका निर्देश करने के लिए उद्धृत है। यह गाथा मूलाचार (गाथा नं० ९०९) में तथा भगवती आराधनामें (गा० ४२१) विद्यमान है। यहाँ यह बात खास ध्यान देने योग्य है कि प्रभाचन्द्रने इस गाथाको श्वेताम्बर आगममें आचेलक्यके समर्थनका प्रमाण बताने के लिए श्वेताम्बरआगमके रूपमें उद्धृत किया है। यह गाथा जीतकल्पभाष्य (गा० १९७२) में पाई जाती है। गाथाओं की इस संक्रान्त स्थितिको देखते हुए यह सहज ही कहा जा सकता है कि—कुछ प्राचीन गाथाएँ परम्परासे चली आई हैं, जिन्हें दिग० श्वेता० दोनों आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें स्थान दिया है।

नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती और प्रभाचन्द्र—आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती वीरसेनापति श्री चामुण्डरायके समकालीन थे। चामुण्डराय गंगवंशीय महाराज मारसिंह द्वितीय (९७५ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीयके मन्त्री थे। इन्हींके राज्यकालमें चामुण्डरायने गोम्मटेश्वरकी प्रतिष्ठा (सन् ९८१) कराई थी। आ० नेमिचन्द्रने इन्हीं चामुण्डरायको सिद्धान्त परिज्ञान करानेके लिए गोम्मटसार ग्रन्थ बनाया था। यह ग्रन्थ प्राचीन सिद्धान्तग्रन्थोंका संक्षिप्त संस्करण है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २५४) में 'लोयायासपएसे'

गाथा उद्धृत है। यह गाथा जीवकाड तथा द्रव्यसग्रह में पाई जाती है। अत आपातत यही निष्कर्ष निकल सकता है[1] कि यह गाथा प्रभाचन्द्रने जीवकाड या द्रव्यसग्रहसे उद्धृत की होगी, परन्तु अन्वेषण करने पर मालूम हुआ कि यह गाथा बहुत प्राचीन है और सर्वार्थसिद्धि (५।२९) तथा श्लोकवार्तिक (पृ० ३९९) में भी यह उद्धृत की गई है। इसी तरह प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३००) म 'विग्गहगइमावण्णा' गाथा उद्धृत की गई है। यह गाथा भी जीवकाड में है। परन्तु यह गाथा भी वस्तुत प्राचीन है और धवलाटीका तथा उमास्वातिकृत श्रावकप्रज्ञप्तिमे मौजूद है।

प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र--रविभद्रके शिष्य अनन्तवीर्य आचार्य अकलकके प्रकरणोंके ख्यात टीकाकार विद्वान् थे। प्रमेयरत्नमालाके टीकाकार अनन्तवीर्य उनसे पृथक् व्यक्ति हैं, क्योंकि प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रथम अनन्तवीर्यका स्मरण किया है, और द्वितीय अनन्तवीर्य अपनी प्रमेयरत्नमालामें इन्हीं प्रभाचन्द्र का स्मरण करते हैं। वे लिखते हैं[2] कि प्रभाचन्द्रके वचनोंको ही सचित करके यह प्रमेयरत्नमाला बनाई जा रही है। प्रो० ए० एन० उपाध्यायने[3] प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यके समयका अनुमान ग्यारहवीं सदी किया है, जो उपयुक्त है। क्योंकि आ० हेमचन्द्र (१०८८-११७३ ई०) की प्रमाणमीमासा पर शब्द और अर्थ दोनों दृष्टिसे प्रमेयरत्नमालाका पूरा पूरा प्रभाव है। तथा प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका प्रभाव प्रमेयरत्नमाला पर है। आ० हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमासाने माय प्रमेयरत्नमालाके द्वारा ही प्रमेयकमलमार्त्तण्ड को पाया है।

देवसेन और प्रभाचन्द्र--[4]देवसेन श्रीविमलसेन गणीके शिष्य थे। इन्होंने धारानगरीके पार्श्वनाथ मन्दिरमें माघ सुदी दशमी विक्रमसवत् ९९० (ई० ९३३) में अपना दर्शनसार ग्रन्थ बनाया था। दर्शनसारके बाद इन्होंने भावसग्रह ग्रन्थकी रचना की थी, क्योंकि उसमें दर्शनसारकी अनेकों गाथाएँ उद्धृत मिलती हैं। इनके आराधनासार, तत्त्वसार, नयचक्रसग्रह तथा आलापपद्धति ग्रन्थ भी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३००) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८५६) के कवलाहारवादमें देवसेनके भावसग्रह (गा० ११०) की यह गाथा उद्धृत की है--

"णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओज मणोवि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥"

यद्यपि देवसेनसूरिने दर्शनसार ग्रन्थके अन्तमें लिखा है कि--

"पुव्वायरियकयाइ गाहाइ सचिऊण एयत्थ। सिरिदेवसेणगणिणा धाराए सवसतेण॥

---

१ प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथम सस्करणके सपादक प० बशीधरजी शास्त्री सोलापुरने प्रमेयक० की प्रस्तावनामें यही निष्कर्ष निकाला भी है।

२ "प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति। मादृशा क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभा॥
तथापि तद्वचोऽपूर्वरचनारुचिर सताम्। चेतोहर भृत यद्वन्नद्या नवघट जलम्॥"

३ दशो जनदर्शन वर्ष ४ अक ९।

४ नयचक्री प्रस्तावना पृ० ११-।

रइयो दसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए । सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्ध माहसुद्धदसमीए॥"
अर्थात् पूर्वाचार्यकृत गाथाओंका सचय करके यह दर्शनसार ग्रन्थ बनाया गया है। तथापि बहुत खोज करने पर भी यह गाथा किसी प्राचीन ग्रथमें नहीं मिल सकी है। देवसेन धारानगरीमें ही रहते थे, अत धारानिवासी प्रभाचन्द्रके द्वारा भावसंग्रहसे भी उक्त गाथाका उद्धृत किया जाना असभव नहीं है। चूँकि दर्शनसारके बाद भावसग्रह बनाया गया है, अत इसका रचनाकाल समवत विक्रम सवत् ९९७ (ई० ९४०) के आसपास ही होगा।

श्रुतकीर्ति और प्रभाचन्द्र—जैनेन्द्रके प्राचीन सूत्रपाठपर आचार्य श्रुतकीर्तिकृत पचवस्तु-प्रक्रिया उपलब्ध है[1]। श्रुतकीर्तिने अपनी प्रक्रियाके अन्तमें श्रीमद्वृत्तिशब्दसे अभयनन्दिकृत महावृत्ति और न्यासशब्दसे समवत प्रभाचन्द्रकृत न्यास, दोनोंका ही उल्लेख किया है। यदि न्यासशब्द पूज्यपादके जैनेन्द्रन्यासका निर्देशक हो तो 'टीकामाल' शब्दसे तो प्रभाचन्द्रकी टीकाका उल्लेख किया ही गया है। यथा—

"सूत्रस्तम्भसमुद्धृत प्रविलसन्न्यासोरुरत्नक्षिति,
श्रीमद्वृत्तिकपाटसपुटयुत भाष्यौघशय्यातलम्।
टीकामालमिहारुरुक्षुरचित जैनेन्द्रशब्दागमम्,
प्रासाद पृथुपञ्चवस्तुकमिद सोपानमारोहतात्॥"

कनडी भाषाके चन्द्रप्रभचरित्रके कर्ता अग्गलकविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बताया है—"इति परमपुरुनाथकुलभूभृत्समुद्भूतप्रवचनसरित्सरिन्नाथश्रुतकीर्तित्रैविद्यचक्रवर्तिपदपद्मनिधानदीपवर्तिश्रीमदग्गलदेवविरचिते चन्द्रप्रभचरिते"। यह चरित्र शक सवत् १०११, ई० १०८९ में बनकर समाप्त हुआ था। अत श्रुतकीर्तिका समय लगभग १०८० ई० मानना युक्तिसगत है। इन श्रुतकीर्तिने न्यासको जैनेन्द्र व्याकरण रूपी प्रासादकी रत्नभूमिकी उपमा दी है। इससे शब्दाम्भोजभास्करका रचनासमय लगभग ई० १०६० समर्थित होता है।

श्वे० आगमसाहित्य और प्रभाचन्द्र—भ० महावीरकी अर्धमागधी दिव्यध्वनिको गणधरोंने द्वादशांगी रूपमें गूँथा था। उस समय उन अर्धमागधी भाषामय द्वादशांग आगमोंकी परम्परा श्रुत और स्मृत रूपमें रही, लिपिबद्ध नहीं थी। इन आगमोंका आखरी सकलन वीर स० ९८० (वि० ५१०) में श्वेताम्बराचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणने किया था। अगग्रन्थोंके सिवाय कुछ अगबाह्य या अनगात्मक श्रुत भी है। छेदसूत्र अनगश्रुतमें शामिल है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८६८) के स्त्रीमुक्तिवादके पूर्वपक्षमें कल्पसूत्र (५।२०) से "नो कप्पइ णिग्गथीए अचेलाए होत्तए" यह सूत्रवाक्य उद्धृत किया है।

तत्त्वार्थभाष्यकार और प्रभाचन्द्र—तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ प्रचलित हैं। एक तो वह, जिस पर स्वय वाचक उमास्वातिका स्वोपज्ञभाष्य प्रसिद्ध है, और दूसरा वह जिस पर पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि है। दिगम्बर परम्परामें पूज्यपादसम्मत सूत्रपाठ और श्वेताम्बरपरम्परामें भाष्य

१ देखो प्रेमीजीका जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्य देवनन्दी लेख, जैनसा० स० भाग १ अंक २।

सम्मत सूत्रपाठ प्रचलित है। उमास्वातिके स्वोपज्ञभाष्यके कर्तृत्वके विषयमें आज कल विवाद चल रहा है। मुख्तारसा० आदि कुछ विद्वान् भाष्यकी उमास्वातिकर्तृकताके विषयमें सन्दिग्ध हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें दिगम्बरसूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए हैं। उन्होंने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८५९) के स्त्रीमुक्तिवादके पूर्वपक्षमें तत्त्वार्थभाष्यकी सम्बन्धकारिकाओंमेंसे "श्रूयन्ते चानन्ता सामायिकमात्रसंसिद्धा" कारिकांश उद्धृत किया है। तत्त्वार्थराजवार्तिक (पृ० १०) में भी "अनन्ता सामायिकमात्रसिद्धा" वाक्य उद्धृत मिलता है। इसी तरह तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें पाइ जाने वाली ३२ कारिकाएँ राजवार्तिकके अन्तमें 'उक्तञ्च' लिखकर उद्धृत हैं। पृ० ३६१ में भाष्यकी 'दग्धे बीजे' कारिका उद्धृतकी गई है। इत्यादि प्रमाणोंके आधारसे यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि प्रस्तुत भाष्य अकलङ्कदेवके सामने भी था। उनने इसके कुछ मन्तव्योंकी समीक्षा भी की है।

सिद्धसेन और प्रभाचन्द्र—आ० सिद्धसेनके सन्मतितर्क, न्यायावतार, द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशतिका ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनके सन्मतितर्क पर अभयदेवसूरिने विस्तृत व्याख्या लिखी है। डॉ जैकोबी न्यायावतारके प्रत्यक्ष लक्षणमें अभ्रान्त पद देखकर इनको धर्मकीर्तिका समकालीन, अर्थात् ईसाकी ७ वीं शताब्दीका विद्वान् मानते हैं। पं० सुखलाल जी इन्हें विक्रमकी पाचवीं सदीका विद्वान् सिद्ध करते थे[1]। पर अब उनका विश्वास है कि "सिद्धसेन ईसाकी छठीं या सातवीं सदीमें हुए हों और उन्होंने सम्भवतः धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंको देखा हो[2]।" न्यायावतारकी रचनामें न्यायप्रवेशके साथ ही साथ न्यायबिन्दु भी अपना यत्किञ्चित् स्थान रखता ही है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३७) में पक्षप्रयोगका समर्थन करते समय 'धानुष्क' का दृष्टान्त दिया है। इसकी तुलना न्यायावतारके श्लोक १४-१६ से भलीभाति की जा सकती है। न केवल मूलश्लोकसे ही, किन्तु इन श्लोकोंकी सिद्धर्षिकृत व्याख्या भी न्यायकुमुदचन्द्रकी शब्दरचनासे तुलनीय है।

धर्मदासगणि और प्रभाचन्द्र—श्वे० आचार्य धर्मदासगणिका उपदेशमाला ग्रन्थ प्राकृतगाथानिबद्ध है। प्रसिद्धि तो यह रही है कि ये महावीरस्वामीके दीक्षित शिष्य थे। पर यह इतिहासविरुद्ध है, क्योंकि इन्होंने अपनी उपदेशमालामें वज्रसूरि आदिके नाम लिए हैं। अस्तु। उपदेशमाला पर सिद्धर्षिसूरिकृत प्राचीन टीका उपलब्ध है[3]। सिद्धर्षिने उपमितिभवप्रपञ्चाकथा वि स० ९६२ ज्येष्ठ शुद्ध पचमीके दिन समाप्त की थी। अतः धर्मदासगणिकी उत्तरावधि विक्रमकी ९ वीं शताब्दी माननेमें कोई बाधा नहीं है। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३३०) में उपदेशमाला (गा० १५) की 'वरिससयदिक्खियाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू' इत्यादि गाथा प्रमाणरूपमे उद्धृत की है।

---

१ देखो गुजराती सन्मतितर्क पृ० ४० ।

२ इंग्लिश सन्मतितर्क की प्रस्तावना ।

३ जैनसाहित्यनो इतिहास पृ० १८६ ।

हरिभद्र और प्रभाचन्द्र–आ० हरिभद्र श्वे० सम्प्रदायके युगप्रधान आचार्योंमेंसे हैं। कहा जाता है कि इन्होंने १४०० के करीब ग्रन्थोंकी रचना की थी। मुनि श्री जिनविजय जी-ने अनेक प्रबल प्रमाणोंसे इनका समय ई० ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है। मेरा इसमें इतना संशोधन है–कि इनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक होनी चाहिए, क्योंकि जयन्त भट्टकी न्यायमञ्जरीका 'गम्भीरगर्जितारम्भ' श्लोक षड्दर्शनसमुच्चयमें शामिल हुआ है। मैं विस्तारसे लिख चुका हूँ कि जयन्तने अपनी मञ्जरी ई० ८०० के करीब बनाई है अतः हरिभद्रके समयकी उत्तरावधि कुछ और लम्बानी चाहिए। उस युगमें १०० वर्षकी आयु तो साधारणतया अनेक आचार्यों की देखी गई है। हरिभद्रसूरिके दार्शनिक ग्रन्थोंमें 'षड्दर्शनसमुच्चय' एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसका–

"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शब्दश्चोपमया सह। अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः ॥७२॥"

यह श्लोक न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५०५) में उद्धृत है। यद्यपि इसी भावका एक श्लोक–

"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शाब्दञ्चोपमया सह। अर्थापत्तिरभावश्च षडेते साध्यसाधकाः ॥"

इस शब्दावलीके साथ कमलशीलकी तत्त्वसंग्रहपञ्जिका (पृ० ४५०) में मिलता है और उससे सम्भावना की जा सकती है कि जैमिनिकी षट्प्रमाणसंख्याका निर्देशक यह श्लोक किसी जैमिनिमतानुयायी आचार्यके ग्रन्थसे लिया गया होगा। यह सम्भावना हृदयको लगती भी है। परन्तु जबतक इसका प्रसाधक कोई समर्थ प्रमाण नहीं मिलता तबतक उसे हरिभद्रकृत माननेमें ही लाघव है। और बहुत कुछ सम्भव है कि प्रभाचन्द्रने इसे षड्दर्शनसमुच्चयसे ही उद्धृत किया हो। हरिभद्रने अपने ग्रन्थोंमें पूर्वपक्षके पल्लवन और उत्तरपक्षके पोषणके लिए अन्यग्रन्थकारोंकी कारिकाएँ, पर्याप्त मात्रामें, कहीं उन आचार्योंके नामके साथ और कहीं बिना नाम लिए ही शामिल की हैं। अतः कारिकाओंके विषयमें यह निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है कि ये कारिकाएँ हरिभद्रकी स्वरचित हैं या अन्यरचित होकर सगृहीत हैं? इसका एक और उदाहरण यह है कि–

"विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च। समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः ॥
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः समुदयः स सम्मतः। क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना यका ॥
स मार्ग इति विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते। पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषया पञ्च मानसम् ॥
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च ॥"

ये चार श्लोक षड्दर्शनसमुच्चयके बौद्धदर्शनमें मौजूद हैं। इसी आनुपूर्वीसे ये ही श्लोक किञ्चित् शब्दभेदके साथ जिनसेनके आदिपुराण (पर्व ५ श्लो० ४२–४५) में भी विद्यमान हैं। रचनासे तो ज्ञात होता है कि ये श्लोक किसी बौद्धाचार्यने बनाए होंगे, और उसी बौद्धग्रन्थसे षड्दर्शनसमुच्चय और आदिपुराणमें पहुँचे हों। हरिभद्र और जिनसेन प्रायः समकालीन हैं, अतः यदि ये श्लोक हरिभद्रके होकर आदिपुराणमें आए हैं तो इसे उससमयके असाम्प्रदायिक भावकी महत्त्वपूर्ण घटना समझनी चाहिए। हरिभद्रने तो शास्त्रवार्तासमुच्चयमें समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके श्लोक उद्धृत कर अपनी षड्दर्शनसमुच्चायक बुद्धिके प्रेरणा

बीजको ही मूर्तरूपमें अङ्कुरित किया है। यदि न्यायप्रवेशवृत्तिकार हरिभद्र ये ही हरिभद्र हैं तो उस वृत्ति (पृ० १३) में पाई जाने वाली पक्षशब्दकी 'पच्यते व्यक्तीक्रियते योऽर्थ स पक्ष' इस व्युत्पत्तिकी अस्पष्ट छाया न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३८) मे की गई पक्षकी व्युत्पत्ति पर आभासित होती है।

सिद्धर्षि और प्रभाचन्द्र–श्रीसिद्धर्षिगणि श्वे० आचार्य दुर्गस्वामीके शिष्य थे। इन्होंने ज्येष्ठ शुक्ला पचमी, विक्रम सवत् ९६२ (१ मई ९०६ ई०) के दिन उपमितिभवप्रपञ्चा कथाकी समाप्ति की थी। सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावतारपर भी इनकी एक टीका उपलब्ध है। न्यायावतार (श्लो० १६) में पक्षप्रयोगके समर्थनके प्रसगमें लिखा है कि–"जिस तरह लक्ष्यनिर्देशके बिना अपनी धनुर्विद्याका प्रदर्शन करने वाले धनुर्धारीके गुण-दोषोंका यथावत् निर्णय नहीं हो सकता, गुण भी दोषरूपसे तथा दोष भी गुणरूपसे प्रतिभासित हो सकते हैं, उसी तरह पक्षका प्रयोग किए बिना साधनवादीके साधन सम्बन्धी गुण-दोष भी विपरीत रूपमें प्रतिभासित हो सकते हैं, प्राश्निक तथा प्रतिवादी आदिको उनका यथावत् निर्णय नहीं हो सकता।" न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३७) के 'पक्षप्रयोगविचार' प्रकरणमें भी पक्षप्रयोगके समर्थनमे धनुर्धारी का दृष्टान्त दिया गया है। उसकी शब्दरचना तथा भावव्यञ्जनामें न्यायावतारके मूलश्लोकके साथ ही साथ सिद्धर्षिकृत व्याख्याका भी पर्याप्त शब्दसादृश्य पाया जाता है। अवतरणोंके लिए देखो–न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ४३७ टि० १।

अभयदेव और प्रभाचन्द्र–चन्द्रगच्छमें प्रद्युम्नसूरि बड़े ख्यात आचार्य थे। अभयदेव सूरि इन्हीं प्रद्युम्नसूरिके शिष्य थे। न्यायवनसिंह और तर्कपञ्चानन इनके विरुद थे। सन्मतितर्ककी गुजराती प्रस्तावना (पृ० ८३) में श्रीमान् प० सुखलालजी और प० बेचरदासजीने इनका समय विक्रमकी दशवीं सदीका उत्तरार्ध और ग्यारहवींका पूर्वार्ध निश्चित किया है। उत्तराध्ययनकी पाइयटीकाके रचयिता शान्तिसूरिने उत्तराध्ययनटीकाकी प्रशस्तिमें एक अभयदेव को प्रमाणविद्याका गुरु लिखा है। प० सुखलालजीने शान्तिसूरिके गुरुरूपमें इन्हीं अभयदेवसूरिकी सभावना की है। प्रभावकचरित्रके उल्लेखानुसार शान्तिसूरिका स्वर्गवास वि० स० १०९६ में हुआ था। इन्हीं शान्तिसूरिने धनपालकविकी तिलकमञ्जरी आख्यायिका का सशोधन किया था, और उस पर एक टिप्पण लिखा था। धनपाल कवि मुञ्ज तथा भोज दोनोंकी राजसभाओं मे सम्मानित हुए थे। इन सब घटनाओंको मद्दे नजर रखते हुए अभयदेव सूरिका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक मान लेने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। अभयदेव सूरिकी प्रामाणिकप्रकाण्डताका जीवन्त रूप उनकी सन्मतिटीका में पद पद पर मिलता है। इस सुविस्तृत टीका की 'वादमहार्णव' के नामसे भी प्रसिद्धि रही है।

प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रकी अपेक्षा प्रमेयकमलमार्त्तण्डका अकल्पित सादृश्य इस टीका में पाया जाता है। अभयदेवसूरिने सन्मतिटीका में स्त्रीमुक्ति और केवलिकवलाहारका समर्थन किया है। इसमें दी गई दलीलोंमें तथा प्रभाचन्द्रके द्वारा किए गए उक्त वादोंके खण्डन की

युक्तियोंमें परस्पर कोई पूर्वोत्तरपक्षता नहीं देखी जाती। अभयदेव, शान्तिसूरि, और प्रभाचन्द्र करीब करीब समकालीन और समदेशीय थे। इसलिए यह अधिक संभव था कि स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति जैसे साम्प्रदायिक प्रकरणोंमें एक दूसरेका खंडन करते। पर हम इनके ग्रन्थोंमें परस्पर खंडन नहीं देखते। इसका कारण मेरी समझमें तो यही आता है कि उस समय दिगम्बर आचार्य यापनीयोंके साथ ही इस विषयकी चरचा करते होंगे। यही कारण है कि जब प्रभाचन्द्रने शाकटायनके स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति प्रकरणोंका ही शब्दशः खंडन किया है तब श्वेताम्बराचार्य अभयदेव और शान्तिसूरिने शाकटायनकी दलीलोंके आधारसे ही अपने ग्रन्थोंके उक्त प्रकरण पुष्ट किए हैं। वादिदेवसूरिने अवश्य ही प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंके उक्त प्रकरणोंको पूर्वपक्षमें प्रभाचन्द्रका नाम लेकर उपस्थित किया है।

सन्मतितर्कके सम्पादक श्रीमान् पं० सुखलालजी और बेचरदासजीने सन्मतितर्क प्रथम भाग (पृ० १३) की गुजराती प्रस्तावनामें लिखा है कि–"जो के आ टीकामां सैकड़ों दार्शनिक-ग्रन्थों नुं दोहन जणाय छे, छतां सामान्यरीते मीमांसकधुरन्धर कुमारिलभट्टनुं श्लोकवार्तिक, नालन्दा-विश्वविद्यालय ना आचार्य शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह उपरनी कमलशीलकृत पंजिका अने दिगम्बराचार्य प्रभाचन्द्रना प्रमेयकमलमार्तण्ड अने न्यायकुमुदचन्द्रोदय विगेरे ग्रन्थों नुं प्रतिबिम्ब मुख्यपणे आ टीकामां छे।" अर्थात् सन्मतितर्कटीका पर मीमांसाश्लोकवार्तिक, तत्त्वसंग्रहपंजिका, प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब पड़ा है। सन्मतितर्कके विद्वद्रूप सम्पादकोंकी उक्त बातसे सहमति रखते हुए भी मैं इसमें इतना परिवर्धन और कर देना चाहता हूं कि–"प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका सन्मतितर्कसे शब्दसादृश्य मात्र साक्षात् बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होनेके कारण ही नहीं है, किन्तु तीनों ग्रन्थोंके बहुभागमें जो अकल्पित सादृश्य पाया जाता है वह तृतीयराशिमूलक भी है। वे तृतीय राशिके ग्रन्थ हैं–भट्टजयसिंहराशिका तत्त्वोपप्लवसिंह, व्योमशिवकी व्योमवती, जयन्तकी न्यायमञ्जरी, शान्तरक्षित और कमलशीलकृत तत्त्वसंग्रह और उसकी पंजिका तथा विद्यानन्दके अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा आदि प्रकरण। इन्हीं तृतीयराशिके ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब सन्मतिटीका और प्रमेय-कमलमार्तण्डमें आया है।" सन्मतितर्कटीका, प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि सन्मतितर्कका प्रमेयकमलमार्तण्डके साथ ही अधिक शब्दसादृश्य है। न्यायकुमुदचन्द्रमें जहाँ भी यत्किञ्चित् सादृश्य देखा जाता है वह प्रमेयकमलमार्तण्डप्रयुक्त ही है साक्षात् नहीं। अर्थात् प्रमेयकमलमार्तण्डके जिन प्रकरणों के जिस सन्दर्भसे सन्मतितर्कका सादृश्य है उन्हीं प्रकरणोंमें न्यायकुमुदचन्द्रसे भी शब्दसादृश्य पाया जाता है। इससे यह तर्कणा की जा सकती है कि–सन्मतितर्ककी रचनाके समय न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना नहीं हो सकी थी। न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहदेवके राज्यमें सन् १०५७ के आसपास रचा गया था जैसा कि उसकी अन्तिम प्रशस्तिसे विदित है। सन्मति-

१ गुजराती सन्मतितर्क पृ० ८८।

तर्कटीका, प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रकी तुलनाके लिए देखो–प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रथम अध्यायके टिप्पण तथा न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणोंमें दिए गए सन्मतिटीका के अवतरण।

वादि देवसूरि और प्रभाचन्द्र–देवसूरि श्रीमुनिचन्द्रसूरिके शिष्य थे। प्रभावक चरित्रके लेखानुसार मुनिचन्द्रने शान्तिसूरिसे प्रमाणविद्याका अध्ययन किया था। ये प्राग्वाटवंशके रत्न थे। इन्होंने वि० सं० ११४३ में गुर्जर देशको अपने जन्मसे पूत किया था। ये भडोच नगरमें ९ वर्षकी अल्पवयमें वि० सं० ११५२ में दीक्षित हुए थे तथा वि० सं० ११७४ में इन्होंने आचार्यपद पाया था। राजर्षि कुमारपालके राज्यकालमें वि० सं० १२२६ में इनका स्वर्गवास हुआ। प्रसिद्ध है कि–वि० सं० ११८१ वैशाख शुद्ध पूर्णिमाके दिन सिद्धराजकी सभामें इनका दिगम्बरवादी कुमुदचन्द्रसे वाद हुआ था और इसी वादमें विजय पानेके कारण देवसूरि वादि देवसूरि कहे जाने लगे थे। इन्होंने प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार नामक सूत्र ग्रन्थ तथा इसी सूत्रकी स्याद्वादरत्नाकर नामक विस्तृत व्याख्या लिखी है। इनका प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार माणिक्यनन्दिकृत परीक्षामुखसूत्रका अपने ढंगसे किया गया दूसरा संस्करण ही है। इन्होंने परीक्षामुखके ६ परिच्छेदोंका विषय ठीक उसी क्रमसे अपने सूत्रके आद्य ६ परिच्छेदोंमें यत्किञ्चित् शब्दभेद तथा अर्थभेदके साथ ग्रथित किया है। परीक्षामुखसे अतिरिक्त इसमें नयपरिच्छेद और वादपरिच्छेद नामक दो परिच्छेद और जोड़े गए हैं। माणिक्यनन्दिके सूत्रोंके सिवाय अकलङ्कके स्वविवृतियुक्त लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय तथा विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका भी पर्याप्त साहाय्य इस सूत्रग्रन्थमें लिया गया है। इस तरह भिन्न भिन्न ग्रन्थोंमें विशकलित जैनपदार्थोंका शब्द एवं अर्थदृष्टिसे सुन्दर सकलन इस सूत्रग्रन्थमें हुआ है।

परीक्षामुखसूत्रपर प्रभाचन्द्रकृत प्रमेयकमलमार्तण्ड नामकी विस्तृत व्याख्या है तथा अकलङ्कदेवके लघीयस्त्रयपर इन्हीं प्रभाचन्द्रका न्यायकुमुदचन्द्र नामका बृहत्काय टीकाग्रन्थ है। प्रभाचन्द्रने इन मूल ग्रन्थोंकी व्याख्याके साथही साथ मूलग्रन्थसे सम्बद्ध विषयोंपर विस्तृत लेख भी लिखे हैं। इन लेखोंमें विविध विकल्पजालोंसे परपक्षका खंडन किया गया है। प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके तीक्ष्ण एवं आह्लादक प्रकाशमें जब हम स्याद्वादरत्नाकरको तुलनात्मक दृष्टिसे देखते हैं तब वादिदेवसूरिकी गुणग्राहिणी संग्रहदृष्टिकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते। इनकी संग्राहक बीजबुद्धि प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रसे अर्थ शब्द और भावोंको इतने चेतश्चमत्कारक ढंगसे चुन लेती है कि अकेले स्याद्वादरत्नाकरके पढ़ लेनेसे न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्तण्डका यावद्विषय विशद रीतिसे अवगत हो जाता है। वस्तुत यह रत्नाकर उक्त दोनों ग्रन्थोंके शब्द-अर्थरत्नोंका सुन्दर आकर ही है। यह रत्नाकर मार्तण्डकी अपेक्षा चन्द्र (न्यायकुमुदचन्द्र) से ही अधिक उद्वेलित हुआ है। प्रकरणोंके क्रम और पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षके जमानेकी पद्धतिमें कहीं कहीं तो न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दसादृश्य है कि दोनों ग्रन्थोंकी पाठशुद्धिमें एक दूसरेका मूलप्रतिकी तरह उपयोग किया जा सकता है।

१ देखो जैन साहित्य नो इतिहास पृ० २४८।

प्रतिबिम्बवाद नामक प्रकरणमें वादि देवसूरिने अपने रत्नाकर (पृ० ८६५) में न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४५५) में निर्दिष्ट प्रभाचन्द्रके मतके खडन करनेका प्रयास किया है। प्रभाचन्द्रका मत है कि-प्रतिबिम्बकी उत्पत्तिमें जल आदि द्रव्य उपादान कारण हैं तथा चन्द्र आदि बिम्ब निमित्तकारण। चन्द्रादि बिम्बोंका निमित्त पाकर जल आदिके परमाणु प्रतिबिम्बाकारसे परिणत हो जाते हैं।

वादि देवसूर कहते हैं कि-मुखादिबिम्बोंसे छायापुद्गल निकलते हैं और वे जाकर दर्पण आदिमें प्रतिबिम्ब उत्पन्न करते हैं। यहाँ छायापुद्गलोंका मुखादि बिम्बोंसे निकलनेका सिद्धान्त देवसूरिने अपने पूर्वाचार्य श्रीहरिभद्रसूरिके धर्मसारप्रकरणका अनुसरण करके लिखा है। वे इस समय यह भूल जाते हैं कि हम अपनेही ग्रन्थमें नैयायिकोंके चक्षुसे रश्मियोंके निकलनेके सिद्धान्तका खडन कर चुके हैं। जब हम भासुररूपवाली आंखसे भी रश्मियोंका निकलना युक्ति एवं अनुभवसे विरुद्ध बताते हैं तब मुख आदि मलिन बिम्बोंसे छाया पुद्गलोंके निकलनेका समर्थन किस तरह किया जा सकता है? मजेदार बात तो यह है कि इस प्रकरणमें भी वादि देवसूरि न्यायकुमुदचन्द्रके साथही साथ प्रमेयकमलमार्त्तण्डका भी शब्दश अनुसरण करते हैं। और न्यायकुमुदचन्द्रमें निर्दिष्ट प्रभाचन्द्रके मतके खडनकी धुनमें स्वय ही प्रमेयकमलमार्त्तण्डके उसी आशयके शब्दोंको सिद्धान्त मान बैठते हैं। वे रत्नाकरमें (पृ० ६१८) ही प्रमेयकमलमार्त्तण्ड का शब्दानुसरण करते हुए लिख जाते हैं कि-"स्वच्छताविशेषाद्धि जलदर्पणादयो मुखादित्यादिप्रतिबिम्बाकारविकारधारिण सम्पद्यन्ते।"-अर्थात् विशेष स्वच्छताके कारण जल और दर्पण आदि ही मुख और सूर्य आदि बिम्बोंके आकारवाली पर्यायों को धारण करते हैं। कवलाहारके प्रकरणमें इन्होंने प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें दी गई दलीलोंका नामोल्लेख पूर्वक पूर्वपक्षमें निर्देश किया है और उनका अपनी दृष्टिसे खडन भी किया है। इस तरह वादि देवसूरिने जब रत्नाकर लिखना प्रारम्भ किया होगा तब उनकी आंखोंके सामने प्रभाचन्द्रके ये दोनों ग्रन्थ बराबर नाचते रहे हैं।

हेमचन्द्र और प्रभाचन्द्र-विक्रमकी १२ वीं शताब्दीमें आ० हेमचन्द्रसे जैनसाहित्यके हेमयुगका प्रारम्भ होता है। हेमचन्द्रने व्याकरण, काव्य, छन्द, योग, न्याय आदि साहित्यके सभी विभागोंपर अपनी प्रौढ सग्राहक लेखनी चलाकर भारतीय साहित्यके भडारको खूब समृद्ध किया है। अपने बहुमुख पाण्डित्यके कारण ये 'कलिकाल सर्वज्ञ' के नामसे भी ख्यात हैं। इनका जन्म समय कार्तिकी पूर्णिमा विक्रमसवत् ११४५ है। वि० स० ११५४ (ई० सन् १०९७) में ८ वर्षकी अवस्थामें इन्होंने दीक्षा धारण की थी। विक्रमसवत् ११६६ (ई० सन् ११९०) में २१ वर्षकी अवस्थामें ये सूरिपद पर प्रतिष्ठित हुए। ये महाराज जयसिंह सिद्धराज तथा राजर्षि कुमारपालकी राजसभाओंमें सबहुमान लब्धप्रतिष्ठ थे। वि० स० १२२९ (ई० ११७२) में ८४ वर्षकी आयुमें ये दिवगत हुए। इनकी न्यायविषयक रचना-प्रमाणमीमासा जैनन्यायके ग्रन्थोंमें अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। प्रमाणमीमांसाके निग्रह-

स्थानके निरूपण और खंडनके समूचे प्रकरणमें तथा अनेकान्तमें दिए गए आठ दोषोंके परिहारके प्रसंगमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका शब्दशः अनुसरण किया गया है। प्रमाणमीमांसाके अन्य स्थलोंमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी छाप साक्षात् न पड़कर प्रमेयरत्नमालाके द्वारा पड़ी है। प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यने प्रमेयकमलमार्त्तण्डको ही संक्षिप्त कर प्रमेयरत्नमालाकी रचना की है। अतः मध्यकदवाली प्रमाणमीमांसामें बृहत्काय प्रमेयकमलमार्त्तण्डका सीधा अनुसरण न होकर अपने समान परिमाणवाली प्रमेयरत्नमालाका अनुरण होना ही अधिक संगत मालूम होता है। प्रमाणमीमांसाके प्रायः प्रत्येक प्रकरण पर प्रमेयरत्नमालाकी शब्दरचनाने अपनी स्पष्ट छाप लगाई है। इस तरह आ० हेमचन्द्रने कहीं साक्षात् और कहीं परम्परया प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डको अपनी प्रमाणमीमांसा बनाते समय नज़रेनज़र रखा है। प्रमेयरत्नमाला और प्रमाणमीमांसाके स्थलोंकी तुलनाके लिए सिंघी सीरिजसे प्रकाशित प्रमाणमीमांसाके भाषा टिप्पण देखना चाहिए।

मलयगिरि और प्रभाचन्द्र–विक्रमकी १२ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा तेरहवीं शताब्दीका प्रारम्भ जैनसाहित्यका हेमयुग कहा जाता है। इस युगमें आ० हेमचन्द्रके सहविहारी, प्रख्यात टीकाकार आचार्य मलयगिरि हुए थे। मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, नन्दीसूत्र आदि अनेकों आगमिकग्रन्थों पर संस्कृत टीकाएँ लिखी हैं। आवश्यकनिर्युक्तिकी टीका (पृ० ३७१ A) में वे अकलङ्कदेवके 'नयवाक्यमें भी स्यात्पदका प्रयोग करना चाहिए' इस मतसे असहमति जाहिर करते हैं। इसी प्रसंगमें वे पूर्वपक्षरूपसे लघीयस्त्रयस्वविवृति (का० ६२) का 'नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्' यह वाक्य उद्धृत करते हैं। और इस वाक्यके साथ ही साथ प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६९१) से उक्त वाक्यकी व्याख्या भी उद्धृत करते हैं। व्याख्याका उद्धरण इस प्रकारसे लिया गया है–"अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्यं न केवलं प्रमाणवाक्यमित्यपिशब्दार्थः, तथैव स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, यथा स्यादस्त्येव जीव इति, स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति।"–इस अवतरणसे यह निश्चित हो जाता है कि मलयगिरिके सामने लघीयस्त्रयकी न्यायकुमुदचन्द्र नामकी व्याख्या थी।

अकलङ्कदेवने प्रमाण, नय और दुर्नयकी निम्नलिखित परिभाषाएँ की हैं–अनन्तधर्मात्मक वस्तुको अखंडभावसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण है। एकधर्मको मुख्य तथा अन्यधर्मोंको गौण करनेवाला, उनकी अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान नय है। एकधर्मको ही ग्रहण करके जो अन्य धर्मोंका निषेध करता है–उनकी अपेक्षा नहीं रखता वह दुर्नय कहलाता है। अकलङ्कने प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमें भी नयान्तरसापेक्षता दिखानेके लिए 'स्यात्' पदके प्रयोगका विधान किया है।

आ० मलयगिरि कहते हैं कि–जब नयवाक्यमें स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब 'स्यात्' शब्दसे सूचित होनेवाले अन्य अशेषधर्मोंको भी विषय करनेके कारण नयवाक्य नयरूप न होकर प्रमाणरूप ही हो जायगा। इनके मतसे जो नय एक धर्मको अवधारणपूर्वक विषय

करके इतरनयसे निरपेक्ष रहता है वही नय कहा जा सकता है। इसीलिए इन्होंने सभी नयोंको मिथ्यावाद कहा है। मलयगिरिके कोषमें सुनय नामका कोई शब्दही नहीं है। जब स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब वह प्रमाणकोटिमें पहुँचेगा तथा जब नयान्तरनिरपेक्ष रहेगा तब वह नयकोटिमें जाकर मिथ्यावाद हो जायगा। इन्होंने अकलङ्कदेवके इस तत्त्वको मद्देनजर नहीं रखा कि-नयवाक्यमें स्यात् शब्दसे सूचित होनेवाले अशेषधर्मोंका मात्र सद्भाव ही जाना जाता है, सो भी इसलिए कि कोई वादी उनका ऐकान्तिक निषेध न समझ ले। प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमें स्याच्छब्दसे सूचित होनेवाले अशेषधर्म प्रधानभावसे विषय नहीं होते। यही तो प्रमाण और नयमें भेद है कि-जहाँ प्रमाणमें अशेष ही धर्म एकरूपसे-अखण्डभावसे विषय होते हैं वहाँ नयमें एकधर्म मुख्य होकर अन्य अशेषधर्म गौण हो जाते हैं, 'स्यात्' शब्दसे मात्र उनका सद्भाव सूचित होता रहता है। दुर्नयमें एकधर्म ही विषय होकर अन्य अशेषधर्मोंका तिरस्कार हो जाता है। अतः दुर्नयसे सुनयका पार्थक्य करनेके लिए सुनयवाक्यमें स्यात्पदका प्रयोग आवश्यक है। मलयगिरिके द्वारा की गई अकलङ्ककी यह समालोचना उन्हीं तक सीमित रही। हेमचन्द्र आदि सभी आचार्य अकलङ्कके उक्त प्रमाण, नय और दुर्नयके विभागको निर्विवादरूपसे मानते आए हैं। इतना ही नहीं, उपाध्याय यशोविजयने मलयगिरिकी इस समालोचनाका सयुक्तिक उत्तर गुरुतत्त्वविनिश्चय (पृ० १७ B) में दे ही दिया है। उपाध्यायजी लिखते हैं कि यदि नयान्तरसापेक्ष नयका प्रमाणमें अन्तर्भाव किया जायगा तो व्यवहारनय तथा शब्द-नय भी प्रमाण ही हो जायँगे। नयवाक्यमें होनेवाला स्यात्पदका प्रयोग तो अनेक धर्मोंका मात्र द्योतन करता है, वह उन्हें विवक्षितधर्मकी तरह नयवाक्यका विषय नहीं बनाता। इसलिए नयवाक्यमें मात्र स्यात्पदका प्रयोग होनेसे वह प्रमाणकोटिमें नहीं पहुँच सकता।

देवभद्र और प्रभाचन्द्र–देवभद्रसूरि मलधारिगच्छके श्रीचन्द्रसूरिके शिष्य थे। इन्होंने न्यायावतारटीका पर एक टिप्पण लिखा है। श्रीचन्द्रसूरिने वि० संवत् ११९३ (सन् ११३६) में दिवालीके दिन 'मुनिसुव्रत चरित्र' पूर्ण किया था। अतः इनके साक्षात् शिष्य देवभद्रका समय भी करीब सन् ११५० से १२०० तक सुनिश्चित होता है। देवभद्रने अपने न्यायावतार टिप्पणमें प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्रके निम्नलिखित दो अवतरण लिए हैं–

१–"परिमण्डला परमाणव तेषां भावः पारिमण्डल्यं वर्तुलत्वम्, न्यायकुमुदचन्द्रे प्रभाचन्द्रेणाप्येवं व्याख्यातत्वात्।" (पृ० २५)

२–"प्रभाचन्द्रस्तु न्यायकुमुदचन्द्रे विभाषा सद्धर्मप्रतिपादको ग्रन्थविशेषः तां विदन्ति अधीयते वा वैभाषिकाः इत्युवाच।" (पृ० ७१)

ये दोनों अवतरण न्यायकुमुदचन्द्रमें क्रमशः पृ० ४३८ पं० १३ तथा पृ० ३९० पं० १ में पाए जाते हैं। इनके सिवाय न्यायावतारटिप्पणमें अनेक स्थानोंपर न्यायकुमुदचन्द्रका प्रतिबिम्ब स्पष्टरूपसे झलकता है।

१ जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास पृ० २५३।

मल्लिषेण और प्रभाचन्द्र–आ० हेमचन्द्रकी अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके ऊपर मल्लिषेण की स्याद्वादमंजरी नामकी सुन्दर टीका मुद्रित है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदायके नागेन्द्रगच्छीय श्रीउदयप्रभसूरिके शिष्य थे। स्याद्वादमंजरीके अन्तमें दी हुई प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि–इन्होंने शक संवत् १२१४ (ई० १२९३) में दीपमालिका शनिवारके दिन जिनप्रभसूरिकी सहायतासे स्याद्वादमंजरी पूर्ण की थी। स्याद्वादमंजरीकी शब्द रचनापर न्यायकुमुदचन्द्रका एक विलक्षण प्रभाव है। मल्लिषेणने का० १४ की व्याख्यामें विधिवादकी चर्चा की है। इसमें इन्होंने विधिवादियोंके आठ मतोंका निर्देश किया है। साथही साथ अपनी ग्रन्थमर्यादाके विचारसे इन मतोंके पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षोंके विशेष परिज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ देखनेका अनुरोध निम्नलिखित शब्दोंमें किया है–"एतेषां निराकरणं सपूर्वोत्तरपक्षं न्यायकुमुदचन्द्रादवसेयम्।" इस वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है कि मल्लिषेण न केवल न्यायकुमुदचन्द्रके विशिष्ट अभ्यासी ही थे किन्तु वे स्याद्वादमंजरीमें अचर्चित या अल्पचर्चित विषयोंके ज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्रको प्रमाणभूत आकर ग्रन्थ मानते थे। न्यायकुमुदचन्द्रमें विधिवादकी विस्तृत चरचा पृ० ५७३ से ५९८ तक है।

गुणरत्न और प्रभाचन्द्र–विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें तपागच्छमें श्रीदेवसुन्दरसूरि एक प्रभावक आचार्य हुए थे। इनके पट्टशिष्य गुणरत्नसूरिने हरिभद्रकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' पर तर्करहस्यदीपिका नामकी बृहद्वृत्ति लिखी है। गुणरत्नसूरिने अपने क्रियारत्नसमुच्चय ग्रन्थकी प्रतियोंका लेखनकाल विक्रम संवत् १४६८ दिया है। अतः इनका समय भी विक्रमकी १५ वीं सदीका उत्तरार्ध सुनिश्चित है। गुणरत्नसूरिने षड्दर्शनसमुच्चय टीकाके जैनमत निरूपणमें मोक्षतत्त्वका सविस्तर विशद विवेचन किया है। इस प्रकरणमें इन्होंने स्वाभिमत मोक्षस्वरूपके समर्थनके साथही साथ वैशेषिक, सांख्य, वेदान्ती तथा बौद्धोंके द्वारा माने गए मोक्षस्वरूपका बड़े विस्तारसे निराकरण भी किया है। इस परखंडनके भागमें न्यायकुमुदचन्द्रका मात्र अर्थ और भावकी दृष्टिसे ही नहीं, किन्तु शब्दरचना तथा युक्तियोंके कोटिक्रमकी दृष्टिसे भी पर्याप्त अनुसरण किया गया है। इस प्रकरणमें न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दसादृश्य है[1] कि इससे न्यायकुमुदचन्द्रके पाठकी शब्दशुद्धि करनेमें भी पर्याप्त सहायता मिली है। इसके सिवाय इस वृत्तिके अन्य स्थलोंपर खासकर परपक्षखंडनके भागोंपर न्यायकुमुदचन्द्रकी शुभ्रज्योत्स्ना जहाँ तहाँ छिटक रही है।

यशोविजय और प्रभाचन्द्र–उपाध्याय यशोविजयजी विक्रमकी १८ वीं सदीके युग प्रवर्तक विद्वान् थे। इन्होंने विक्रम संवत् १६८८ (ईस्वी १६३१) में प० नयविजयजीके पास दीक्षा ग्रहण की थी। इन्होंने काशीमें नव्यन्यायका अध्ययन कर वादमें किसी विद्वान् पर विजय पानेसे 'न्यायविशारद' पद प्राप्त किया था। श्रीविजयप्रभसूरिने वि० सं० १७१८ में इन्हें 'वाचक-उपाध्याय' का सम्मानित पद दिया था। उपाध्याय यशोविजय वि० सं० १७४३

1 देखो–न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ८१६ से ८४७ तकके टिप्पण।

(सन् १६८६) में अनशन पूर्वक स्वर्गस्थ हुए थे। दशवीं शताब्दीसे ही नव्यन्यायके विकासने भारतीय दर्शनशास्त्रमें एक अपूर्व क्रांति उत्पन्न कर दी थी। यद्यपि दसवीं सदीके बाद अनेकों बुद्धिशाली जैनाचार्य हुए पर कोई भी इस नव्यन्यायके शब्दजालके जटिल अध्ययनमें नहीं पड़ा। उपाध्याय यशोविजय ही एकमात्र जैनाचार्य हैं जिन्होंने नव्यन्यायका समग्र अध्ययन कर उसी नव्यपद्धतिसे जैनपदार्थोंका निरूपण किया है। इन्होंने सैकड़ों ग्रन्थ बनाए हैं। इनका अध्ययन अत्यन्त तलस्पर्शी तथा बहुमुख था। सभी पूर्ववर्ती जैनाचार्योंके ग्रन्थोंका इन्होंने विधिवत् पारायण किया था। इनकी तीक्ष्ण दृष्टिसे धर्मभूषणयतिकी छोटीसी पर सुविशद रचनावाली न्यायदीपिका भी नहीं छूटी। जैनतर्कभाषामें अनेक जगह न्यायदीपिकाके शब्द आनुपूर्वीसे ले लिए गए हैं। इनके शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका आदि बृहद्ग्रन्थोंके परपक्ष खंडनवाले अंशोंमें प्रभाचन्द्रके विविध विकल्पजाल स्पष्टरूपसे प्रतिबिम्बित हैं। इन्होंने प्रभाचन्द्रका केवल अनुसरण ही नहीं किया है किन्तु साम्प्रदायिक स्त्रीमुक्ति और कवलाहार जैसे प्रकरणोंमें प्रभाचन्द्रके मन्तव्योंकी समालोचना भी की है।

उपरिलिखित वैदिक अवैदिकदर्शनोंकी तुलनासे प्रभाचन्द्रके अगाध, तलस्पर्शी, सूक्ष्म दार्शनिक अध्ययनका यत्किञ्चित् आभास हो जाता है। बिना इस प्रकारके बहुश्रुत अवलोकनके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे जैनदर्शनके प्रतिनिधि ग्रन्थोंके प्रणयनका उल्लास ही नहीं हो सकता था। जैनदर्शनके मध्ययुगीन ग्रन्थोंमें प्रभाचन्द्रके ये ग्रन्थ अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। ये पूर्वयुगीन ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब लेकर भी पारदर्शी दर्पणकी तरह उत्तरकालीन ग्रन्थोंके लिए आधारभूत हुए हैं, और यही इनकी अपनी विशेषता है। बिना इस आदान प्रदानके दार्शनिक साहित्यका विकास इस रूपमें तो हो ही नहीं सकता था।

प्रभाचन्द्रका आयुर्वेदज्ञान–प्रभाचन्द्र शुष्क तार्किक ही नहीं थे, किन्तु उन्हें जीवनोपयोगी आयुर्वेदका भी परिज्ञान था। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४२४) में वे बधिरता तथा अन्य कर्णरोगोंके लिए बलातैलका उल्लेख करते हैं। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६६१) में छाया आदिको पौद्गलिक सिद्ध करते समय उनमें *गुणोंका सद्भाव दिखाने*के लिए उनने वैद्यकशास्त्रका निम्नलिखित श्लोक प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है–

"आतप कटुको रूक्ष छाया मधुरशीतला।
कषायमधुरा ज्योत्स्ना सर्वव्याधिहर (कर) तम ॥"

यह श्लोक राजनिघण्टु आदिमें कुछ पाठभेदके साथ पाया जाता है। इसी तरह वैशेषिकोंके गुणपदार्थका खंडन करते समय (न्यायकु० पृ० २७५) वैद्यकतन्त्रमें प्रसिद्ध विशद, स्थिर, खर, पिच्छलत्व आदि गुणोंके नाम लिए हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ८) में नडूलोदक–तृणविशेषके जलसे पादरोगकी उत्पत्ति बताई है।

प्रभाचन्द्रकी कल्पनाशक्ति–सामान्यतः वस्तुकी अनन्तात्मकता या अनेकधर्माधारताकी सिद्धिके लिए अकलंक आदि आचार्योंने चित्रज्ञान, सामान्यविशेष, मेचकज्ञान और नरसिंह

आदिके दृष्टान्त दिए हैं। पर प्रभाचन्द्रने एक ही वस्तुकी अनेकरूपताके समर्थनके लिए न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३६९) में 'उमेश्वर' का दृष्टान्त भी दिया है। वे लिखते हैं कि जैसे एक ही शिव वामाङ्गमें उमा पार्वतीरूप होकर भी दक्षिणाङ्गमें विरोधी शिवरूपको धारण करते हैं और अपने अर्धनारीश्वररूपको दिखाते हुए अखड बने रहते हैं उसी तरह एक ही वस्तु विरोधी दो या अनेक आकारोंको धारण कर सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं होना चाहिए।

उदारविचार–आ० प्रभाचन्द्र सच्चे तार्किक थे। उनकी तर्कणा शक्ति और उदार विचारोंका स्पष्ट परिचय ब्राह्मणत्व जातिके खण्डनके प्रसङ्गमें मिलता है। इस प्रकरणमें उन्होंने ब्राह्मणत्व जातिके नित्यत्व और एकत्वका खण्डन करके उसे सदृशपरिणमन रूप ही सिद्ध किया है। वे जन्मना जातिका खण्डन बहुविध विकल्पोंसे करते हैं और स्पष्ट शब्दोंमें उसे गुण-कर्मानुसारिणी मानते हैं। वे ब्राह्मणत्व जाति निमित्तक वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदिके व्यवहारको भी क्रियाविशेष और यज्ञोपवीत आदि चिह्नसे उपलक्षित व्यक्ति विशेषमें ही करनेकी सलाह देते हैं—

"ननु ब्राह्मणत्वादिसामान्यानभ्युपगमे कथं भवतां वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निबन्धनो वा तपोदानादिव्यवहारः स्यात् ? इत्यप्यचोद्यम्, क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थाया तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः। तत्र भवत्कल्पितं नित्यादिस्वभावं ब्राह्मण्यं कुतश्चिदपि प्रमाणात् प्रसिद्ध्यतीति क्रियाविशेषनिबन्धन एवायं ब्राह्मणादिव्यवहारो युक्तः।"
[न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७७८। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ० ४८६]

"प्रश्न–यदि ब्राह्मणत्व आदि जातियाँ नहीं हैं तब जैनमतमें वर्णाश्रमव्यवस्था और ब्राह्मणत्व आदि जातियोंसे सम्बन्ध रखनेवाला तप दान आदि व्यवहार कैसे होगा ? उत्तर–जो व्यक्ति यज्ञोपवीत आदि चिह्नोंको धारण करें तथा ब्राह्मणोंके योग्य विशिष्ट क्रियाओंका आचरण करें उनमें ब्राह्मणत्व जातिसे सम्बन्ध रखने वाली वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदि व्यवहार भली भाँति किये जा सकते हैं। अतः आपके द्वारा माना गया नित्य आदि स्वभाववाला ब्राह्मणत्व किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, इसलिये ब्राह्मण आदि व्यवहारों को क्रियानुसार ही मानना युक्तिसंगत है।"

वे प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४८७) में और भी स्पष्टतासे लिखते हैं कि–"तत सदृशक्रियापरिणामादिनिबन्धनैवेयं ब्राह्मणक्षत्रियादिव्यवस्था–इसलिये यह समस्त ब्राह्मण क्षत्रिय आदि व्यवस्था सदृश क्रिया और सदृश परिणमन आदिके निमित्तसे होती ही है।"

बौद्धोंके धम्मपद और श्वे० आगम उत्तराध्ययनसूत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें ब्राह्मणत्व जातिको गुण और कर्मके अनुसार बताकर उसको जन्मना माननेके सिद्धान्तका खण्डन किया है–

"न जटाहिं न गोत्तेहिं न जच्चा होति ब्राह्मणो।
जम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो॥

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसम्भवं।" [धम्मपद गा० ३९३]

"कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥" [उत्तरा० २५।३३]

दिगम्बर आचार्यमें वराङ्गचरितके कर्ता श्री जटासिंहनन्दि जिनने स्पष्ट शब्दोंमें जातिको क्रियानिमित्तक लिखते हैं-

"क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्रात् दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।
शिष्टाश्च वर्णांश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात्॥" [वराङ्गचरित २५।११]

"शिष्टजन इन ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंको 'अहिंसा आदि व्रतोंका पालन, रक्षा करना, खेती आदि करना, तथा शिल्पवृत्ति' इन चार प्रकारकी क्रियाओंसे ही मानते हैं। यह सब वर्णव्यवस्था व्यवहार मात्र है। क्रियाके सिवाय और कोई वर्णव्यवस्थाका हेतु नहीं है।"

ऐसे ही विचार तथा उद्गार पद्मपुराणकार रविषेण, आदि पुराणकार जिनसेन, तथा धर्मपरीक्षाकार अमितगति आदि आचार्योंके पाए जाते हैं[1]। आ० प्रभाचन्द्रने, इन्हीं वैदिक संस्कृति द्वारा अभिभूत, परम्परागत जनसंस्कृतिके विशुद्ध विचारोंका, अपनी प्रखर तर्कधारासे परिसिंचन कर पोषण किया है। यद्यपि ब्राह्मणत्वजातिके खण्डन करते समय प्रभाचन्द्रने प्रधानतया उसके नित्यत्व और ब्रह्मप्रभवत्व आदि अंशोंके खण्डनके लिए इस प्रकरणको लिखा है और इसके लिखनेमें भट्टाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिकालङ्कार तथा शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहने पर्याप्त प्रेरणा दी है परन्तु इससे प्रभाचन्द्रका अपना जातिविषयक स्वतन्त्र चिन्तनवृत्तिमें कोई कमी नहीं आती। उन्होंने उसके हर एक पहलू पर विचार करके ही अपने उक्त विचार स्थिर किए।

§ २ प्रभाचन्द्रका समय-

पार्यवेत्र और गुरुकुल-आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदिकी प्रशस्तिमें 'पद्मनन्दि सैद्धान्त' को अपना गुरु लिखा है। श्रवणबेल्गोलाके शिलालेख (नं० ४०) में गोल्लाचार्यके शिष्य पद्मनन्दि सैद्धान्तिकका उल्लेख है। और इसी शिलालेखमें आगे चलकर प्रथिततर्कग्रन्थकार, शब्दाम्भोरुहभास्कर प्रभाचन्द्रका शिष्यरूपसे वर्णन किया गया है। प्रभाचन्द्रके प्रथिततर्कग्रन्थकार और शब्दाम्भोरुहभास्कर ये दोनों विशेषण यह स्पष्ट बतला रहे हैं कि ये प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड जैसे प्रथित तर्कग्रन्थोंके रचयिता थे तथा शब्दाम्भोजभास्करनामक जैनेन्द्रन्यासके कर्ता भी थे। इसी शिलालेखमें पद्मनन्दि सैद्धान्तिकको अविद्धकर्णादिक और कौमारदेवव्रती लिखा है। इन विशेषणोंसे ज्ञात होता है कि-पद्मनन्दि सैद्धान्तिकने कर्णवेध होनेके पहिले ही दीक्षा धारण की होगी और इसीलिए ये कौमारदेवव्रती कहे जाते थे। ये मूलसङ्घान्तर्गत नन्दिगणके प्रभेदरूप देशीगणके श्रीगोल्लाचार्यके शिष्य थे।

---

१ देखो-न्यायकुमुदच० पृ० ७७८ टि० ९। २ जैनशिलालेखसंग्रह, माणिकचन्द्रग्रन्थमाला।

प्रभाचन्द्रके सधर्मा श्रीकुलभूषण मुनि थे। कुलभूषण मुनि भी सिद्धान्तशास्त्रोंके पारगामी और चारित्रसागर थे। इस शिलालेखमें कुलभूषणमुनिकी शिष्यपरम्पराका वर्णन है, जो दक्षिणदेशमें हुई थी। तात्पर्य यह कि आ० प्रभाचन्द्र मूलसंघान्तर्गत नन्दिगणकी आचार्यपरम्परामें हुए थे। इनके गुरु पद्मनन्दिसैद्धान्त थे और सधर्मा थे कुलभूषणमुनि। मालूम होता है कि प्रभाचन्द्र पद्मनन्दिसे शिक्षा दीक्षा लेकर धारानगरीमें चले आए, और यहीं उन्होंने अपने ग्रन्थोंकी रचना की। ये धाराधीशभोजके मान्य विद्वान् थे। प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी "श्रीभोजदेवराज्ये धारानिवासिना" आदि अन्तिम प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि—यह ग्रन्थ धारानगरीमें भोजदेवके राज्यमें बनाया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र, आराधनागद्यकथाकोश और महापुराणटिप्पणकी अन्तिम प्रशस्तियोंके "श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना" शब्दोंसे इन ग्रन्थोंकी रचना भोजके उत्तराधिकारी जयसिंहदेवके राज्यमें हुई ज्ञात होती है। इसलिए प्रभाचन्द्रका कार्यक्षेत्र धारानगरी ही मालूम होता है। संभव है कि इनकी शिक्षा दीक्षा दक्षिणमें हुई हो।

श्रवणबेल्गोलाके शिलालेख नं० ५५ में मूलसंघके देशीगणके देवेन्द्रसैद्धान्तदेवका उल्लेख है। इनके शिष्य चतुर्मुखदेव और चतुर्मुखदेवके शिष्य गोपनन्दि थे। इसी शिलालेखमें इन गोपनन्दिके सधर्मा एक प्रभाचन्द्रका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"अवर सधर्मरु-

श्रीधाराधिपभोजराजमुकुटप्रोताश्मरश्मिच्छटा-
च्छायाकुङ्कुमपङ्कलिप्तचरणाम्भोजातलक्ष्मीधवः।
न्यायाब्जाकरमण्डने दिनमणिश्शब्दाब्जरोदोमणिः,
स्थेयात्पण्डितपुण्डरीकतरणिः श्रीमान् प्रभाचन्द्रमाः ॥१७॥
श्रीचतुर्मुखदेवानां शिष्योऽधृष्यः प्रवादिभिः।
पण्डितश्रीप्रभाचन्द्रो रुद्रवादिगजाङ्कुशः ॥१८॥"

इन श्लोकोंमें वर्णित प्रभाचन्द्र भी धाराधीश भोजराजके द्वारा पूज्य थे, न्यायरूप कमलसमूह (प्रमेयकमल) के दिनमणि (मार्त्तण्ड) थे, शब्दरूप अब्ज (शब्दाम्भोज) के विकास करनेको रोदोमणि (भास्कर) के समान थे। पंडित रूपी कमलोंको प्रफुल्लित करने वाले सूर्य थे, रुद्रवादि गजोंको वश करनेके लिए अंकुशके समान थे तथा चतुर्मुखदेवके शिष्य थे। क्या इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र और पद्मनन्दि सैद्धान्तके शिष्य, प्रथितकर्मन्यकार एवं शब्दाम्भोजभास्कर प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं? इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया जा सकता है, पर इसमें एकही बात नयी है। वह है—गुरुरूपसे चतुर्मुखदेवका उल्लेख होनेकी। मैं समझता हूँ कि—यदि प्रभाचन्द्र धारामें आनेके बाद अपनेही देशवासी श्री चतुर्मुखदेवको गुरु और गुरुकी दृष्टिसे देखने हों तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। पर यह सुनिश्चित है कि प्रभाचन्द्रके आद्य और परमादरणीय उपास्य गुरु पद्मनन्दि सैद्धान्त ही थे। ... द्वितीय गुरु या गुरुसम हो सकते हैं। यदि इस शिलालेखमें प्रभाचन्द्र और

के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं तो यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र धारा-धीश भोजके समकालीन थे। इस शिलालेखमें प्रभाचन्द्रको गोपनन्दिका सधर्मा कहा गया है। हलेबेल्गोलके एक शिलालेख (नं० ४९२, जैनशिलालेखसंग्रह) में होय्सलनरेश एरेयङ्ग द्वारा गोपनन्दि पण्डितदेवको दिए गए दानका उल्लेख है। यह दान पौष शुद्ध १३, संवत् १०१५ में दिया गया था। इस तरह सन् १०९४ में प्रभाचन्द्रके सधर्मा गोपनन्दिकी स्थिति होनेसे प्रभाचन्द्रका समय सन् १०६५ तक माननेका पूर्ण समर्थन होता है।

समयविचार–आचार्य प्रभाचन्द्रके समयके विषयमें डॉ० पाठक, प्रेमीजी§ तथा मुख्तार सा० आदिका प्रायः सर्वसम्मत मत यह रहा है कि आचार्य प्रभाचन्द्र ईसाकी ८ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध एवं नवीं शताब्दीके पूर्वार्धवर्ती विद्वान् थे। और इसका मुख्य आधार है जिनसेनकृत आदिपुराणका यह श्लोक–

"चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे। कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत्॥"

अर्थात्–'जिनका यश चन्द्रमाकी किरणोंके समान धवल है, उन प्रभाचन्द्रकविकी स्तुति करता हूँ। जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना करके जगत् को आह्लादित किया है।' इस श्लोकमें चन्द्रोदयसे न्यायकुमुदचन्द्रोदय (न्यायकुमुदचन्द्र) ग्रन्थका सूचन समझा गया है। आ० जिनसेनने अपने गुरु वीरसेनकी अधूरी जयधवला टीकाको शक सं० ७५९ (इसवी ८३७) की फाल्गुन शुक्ला दशमी तिथिको पूर्ण किया था। इस समय अमोघवर्षका राज्य था। जयधवलाकी समाप्तिके अनन्तर ही आ० जिनसेनने आदिपुराणकी रचना की थी। आदिपुराण जिनसेनकी अन्तिम कृति है। वे इसे अपने जीवनमें पूर्ण नहीं कर सके थे। उसे इनके शिष्य गुणभद्रने पूर्ण किया था। तात्पर्य यह कि जिनसेन आचार्यने इसवी ८४० के लगभग आदिपुराणकी रचना प्रारम्भ की होगी। इसमें प्रभाचन्द्र तथा उनके न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख मानकर डॉ० पाठक आदिने निर्विवादरूपसे प्रभाचन्द्रका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा नवीं का पूर्वार्ध निश्चित किया है।

सुहृद्वर पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभाग की प्रस्तावना (पृ० १२३) में डॉ० पाठक आदिके मतका निरास‡ करते हुए प्रभाचन्द्रका समय ई० ९५० से १०२० तक

§ श्रीमान् प्रेमीजीका विचार अब बदल गया है। वे अपने 'श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र' लेख (अनेकान्त वर्ष ४ अंक १) में महापुराणटिप्पणकार प्रभाचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और गद्यकथाकोश आदिके कर्त्ता प्रभाचन्द्रका एक ही व्यक्ति होना सूचित करते हैं। वे अपने एक पत्रमें मुझे लिखते हैं कि–'हम समझते हैं कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्त्ता प्रभाचन्द्र ही महापुराणटिप्पणके कर्त्ता हैं। और तत्त्वार्थवृत्तिपद (सर्वार्थसिद्धिके पदोंका प्रकटीकरण) समाधितन्त्रटीका, आत्मानुशासनतिलक, क्रियाकलापटीका, प्रवचनसारसरोजभास्कर (प्रवचनसारकी टीका) आदिके कर्त्ता और शायद रत्नकरण्डटीकाके कर्त्ता भी वही हैं।

‡ पं० कैलाशचन्द्रजीने आदिपुराणके 'चन्द्रांशुशुभ्रयशसं' श्लोकमें चन्द्रोदयकार किसी अन्य प्रभाचन्द्रकविका उल्लेख बताया है जो ठीक है। पर उन्होंने आदिपुराणकार जिनसेनके द्वारा न्यायकुमुदचन्द्रकार प्रभाचन्द्रके स्मृत होनेमें बाधक जो अन्य तीन हेतु दिए हैं वे बलवत् नहीं मालूम होते। यतः (१) आदि

निर्धारित किया है। इस निर्धारित समयकी शताब्दियाँ तो ठीक हैं पर दशकोंमें अन्तर है। तथा जिन आधारोंसे यह समय निश्चित किया गया है वे भी अभ्रान्त नहीं हैं। पं० जीने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें व्योमशिवाचार्यकी व्योमवती टीकाका प्रभाव देखकर प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ९५० ई० और पुष्पदन्तकृत महापुराणके प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणको वि० सं० १०८० (ई० १०२३) में समाप्त मानकर उत्तरावधि १०२० ई० निश्चित की है। मैं 'व्योमशिव और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते समय (पृ० ८) व्योमशिवका समय ईसाकी सातवीं शताब्दीका उत्तरार्ध निर्धारित कर आया हूँ। इसलिए मात्र व्योमशिवके प्रभावके कारण ही प्रभाचन्द्रका समय ई० ९५० के बाद नहीं जा सकता। महापुराणके टिप्पणकी वस्तुस्थिति तो यह है कि–पुष्पदन्तके महापुराण पर श्रीचन्द्र आचार्यका भी टिप्पण है और प्रभाचन्द्र आचार्यका भी। बलात्कारगणके श्रीचन्द्रका टिप्पण भोजदेवके राज्यमें बनाया गया है। इसकी प्रशस्ति निम्न लिखित है–

पुराणकार इसके लिए बाध्य नहीं माने जा सकते कि यदि वे प्रभाचन्द्रका स्मरण करते हैं तो उन्हें प्रभाचन्द्रके द्वारा स्मृत अनन्तवीर्य और विद्यानन्दका स्मरण करना ही चाहिए। विद्यानन्द और अनन्तवीर्यका समय ईसाकी नवीं शताब्दीका पूर्वार्ध है, और इसलिए वे आदिपुराणकारके समकालीन होते हैं। यदि प्रभाचन्द्र भी ईसाकी नवीं शताब्दीके विद्वान् होते, तो भी वे अपने समकालीन विद्यानन्द आदि आचार्योंका स्मरण करके भी आदिपुराणकार द्वारा स्मृत हो सकते थे। (२) 'जयन्त और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते समय मैं जयन्तका समय ई० ७५० से ८४० तक सिद्ध कर आया हूँ। अतः समकालीनवृद्ध जयन्तसे प्रभावित होकर भी प्रभाचन्द्र आदिपुराणमें उल्लेख्य हो सकते हैं। (३) गुणभद्रके आत्मानुशासनसे 'अन्धादयं महानन्धः' श्लोक उद्धृत किया जाना अवश्य ऐसी बात है जो प्रभाचन्द्रका आदिपुराणमें उल्लेख होनेमें बाधक हो सकती है। क्योंकि आत्मानुशासनके 'जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम्। गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम्॥' इस अन्तिमश्लोकसे ध्वनित होता है कि यह ग्रन्थ जिनसेन स्वामीकी मृत्युके बाद बनाया गया है, क्योंकि वही समय जिनसेनके पादोंके स्मरणके लिए ठीक जँचता है। अतः आत्मानुशासनका रचनाकाल सन् ८५० के करीब मालूम होता है। आत्मानुशासन पर प्रभाचन्द्रकी एक टीका उपलब्ध है। उसमें प्रथम श्लोकका उत्थान वाक्य इस प्रकार है– "बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धेः सम्बोधनव्याजेन सर्वसत्त्वोपकारकं सन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवः" अर्थात्–गुणभद्र स्वामीने विषयोंकी ओर चञ्चल चित्तवृत्तिवाले बड़े धर्मभाई (?) लोकसेनको समझानेके बहाने आत्मानुशासन ग्रन्थ बनाया है। ये लोकसेन गुणभद्रके प्रियशिष्य थे। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें इन्हीं लोकसेनको स्वयं गुणभद्रने 'विदितसकलशास्त्र, मुनीश, कवि, अविकलवृत्त' आदि विशेषण दिए हैं। इससे इतना अनुमान तो सहज ही किया जा सकता है कि आत्मानुशासन उत्तरपुराणके बाद तो नहीं बनाया गया क्योंकि उस समय लोकसेनमुनि विषयव्यामुग्धबुद्धि न होकर विदितसकलशास्त्र एवं अविकलवृत्त हो गए थे। अतः लोकसेनकी प्रारम्भिक अवस्थामें उत्तरपुराणकी रचनाके पहिले ही आत्मानुशासनका रचा जाना अधिक संभव है। पं० नाथूरामजी प्रेमीने विद्वद्रत्नमाला (पृ० ७५) में यही संभावना की है। आत्मानुशासन गुणभद्रकी प्रारम्भिक कृति ही मालूम होती है। और इसलिए इसे जिनसेनकी मृत्युके बाद बनाना ठीक नहीं [illegible]। परन्तु आत्मानुशासनके [illegible] इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इसमें अन्य कवियोंके सुभाषितोंका भी यथावसर [illegible] है। उदाहरणार्थ–आत्मानुशासनका ३२ वाँ पद्य 'नेता यस्य बृहस्पतिः' [illegible] ६७ वाँ पद्य 'यदेतत्स्वच्छन्दं' [illegible] वाँ [illegible] है। [illegible] सुभाषित पद्य आत्मानुशासनका स्वरचित ही है यह निश्चित [illegible] नहीं कह [illegible] अनुसन्धान बिना इस विषयमें अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

"श्री विक्रमादित्यसंवत्सरे वर्षाणामशीत्यधिकसहस्रे महापुराणविषमपदविवरणं सागरसेनसैद्धान्तान् परिज्ञाय मूलटिप्पणिकाञ्चालोक्य कृतमिदं समुच्चयटिप्पणम् अज्ञपातभीतेन श्रीमद्बला[त्का]रगणश्रीसंघाचार्यसत्कविशिष्येण श्रीचन्द्रमुनिना निजदोर्दण्डाभिभूतरिपुराज्यविजयिनः श्रीभोजदेवस्य ॥ १०२ ॥ इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचन्द्राचार्य(?)विरचितं समाप्तम् ।"

प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यमें लिखा गया है। इसकी प्रशस्तिके श्लोक रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनासे न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भागकी प्रस्तावना (पृ० १२०) में उद्धृत किये गये हैं। श्लोकोंके अनन्तर- "श्री जयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिलमलकलङ्केन श्रीप्रभाचन्द्रपण्डितेन महापुराणटिप्पणके शतत्र्यधिकसहस्रत्रयपरिमाणं कृतमिति।" यह पुष्पिकालेख है। इस तरह महापुराण पर दोनों आचार्योंके पृथक् पृथक् टिप्पण हैं। इसका खुलासा प्रेमीजीके लेखसे[1] स्पष्ट हो ही जाता है। पर टिप्पणलेखकने श्रीचन्द्रकृत टिप्पणके 'श्रीविक्रमादित्य' वाले प्रशस्तिलेखके अन्तमें भ्रमवश 'इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचन्द्राचार्यविरचितं समाप्तम्' लिख दिया है। इसी लिए डॉ० पी० एल० वैद्य[2], प्रो० हीरालालजी तथा पं० कैलाशचन्द्रजीने[3] भ्रमवश प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणका रचना काल संवत् १०८० समझ लिया है। अतः इस भ्रान्त आधारसे प्रभाचन्द्रके समयकी उत्तरावधि सन् १०२० नहीं ठहराई जा सकती। अब हम प्रभाचन्द्रके समयकी निश्चित अवधिके साधक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं-

१-प्रभाचन्द्रने पहिले प्रमेयकमलमार्त्तण्ड बनाकर ही न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना की है। मुद्रित प्रमेयकमलमार्त्तण्डके अन्तमें "श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतिपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति।" यह पुष्पिकालेख पाया जाता है। न्यायकुमुदचन्द्रकी कुछ प्रतियोंमें उक्त पुष्पिकालेख 'श्री भोजदेवराज्ये' की जगह 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' पदके साथ जैसाका तैसा उपलब्ध है। अतः इस स्पष्ट लेख से प्रभाचन्द्रका समय जयसिंहदेवके राज्यके कुछ वर्षों तक, अन्ततः सन् १०६५ तक माना जा सकता है। और यदि प्रभाचन्द्रने ८५ वर्षकी आयु पाई हो तो उनकी पूर्वावधि सन् ९८० मानी जानी चाहिए।

श्रीमान् मुख्तारसा० तथा पं० कैलाशचन्द्रजी प्रमेयकमल० और न्यायकुमुदचन्द्रके अन्तमें पाए जाने वाले उक्त 'श्रीभोजदेवराज्ये और श्री जयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेखोंको स्वयं प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानते। मुख्तारसा०[3] इस प्रशस्तिवाक्यको टीकाटिप्पणकार द्वितीय प्रभाचन्द्रका मानते हैं तथा पं० कैलाशचन्द्रजी[4] इसे पीछेके किसी व्यक्तिकी करतूत बताते हैं। पर प्रशस्तिवाक्यको प्रभाचन्द्रकृत नहीं माननेमें दोनोंके आधार जुदे जुदे हैं। मुख्तारसा० प्रभाचन्द्रको जिनसेन

१ देखो पं० नाथूरामजी प्रेमी लिखित 'श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र' शीर्षक लेख अनेकान्त वर्ष ४ किरण १। २ महापुराणकी प्रस्तावना पृ० XIV। ३ रत्नकरण्डप्रस्तावना पृ० ५९-६०। ४ न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना पृ० १२२।

के पहिलेका विद्वान् मानते हैं, इसलिए 'भोजदेवराज्ये' आदिवाक्य वे स्वयं उन्हीं प्रभाचन्द्रका नहीं मानते। पं० कैलाशचन्द्रजी प्रभाचन्द्रको ईसाकी १० वीं और ११ वीं शताब्दीका विद्वान् मानकर भी महापुराणके टिप्पणकार श्रीचन्द्रके टिप्पणके अन्तिमवाक्यको भ्रमवश प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणका अन्तिमवाक्य समझ लेनेके कारण उक्त प्रशस्तिवाक्योंको प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानना चाहते। मुख्तारसा० ने एक हेतु यह भी दिया है कि–प्रमेयकमलमार्तण्डकी कुछ प्रतियों में यह अन्तिमवाक्य नहीं पाया जाता। और इसके लिए भाण्डारकर इंस्टीट्यूटकी प्राचीन प्रतियोंका हवाला दिया है। मैंने भी प्रमेयकमलमार्तण्डका पुनः सम्पादन करते समय जैनसिद्धान्त भवन आराकी प्रतिके पाठान्तर लिए हैं। इसमें भी उक्त 'भोजदेवराज्ये' वाला वाक्य नहीं है। इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्रके सम्पादनमें जिन आ०, ब०, श्र०, और भा० प्रतियोंका उपयोग किया है, उनमें आ० और ब० प्रतिमें 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' वाला प्रशस्ति लेख नहीं है। हाँ, भा० और श्र० प्रतियाँ, जो ताड़पत्र पर लिखी हैं, उनमें 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' वाला प्रशस्ति-वाक्य है। इनमें भा० प्रति शालिवाहनशक १७६४ की लिखी हुई है। इस तरह प्रमेय-कमलमार्तण्डकी किन्हीं प्रतियोंमें उक्त प्रशस्तिवाक्य नहीं है, किन्हींमें 'श्री पद्मनन्दि' श्लोक नहीं है तथा कुछ प्रतियोंमें सभी श्लोक और प्रशस्ति वाक्य हैं। न्यायकुमुदचन्द्रकी कुछ प्रतियोंमें 'जयसिंह देवराज्ये' प्रशस्ति वाक्य नहीं है। श्रीमान् मुख्तार सा० प्रायः इसीसे उक्त प्रशस्ति-वाक्योंको प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानते।

इसके विषयमें मेरा यह वक्तव्य है कि–लेखक प्रमादवश प्रायः मौजूद पाठ तो छोड़ देते हैं पर किसी अन्यकी प्रशस्ति अन्यग्रन्थमें लगानेका प्रयत्न कम करते हैं। लेखक आखिर नकल करनेवाले लेखक ही तो हैं, उनमें इतनी बुद्धिमानीकी भी कम संभावना है कि वे 'श्री भोजदेवराज्ये' जैसी सुन्दर गद्य प्रशस्तिको स्वकपोलकल्पित करके उसमें जोड़ दें। जिन प्रतियोंमें उक्त प्रशस्ति नहीं है तो समझना चाहिए कि लेखकोंके प्रमादसे उनमें वह प्रशस्ति लिखी ही नहीं गई।

---

१ रत्नकरण्ड० प्रस्तावना पृ० ६०। २ देखो इनका परिचय न्यायकु० प्र० भाग के सम्पादकीयमें।

३ पं० नाथूरामजी प्रेमी अपनी नोटबुकके आधारसे सूचित करते हैं कि–"भाण्डारकर इंस्टीट्यूटकी नं० ८३६ (सन् १८७५–७६) की प्रतिमें प्रशस्तिवाला 'श्री पद्मनन्दि' वाला श्लोक और भोजदेवराज्य वाक्य नहीं। वहीं की नं० ६३८ (सन् १८७५–७६) वाली प्रतिमें 'श्री पद्मनन्दि' श्लोक है पर 'भोजदेवराज्य' वाक्य नहीं है। पहिली प्रति संवत् १४८९ तथा दूसरी संवत् १७९५ की लिखी हुई है।' वीरवाणी विलास भवनके अध्यक्ष पं० लोकनाथ पार्श्वनाथशास्त्री अपने यहाँ की ताड़पत्रकी दो पूर्ण प्रतियोंको देखकर लिखते हैं कि–"प्रतियोंकी अन्तिम प्रशस्तिमें मुद्रितपुस्तकानुसार प्रशस्ति श्लोक पूर्ण हैं और श्री भोजदेवराज्य श्रीमद्धारानिवासिना आदि वाक्य है। प्रमेयकमलमार्तण्डकी प्रतियोंमें बहुत प्राचीन परन्तु करीब ६०० वर्ष पहिले लिखित होगी। उन दोनों प्रतियोंमें शकसंवत् नहीं है। गोम्मटपुरकी प्रतिमें "श्री भोजदेवराज्य प्रशस्ति नहीं है। जिन्होंकी आधुनिक प्रतिमें भी उक्तवाक्य नहीं है। अनेक प्रतियोंमें प्रथम अध्यायके अन्तमें पाए जानेवाले "सिद्धं सर्वजनप्रबोध' श्लोककी व्याख्या नहीं है। इसीतरह भुवारं अकारी प्रतिमें प्रशस्तिवाक्य हैं और उक्त श्लोककी व्याख्या भी है। मूडबिद्रीकी प्रतिमें 'भोजदेवराज्य' प्रशस्ति नहीं है, पर बाकी प्रशस्तिश्लोक हैं।

जब अन्य अनेक प्रमाणोंसे प्रभाचन्द्रका समय करीब करीब भोजदेव और जयसिंहके राज्यकाल तक पहुँचता है तब इन प्रशस्तिवाक्योंको टिप्पणकारकृत या किसी पीछे होनेवाले व्यक्तिकी करतूत कहकर नहीं टाला जा सकता। मेरा यह विश्वास है कि 'श्री भोजदेवराज्ये' या 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' प्रशस्तियाँ सर्वप्रथम प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके रचयिता प्रभाचन्द्रने ही बनाई हैं। और जिन जिन ग्रन्थोंमें ये प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं वे प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रके ही ग्रन्थ होने चाहिए।

२–यापनीयसंघाग्रणी शाकटायनाचार्यने शाकटायन व्याकरण और अमोघवृत्तिके सिवाय केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरण लिखे हैं। शाकटायनने अमोघवृत्ति, महाराज अमोघवर्षके राज्यकाल (ई० ८१४ से ८७७) में रची थी। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें शाकटायनके इन दोनों प्रकरणोंका खंडन आनुपूर्वीसे किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीमुक्तिप्रकरणसे एक कारिका भी उद्धृत की है। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० ९०० से पहिले नहीं माना जा सकता।

३–सिद्धसेनदिवाकरके न्यायावतारपर सिद्धर्षिगणिकी एक वृत्ति उपलब्ध है। हम 'सिद्धर्षि और प्रभाचन्द्र' की तुलना में बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रने न्यायावतारके साथ ही साथ इस वृत्तिको भी देखा है। सिद्धर्षिने ई० ९०६ में अपनी उपमितिभवप्रपञ्चाकथा बनाई थी। अतः न्यायावतारवृत्तिके द्रष्टा प्रभाचन्द्रका समय सन् ९१० के पहिले नहीं माना जा सकता।

४–भासर्वज्ञका न्यायसार ग्रन्थ उपलब्ध है। कहा जाता है कि इसपर भासर्वज्ञकी स्वोपज्ञ न्यायभूषण नामकी वृत्ति थी। इस वृत्तिके नामसे उत्तरकालमें इनकी भी 'भूषण' रूपमें प्रसिद्धि हो गई थी। न्यायलीलावतीकारके कथनसे[1] ज्ञात होता है कि भूषण क्रियाको संयोग रूप मानते थे। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २८२) में भासर्वज्ञके इस मतका खंडन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डके छठवें अध्यायमें जिन विशेष्यासिद्ध आदि हेत्वाभासोंका निरूपण है वे सब न्यायसारसे ही लिए गए हैं। स्व० डॉ० शतीशचन्द्र विद्याभूषण इनका समय ई० ९०० के लगभग मानते हैं। अतः प्रभाचन्द्रका समय भी ई० ९०० के बादही होना चाहिए।

५–आ० देवसेनने अपने दर्शनसार ग्रन्थ (रचनासमय ९९० वि० ९३३ ई०) के बाद भावसंग्रह ग्रन्थ बनाया है। इसकी रचना संभवतः सन् ९४० के आसपास हुई होगी। इसकी एक 'णोकम्मकम्महारो' गाथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत है। यदि यह गाथा स्वयं देवसेनकी है तो प्रभाचन्द्रका समय सन् ९४० के बाद होना चाहिए।

६–आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० बनानेके बाद शब्दाम्भोजभास्कर नामका जैनेन्द्रन्यास रचा था। यह न्यास जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद इसीके आधारसे बनाया गया है। मैं 'अभयनन्दि और प्रभाचन्द्र' की तुलना (पृ० ३३) करते हुए लिख आया हूँ कि नेमिचन्द्रसिद्धान्त-

१ देखो न्यायकुमुदचन्द्र पृ० २८२ टि० ५। २ न्यायसार प्रस्तावना पृ० ५।

चक्रवर्तीके गुरु अभयनन्दिने ही यदि महावृत्ति बनाई है तो इसका रचना काल अनुमानत ९६० ई० होना चाहिए। अत प्रभाचन्द्रका समय ई० ९६० से पहिले नहीं माना जा सकता।

७-पुष्पदन्तकृत अपभ्रंशभाषाके महापुराण पर प्रभाचन्द्रने एक टिप्पण रचा है। इसकी प्रशस्ति रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना (पृ० ६१) मे दी गई है। यह टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यकालमें लिखा गया है। पुष्पदन्तने अपना महापुराण सन् ९६५ ई० में समाप्त किया था[1]। टिप्पणकी प्रशस्तिसे तो यही मालूम होता है कि प्रसिद्ध प्रभाचन्द्र ही इस टिप्पणके कर्ता हैं। यदि यही प्रभाचन्द्र इसके रचयिता हैं, तो कहना होगा कि प्रभाचन्द्रका समय ई० ९६५ के बाद ही होना चाहिए। यह टिप्पण इन्होंने न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना करके लिखा होगा। यदि यह टिप्पण प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रका न माना जाय तब भी इसकी प्रशस्तिके श्लोक और पुष्पिकालेख, जिनमें प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके प्रशस्तिश्लोकोंका एव पुष्पिकालेखका पूरा पूरा अनुकरण किया गया है, प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि जयसिंहके राज्य कालतक निश्चित करनेमें साधक तो हो ही सकते हैं।

८-श्रीधर और प्रभाचन्द्रकी तुलना करते समय हम बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रके ग्रन्थों पर श्रीधरकी कन्दली भी अपनी आभा दे रही है। श्रीधरने कन्दली टीका ई० सन् ९९१ में समाप्त की थी। अत प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ई० ९९० के करीब मानना और उनका कार्यकाल ई० १०२० के लगभग मानना सगत मालूम होता है।

९-श्रवणबेल्गोलाके लेख न० ४० (६४) में एक पद्मनन्दिसैद्धान्तिकका उल्लेख है और इन्हींके शिष्य कुलभूषणके सधर्मा प्रभाचन्द्रको शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार लिखा है-

"अविद्धकर्णादिकपद्मनन्दिसैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके।
कौमारदेवव्रतिताप्रसिद्धिर्जीयात्तु सो ज्ञाननिधिस्स धीरः ॥ १५ ॥
तच्छिष्यः कुलभूषणाख्ययतिपश्चारित्रवारान्निधिः,
सिद्धान्ताम्बुधिपारगो नतविनेयस्तत्सधर्मो महान्।
शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभा-
चन्द्राख्यो मुनिराजपण्डितवरः श्रीकुण्डकुन्दान्वयः ॥ १६ ॥"

इस लेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र, शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार विशेषणोंके बलसे शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रन्यास और प्रमेयकमलमार्तण्ड न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंके कर्ता प्रस्तुत प्रभाचन्द्र ही हैं। धवलाटीका पु० २ की प्रस्तावनामें ताडपत्रीय प्रतिका इतिहास बताते हुए प्रो० हीरालालजीने इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्रके समय पर सयुक्तिक ऐतिहासिक प्रकाश डाला है। उसका सारांश यह है-"उक्त शिलालेखमें कुलभूषणसे आगेकी शिष्य परम्परा इस प्रकार है-कुलभूषणके सिद्धान्तवारांनिधि सद्वृत्त कुलचन्द्र नामके शिष्य

[1] देखो महापुराणकी प्रस्तावना।

हुए, इनके शिष्य माघनन्दि मुनि हुए, जिन्होंने कोल्लापुरमें तीर्थ स्थापन किया। इनके श्रावक शिष्य थे–सामन्तकेदार नाकरस, सामन्त निम्बदेव और सामन्त कामदेव। माघनन्दिके शिष्य हुए–गण्डविमुक्तदेव, जिनके एक छात्र सेनापति भरत थे, व दूसरे शिष्य भानुकीर्ति और देवकीर्ति, आदि। इस शिलालेखमें बताया है कि महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पंडितदेवने कोल्लापुरकी रूपनारायण वसदिके अधीन केल्लंगरेय प्रतापपुरका पुनरुद्धार कराया था, तथा जिननाथपुरमें एक दानशाला स्थापित की थी। उन्हीं अपने गुरुकी परोक्ष विनयके लिए महाप्रधान सर्वाधिकारी हिरिय भंडारी अभिनवगङ्गदण्डनायक श्री हुल्लराजने उनकी निषद्या निर्माण कराई, तथा गुरुके अन्य शिष्य लक्खनन्दि, माधव और त्रिभुवनदेवने महादान व पूजाभिषेक करके प्रतिष्ठा की। देवकीर्तिके समय पर प्रकाश डालने वाला शिलालेख नं० ३९ है। इसमें देवकीर्तिकी प्रशस्तिके अतिरिक्त उनके स्वर्गवासका समय शक १०८५ सुभानु संवत्सर आषाढ़ शुक्ल ९ बुधवार सूर्योदयकाल बतलाया गया है। और कहा गया है कि उनके शिष्य लक्खनन्दि माधवचन्द्र और त्रिभुवनमल्लने गुरु भक्तिसे उनकी निषद्याकी प्रतिष्ठा कराई। देवकीर्ति पद्मनन्दिसे पाँच पीढ़ी तथा कुलभूषण और प्रभाचन्द्रसे चार पीढ़ी बाद हुए हैं। अतः इन आचार्योंको देवकीर्तिसे समयमें १००–१२५ वर्ष अर्थात् शक ९५० (ई० १०२८) के लगभग हुए मानना अनुचित न होगा। उक्त आचार्योंके कालनिर्णयमें सहायक एक और प्रमाण मिलता है–कुलचन्द्र मुनिके उत्तराधिकारी माघनन्दि कोल्लापुरीय कहे गए हैं। उनके गृहस्थ शिष्य निम्बदेव सामन्तका उल्लेख मिलता है जो शिलाहारनरेश गंडरादित्यदेवके एक सामन्त थे। शिलाहार गंडरादित्यदेवके उल्लेख शक सं० १०३० से १०५८ तक के लेखों में पाए जाते हैं। इससे भी पूर्वोक्त कालनिर्णयकी पुष्टि होती है।"

यह विवेचन शक सं० १०८५ में लिखे गए शिलालेखोंके आधारसे किया गया है। शिलालेखवर्णी वस्तुओंका ध्यानसे समीक्षण करने पर यह प्रश्न होता है कि जिस तरह प्रभाचन्द्रके सधर्मा कुलभूषणकी शिष्यपरम्परा दक्षिण प्रान्तमें चली उस तरह प्रभाचन्द्रकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख क्यों नहीं मिलता? मुझे तो इसका सम्भाव्य कारण यही मालूम होता है कि पद्मनन्दिके एक शिष्य कुलभूषण तो दक्षिणमें ही रहे और दूसरे प्रभाचन्द्र उत्तर प्रान्तमें आकर धारा नगरीके आसपास रहे हैं। यही कारण है कि दक्षिणमें उनकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस शिलालेखीय अङ्कगणनासे निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रभाचन्द्र भोजदेव और जयसिंह दोनोंके समयमें विद्यमान थे। अतः उनकी पूर्वावधि सन् ९९० के आसपास माननेमें कोई बाधक नहीं है।

१०–वादिराजसूरिने अपने पार्श्वचरितमें अनेकों पूर्वाचार्योंका स्मरण किया है। पार्श्वचरित शक सं० ९४७ (ई० १०२५) में बनकर समाप्त हुआ था। इन्होंने अकलङ्कदेवके न्यायविनिश्चय प्रकरण पर न्यायविनिश्चयविवरण या न्यायविनिश्चयतात्पर्यावद्योतनी व्याख्यानरत्नमाला नामकी विस्तृत टीका लिखी है। इस टीकामें पचासों जैन जैनेतर आचार्योंके ग्रन्थोंसे

प्रमाण उद्धृत किए गए हैं। सभव है कि वादिराजके समयमें प्रभाचन्द्रकी प्रसिद्धि न हो पाई हो, अन्यथा तर्कशास्त्रके रसिक वादिराज अपने इस यशस्वी ग्रन्थकारका नामोल्लेख किए बिना न रहते। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाण स्वतन्त्रभावसे किसी आचार्यके समयके साधक या बाधक नहीं होते फिर भी अन्य प्रबल प्रमाणोंके प्रकाशमें इन्हे प्रसङ्गसाधनके रूपमें तो उपस्थित किया ही जा सकता है। यही अधिक सभव है कि वादिराज और प्रभाचन्द्र समकालीन और सम-व्यक्तित्वशाली रहे हैं अत वादिराजने अन्य आचार्योंके साथ प्रभाचन्द्रका उल्लेख नहीं किया है।

अब हम प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधिके नियामक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं–

१–ईसाकी चौदहवीं शताब्दीके विद्वान् अभिनवधर्मभूषणने न्यायदीपिका (पृ० १६) में प्रमेयकमलमार्तण्डका उल्लेख किया है। इन्होंने अपनी न्यायदीपिका वि० स० १४४२ (ई० १३८५) में बनाई थी*। ईसाकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् मल्लिषेणने अपनी स्याद्वादमञ्जरी (रचना समय ई० १२९३) में न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख किया है। ईसाकी १२ वी शताब्दीके विद्वान् आ० मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्तिटीका (पृ० ३७१ A) में लघीयस्त्रयकी एक कारिकाका व्याख्यान करते हुए 'टीकाकारके' नामसे न्यायकुमुदचन्द्रमें की गई उक्त कारिकाकी व्याख्या उद्धृतकी है। ईसाकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् देवभद्रने न्यायावतार-टीकाटिप्पण (पृ० २१,७९) में प्रभाचन्द्र और उनके न्यायकुमुदचन्द्रका नामोल्लेख किया है। अत इन १२ वीं शताब्दी तकके विद्वानों के उल्लेखों के आधारसे यह प्रामाणिकरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र ई० १२ वीं शताब्दीके बाद के विद्वान् नहीं है।

२–रत्नकरण्डश्रावकाचार और समाधितन्त्र पर प्रभाचन्द्रकृत टीकाएँ उपलब्ध हैं। प० जुगलकिशोर जी मुख्तार †ने इन दोनों टीकाओंको एक ही प्रभाचन्द्रके द्वारा रची हुई सिद्ध किया है। आपके मतसे ये प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके रचयितासे भिन्न हैं। रत्नकरण्ड-टीकाका उल्लेख प० आशाधरजी द्वारा अनागारधर्मामृत टीका (अ० ८ श्लो० ९३) में किये जाने के कारण इस टीकाका रचना काल वि० स० १३०० से पहिलेका अनुमान किया गया है, क्योंकि अनागारधर्मामृत टीका वि० स० १३०० में बनकर समाप्त हुइ थी। अन्तत मुख्तारसा० इस टीकाका रचनाकाल विक्रमकी १३ वीं शताब्दीका मध्यभाग मानते हैं। अस्तु, मुख्तारसा० के निर्णयके अनुसार इसका रचनाकाल वि० १२५० (ई० ११९३) ही मान कर प्रस्तुत विचार करते हैं।

रत्नकरण्डश्रावकाचार (पृ० ६) में केवलिकवलाहारके खण्डनमें न्यायकुमुदचन्द्रगत शब्दावलीका पूरा पूरा अनुसरण करके लिखा है कि–"तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चत प्ररूपणात्।" इसी तरह समाधितन्त्र टीका (पृ० १८) में लिखा है कि–"ये पुनर्योगसाख्यै मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरत प्रत्याख्याता।" इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि प्रमेयकमलमार्तण्ड और

* स्वामी समन्तभद्र पृ० २२७। † रत्नकरण्डश्रावकाचार भूमिका पृ० ६६ से।

न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ इन टीकाओंसे पहिले रचे गए हैं। अतः प्रभाचन्द्र ईसा की १२ वीं शताब्दीके बादके विद्वान् नहीं हैं।

३–वादिदेवसूरिका जन्म वि० सं० ११४३ तथा स्वर्गवास वि० सं० १२२२ में हुआ था। ये वि० सं० ११७४ में आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। संभव है इन्होंने वि० सं० ११७५ (ई० १११८) के लगभग अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ स्याद्वादरत्नाकरकी रचना की होगी। स्याद्वादरत्नाकरमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका न केवल शब्दार्थानुसरण ही किया गया है किन्तु कवलाहारसमर्थन प्रकरणमें तथा प्रतिबिम्ब चर्चामें प्रभाचन्द्र और प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका नामोल्लेख करके खंडन भी किया गया है। अतः प्रभाचन्द्रके समयकी उत्तरावधि अन्ततः ई० ११०० सुनिश्चित हो जाती है।

४–जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठ पर श्रुतकीर्तिने पञ्चवस्तुप्रक्रिया बनाई है[1]। श्रुतकीर्ति कनड़ीचन्द्रप्रभचरित्रके कर्ता अग्गलकविके गुरु थे। अग्गलकविने शक १०११, ई० १०८९ में चन्द्रप्रभचरित्र पूर्ण किया था। अतः श्रुतकीर्तिका समय भी लगभग ई० १०७५ होना चाहिए। इन्होंने अपनी प्रक्रियामें एक न्यास ग्रन्थका उल्लेख किया है। संभव है कि यह प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्कर नामका ही न्यास हो। यदि ऐसा है तो प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि ई० १०७५ मानी जा सकती है। शिमोगा जिलेके शिलालेख नं० ४६ से ज्ञात होता है कि पूज्यपादने भी जैनेन्द्रन्यासकी रचना की थी। यदि श्रुतकीर्तिने न्यास पदसे पूज्यपादकृत न्यासका निर्देश किया है तब 'टीकामाल' शब्दसे सूचित होनेवाली टीकाकी मालामें तो प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करको पिरोया ही जा सकता है। इस तरह प्रभाचन्द्रके पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती उल्लेखोंके आधारसे हम प्रभाचन्द्रका समय सन् ९८० से १०६५ तक निश्चित कर सकते हैं। इन्हीं उल्लेखोंके प्रकाशमें जब हम प्रमेयकमलमार्त्तण्डके 'श्री भोजदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेख तथा न्यायकुमुदचन्द्रके 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्ति लेखको देखते हैं तो वे अत्यन्त प्रामाणिक मालूम होते हैं। उन्हें किसी टीकाटिप्पणकारका या किसी अन्य व्यक्तिका करतब कहकर नहीं टाला जा सकता।

उपर्युक्त विवेचनसे प्रभाचन्द्रके समयकी पूर्वावधि और उत्तरावधि करीब करीब भोजदेव और जयसिंह देवके समय तक ही आती है। अतः प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें पाए जाने वाले प्रशस्ति लेखोंकी प्रामाणिकता और प्रभाचन्द्रकर्तृतामें सन्देहको कोई स्थान नहीं रहता। इसलिए प्रभाचन्द्रका समय ई० ९८० से १०६५ तक माननेमें कोई बाधा नहीं है*।

१ देखो–इसी प्रस्तावनाका 'श्रुतकीर्ति और प्रभाचन्द्र' प्रक० पृ० ३६।

* प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथमसंस्करणके सम्पादक पं० बंशीधरजी शास्त्री सोलापुरने उक्त संस्करणके उपोद्घातमें 'श्रीभोजदेवराज्ये' प्रशस्तिके अनुसार प्रभाचन्द्रका समय ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सूचित किया है। और आपने इसके समर्थनके लिए नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकी गाथाओंका प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें उद्धृत होना यह प्रमाण उपस्थित किया है। पर आपका यह प्रमाण अभ्रान्त नहीं है, प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें 'विग्गहगइमावण्णा' और 'लोयायासपएसे' गाथाएँ उद्धृत हैं। पर ये गाथाएँ नेमिचन्द्रकृत नहीं हैं। पहिली

§ ३. प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ—

आ० प्रभाचन्द्रके जितने ग्रन्थोंका अभी तक अन्वेषण किया गया है उनमें कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं तथा कुछ व्याख्यात्मक। उनके प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुखव्याख्या), न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय व्याख्या), तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण (सर्वार्थसिद्धि व्याख्या), और शाकटायनन्यास (शाकटायनव्याकरणव्याख्या) इन चार ग्रन्थोंका परिचय इसी ग्रन्थके प्रथमभागकी प्रस्तावनामें दिया जा चुका है। यहाँ उनके शब्दाम्भोजभास्कर (जैनेन्द्रव्याकरण महान्यास) और प्रवचनसारसरोजभास्कर (प्रवचनसारटीका) का परिचय दिया जाता है। गद्यकथाकोश, महापुराणटिप्पण आदि भी इन्हींके ग्रन्थ हैं। इस परिचयके पहिले हम 'शाकटायनन्यास' के कर्तृत्व पर विचार करते हैं—

भाई पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने शिलालेख तथा किंवदन्तियोंके आधारसे शाकटायनन्यासको प्रभाचन्द्रकृत लिखा है§। शिमोगा जिलेके नगरताल्लुकेके शिलालेख नं० ४६ (एपि० कर्णा० पु० ८ भा० २ पृ० २६६-२७३) में प्रभाचन्द्रकी प्रशंसापरक ये दो श्लोक हैं—

"माणिक्यनन्दिजिनराजवाणीप्राणाधिनाथः परवादिमर्दी।
चित्रं प्रभाचन्द्र इह क्षमायां मार्तण्डवृद्धौ नितरां व्यदीपित ॥
*सुखि न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नमः।
शाकटायनकृत्सूत्रन्यासकर्त्रे व्रतीन्दवे ॥"

जैनसिद्धान्तभवन आरामें वर्धमानमुनिकृत दशभक्त्यादिमहाशास्त्र है। उसमें भी ये श्लोक हैं। उनमें 'सुखि ' की जगह 'सुखीशो' तथा 'व्रतीन्दवे' के स्थानमें 'प्रभेन्दवे' पाठ है।

गाथा धवलाटीका (रचनाकाल ई० ८१६) में उद्धृत है और उमास्वातिकृत श्रावकप्रज्ञप्तिमें भी पाई जाती है। दूसरी गाथा पूज्यपाद (ई० ६ वीं) कृत सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत है। अतः इन प्राचीन गाथाओंको नेमिचन्द्रकृत नहीं माना जा सकता। अवश्य ही इन्हें नेमिचन्द्रने जीवकाण्ड और द्रव्यसंग्रहमें संगृहीत किया है। अतः इन गाथाओंका उद्धृत होना ही प्रभाचन्द्रके समयको ११ वीं सदी नहीं साध सकता।

§ न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना पृ० १२५।

* इस शिलालेखके अनुवादमें राइस सा० ने आ० पूज्यपादको ही न्यायकुमुदचन्द्रोदय और शाकटायनन्यासका कर्ता लिख दिया है। यह गलती आपसे इसलिये हुई कि इस श्लोकके बाद ही पूज्यपादकी प्रशंसा करनेवाला एक श्लोक है, उसका अन्वय आपने भूलमें "सुखि' इत्यादि श्लोकके साथ कर दिया है। वह श्लोक यह है—

"न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपाद—
स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः ॥'

थोड़ा सा सावधानीसे विचार करने पर यह स्पष्ट मालूम होना जाता है कि 'सुखि' इत्यादि श्लोकके अनुरूप पदोंका 'न्यास' वाले श्लोकसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ब्र० शीतलप्रसादजीने 'मद्रास और मैसूरप्रान्तके स्मारक' में तथा प्रो० हीरालालजीने 'जैनशिलालेख संग्रह' की भूमिका (पृ० १४१) में भी राइस सा० का अनुसरण करके इसी गलतीको दुहराया है।

यह शिलालेख १६ वीं शताब्दीका है और वर्धमानमुनिका समय भी १६ वीं शताब्दी ही है। शाकटायनन्यासके प्रथम दो अध्यायोंकी प्रतिलिपि स्याद्वादविद्यालयके सरस्वतीभवनमें मौजूद है। उसको सरसरी तौर से पलटने पर मुझे इसके प्रभाचन्द्रकृत होनेमें निम्नलिखित कारणों से सन्देह उत्पन्न हुआ है–

१–इस ग्रन्थमें मंगलश्लोक नहीं है जब कि प्रभाचन्द्र अपने प्रत्येक ग्रन्थमें मंगलाचरण नियमित रूपसे करते हैं§।

२–सन्धियोंके अन्तमें तथा ग्रन्थमें कहीं भी प्रभाचन्द्रका नामोल्लेख नहीं है जब कि प्रभाचन्द्र अपने प्रत्येक ग्रन्थमें 'इति प्रभाचन्द्रविरचिते' आदि पुष्पिकालेख या 'प्रभेन्दुर्जिन' आदि रूप से अपना नामोल्लेख करनेमें नहीं चूकते।

३–प्रभाचन्द्र अपनी टीकाओंके प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, शब्दाम्भोजभास्कर आदि नाम रखते हैं जब कि इस ग्रन्थके इन श्लोकोंमें इसका कोई खास नाम सूचित नहीं होता–

"शब्दानां शासनाख्यस्य शास्त्रस्यान्वर्थनामतः।
प्रसिद्धस्य महामोघवृत्तेरपि विशेषतः ॥
सूत्राणां च विवृतिर्लिख्यते च यथामति।
ग्रन्थस्यास्य च न्यासेति (?) क्रियते नामनामतः ॥"

४–शाकटायन यापनीयसंघके आचार्य थे और प्रभाचन्द्र थे कट्टर दिगम्बर। इन्होंने शाकटायनके स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिप्रकरणोंका खण्डन भी किया है। अतः शाकटायनके व्याकरणपर प्रभाचन्द्रके द्वारा न्यास लिखा जाना कुछ समझमें नहीं आता।

५–इस न्यासमें शाकटायनके लिए प्रयुक्त 'संघाधिपति, महाश्रमणसंघप' आदि विशेषणों का समर्थन है। यापनीय आचार्यके इन विशेषणोंके समर्थनकी आशा प्रभाचन्द्र द्वारा नहीं की जा सकती। यथा–

"तदभूतमिदं शास्त्रं चतुरध्यायरूपतः, संघाधिपतिः श्रीमानाचार्यः शाकटायनः॥ महताऽरभते तत्र महाश्रमणसंघपः, श्रमेण शब्दतत्त्वं च विशदं च विशेषतः॥

महाश्रमणसंघाधिपतिरित्यनेन मनः समाधानमाख्यायते। विषयेषु विक्षिप्तचेतसो न मनःसमाधिः असमाहितचेतसश्च किं नाम शास्त्रकरणम्, आचार्य इति तु शब्दविद्याया गुरुत्वं शाकटायन इति अन्वयशुद्धिप्रकर्षं, विशुद्धान्वयो हि शिष्टैरुपलीयते। महाश्रमणसंघाधिपतेः सन्मार्गानुशासनं युक्तमेव"

§ मूडबिद्री में न्यासग्रन्थकी दूसरे अध्यायके चौथे पादके १२४ सूत्र तक की कापी है (नं० A 60) । उसमें निम्नलिखित मंगलश्लोक है–

प्रणम्य जिनं प्राप्तविश्वव्याकरणश्रियं। शब्दानुशासनस्येयं वर्त्तिविवरणोद्यम ॥
अस्मिन् भाष्याणि भाष्यन्ते वनयो वृत्तिमार्गिता। न्यासा न्यस्ता कृता टीका धार पारायणाय ॥
तत्र वना (त्या) शश्वं मंगलश्लोकं श्रीवीरममृतमित्यादि।

परन्तु इन श्लोकोंकी रचनाशैली प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र आदि के मंगलश्लोकोंसे अत्यन्त विलक्षण है।

६–प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें जैनेन्द्रव्याकरणसे ही सूत्रोंके उद्धरण दिए हैं जिसपर उनका शब्दाम्भोजभास्कर न्यास है। यदि शाकटायनपर भी उनका न्यास होता तो वे एकाध स्थानपर तो शाकटायनव्याकरणके सूत्र उद्धृत करते।

७–प्रभाचन्द्र अपने पूर्वग्रन्थोंका उत्तरग्रन्थोंमें प्राय उल्लेख करते हैं। यथा न्यायकुमुदचन्द्रमें तत्पूर्वकालीन प्रमेयकमलमार्त्तण्डका तथा शब्दाम्भोजभास्करमें न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड दोनोंका उल्लेख पाया जाता है। यदि शाकटायनन्यास उन्होंने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके पहिले बनाया होता तो प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिमें शाकटायनव्याकरणके सूत्रों के उद्धरण होते और इस न्यासका उल्लेख भी होता। यदि यह उत्तरकालीन रचना है तो इसमें प्रमेयकमल आदिका उल्लेख होना चाहिये था जैसा कि शब्दाम्भोजभास्करमें देखा जाता है।

८–शब्दाम्भोजभास्करमें प्रभाचन्द्रकी भाषाकी जो प्रसन्नता तथा प्रावाहिकता है वह इस दुरूह न्यासम नहीं देखी जाती। इस शैलीवैचित्र्यसे भी इसके प्रभाचन्द्रकृत होनेमें सन्देह होता है। प्रभाचन्द्रने शब्दाम्भोजभास्कर नामका न्यास बनाया था और इसलिए उनकी न्यासकारके रूपसे भी प्रसिद्धि रही है। मालूम होता कि वर्धमानमुनिने प्रभाचन्द्रकी इसी प्रसिद्धिके आधार से इन्हें शाकटायनन्यासका कर्त्ता लिख दिया है। मुझे तो ऐसा लगता है कि यह न्यास स्वय शाकटायनने ही बनाया होगा। अनेक वैयाकरणोंने अपने ही व्याकरण पर न्यास लिखे हैं।

शब्दाम्भोजभास्कर–श्रवणबेलगोलके शिलालेख न० ४० (६४) में प्रभाचन्द्रके लिये 'शब्दाम्भोजदिवाकर' विशेषण भी दिया गया है। इस अर्थगर्भ विशेषणसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्याकुमुदचन्द्र जैसे प्रथिततर्क ग्रन्थोंके कर्त्ता प्रथिततर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रही शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रव्याकरण महान्यासके रचयिता हैं। ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वतीभवनकी अधूरी प्रतिके आधारसे इसका टुक परिचय यहाँ दिया जाता है। यह प्रति सवत् १९८० में देहलीकी प्रतिसे लिखाई गई है। इसमें जैनेन्द्रव्याकरणके मात्र तीन अध्यायका ही न्यास है सो भी बीचमें जगह जगह त्रुटित है। ३९ से ६७ न० के पत्र इस प्रतिमें नहीं हैं। प्रारम्भके ३८ पत्र किसी दूसरे लेखकने लिखे हैं। पत्रसख्या २२८ है। एक पत्रम १३ से१५ तक पक्तियाँ और एक पक्तिमें ३९ से ४३ तक अक्षर हैं। पत्र बड़ी साइजके हैं। मगलाचरण–

"श्रीपूज्यपादमकलङ्कमनन्तबोधम्, शब्दार्थसशयहर निखिलेषु बोधम्।
सच्छब्दलक्षणमशेषमत प्रसिद्ध वक्ष्ये परिस्फुटमल प्रणिपत्य सिद्धम्॥ १॥
सविस्तर यद् गुरुभि प्रकाशित महामतीनामभिधानलक्षणम्।
मनोहरै स्वल्पपदै प्रकाश्यते महद्भिरुपदिष्टि याति सर्वोपिमार्गे (?)
तदुक्त कृतशिक्ष (?) श्लाघ्यते तद्धि तस्य।
किमुक्तमखिलज्ञैर्मोपमाणे गणेन्द्रो विविक्तमखिलार्थे श्लाघ्यतेऽतो मुनीन्द्रै ॥३॥
शब्दानामनुशासनानि निखिलान्याध्यायताहर्निशम्,
यो यः सारतरो विचारचतुरस्तल्लक्षणाशो गत ।

अनहोनी बात न होकर अधिक सम्भव और निश्चित बात मालूम होती है। (प्रमेय) कमल-मार्त्तण्ड, (न्याय) कुमुदचन्द्र, (शब्द) अम्भोजभास्कर जैसे सुन्दर नामोंकी कल्पिका प्रभाचन्द्रीय बुद्धिने ही (प्रवचनसार) सरोजभास्करका उदय किया है। इस ग्रन्थकी संवत् १५५५ की लिखी हुई जीर्णप्रति हमारे सामने है। यह प्रति ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बईकी है। इसका परिचय संक्षेपमें इस प्रकार है–

पत्रसंख्या ५३, श्लोकसंख्या १७४६, साइज १३×६। एक पत्रमें १२ पंक्तियां तथा एक पंक्तिमें ४२-४३ अक्षर हैं। लिखावट अच्छी और शुद्धप्राय है। प्रारम्भ–

"ओं नमः सर्वज्ञाय शिष्याशय।
वीरं प्रवचनसारं निखिलार्थं निर्मलजनानन्दम्।
वक्ष्ये सुखावबोधं निर्वाणपदं प्रणम्याप्तम्॥

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः सकललोकोपकारकं मोक्षमार्गमध्ययनरुचिविनेयाशयवशेनोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं शास्त्रस्यादौ नमस्कुर्वन्नाह ॥ छ ॥ एस सुरासुर ।"

अन्त–"इति श्रीप्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रवचनसारसरोजभास्करे शुभोपयोगाधिकारः समाप्तः ॥छ॥ संवत् १५५५ वर्षे माघमासे शुक्लपक्षे पूर्णमायां तिथौ गुरुवासरे गिरिपुरे व्या० पुरुषोत्तम लि० ग्रन्थसंख्या षट्चत्वारिंशदधिकानि सप्तदशशतानि ॥१७४६॥"

मध्यकी सन्धियोंका पुष्पिकालेख–"इति श्री प्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रवचनसारसरोजभास्करे " है।

इस टीका में जगह जगह उद्धृत दार्शनिक अवतरण, दार्शनिक व्याख्यापद्धति एवं सरल प्रसन्नशैली इसे न्यायकुमुदचन्द्रादिके रचयिता प्रभाचन्द्रकी कृति सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त हैं। अवतरण–(गा० २।१०) "नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः" (गा० २।२८) "स्वोपात्तकर्मवशाद् भवाद् भवान्तरावाप्तिः संसारः" इनमें दूसरा अवतरण राजवार्तिकका तथा प्रथम किसी बौद्ध ग्रन्थका है। ये दोनों अवतरण प्रमेयकमल० और न्यायकुमु० में भी पाए जाते हैं। इस व्याख्याकी दार्शनिक शैलीके नमूने–

(गा० २।१३) "यदि हि द्रव्यं स्वयं सदात्मकं न स्यात् तदा स्वयमसदात्मकं सत्तातः पृथग्भूतं? तत्राद्यः पक्षो न भवति, यदि सत् सद्रूपं द्रव्यं तदा असद्रूपं ध्रुवं निश्चयेन न तत् भवति। कथं केन प्रकारेण द्रव्यं खरविषाणवत्। हवदि पुणो अण्णं वा। अथ सत्तातः पुनरन्यद्वा पृथग्भूतं द्रव्यं भवति तत्र यत्न पृथग्भूतस्यापि सत्त्वे सत्ताकल्पना व्यर्था। सत्तासम्बन्धात्सत्त्वे चान्योन्याश्रयः–सिद्धे हि तत्सत्त्वे सत्तासम्बन्धसिद्धिः तस्याश्च सम्बन्धसिद्धौ सत्तया तत्सत्त्वसिद्धिरिति। तत्सत्त्वसिद्धिमन्तरेणापि सत्तासम्बन्धे खपुष्पादेरपि तत्प्रसङ्गः। तस्मात् द्रव्यं स्वयं सत्ता स्वयमेव समभ्युपगन्तव्यम्।" (गा० २।१६)
"तथाहि–द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवत्तांस्तान् गुणपर्यायान् गुणपर्यायैर्वा द्रोष्यते द्रुतं वा द्रव्यमिति।

गम्यते उपलभ्यते द्रव्यमनेनेति गुणः। द्रव्यंवा द्रव्यान्तरात् येन विशिष्यते स गुणः। इत्येतस्मादर्थविशेषात् यद् द्रव्यस्य गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेणाभवनं एसो ण्ण हि अतब्भाव ।"
इन गाथाओंकी अमृतचन्द्रीय और जयसेनीय टीकाओंसे इस टीकाकी तुलना करने पर इसकी दार्शनिकप्रसूतता अपने आप झलक मारती है। इस टीकाका जयसेनीयटीका पर प्रभाव है और जयसेनीयटीकासे यह निश्चय ही पूर्वकालीन है।

अमृतचन्द्राचार्यने प्रवचनसारकी जिन ३६ गाथाओंकी व्याख्या नहीं की है प्राय वे गाथाएँ प्रवचनसारसरोजभास्करमें यथास्थान व्याख्यात हैं। जयसेनीयटीकामें प्रभाचन्द्रका अनुसरण करते हुए इन गाथाओंकी व्याख्या की गई है। हाँ, जयसेनीयटीकामें दो तीन गाथाएँ अतिरिक्त भी हैं। इस टीकाका लक्ष्य है गाथाओंका सक्षेपसे खुलासा करना। परन्तु प्रभाचन्द्र प्रारम्भसे ही दर्शनशास्त्रके विशिष्ट अभ्यासी रहे हैं इसलिए जहाँ खास अवसर आया वहाँ उन्होंने सक्षेपसे दार्शनिक मुद्दोंका भी निर्देश किया है।

प्रो० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामें भावत्रिभगीकार श्रुतमुनिके 'सारत्रयनिपुण प्रभाचन्द्र'के उल्लेखसे प्रवचनसारसरोजभास्करके कर्ताका समय १४वीं सदीका प्रारम्भिक भाग सूचित किया है। परन्तु यह सभावना किसी दृढ़ आधार से नहीं की गई है।

जयसेनीय टीकापर इसका प्रभाव होनेसे ये उनसे प्राक्कालीन तो हैं ही। आ० जयसेन अपनी टीका में (पृ० २९) केवलिकवलाहारके खडनका उपसहार करते हुए लिखते हैं कि—"अन्येपि पिण्डशुद्धिकथिता बहवो दोषा ते चान्यत्र तर्कशास्त्रे ज्ञातव्या अत्र चाध्यात्मग्रन्थत्वान्नोच्यन्ते।" सम्भव है यहाँ तर्कशास्त्रसे प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिकी विवक्षा हो। अस्तु, मुझे तो यह सक्षिप्त पर विशदटीका प्रभाचन्द्राचार्यकी प्रारम्भिककृति मालूम होती है।

गद्यकथाकोश—यह ग्रथ भी इन्हीं प्रभाचन्द्रका मालूम होता है। इसकी प्रतिमे ८९ वीं कथाके बाद "श्रीजयसिंहदेवराज्ये" प्रशस्ति है। इसके प्रशस्ति श्लोकोंका प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र आदिके प्रशस्तिश्लोकोंसे पूरा पूरा सादृश्य है। इसका मगलश्लोक यह है—

"प्रणम्य मोक्षप्रदमस्तदोष प्रकृष्टपुण्यप्रभव जिनेन्द्रम्।
वक्ष्येऽत्र भव्यप्रतिबोधनार्थमाराधनासत्सुकथाप्रबन्ध ॥"

८९ वीं कथाके अनन्तर "जयसिंहदेवराज्ये" प्रशस्ति लिखकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया गया है। इसके अनन्तर भी कुछ कथाएँ लिखीं हैं। और अन्तमें "सुकोमलै सर्वसुखावबोधै" श्लोक

१ न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना पृ० १२२—
'मराराध्य चतुर्विधामनुपमामाराधना निर्मलाम्। प्राप्त सर्वसुखास्पद निरुपम स्वर्गापवर्गप्रदा (?)।
तेषां धर्मकथाप्रपञ्चरचनास्वाराधना सस्थिता। स्थयात् कर्मविशुद्धिहेतुरमला चन्द्रार्कतारावधि ॥१॥
सुकोमल सर्वसुखावबोध पद प्रभाचन्द्रकृत प्रबन्ध।
कल्याणकालेऽथ जिनेश्वराणा सुरेन्द्रदन्तीव विराजतेऽसौ ॥२॥
श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपञ्चपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन आराधनासत्कथाप्रबन्ध कृत।"

तथा "इति भट्टारकप्रभाचन्द्रकृत कथाकोश समाप्त" यह पुष्पिकालेख है। इस तरह इसमें दो स्थलों पर ग्रन्थ समाप्तिकी सूचना है जो खासतौरसे विचारणीय है। हो सकता है कि प्रभाचन्द्रने प्रारम्भकी ८९ कथाएँ ही बनाई हों और बादकी कथाएँ किसी दूसरे भट्टारकप्रभाचन्द्रने। अथवा लेखकने भूलसे ८९ वीं कथाके बाद ही ग्रन्थ समाप्तिसूचक पुष्पिकालेख लिख दिया हो। इसको खासतौरसे जाँचे बिना अभी विशेष कुछ कहना शक्य नहीं है।

मेरे विचारसे प्रभाचन्द्रने तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण और प्रवचनसारसरोजभास्कर भोजदेवके राज्यसे पहिले अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें बनाए होंगे। यही कारण है कि उनमें 'भोजदेवराज्ये' या 'जयसिंहदेवराज्ये' कोई प्रशस्ति नहीं पाई जाती और न उन ग्रन्थोंमें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिका उल्लेख ही पाया जाता है। इस तरह हम प्रभाचन्द्रकी ग्रन्थरचनाका क्रम इस प्रकार समझते हैं–तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण, प्रवचनसारसरोजभास्कर, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, शब्दाम्भोजभास्कर, महापुराणटिप्पण और गद्यकथाकोश। श्रीमान् प्रेमीजीने रत्नकरण्ड-

---

१ योगसूत्रपर भोजदेवकी राजमार्त्तण्ड नामक टीका पाई जाती है। संभव है प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और राजमार्त्तण्ड नाम परस्पर प्रभावित हों।

२ पं० जुगलकिशोर जी मुख्तारने रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावनामें रत्नकरण्डश्रावकाचारकी टीका और समाधितन्त्रटीकाको एकही प्रभाचन्द्र द्वारा रचित सिद्ध किया है जो ठीक है। पर आपने इन प्रभाचन्द्रको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रसे भिन्न सिद्ध करनेका जो प्रयत्न किया है वह वस्तुतः दृढ़ प्रमाणों पर अवलम्बित नहीं है। आपके मुख्य प्रमाण हैं कि– प्रभाचन्द्रका आदिपुराणकारने स्मरण किया है इस लिए ये ईसाकी नवमशताब्दीके विद्वान् हैं और इस टीकामें यशस्तिलकचम्पू (ई० ९५९) वसुनन्दिश्रावकाचार (अनुमानतः वि० की १३ वीं शताब्दीका पूर्व भाग) तथा पद्मनन्दि उपासकाचार (अनुमानतः वि० सं० ११८०) के अवतरण उद्धृत पाए जाते हैं इसलिए यह टीका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता प्रभाचन्द्रकी नहीं हो सकती। इनके विषयमें मेरा यह वक्तव्य है कि–जब प्रभाचन्द्रका समय अन्य अनेक पुष्ट प्रमाणोंसे ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध होता है तब यदि ये टीकाएँ भी उन्हीं प्रभाचन्द्रकी हों तो भी इनमें यशस्तिलकचम्पू और नीतिवाक्यामृतके वाक्योंका उद्धृत होना अस्वाभाविक एवं अनैतिहासिक नहीं है। वसुनन्दि और पद्मनन्दिका समय भी विक्रमकी १२ वीं और तेरहवीं सदी अनुमानमात्र है कोई दृढ़ प्रमाण इसके साधक नहीं दिए गए हैं। पद्मनन्दि शुभचन्द्रके शिष्य थे यह बात पद्मनन्दिके ग्रन्थसे तो नहीं मालूम होती। वसुनन्दिका पडिगहमुच्चट्ठाणं गाथा स्वयं उन्हीं की बनाई है या अन्य किसी आचार्यकी यह भी अभी निश्चित नहीं है। पद्मनन्दिश्रावकाचारके प्रभूवाचारण आदि श्लोक भी रत्नकरण्डटीकामें पद्मनन्दिका नाम लेकर उद्धृत नहीं है और न इन श्लोकोंके पहिले 'उक्तं च तथा चोक्तम्' आदि कोई पद ही दिया गया है जिससे इन्हें उद्धृत ही माना जाय। तात्पर्य यह कि मुख्तार सा० ने इन टीकाओंके प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकृत न होने में जो प्रमाण दिए हैं वे दृढ़ नहीं हैं। रत्नकरण्डटीका तथा समाधितन्त्रटीकामें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका एक साथ विशिष्टशैलीसे उल्लेख होना इसकी सूचना करता है कि ये टीकाएँ भी प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकी ही होनी चाहिए। वे उल्लेख इस प्रकार हैं–

तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चेन प्ररूपणात्। –रत्नक० टी० पृ० ६।

ये पुनर्योगसांख्यमुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः। –समाधितन्त्रटी० पृ० १५।

इन दोनों अवतरणोंकी प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करके निम्नलिखित अवतरणसे तुलना करने पर स्पष्ट मालूम हो जाता है कि शब्दाम्भोजभास्करके कर्त्ताने ही उक्त टीकाओंको बनाया है–

टीका, समाधितन्त्रटीका, क्रियाकलापटीका*, आत्मानुशासनतिलक† आदि ग्रन्थोंकी भी प्रभाचन्द्रकृत होनेकी सम्भावना की है, वह खास तौरसे विचारणीय है। यथावसर इन ग्रन्थोंके विषयमें विशेष प्रकाश डाला जायगा। अन्तमें मैं उन सब ग्रन्थकार विद्वानोंके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके ग्रन्थोंसे इस प्रस्तावनामें सहायता मिली है।

फाल्गुन शुक्ल द्वादशी
आष्टाह्निक पर्व
वीर नि० सं० २४६७

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार शास्त्री.
स्याद्वाद विद्यालय काशी

"तत्त्वमस्यवाक्यस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेश्च यथा सिद्ध्यति तथा प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम्।"—शब्दाम्भोजभास्कर।

प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोशमें पाई जानेवाली अञ्जनचोर आदिकी कथाओंसे रत्नकरण्डटीकागत कथाओंका अक्षरशः सादृश्य है। इति।

* क्रियाकलापटीकाकी एक लिखित प्रति बम्बईके सरस्वती भवनमें है। उसके मंगल और प्रशस्ति श्लोक निम्नलिखित हैं—

मंगल— "जिनेन्द्रमुन्मूलितकर्मबन्धं प्रणम्य सन्मार्गकृतस्वरूपम्।
अनन्तबोधादिभवं गुणौघं क्रियाकलापं प्रकटं प्रवक्ष्ये॥"

प्रशस्ति—"वन्दे मोहतमोविनाशनपटुस्त्रैलोक्यदीपप्रभुः, संसृद्धतिसमर्थितस्य निखिलस्नेहस्य सन्शोषकः।
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रकिरणः श्रीपद्मनन्दिप्रभुः तच्छिष्यात्प्रकटार्थतां स्तुतिपदं प्राप्तं प्रभाचन्द्रतः॥१॥
यो रात्रौ दिवसे पथि प्रचरता (?) बोधा यतीनां मुनौ व्योपाला (?) प्रलये सु रमलस्तेषां महादर्शितः।
श्रीमद्वीनमनार्भिभगणधरश्लोकत्रयोद्योतकः, सद्व्यक्तः (?) सकलोऽप्यसौ यतिपनेर्जातः प्रभाचन्द्रतः॥२॥
य (यत्) शब्दात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितोष्ठद्वयम्,
नो वाञ्छाकलितं न दोषमलिनं न श्वासरुद्ध (रुद्ध) क्रमम्।
शान्तामर्षविषय (मपविष) सम पशु (पशु) गणैराकर्णितं कर्णितः,
तद्वत् सर्वविदः प्रणष्टविपदः पायादपूर्वं वचः॥३॥"

इन प्रशस्तिश्लोकोंसे ज्ञात होता है कि जिन प्रभाचन्द्रने क्रियाकलापटीका रची है वे पद्मनन्दि सैद्धान्तिकके शिष्य थे। न्यायकुमुदचन्द्र आदिके कर्ता प्रभाचन्द्र भी पद्मनन्दि सैद्धान्तिकके ही शिष्य थे, अतः क्रियाकलापटीका और प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके कर्ता एक ही प्रभाचन्द्र हैं इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। प्रशस्तिश्लोकोंकी रचनाशैली भी प्रमेयकमल० आदिकी प्रशस्तियोंसे मिलती जुलती है।

† आत्मानुशासनतिलककी प्रति श्री प्रेमीजीने भेजी है। उसका मंगल और प्रशस्ति इस प्रकार है—

मंगल— "वीरं प्रणम्य भववारिनिधिप्रपोतमुद्द्योतिताखिलपदार्थमनल्पपुण्यम्।
निर्वाणमार्गमनवद्यगुणप्रबन्धमात्मानुशासनमहं प्रवरं प्रवक्ष्ये॥"

प्रशस्ति—"मोक्षोपायमनल्पपुण्यममलज्ञानोदयं निर्मलम्। भव्यार्थं परमं प्रभेन्दुकृतिना व्यक्तं प्रसन्नं पदं।
व्याख्यानं वरमात्मशासनमिदं व्यामोहविच्छेदतः। सूक्तार्थेषु कृतादरैरहरहश्चेतस्यलं चिन्त्यताम्॥१॥

इति श्री आत्मानुशासन (नं) तिलकं (कं) प्रभाचन्द्राचार्यविरचितं (तं) सम्पूर्णम्।"

न्यायकुमुदचन्द्रद्वितीयभागस्य विषयानुक्रमः

विषय — पृ०

११ कारिकाव्याख्यानम् ४२७

१२ कारिकाव्याख्यानम् ४३५

—





श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितस्वविवृतियुतलघीयस्त्रयस्य

अलङ्कारभूतः

श्रीपद्मनन्दिप्रभुशिष्य-श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

॥ न्यायकुमुदचन्द्रः ॥

(द्वितीयो विभाग')

[पाठान्तर-अवतरणनिर्देश-ऐतिह्यतुलनार्थबोधकटिप्पणी-परिशिष्टाद्यशुभी राजित]



"श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती ।

अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥"

–शुभचन्द्र

श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

॥ न्या य कु मु द च न्द्रः ॥



[द्वितीयो भागः]



प्रमाणप्रवेशे तृतीयः परोक्षपरिच्छेदः ।

प्रत्यक्षं प्रतिपाद्य लक्षणफलस्वार्थान्वितं तत्त्वतः,
स्पष्टार्थप्रतिपत्तिशून्यमधुना व्याख्यायते तच्छ्रुतम् ।
प्रामाण्यं पुनरस्य यैस्तु कुमतध्वान्ताभिभूतेक्षणैः,
नेष्टं तैरनेनु विप्रकृष्टविषयज्ञानाय दत्तं जलम् ॥१॥

अथेदानीं परोक्षस्वरूपप्ररूपणायाह–

ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाऽऽभिनिबोधिकम् ॥१०॥
प्राङ् नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ।

नमता विद्यानन्दिनमैतिह्याद्येर्निभूष्य सस्त्रियते ।
न्यायकुमुदचन्द्रोत्तरभागः सम्यङ् महेन्द्रेण ॥१॥

(१) अस्पष्टम् । (२) श्रुतस्य । (३) निश्चयेन । (४) अतीन्द्रियज्ञानाय । (५) अनया कारिकया 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्' [तत्त्वार्थसू० १।१३] इति सूत्रार्थः समर्थ्यते । तुलना–'मतिस्मृत्यादयः शब्दयोजनमन्तरेण न भवन्तीत्येकान्तो न यतस्तत्र समीयेरन् । तदेकान्ते पुनर्न क्वचित् स्युः तन्नामस्मृतेरयोगात्, अनवस्थानादेः ।' –सिद्धिवि० पृ० १०० A । अनन्तवीर्यविद्यानन्दाद्याचार्याभिप्रायेण शब्दयोजनात् प्राक्कालभाविनां मतिस्मृत्यादीनां मतिज्ञानेऽन्तर्भावः तदुत्तरकालभाविनां तु तेषां श्रुतेऽन्तर्भाव इति । तथा च तेषां ग्रन्थः–'ननु मत्यादिकं सर्वमभिधानपुरस्सरमेव स्वार्थं प्रत्येति इति शब्दश्रुत एवान्तर्भावोऽस्य, तथा च तच्चिन्तने एवास्य चिन्ता भविष्यतीति पृथगिह चिन्तनमनर्थकमिति चेन्नाह–'शब्दयोजनम्' इत्यादि । मतिस्मृत्यादयः शब्दयोजनमन्तरेण न भवन्ति किन्तु तद्योजने सति भवन्ति इत्येवमेकान्तो न, यत एव एकान्तात् तत्र अन्तर्भाव्येरन् इत्यर्थः । यत इति वा आक्षेपे नैव समीयेरन् । विपक्षे बाधकमाह–तदेकान्त इत्यादि । स चासौ एकान्तश्च तस्मिन् अङ्गीक्रियमाणे पुनः न क्वचित् बहिरन्तर्वा स्युः मतिस्मृत्यादयः । कुत एतदित्यत्राह–तन्नाम इत्यादि । यस्य नाम्नो योजनात् मतिस्मृत्यादयः तत् तन्नाम इत्युच्यते तस्य स्मृतेरयोगात् ।"–सिद्धिवि० टी० पृ० १०० A । "सम्प्रति श्रुतस्वरूपप्रतिपादकमकलङ्कग्रन्थमनुवादपुरस्सरं

---

1 कुमति–आ०, ब० । 2 चाभिनि–ब० । 3–बोधकम ब०, श्र०, –बोधनम मु० लघी० ।

विवृति –अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा, स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य, संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य, चिन्ताऽभिनिबोधस्यानुमानादेः । प्राङ् शब्दयोजनात् शेषं श्रुतज्ञानमनेकप्रभेदम् ।

यत् प्रथमकारिकायां शेषम् अविशदं ज्ञानमित्युक्तम्, तत् किम् ? §श्रुतम् अविस्पष्टतर्कणम्§ "श्रुतमविस्पष्टतर्कणम्" [ ] इत्यभिधानात् । किं

कारिकाव्याख्यानम्–

यत् नामयोजनाज्जायतेऽविशदं ज्ञानं तदेव श्रुतम्, उतान्यदपि ? इत्याह–

प्राङ् नामयोजनात् । नाम अभिधानस्य योजनात् पूर्वमुपजायते यदस्पष्टं ज्ञानं तच्छ्रुतम् नामयोजनाज्जनितार्थाऽस्पष्टज्ञानसाधर्म्यादित्यभिप्रायः । 'चिन्ता च' इत्यत्र चशब्दो भिन्नप्रक्रमः 'शब्दानुयोजनात्' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । तेन न केवलं नामयोजनात् पूर्वं यदस्पष्टं ज्ञानमुपजायते तदेव श्रुतं किन्तु 'शब्दानुयोजनाच्च यदुप-

विचारयति–अत्र प्रचक्षते कश्चिच्छ्रुतं शब्दानुयोजनात् । तत्पूर्वनियमाद्युक्तं नान्यथेष्टविरोधतः ॥ शब्दानुयोजनादेव श्रुतं हि यदि कथ्यते । तदा श्रोत्रमतिज्ञानं न स्यान्नाऽयमतौ भवम् ॥ यद्यनश्चयचस्तपा श्रुतं सांव्यवहारिकम् । स्वेष्टस्य बाधनं न स्यादिति सम्प्रतिपद्यते ॥ 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । इत्यपास्तं निराकृतं तथावक्तौ तादृशेति वा ॥ ज्ञानमाद्यं स्मृतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम् । प्राग्नामसंसृतं शेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥ अत्राकलङ्कदेवाः प्राहुः–ज्ञानमाद्यं स्मृति... तत्र विचार्यते–मतिज्ञानादाद्यादाभिनिबोधिकपर्यन्तात् शेषं श्रुतं शब्दानुयोजनादेवेत्यवधारणम् श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति वा ? यदि श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति पूर्वनियमः तदा न कश्चिद्विरोधः शब्दसमस्पृष्टज्ञानस्य श्रुतज्ञानत्वव्यवच्छेदात् । अथ शब्दानुयोजनादेव श्रुतमिति नियमः तदा श्रोत्रमतिपूर्वकमेव श्रुतं न चक्षुरादिमतिपूर्वकमिति सिद्धान्तविरोधः स्यात् । सांव्यवहारिकं शाब्दं ज्ञानं श्रुतमित्यपेक्षया तथानियमे तु नेष्टबाधास्ति चक्षुरादिमतिपूर्वकस्यापि श्रुतस्य परमार्थतोऽभ्युपगमात् स्वसमयप्रतिपत्तेः । अथवा न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥ इत्येकान्तं निराकर्तुं प्राग्नामयोजनाच्छेषमिष्टं न तु तन्नामसंस्पृष्टमिति व्याख्यानमाकलङ्कमनुसर्तव्यम् । (पृ० २३९ ४०) शब्दानुयोजनात्त्वेषा श्रुतमस्त्वनिवारितम् । सम्भवाभावनिर्णित्यर्थापत्तिस्तथानुमा ॥ नामासंसृष्टरूपा हि मतिरेषा प्रकीर्तिता । नात्र कश्चिद्विरोधोऽस्ति स्याद्वादामृतभोगिनाम् ॥'
–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४३ । अत्र च यत् शब्दसंयोजनात् प्राक् स्मृत्यादिकमविसंवादिव्यवहारनिर्वर्तनक्षमं प्रवर्तते तन्मतिः शब्दसंयोजनात् प्रादुर्भूतं तु सर्वं श्रुतमिति विभागः ।' –सन्मति० टी० पृ० ५५३ । षड्द० बृह० पृ० ८४ B ।

(१) तुलना–'धारणास्वरूपा च मतिः अविसंवादिस्मृतिफलस्य हेतुत्वात् प्रमाणम् स्मृतिरपि तथाभूतप्रत्यवमर्शस्वभावसंज्ञाफलजनकत्वात् संज्ञापि तथाभूततर्कस्वभावचिन्ताफलजनकत्वात्, चिन्तापि अनुमानलक्षणाभिनिबोधफलजनकत्वात् सोऽपि हानादिबुद्धिजनकत्वात् ।' –सन्मति० टी० पृ० ५५३ । षड्द० बृह० पृ० ८४ B । (२) तुलना–'प्राक् शब्दयो...
...प्रभृतिशब्दयोजनादुपजायमानमविशदं ज्ञानं श्रुतमिति केचित् –सन्मति...
पृ० ८४ B (३) उद्धृतमिदम्–सिद्धिवि० टी० पृ० १०१ B
...ष्टतर्कणम् । –तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३७ । न्यायवि० वि० पृ० ५०४ B

1–शब्दज्ञान–आ० । § एतदन्तर्गतः ... , आ० ।
8–योजनाज्जनि–आ० ।

जायते तदपि श्रुतम्' इति संगृहीतं भवति। किं तद् ? इत्याह–'**संज्ञा**' इत्यादि। '**चिन्ता च**' इत्यत्र चशब्दः पुनर्भिन्नप्रक्रमः '**मतिः**' इत्यस्यानन्तरं स्मृतिसमुच्चयार्थो द्रष्टव्यः। तेन स्मृत्यादिविशेषं ज्ञानं श्रुतमित्युक्तं भवति। इन्द्रियप्रभवं मतिज्ञानं तु देशतो वैशद्यसंभवात् सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षमित्युक्तम्। तस्य श्रुतस्य किं कारणम् ? इत्याह–**ज्ञानमाद्यं** कारणम्। किंनाम ? इत्याह–'**मतिः**' इति। नचागमविरोधः, "मतिपूर्वं श्रुतम्" [तत्त्वार्थसू० १।२०] इत्यभिधानात्। '**पूर्वपूर्वप्रमाणत्वे फलं स्यादुत्तरोत्तरम्**' [लघी० का० ७] इत्यनेन अधिकां कारिकां कृत्वा व्याचष्टे–'**अविसंवाद**' इत्यादिना। न विद्यते **विसंवादो** यस्याः सा चासौ **स्मृतिश्च** तस्याः। कथम्भूतायाः ? **फलस्य** फलभूतायाः **हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा** संस्कारः।

स्मरणस्य अप्रामाण्यवादिनां बौद्धादीनां पूर्वपक्षः–

ननु स्मृतेः स्वरूपतो विषयतश्च विचार्यमाणाया अनुपपत्तेः कस्याऽविसंवादः प्राध्येत, तथाहि–स्मृतिशब्दवाच्यस्यार्थस्य स्वरूपं ज्ञाता, ज्ञानं वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः, पूर्वोत्तरज्ञानव्यतिरिक्तस्य ज्ञातुः कस्यचिदप्यसंभवात्। द्वितीयपक्षेऽपि ज्ञानमात्रम्, अनुभूतविषयं वा ज्ञानं तच्छब्दवाच्यं स्यात् ? प्रथमविकल्पे प्रत्यक्षादेरपि स्मृतिरूपताप्रसङ्गात् तद्व्यतिरिक्तप्रत्यक्षादिप्रमाणभेदवार्तोच्छेदः स्यात्। द्वितीयविकल्पेऽपि देवदत्तानुभूतेऽर्थे यज्ञदत्तप्रत्यक्षादिज्ञानस्य स्मृतित्वप्रसक्तिः। अथ येनैव यदेव पूर्वमनुभूतं वस्तु पुनः कालान्तरे तस्यैव तत्रैवोपजायमानं ज्ञानं स्मृतिरित्युच्यते, तदप्युक्तिमात्रम्, धारावाहिप्रत्यक्षस्यापि स्मृतित्वप्रसङ्गात्, उक्तप्रक्रियायास्तत्राप्यविकलत्वात्।

किञ्च, 'अनुभूते' जायमानम्' इत्येतत् केन प्रतीयते–अनुभवेन, स्मृत्या, उभाभ्यां वा ? न तावदनुभवेन, तत्काले स्मृतेरेवाऽसंभवात्। नचाऽसती विषयीकर्तुं शक्या, अतिप्रसङ्गात्। यद् असत् न तत् विषयीकर्तुं शक्यं यथा खरविषाणम्, असती च अनुभवकाले स्मृतिरिति। नचाऽविषयीकृता 'तत्रोपजायते' इति प्रत्येतुं शक्याऽतिप्रसक्तेरेव। यद् यत्र येन न विषयीक्रियते न तस्य 'तत्तत्रोपजायते' इति प्रतीतिर्युक्ता यथा सुप्तेनाऽविषयीकृते नीलसुखादिविषये जाग्रत्स्वरूपप्रत्यये, अनुभवेनाऽविषयीकृता च अतीतार्थे स्मृतिरिति। तन्न अनुभवात्तथाप्रतीतिः। नापि स्मृतेः, अनुभवाऽर्थयोर-

(१) यौग प्राह–आ० टि०। (२) तुलना–'ननु कोऽयं स्मृतिशब्दवाच्योऽर्थः ज्ञानमात्रम्, अनुभूतार्थविषयं वा विज्ञानम् ?' –प्रमेयक० पृ० ३३६। (३) स्मृतिशब्द–आ० टि०। (४) स्मृति–आ० टि०। (५) अनुभूतेऽर्थे–आ० टि०। (६) धारावाहिप्रत्यक्षस्यापि। (७) तुलना–'ननु अनुभूते जायमानमित्येतत् केन प्रतीयताम् ? न तावदनुभवेन, तत्काले स्मृतेरेवासत्त्वात्' –प्रमेयक० पृ० ३३६। (८) प्रत्यक्षेण –आ० टि०। (९) तुलना–"अतीतानुभवार्थयोरविषयीकरणे तथा प्रतीत्ययोगात्।" –प्रमेयक० पृ० ३३६।

1 'च' नास्ति आ०, श्र०। 2–त्यदज्ञानं आ०, श्र०। 3–प्रभवमति–ब०। 4–वाच्यार्थ–ब०। 5 तत्रो–ब०, श्र०।

विषयीकरणे 'अनुभूतेऽहमुत्पन्ना' इत्यनया प्रत्येतुमशक्यत्वात् । यदि च अनुभूतता प्रत्यक्षगम्या स्यात् तदा स्मृतिरपि जानीयात् 'अनुभूतेऽहमुत्पन्ना' इति, अनुभयानुमा रित्वात्तस्याः । न चासौ प्रत्यक्षगम्या, अनुभूयमानतामात्र एव तस्य पर्यवसानात् । नापि स्मृत्यापि तत्प्रतीतिः । नाप्युभाभ्याम्, उभयपक्षोक्तदूषणप्रसङ्गात् । अतः स्मृतिः स्वरूपतो विचार्यमाणाऽनुपपन्ना ।

नापि विषयतः, तस्या हि विषयः अर्थमात्रम्, अनुभूतताविशिष्टो वाऽर्थः ? न तावदर्थमात्रम्, सकलप्रमाणानां स्मृतित्वप्रसङ्गात् । नाप्यनुभूततावशिष्टः, देवदत्तानुभूतेऽर्थे यज्ञदत्तज्ञानस्य धारावाहिविज्ञानस्य च स्मृतित्वप्रसङ्गापादनात् । अनुभूतार्थविषयत्वे चास्याः अप्रामाण्यञ्च स्यात् अविद्यमानविषयत्वात् । यदविद्यमानविषयं न तत् प्रमाणम् यथा केशोण्डुकज्ञानम्, अविद्यमानविषयञ्च अनुभूतार्थविषयतयाऽभिप्रेतं स्मरणज्ञानमिति । तथाविधस्याप्यस्य प्रामाण्ये अतिप्रसङ्गः ।

किञ्च, अर्थक्रियार्थिनामर्थक्रियासमर्थार्थप्रापकं प्रमाणं प्रसिद्धम् । न च स्मृतौ असदर्थविषयत्वेन प्रापकत्वमस्ति, अतः कथमसौ प्रमाणमिति ?

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्–'ज्ञाता ज्ञानं वा' इत्यादि, तदसमीचीनम्, तत्प्रतिविधानपुरस्सरं स्मरणस्य प्रत्यक्षप्रामाण्यव्यवस्थापनम्- ज्ञानस्यैव स्मृतित्वेनाऽनन्यत्वप्रतिज्ञानात् । नैव सर्वस्य ज्ञानस्य स्मृतित्वमनुषज्यते, स्मृतित्वस्य ज्ञानमात्रप्रयुक्तत्वाभावात् । ज्ञानविशेष एव हि संस्कारविशेषप्रभवं तदित्याकारोऽनुभूतार्थविषयं स्मृतिरित्युच्यते । स च इतरज्ञानेभ्यः कारणस्वरूपविषयभेदाद् भिद्यते । तत्र कारणभेद–

(१) स्मृत्या। (२) अनुभूतता –आ० हि०। (३) प्रत्यक्षस्य। (४) अनुभूते जायमानाम्' इति प्रतीतिः। (५) स्मृतिप्रत्यक्षाभ्याम्। (६) अविद्यमानविषयस्यापि स्मरणस्य। (७) तुलना– 'लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयन् सवादक उच्यते तद्ज्ञानमपि स्वयं प्रदर्शितमर्थं प्रापयत्संवादकमुच्यते। प्रदर्शिते चार्थे प्रवर्तकत्वमेव प्रापकत्वं नान्यत्। तथाहि– न ज्ञानं जनयदर्थं प्रापयति अपि तु स्वर्थे पुरुषं प्रवर्तयत्प्रापयत्यर्थम्। प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव न हि पुरुषं हठात् प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम्। अर्थक्रियार्थिभिश्चार्थक्रियासमर्थार्थप्राप्तिनिमित्तं ज्ञानं मृग्यते। यच्च तेमृग्यते तदेव तेन शास्त्रे विचार्यते। ततोऽर्थक्रियासमर्थवस्तुप्रदर्शकं सम्यग्ज्ञानम्।' –न्यायबिन्दुटी० पृ० ५–६। (८) अर्थक्रियासमर्थार्थप्रापकत्वम् (९) पृ०४०५ पं०११। (१०) तुलना– 'आत्मनः सयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः।'–वैशे० सू० ९।२।६। 'अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।'–योगसू० १।११। सांख्यतत्त्वालो० पृ० १६। 'लिङ्गदर्शनेच्छानुस्मरणाद्यपेक्षादात्ममनसोः संयोगविशेषात् पटुाभ्यासादरप्रत्ययजनिताच्च संस्काराद् दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु शेषानुव्यवसायेच्छानुस्मरणद्वेषहेतुरतीतविषया स्मृतिरिति।' –प्रश० भा० पृ० २५६। प्रत्यक्षवद्धि विरोधे तदनुसन्धानविषयं प्रत्ययः स्मृतिः।–न्यायवा० पृ० ३६६ ४३११। स्मृतिरपि इच्छावत् पूर्वज्ञानसदृशं विज्ञानं पूर्वविज्ञानविषयं वा स्मृतिरित्युच्यते।–शाबरभा० पृ० ६५। स्मृतिः पुनः पूर्वविज्ञानसंस्कारमात्रजं ज्ञानमुच्यते।–प्रकरण पं० पृ० ४२। सङ्ग्रहे० पृ० २१। स्मृतिश्च संस्कारमात्रजं ज्ञानमभिधीयते। –शास्त्रदी० पृ० १५३। 'स्मरणं स्मृतिः' –सर्वा

1–प्रमाणम्–श्र । 2 ज्ञानविषय एव आ० ।

स्मृते: पटुतरसंस्कारकारणत्वात्, प्रत्यक्षादीनाञ्च चक्षुरादिहेतुकत्वात्। स्वरूपभेद:– स्मृते: तदित्युल्लेखित्वात्, प्रत्यक्षादीनाञ्च इदमित्याद्युल्लेखित्वात्। विषयभेदोऽपि– स्मृते: अनुभूतार्थगोचरत्वात्, प्रत्यक्षादीनाञ्च वर्त्तमानाद्यर्थविषयत्वात्।

यदप्युक्तम्–'अनुभूते स्मृतिरित्येतन्नानुभवेन स्मृत्योभाभ्यां वा प्रतीयते' इत्यादि, तदप्यनल्पतमोविलसितम्, त्रिकालानुयायिना प्रमात्रा तत्प्रतीतेः कर्त्तुं शक्यत्वात्। पूर्वोत्तरज्ञानव्यतिरिक्तो न कश्चित् प्रमाता, इत्यप्ययुक्तम्, तद्व्यतिरिक्तस्यास्य सन्ताननिषेधावसरे प्रपञ्चतः प्रसाधितत्वात्। नन्वेवं प्रमातुः प्रत्यक्षेण अर्थेऽनुभूयमानतानुभवे अनुभूतताऽनुभवोऽपि स्यात् तत्सद्भावाऽविशेषात्, तथाच गृहीतग्राहित्वात् स्मृतेर्न प्रामाण्यम्, इत्यप्यसत्, अतीतकालनिबन्धनतया अनुभूयमानताकाले अनुभूततायाः सम्भवाभावात्, प्रमातृसद्भावमात्रस्य तत्प्रतिपत्तिं प्रत्यनङ्गत्वाच्च। स्मृतिसहायो हि प्रमाता अर्थेऽनुभूततां प्रतिपद्यते, प्रत्यक्षसहायस्तु अनुभूयमानतामिति।

एवं कारण-स्वरूप-विषयभेदेन अध्यक्षादिभ्यः स्मृतेर्भेदसम्भवेऽपि अप्रामाण्ये कारणं वक्तव्यम्–तच्च गृहीतग्राहित्वम्, परिच्छित्तिविशेषाभावः, असत्यतीतार्थे प्रवर्त्त-

---

पसि० १।१३। "तदेवेन्द्रियैः परिच्छिन्नो विषयो रूपादिस्तं यतः कालान्तरेण विनष्टमपि स्मरति तत् स्मृतिज्ञानम्। अतीतवस्त्वालम्बनमेकवस्तु चेतसः परिणतिस्वभावं मनोज्ञानमिति यावत्।"–स्याद्वाद भाष्यव्या० १।१३। "संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिरिति"–परीक्षामु० ३।३। प्रमाणमी० १।२।३। "तदित्याकाराऽनुभूतार्थविषया स्मृति"–प्रमाणप० पृ० ६९। "स्मृतिश्च वितथलक्षणा।"–जैन तर्कवा० व० प० ९९। "तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं संवेदनं स्मरणम्।"–प्रमाणनय० ३।१। षड्द० बृह० पृ० ८४B। "अनुभवमात्रजन्यं ज्ञानं स्मरणम्।"–अनन्तभा० पृ० ८।

(१) तुलना–"प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः।"–न्यायसू० ३।२।४३। (२) पृ० ४०५ पं० १९। (३) पूर्वोत्तरज्ञानव्यतिरिक्तस्य प्रमातुः। (४) पृ० ९–। (५) तुलना–'न च प्रत्यक्षेणानुभूयमानतानुभवः "–प्रमेयक० पृ० ३३६। (६) प्रमातृसद्भाव। (७) अनुभूतताप्रतिपत्तिम्। (८) तुलना–"अमुष्याप्रामाण्यं हि अन्ये मन्यन्ते–किं गृहीतार्थग्राहित्वात्, परिच्छित्तिविशेषाभावात्, असत्यतीतेऽर्थे प्रवर्त्तमानत्वात्, अर्थादनुत्पद्यमानत्वात्, विसंवादकत्वात् समारोपाव्यवच्छेदकत्वात्, प्रयोजनाप्रसाधकत्वाद्वा ?"–स्या० र० पृ० ४८६। (९) "पारतन्त्र्यात्स्वतो नैषा प्रमाणत्वावधारणा। अप्रामाण्यविकल्पस्तु द्रढिम्नैव विहन्यते ॥ पूर्वविज्ञानविषयं विज्ञानं स्मृतिरुच्यते। पूर्वज्ञानाद्विना तस्याः प्रामाण्यं नावधार्यते ॥"–तन्त्रवा० १।३।१। "तत्र यत्पूर्वविज्ञानं तस्य प्रामाण्यमिष्यते। तदुपस्थानमात्रेण स्मृतेः स्याच्चरितार्थता ॥"–मी० श्लो० पृ० १९६। "प्रमिते च प्रवृत्तत्वात् स्मृतेर्नास्ति प्रमाणता।"–मी० श्लो० नाऽभावपरि० श्लो० १०४। गृहीतग्रहणान्नेष्टं सांवृतं "–प्रमाणवा० १।५। "यद् गृहीतग्राहि न तत्प्रमाणं यथा स्मृतिः।"–तत्त्वसं० पं० पृ० ३८८। "न प्रमाणं स्मृतिः पूर्वप्रतिपत्तिव्यपेक्षणात्। स्मर्यते हि तदित्युत्पद्यमाना प्राची

---

1 इदमित्युल्ले–ब०। 2 प्रमाता ब०। 3–भवत्यनुभवोऽपि आ०। 4 गृहीतग्राहि–ब०। 5–स्मर्तीत्यर्थं ब०।

मानत्वम्, अर्थादनुत्पद्यमानत्वम्, विसंवादकत्वम्, समारोपाव्यवच्छेदकत्वम्, प्रयोजनाप्रसाधकत्वं वा स्यात् ? प्रथमपक्षे कस्य गृहीतस्यार्थस्य स्मृत्या ग्रहणम्–ज्ञानस्य, ज्ञेयस्य, ज्ञानविशिष्टस्य ज्ञेयस्य, तद्विशिष्टस्य वा ज्ञानस्य ? न तावज्ज्ञानस्य, तद्व्यतिरिक्तज्ञेयस्य स्मृतौ प्रतिभासनात्। अथ ज्ञेयस्य, अस्तु नामैतत्, तथापि अधिगतार्थाधिगममात्रेण स्मृतेर्नाऽप्रामाण्यम्, अनुमानेनाधिगतेऽग्नौ तदुत्तरकालभाविनोऽध्यक्षस्याप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात्, प्रत्यभिज्ञानाऽनुमानयोरपि येनचिदंशेन अधिगतार्थाधिगमसंभवेन अप्रामाण्यप्रसङ्गाच्च। अथ अधिगताधिगमेऽप्यत्र अपूर्वस्याप्यर्थांशस्याऽधिगमसंभवात् प्रामाण्यम्, कथमेव स्मृतेरप्रामाण्यं तत्रापि हि वर्त्तमानकालावच्छेदेनाऽधिगतस्यार्थस्य अतीतकालावच्छेदेनाऽधिगतेरपूर्वार्थांशाधिगमोपपत्तेः ? प्रयोगः स्मृतिः प्रमाणम्, प्रमाणान्तरप्रति-

प्रतीतिमनपेक्षमाणा न स्वात्मलाभाय परिच्छिन्नत्ताति न प्रमाणम्। –प्रकरणपं० पृ० ४२। तन्त्ररह० पृ० २। "न च स्मृतिः प्रमा, लोकाधीनावधारणा हि शब्दार्थसम्बन्धः। लोकश्च संस्कारमात्रजन्मनः स्मरणस्यानुपपत्तिधर्मवत्यभिचारिणः प्रमामाचष्टे।'–न्यायवा० ता० पृ० २१। "न्यायकुसु० ४।१। "अत एव न प्रमाणं तस्याः पूर्वानुभवविषयत्वोपदर्शनेनाथ निश्चितत्वात् अर्थपरिच्छेदे पूर्वानुभवपारतन्त्र्यात्।"–प्रश० कन्द० पृ० २५७। (१०) 'एतदुक्तं भवति–सर्वे प्रमाणादयोऽनधिगतमर्थं सामान्यतः प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति, स्मृतिः पुनर्न पूर्वानुभवमर्यादामतिक्रामति तद्विषया वा तदूनविषया वा न तु तदधिकविषया।"–योगसू० तत्त्ववै० १।११।

(१) जैनतर्कवार्त्तिककारा हि अर्थाविनाभावाभावात्स्मरणस्याप्रामाण्यं स्वीकुर्वन्ति, तथाहि–एवं प्रयत्न वार्त्तिककारः–अर्थाविनाभाविन एव ज्ञानस्य प्रामाण्यमुचितं न स्मृतेः अर्थमन्तरेणापि तस्या भावात्। प्रत्यक्षादेस्तु अव्यभिचारनिमित्ताभिज्ञानात् कस्यचिद् व्यभिचारेऽपि न दोषः, नत्वेवं स्मृतेरव्यभिचारनिमित्तमस्ति। अथ स्मृतेस्तु पूर्वप्रत्यक्षफलत्वान्न पृथक् प्रामाण्यम्।"–जैनतर्कवा० व०पृ० ९९। (२) नार्थात् भावस्तदभावात्"–प्रमाणवा० २।३७५। अनुभवादुत्पद्यमाना स्मृतिरर्थमन्तरेण भवन्ती कथं नीलाद्याकारा ?' –प्रमाणवार्त्तिकाल० मनोरथ० २।३७५। 'अर्थादजन्यमेव स्मृतं कस्मान्नेष्यते ? अर्थविनाऽप्युत्पादात्। न च यद्देशकालालिङ्गितमनुभवज्ञानमुत्पन्नं तदालम्बनमेव ग्राह्यम्। स्मृतिकाले तस्याविद्यमानतया विषयत्वाभावात्। बाह्येन्द्रियाणां च स्मृतिजन्मनि प्रत्यक्षं व्यभिचारादन्तःकरणस्य व्यापारो निश्चीयते। न च तस्य स्वातन्त्र्येण बहिर्विषये व्यापारः सम्भवतीत्यनर्थजत्वमेव ग्राह्यम् तस्मान्निर्विषयत्वमेव।' –प्रश० व्यो० पृ० ६२१। न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम्। अपि त्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम् ॥ अनुभवजन्या स्मृतिः ? तदालम्बस्य वस्तुनस्तदानीमसत्त्वात्।" –न्यायम० पृ० २३। (३) कस्मात् स्मरणज्ञानमप्रमाणमिति चेत् ? रज्जुसर्पाभिज्ञानवत् भ्रान्तत्वादिति ब्रूमः। –न्यायसारटी० पृ० ६८। (४) तुलना– गृहीतग्रहणात्तत्र न स्मृतश्चेत्प्रमाणता। धारावाह्यक्षविज्ञानस्यैवं लभ्येत केन सा ॥ विशिष्टस्योपयोगस्याभावे सापि चेन्मता। तदभावे स्मरणेऽप्यक्षज्ञानवन्मानतास्तु नः ॥ स्मृत्या स्वार्थं परिच्छिद्य प्रवृत्तौ न च बाध्यते। येन प्रेक्षावतां तस्याः प्रवृत्तिर्विनिवार्यते ॥" –तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८९। (५) नयविशिष्टस्य–आ० टि०। (६) ज्ञानव्यतिरिक्त। (७) तुलना– अनुमानेनाधिगते वह्नौ तदुत्तरकालभाविनः प्रत्यक्षस्याप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात्' –स्या० र० पृ० ४८६। प्रमेयक० पृ० ३३७। (८) प्रत्यभिज्ञानानुमानयोः। (९) प्रत्यक्षादि।

1 अर्थाद्यन–व०। 2–नासाध–व०। 3–रिक्तस्य ज्ञेयस्य श्र०। 4–धिगमप्रभवेन आ० श्र०। 5–प्यनुषङ्गाच्च व। 6–अथ अर्थाधिगमे–आ० श्र०। 7–पूर्वांशाधि–व।

परिच्छिन्नेऽप्यर्थे प्रवर्तमानत्वेनाऽपूर्वार्थपरिच्छेदकत्वात्, यत्तथाविधं तदप्रमाणम्, यथा अनु-मानाधिगतार्थे प्रत्यक्षादि, तथा च स्मरणम्, तस्मात् प्रमाणमिति।

एतेनैव ज्ञानविशिष्टार्थपक्षोऽप्यपास्तः, अत्र प्रामाण्यस्य अत्राप्युपपत्तेः। किञ्चेदं ज्ञेयस्य ज्ञानविशिष्टत्वं नाम–तत्र संयोगः, समवायः, विशेषणीभावो वा? तत्र आद्य-पक्षद्वयानुपपत्तिः, ज्ञेये ज्ञानस्याऽऽत्मनया संयोगाऽसम्भवात्, आत्मनि समवेततया च समवायस्याप्यनुपपत्तेः। तदभावे विशेषणीभावोऽपि दुर्घटः, तस्य तत्पूर्वकत्वात्। न खलु दण्डपुरुषयोः संयोगादिसम्बन्धानपेक्षस्तद्भावो दृष्टः। ज्ञेयविशिष्टज्ञानस्य तु न युक्तं, तेषां ज्ञानस्य स्मृतौ स्वप्नेऽप्यभावात्। नहि ज्ञानं निर्विशेषणं सविशेषणं वा स्मृतौ प्रतिभासमानं किञ्चिदस्ति, यदि परं तु एष तत्र प्रतिभाति प्रतिभासप्रतीतिः। तत्र दृष्टत्वादित्वात् स्मृतेरप्रामाण्यम्।

नापि परिच्छित्तिविशेषाभावात्, निर्णीतत्वात्मकत्वादी तस्याविशेषसद्भावात्।

नापि अर्थसंवादिनार्थे प्रवर्तमानत्वात्, यतोऽतीतस्यार्थस्य स्मरणेऽसत्त्वम्, स्मृति-काले वा? न तावत् स्मरणे, तत्र तस्य विद्यमानत्वात्। स्मृतिकाले तु तदभावात् अर्थस्य नास्त्यार्थस्य प्रत्यक्षस्य, प्रत्यक्षस्यापि अप्रामाण्यप्रसङ्गे, तत्काले तद्भावस्याप्यत्राऽ-विशेषात्। नहि प्रत्यक्षप्रमाणोऽर्थः प्रत्यक्षकाले सौगतैः सर्वेनाऽभ्युपगम्यते।

"भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।

हेतुत्वमेव युक्तिज्ञाः ज्ञानाकारार्पणक्षमम्॥" [प्रमाणवा० ३।२४७]

इत्यत्र विरोधानुषङ्गात्। अत एव तत्कालतायामपि प्रवर्तनादप्रामाण्यं स्यात्।

(१) [illegible] । (२) [illegible] । (३) [illegible] । (४) [illegible] । (५) [illegible] । (६) [illegible] । (७) [illegible] । (८) [illegible] । (९) [illegible] । (१०) [illegible] । (११) [illegible] । (१२) [illegible]

[illegible]

अर्थानुत्पद्यमानत्वञ्च[1] अध्यक्षेऽप्यविशिष्टम्, ज्ञानं प्रति अर्थे कारणत्वस्य निराकरिष्यमाणत्वात्।

विसंवादकत्वञ्च स्मृतेरसिद्धम्, स्वप्रतिपन्नेऽर्थे अविसंवादकत्वात्तस्याः[2]। यत्राऽविसंवादकं तत्तत्र प्रमाणम् यथा प्रत्यक्षाद्यर्थे प्रत्यक्षादि, अविसंवादिका च स्वप्रतिपन्नेऽर्थे स्मृतिरिति। [3]अविसंवादो हि गृहीतेऽर्थे प्राप्तिः, प्रमाणान्तरप्रवृत्तिर्वा स्यात्। स द्विविधोऽपि स्मृतिप्रतिपन्ने स्वयंधृतद्रव्याद्यर्थेऽस्त्येव। यत्र तु विसंवादः सा स्मृत्याभासा प्रत्यक्षाद्याभासवत्[4]।

समारोपाव्यवच्छेदकत्वान्न स्मृतिः प्रमाणम्, इत्यप्यसमीचीनम्, तद्गृहीतेऽर्थे विपरीतारोपानुप्रवेशतः तद्व्यवच्छेदसम्भवात्। यत् समारोपव्यवच्छेदकं तत् प्रमाणम् यथा अनुमानम्, समारोपव्यवच्छेदिका च स्वप्रतिपन्नेऽर्थे स्मृतिरिति[5]।

प्रयोजनाप्रसाधकत्वात् स्मृतेरप्रामाण्यम्, इत्यप्यसुन्दरम्, अनुमानप्रवृत्तिलक्षणस्य तत्साध्य[6]प्रयोजनस्य सद्भावात्। तद्धि[7] साध्यप्रतिबद्धहेतो[8] प्रवर्तते। साध्यप्रतिबन्धश्च[9] सत्तामात्रेण तत्प्रवृत्तेरङ्गम्[10], परिज्ञातं सन्, स्मृतिकोटीकृतो[11] वा? प्रथमपक्षे [12]नालिकेरद्वीपायातस्य अप्रतिपन्नाग्निधूमसम्बन्धस्यापि धूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिः स्यात्। द्वितीयपक्षे तु

(१) तुलना–"अर्थानुत्पद्यमानत्वञ्च स्मरणस्यासिद्धम् स्वविषयभूतादर्थादुत्पद्यमानत्वात्।"–स्या० र० पृ० ४८७। (२) तुलना–"प्रमाणमविसंवादात् मिथ्या तद्विपर्ययात्। गृहीतग्रहणान्नो चेन्न प्रयोजनभेदतः॥ प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यमविसंवादात् न पुनरर्थानुकारित्वादतिप्रसंगात्। स पुनरनुभूतस्मर्तेऽपि स्यात् प्रामाण्यं स्मर्यते। सविकल्पेऽनधिगतार्थव्यवसायाभावादयुक्तमिति चेन्न, प्रयोजनविशेषात् क्वचित्सादृश्याकारभेदेऽपि तथैव प्रामाण्याविरोधात्। अन्यथा क्षणिकभेदेन अनधिगतार्थाधिगतेरपि अयत्नेन प्रमाणताऽभ्युपगमात्। साध्यसाधनयोर्व्याप्तिः पूर्वं चेदस्मृतिरिन्द्रियादिनी। अनुमेयस्मृतिसिद्धा न प्रमाणविप्लवः॥"–सिद्धिवि० टी० पृ० १४६ B. प्रमाणसं० पृ० ९९। 'सा च प्रमाणमविसंवादित्वात् प्रत्यक्षवत्।'–प्रमाणप० पृ० ६९। प्रमेयक० पृ० ३३७। सन्मति० टी० पृ० ५५३। स्या० र० पृ० ४८७। प्रमेयर० पृ० ३१। प्रमाणमी० पृ० ३३। पञ्चदी० पृ० १७। जैनतर्कभा० पृ० ९। (३) 'अर्थक्रियास्थितिरविसंवादनम्'–प्रमाणवा० १।३। अविसंवादश्च अर्थानुपाते अर्थाव्यभिचारः।–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० २७३। स चाविसंवादो अर्थक्रियालक्षण एव।–तत्त्वसं० पं० पृ० ७७८। अविसंवादित्वञ्च अभिमतार्थक्रियासमर्थार्थप्रापणशक्तिकत्वं न तु प्रापणमेव प्रतिबन्धसम्भवात्।–तत्त्वसं० पं० पृ० ३९२। (४) तुलना–तस्याश्च प्रामाण्यमुक्तम्, न हि तयाऽर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यते।–सिद्धिवि०, टी० पृ० ३४ A. प्रमेयक० पृ० ३३३। स्या० र० पृ० ४८७। (५) 'समारोपव्यवच्छेदः सम स्मृत्यनुमानयोः। स्वार्थे प्रमाणता तेन नैकस्यापि निवार्यते॥'–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८९। प्रमेयक० पृ० ३३८। स्या० र० पृ० ४८७। (६) स्मृतिसाध्य। (७) अनुमानं हि। (८) साध्याविनाभाविनि। (९) अविनाभावसम्बन्धः। तुलना–लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धः सत्तामात्रेणानुमानप्रवृत्तिहेतुः तद्ज्ञानात् तत्स्मरणाद्वा'–प्रमेयक० पृ० ३३८। 'साध्यप्रतिबन्धश्च हेतोः सत्तामात्रेण अनुमानप्रवृत्तेरङ्गम् परिज्ञातो वा स्मृतिकोटीकृतो वा?'–स्या० र० पृ० ४८८। (१०) अनुमानप्रवृत्तेः। (११) स्मृतिविषयीकृतः। (१२) नालिकेरद्वीपवासिनो हि नालिकेरफलरसं तज्जलञ्च निपीय जीवनं यापयन्ति अतस्ते पाकाद्यनुपयुक्तौ अग्निधूमौ न दृष्टवन्तः।

1 गृहीतार्थे ब०। 2–तत्प्रव–ब०। 3–नासाधक–आ०, श्र०।

बाल्यावस्थायां प्रतिपन्नाग्निधूमसम्बन्धस्य पुनर्वृद्धावस्थायां विस्मृततत्सम्बन्धस्यापि धूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिप्रसङ्ग । तृतीयपक्षे तु कथं स्मृते प्रामाण्यप्रतिषेध अनुमानप्रवृत्तेरङ्गत्वात् [2] यदनुमानप्रवृत्तेरङ्ग तत्प्रमाणं यथा प्रत्यक्षम्, तथा च स्मरणम्, तस्मात् प्रमाणमिति । तदेव स्मृते कारणस्वरूपविषयभेदात् प्रत्यक्षादिभ्यो भेदप्रसिद्धे, स्वविषयेऽविसंवादप्रसिद्धेश्च सूक्तम्–'अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा' इति । तथा स्मृति प्रमाणम् अविसंवादात्संज्ञाया हेतुत्वात् । अस्या पर्यायमाह–प्रत्यवमर्शस्य 'स एवायम्, तेन सदृशोऽयम्' इति वा एकत्वसादृश्याभ्यां पदार्थानां सङ्कलनं प्रत्यवमर्श [3] ।

विरुद्धधर्माध्यासात् कारणाभावाद्विषयाभावतश्च नास्ति प्रत्यभिज्ञानस्य प्रामाण्यमिति बौद्धस्य पूर्वपक्ष –

ननु [4] प्रमाणप्ररूपणावसरे प्रत्यभिज्ञाया प्ररूपणमयुक्तम्, विरुद्धधर्माध्यासत कारणाभावाच्च अस्या स्वरूपस्यैवाऽसम्भवात्, विषयाभावत प्रामाण्यानुपपत्तेश्च । तथाहि–पूर्वं ज्ञातस्य पुन कालान्तरे 'स एवायम्' इत्यादिज्ञानं प्रत्यभिज्ञा । न चास्या एकत्वं युक्तम्, विरुद्धधर्माध्यासात्, यत्र विरुद्धधर्माध्यास न तत्रैक्यम् यथा जलानलादौ, विरुद्धधर्माध्यासश्च प्रत्यभिज्ञायामिति । न चायमसिद्ध, स्पष्टेतररूपाक्रान्ततया

(१) अग्निधूमसम्बन्ध। (२) तुलना–"को हि स्मृतिपूर्वकमनुमानमभ्युपगम्य पुनस्तां निराकुर्यात् अनुमानस्यापि निराकरणानुषङ्गात् ।"–प्रमेयक० पृ० ३३८ । स्या० र० पृ० ४८८ । प्रमेयर० पृ० ३२ । प्रमाणमी० पृ० ३४ । स्या० मं० पृ० २०८ । रत्नाकरा० ३।४। (३) तुलना–"पूर्वमज्ञासिषमथ तमिमं जानामीति ज्ञानयो समानेऽर्थे प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ।" –न्यायभा० ३।२।२। "प्रत्यभिज्ञानं हि नाम आद्यप्रत्ययनिरोधे द्वितीयदर्शने प्रागाहितसंस्काराभिव्यक्तौ स्मृतिपूर्वं तृतीयं दर्शनम् ।"–न्यायवा० पृ० ४०० । 'प्रत्यभिज्ञा नाम स्मर्यमाणानुभूयमानसामानाधिकरण्यग्राहिणी संस्कारसचिवेन्द्रियजन्या प्रतीतिरिति केचित । अन्ये मन्यन्ते स्मर्यमाणपूर्वज्ञानविशेषिताथग्राहित्वात् तद्विशेषणस्य चार्थस्य बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वानुपपत्ते स्तम्भादावपि मानसी प्रत्यभिज्ञेति ।'–न्यायम० पृ० २२४। एतन्मतद्वयमभिमत मञ्जरीकारस्य, द्रष्टव्यम्–न्यायम० पृ० ४६१। "प्रत्यभिज्ञा प्रति आभिमुख्येन ज्ञानम् । लोके हि स एवायं घट इति प्रतिसन्धानेनाभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानं प्रत्यभिजानाति व्यवह्रियते ।"–सवद० पृ० १९३ । 'संज्ञान संज्ञा' –सर्वार्थसि० १।१३ "संज्ञाज्ञानं नाम यत्सर्वेन्द्रियैरनुभूतमर्थं प्राक् पुनर्विलोक्य स एवायं यमहमद्राक्षं पूर्वाह्ण इति संज्ञाज्ञानमेतत ।'–तत्त्वार्थभा० व्या० १।१३। 'दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् । तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि ।'–परीक्षामु० ३।५। प्रमाणप० पृ० ६९। प्रमाणमी० १।२।४। 'अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं सङ्कलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ।'–प्रमाणनय० ३।३। जैनतर्कभा० पृ० ९। (४) बौद्ध प्राह–आ० टि०। (५) "स एवायमिति प्रत्यय उत्पद्यमानोऽनर्थके प्रमाणम् एकत्वस्याग्रहणात् दृष्टस्यात्र तस्य प्रतिपत्त । एकत्वं हि पूर्वेण सह गृह्यमाणमर्थस्य विवादविषयतां स्वीकरोति । वर्तमानतामात्रस्यैकत्वे सिद्धसाधनमेव । तच्च पूर्वं पूर्वप्रत्ययेन गृहीतत्वान्नापरम् । पूर्वप्रत्ययेन चासौ दृष्टपदस्य एव पूर्वतया च गृह्यते । तत पुनरनुसन्धीयमानं यथाभूतं गृहीतं तथाभूतमेव वाऽनुसन्धातव्यम् । गृहीतत्वेन च ग्रहणे स्मरणमेतदिति गृहीतग्राहित्वादप्रमाणमपरस्मरणवत् । संवादस्त्वर्थक्रियावरणात । न चैकत्वसाध्यार्थक्रिया वस्तुसामर्थ्यमात्रादुत्पत्ते । तस्मात् स एवायम् इति

1 यज्ज्ञानमनुमान–ब० । 2–पर्ये चाऽविस–श्र० । 3–चाद्वास्या श्र० । 4 पूर्वज्ञानस्य श्र० । 5–भिज्ञानं नत्वा–ब० ।

तत्र तेऽप्रसिद्धे । तथाहि–'स' इत्याकारः स्मरणरूपतया प्रत्यभिज्ञायामस्पष्टः, 'अयम्' इति चाध्यक्षरूपत्वात् स्पष्टः । न चात्र स्पष्टेतरलक्षणविरुद्धधर्माध्यासेऽप्यभेदो युक्तः, प्रत्यक्षानुमानयोरप्यभेदप्रसक्तेः ।

किञ्च, 'स एवायम्' इत्याकारद्वयं किं तत्र परस्परानुप्रवेशेन प्रतिभासते, अननुप्रवेशेन वा ?[1] प्रथमपक्षे अन्यतराकारस्यैव प्रतिभासः स्यात्, द्वितीयाकारस्य ततोऽविविक्तस्वरूपत्वात्, यद् यतोऽविविक्तस्वरूपं न तत्ततो भेदेन प्रतिभासते यथा तस्यैव स्वरूपम्, एकस्मादाकारादविविक्तस्वरूपञ्च द्वितीयाकारस्वरूपमिति । द्वितीयपक्षे तु परस्परविभिन्नप्रतिभासद्वयप्रसङ्गः, अन्योन्यानुप्रवेशेन आकारद्वयस्यावस्थानात्, ययोः अन्योन्याननुप्रवेशेन अवस्थानं तयोः परस्परविभिन्नप्रतिभासः यथा रूपरसयोः, अन्योन्यानुप्रवेशेनावस्थानञ्च 'स एवायम्' इत्याकारद्वयस्य इति । न च 'प्रतिभासद्वयमेकाधिकरणमेतत्' इत्यभिधातव्यम्, परोक्षापरोक्षाकारयोः प्रतिभासयोरेकाधिकरणत्वानुपपत्तेः, अन्यथा सर्वसंविदामेकाधिकरणत्वप्रसक्तेः पुरुषाद्वैतसिद्धिः स्यात् । ततो विरुद्धधर्माध्यासादनेकमिदं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम् । अतः कथं प्रत्यभिज्ञानसम्भवः ?[5]

कारणाभावाच्च, तथाहि–तत्कारणम् इन्द्रियम्, पूर्वानुभवजनितः संस्कारः, तदुभयं वा ?[4] न तावदिन्द्रियम्, तस्य वर्तमानार्थावभासजनकत्वात् । नापि संस्कारः, तस्य स्मरणकारणत्वात् । नाप्युभयम्, उभयदोषानुषङ्गात् । न च कारणान्तरमुपलभ्यते । तन्न प्रत्यभिज्ञानसम्भवः ।

प्रत्ययद्वयमेतत् ।'–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ५१। 'स इत्यनेन पूर्वकालसम्बन्धी स्वभावो विषयीक्रियते । अयमित्यनेन च वर्तमानकालसम्बन्धी । अनयोश्च भेदो न कथञ्चिदभेदः वर्तमानकालाभाविरूपत्वस्व भावत्वाद्वस्तुनः । तस्माद् भ्रान्त एव प्रत्यभिज्ञाने सति भासते इति कथमनेन क्षणिकत्वानुमानबाधा ? यद्वा वस्तुनः पूर्वकालसम्बन्धित्वमिदानीमसत्त्व पूर्वकालाभावात् । सत्त्वे वास्य वर्तमानकालसम्बन्धित्व मेव स्यान्न पूर्वकालसम्बन्धित्वं विरोधादित्युक्तम् । तस्मात्पूर्वकालसम्बन्धित्वस्यासतो ग्राहकः स इति ज्ञानांशो भ्रान्तः अन्यथा वस्तुनः स्पष्टबालाद्यवस्थाग्राहकः स्यात् न च भवति । तस्मात् भ्रान्तात् पूर्वदृष्टरूपारोपेण स एवायम् इति ज्ञानात् कथमनुमानबाधा ? विस्तरतस्त्वयं प्रत्यभिज्ञाभङ्ग विचारो नैरात्म्यसिद्धौ कृत इति तत्रैवावधार्य ।'–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ७८ । 'तथाहि–घटः स एवायमिति तावत्प्रत्यभिज्ञा जायते । सा किं स्मृत्यनुभवरूपं ज्ञानद्वयम् एकमेव वा विकल्परूपं स्मृतिरथैवानुभवः, उत स्मृतिरेव आहोस्विदनुभव एव ?'–खण्डनखण्ड० पृ० १५६ । (६) प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययो भ्रान्त एव निर्विषयत्वात् । प्रयोगश्चैवं यः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः स तत्त्वतो निरालम्बनः यथा लूनपुनर्जात तृणादिषु प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययश्चायं तदेवेदं नीलादीति प्रत्ययः इति विरुद्धव्याप्त्योपलब्धिः ।'–तर्कभा० मो० पृ० २९ ।

(१) प्रत्यभिज्ञायाम् । (२) विरुद्धधर्माध्यासप्रसिद्धे । (३) प्रत्यभिज्ञायाम् । (४) प्रत्यभिज्ञायाम् । (५) स इत्याकारस्य अयम् इत्याकारस्य वा । (६) किन्तु ज्ञानद्वयमेतत्–स इत्याकारस्य स्मरणरूपत्वात् इदमंशस्य च प्रत्यक्षात्मकत्वादिति भावः ।

1–सिद्ध स इत्या–आ० श्र० । 2–तरविलक्षण–श्र० । 3–यथा स्थाणुपुरुषयो वा, श्र० । 4–र्णमितीन्द्रि–श्र० । 5–ज्ञानसम्भवम् श्र० ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यक्षप्रामाण्यप्रसाधनम् –

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[1]–'विरुद्धधर्माध्यासत' इत्यादि। तत्र किं धर्माणां धर्मिणा सह विरोधः, परस्परं वा? न तावद् धर्मिणा, तत्रैव तेषां प्रतीयमानत्वात्, यद्यत्र प्रतीयते न तत्तत्र विरुद्धम् यथा चित्रज्ञाने नीलाद्याकाराः, प्रतीयते च प्रत्यभिज्ञाने 'स एवायम्' इत्याकारद्वयम्, तस्मान्न तत्तत्र विरुद्धमिति। यत् पुनर्यत्र विरुद्धं न तत्तत्र कदाचिदप्युपलभ्यते, यथा तुरङ्गमोत्तमाङ्गे शृङ्गम्, उपलभ्यते च प्रत्यभिज्ञाने प्रागुक्तमाकारद्वयमिति। तन्न धर्मिणा सह धर्माणां विरोधो युक्तः। परस्परविरोधे तु धर्मिणः[2] किमायातं येनास्य विरुद्धधर्माध्यासाद् भेदः प्रार्थ्येत[3]? धर्माणां हि परस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधसम्भवे तेषामेव अन्योन्यं भेदो युक्तः।

किञ्च, विरुद्धधर्माध्यासतः कारणभूताभ्यां दर्शनस्मरणाकाराभ्यां प्रत्यभिज्ञानस्य भेदः साध्येत, स्वभावभूताभ्यां वा[4]? तत्राद्यपक्षे सिद्धसाधनम्। न खलु 'कारणस्वरूपमेव सर्वथा कार्यस्वरूपम्' इति स्याद्वादिनो मन्यन्ते। द्वितीयपक्षेऽपि कथञ्चित्तद्भेदः साध्येत, सर्वथा वा? यदि कथञ्चित्, तदा सिद्धसाधनमेव, आकारतद्वतोः कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमात्। सर्वथा भेदस्त्वनुपपन्नः, तयोः[5] तत्स्वभावत्वाभावप्रसङ्गात्। यो यत्स्वभावः न तस्य तद्वतः सर्वथा भेदः यथा चित्रज्ञानात् नीलाद्याकारस्य, स्वभावश्च[7] प्रत्यभिज्ञानस्य[8] 'स एवायम्' इत्याकारद्वयमिति। तद्धि प्रत्यक्षस्मरणसामग्रीतः[9] समुपजायमानं क्रोडीकृताऽऽकारद्वयमेवोपजायते चित्रपटादिसामग्रीतः चित्राकारैकज्ञानवत्, प्रत्यक्षादिसामग्रीतो निर्विकल्पेतराकारैकविकल्पवद्वा[10]।

यच्चाप्युक्तम्[11]–'आकारद्वयं किं परस्परानुप्रवेशेन प्रतिभासते' इत्यादि, तत्र कोऽयमस्य अनुप्रवेशो नाम–परस्परस्वरूपसाङ्कर्यम्[12], एकस्मिन्नाधारे वृत्तिर्वा? प्रथमविकल्पोऽ-

(१) पृ० ४११ पं० ८। (२) धर्मिणि। (३) तुलना– तत्र यदि नाम दर्शनस्मरणलक्षणयोराकारयोर्विरोधः, तथापि धर्मिणः प्रत्यभिज्ञानस्य किमायातं येनास्य विरुद्धधर्माध्यासाद् भेदः प्रार्थ्येत। –स्या० र० पृ० ४९२। (४) तुलना– विरुद्धाभ्यां दर्शनस्मरणाकाराभ्यां कारणभूताभ्यां स्वभावभूताभ्यां वा प्रत्यभिज्ञानस्य भेदः साध्यते? –स्या० र० पृ० ४९३। (५) कार्यकारणयोर्भेदस्यष्टत्वात्–आ० टि०। (६) प्रत्यभिज्ञानभेदः–आ० टि०। (७) दर्शनस्मरणाकारयोः स्वभावयोः। (८) प्रत्यभिज्ञानं। (९) आत्मनि पूर्वविकल्पवासनाशक्तिसङ्केतस्मरणादिसामग्री ग्राह्या। (१०) एकज्ञानस्वरूपवत्–आ० टि०। तुलना– यदि परोक्षत्वापरोक्षत्वधर्मभेदात् पूर्वापरावस्थापरामर्शिज्ञानं भिद्यते हन्त भो तर्हि स्वयमपि विकल्पो भिद्येत। सोऽपि हि परोक्षश्चापरोक्षश्च, विकल्पो विकल्प्यश्च। अयं परोक्षो विकल्पश्च स्वात्मनि त्वविकल्पोऽपरोक्षश्च। तस्माद्विषयभेदादविरोध इति चेत् तर्हि विकल्पस्यापि तत्त्वकं विज्ञानं तस्यैकस्य वस्तुनः पूर्वापरकालसम्बन्धे परोक्षम् अपरोक्षं त्वात्मपरकालसम्बन्धे इति को विरोधः?' –न्यायवा० ता० पृ० १४०। विकल्पो हि स्वरूपे निर्विकल्पकरूपेण च सविकल्पकरूपार्थिनि सौगतमतम्। (११) पृ० ४१२ पं० ४। (१२) तुलना– परस्परस्वरूपसाङ्कर्यमेकस्मिन्नाधारे वृत्तिर्वा। –स्या० र० पृ० ४९३।

1–ध्यास इ–आ०। 2–विपुल–आ० श्र०। 3–स्पर विरो–ब०। 4 प्रार्थ्यते श्र०। 5 तेषामन्योन्य ब० श्र०। 6–यभेदो श्र०। 7–वस्य प्र–ब०। 8–भासनेत्या–ब०। 9–स्परं स्व–ब०।

नुपपन्न, प्रतीतिनिरोधात्। नहि यथोक्तमाकारद्वयमन्योन्यसङ्कीर्णस्वरूपं स्वप्नेऽपि प्रतीयते। द्वितीयविकल्पे तु नहि किञ्चिदनिष्टम्, एकस्मिन् प्रत्यभिज्ञाख्ये ज्ञाने तदाकारद्वयस्य निर्बाधप्रतीतौ प्रतिभासमानत्वात्। यद्यथा निर्बाधायां प्रतीतौ प्रतिभासते तत्तथैवाभ्युपगन्तव्यम् यथा नीलं नीलतया, प्रतिभासते च तथाविधायां प्रतीतौ आकारद्वयान्वितत्वेनैकं ज्ञानमिति। न च प्रमाणप्रसिद्धे वस्तुस्वरूपे मिथ्याविकल्पसहस्रं किञ्चित्कर्तुं समर्थम्; सकलशून्यतादेरपि सिद्धिप्रसङ्गात्। कथञ्चैवंवादिनः चित्रज्ञानादेः सिद्धिः? नीलादिप्रतिभासानां हि परस्परानुप्रवेशे सर्वेषामेकरूपताप्रसङ्गात् कुतश्चित्रता एकनीलाकारज्ञानवत्? तेषां तदननुप्रवेशे भिन्नसन्ततिनीलादिप्रतिभासानामिव अत्यन्तभेदसिद्धेः नितरामचित्रता। एकज्ञानाधिकरणतया तेषां प्रत्यक्षतः प्रतीतेः प्रतिपादितोपायश्चात्र प्रत्यभिज्ञानेऽप्यविशिष्टः। तन्न विरुद्धधर्माध्यासतः प्रत्यभिज्ञानस्याभावो युक्तः।

नापि कारणाभावतः, दर्शन-स्मरणलक्षणस्य तत्कारणस्य सद्भावात्। कथं विभिन्नविषययोः विभिन्नाकारयोर्ज्ञानयोः तत्कारणतेति चेत्? तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। यद् यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत् तत्कारणकम् यथा बीजाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायी अङ्कुरः तत्कारणकः, दर्शनस्मरणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी च प्रत्यभिज्ञेति। न खलु बीजादेः अङ्कुरकारणतायां चित्रपटादेः चित्रज्ञानकारणतायां वा तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादन्यन्निबन्धनमस्ति। तन्नास्य कारणाभावादप्यभावो युक्तः।

किञ्च, इदं प्रत्यभिज्ञानं कार्यम्, कार्यञ्च प्रतीयमानं कारणसद्भावमवबोधयति, अतः कथमस्य कारणाभावो ज्यायान्? तथाहि-यत् कार्यं तत् कारणपूर्वकम् यथा घटादि, कार्यञ्चेदं प्रत्यभिज्ञानमिति।

यदप्युक्तम्-'मतोऽपि प्रत्यभिज्ञानस्य न प्रामाण्यम्' इत्यादि, तदप्यसमीक्षिता-

(१) दर्शनस्मरणरूपम्। (२) 'दर्शनस्मरणरूपमाकारद्वयं परस्परमनुप्रवेशेनाननुप्रवेशेन वा प्रतिभासते' इत्यर्थं वादिनः सौगतस्य। तुलना-'कथञ्चैवं वादिनश्चित्रज्ञानसिद्धिः'-प्रमेयक० पृ० ३४२। स्या० र० पृ० ४९३। (३) नीलादिप्रतिभासानाम् (४) देवदत्तस्य नीलज्ञानं [illegible] यथा परस्परतोऽत्यन्तभिन्नं सत् चित्ररूपतां न प्रतिपद्यते तथैव। (५) नीलादिप्रतिभासानाम्। (६) तुलना-'नापि कारणाभावेन'-स्या० र० पृ० ४९४। यत्पुनरुक्तं सामग्रीभेदात् विरुद्धधर्मसंसर्गाच्च प्रत्यभिज्ञानस्य एकत्वानुपपत्तिरिति, तदयुक्तम् सम्प्रयोगसंस्कारयोः सम्भूयसामग्रीत्वात्। न चात्र सम्प्रयोगसंस्कारयोः प्रत्येकमन्यनिरपेक्षयोः कारणत्वं [illegible], यस्मात् अयमत्र [illegible] दृष्टमनुस्मारितं [illegible] प्रतीति। तस्मात् प्रत्यभिज्ञानस्य एकत्वेन प्रामाण्यमव्याहतम्।'-[illegible] पृ० २१४। (७) 'दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम्' [परीक्षामु० ३।५] इति वचनात्। (८) वर्तमानपर्यायोपलक्षितं हि दर्शनम् अतीतविषयोपलक्षितञ्च स्मरणम्। (९) [illegible] हि दर्शनम् तदाकारानुकारि च स्मरणम्। (१०) पृ० ४१३ पं० १।

1 न हि किञ्चि-ब०। 2 [illegible] ब०। 3-[illegible] ज्ञान-आ०, ब०। 4-[illegible]-आ० ब०। 5-चित्रपटादेः ब०, श्र०। 6-कार्य [illegible]। 7-स्य प्रामा-ब०।

भिधानम्, यतो विषयाभावात्, गृहीतग्राहित्वात्, बाध्यमानत्वाद्वाऽस्यै अप्रामाण्यं स्यात् ? न तावद्विषयाभावात्, पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्त्येकद्रव्यस्य तद्विषयस्य सद्भावात् । प्रत्यक्षादितः प्रत्यभिज्ञानस्य स्वरूपवैलक्षण्यसम्भवाच्च विषयवैलक्षण्यमवश्याभ्युपगन्तव्यम् । यस्य यतः स्वरूपवैलक्षण्यं तस्य ततो विषयवैलक्षण्यमप्यस्ति यथा प्रत्यक्षात् स्मरणस्य, अस्ति च स्वरूपवैलक्षण्यं प्रत्यभिज्ञानस्येति । सुप्रसिद्धं हि प्रत्यक्षस्मरणयोः स्पष्टेतररूपतया अतीतवर्त्तमानविषयपरामर्शरूपतया च स्वरूपवैलक्षण्याद् अतीतवर्त्तमानकालावच्छेदेन विषयवैलक्षण्यम्, एवमत्रापि । प्रत्यक्षस्य हि वर्त्तमानकालावच्छिन्नो विषयः, स्मरणस्य तु अतीतकालावच्छिन्नः, प्रत्यभिज्ञानस्य तु उभयकालावच्छिन्नो द्रव्यविशेषो विषयः । न चाऽशेषार्थानां प्रतिक्षणं क्षणिकत्वात् द्रव्यविशेषस्य कस्यचिदप्यसम्भवात् कस्य तद्विषयता प्रार्थ्यते इत्यभिधातव्यम्, क्षणभङ्गप्रतिषेधेन द्रव्यसिद्धेः प्रागेव प्रपञ्चतो विहितत्वात् । तन्न विषयाभावात् तदप्रामाण्यम् ।

नापि गृहीतग्राहित्वात्, तद्विषयस्य प्रमाणान्तरेण ग्रहीतुमशक्यत्वात् । स हि प्रत्यक्षेण गृह्येत, स्मरणेन, प्रमाणान्तरेण वा ? न तावत् प्रत्यक्षेण, तस्य वर्त्तमानविवर्त्तमात्रगोचरचारितया अतीतवर्त्तमानविवर्त्तवर्त्तिनो द्रव्यस्य ग्रहणे सामर्थ्याऽसम्भवात् । नापि स्मरणेन, तस्य अतीतपर्यायविषयतया तद्ग्रहणेऽसमर्थत्वात् । नापि प्रमाणान्तरेण, उभयनिवर्त्तवर्तिद्रव्यविषयस्य प्रत्यभिज्ञानतोऽन्यप्रमाणस्याऽसम्भवात् । तदुभयसंस्कारजनितं कल्पनाज्ञानमस्तीति चेत्, न, तस्यैव प्रत्यभिज्ञानत्वात् ।

(१) तुलना– तदप्रामाण्यं हि गृहीतग्राहित्वात् स्मरणानन्तरभावित्वात् नानाकारधारित्वाद्वा बाध्यमानत्वाद्वा स्यात् ? –प्रमेयक० पृ० ३४२ । (२) प्रत्यभिज्ञानस्य । (३) प्रत्यक्षे स्मरणे च प्रयर्गमिह तु युगपन्निति विशेष –आ० टि० । (४) प्रत्यभिज्ञानेऽपि । (५) पृ० ३५७–३८९ । (६) तुलना– आकारवान्प्रतियथ पूर्वानुभवजनितसंस्कारस्मरणसहकारीन्द्रियेण [illegible] एवायमित्युभयोल्लेखि ज्ञानं जन्यते । तस्य च अर्थान्वयव्यतिरेकानुविधानात् [illegible]विषयत्वमयुक्तम् ।' –प्रश० व्यो० पृ० ३९७ । अतीतकालविशिष्टो वर्तमानकालावच्छिन्नश्चार्थ एतस्यामवभासते । –न्यायम० पृ० ४५९ । प्रतीयते तावत्तस्मादभिज्ञानात् पूर्वापरकालावच्छिन्नमेकं वस्तुतत्त्वम्, तत्त्वस्य विषयो न भवतीति सर्वविरुद्धम् । ग्रहणस्मरणे च नैकं विषयमालम्ब्येते तस्मादेकमेवेदं विज्ञानं प्रतीतिसामर्थ्यादुभयविषयमास्थेयम् । –प्रश० कन्द० पृ० ८० । (७) तुलना– 'न हि तद्विषयभूतमर्थं द्रव्यं स्मृतिप्रत्यक्षग्राह्यं यत्र तत्र प्रवर्तमानं प्रत्यभिज्ञानं गृहीतग्राहि स्यात् तद्गृहीतातीतवर्तमानविवर्तनात्मकत्वात् द्रव्यस्य कथञ्चिदपूर्वार्थत्वेऽपि प्रत्यभिज्ञानस्य तद्विषयस्य नाप्रमाणत्वं क्षणिकत्वाद्यप्रमाणत्वप्रसंगात् तस्यापि सर्वथाप्यपूर्वार्थत्वासिद्धेः । –प्रमाणप० पृ० ७० । प्रमेयक० पृ० ३४३ । स्या० र० पृ० ४९८ । प्रमेयर० पृ० ३३ । प्रमाणमी० पृ० ३५ । (८) अतीतवर्तमानपर्यायानुयायिद्रव्यग्रहणे । (९) अतीतवर्तमान । (१०) स्मरणप्रत्यक्ष । तुलना– प्रत्यक्षस्मरणजनितकल्पनाज्ञानमस्तीति चेत् न तस्यैव प्रत्यभिज्ञानत्वेनास्माभिरभ्युपगमात् ।' –स्या० र० पृ० ४९५ । (११) उभयसंस्कारजनितविकल्पस्यैव ।

1–विवर्तवर्त्ये–आ० । 2–न्यप्रमा–श्र० । 3–क्षणिकत्वतो द्र–ब० । 4–विवर्त्तगोच–आ० श्र० । 5–विवर्तिद्रव्यस्य श्र०, –विवर्त्तिनो द्रव्यस्य ब० ।

ननु यदि प्रत्यक्षस्मरणयो द्रव्यमविषय[1] तर्हि कथ ताभ्या तत्र[2] तज्जन्येत ? यद् यस्य विषयो न भवति न तत्तत्र ज्ञानमुत्पादयति यथा चक्षू रसे, अविषयश्च एकत्व प्रत्यक्षस्मरणयोरिति, तदप्यसुन्दरम्, विकल्पोत्पादकाऽविकल्पकाध्यक्षेण[3] अनेकान्तात्, तस्य सामान्यागोचरस्यापि सामान्ये विकल्पोत्पादकत्वप्रतीते । 'विकल्पवासनासहाय[4] स्याविषयेऽपि तत्र[5] तत्[6] तमुत्पादयति' इत्युत्तरम्[7] अन्यत्रापि तुल्यम्, प्रत्यक्षस्यापि स्मरणसहायस्य एकत्वे प्रत्यभिज्ञानजनकत्वप्रतीते , सहकारिणामचिन्त्यशक्तित्वात् । कथमन्यथा असर्वज्ञज्ञानम् अभ्यासविशेषसहाय[8] सर्वज्ञज्ञान जनयेत् ? एकत्वविषयत्वञ्च प्रत्यक्षस्यापि अक्षणिकत्वसिद्धौ[9] समर्थितम् । अन्यथा निर्विषयत्वमेव अस्य स्यात्, एकान्तेन अनित्यत्वस्य कदाचनाप्यप्रतीते । केवल तेन[10] एकत्व प्रतिनियतवर्त्तमानपर्यायाधारतया अर्थे प्रतीयते, स्मरणसहायप्रत्यक्षप्रभवप्रत्यभिज्ञानेन[1] तु स्मर्यमाणाऽनुभूयमानपर्यायाधारतयेति विशेष । अत कथञ्चिदपूर्वार्थत्वसिद्धे न गृहीतग्राहित्वमस्य यतोऽप्रामाण्य स्यात्, अन्यथा अनुमानादेरपि अप्रामाण्यप्रसङ्ग सर्वथाऽपूर्वार्थविषयत्वाऽसम्भवात्, तद्विषयस्य[11] देश[12]विशिष्टपावकादिव्यक्तिविशेषस्य सम्बन्धग्राहि[13]ज्ञानविषयात् साध्यसामान्यात् कथञ्चिदभिन्नस्य कथञ्चित् पूर्वार्थत्वप्रसिद्धे ।

बाध्यमानत्वात्तर्ह्यप्रमाण[2] प्रत्यभिज्ञा, इत्यप्ययुक्तम्, तद्बाधकस्य कस्यचिदप्यसम्भवात् । तस्य हि बाधक प्रत्यक्षम्, अनुमान वा स्यात् ? न तावत् प्रत्यक्षम्, तस्य तद्विषये प्रवृत्त्यभावात् । यद् यद्विषये न प्रवर्त्तते न तत्तस्य बाधकम् यथा रूपज्ञानस्य

(१) द्रव्ये । (२) प्रत्यभिज्ञानम् । (३) सौगतमते हि निर्विकल्पकप्रत्यक्षात् सविकल्पकमुत्पद्यते । निर्विकल्पक च परमार्थसत्स्वलक्षणजन्यत्वात् वस्तुविषय सविकल्पकं तु बुद्धिकल्पितसामान्यगोचरत्वादवस्तुविषयक प्रसिद्धम् । ततो यथा निर्विकल्पकं सामान्यमजानदपि सामान्यविषयं विकल्पमुत्पादयति तथैव अतीतवर्तमानोभयविवर्तवर्तिनमेकत्वमजानत्यपि प्रत्यक्षस्मरणे तद्विषयकं प्रत्यभिज्ञानमुत्पादयतामिति भाव । तुलना–"विकल्पोत्पादकाध्यक्षेणानेकान्तात् ।' –स्या० र० पृ० ४९५ । (४) सामान्य । (५) निर्विकल्पकम् । (६) विकल्पम । (७) प्रत्यक्षस्मरणाभ्याम् एकत्वे प्रत्यभिज्ञानसमुत्पादनस्थलेऽपि । (८) अभ्यासविशेषादय सहकारिण –आ० टि० । (९) पृ० ३८१ । (१०) प्रत्यक्षेण । (११) अनुमानविषयस्य–आ० टि० । (१२) पर्वतादिदेशस्थपावकस्य–आ० टि० । (१३) तर्क–आ० टि० । तुलना– "सम्बन्धग्राहिविज्ञानविषयात् साध्याग्निसामान्यात् कथञ्चिदभिन्नस्यानुमेयस्य देशकालविशिष्टस्य तद्विषयत्वात् ।'–प्रमाणप० पृ० ७० । प्रमेयक० पृ० ३४३ । (१४) तुलना– 'सर्वान्तो बाधवर्ज्यनिश्चयदान् न विद्यते । सर्वत्र प्रत्यभिज्ञाने प्रत्यक्षादाविवाञ्जसा ॥ प्रत्यक्षबाधक तावन्न सनातनस्य जातुचित् । तदभिन्नगोचरत्वेन परलोकमतेरिव ॥ '–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९२। "बाधकप्रमाणात्र प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानमिति चायुक्तम्, तद्बाधकस्यासम्भवात । न हि प्रत्यक्ष तद्बाधक तस्य तद्विषये प्रवृत्त्यसम्भवात्, साधकत्ववद् बाधकत्वविरोधात् ।"–प्रमाणप० पृ० ७०। अष्टसह० पृ० २८०। प्रमेयक० पृ० ३४४ । स्या० र० पृ० ४९६ । प्रमेयर० पृ० ३६ ।

1 न तत्र आ०, श्र० । 2–क्षस्य प्रती – श्र० । 3–भिज्ञाने तु आ०, श्र० । 4 इति चायुक्तम् श्र० ।

रसज्ञानम्, न प्रवर्त्तते च प्रत्यभिज्ञाविषये प्रत्यक्षमिति । नाप्यनुमानम्, तद्विषये तस्याप्यप्रवृत्तेः, प्रवृत्तौ वा प्रमाणान्तरत्वं तद्बाधकत्वम् । ननु स्तूयमानपुनर्जातनखकेशादौ बाध्यमानं तत् प्रतीतमेव अतः कथं तत् प्रमाणमिति चेत् ? यदि नाम तत्र तदबाधा प्रतीतम्, अन्यत्र किमायातम् ? अन्यथा शुक्तिशकले रजताभासप्रत्यक्षस्य भ्रान्ततयोपलम्भात् सत्यरजतेऽप्यस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः । तन्न एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यापह्नवो युक्तः ।

नापि सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्य, अनुमानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्–येन हि पूर्वं धूमसन्निधौऽग्निर्दृष्टः तस्यैव उत्तरकाले पूर्वधूमसदृशधूमदर्शनात् अग्न्यनुमानोत्पत्तिर्युक्ता, नान्यस्य अन्यदर्शनात् । न च प्रत्यभिज्ञानमन्तरेण 'तेनेदं सदृशम्' इति प्रतिपत्तिर्घटते, पूर्वप्रत्यक्षेण उत्तरस्य तत्प्रत्यक्षेण च पूर्वस्य धूमादिवस्तुनोऽप्रतिपत्तेः । न च द्वयाऽप्रतिपत्तौ द्विष्ठं सादृश्यं प्रतिपत्तुं शक्यमतिप्रसङ्गात् । यद् द्विष्ठं तद् द्वयप्रतिपत्तावेव प्रतीयते यथा सम्बन्धः, द्विष्ठञ्च सादृश्यमिति । तत सिद्धा एकत्वोल्लेखिनी सादृश्योल्लेखिनी च प्रत्यभिज्ञा प्रमाणम् ।

एतदेवाह–सत्यां प्रमाणचिन्तायां 'फलस्य हेतुत्वात्' इति सम्बन्धः । अस्याः पर्यायमाह–तर्कस्य इति । कः पुनरयं तर्को नाम इति चेत् ? व्याप्तिज्ञानम् । व्याप्तिर्हि

(१) प्रत्यभिज्ञाविषये । (२) अनुमानस्यापि । (३) तुलना–"न च लूनपुनर्जातनखकेशादिवत् सर्वत्र निर्विषया प्रत्यभिज्ञा" –प्रमेयक० पृ० ३४२ । स्या० र० पृ० ४९४ । (४) स एवायं नखादिरिति एकत्वप्रत्यभिज्ञानम् । (५) लूनपुनर्जातनखकेशादौ । (६) त एवायं नख केशादिरिति प्रत्यभिज्ञानं बाध्यमानम् । (७) तस्मिन्नेव नखकेशादौ स एवायं नखादिरिति प्रत्यभि ज्ञानं कथं बाध्यमानमिति भावः । (८) एकत्र बाध्यमानत्वोपलम्भात् सर्वत्र बाध्यमानत्वस्वीकारे । (९) रजताभासप्रत्यक्षस्य । (१०) अपह्नवो युक्त इति गनेन सम्बन्धः । (११) तुलना–"सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमेतेनैव विचारितम् । प्रमाणं स्वार्थसंवादात् प्रमाणान्तरतान्यथा ॥" –तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९३। 'कथञ्च प्रत्यभिज्ञाननिरोधेऽनुमानप्रवृत्तिः येनैव हि –प्रमेयक० पृ० ३४३ । अनुमानानुत्पत्तिप्रसङ्गात् येनैव हि पूर्वं धूमोऽग्नेः –स्या० र० पृ० ४९६ । (१२) प्रतिपत्ता । (१३) प्रतिपत्तुं । (१४) अग्नेः । (१५) घटादिदर्शनात् । (१६) धूमस्य । (१७) उत्तरकालीनधूमप्रत्यक्षेण । (१८) तुलना–'न च द्वयाप्रतिपत्तौ –स्या० र० पृ० ४९६ । (१९) "चिन्तावागमागामिनो वस्तुन एवं निर्णीतिर्भवति अन्यथा नेति यथार्थ ज्ञानाश्रयसमन्विते सत्येव परमसुखावाप्तिरन्यथा नेत्यनन्तचिन्ताभावं मनोज्ञानमेव ।" –तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ७८ । सम्बन्धं व्याप्तितोऽर्थानां विनिश्चित्य प्रवर्तते । येन तर्कः स संवादात् प्रमाणं तत्र गम्यते । –तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९४ । प्रमाणप० पृ० ७० । "उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः । इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येवेति च । –परीक्षामु० ३।११-१२ । प्रमाणमी० १।२।५ । "उपलम्भानुपलम्भसंभवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहापरनामा तर्कः । –प्रमाणनय० ३।५ । जैनतर्कभा० पृ० १० । 'व्याप्तिज्ञानं तर्कः । –न्यायदी० पृ० १९ । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्याप्तिज्ञानं दर्शनस्मरणाभ्यामगृहीतप्रत्यभिज्ञाननिबन्धनं तर्कः चिन्ता । –लघी० अभ० पृ० २९ । 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः । –न्यायसू० १।१।४० । अविज्ञाततत्त्वे सामान्यतो ज्ञाते धर्मिणि

1–भिज्ञानविषये श्र० –भिज्ञानविषय ब० । 2 धूमोऽग्निर्दृष्ट ब० । 3 'यद् नास्ति श्र० ।

साध्यसाधनयोरविनाभाव[1] । तद्ग्राहि ज्ञान तर्कोऽभिधीयते, तेन[2] तस्यैव प्रमाण्यात्, ज्ञानान्तराणा[3] तद्ग्रहणे[4] सामर्थ्याऽसभवत तेन प्रामाण्यानुपपत्ते ।

एकपक्षानुकूलकारणदर्शनात् तस्मिन् सभावनाप्रत्ययो भवितव्यतावभास तदितरपक्षशैथिल्यापादने तत्ग्राहकप्रमाणमनुगृह्य तान् सुख प्रवर्तयन तत्त्वज्ञानायमूहस्तर्क ।'–न्यायम० पृ० ५८६ । न्यायकलि० पृ० १३ । "एकधर्माभ्युपगमे द्वितीयस्य नियतप्राप्तिरूप तर्क"–न्यायली० पृ० ५४ । "व्यापकाभाववत्त्वेन निर्णीते व्याप्यस्याहार्यारोपाद्या व्यापकस्याहार्यारोप स तर्क । यथा निर्वह्नित्वारोपान्निर्धूमत्वारोप । यदि निर्वह्नि स्यान्निर्धूम स्यादिति ।"–न्यायसूत्रवृ० १।१।४० । "तर्कश्चा पाद्यापादकयोर्व्याप्तिमूल ।"–महावि० पृ० १३१ । "जमिनीयास्तु ब्रुवते–युक्त्या प्रयोगनिरूपणमूह । स च त्रिविध मन्त्रसामसस्कारविषय । [शाबरभा० ९।१।१]–"न्यायम० पृ० ५०८ । "अन्यष्टसम्बन्धात परोक्षप्रतीति तर्क इति लक्षणम् ।"–प्रमाणवार्त्तिकाल० पृ० ३०० ।

(१) "सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना"–मी० श्लो० अनु०श्लो० ४ । 'नियमरूपं मामासका "–न्याय० मा० पृ० ५६ । प्रकरणप० पृ० ६८ । "व्याप्तिरविनाभाव इति –प्रश० व्यो० पृ० ५७० । "स्वभावत साध्येन साधनस्य व्याप्तिरविनाभाव ।"–न्यायसा० पृ० ५ । "साहचर्य तु सम्बन्ध इति नो हृदयङ्गमम् । तस्मिन सत्येव भवने न विना भवन तत ॥ अयमवाविनाभावो नियम सहचारिता ।"–न्यायम० पृ० १२१ । न्यायकलि० पृ० २ । "तस्माद यो वा स वाऽस्तु सम्बन्ध, केवल यस्यासौ स्वाभाविको नियत स एव गमको गम्यश्चेतर सम्बन्धीति युज्यते ।"–न्यायवा० ता० पृ० १६५ । 'स्वाभाविको निरुपाधिरित्यर्थ ।"–शा० प० पृ० ६९१ । न्यायली० पृ० ५४ । "अनौपाधिक सम्बन्ध"–प्रश० किर० पृ० २१७ । "अनौपाधिक सम्बन्धो व्याप्ति । यद्वा साध्यसामानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्य व्याप्ति ।"–वशे० उप० ३।१।१४ । तत्त्वचि० व्या० । "उपाधिविधुर सम्बन्ध"–सवद० पृ० ७ । "साधनस्य च साध्येऽर्थे नियतत्वकथन व्याप्तिकथनम् । यथोक्तम्–'व्याप्तिर्व्यापकस्य तत्र भाव एव व्याप्यस्य च तत्रव भाव [प्रमाणवा० स्वव० ३।१] इति ।"–न्यायबिन्दुटी० पृ० ६४। "द्विविधा चेयं व्याप्ति व्यापकव्याप्यधर्मतया । तत्र व्याप्ये सति व्यापकस्यावश्यम्भावस्तस्य व्याप्ति, व्याप्यस्य च व्यापक एव सति भावो नाम तस्य व्याप्ति । आभ्या यथाक्रममन्वयव्यतिरेकावुक्तौ । व्याप्यसन्भावे व्यापकस्य सत्त्वनियमस्य अन्वयरूपत्वात् । व्यापकाभावे व्याप्याभावस्य च व्यतिरेकरूपत्वात् ।"–प्रमाणवा० मनोरथ० ३।१। "तस्य पक्षधर्मस्य सतो व्याप्तिर्यो व्याप्नोति यश्च व्याप्यते व्याप्यव्यापकधर्मतया प्रतीते । यदा व्यापकधर्मतया विवक्ष्यते तदा व्यापकस्य गम्यस्य भाव एवेति सम्बन्ध । तत्रेति सप्तम्यप्रधानमेतदाधाराधप्रधानम् धर्माणा धर्मान्तरत्वाभावात् । तेनायमर्थ –यत्र धर्मिणि व्याप्यमस्ति तत्र सवत्र व्यापकस्य भाव एवेति व्यापकधर्मो व्याप्ति । नत्वेवमवधार्यते व्यापकस्यैव तत्र भाव इति, हेत्वभावप्रसङ्गात्, अव्यापकस्यापि मूर्तत्वादेस्तत्र भावात । नापि तत्रैवेत्यवधार्यते, प्रयत्नानन्तरीयकत्वादेरहेतुत्वापत्ते । साधारणश्च हेतु स्यान्नित्यत्वस्य प्रमेयष्वेव भावात् । यदा तु व्याप्यधर्मता व्याप्तेर्विवक्षिता तदा यत्र धर्मिणि व्यापकोऽस्ति तत्रैव व्याप्यस्य भावो नान्यत्र । अत्रापि व्याप्यस्यैव तत्र भाव इत्यवधारणम् हेत्वभावप्रसक्तेरेव नाश्रितम अव्याप्यस्यापि तत्र भावात्। नापि व्याप्यस्य तत्र भाव एवेत्यवधार्यते, सपक्षैकदेशवृत्तेरहेतुत्वप्राप्त, साधारणस्य च हेतुत्व स्यात् प्रमेयत्वस्य नित्येष्वसदसम्भावाभिति । व्यापकस्य तत्र भाव इत्यनेन चान्वय आक्षिप्तो व्याप्यस्य वा तत्रैव भाव इत्यनेन व्यतिरेक आक्षिप्त ।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।१। हेतुबि० टी० पृ० १८०। प्रमाणमी० पृ० ३८। "सहक्रमभावनियमोऽविनाभाव"–परीक्षामु० ३।१६। प्रमाणमी० १।२।१०। (२) व्याप्तिग्रहण तर्कस्यैव । (३) प्रत्यक्षादीनाम् । (४) व्याप्तिग्रहण ।

1 तत्प्रामा–आ०, श्र० ।

व्याप्तिस्वरूपस्यैव असम्भवात् तत्र तर्कस्य प्रामाण्यमिति चार्वाकस्य पूर्वपक्षः—

ननु व्याप्तिस्वरूपस्यैवाऽसम्भवात् कथं तत्र तर्कः प्रमाणम् ? तथाहि—व्याप्तिः सम्बन्धोऽर्थानाम्, सा च देशतः कालतो वा केषाञ्चित् केनचित् स्यात् ? न तावद् देशतः, यतो व्योम्नि धूमः, भूमौ अग्निः, उपरि देशे वृष्टिः, अधोदेशे नदीपूरः । नापि कालतः, न हि वृष्टिकाले नदीपूरः कृत्तिकोदयकाले रोहिण्युदयो वाऽस्ति ।

किञ्च, कस्य केनायमविनाभावः—किं सामान्यस्य सामान्येन, किं वा सामान्यस्य विशेषैः, उत विशेषाणां विशेषैः ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, नित्यत्व विभुत्वाभ्यां सकलदेशकालसम्बन्धितया अग्नित्व धूमत्वयोः सुप्रसिद्धत्वात् । द्वितीयपक्षेऽपि देशकालानवच्छिन्ने विशेषमात्रे सामान्यस्याविनाभावः, तदवच्छिन्ने वा ? यद्यनवच्छिन्ने, तदा सिद्धसाधनमेव । अथ देशकालावच्छिन्ने, तदा अनुगमाभावः । नहि महानसस्थधूमसामा-

(१) तुलना– "किञ्च साध्यसाधनयोः व्याप्तिः किं यत्र यत्र साधनं तत्र तत्र साध्यमिति देशरूपा निरूप्यते किं वा यदा यदा साधनं तदा तदा साध्यमिति कालरूपा, युगपदुभयस्वभावा वा ?" –हेतुबि० पृ० ४ B (२) साधनस्य साध्यस्य वा । (३) साध्येन साधनेन वा । (४) तुलना– "व्याप्तिमार्गाङ्गीकारे समग्रजगत्प्रामाणिकमान्ये धूमानुमानेऽपि सत्यताभिमानोऽभिमानशालिना कथं प्रतिपद्यमानीयते तत्र च देशव्याप्तेः स्वप्नेऽप्यसम्भावनाभावात् । तथाहि–गगनमण्डले लम्बमानो धूमः पर्वतनिकुञ्जवनितम्बसम्बन्धी च धूमः यत्र इति का देशव्याप्तिरिति ।" –हेतुबि० पृ० ४B । (५) उपरि वृष्टौ सत्यां अधोनदीपूरदर्शनाद्यनुमानं । (६) तुलना– "उद्गतो नभस्वन्द्रो जलचन्द्रो दर्शनात् आसीत्पूर्वमस्मिन् देशे वृष्टिः उत्तरत्र तथाविधवारिपूरविलोकनात्, भविष्यति वा वारिवाहवृष्टिः तादृशवारिवाहविभावनात् उदेष्यति रोहिणी कृत्तिकोदयात्, उदेष्यति श्वः सविता अद्यतनादित्योदयदर्शनात्, उदगुः मुहूर्तात्पूर्वं पूर्वाफाल्गुन्यः उत्तरफाल्गुनीनामुदयोपलम्भ इत्यादि मानानाम् नक्षत्रोदयादीनामुभयथा विप्रकृष्टानां कार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरहेतुविशेषाणां देशकालैर्भेदे क्वापि व्याप्त्यनुपपत्तेरहेतुत्वप्राप्तेः ।" –हेतुबि० पृ० ४ B (७) तुलना– "इतोऽपि अविनाभावसम्बन्धग्रहणानुपपत्तिः–किं सामान्ययोः सम्बन्धावधारणम् आहो स्वलक्षणयोः, सामान्यस्वलक्षणयोर्वा ?" –तत्त्वोप० पृ० ६५ B । "तथाहि–व्याप्तिर्भवन्ती किं साधनसाध्यव्यक्त्योर्भवति उताहो साधनत्वसाध्यत्वजात्योर्वा, आहोस्वित् साधनवत्साध्यवतोः, किं वा साधनत्ववत्साध्यत्ववतोः उत साधनवत्त्वसाध्यवत्त्वयोः इति पक्षपञ्चकतया" –हेतुबि० पृ० ४ A । "तथाहि–किं व्यक्त्योरथवा जात्योस्तद्वतोर्वा विनापत्या । व्याप्तिस्तत्त्वयोर्वा किं वा साध्यसाधनवत्त्वयोः । सा न व्यक्त्योरत्तदानन्त्यात् जात्योस्तदसम्भवात् । न तद्वतोरुक्तदोषात्र चतुर्थोऽनिरूपणात् ।" –चित्सु० पृ० २२३। (८) पर्वत-महानसादिदेशाभ्यामनवच्छिन्नमात्रस्थानयस्य अग्न्यादिविशेषमात्रं । तुलना– "यद्यनवच्छिन्ने तत्र सिद्धसाध्यता देशकालानवच्छिन्नानां वह्न्यादिविशेषाणामनिर्णीतत्वात् ।" –स्या० र० पृ० ५०५ । (९) तुलना– "किं चानुमानं प्रमाणमपत्याकर्षं वस्तुतस्तु न तथानमित्याह–विशेष इति । विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता । इत्यादिदोषदुष्टत्वान्न च नोऽनुमितिः प्रमा ॥–व्यक्त्योर्वा व्याप्तिः जात्योर्वा, सम्बन्धान्तर्विशेषयोर्वा धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोर्वा ? नाद्यः सर्वोपसंहारासिद्धेः । न द्वितीयः, तयोः स्वरूपभेदात् धर्मिभेदाच्च । न तृतीयः उक्तदोषात् । न चतुर्थः औपाधिकधर्मस्य स्वरूपातिरिक्तस्यानिरूपणात् ।"–बृहदा० वा० पृ० १४०१ । न्यायकुमु० पृ० ६९ टि० ५ ।

1–स्वरूपासम्–श्र० । 2 व्याप्तिसम्ब–ब० । 3 'उत विशेषाणां विशेष' नास्ति ब० । 4 नित्यविभुत्वा–ब० । 5–पक्षे देश–आ ।

न्यस्य पर्वतस्थेन अग्निविशेषेणाऽनुगमोऽस्ति, पर्वतस्थस्य वा महानसस्थेन। नापि विशेषाणां विशेषैर्नियमः, स हि दृष्टानां दृष्टे, अदृष्टानामदृष्टे, दृष्टानां वा अदृष्टे स्यात् ? यदि दृष्टानां दृष्टे, तदा सिद्धसाधनम्[1], अपूर्वव्यक्तिदर्शने च अनुमानानुपपत्तिः[2]। अथ[2] अदृष्टानामदृष्टे, तत्रापि सम्बन्धग्रहणाभावादनुगमाभावाच्च कथमनुमानम्[3] ? नापि दृष्टानामदृष्टे, पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात्।

किञ्च, अविनाभावः सम्बन्धः, स च सम्बन्धिग्रहणपूर्वकः, सम्बन्धिनौ च द्वौ द्वौ विशेषौ, अतः कथं सर्वोपसंहारेण व्याप्तिर्ग्रहीतुं शक्या[4] ?

किञ्च, अयमविनाभावशब्दः साध्याभावे साधनाभावं वदतीति व्यतिरेकमात्रवचनः, न सम्बन्धवचनः।

किञ्च, 'अग्न्यभावे धूमो नोपपद्यते' इति धूमानुपपत्तेः अग्न्यभावो विशेषणम्। स पारमार्थिकः, अपारमार्थिको वा स्यात्। पारमार्थिकत्वे अविद्यमानत्वात् धूमस्य न तदाश्रिता[6] व्याप्तिर्ग्रहीतुं शक्या, नहि अगृह्यमाणे आश्रये[7] तदाश्रितं[8] ग्रहीतुं शक्यमतिप्रसङ्गात्। अपारमार्थिकत्वे तु उपाधेः[9] तदुपहितायाः[10] धूमानुपपत्तेरपि §अपारमार्थिकत्वं स्यात्, तथा चाऽनुमानस्यापि§ अपारमार्थिकत्वमेव आयातम्। अथैवमुच्यते–अग्न्यभावश्चेद् धूमसद्भावस्यानुपपत्तिः, अग्न्यभावस्य धूमाभावेन व्याप्तत्वात्, तदप्यनुपपन्नम्, विद्यमाना गृहीता च व्याप्तिः अनुमानाङ्गम् न प्रसज्यमाना[11], तस्याः[12] सत्त्वेनाप्यनिश्चितत्वात्। संभावनाज्ञानं चैतत्[13], न च तद् वस्तुपरिच्छेदकम् यथा 'भूमिश्चेदभविष्यद् अपतिष्यन् पर्वताः' इति।

किञ्च, एकस्य कस्यचिदग्नेरभावे धूमो नोपपद्यते, सर्वस्य वा ? न तावदेकस्य, अस्याभावेऽपि[14] अग्न्यन्तरे धूमसद्भावस्योपपद्यमानत्वात्। नापि सर्वस्य, उपहितग्रहणस्य[15] उपाधिग्रहणमन्तरेणाऽसंभवात्। धूमानुपपत्तेश्च अशेषाग्न्यभाव एवोपाधिः[16], न चासौ

(१) प्रत्यक्षसिद्ध प्रत्यक्षसिद्धस्य अविनाभावे सिद्धेऽपि न किञ्चित्फलम् साध्य-साधनयोः प्रत्यक्षत्वात्, तथा च नानुमानप्रामाण्यमिति भावः। (२) अपूर्वव्यक्तौ अविनाभावग्रहणाभावात् नानुमानप्रवृत्तिः। (३) अप्रत्यक्षेण सह अविनाभावग्रहणासंभवात्, संभवेऽपि अनुगमाभावः। (४) अपि तु यौ द्वौ सम्बन्धिनौ महानसीयधूमाग्नी प्रत्यक्षविषयौ स्यातां तयोरेव सम्बन्धो गृहीतः स्यात् न सकलसाध्यसाधनव्यक्तीनाम्। (५) अग्न्यभावस्येति शप–आ० टि०। (६) धूमाश्रिता। (७) धूमलक्षणे। (८) व्याप्तिस्वरूपम्। (९) अग्न्यभावरूपविशेषणस्य। (१०) अग्न्यभावविशिष्टायाः। (११) संभाव्यमाना। (१२) संभाव्यमानायाः व्याप्तेः सत्त्वमपि अनिश्चितमेव। (१३) 'अग्न्यभावश्चेत् स्यात् धूमसद्भावस्यानुपपत्तिः स्यात्' इत्याकारकं पूर्वोक्तं ज्ञानम्। (१४) कस्यचिदेकस्य अग्नेरभावेऽपि 'अशेषाग्न्यभावविशिष्टो धूमाभावः' इत्याकारकविशिष्टग्रहणस्य अनुपपत्तेरिति भावः। (१५) विशिष्ट– आ० टि०। (१६) अशेषाग्न्यभावरूपविशेषणः।

1–पत्त श्र०। 2 'अथ' नास्ति आ०। 3 स्याश्रये श्र०। 4 उपाधि श्र०, ब०। 5–हित स्यात् धू–ब०। § एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ०। 6–र्थिकत्वं स्यात् श्र०। 7–पत्त श्र०।

सर्वाग्निरपरिगृहीतेषु ग्रहीतुं शक्यते, अभावग्रहणस्य प्रतियोग्याश्रयग्रहणसव्यपेक्षत्वात्[1]।

अपि[2] च क्वचिदग्न्यभावाभावेऽपि[3] धूमाभावे धूमसद्भावस्य विरोधो दृष्टः, अतो नाग्न्यभावो धूमभावविरोधस्य उपाधिः[4], किन्तु धूमाभाव एव। अतो न व्याप्तिर्विचार्यमाणा घटते, तत्कथं तद्ग्राहिणः तर्कस्य तत्प्रभवानुमानस्य वा प्रामाण्यम्? अस्तु वा व्याप्तिः, तथापि अविनाभावे सत्यपि[5] न धूमाद् वह्निपैङ्गल्यमनुमीयते वह्नेरेव धूमेन अनुमीयमानत्वात्। तथा नियतत्वाविशेषेऽपि[6] धूम एव गमको न तद्गता द्रव्यसत्त्वादय इति।

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं तर्कस्य पृथक् प्रामाण्यव्यवस्थापनम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[7]–'व्याप्तिस्वरूपस्य' इत्यादि, तदसमीचीनम्, यतः[8] स्वरूपप्रयुक्तस्याऽव्यभिचारस्य व्याप्तित्वप्रतिज्ञानात् कथं तस्याः स्वरूपासंभवः? स्वरूपं हि साध्यसाधनयोः स्वधर्मकलापकलितम्, अग्नित्वं धूमत्वञ्च[9], तद्धि[10] अन्यतो देशकालाकारादेर्व्यावर्त्य प्रकर्षेण सम्बन्धम् आत्मन्येव योजयति। 'मदधीनामेव व्याप्तिं बुध्यस्व बुध्यस्व' इत्यात्मसम्बन्धित्वेनैव व्याप्तिं व्यवस्थापयत् स्वप्रयुक्तामेव व्याप्तिं बोद्धारं बोधयति।

यदप्युक्तम्[11]–'देशतः कालतो वाऽविनाभावो न संभवति' इति, तदप्येतेन प्रत्युक्तम्, सैव[12] सैव[13] तावदविनाभावस्य निर्बाधबोधाधिरूढप्रतिभासत्वात्। अव्यभिचारिणा हि

(१) यस्याभावः क्रियते स प्रतियोगी यथा अग्न्यग्न्यभावे क्रियमाणे अग्निः प्रतियोगी यस्मिन् अभावः क्रियते स आश्रयः यथा त्रिकाले त्रिलोके च अग्न्यग्न्यभावे प्रस्तुते कालत्रयं त्रिलोकश्च आश्रयः। 'गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्। मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया'–[मी० श्लो० अभा० श्लो० २७] इत्यभिधानात्। (२) तुलना– अपि च यत्सद्भाव एव यस्य निवृत्तिः तत्र तस्य विरोधः तद्धि धूमाभाव एव सति धूमस्य निवर्तिदृश्यते इति धूमाभावेनैव अस्य विरोधो न वह्न्यभावेन। केवलाङ्गारावस्थायाम् अग्न्यभावाभावेऽपि धूमनिवृत्तेः प्रतीयमानत्वात्।'–स्या० र० पृ० ५०५। (३) अङ्गारावस्थापन्नाग्निमति धूमप्रश्ने अग्न्यभावाभावेऽपि अग्निसद्भावे सत्यपि। (४) यदि हि अग्न्यभावः धूमाभावस्य उपाधिः स्यात् तदा 'उपाध्यपाये उपाधिमतोऽभावात्' इति न्यायेन अङ्गारावस्थाग्निमत्प्रदेशे अग्न्यभावस्य अभावो विद्यते अतस्तत्र धूमाभावस्यापि अभावः प्राप्नोति न च तत्र धूमाभावस्याभावः धूमसद्भावरूपः समस्ति। अतः नाग्न्यभावः धूमाभावस्य विशेषणम् अपि तु धूमनिवृत्तिरेव। (५) तर्कगृहीतव्याप्तिबलेनोद्भूते। (६) तथा तेन अविनाभावप्रकारेण सम्बद्धत्वे समानेऽपि। (७) पृ० ४२० पं० ११। (८) तुलना– अविनाभावस्य साध्याव्यभिचरितत्वस्य'–प्रमाणवा० मनोरथ० ३।१। स्वरूपप्रयुक्तस्याव्यभिचारस्य व्याप्तित्वप्रतिज्ञानात्'–स्या० र० पृ० ५०६। जनतर्कभा० पृ० १०। (९) धूमत्वमग्नित्वञ्च। (१०)अग्नित्वधूमत्वप्रयुक्तामेव। (११) पृ०४२० पं०७। (१२) सामान्यविशेषवत्तो धूमात्–आ० टि०। (१३) सामान्यविशेषवता अग्न्यादिना –आ० टि०। तुलना– धूमो हि यत्र यत्रेति सामान्येनैव गृह्यते। न पुनः पर्वतेऽरण्ये गृहे चैत्यवमिष्यते।–न्यायमं० पृ० १११। 'देशकालौ परित्यज्य स्वरूपमात्रेणैव धूमादेरग्न्यादिना सहाविनाभावस्य निर्बाधबोधाधिरूढत्वात्।–स्या० र० पृ० ५०६।

1–पि धूमसद्भा–श्र०। 2–पि धूमाद् श्र०। 3 बुद्ध्यस्व २ इ–आ०। 4–चारिणां हि श्र०।

व्याप्तिः । न च §देशकालयोरव्यभिचारित्वम्, निवर्त्तित§देशकालयोरभावेऽपि धूमादेरुपलम्भात् ।

यदप्यन्यदुक्तम्–'कस्य केन व्याप्तिः' इति, तत्र यस्य येन अव्यभिचारः तस्य तेन व्याप्तिः, सामान्यविशेषवतश्च धूमादेः सामान्यविशेषवताऽग्न्यादिनाऽव्यभिचारात् तस्य तेनैव व्याप्तिः, अतश्च उक्तदोषानवकाशः । गम्यं हि व्यापकम्, गमकं व्याप्यम् । न च केवलौ सामान्यविशेषौ गम्यगमकरूपतया अनुभूयेते, जात्यन्तररूपस्यैव उभयात्मनः तद्रूपतयाऽवभासनात् ।

यदप्यभिहितम्–'अविनाभावः सम्बन्धः, स च सम्बन्धिग्रहणपूर्वकः' इत्यादि, तदप्यनेनैव प्रत्याख्यातम्, सामान्योपलक्षितविशेषयोर्व्याप्तेः सर्वोपसंहारेणैव सम्भवात् । नहि तत्र आनन्त्यादिदोषोऽवकाशं लभते ।

यच्चोच्यते–अविनाभावशब्दो व्यतिरेकमात्रवचनो न सम्बन्धवचनः, तदप्युक्तिमात्रम्, यतोऽविनाभावशब्दो न व्यतिरेकमात्रे पर्यवस्यति घटाद्यभावेऽपि तत्प्रवृत्तिप्रसङ्गात्, किन्तु नियमे । स च नियमः तथोपपत्ति अन्यथानुपपत्तिप्रकाराभ्यां व्यवस्थितः, अतः तावुभावपि अविनाभावशब्देन उच्येते, 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्राग्निः, यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति' इति । ननु 'यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति' इत्येतत् कुतोऽवगम्यते इति चेत् ? अग्न्यभावे धूमस्य नियमेन अप्रतीयमानत्वात् तत्सद्भावनियत एवाऽसौ, अन्यथा यथा धूमाभावेऽपि क्वचिदग्निरुपलभ्यते तथा

(१) तुल्ना–"यो यथा नियतो येन यादृशेन यथाविधः । स तथा तादृशस्यैव तादृशोऽन्यत्र बाधकः ॥"–न्यायमा० पृ० ५७ । (२) पृ० ४२० पं० ६ । (३) तुल्ना–'व्याप्यस्य गमकत्वञ्च व्यापकं गम्यमिष्यते । यो यस्य देशकालाभ्यां समो न्यूनोऽपि वा भवेत् ॥ स व्याप्यो व्यापकस्तस्य समो वाऽभ्यधिकोऽपि वा । तेन व्याप्ये गृहीतेऽर्थे व्यापकस्तस्य गृह्यते ॥ न ह्यन्यथा भवत्येषा व्याप्यव्यापकता तयोः ।'–मी० श्लो० अनु० श्लो० ४–६ । (४) सर्वथा सामान्यविशेषाभ्यां विलक्षणजातिकस्य कथञ्चिदुभयरूपस्य इत्यर्थः । (५) गम्यगमकरूपतया । (६) पृ० ४२१ पं० ६ । (७) धूमत्वाग्नित्वविशिष्टधूमाग्निव्यक्त्या । "तुल्ना–'सामान्यवतोरविनाभावग्रहणाभ्युपगमात् । यद्यपि अग्निविशेषा धूमविशेषाश्चानन्त्यनावस्थिता तथापि तेष्ववस्थितमग्नित्वं धूमत्वञ्च सामान्यमुपग्राहकमस्तीति तदुपग्राहकवशात् भूयोदर्शनबलादग्निधूमयोर्देशान्तरव्यभिचारेऽप्यव्यभिचारग्रहणम्"–प्रश० व्यो० पृ० ५७० । प्रश० कन्द० पृ० २१० । (८) यावान् कश्चिद्धूमः स कालान्तरे देशान्तरे च अग्निज एव अनग्निजन्मा कदापि न भवतीत्येव प्रकारेण । तुल्ना–"सर्वोपसंहारवती व्याप्तिः"–तर्कभा० मो० पृ० १९ । (९) अननुगमानन्त्यादिव्यभिचारादयः । (१०) पृ० ४२१ पं० ८ । (११) अभावसामान्य । (१२) तुल्ना–"अविनाभाव एव हि नियमः साध्यं विना न भवतीति कृत्वा ।"–प्रमाणवा० स्वव० टी० पृ० ७० । (१३) तुल्ना–"हेतोस्तथोपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा । द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति ॥"–न्यायाव० श्लो० १७ । परीक्षामु० ३।९५ । प्रमाणनय० ३।२८ । प्रमाणमी० २।१।४ । (१४) अग्निसद्भाव । (१५) धूमस्य अग्निसद्भावनियतत्वाभाव, अग्नेर्वा धूमसद्भावनियतत्वे । (१६) तथायोगोऽग्नेः ।

§ एतन्मध्यगतः पाठो नास्ति । [1] जात्यन्तरस्यैव ब० ।

अग्न्यभावे धूमोऽपि क्वचिदुपलभ्येत । यस्य येन विना नानुपपत्तिर्न स तेन नियत यथा धूमाभावेऽप्युपपद्यमानोऽग्निर्न धूमेन नियत , अग्निना विनाऽनुपपत्तिश्च धूमस्य, तस्मादसौ तन्नियत इति ।

यदप्युक्तम्–'अग्न्यभावस्य पारमार्थिकत्वे धूमस्याविद्यमानत्वात तदाश्रिता व्याप्ति र्ग्रहीतु शक्या' इति, तदप्यसमीचीनम्, यतो यत्रैव देशे काले वा वास्तवोऽग्न्यभाव तत्रैव धूमस्य अविद्यमानत्व न सर्वत्रेति कथ तदाश्रिता व्याप्ति ग्रहीतुमशक्या ?

यदपि–'सर्वस्याग्नेरभावे धूमो नोपपद्यते सर्वस्य वा' इत्याद्युक्तम्, तदप्ययुक्तम्, यतो व्याप्ति सर्वोपसंहारेण प्रतीयते 'य कश्चिद् धूम स सर्वोऽग्न्यभावेऽनुपपन्न ' इति, न पुन एकैकधर्म्युल्लेखेन 'पर्वते गृहे अरण्ये वा धूमोऽग्न्यभावेऽनुपपन्न ' इति । तथा तत्प्रतिपत्तौ अनन्तेनापि कालेन व्याप्तिप्रतिपत्तिर्न स्यात् धर्मिणामानन्त्यात् । अनुमान वैफल्यप्रसङ्गाच, अग्निधूमवत्तामन्येषाणा धर्मिणा व्याप्तिग्रहणकाल एव गृहीतत्वात् ।

न च सर्वाग्निष्वगृहीतेषु धूमानुपपत्तेर्विशेषणभूत तदभावो ग्रहीतुमशक्य इत्यभिधातव्यम् यत तदभाव तदन्यदेशादिस्वभाव , भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य, तुच्छस्वभावस्याऽभावस्य निराकरिष्यमाणत्वात् । स चाग्निरग्निविविक्तो देशादि प्रत्यक्षेण एव प्रतीयते । व्यवहार एव हि प्रतियोगिग्रहणसव्यपेक्ष न स्वरूपप्रतिपत्ति, कथमन्यथा घटादेरपि प्रतिपत्ति स्यात् तत्स्वरूपस्यापि त्रैलोक्यविलक्षणतया त्रैलोक्या प्रतिपत्तावप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् ?

यच्च–'अग्न्यभावाभावेऽपि क्वचिद् धूमाभाव धूमसद्भावस्य विरोधो दृष्ट ' इत्याद्य भिहितम्, तदप्यभिधानमात्रम् अग्न्यभावे सति धूमसद्भावस्य नियमेन निवर्त्तमानत्वात्, तद्विरोधे[15] स्वभावस्येव[16] अग्न्यभावस्यापि निमित्तत्वोपपत्ते । यद् यस्मिन् सति नियमेन निवर्त्तते तत्तद्विरोधनिमित्तम् यथा उष्णस्पर्शसद्भाव शीतस्पर्शे , नियमेन निवर्त्तते चाग्न्यभावे धूमसद्भाव , तस्माद् धूमविरोधस्यासौ[18] निमित्तमिति । ननु अग्न्यभावे

(१) पृ० ४२१ प० ११ । (२) महानसादौ । (३) धूमाग्नी । (४) पृ० ४२१ प० १९ । (५) तुलना– तत्र सर्वस्यापि धूम यतो धूमानुपपत्ति सर्वोपसंहारेण प्रतीयते यावान् कश्चिद् धूम स सर्व सर्वस्याग्नेरभावेऽनुपपन्न –स्या० र० पृ० ५०६ । (६) प्रतिनियतधर्मिव्यक्तिनिर्देशेन व्याप्ति प्रतीतौ आनन्त्य बाधकम् तदाह तथेति । (७) अग्न्यभाव –आ० टि० । (८) अग्न्यभाव –आ० टि० । तुलना– यतोऽग्न्यभाव तदन्यवस्त्वन्तरस्वभाव भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य । –स्या० र० पृ०५०७ । (९) तस्मादग्निविविक्तवस्तुना वह्नेरन्यस्य पवनादेस्तद्ग्रहणस्वभाव इति–आ० टि० । (१०) महाह्रदादि । (११) अत्र घटाभाव अत्र अग्न्यभाव इति व्यवहार । (१२) स्वरूपप्रतिपत्तिरपि यदि प्रतियोगिग्रहणापेक्षा स्यात्तदा । (१३) घटस्वरूपस्यापि । (१४ पृ० ४२२ प० २ । (१५) धूमविरोध । (१६) धूमाभावस्येव । (१७) तुलना– तस्मात् यत्सद्भावे यस्य नियमेन निवृत्ति तत तद्विरुद्धमेव अग्न्यभावे च सति धूमस्य नियमेन निवर्तमानत्वात धूमाभावेनेव तेनापि तस्य विरोध । तथाहि यस्मिन् सति यन्नियमेन निवर्तते –स्या० र० पृ० ५०७ । (१८) अग्न्यभाव –आ० टि० ।

1–धर्मो ले–व । 2 ग्रहीतु शक्य –ब० । 3–त्र एव ब० । 4 तद्विरोधिस्वभावस्येव अग्न्य भावस्या–ग्र० । 5–वस्येव ब० ।

धूमस्य नियमेन निवर्त्तमानत्वमसिद्धम्, गोपालघटिकादौ तदभावेऽपि तत्सद्भावप्रतीतेः, इत्यप्यसत्; तत्रापि तत्सद्भाव एव तद्भावसंभवात्। धूमस्य हि भावः आत्मलाभः, स च अग्नौ सत्येव संवृत्तः, तत्कथं तत्र अग्न्यभावे धूमसद्भावाशङ्कापि ? तर्हि पर्वतादाविव गोपालघटिकादावपि धूमोऽग्निं गमयेत्, इत्यप्ययुक्तम्; पर्वतादिधूमादस्यैव वैलक्षण्यात्। वह्निसमानसमयसत्ताको हि पर्वतादिधूमो बहलपताकायमानस्वरूपोऽनुभूयते, न चायं तथा, अतो नास्य अग्न्यनुमापकत्वम्।

यदप्युक्तम्-'अविनाभावे सत्यपि न धूमात् पैङ्गल्यमनुमीयते' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्, यतो व्याप्त्यनुसारेण अनुमानं विधीयते, व्याप्तिश्च अग्नित्व धूमत्वद्वारेणावसीयते न पैङ्गल्यादिधर्मद्वारेण, तेषामानन्त्यात् व्यभिचाराच्च। पैङ्गल्यं हि हरितालकाञ्चनादौ व्यभिचरदुपलभ्यते, भासुरत्वं सूर्य-तारका-तडिदादौ, द्रव्यत्वं नवस्वपि द्रव्येषु, ऊर्ध्वगतित्वं वात्यादौ, इति अग्निगतानां धर्माणां व्यभिचारः। तथा धूमगतानामपि, तथाहि-श्यामत्वं नीलाञ्जनादौ, कटुकत्वं त्रिकटुकादौ, अक्षिविकारकारित्वं कटुतैलादौ, कण्ठग्राहित्वम् अपक्वजम्बूफलादौ, ऊर्ध्वगतित्वं बाष्पादौ साधारणं दृश्यते। अतो येन एकेनैव रूपेण त्रैलोक्योदरवर्त्तिन्यो वह्निव्यक्तयो धूमव्यक्तयः तद्धर्माश्च संगृह्यन्ते तदेव रूपं व्याप्तिं नियमेन व्यवस्थापयति, तच्च अग्नित्वधूमत्वे मुक्त्वा नान्यद् भवितुमर्हति। न खलु यथा वस्त्वन्तरसाधारणाः पैङ्गल्यादयः तथा अग्नित्व-धूमत्वे। तद्वाचके चोच्चरिते शब्दे प्रतिपत्तॄणां त्रैलोक्यविलक्षणः स्वधर्मकलापकलितोऽग्निः धूमश्चार्थः संगृह्यते इति सिद्धा तद्द्वारेण व्याप्तिः साध्यसाधनयोः।

ननु यदि अनयोः वस्तुतो व्याप्तिरस्ति तर्हि प्रथमदर्शनकाले कस्मान्नोल्लिखतीति चेत् ? ग्राहकाभावात्। यत्काले यद्ग्राहकं नास्ति तत्काले तन्न प्रतिभासते यथा रूपदर्शनकाले रसः, अग्निधूमयोः प्रथमदर्शनकाले नास्ति च व्याप्तिग्राहकं ज्ञानमिति।

(१) इन्द्रजालघटादौ। "गोपालघुटिकादिषु"-प्रश० व्यो० पृ० ५७१। स्या० र० पृ० ५०७। (२) अग्न्यभावेऽपि धूमसद्भावप्रतीतेः। (३) अग्निसद्भाव एव। (४) इन्द्रजालघटादौ। (५) गोपालघटिकागतधूमस्य। तुलना-"पर्वतादिधूमादस्य वैलक्षण्यात्। वह्निसमानसमयसत्ताको हि पर्वतादिधूमो बहलपताकायमानस्वरूपोऽनुभूयते"-स्या० र० पृ० ५०७। (६) पृ० ४२२ पं० ५। (७) तुलना-"यतो व्याप्त्यनुसारेणानुमानं विधीयते, व्याप्तिश्चाग्नित्वधूमत्वद्वारेणैवावसीयते"-स्या० र० पृ० ५०७। (८) वात्या-वातूल 'ववण्डर आंधी' इति भाषायाम्। (९) त्रयाणां कटूनां शुण्ठीमरीचपिप्पलीनां समाहारः त्रिकटुकम्। "विश्वोपकुल्या मरिचं त्रयं त्रिकटु कथ्यते। कटुत्रयं तु त्रिकटु त्र्यूषणं व्योष उच्यते॥"-भाव प्र० ५।६०। (१०) हरितालसुवर्णादयो वस्त्वन्तरम्। (११) अग्निधूमप्रतिपत्तॄणाम्। (१२) अग्नित्वधूमत्वद्वारेण। (१३) अग्निधूमयोः।

1-भावे तत्र-श्र०, ब०। 2 धूमस्य स-श्र०। 3-धूमस्य स-श्र०। 4 नीलोत्पलाञ्जनादौ ब०। 5 एकेन स्वरूपेण ब०। 6 तदेकं रू-श्र०। 7 अग्निधूमत्वे श्र०। 8 सिद्धा तद्वारेण ब०। 9 नास्ति व्या-आ०। 10-कं तर्काख्यं ज्ञानमिति ब०।

तत्काले तद्ग्राहकाभावश्च तत्कारणाभावात् सिद्धः। व्याप्तिज्ञानस्य हि कारणम् प्रत्यक्षानुपलम्भौ। न च प्रथमदर्शनकाले तौ स्तः। न च ग्राहकाभावात् तदा व्याप्तेरप्यभावः, तदा ग्राहकाभावस्य अन्यथासिद्धत्वात्, अन्यथा दूरे रूपदर्शनकाले रसस्याप्यभावः स्यादविशेषात्। तदा व्याप्तेरभावे च कथं पश्चात् प्रतिभासेन खपुष्पवत्?

अथ अन्वयव्यतिरेकवशात् प्रतिभासेत, ननु अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सा किं जन्यते, ज्ञाप्यते वा? न तावज्जन्यते, तौ हि प्रमाणम्, न च प्रमाणं प्रमेयमुत्पादयति। अथ ज्ञाप्यते, तत्रापि किं तत्काले सती सा ज्ञाप्यते, प्रागपि वा? तत्काले चेत्; न, अन्वयव्यतिरेककाल एव व्याप्तेः सत्त्वे कारणाभावात्। अथ प्रागपि सती ज्ञाप्यते, सिद्धं तर्हि प्रथमदर्शनकालेऽपि व्याप्तेः सत्त्वमिति कथं सा तद्ग्राहकतर्कश्च अपह्नूयेत? प्रतीयमानस्याप्यपह्नवे रूपादेः तद्ग्राहकज्ञानस्य वाऽपह्नवः स्यात्। ततः सिद्धं तर्कः प्रमाणम्।

एतदेवाह–**चिन्ता प्रमाणम् अभिनिबोधस्य फलस्य हेतुत्वात्।** अस्य पर्यायमाह–**अनुमानादेरिति।** किन्नाम इदमुक्तलक्षणं प्रमाणम्? इत्याह–**श्रुतज्ञानम्** इति। कुत एतत्? **शेषम्** अस्पष्टं यत्, '**शब्दानुयोजनात्**' इत्येतन्मध्ये करणात् अनेन च सम्बध्यते। तद्योजनात् यत् पूर्वम् अर्थात् अस्पष्टम् तद्योजनाच्च यच्छेषमस्पष्टं तत् सर्वं श्रुतज्ञानमिति। तच्च **अनेकप्रभेदम्** शब्दयोजनाचितेतराऽस्पष्टज्ञानव्यक्तिभेदानामानन्त्यादिति।

ननु व्याप्तिप्रतीत्यर्थं तर्कलक्षणप्रमाणाभ्युपगमोऽनुपपन्नः, प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा तस्याः प्रतीतिसिद्धेः इत्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह–

अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित् सम्प्रतीयते ॥ ११ ॥
नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणान्तरमाञ्जसम्।

---

(१) प्रथमदर्शनकाले। (२) तर्कस्य। तुलना–व्याप्तिज्ञानस्य हि कारणमुपलम्भानुपलम्भौ न च प्रथमदर्शनकाले तौ स्तः। –स्या० र० पृ० १०८। (३) साध्यसाधनसद्भावविषयकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् साध्याभावसाधनाभावविषयकञ्च ज्ञानमनुपलम्भः। (४) प्रथमदर्शनकाले। (५) अप्रयोजकत्वात्। (६) यदि ग्राहकाभावात् वस्तुनोऽभावः स्यात्तदा। (७) रसग्राहकस्य रासनप्रत्यक्षस्य अभावात्। (८) प्रथमदर्शनसमये। (९) भूयोदर्शनानन्तरम्। (१०) उपलम्भानुपलम्भाभ्याम्। (११) व्याप्तिः। (१२) अन्वयव्यतिरेकग्राहिणौ उपलम्भानुपलम्भावेव अत्र अन्वयव्यतिरेकशब्देन विवक्षितौ विषयविषयिणोः विषयेऽप्युपचारात्। (१३) अन्वयव्यतिरेककाले। (१४) व्याप्तेः प्रथमकाले। (१५) [illegible]। (१६) निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण। (१७) अविनाभावः (१८) व्याप्तिग्रहणात् पूर्वमनुपलम्भत्वात्। (१९) तर्कात्मकम्। (२०) लिङ्गं साध्यसाधनयोरविनाभावः। किञ्चिदपि। न सम्प्रतीयते न सामस्त्येन ज्ञायते। कया? अविकल्पधिया निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण सौगताभिमतेन यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वोऽप्यग्निजन्य एव अनग्निजन्यो वा न भवतीत्येतावद्व्यापारस्याविकल्पत्वात्तस्य अन्यथा सविकल्पकत्वापत्तेः। नाप्यनुमानात् तस्यैवासिद्धत्वात् व्याप्तिग्रहणपूर्वकत्वादनुमानोत्थानस्य। अनुमानान्तरात्तत्साध्याविनाभावनिर्णये चानवस्थाप्रसङ्गात्। प्रथमानुमानात् द्वितीयानुमाने

1–भावं तदा श्र०। 2–भासते श्र० ब०। 3–हृक्तर्क–भ० ब०। 4 अन्यत्र आ०। 5 सम्बध्यते श्र०।

विवृतिः–नहि[1] प्रत्यक्षं 'यावान् कश्चिद्धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति इयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात्। नाप्यनुमानान्तरम्, सर्वत्राऽविशेषात्। नहि साकल्येन लिङ्गस्य लिङ्गिना व्याप्तेरसिद्धौ क्वचित् किञ्चिदनुमानं नाम। "तत्र अप्रत्यक्षम् अनुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणम्" [ ] इत्ययुक्तम्; लिङ्गप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वात्।

लिङ्गं हि साध्येन साधनस्य अविनाभावोऽभिधीयते, तस्मिन् सत्येव लिङ्गस्य लिङ्गत्वोपपत्तेः। तस्य प्रतिपत्तिः किं प्रत्यक्षात्, अनुमानतो वा स्यात्? प्रत्यक्षाच्चेत्; किम् अस्मदादिसम्बन्धिनः, योगिसम्बन्धिनो वा? प्रथमपक्षे किं स्वसंवेदनात्, इन्द्रियजात्, मानसाद्वा ततोऽसौ प्रतीयेत? न तावत् स्वसंवेदनात्, तस्य स्वरूपमात्रविषयतया बहिरर्थवार्त्तानभिज्ञत्वात्। इन्द्रियमनःप्रभवादपि प्रत्यक्षात् सविकल्पात्, निर्विकल्पाद्वा अविनाभावः प्रतीयेत? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः, सविकल्पकप्रत्यक्षस्य सौगतैः प्रामाण्यानभ्युपगमात्। तदभ्युपगमेऽपि न तत्तत्र समर्थम्, इत्याह–'न प्रत्यक्षम्' इत्यादि। प्रत्यक्षं सौगतयौगकल्पितं मानसेन्द्रियलक्षणम् तत्र 'यावान् कश्चिद् धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति इयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थम्। कुत एतत्? सन्निहितविषयबलोत्पत्तेः। सन्निहितः अविप्रकृष्टदेशकालो यो विषयः अग्निधूमादिः साध्यसाधनव्यक्तिलक्षणः तस्य बलं सामर्थ्यं तेन उत्पत्तेः। एतेन निर्विकल्पकमपि न तत् तत्र समर्थमिति प्रतिपत्तव्यम्। अत्रैव हेत्वन्तरमाह–अविचारकत्वात् इति। न विद्यते विचारः 'यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वोऽग्नेरेव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति परामर्शो यस्य निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य तस्य भावात् तत्त्वात्। चशब्दोऽत्र समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः। कथमस्याऽविचारकत्वमिति चेत्?

व्याप्तिनिर्णय इति चेत्, सोयं परस्पराश्रयदोषः। तत्रानुमानमपि व्याप्तिग्राहकमिति तद्ग्राहकं प्रमाणान्तरं तर्काख्यम् आञ्जसं पारमार्थिकं न मिथ्याविकल्पात्मकमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा अनुमानप्रामाण्यायोगात्।'–लघी० ता० पृ० ३०।

(१) तुलना–'यदाह नहीदमियता व्यापारान् कर्तुं समर्थमिति।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।४१। 'न हि कस्यचित् साकल्येन व्याप्तिज्ञानं प्रत्यक्षं क्वचित् कदाचित् भवितुमर्हति सन्निहितविषयबलेनोत्पत्तेरविचारकत्वात्।"–सिद्धिवि०, टी० पृ० १५६। अष्टश०, अष्टसह० पृ० ११९। 'यथाहु–न हीदमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलेनोत्पत्तेरविचारकत्वात्।"–न्या० भा० भामती पृ० ७६६। न्यायवा० ता० पृ० १३७। (२) उद्धृतमिदम्–प्रमाणस० प० १०१। (३) तुलना–'संनिकृष्टविप्रकृष्टयोः साध्यसाधनयोस्तथा नेदं तथा वा व्यवस्थापयितुकामस्य तर्कः परं शरणम्।"–सिद्धिवि०, टी० पृ० २९३ A (४) अविनाभावे। (५) अविनाभावः। (६) सविकल्पकप्रत्यक्षम् अविनाभावग्रहणे। (७) प्रत्यक्षम्–आ० टि०। (८) सन्निहितविषयबलोत्पत्ते–आ० टि०। (९) व्याप्तिग्रहणे–आ० टि०।

1 इति यतो ज० वि०। 2–नुमानात–ई० वि०। 3 व्याप्तिरसि–ज० वि०। 4 प्रतीयते भ०। 5 तत्त्वाच्च चशब्दो आ०, ब०।

कस्यचित् परोक्षत्वात्, अपरस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वेन अनवस्थानात्, अन्यस्य क्षणिकत्वेन अकिञ्चित्करत्वात्।

प्रत्यक्षेणैव अविनाभावस्यावगतिरिति यौगानां पूर्वपक्षः —

अत्र यौगा ब्रुवते – साध्यसाधनयोरविनाभावः प्रत्यक्षेणैव प्रतीयते। प्रथमप्रत्यक्षेऽपि अग्निसम्बन्धित्वेनैव धूमस्य प्रतिभासनात् तद्गतो नियमोऽपि प्रतिभासत एव। न च तत्राप्ययं यतोऽपि, अन्यत एव वेति संशयविपर्ययौ स्तः, 'अग्नेरेव अयम्' इति तत्सम्बन्धित्वेनैव अस्याऽध्यवसायात्। इत्थं प्रथमप्रत्यक्षेण व्याप्तौ प्रतिपन्नायाम् अन्वयव्यतिरेकौ भूयसोपलभ्यमानौ तस्यैव ज्ञानस्य दार्ढ्यमुत्पादयतः। भूयोदर्शनागतान्वयव्यतिरेकसहकृतेन्द्रियप्रभवं वा प्रत्यक्षं व्याप्तिं प्रतिपद्यते। ननु यदि प्रथमप्रत्यक्षेणैव व्याप्तिः प्रतीयते तर्हि निमित्तमनेन नियत इत्येवंरूपा तदानीमेव व्याप्तिप्रतीतिर्नोत्पद्यते इति चेत्? सामर्थ्याभावात्। अनुसन्धानेन

(१) मीमांसकस्य इन्द्रियस्य मानसस्य – आ० टि०। (२) नैयायिकस्य। (३) सौगतमते स्वलक्षणस्य–आ० टि०। (४) यथा हि क्षणिकांशं निर्विकल्पकं सञ्ज्ञानमपि न तन्निश्चिनोति अतः क्षणिकांशे अकिञ्चित्करं निर्विकल्पकं तथैव नीलाद्यंशेऽपि। (५) 'लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धदर्शनमाद्यं प्रत्यक्षम्' –न्यायवा० पृ० ४४। (६) धूमेऽपि। (७) अयं धूमः किमग्नेर्जातः उत अन्यस्मादपि कारणात् इति संशयः। (८) धूमोऽयम् अग्निव्यतिरिक्तात् अन्यस्मादेव कस्माच्चित् कारणात् जात इति विपर्ययः। (९) अग्निसम्बन्धित्वेनैव। (१०) धूमस्य। (११) 'भूयोदर्शनगम्या च व्याप्तिः सामान्यधर्मयोः। ज्ञायते भेदहानेन क्वचिच्चापि विशेषयोः॥' –मी० श्लो० अनु० श्लो० १२। न ह्यन्यथानुपपत्तिः प्रत्यक्षसमधिगम्या। कार्याव्यभिचारसमधिगम्या हि सा। अव्यभिचारश्च असकृद्दर्शनपूर्वकः। –बृहती० पृ० १११। बृह० प० पृ० ९६। प्रक० प० पृ० ७०। न्याय० मा० पृ० ७२। भूयोदर्शनबलादग्निधूमयोर्देशादिव्यभिचारेऽप्यव्यभिचारग्रहणम् – प्रश० व्यो० पृ० ५७०। तस्माद्भिन्नजातमणिभेदतत्त्ववत् भूयोदर्शनजनितसंस्कारसहितमिन्द्रियमेव धूमादीनां वह्न्यादिभिः स्वाभाविकसम्बन्धग्राहीति युक्तमुत्पश्याम। एवं मानान्तरविदितसम्बन्धेषु मानान्तराण्येव यथास्वं भूयोदर्शनसहायानि स्वाभाविकसम्बन्धग्रहणे प्रमाणानि युक्तान्यानि। –न्यायवा० ता० पृ० १६७। ता० प० पृ० ६९७। तन्नेन अन्वयव्यतिरेकावेव भूयोदर्शनसहचारिणौ तद्ग्रहणोपाय इति दर्शितम्। भूयोदर्शनं हि तज्ज्ञानजनितसंस्कारसहितमिन्द्रियमुच्यते। मणिभेदतत्त्वज्ञाने स्फुटमुदाहरणम्। तथाहि–मणिर्यथाविषयस्तत्सद्भावव्यवहारविषया भवन्ति धारयितुं मतल्पसम्पादकश्चोनीयते ते सूक्ष्मविशेषाः परीक्षकेण भूयोभिरेव दर्शनैः प्रतीयन्ते तथात्रापि। प्रथमं हि काकतालीयव्युदासाय ततः सातत्योपगमनविशेषनिश्चयाय तदनन्तरं उपाधिनिरासाय। –प्रश० किर० पृ० २९५। सहभावदर्शनजसंस्कारसहकारिणा निरस्तप्रतिपक्षशङ्केन चरमप्रत्यक्षेण धूमसामान्यस्य अग्निसामान्येन स्वभावमात्राधीनं सहभावं निश्चित्य इदमनेन नियतमिति नियमं निश्चिनोति। यद्यपि प्रथमदर्शनेऽपि सहभावो गृहीतः तथापि न नियमग्रहणम्। न हि सहभावमात्रं नियमः अपि तु निरुपाधिकसहभावः। निरुपाधिकत्वञ्च तस्य भूयोदर्शनाभ्यासावशेयमित्यतीन्द्रियसहभावग्रहणसम्भवात् सविकल्पकप्रत्यक्षेण सोऽध्यवसीयते। –प्रश० क० पृ० २०९। व्यभिचारज्ञानविरहसहकृतं सहचारदर्शनं व्याप्तिग्राहकम्। ज्ञानं निश्चयः शंका च। सा च क्वाचिदुपाधिसन्देहात् क्वचिद्विशेषादर्शनसहितसाधारणधर्मदर्शनात्। तद्विरहश्च क्वचिद्विपक्षबाधकतर्कात् क्वचित् स्वतः सिद्ध एव। –तत्त्वचि० अनु० पृ० २१०।

1–भासमानात् ब०। 2 न तत्रा–श्र०। 3 तत्राप्ययतोऽप्यन्यत एवेति आ०, तत्राप्ययत एवेति ब०।

हि व्याप्तिरुल्लिख्यते। अनुसन्धानञ्च सकृदेकेन[1] सहितस्य[2] ग्रहणे अनु पश्चाद् अपरेण[3] सहितस्यैव ग्रहणम्। एतच्च[4] भूयोदर्शना[5]ऽदर्शनै[6]रेव उत्पद्यते। अन्वयव्यतिरेकौ च प्रयोजकसन्देहव्युदासार्थौ युक्तावेव। अनेकसहचारिदर्शने हि प्रयोजके सन्देहः–'किं धूमत्वप्रयुक्तोऽयं नियमः, किं वा तार्णत्वश्यामत्वादिप्रयुक्तः?' इति। तत्र तार्णत्वादयः सम्बन्धिनो व्यभिचारिणः[7], श्यामत्वादयस्तु धूमापेक्षाः, इति धूमस्य अग्निसम्बन्धित्वे धूमत्वमेव प्रयोजकम्। तस्मिन् सति न कदाचिदग्निरत्र व्यभिचरतीति भूयोदृष्टान्वयव्यतिरेकवतो विस्फारिताक्षस्य अनुपरतेन्द्रियव्यापारस्य अपरोक्षाकारतया उपजायमानत्वात् विशिष्ट[1]दण्डादिप्रत्ययवत् प्रत्यक्षमेवेदं व्याप्तिज्ञानमिति।

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं व्याप्तिग्रहणार्थं तर्कस्यैव प्रथरं प्रामाण्यसमर्थनम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[8]–'प्रत्यक्षेणैव अविनाभावः प्रतीयते' इत्यादि, तत्र[9] किम् ऐन्द्रियम्, मानसं वा प्रत्यक्षं तद्ग्रहणे प्रवर्त्तेत? न तावद् ऐन्द्रियम्, तद्धि[10] येनार्थेन प्रतिनियतदेशकालादिना इन्द्रियं सम्बध्यते तमेव अवभासयति न तु व्याप्तिम्, तस्याः सकलदेशकालकलापरिगतार्थाक्षेपेण[11] अवस्थितत्वात्। सा[12] हि गृह्यमाणा त्रैलोक्योदरवर्त्तिनाम् अतीतानागतवर्त्तमानाऽशेषार्थानामुपसंहारेण गृह्यते। यतो व्यापनं व्याप्तिः, सर्वासां व्याप्यव्यक्तीनां व्यापकव्यक्तीनाञ्च व्याप्यरूपतया व्यापकरूपतया च क्रोडीकरणम्। न च तत्र[13] इन्द्रियस्य सम्बन्धो ग्रहणसामर्थ्यं वा सम्भवति, वर्त्तमाने नियतदेशार्थे तत्सम्भवात्[14]। न च विश्वोदरवर्त्तिन्यो व्यक्तयः सर्वाः तेन[15] सम्बद्धा वर्त्तमाना वा, तत्कथं प्रत्यक्षतस्तत्रैव[16] व्याप्तिप्रतिपत्तिः?

किञ्च, प्रत्यक्षमात्रम्, भूयोदर्शनसहायम्, अन्वयव्यतिरेकसहकृतं वा प्रत्यक्षं व्याप्तिग्रहणे प्रभवेत्? न तावत् प्रत्यक्षमात्रम्, भूगृह[17]वर्द्धितोत्थितमात्रस्य प्रथमाऽग्निधूमव्यक्तिदर्शनेऽपि व्याप्तिप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्।

यदप्युक्तम्[18]–'प्रथमप्रत्यक्षेऽपि अग्निसम्बन्धित्वेनैव धूमस्य प्रतिभासनात् तद्गतो नियमोऽपि प्रतिभासते' इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, यतः पुरोदृश्यमाने[19] नियताग्नि-

(१) महानसाग्निना–आ० टि०। (२) धूमस्य। (३) चत्वराग्निना। (४) अनुसन्धानम्। (५) अन्वय–आ० टि०। (६) व्यतिरेक–आ० टि०। (७) तृणनिर्मितकटादिष्वपि भावात्। (८) पृ० ४२८ प० ३। (९) तुलना–'तत्र किमैन्द्रियं मानसं वा प्रत्यक्षं व्याप्तिग्रहणे प्रयतते।"–स्या० र० पृ० ५१०। (१०) तुलना–'न तावत्प्रत्यक्षम् सन्निहितदेशवर्तमानकालवस्तुविषयनियमात्। यत्र हि प्रमाणेन सर्वदेशेषु च धूमादीनामग्न्यादिसम्बन्धोऽवगम्यते तेन तेषां सम्बन्धनियमोऽवगम्यते। न च प्रत्यक्षं तत्र समर्थम्।' –प्रक० प० प० ६८। अष्टसह० पृ० ४३। प्रमेयक० पृ० ३४९। स्या० र० पृ० ५१०। विशु० प० २३८। (११) सर्वोपसंहारेण। (१२) व्याप्तिः। (१३) सर्वव्याप्यव्यापकव्यक्तिषु। (१४) सम्बन्धग्रहणसामर्थ्ययोः सम्भवात्। (१५) इन्द्रियेण। (१६) विश्ववर्तिषु व्याप्यव्यापकव्यक्तिषु। (१७) भूमिगृह–आ० टि०। (१८) पृ० ४२८ प० ३। (१९) समक्षीभूते महानसादौ।

1 विशिष्टं द–आ०।

सम्बन्धित्वेन धूमस्तत्र प्रतिभासेत, अनियताखिलाग्निसम्बन्धित्वेन[1] वा ? प्रथमपक्षे कथं प्रथमदर्शने व्याप्तिप्रतिपत्तिः ? प्रतिनियतव्यक्तौ[2] व्याप्तेरेवाऽसम्भवात्, तस्याः सर्वाक्षेपेण पर्यवसानात्। द्वितीयपक्षे तु आस्तां प्रथमप्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षशतैरपि न व्याप्तिः प्रत्येतुं शक्या, तेषां[3] सम्बद्धवर्त्तमानार्थगोचरचारितया 'यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वोऽग्नौ[4] एव' इति सर्वाक्षेपेण अविनाभावप्रतिपत्तावसमर्थत्वात्।

एतेन 'भूयोदर्शनसहायमाद्यप्रत्यक्षं व्याप्तिं प्रतिपद्यते' इत्ययमपि पक्षः[5] प्रत्युक्तः।

नान्वयव्यतिरेकसहकृतं तत्[6] तां प्रतिपत्तुं समर्थम्, यतः तत्सहकृतस्याप्यस्य[7] यत्रैव स्वयं प्रवृत्तिः तत्रैव तत्प्रतिपत्तिर्घटते न पुनः 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निः, यत्र अग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति' इति सर्वाक्षेपेण, तत्र[8] च व्याप्तिप्रतिपत्तेर्वैयर्थ्यम्। अनुमानार्थं हि सा इष्यते, प्रत्यक्षेण च प्रतिपन्ने साध्यसाधनव्यक्तिविशेषे[9] किमनुमानेन ? अन्वयव्यतिरेकसहकृतत्वञ्चास्य[11] स्वविषयातिक्रमेण अर्थान्तरे प्रवृत्तिः, स्वविषये प्रवर्त्तमानस्य अतिशयाधानं वा ? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोधः, स्वार्थातिक्रमेण अर्थान्तरे प्रवृत्तिलक्षणसहकारित्वस्य क्वचिदप्यप्रतीतेः। न खलु प्रदीपसहकृतं चक्षुः रसादौ प्रवर्त्तमानं प्रतीयते। स्वविषये प्रवर्त्तमानस्यातिशयाधानञ्च अध्यक्षस्य[12] व्याप्तिविषयत्वे सिद्धे सिद्ध्येत्। तच्चैव असिद्धम्, सम्बद्धवर्त्तमानार्थविषयत्वात्तस्य। न च तैः[13] सहकृतस्यापीन्द्रियप्रभवाध्यक्षस्य कश्चनोत्कर्षो जायते, येन स्वविषयातिक्रमेणाप्यर्थान् गृह्णीयात्।

एतेन 'भूयोदर्शनावगताऽन्वयव्यतिरेकसहकृतेन्द्रियप्रभवं प्रत्यक्षं व्याप्तिं प्रतिपद्यते' इति[14] प्रत्युक्तम्। किञ्च, [15]इन्द्रियविषये विद्यमानत्वात् तत्[16]प्रभवप्रत्यक्षेण व्याप्तिः प्रतीयते, स्वविषयत्वाद्वा ? न तावद् विद्यमानत्वात्, रसादेरपि चाक्षुषत्वानुषङ्गात्, व्याप्तिवद् धूमाग्नौ[17] तत्सत्त्वस्याप्यविशेषात्। नापि स्वविषयत्वात्, तस्याः[18] तद्विषयत्वानुपपत्तेः[19]। [20]अनियतविषया हि व्याप्तिः, [ता] कथं नियतविषयमिन्द्रियप्रभवं प्रत्यक्षं प्रतिपद्येत ?

(१) तुलना– "अत्र पुरोदृश्यमानाग्निसम्बन्धित्वेन धूमः प्रथमप्रत्यक्षे प्रतिभासेत सर्वाग्निसम्बन्धित्वेन वा ?" –स्या० र० पृ० ५१०। (२) व्याप्तेः। (३) प्रत्यक्षाणाम्। (४) सत्येव भवति अग्न्यभावे तु कदाचिदपि न भवतीत्यध्याहार्यम्। (५) पृ० ४२८ पं० ७। (६) प्रत्यक्षम्। (७) सहकृतस्य अन्वयव्यतिरेकसहकृतस्यापि प्रत्यक्षस्य। (८) व्याप्तिः। (९) प्रत्यक्षविषयीभूतधूमाग्निव्यक्तिविशेषे। (१०) व्याप्तिप्रतिपत्तेः। (११) तुलना– "अन्वयव्यतिरेकसहकृतत्वं हि प्रत्यक्षस्य स्वविषयातिक्रमेण अर्थान्तरे प्रवृत्तिः स्वविषये प्रवर्तमानस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यामतिशयाधानं वा ?" –स्या० र० पृ० ५११। (१२) अध्यक्षस्य व्याप्तिविषयत्वम्। (१३) अन्वयव्यतिरेकसहकृतस्य। (१४) पृ० ४२८ पं० ८। (१५) तुलना– "किञ्च इन्द्रियविषये विद्यमानत्वात् तत्प्रभवप्रत्यक्षेण व्याप्तिः प्रतीयते स्वविषयत्वाद्वा ?" –स्या० र० पृ० ५११। (१६) इन्द्रियप्रभव। (१७) यथा धूमाग्न्योः व्याप्तिरस्ति एवमग्नौ रसादित्वमपि–आ० टि०। (१८) व्याप्तेः। (१९) प्रत्यक्षविषयत्वानुपपत्तेः। (२०) तुलना– "अनियतविषया हि व्याप्तिरिति कथं नियतविषयेन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षेण प्रतिपद्यते" –स्या० र० पृ० ५११।

1 स्वे विषये ब०।

यदप्यभिहितम्[1]–'अनुसन्धानेन हि व्याप्तिरुल्लिख्यते, तच्च भूयोदर्शनादर्शनैरेव उत्पद्यते' इत्यादि, तदुपपन्नमेव, उपलम्भानुपलम्भप्रभवस्यैव ज्ञानस्य अस्माभि व्याप्तिप्रतिपत्तौ सामर्थ्यस्य समर्थयितुमुपक्रान्तत्वात्। प्रत्यक्षरूपता तु तस्य अनुपपन्ना, विभिन्नसामग्रीविषयत्वात्। तद्धि इन्द्रियादिसामग्रीक सम्बद्धवर्त्तमानार्थविषयञ्च प्रसिद्धम्, नचेद् तथा इति कथ प्रत्यक्षरूपता प्रतिपद्येत ?

ननु सामान्यस्य व्याप्तिप्रतिपत्तौ प्रयोजकत्वात्, तस्य च इन्द्रियेण सम्बद्धत्वात् वर्त्तमानत्वाच्च कथन्न व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्षम ? इत्यप्यविचारितरमणीयम, यत किं सामान्यस्य सामान्येन व्याप्ति, उत तदुपलक्षितविशेषाणा तदुपलक्षितविशेषै ? तत्र आद्यपक्षे न किञ्चिद् व्याप्तिप्रतिपत्तिप्रयोजनम् सामान्ये सिद्धसाधनतोऽनुमानवैफल्यप्रसङ्गात। तदुपलक्षितविशेषाणा तु आनन्त्यात् कथ सम्बद्धवर्त्तमानता यतो व्याप्तिज्ञानस्य प्रत्यक्षता स्यात् ?

एतेन 'भूयोदृष्टान्वय' इत्यादि[13] प्रत्युक्तम्, विशिष्टदण्ड्यादिप्रत्ययस्य हि सम्बद्धवर्त्तमानार्थगोचरचारितया प्रत्यक्षता युक्ता, न तु व्याप्तिज्ञानस्य तद्विपर्ययात् इत्यसकृदावेदितम्। अथ अस्य अप्रत्यक्षत्वे कथम् 'इन्द्रियापेक्षा' इत्युच्यते ? 'तत्कारणकारणत्वात्' इति ब्रूम। व्याप्तिज्ञानस्य हि कारण प्रत्यक्षानुपलम्भौ तयोश्च इन्द्रियमिति। तन्न इन्द्रियप्रभव प्रत्यक्ष व्याप्तिप्रतिपत्तौ समर्थम्।

नापि मानसम्, मनसो बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य बहिरर्थे प्रवृत्त्यभावात्। "अस्वतन्त्र

(१) पृ० ४२८ प० १०। (२) अनुसन्धानम्। (३) तर्कस्यस्य–आ० टि०। (४) अत। (५) उपलम्भानुपलम्भजस्य तर्कस्य। (६) प्रत्यक्षम्। (७) तर्काख्य ज्ञानम। (८) धूमत्वस्य अग्नित्वस्य च। (९) सयुक्तसमवायसम्बन्धसद्भावात, चक्षु सयुक्त अग्नौ धूमे च अग्नित्वस्य धूमत्वस्य च समवायात। (१०) सामान्योपलक्षित। (११) अग्निधूमसामान्ययो महानसादावव प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। (१२) विशेषस्यैव साधनीयत्वात्–आ० टि०। (१३) पृ० ४२९ प० ६। (१४) सकलसाध्यसाधनव्यक्तिविषयतया सम्बद्धवर्तमानार्थगोचरत्वाभावात। (१५) व्याप्तिज्ञानस्य–आ० टि०। (१६) "तत्र केचिदाचक्षते मानस प्रत्यक्ष प्रतिबन्धग्राहीति। प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामनलसहचरितमनग्नेश्च व्यावर्त्तमानं धूममुपलभ्य विभावसौ नियतो धूम इति मनसा प्रतिपद्यते। मनश्च सर्वविषय केन वा नाभ्युपेयते असन्निहितमप्यर्थमवधारयितु क्षमम्। भावाभावसाहचर्यमवधाय मनसा नियमज्ञानसिद्धेरित्यल निबन्धन।'–न्यायम० पृ० १२१, १२३। 'तस्य ग्रहण प्रत्यक्षानुपलम्भसहायान्मानसात् प्रत्यक्षात। धूममग्निसहचरितमिन्द्रियेणोपलभ्यानग्नेश्च जलादेर्व्यावर्तमानमनुपलम्भेन ज्ञात्वा मनसा निश्चिनोति धूमोऽग्निम्न व्यभिचरतीति।–न्यायकलि० पृ० ३। (१७) तुलना–'प्रत्यक्षमानसं येषा सम्बन्धं लिङ्गलिङ्गिनो। व्याप्त्या जानाति तेप्यर्थेऽनीन्द्रिये किमु कुर्वते॥ यत्राक्षाणि प्रवर्तन्त मानस तत्र वर्तते। नोऽन्यत्राक्षाश्रितत्वेन सर्वदर्शिवप्रसङ्गात् सर्वदर्हिनाम॥'–तत्त्वार्थश्लो० प०१७९। "न चातीतानागतानां व्यक्तीना मनसा सङ्कलनमिति न्याय्यम मनसा बहिरर्थे स्वातन्त्र्य अन्धबधिराद्यभावप्रसङ्गात।"–प्रमा० क द० पृ० २१०। मनश्चेद्बहिर्विषय कारणान्तरनिरपेक्ष प्रवर्तेत तदा सर्व सर्वदर्शी स्यादविशेषात।'–प्रक० प० पृ० ६९। बृह० प० पृ० ९५। न्याय० भा० प० ५८। प्रमेयक० पृ० ३५१। स्या० र० प० ५११।

1 उत्पद्येत भा०, ब०। 2 उपलम्भप्रभ–ब०।

बहिर्मन '' [ ] इत्यभिधानात्। व्याप्तिश्च बहिरर्थधर्मत्वाद् बहिरर्थ, यो बहिरर्थधर्म स बहिरर्थ यथा रूपादि, बहिरर्थधर्मश्च व्याप्तिरिति। भवत्कल्पितस्य मनस षट्पदार्थपरीक्षायां[1] प्रतिषेधतोऽसत्त्वान्च कथ तद्रूप[2] प्रत्यक्षता प्रतीयात्। सत्त्वे वा न अणुत्वभावस्यास्य[3] अशेषार्थै सह्न् सम्बन्धसंभव, यदणुत्वभाव न तत् सकृदशेषार्थै सम्बध्यते यथा परमाणु, अणुत्वभावश्च भवत्कल्पितमन इति। अथ साक्षात् मनसोऽशेषार्थै सम्बन्धाभावेऽपि परम्परयाऽसौ[6] भविष्यति, तथाहि–मनसा साक्षात् सयुज्यते आत्मा तेन च सयुक्ता सर्वेऽन्वयाग्न्यो धूमाग्न्यश्च साध्यसाधनव्यक्तिविशेषा इति, तदप्यपेशलम्, एव सर्वस्य सर्वज्ञताप्रसङ्गात्, साध्यसाधनव्यक्तिवत् सर्वार्थाना मनसा सैम्बद्धत्व (सम्बद्धसम्बन्धम) भवात्।

किञ्च, असौ सम्बद्धसम्बन्धोऽपि मनस सद्भिरेव अर्थै स्यात् नाऽसद्भि, तत्कथ तत्र व्याप्तिप्रतिपत्ति? न चात्मनो व्यापित्व सिद्धम्, तस्यै षट्पदार्थपरीक्षाया प्रपञ्चत प्रतिषेधात्, तत्कथ सैम्बद्धसम्बन्धोऽपि स्यात्? अतो दृष्टान्त एव साध्यसाधनयो भवता व्याप्ति प्रतिपत्तव्या, तथा च अनुमानानुत्थान साध्यधर्मिणि साध्यधर्मेण हेतोर्व्याप्त्यनिश्चयात्। तन्न सौगतमते यौगमते वा ऐन्द्रिय मानस वा प्रत्यक्ष व्याप्तिप्रतिपत्तेरङ्गमिति स्थितम्।

एतेन योगिप्रैत्यक्षस्यापि[13] अविनाभावप्रतिपत्त्यङ्गत्व प्रत्याख्यातम्, तस्याप्यविचारकतया कारणभूतप्रतिनियतसन्निहितार्थगोचरचारितया चैतावतो व्यापारान् कर्तुमसमर्थत्वाविशेषात्। अस्तु वा तत तत्प्रतिपत्ति, तथापि–योगी[16] प्रत्यक्षतो व्याप्तिं

(१) तुल्ना– परतन्त्र बहिमन । –विधिवि० प० ११४। लौकिकन्या० सू० पृ० ८२। उद्धृतमिदम्–स्या० र० पृ० ५११। (२) यौगपरिकल्पितस्य। (३) पृ० २६९। (४) मनोभव ज्ञानम। (५) मनस। (६) सम्बन्ध। (७) आत्मव्यापकत्वप्रयुक्तसयुक्तसयोगवशात् अन्वयधूमाग्नि व्यक्तीना मनसा सम्बन्धकल्पने। (८) परम्परासम्बन्ध मन संयुक्त आत्मा तेन च सयुक्ता सर्वेऽर्था इति। (९) तुल्ना– किञ्चासौ सम्बद्धसम्बन्धोऽपि सद्भिरेवार्थै नासद्भिरतीतानागत तत्कथं तत्र व्याप्तिप्रतिपत्ति? –स्या० र० प० ५१२। (१०) अतीतानागतदेशकालभाविनि–आ० टि०। (११) आत्मनो व्यापित्वस्य। (१२) पृ० २६१। (१३) तुल्ना– अयं तु व्याप्तिग्रहणार्थमपि सुयोगिन इवाशेषविषय परिज्ञानमस्तीति ब्रूवते। अन्यथा हि सर्वो धूमोऽग्निं विना न भवतीति व्याप्तिस्मरण न स्यात्। विवेकेन चाप्रतिभास समानाभिव्याहारात् यथा धान्यराशिभिन्नायां धान्यव्यक्तावित्यादि। –प्रश० व्यो० पृ० ५७०। यत्तु मन्यते प्रज्ञाकरगुप्त योगिनाम् व्याप्तिज्ञानमिति। –सिद्धिवि० टी० प० १०५ B (१४) योगिप्रत्यक्षस्यापि। (१५) यावान् कश्चिद्धूम स सर्वोऽप्यग्निजन्मा अनग्निजन्मा वा न भवतीत्येतावत (१६) तुल्ना– 'योगिप्रत्यक्षतो व्याप्तिसिद्धिरित्यपि दुर्घटम्। सर्वत्रानुमितिज्ञानाभावात् सकलयोगिन ॥ परार्थानुमितौ तस्य व्यापारोऽपि न युज्यते। अयोगिन स्वय व्याप्तिमजानान् जनान् प्रति ॥ योगिनोऽपि प्रति व्यर्थ स्वस्वार्थानुमिताविव। समारोपविशेषस्याभावात् सर्वत्र योगिनाम् ॥ –तत्त्वार्थश्लो० प० १७९। प्रमेयक० पृ० ३५१।

1 तत्प्रभव ब०। 2 सम्बन्धसम्भवात् ब०। 3 सम्बद्धसम्ब–आ०। 4 सम्बद्धसम्ब–आ०। 5 धना–ब०।

प्रतिपद्य स्वार्थमनुमानं विदध्यात्, परार्थं वा? न तावत् स्वार्थम्, सकलसाध्यसाधनव्यक्तिविशेषाणां प्रत्यक्षतः परिस्फुटतया प्रतिपन्नत्वेन अस्य अफलत्वात्। यत् प्रत्यक्षतः परिस्फुटतया प्रतिपन्नम् न तत्र अनुमानं फलवत् यथा प्रत्यक्षस्वरूपे, प्रत्यक्षतः परिस्फुटतया प्रतिपन्नाश्च योगिनो निखिला साध्यसाधनव्यक्तिविशेषा इति। न च तथाप्रतिपन्नेष्वप्येतेषु समारोपव्यवच्छेदार्थं सफलमेवानुमानमित्यभिधातव्यम्, योगिनो निर्धूतकल्पनाजालतया समारोपस्यैवाऽसम्भवात्। अथ परार्थं योगिनोऽनुमानम्, ननु गृहीतव्याप्तिकम्, अगृहीतव्याप्तिकं वा परं परार्थानुमानेन योगी प्रतिपादयेत्? यदि गृहीतव्याप्तिकम्; कुतस्तेन गृहीता व्याप्तिः? न तावत् स्वसंवेदनेन्द्रियमनोविज्ञानैः, तेषां तद्विषयत्वप्रतिपादनात्। नापि योगिप्रत्यक्षेण, अनुमानानर्थक्यानुषङ्गात्। अगृहीतव्याप्तिकस्य च प्रतिपादनानुपपत्तिः अतिप्रसङ्गात्। तन्न कुतश्चिदपि प्रत्यक्षात् साध्यसाधनयोर्व्याप्तिः प्रतिपत्तुं शक्या।

कारिका विवृत्योर्व्याख्यानम्—

अतः सूक्तम्–'**अविकल्पधिया**' इत्यादि। न विद्यते विकल्पः स्वपरव्यवसायो यस्याः सा चासौ धीश्च तया परोक्षया ज्ञानान्तरानुभवनिश्चयात्मिकया च **न किञ्चित्** स्वभावविषयं कार्यादिविषयं वा **लिङ्गम्** अविनाभावि **सम्प्रतीयते** इति। तर्हि अनुमानात् तत्सम्प्रतीयते इत्याह–**न अनुमानात्** 'लिङ्गात् लिङ्गिनि ज्ञानम्' इत्येव लक्षणात् तत्सम्प्रतीयते, तथाहि–प्रथमानुमानं हेतोः अविनाभावावसाये समर्थम्, अनुमानान्तरं वा? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः, तदनुमानस्य **असिद्धत्वात्**। अत एव तत्सिद्धौ अन्योन्याश्रयः– सिद्धे हि हेतोरविनाभावे ततस्तदुत्पत्तिसिद्धिः, तत्सिद्धौ च हेतोरविनाभावसिद्धिरिति। **नाप्यनुमानान्तरम्**; यतः तदपि प्रतिपन्नाऽविनाभावात् हेतोरुत्पद्यते, तत्प्रतिपत्तिश्च तत्र प्रत्यक्षतः, अनुमानाद्वा स्यात्? तत्राद्यपक्षे दूषणमाह–'सर्वत्र' इत्यादि। **सर्वत्र** प्रथमानुमानवत् द्वितीयेऽप्यनुमाने अविशेषात्, 'न प्रत्यक्षम्' इत्यादेर्दोषस्य अभेदात्। अनुमानतोऽपि तत एव, अन्यतो वा तत्प्रतिपत्तिः स्यात्? यदि तत एव, अन्योन्याश्रयः।

---

(१) अनुमानस्य। (२) परिस्फुटतया। (३) योगिप्रत्यक्षज्ञानेऽपि साध्यसाधनव्यक्तिविशेषेषु। (४) "प्रागुक्तं योगिनां ज्ञानं तेषां तद्भावनामयम्। विधूतकल्पनाजालं स्पष्टमेवावभासते॥"–प्रमाणवा० २।२८१। "भूतार्थविषयत्वेन विधूतकल्पनाजालम् अविकल्पकं सत् स्पष्टं विकल्पेऽप्यवभासते।"–प्रमाणवा० मनोरथ० २।२८१। (५) तुलना–'तर्हि योगी परार्थानुमानेन गृहीतव्याप्तिकमगृहीतव्याप्तिकं वा परं प्रतिपादयेत्।'–प्रमेयक० पृ० ३५१। (६) परेण प्रतिपादन। (७) स्वार्थविषयत्व। (८) सकलसाध्यसाधनयोः स्पष्टं प्रतिभासनात्। (९) मीमांसकमते। (१०) नैयायिकमते। (११) लिङ्गम्–अविनाभावि। (१२) प्रथमानुमानस्य व्याप्तिग्रहणात्पूर्वमनुदय स्वरूपत्वात्। (१३) अनुमानसिद्धौ। (१४) अनुमानान्तरेति। (१५) अविनाभावप्रतिपत्तिश्च अनुमानान्तरे। (१६) समानत्वात्। (१७) सिद्धायां हि व्याप्तिप्रतिपत्तौ अनुमानोत्थानम्, सति च अनुमानोत्थाने व्याप्तिप्रतिपत्तिरिति।

1–सकलसाध्यसाधनात् ब०। 2 तत्रान्यत्र ब० प्रतौ 'अविकल्पधिया' इति कारिकांशः लिखितो नास्ति। 3 स्वरूपस्य–ब०। 4 ष्वपि ब०। 5 सिद्धे हेतौ–ब०।

अथाऽन्यत, तदा अनवस्था–तदुत्थापकहेतावप्यनुमानान्तरात् प्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। तन्न कुतश्चित् परस्य प्रतिबन्धसिद्धिः। मा भूत्, किं तया? इत्यत्राह–'नहि' इत्यादि। न खलु साकल्येन लिङ्गस्य लिङ्गिना व्याप्तेरसिद्धौ क्वचिद् अनित्यत्वादौ वह्न्यादौ वा साध्ये व्यवहारे परमार्थे वा किञ्चित् स्वभावलिङ्गजं कार्यादिलिङ्गजं वा **अनुमानं नाम**। इदमत्र तात्पर्यम्–यथा अनुमानमन्तरेण न किञ्चित् साध्यं सिद्ध्यति इति तदर्थमनुमानमिष्यते तथा तल्लिङ्गलिङ्गिव्याप्तिसिद्धिमन्तरेण तदपि न सिद्ध्यति इति तदर्थो सोऽपि इष्यतामविशेषात्। ततः किं जातम्? इत्याह–'**तत्र**' इत्यादि। यत एवं **तत् तस्मात् न अप्रत्यक्षं परोक्षम् अनुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणमस्ति किन्तु अनुमानमेव' इत्ययुक्तम्, लिङ्गप्रतिपत्तेः** अविनाभावप्रतिपत्तेः तर्काख्यायाः **प्रमाणान्तरत्वात्** अलिङ्गजाऽनिशादेरभावतया प्रमाणद्वयान्तर्भूतत्वात्। ततः सूक्तम्–'**चिन्ता प्रमाणम् अनुमानादेर्हेतुत्वात्**' *इति। कीदृशं तदनुमानम्? इत्याह–*

लिङ्गात् साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात् ॥ १२ ॥
लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धयः।

---

(१) अन्यथानुमानोत्थापक। (२) व्याप्तिप्रतिपत्तिः। (३) अनुमानमपि। (४) अनुमानसिद्ध्यर्थो। (५) व्याप्तिसिद्धिरपि। तुलना– "तत्सम्बन्धस्य सन्देहे निःशङ्कानुमितिः कथं भवेत्।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९५। (६) तन्नाप्रत्यक्षम् इत्यादि मौद्राङ्कितं वाक्यम्। (७) अनुमानप्रत्यक्षरूप। (८) व्याख्या– अनुमानं प्रमाणं भवति। किम्? लिङ्गिधीः लिङ्गिनः साध्यस्य धीर्ज्ञानमित्यर्थः। लिङ्गमविनाभावसम्बन्धोऽस्यास्तीति लिङ्गानि निग्रहात्। तस्योत्पत्तिकारणमाह लिङ्गात् साधनात्। साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात् साध्येन इष्टाबाधितासिद्धरूपेण सह अविनाभावोऽन्यथानुपपत्तिनियमः तस्य अभितो देशकालान्तरव्याप्त्या निबाधो निर्णयः स एवं प्रधानं लक्षणं स्वरूपं यस्य तत्तथोक्तं तस्माल्लिङ्गादुत्पद्यमाना लिङ्गिधीरनुमानमित्यर्थः। ननु तस्य तत्फलत्वात्कथं प्रमाणत्वमित्याशङ्क्याह– तत्फलं हानादिबुद्धयः हानं परिहारः आदिशब्देन उपादानमुपेक्षा च गृह्यते। तासां बुद्धयो विकल्पाः तस्य अनुमानस्य फलं भवन्ति ततः फलहेतुत्वादनुमानं प्रमाणं प्रत्यक्षवदित्यभिप्रायः। –लघी० ता० पृ० ३१। (९) अनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते। तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥ –प्रश० भा० पृ० २००। उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः। तथा वैधर्म्यात्।"– न्यायसू० १।१।३४,३५। 'हेतुस्त्रिरूपः"–न्यायप्र० पृ० १। 'पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः। अविनाभावनियमात् हेत्वाभासास्ततोऽपरे ॥ –हेतुबि० प्र० परि०। प्रमाणवा० ३।१। तत्त्वसं० का० १३६२। त्रिरूपो हेतुः।"–सांख्यका० माठ० पृ० १२। साधनत्वव्यापकं लिङ्गवचनं हेतुः। –न्यायसा० पृ० ५। 'अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्। –न्यायाव० श्लो० २२। साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नम्"–प्रमाणसं० पृ० १०२। न्यायवि० का० २६९। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१४। परीक्षामु० ३।१५। 'तथा चाभ्यधायि कुमारनन्दिभट्टारकैः–अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमभ्यते।' –प्रमाणप० पृ० ७२। निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः।'–प्रमाणनय० ३।९। 'साधनत्वाभिव्यञ्जकविभक्त्यन्तं साधनवचनं हेतुः।"–प्रमाणमी० २।१।१२। (१०) लिङ्गदर्शनात्संजायमानं लैङ्गिकम्।'–प्रश० भा० पृ० २००। 'अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः। –शावरभा० १।१।५। 'प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्। –सांख्यसू० १।१००। अनुमानं मितेन लिङ्गेन अर्थस्य पश्चान्मानम्।' –न्यायवा० पृ० २८। तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये

विवृतिः–नहि तादात्म्यतदुत्पत्ती जातु शक्येते विनाऽन्यथानुपपत्तिवितर्केण ताभ्यां विनैव एकलक्षणसिद्धिः । नहि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा । न चात्र विसंवादोऽस्ति ।

कारिकाव्याख्यानम्–

लिङ्गात् हेतोः । किंविशिष्टात् ? इत्याह–'**साध्य**' इत्यादि । साध्येन इष्टाऽबाधिताऽसिद्धविशेषणविशिष्टेन **अविनाभावो** व्याप्तिः, तस्य **अभि** समन्तात् **नियोधो** निश्चय **एकं** प्रधानं लक्षणं यस्य तस्मात् सुनिश्चिताऽन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयैकलक्षणात् इत्यर्थः । **लिङ्गिनि** साध्यधर्मविशिष्टे धर्मिणि प्रयुज्यमाने गम्यमाने वा **धीः** ज्ञानम् **अनुमानम्** ।

प्रतिज्ञाप्रयोगमनभ्युपगच्छतो बौद्धस्य प्रतिविधानम्–

ननु 'प्रयुज्यमाने साध्यधर्मविशिष्टे धर्मिणि' इत्ययुक्तम्, पक्षस्य प्रयोजनाभावतः प्रयोगानुपपत्तेः, सर्वत्र गम्यमान एवास्मिन् साधनात् साध्यसम्प्रतिपत्त्युपपत्तेः । अथ तत्प्रयोगस्य साध्यार्थप्रतिपादनलक्षणप्रयोजनसम्भवात् तदसम्भवोऽसिद्धः, तन्न, तस्य तत्प्रतिपादनासम्भवात् । स

पानं तदनुमानम् ।"–न्यायबि० २।३ । "सम्यगविनाभावेन परोक्षानुभवसाधनमनुमानम् ।"–न्यायसा० पृ० ५ । "साध्याविनाभुवो लिङ्गात् साध्यनिश्चायकं स्मृतम् । अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत् ॥"–न्यायाव० श्लो० ५ । "साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं"–न्यायवि० का० १६७ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०७। प्रमाणप० पृ० ७०। परीक्षामु० ३।१४ । प्रमाणनय० ३।८। प्रमाणमी० १।२।७। न्यायदी० पृ० २०। जैनतर्कभा० पृ० १२ । (११) तुलना–"तत्र लिङ्गदर्शनं प्रमाणं प्रमितिरग्निज्ञानम् । अथवा अग्निज्ञानमेव प्रमाणम् प्रमितिरग्नौ गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनमिति ।"–प्रश० भा० पृ० २०६ ।

(१) तुलना–"पक्षः प्रसिद्धो धर्मी प्रसिद्धविशेषणेन विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः, प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेषः ।"–न्यायप्रवे० पृ० १ । "स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति ।"–न्यायबि० पृ० ७९ । "न्यायमुखप्रकरणे तु स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः पक्षो विरुद्धार्थोऽनिराकृत इति पाठात्"–प्रमाणवार्तिकाल० परि० ४ । "साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः ।"–न्यायाव० श्लो० १४ । "साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम्"–न्यायवि० श्लो० १७२ । "इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्"–परीक्षामु० ३।१५ । "अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम्"–प्रमाणनय० ३।१२ । "सिसाधयिषितमर्थाख्यं साध्यं पक्षः ।"–प्रमाणमी० १।२।१३ । (२) उपनयवाक्यसामर्थ्यात् हेतोः पक्षधर्मत्वसमर्थनाद्वा धर्म्यवगमः । (३) "तत्पक्षवचनं वक्तुरभिप्रायनिवेदने । प्रमाणं संशयोत्पत्तेस्ततः साक्षान्न साधनम् ॥ साध्यस्यैवाभिधानेन पारम्पर्येण नाप्यलम् । ननु–अस्थापिते हि विषये हेतुवृत्तरसम्भवात् ॥ विषयस्थापनादेव सिद्धो चेत्तस्य शक्तता ॥ उक्तमत्र विनाप्यस्मात् कृतकः शब्द ईदृशः । सर्वे नित्या इति प्रोक्तेऽप्यर्थोऽस्याधीभवेत् ॥ अनुक्तावपि पक्षस्य सिद्धेरप्रतिबन्धनम् । त्रिरूपवचनम् ... मूनतोक्तिना ॥"–प्रमाणवा० ४ । १६–२३ । हेतुबि० प्र० परि० । "अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि तस्यासाधनाङ्गस्य साधनवाक्ये उपादानं वादिनो निग्रहस्थानं व्यर्थाभिधानात् । ननु च विषयोपदर्शनार्थं प्रतिज्ञावचनमसाधनाङ्गमप्युपादेयमेव, न, वैयर्थ्यात् अन्तरेणापि प्रतिज्ञावचनं यथोक्तात् साधनवाक्यात् अवश्यमभीष्टार्थसिद्धिरित्यपार्थकं तस्योपादानम् ।"–वादन्याय पृ० ६१–६५ । "द्वयोरप्यनयोः प्रयोगे नावश्यं पक्षनिर्देशः । यतश्च साधनं साध्यधर्मप्रतिबद्धं तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां प्रतिपत्तव्यं द्वयोरपि प्रयोगयोः तस्मात् पक्षो नावश्यमेव न निर्देश्यः । अथ यदि पक्षो न निर्देश्य

1–पर्यालोचन–ब० वि० । 2 साध्यविनि–आ० ।

हि केवलः साध्यमर्थं प्रतिपादयेत्, हेतूपन्याससमन्वितो वा ? यदि केवलः, हेतूपन्यासो व्यर्थः, प्रतिज्ञाप्रयोगमात्रादेव तत्प्रतिपत्तेः संजातत्वात्। अथ हेतूपन्याससमन्वितः, तर्हि हेतोरेव तत्र सामर्थ्योपपत्तेः किं तत्प्रयोगेणेति ?

अत्रोच्यते–पक्षस्य साध्यसिद्धिप्रतिबन्धित्वादप्रयोगः, प्रकरणात् तत्सिद्धेः, प्रयोजनाऽप्रसाधकत्वात्, हेतूपन्यासापेक्षस्य तत्प्रसाधकत्वाद्वा ? न तावत् तत्सिद्धिप्रतिबन्धित्वात्, वादिना सम्यक् साधनात् स्वपक्षसिद्धिलक्षणे कार्ये क्रियमाणे तद्विपक्षाप्रसाधकत्वतः तत्प्रयोगस्य तत्प्रतिबन्धकत्वानुपपत्तेः। यत् यस्मिन् कार्ये क्रियमाणे तद्विपक्षाप्रसाधकम् न तत्तस्य प्रतिबन्धकम् यथा धूमे कार्यादिकम्, सम्यक् साधनतः स्वपक्षसिद्धिलक्षणे कार्ये क्रियमाणे तद्विपक्षाप्रसाधकश्च प्रतिज्ञाप्रयोग इति।

प्रकरणात्तत्सिद्धिश्च प्रतिज्ञावत् हेत्वादावप्यविशिष्टा, ततस्तस्याप्यप्रयोगप्रसङ्गः। नहि शब्दस्य अनित्यत्वप्रतिज्ञाने कृतकत्वादिहेतुः घटादिदृष्टान्तश्च प्रकरणात् सिद्ध्यति। तथाविधस्याप्यस्याभिधाने पक्षेण कोऽपराधः कृतः येनास्य तथाविधस्याभिधानं नेष्यते ?

प्रयोजनाप्रसाधकत्वञ्च असिद्धम्, प्रतिपाद्यप्रतिपत्तिविशेषस्य तत्प्रसाध्यप्रयोजनस्य सद्भावात्। प्रतिपाद्यो हि कश्चित् मन्दमतिः कश्चित्तीव्रमतिः। तत्र यो मन्दमतिः न तस्य प्रकृतार्थप्रतिपत्तिविशेषः प्रतिज्ञाप्रयोगमन्तरेणोपपद्यते, नापि नैयायिकादेः पञ्चावयवप्रयोगे प्रतिपन्नमङ्गतस्यामन्दमतेरपि। तत्प्रयोगे तेन निग्रहस्थानाभिधानात्। "हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्" [न्यायसू० ५।२।१२] इति वचनात्। तीव्रमतेस्तु तत्प्रयोगमन्तरेणापि हेतुप्रयोगमात्रात् प्रकृतार्थप्रतिपत्तिप्रतीतेस्तस्य वैयर्थ्ये हेतुप्रयोगस्यापि वैयर्थ्यं स्यात्, [16]निश्चिताऽविप्रतारकपुरुषवचनाद् 'अग्निरत्र' इत्याद्प्रतिज्ञाप्रयोगमात्ररूपादेव कस्यचित् प्रकृतार्थप्रतिपत्तिदर्शनात्।

कथमनिर्देश्यस्य लक्षणमुक्तम् ? न साधनवाक्यावयवः वादस्य लक्षणमुक्तमपि तु असाध्ये केचित साध्यं साध्यं चासाध्यं प्रतिपन्नाः तत्साध्यासाध्यविप्रतिपत्तिनिराकरणाय पक्षलक्षणमुक्तम्। –न्यायवि० टी० पृ० ७७–७९। असाधनाङ्गभूतत्वात् प्रतिज्ञाऽनुपयोगिनी। –तत्त्वसं० पृ० ४१८।

(१) साध्यार्थप्रतिपत्तेः। (२) साध्यार्थप्रतिपत्तौ। (३) तुलना– तस्यावचनं साध्यसिद्धिप्रतिबन्धकत्वात् प्रयोजनाभावाद्वा ? –प्रमेयक० पृ० ३७३। कथन्न पुनरस्याः साधनाङ्गत्वं किं सर्वथैव कथास्वनुपयोगात् अथाप्रयुक्तस्याप्यर्थस्य परिग्रहात ? –प्रश० किर० प० ३३५। (४) प्रकरणात्। (५) पक्षप्रयोगमसिद्धेः। (६) प्रयोजनं। (७) स्वापक्षविरुद्धासाधकत्वात्। (८) साध्यसिद्धि। (९) यत्र हेत्वादीनामपि प्रकरणादेव सिद्धिस्तत्र। (१०) प्रकरणात् सिद्धस्यापि (११) तुलना– 'तत्प्रयोगे प्रतिपाद्यप्रतिपत्तिविशेषस्य प्रयोजनस्य सम्भवात्। –प्रमेयक० पृ० ३७३। स्या० र० पृ० ५५०। (१२) प्रतिज्ञाया अप्रयोगे। (१३) नैयायिकेन। (१४) प्रतिज्ञाप्रयोग। (१५) प्रतिज्ञाप्रयोगस्य (१६) तुलना– 'अविप्रतारकतानिश्चितपुरुषवचनमात्रादपि अग्निरत्र इत्यादिरूपात् क्वचित् प्रमेयोऽयं सिद्धयतीति हेतोरप्यसाधनत्वप्रसङ्गात् तद्विरहेणापि साध्यसिद्धेः।' –न्यायावि० टी० प० ४७। (१७) तीव्रमतेः प्रज्ञालोः।

---

[1] सामर्थ्य प्र–श्र०। [2] संज्ञातत्वात् ब०। [3] पक्षमात्रसिद्धेः ज०। [4]–प्र प्रसि–ब०।
[5] नियामकादेः ब०।

एतेन 'हेतूपन्यासापेक्षस्य प्रयोजनप्रसाधकत्वात्' इत्यपि[1] प्रत्याख्यातम्, नियमाभावात्। क्वचिद् हेतुप्रयोगमन्तरेणापि केवलस्यैव पक्षप्रयोगस्य प्रतिपाद्यस्य प्रतिपत्तिविशेषलक्षणप्रयोजनप्रसाधकत्वप्रतीतेः।

किञ्च, हेतुगोचरस्य पक्षस्यानिर्देशे हेतोरनैकान्तिकत्वादिदोषानुषङ्गः, तमन्तरेण तत्र वास्तवगुणदोषपरिज्ञानस्य कर्तुमशक्यत्वात्। यथैव हि लक्ष्यनिर्देशं[2] विना धानुष्कस्य इषु प्रक्षिपतो गुणोऽपि दोषतया दोषोऽपि गुणतया तत्प्रेक्षकजनानां व्यामोहात् प्रतिभाति, तन्निर्देशे तु तद्गुणो लक्ष्यवेधप्रावीण्यलक्षणः तद्विपरीतत्वलक्षणश्च दोषः तेषां यथावत् प्रतिभाति, एवं पक्षाऽनिर्देशे व्यामोहात् सम्यग्हेतावपि 'किमयं हेतुः साध्ये एव वर्त्तते तदभावे वा' इत्याशङ्कालङ्कितत्वादनैकान्तिकः, 'विपक्ष एव वर्त्तते' इति विपरीताशङ्काऽनिवृत्तेः विरुद्धो वा स्यात्। पक्षनिर्देशे तु लक्ष्यनिर्देशे धानुष्कवत् यथावद्गुणदोषयोः प्रतिपत्त्युपपत्तेः न कश्चिद् दोषः।

यदप्यभिहितम्–'केवलस्यैव[2] पक्षस्य साध्यप्रतिपादनसामर्थ्ये हेतूपन्यासो व्यर्थः' इति, तदप्यभिधानमात्रम्, एकाकिनः कारणस्य कार्यकारित्वाप्रतीतेः। न खलु बीजादेः केवलस्यैव अङ्कुरादिकार्यकरणे[4] सामर्थ्यं दृष्टम्। नाप्येकस्य तत्र सामर्थ्ये अन्येषां वैयर्थ्यम्। एवञ्चेत्[10] हेतोः केवलस्यैव साध्यसिद्धौ सामर्थ्ये तत्समर्थनस्य उपनयादेश्च वैयर्थ्यं स्यात्। पक्षस्य अर्थसिद्धौ हेत्वपेक्षणान्न तत्सिद्धि[11]निबन्धनत्वम्[5], इत्यप्यसुन्दरम्, भवत्[12]कल्पिताऽविकल्पकाध्यक्षस्याप्यर्थसिद्धिनिबन्धनत्वाभावप्रसङ्गात्, तत्सिद्धौ[13] तस्य[14] विकल्पापेक्षणात्। अथ 'तत्प्रतिपन्न[15]मेवार्थं विकल्पो व्यवस्थापयति' इत्युच्यते, तर्हि

(१) तुलना–"तत्प्रयोगोऽत्र वक्तव्यो हेतोर्गोचरदीपकः ॥ अन्यथा वाद्यभिप्रेतहेतुगोचरमोहिनः । प्रत्याय्यस्य भवेद्धेतुर्विरुद्धारेकितो यथा ॥ धानुष्कगुणसम्प्रेक्षिजनस्य परिविध्यतः । धानुष्कस्य विना लक्ष्यनिर्देशेन गुणेतरौ ॥ ततश्च सम्यग्हेतावपि विपक्ष एवायं वर्तत इति व्यामोहात् विरुद्धदूषणमभिदधीत, पक्षोपन्यासात्तु निर्णीतहेतुगोचरस्य नैष दोषः स्यादित्यभिप्रायः । यथा लक्ष्यनिर्देशं विना धानुष्कस्येषून् प्रक्षिपतो यौ गुणदोषौ तौ तद्दर्शिजनस्य विपर्यस्तावपि प्रतिभातः–गुणोऽपि दोषतया, दोषोऽपि वा गुणतया, तथा पक्षनिर्देशं विना हेतुमुपन्यस्यतो वादिनो यौ स्वाभिप्रेतसाध्यसाधनसमर्थत्वासमर्थत्वलक्षणौ गुणदोषौ तौ प्राश्निकप्रतिवादिभ्यां विपरीतावपि प्रतिभात इति भावार्थः ।"–न्याया० श्लो० १४-१६, टी० पृ० ४८-४९ । (२) लक्ष्यनिर्देशे । (३) धानुष्कस्य कौशलम् । (४) प्रेक्षकजनानाम् । (५) वादिनः स्वाभिप्रेतसाध्यसाधनसमर्थत्वासमर्थत्वलक्षणयोः गुणदोषयोः । (६) पृ० ४३६ प० १ । (७) बीजस्य हेतोर्वा । (८) अङ्कुरोत्पत्तौ साध्यप्रतिपादने वा । (९) क्षितिसलिलादीनाम् पक्षप्रयोगादीनां वा । (१०) तुलना– "तत्र च यद्दूषणमुक्तम्–तर्हि हेतोरेव तत्र सामर्थ्योपपत्तेः किं पक्षवचनेनेति, तदयुक्तम्, एवं हि हेतोः समर्थनापेक्षस्य साध्यसिद्धिनिबन्धनत्वोपपत्तेः तद्वचनमपि न स्यात् ।" –स्या० र० पृ० ५५० । न्यायाव० टी० पृ० ४७ । (११) साध्यसिद्धि । (१२) सौगत । (१३) अर्थसिद्धौ (१४) अविकल्पकाध्यक्षस्य । (१५) निर्विकल्पप्रतिपन्न ।

1 इत्यपास्तं ब० । 2 केवलस्यास्य ब० । 3 यथावद्गुण– आ० । 4 –कार्यकरणे आ० । 5 –निबन्धनम् ब० ।

पक्षप्रतिपादितमेवार्थं हेतुः प्रतिपादयति, तत्प्रतिपादितञ्च प्रमाणान्तरं समर्थयते इत्यप्यु-च्यतामविशेषात्। इत्थमेव च पक्षस्य स्वरूपम्–यद् हेत्वपेक्षस्य अर्थप्रतिपादकत्वं नाम। 'पच्यते व्यक्तीक्रियते हेतुना सुकुमारप्रज्ञानां साध्यधर्मान्वितत्वेन व्यक्ततामापाद्यते इति पक्षः' इति व्युत्पत्तेः।

यदि च पक्षो नेष्यते कथं तर्हि सपक्षविपक्षव्यवस्था स्यात् तत्पूर्वकत्वात्तस्याः ? तदभावे च त्रिरूपस्य हेतोरप्यनुपपत्तेरनुमानोच्छेदः स्यात्।

किञ्च, प्रतिज्ञायाः प्रयोगानर्हत्वे शास्त्रादावप्यसौ न प्रयुज्येत अविशेषात्। न चैवम्, तत्र तत्प्रयोगदर्शनात्। नहि शास्त्रेऽनियतकथायां वा प्रतिज्ञा नाभिधीयते 'अग्निरत्र धूमात्, वृक्षोऽयं शिंशपात्वात्' इत्याद्यभिधानानां तत्रोपलम्भात्। 'परानुग्रहप्रवृत्तानां शास्त्रकाराणां प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधियां शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेव उपयोगित्वात्तस्य' इत्यभ्युपगमे वादेऽपि सोऽस्तु तत्रापि तेषां तादृशत्वादिति।

नतु लिङ्गस्य साध्याविनाभावैकलक्षणत्वमयुक्तम्, तस्य पक्षधर्मत्वादिलक्षणत्रया-

पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयस्य लिङ्गलक्षणत्वनिरासपुरस्सरं तस्य अविनाभावैकलक्षणत्वसमर्थनम्—

न्वितत्वेन एकलक्षणत्वायोगात्। तदनन्वितत्वे हेतोः असिद्धत्वादि-दोषानुषङ्गात्। नहि पक्षधर्मत्वाभावे अस्य असिद्धत्वव्यवच्छेदः, सपक्षे सत्त्वाभावे च विरुद्धत्वव्युदासः, विपक्षेऽसत्त्वाभावे च अनैकान्तिकत्वनिषेधः कर्तुं शक्य इति। उक्तञ्च—

(१) हेतुप्रतिपादितस्य। (२) समर्थनरूपम्। (३) तुलना– पच्यते इति पक्षः। पचू व्यक्तीकरणे। पच्यते व्यक्तीक्रियते योऽर्थः स पक्षः। –न्यायप्र० व० पृ० १३। न्यायसारटी० पृ० १०१। (४) पक्षपूर्वकत्वात्। (५) सपक्षविपक्षव्यवस्थायाः। (६) सपक्षविपक्षव्यवस्थाया अभावे। (७) तुलना– प्रतिज्ञानुपयोगे शास्त्रादिष्वपि नाभिधीयेत विशेषाभावात्। नहि शास्त्रे प्रतिज्ञा नाभिधीयत एव अनियतकथायां वा अग्निरत्र धूमात् वृक्षोऽयं शिंशपात्वात् इत्यादिवचनानां शास्त्रे दर्शनात् विरुद्धोऽयं हेतुरसिद्धोऽयम् इत्यादिप्रतिज्ञावचनानामनियतकथायां प्रयोगात्।' –अष्टश०, अष्टसह० पृ० ८३। प्रमेयक० पृ० ३७३। स्या० र० पृ० ५५१। (८) प्रयोगानर्हत्वाविशेषात्। (९) शास्त्रादौ। (१०) गुणोष्ठ्याम्। (११) शास्त्रे गुणोष्ठ्यां वा। (१२) तुलना– परानुग्रहप्रवृत्तानां शास्त्रकाराणां प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधियां शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेव उपयोगित्वात्तस्येति चेत् वादेऽपि सोऽस्तु तत्रापि तेषां तादृशत्वात्, वादेऽपि विजिगीषुप्रतिपादनाय आचार्याणां प्रवृत्तेः।" –अष्टसह० पृ० ८३। प्रमेयक० पृ० ३७३। स्या० र० पृ० ५५१। (१३) प्रतिज्ञाप्रयोगोऽस्तु। (१४) वादेऽपि। (१५) शास्त्रकाराणाम्। (१६) परानुग्रहप्रवृत्तिमत्त्वात्। (१७) प्रकारान्तरेण पक्षप्रयोगसमर्थनं निम्न ग्रन्थेषु द्रष्टव्यम्–प्रश० व्यो० पृ० ६०१। न्यायम० पृ० ५७१। न्यायवा० ता० टी० पृ० २७५। प्रश० कन्द० पृ० २२५। प्रश० किर० पृ० ३३५। प्रमाणमी० पृ० ५१। (१८) "हेतुस्त्रिरूपः। किं पुनस्त्रैरूप्यम् ? पक्षधर्मत्वम् सपक्षे सत्त्वम् विपक्षे चासत्त्वमिति।" –न्यायप्रवे० पृ० १। 'त्रैरूप्यं पुनः लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव, अनुमेयं वक्ष्यमाणलक्षणम् तस्मिन् लिङ्गस्य सत्त्वमेव निश्चितमेकं रूपम् तत्र सत्त्ववचनेन असिद्धं चाक्षुषत्वादि निरस्तम्। एवकारेण पक्षैकदेशा

1 इत्यप्युच्यताविशेषात् ब०। 2 इदमेव पक्ष–आ० श्र०। 3 इतिपक्ष नास्ति ब०। 4 शास्त्रनियत–आ०। 5 वादे सो–वादे सा–श्र०। 6 शक्यते इति ब०।

"हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः ।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः ॥" [प्रमाणवा० ३।१४] इति ।

अत्रोच्यते–न पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयं हेतोर्लक्षणम्, विपक्षेऽप्यस्य वर्त्तमानत्वात्, यत् विपक्षेऽपि वर्त्तते न तत् लक्षणम् यथा सत्त्वम् अग्नेः, विपक्षेऽपि हेत्वाभासलक्षणे वर्त्तते च पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयमिति । यदेव हि विपक्षासाधारणं स्वरूपं तदेव लक्षणतया लोके प्रसिद्धम्, यथा भासुररूपोष्णस्पर्शवत्त्वम् अग्नेः । न चेदं पक्षधर्मत्वादिरूपत्रय

सिद्धो निरस्तो हेतुः, यथा चेतनास्तरवः स्वापात् इति । पक्षीकृतेषु तरुषु पत्रसङ्कोचलक्षणः स्वापः एकदेशेन सिद्धः । न हि सर्वे वृक्षा रात्रौ पत्रसङ्कोचभाजः, किन्तु केचिदेव । सत्त्ववचनस्य पश्चात्कृतेन एवकारेण असाधारणो धर्मो निरस्तः । यदि हि अनुमेय एव सत्त्वमिति कुर्यात् श्रावणत्वमेव हेतुः स्यात् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धासिद्धः सर्वो निरस्तः । सपक्षएव सत्त्वम् सपक्षो वक्ष्यमाणलक्षणः, तस्मिन्नेव सत्त्वं निश्चितं द्वितीयं रूपम् । इहापि सत्त्वग्रहणेन विरुद्धो निरस्तः, स हि नास्ति सपक्षे । एवकारेण साधारणानैकान्तिकः, अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्, स हि न सपक्ष एव वर्तते किन्तूभयत्रापि । सत्त्वग्रहणात् पूर्वावधारणवचनेन सपक्षाव्यापिसत्ताकस्यापि प्रयत्नानन्तरीयकस्य हेतुत्वं कथितम् । पश्चादवधारणे त्वयमर्थः स्यात्–सपक्षे सत्त्वमेव यस्य स हेतुरिति प्रयत्नानन्तरीयकः न हेतुः स्यात् । निश्चितवचनेन सन्दिग्धान्वयोऽनैकान्तिको निरस्तः, यथा सर्वज्ञः कश्चिद् वक्तृत्वात्, वक्तृत्वं हि सपक्षे सर्वज्ञे सन्दिग्धम् । असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम्, असपक्षो वक्ष्यमाणलक्षणः, तस्मिन् असत्त्वमेव निश्चितं तृतीयं रूपम् । तत्रासत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरासः, विरुद्धो हि विपक्षेऽस्ति । एवकारेण साधारणस्य विपक्षैकदेशवृत्तेर्निरासः, नित्यः शब्दः कृतकत्वात् स्वपन । प्रयत्नानन्तरीयकत्वे साध्ये हि अनित्यत्वं विपक्षैकदेशे विद्युदादावस्ति आकाशादौ नास्ति ततो नियमेनास्य निरासः । असत्त्ववचनात् पूर्वस्मिन्नवधारणेऽयमर्थः स्यात्– विपक्षे एव यो नास्ति स हेतुः । तथा च प्रयत्नानन्तरीयकत्वं सपक्षेऽपि सर्वत्र नास्ति ततो न हेतुः स्यात्, अतः पूर्वं न कृतम् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोऽनैकान्तिको निरस्तः ।" –न्यायबि०, टी० पृ० ३१–३३ । वादन्याय पृ० ६० । तत्त्वसं० पृ० ४०४ ।

(१) 'निश्चय'–प्रमाणवा० । (२) अभावादित्यर्थः–प्रा० टि० । (३) अस्य व्याख्यानम् एवं तेन कारणेन हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकेषु निश्चयो वर्णितः आचार्यदिग्नागेन प्रमाणसमुच्चयादिषु 'असिद्धस्तु द्वयोरपि साधनम्' इत्यादिना । कस्य निगमनत्याह–असिद्धेत्यादि । आद्यादिस्त्वात् तृतीयार्थे तसिः विपक्षेण इत्यर्थः । तत्र असिद्धविपक्षेण पक्षधर्मत्वनिश्चयो वर्णितः । विपरीतार्थो विरुद्धः, तस्य विपक्षेण अन्वयनिश्चयः । व्यभिचार्यनैकान्तिकः तस्य विपक्षेण व्यतिरेकनिश्चयः ।"–प्रमाणवा० स्ववृत्तिटी० । स्या० र० पृ० ५१८ । 'तत्र–प्रतिबन्धस्यावश्याभ्युपगन्तव्यत्वेन हेतो त्रिष्वपि '–प्रमाणवा० मनोरथ० । उद्धृतमिदम्–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३ । प्रमाणप० पृ० ७२ । प्रमेयक० पृ० ३५४ । निश्चयस्तेन –बृहदा० भा० वा० पृ० १५२१ । स्या० र० पृ० ५१८ । (४) हेत्वाभासेऽपि । तुलना– 'निश्चितं पक्षधर्मत्वं विपक्षेऽसत्त्वमेव च । सपक्ष एव जन्मत्वं तत्त्रयं हेतुलक्षणम् ॥ केचिदाहुर्न तद्युक्तं हेत्वाभासेऽपि सम्भवात् । असाधारणतापायात्लक्षणत्वविरोधतः ॥ असाधारणो हि स्वभावो भावलक्षणमव्यभिचारात्प्रतीयते न च त्रैरूप्यस्यासाधारणता तद्वतो हेत्वाभासेऽपि तस्य समुद्भवात् ।'–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९८ । (५) तुलना–' यदेव हि लक्ष्यासाधारणं स्वरूपं तदेव लक्षणतया लोके प्रतीतमव्यभिचारित्वात् यथा भासुररूपोष्णस्पर्शवत्त्वमग्नेः ।' –स्या० र० पृ० ५१८ ।

---

1 लक्षणतया लोके आ०, तल्लक्षणतया लोके ब० ।

तथाविधे तत्पुत्रत्वादौ तदाभासेऽपि गतत्वात् पञ्चरूपत्वादिवत्। अथ अन्यथानुपपत्तिनियमवत्त्रैरूप्यं तल्लक्षणं न त्रैरूप्यमात्रम्, तथाविधञ्च तत् तदाभासे नास्तीति, तदप्यसङ्गतम्, एवं सति त्रैरूप्यकल्पनानैरर्थक्यप्रसङ्गात् तन्नियमादेवास्य गमकत्वोपपत्तेः।

न खलु कृत्तिकोदयात् शकटोदयानुमाने पक्षधर्मता सम्भवति। अथ 'कालाकाशादि भविष्यच्छकटोदयादिमान् कृत्तिकोदयादिमत्त्वात् पूर्वोपलब्धकालादिवत्' इतीत्थमत्र पक्षधर्मताऽभिधीयते, तर्हि न कश्चिदपक्षधर्मो हेतुः स्यात्, काककार्ष्ण्यादेरपि प्रासादधावल्ये साध्ये जगतो धर्मित्वेन पक्षधर्मत्वस्य कल्पयितुं सुशकत्वात्, तथाहि– जगत् प्रासादधावल्ययोगि काककार्ष्ण्ययोगित्वात्। तथा महोदध्याधाराऽग्नियोगि तत् महानसधूमयोगित्वात् पूर्वोपलब्धजगद्वदिति। लोकविरोधः अन्यत्रापि विशिष्टः। तन्न पक्षधर्मत्वं हेतोर्गमकत्वाङ्गम्।

नापि सपक्षे सत्त्वम्, 'अनित्यः शब्दः श्रावणत्वात्, सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्'

---

(१) विपक्षासाधारणम्। (२) तुलना– न च सपक्षे सत्त्वं पक्षधर्मत्वं विपक्षे चासत्त्वमात्रं साधनलक्षणम्, स श्यामः तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवदित्यत्र साधनाभासे तत्सद्भावसिद्धेः। सपक्षे हीतरत्र तत्पुत्रे तत्पुत्रत्वस्य साधनस्य श्यामत्वव्याप्तस्य सत्त्वं प्रसिद्धम्, विवादाध्यासिते च तत्पुत्रे पक्षीकृते तत्पुत्रत्वस्य सद्भावात् पक्षधर्मत्वम्, विपक्षे चाश्यामे क्वचिदन्यपुत्रे तत्पुत्रत्वस्याभावात् विपक्षेऽसत्त्वमात्रं च। न च तावता साध्यसाधनत्वं साधनस्य।' –प्रमाणप० पृ० ७०। सन्मति० टी० पृ० ५९०। स्या० र० पृ० ५१८। प्रमेयर० ३।१५। प्रमाणमी० पृ० ४०। न्यायदी० पृ० २६। (३) अविनाभावनियमवत्त्रैरूप्यम्। (४) अन्यथानुपपत्तिनियमादेव। (५) तुलना–'न हि शब्दे धर्मिणि उत्पत्स्यमानायाः शकट्याः कृत्तिकायाः उदयोऽस्ति तस्य कृत्तिकाधर्मत्वात् ततो न पक्षधर्मत्वम्।' –प्रमाणप० पृ० ७१। प्रमेयक० पृ० ३५४। स्या० र० पृ० ५१९। प्रमेयर० ३।१५। प्रमाणमी० पृ० ४०। 'न चैवमपि श्व उत्पत्ता सविता अद्यतनादित्योदयात् जाता समुद्रवृद्धिः शशाङ्कोदयान्नातान इत्यादिप्रयोगेषु हेतोः पक्षधर्मत्वाभावेऽपि गमकत्वोपलब्धेर्न पक्षधर्मत्वं तल्लक्षणम्।' –सन्मति० टी० पृ० ५९१। (६) तथा न चन्द्रोदयात् समुद्रवृद्ध्यनुमानं चन्द्रोदयात् (पूर्वं पश्चादपि) तदनुमानप्रसङ्गात्। चन्द्रोदयकाल एव तदनुमानं तत्र व्याप्तेर्गृहीतत्वादिति चेत्, यद्येवं तत्कालसम्बन्धित्वमेव साध्यसाधनयोः तत्र च स एव कालो धर्मी तत्रैव च साध्यानुमानं चन्द्रोदयश्च तत्सम्बन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम्? –प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।३। (७) कृत्तिकोदयादौ। (८) तुलना– कालादिधर्मिकल्पनायामतिप्रसङ्गः। –प्रमाणसं० पृ० १०४। यदि पुनराकाशं कालो वा धर्मी तस्योत्पत्स्यच्छकटवत्त्वं साध्यं कृत्तिकोदयसाधनं पक्षधर्म एवेति मतम्, तदा धरित्रीधर्मिणि महोदध्याधाराग्निमत्त्वं साध्यं महानसधूमवत्त्वं साधनं पक्षधर्मोऽस्तु तथा च महानसधूमो महोदधौ अग्निं गमयतीति न कश्चिदपक्षधर्मा हेतुः स्यात्। –प्रमाणप० पृ० ७१। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २००। सन्मति० टी० पृ० ५९१। स्या० र० पृ० ५१९। जैनतर्कभा० पृ० १२। कृत्तिकोदयपुरःसरं कालादिपरिकल्पनात्। यदि स्यात्पक्षधर्मत्वं चाक्षुषत्वं न किं ध्वनौ (किं ध्वनौ) –जैनतर्कवा० व० पृ० १४०। न्यायाव० टी० पृ० ३५। (९) जगत्। (१०) तुलना–निःशेषं सात्मकं जीवच्छरीरं परिणामिना। पुंसा प्राणादिमत्त्वस्य त्वन्यथानुपपत्तितः॥ सपक्षसत्त्वशून्यस्य हेतोरस्य समर्थनात्। नूनं निश्चीयते सद्भिर्नान्वयो हेतुलक्षणम्॥ क्षणिकत्वेन न व्याप्तं सत्त्वमेव प्रसिद्ध्यति। सन्दिग्धव्यतिरेकाच्च ततो

1–नपक्षधर्मिनिरास–ब०।

इत्यादेः सपक्षे सत्त्वाभावेऽपि गमकत्वप्रतीतेः । विपक्षे बाधकप्रमाणबलात् अन्तर्व्याप्ति-सिद्धेरस्य गमकत्वे बहिर्व्याप्तिकल्पनाऽनर्थक्यम्, अत एव सर्वत्र गमकत्वोपपत्तेः । तन्न पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं वा हेतोर्लक्षणम् ।

विपक्षे पुनरसत्त्वमेव निश्चितं साध्याऽविनाभावनियमनिश्चयस्वरूपमेव, अतस्तद्वैव प्रधानं हेतोः लक्षणमस्तु अलं लक्षणान्तरेण । न च सपक्षे सत्त्वाभावे हेतोरनन्वयत्वानुषङ्गः, अन्तर्व्याप्तिलक्षणस्य तथोपपत्तिरूपस्य अन्वयस्य सद्भावात् अन्यथानुपपत्तिरूपव्यतिरेकवत् । नहि 'दृष्टान्तधर्मिण्येव अन्वयो व्यतिरेकश्च प्रतिपत्तव्य' इति नियमो युक्तः, सर्वस्य क्षणिकत्वादिसाधने सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसङ्गात् । नहि निरन्वयं क्षणिकत्वं क्वचिदपि प्रसिद्धम्, शब्द-विद्युत्प्रदीपादावपि विप्रतिपत्तेः ।

यदप्युक्तम्-'पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयासत्त्वे हेतोरसिद्धत्वादिदोषानुषङ्गः' इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, अन्यथानुपपत्तिनिश्चयलक्षणत्वादेव अस्य असिद्धत्वादिदोषपरिहारसिद्धेः । स्वयमसिद्धस्य अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयासंभवो विरुद्धाऽनैकान्तिकवत् । तथापि अविनाभावप्रपञ्चत्वात् पक्षधर्मत्वादेः असिद्धादि (द्धत्वादि) व्यवच्छेदार्थमभिधाने निश्चितत्वस्यापि रूपान्तरस्य अज्ञातासिद्धत्वव्यवच्छेदार्थम्, अबाधितविषयत्वादेश्च बाधितविषयत्वादिव्यवच्छित्तये अभिधानप्रसङ्गः । तन्न सौगतपरिकल्पितं पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयं हेतोर्लक्षणं युक्तम् ।

सिद्धिः क्षणभये ॥"-तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०१-२०२ । "सपक्षे सत्त्वरहितस्य च श्रावणत्वादेः शब्दानित्यत्वे साध्ये गमकत्वप्रतीतेः ।" -प्रमेयक० पृ० ३५५। स्या० र० पृ० ५१९ ।

(१) "पक्षीकृत एव साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः, अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः । यथा अनेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेः, अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, य एवं स एवं यथा पाकस्थानम् ।" -प्रमाणनय० ३।३६। (२) सत्त्वस्य श्रावणत्वस्य वा । (३) अन्तर्व्याप्तेरेव । (४) तुलना-"साध्याभावे विपक्षे तु योऽसत्त्वस्यैव निश्चयः । सोऽविनाभाव एवास्तु हेतो रूपात्तथाह च ॥"-तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३। प्रमेयक० पृ० ३५६ । स्या० र० पृ० ५२१। (५) विपक्षासत्त्वमेव । (६) तुलना-"अन्तर्व्याप्तिलक्षणस्य तथोपपत्तिरूपस्यान्वयस्य सद्भावादन्यथानुपपत्तिरूपव्यतिरेकवत् ।" -प्रमेयक० पृ० ३५६। स्या० र० पृ० ५२०। (७) तथा साध्ये सत्येव उपपत्तिः साधनस्य । (८) अन्यथा साध्याभावे अनुपपत्तिः अभावः साधनस्य । (९) शब्दादीनामपि द्रव्यार्थतया नित्यत्वाभ्युपगमात् । (१०) पृ० ४३८ पं० १२। (११) तुलना- हेतोरन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयादेव दोषत्रयपरिहारसिद्धेः, स्वयमसिद्धस्य अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयासंभवात् अनैकान्तिकविरुद्धवत् । तस्य तथोपपत्तिनियमनिश्चयरूपत्वात् । तस्य च असिद्धे व्यभिचारिणि विरुद्धे च हेतावसंभावनीयत्वात् ।"-प्रमाणप० पृ० ७२। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३ । प्रमेयक० पृ० ३५४। स्या० र० पृ० ५२१ । प्रमेयर० ३।१५। प्रमाणमी० पृ० ४० । (१२) हेतो-आ० टि० (१३) असिद्धादीनाम् अविनाभावरूपत्वे सत्यपि । तुलना-"रूपत्रयस्य सद्भावात्तत्र तद्वचनं यदि । निश्चितत्वस्वरूपस्य चतुर्थस्य वचो न किम् ॥ त्रिषु रूपेषु चेद्रूपं निश्चितत्वं न साधनं । नानासिद्धता हेतो रूपं स्यात्तद्विपर्ययः ॥" -तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३ । प्रमाणप० पृ० ७२ । स्या० र० पृ० ५२१। (१४) अज्ञानं मनसिद्धं तदभावरूपता-आ० टि० ।

1 लक्षणमलं ब० । 3 सपक्षसत्त्वा-ब० । ... श्र० । 4-हारप्रसि-श्र०, ब० ।

यौगपरिकल्पितस्य पाञ्चरूप्यस्य प्रतिविधानम्—

नापि यौगोपकल्पितं पाञ्चरूप्यम्, पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयस्य प्रागेव प्रत्याख्यातत्वात्, साध्याऽविनाभावव्यतिरेकेणाऽपरस्य अबाधितविषयत्वादेरसंभवात्, अतस्तदेवैकं प्रधानं हेतोर्लक्षणमस्तु किं पाञ्चरूप्यकल्पनया ? नहि 'अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वात् जलवत्' इत्यादावपि अविनाभावाभावादन्यद् बाधितविषयत्वं नाम प्रतीयते, बाधितविषयत्वाविनाभावयोर्विरोधात्। साध्यसद्भाव एव हेतोः धर्मिणि सद्भावः अविनाभावः, तदभावे एव च तत्र तत्सद्भावो विषयबाधेति।

किञ्च, अबाधितविषयत्वं निश्चितम्, अनिश्चितं वा हेतोर्लक्षणं स्यात् ? न तावदनिश्चितम्, अतिप्रसङ्गात्, अज्ञायमानस्य ज्ञापकहेत्वनङ्गत्वात्। नापि निश्चितम्, तन्निश्चयनिबन्धनाऽसंभवात्। तन्निबन्धनं हि अनुपलम्भः, संवादः, अन्यद्वा किञ्चित् ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः, सर्वात्मसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य असिद्धाऽनैकान्तिकत्वात्।

(१) 'तत्र परोक्षार्थप्रतिपत्तिनिमित्तं लिङ्गम्, तच्च पञ्चलक्षणम्। कानि पुनः पञ्च लक्षणानि ? पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षाद्व्यावृत्तिरबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वञ्चेति। जिज्ञासितविशिष्टो धर्मी पक्षः, तद्धर्मत्वं तत्र विद्यमानत्वमित्यर्थः। साध्यधर्मयोगेन निश्चितो धर्मान्तरं सपक्षः तत्रास्तित्वम्। साध्यधर्मसम्बन्धशून्यो धर्मी विपक्षः ततो व्यावृत्तिः। अनुमेयस्यार्थस्य प्रत्यक्षागमाभ्यामनपहरणमबाधितविषयत्वम्। संशयबीजभूतेनार्थेन प्रत्यनुमानतया प्रयुज्यमानेनानुपहतत्वमसत्प्रतिपक्षत्वम्। एतैः पञ्चभिर्लक्षणैरुपपन्नं लिङ्गमनुमापकं भवति।"—न्यायप्र० पृ० १३०। न्यायकलि० पृ० २। न्याय सा० पृ० ६। पञ्चसु वा चतुर्षु वा त्रयेषु हेतोरविनाभावं परिसमाप्यन्त तस्मादबाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्व स्वरूपद्वयसमूचनाय निगमनमिति —न्यायवा० ता० पृ० १०२। अनयोः (बाधितासत्प्रतिपक्षप्रकरणसमयोः) व्यवच्छेदार्थमबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं च समानतन्त्रसिद्धम्, तन्त्रान्तरस्यानुमतत्वात्।'—प्रश० व्यो० पृ० ५६५। (२) तुलना— साध्याविनाभावित्वव्यतिरेकेणापरस्य अबाधितविषयत्वादेरसंभवात्'—प्रमेयक० पृ० ३५७। (३) अविनाभावित्वमेव। (४) तुलना— अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः कृतम्। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः कृतम् ॥"—प्रमाणप० पृ० ७२। स्या० र० पृ० ५२७। (५) तुलना— बाधाया अविनाभावस्य च विरोधोऽस्ति। तथाहि—साध्याविनाभावे यथावत् बाधासम्भवं मन्यमानस्त्वबाधितविषयत्वं रूपान्तरमुच्यते सा चेयं तत्सम्भावना न संभवति बाधाया अविनाभावेन विरोधात् सहानवस्थानलक्षणात्। तमेव विरोधं ख्यापयन्नाह—अविनाभावो हि इत्यादि। सत्येव हि साध्यधर्मे भावो हेतोरविनाभाव उच्यते, प्रमाणबाधा तु तदभावमभिधत्ते। यदि हि सत्येव तस्मिन्स्तदभावविषयं प्रमाणं प्रवर्तेत तदास्य भ्रान्तत्वात् प्रमाणमेव न स्यादिति कुतो बाधा ? यदा स हेतुस्तल्लक्षणः साध्याविनाभावी धर्मिणि स्यात् अत्र च साध्यधर्मे कथञ्चन भवेत् यतो बाधावकाशः स्यात्। तस्मादविनाभावस्य प्रमाणबाधायाश्च सहानवस्थानम् अविनाभावेनोपस्थापितस्य च तदभावस्य परस्परपरिहारस्थितिलक्षणतया विरोधेन एकत्र धर्मिण्यसंभवादिति।'—हेतुबि० टी० पृ० १९५ B। वादन्यायटी० पृ० १३८। न्यायम० पृ० ४४८। प्रमेयक० पृ० ३५७। प्रमाणमी० पृ० ४१। (६) साध्याभाव एव। (७) धर्मिणि विद्यमाने। (८) हेतुसद्भावः। (९) तुलना— 'किञ्चाबाधितविषयत्वं निश्चितमनिश्चितं वा हेतोर्लक्षणं स्यात् ? —प्रमेयक० पृ० ३५८। (१०) अबाधितविषयत्वनिश्चयः। (११) तुलना— तन्निबन्धनं ह्यनुपलम्भः संवादो वा स्यात्।' —प्रमेयक० पृ० ३५८। (१२) तुलना— सर्वादृष्टिश्च सन्दिग्धा स्वादृष्टिर्व्यभिचारिणी। विन्ध्यादिरन्ध्रदूर्वादेरदृष्टावपि सत्त्वतः ॥ —तत्त्वसं० पृ० ६५। स्वसर्वानुपलम्भयोः। आरेका

1 –भावपि विनाभावाभावादन्यद् आ०, –भावविनाभावाभावादन्यद् ब०।

द्वितीयविकल्पोऽप्यनुपपन्न, प्रागनुमानप्रवृत्ते संवादस्याऽसिद्धत्वात्। तदुत्तरकाल तत्सिद्ध्यभ्युपगमे त्वन्योन्याश्रय, तथाहि–अनुमानात् प्रवृत्तौ संवादसिद्धि, ततश्च अबाधितविषयत्वसिद्धेरनुमानप्रवृत्तिरिति। अथान्यत् किञ्चित्, तत् किं तद्विषय प्रमाणान्तरम्, अविनाभावावगमो वा ? तत्र प्रमाणान्तरात् कुतश्चिदबाधितविषयत्वावगमे हेतोरकिञ्चित्करत्व साध्यस्यापि अत एवावगमात्। न ह्यसति साध्यसद्भावावगमे तद्बाधाविरहो निश्चेतु शक्य। अथाविनाभावावगमात् तदवगम, तन्न, पञ्चरूपयोगिनि हेतावविनाभावपरिसमाप्तिवादिनाम् अबाधितविषयत्वस्याऽनवगमे अविनाभावाऽवगमस्यैवाऽसम्भवात्। ततोऽबाधितविषयत्वस्याऽसिद्धे न तद्धेतोर्लक्षण युक्तम्।

नाप्यसत्प्रतिपक्षत्वम्, यत प्रतिपक्ष तुल्यबल, अतुल्यबलो वा सत्त्वेन प्रतिषिध्येत ? तुल्यबलत्वे बाध्यबाधकभावानुपपत्ति। ययोस्तुल्यबलत्व न तयोर्बाध्यबाधकभाव यथा राज्ञो, तुल्यबलत्वञ्च पक्षप्रतिपक्षयोरिति। अतुल्यबलत्व [illegible] अनयो किंकृतम्–पक्षधर्मत्वादिभावाभावकृतम्, अनुमानबाधाजनित वा ? न तावत् प्रथमपक्षो युक्त, पक्षधर्मत्वादेरुभयोरप्यविशेषात्। नहि मूर्तत्वे साध्ये तत्पुनत्वादे पक्षधर्मत्वादिक न सम्भवति, शौक्ल्याख्यानलिङ्गस्यैव वा सम्भवति। द्वितीयपक्षोऽप्यसम्भाव्य, अनुमानबाधाया अद्याप्यसिद्धे। नहि द्वयो पक्षधर्मत्वाद्यविशेषे एकस्य बाध्यत्वम् अपरस्य च बाधकत्व युक्तम्, अविशेषेणैव तत्प्रसङ्गात्। अन्योन्याश्रयश्च,

सिद्धत –न्यायवि० का० ४०६। तत्त्वार्थश्लो० प० १३। सन्मति० टी० पृ० १८। आत्मतत्त्ववि० पृ० ९४। तर्कभा० मो० लि० प० २२। न्यायली० पृ० २२। सर्वसम्बन्धिनाऽनुपलम्भस्य सर्वज्ञत्वमन्तरेण ज्ञातुमशक्यत्वान्सिद्धत्वम् आत्मसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्तु परचेतोवृत्तिविशेषाभिन्ना व्यभिचारी।

(१) अनुमानप्रवृत्त्यनन्तरम्। (२) संवादसिद्धिस्वीकारे। (३) अर्थक्रियाया सत्याम् अर्थक्रियास्थितिलक्षण संवाद सिद्ध्यति। (४) तुलना–"तद्बाधाभावनिर्णीति सिद्धा चेत्साधनेन किम्। मथव हेतोर्विषयस्य बाधासद्भावनिश्चय ॥'–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०५। "तदाप्यकिञ्चित्करत्व हेतो, यथव हि हेतोर्विषयस्य बाधासद्भावनिश्चय तत्साधनासमर्थत्वादकिञ्चित्करत्व तथव बाधाविरहनिश्चये कुतश्चित्तस्य सद्भावसिद्धस्तत्साधनाय प्रवर्तमानस्य सिद्धसाधनादपि इति।'–स्या० र० पृ० ५२६। (५) प्रमाणान्तरादेव। (६) अबाधितविषयत्वावगम-आ० टि०। (७) यौगानाम्–आ० टि०। "एतेषु पञ्चसु लक्षणेष्वविनाभाव समाप्यते'–न्यायकलि० पृ० २। (८) तुलना– यत प्रतिपक्षस्तुल्यबलोऽतुल्यबलो वा सन् स्यात्।'–प्रमेयक० पृ० ३५९। स्या० र० प० ५२७। "अत आह तुल्ये लक्षण हि इत्यादि। शङ्कयमानप्रतिहेतुना तुल्य लक्षण दर्शनादर्शनमात्रनिमित्ताविनाभावरूप यस्य तस्मिन्, दृष्ट प्रतियोगिन प्रतिहेतोर्बाधकस्य सम्भव स यथामयि तत्तुल्यलक्षणाना प्रतियोगी न दृश्यते सोऽपि नाना प्रतिहेतुसम्भवविषयामुत्पादयति। किं कारणम् ? अदृष्टप्रतियोगिनो दृष्टप्रतियोगिनो विशेषाभावात्। न हि तस्येतरेण कश्चिद्विशेषोऽस्ति यतस्तत्सम्भवो न शङ्क्येत। अथ विशेष प्रतिबन्धलक्षणोऽविनाभावनिश्चायको दृष्टप्रतिहेतोरदृष्टप्रतियोगिन इष्यते, यत प्रतियोगिसंभवाशङ्काऽस्तमुपनिनीषति सा विशेष स विशेषो हेतोर्लक्षणम्।"–हेतुबि० टी० पृ० २०४ A। (९) अमूर्तोऽन्यमात्मत्वाप्यनित्यत्वस्यापि सम्भवात्–आ० टि०। (१०) बाध्यत्वस्य बाधकत्वस्य वा।

1 विनिश्चेतु ब०। 2–त्वानवगमे ब०। 3 पक्षयोरिति ब०।

तथाहि–अतुष्णत्वे अनुमानबाधा, तस्याश्च अनुष्णत्वमिति। तत्र सूत्रम्–यथोक्ताल्लिङ्गात् लिङ्गिधीः अनुमानमिति।

ननु चास्य निष्फलत्वात् किं तत्स्वरूपनिरूपणप्रयासेन ? फलवता हि प्रमाणेन भवितव्यम् नान्येन अतिप्रसङ्गात्, इत्याशङ्कापनोदार्थं 'तत्फलम्' इत्याह। तस्य अनुमानस्य फलं हानम् आदिर्यस्य उपादानादेः तस्य बुद्धयः। ननु न किञ्चिद् वास्तवं प्रमाणमस्ति नापि तत्फलम् अन्यत्राऽविद्यावासनाविशेषात्, इत्यप्यविचारितरमणीयम्, तदुभयसद्भावस्य वास्तवस्य 'पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम्' [लघी० का० ७] इत्यत्र प्रपञ्चतः प्ररूपितत्वात्।

अत्र सौगतः प्राह–यदुक्तं 'साध्याविनाभावं' इत्यादि, तत्सूक्तम्, अविनाभावबलेनैव सर्वत्र हेतो गमकत्वप्रतीतेः, स त्वविनाभावः तादात्म्यतदुत्पत्तिनियतत्वात् कार्यस्वभावहेतावेव अवतिष्ठते। तादात्म्येन हि स्वभावहेतौ अविनाभावः परिसमाप्यते, तदुत्पत्त्या [redacted] कार्यहेतौ। न च अन्यल्लिङ्गमस्ति, अनुपलब्धेरपि स्वभावहेतौ अन्तर्भावात्। घटाद्यभावो हि घटादिविविक्तभूतलादिस्वभावः, तदनुपलब्धिश्च तद्विविक्तभूतलादिस्वभावोपलब्धिः।

अविनाभावस्य तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव नियतत्वात् कार्यस्वभावहेतावेव तत्सम्भवतीति बौद्धस्य पूर्वपक्षः

तत्प्रतिपत्तिश्च ऊहज्ञानात्, इत्यपि श्रद्धामात्रम्, कार्यहेतोरविनाभावस्य प्रत्यक्षा

(१) अनुमानस्य। (२) काकदन्तादीनामपि निरूपणप्रसङ्गात्। (३) पृ० २०८। (४) स च प्रतिबन्धः साध्यार्थे लिङ्गस्य वस्तुतस्तादात्म्यात् साध्यादर्थादुत्पत्तेश्च। अतत्स्वभावस्यातदुत्पत्तेश्च तत्राप्रतिबद्धस्वभावत्वात्। ते च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्वभावकार्ययोरेवेति ताभ्यामेव वस्तुसिद्धिः।–न्यायबि० पृ० ४०-४२। कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्। अविनाभावनियमो दर्शनान्न न दर्शनात्॥ यत एव प्रतिबन्धान्न गमकत्वात्तस्मात् कार्यकारणभावाद्वा नियामकात् साध्यसाधनयोरव्यभिचारसाधकात् स्वभावाद्वा तादात्म्यलक्षणान्नियामकात् कार्यस्य स्वभावस्य च लिङ्गस्याविनाभावः साध्यधर्मं विना न भाव इत्ययम्–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।३३। हेतुबि० टी० प० ९ B। 'तादात्म्यतदुत्पत्त्या सम्बन्धः परिनिश्चितम्। तस्य साधनं प्राहुः सिद्धयं न्यायवादिनः॥–तत्त्वसं० पृ० ४२९। (५) इमे सर्वे कार्यानुपलब्ध्यादयो दशानुपलब्धिप्रयोगाः स्वभावानुपलब्धौ सङ्ग्रहमुपयान्ति'–न्यायबि० पृ० ५५। अनुपलब्धेस्तु स्वभावेऽन्तर्भावः।–तत्त्वसं० पं० पृ० ४३१। स्वभावानुपलब्धिस्तु स्वभावहेतावन्तर्भावितेति तस्याः तादात्म्यलक्षण एव प्रतिबन्धः। व्यापककारणानुपलब्धी तु तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धवशादेव व्याप्यव्यापकयोर्निवृत्तिं साधयतः।–हेतुबि० टी० प० ७ A। (६) यस्मादेकज्ञानसंसर्गिणोः प्रत्यक्षेण एकस्य ग्रहणमेव अन्यस्याग्रहणम् तदग्रहणमेव च तस्याभावग्रहणम् भावेऽपि तस्याग्रहणायोगात्। यदाह–अन्यहेतुसाकल्ये तदव्यभिचाराच्चोपलम्भः सत्ता तदभावोऽनुपलब्धिरसत्ता अन्योपलब्धिश्चानुपलब्धिरिति।–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।५। (७) घटानुपलब्धिः। (८) घटरहित। (९) अविनाभावप्रतिपत्तिश्च। (१०) तुलना–न्यायकु० पृ० १२ टि० ३। यस्तु अग्निधूमव्यतिरिक्तदेशे प्रथमं धूमस्यानुपलम्भ एक, तदनन्तरमग्नेरुपलम्भः ततो धूमस्येत्युपलम्भद्वयम् पश्चादग्नेरनुपलम्भोऽनन्तरं धूमस्याप्यनुपलम्भ इति द्वावनुपलम्भाविति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकाद् व्या

1–प्ररूपण–ब०। 2 साध्याविनाभावबलेनैव आ०। 3 तत्सूक्तम् ब०। 4 कार्यहेतौ स्वभाव भ०। कार्यस्वभावहे–ब०। 5–त्या का–ब०। 6–लब्धे आ०। 7 इत्याद्यपि ब०।

नुपलम्भपञ्चकेन प्रतिपत्ते । तथाहि–अग्निधूमव्यतिरिक्तेषु उपलभ्यमानेष्वपि भूत-लार्थेषु प्रथमम् अग्निधूमयोरनुपलम्भ एकः, अनन्तरम् अग्नेरुपलम्भः ततो धूमस्य इत्युपलम्भद्वयम्, पश्चादग्नेरनुपलम्भोऽनन्तरं धूमस्याप्यनुपलम्भ इति द्वावनुप-लम्भौ, इति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन एकस्यामपि व्यक्तौ कार्यकारणभावावगमो भवति अग्नेः कार्यं धूमः । यश्च यत्कार्यं स तेन नियतः । यदि [3]तेन नियतो न स्यात् तर्हि निरपेक्षत्वात् नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यात् । यश्च नियतः स नियामकवान्, तदभावे स्यातन्त्र्यात् नित्यं सत्त्वासत्त्वयोः पुनः प्रसङ्गः स्यात् । ततश्चायमर्थः सम्पन्नः–यो यस्मादुत्पद्यमानः सकृदप्युपलब्धः स तस्मादेव नान्यस्मात्, अहेतोस्तदुत्पत्तौ सर्वस्मात् सर्वस्योत्पत्तिः, इति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन स्वभावहेतुद्वयेन च कार्यहेतोः सार्वत्रिकी व्याप्तिः प्रतीयते ।

स्वभावहेतोस्तु विपक्षे बाधकप्रमाणेन, यथा सत्त्वस्य क्षणिकत्वेन । तथाहि–अर्थक्रियाकारित्वलक्षणं सत्त्वम्, अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता, ते चाऽक्ष-णिकान्निवर्त्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादाय निवर्त्तेते, सा च सत्त्वम् । कस्मात् पुनः अक्षणिकात् क्रमयौगपद्ययोर्व्यावृत्तिरिति चेत् ? नानारूपत्वात् । कौलत पौर्वापर्यं हि क्रमः तद्विपरीतं यौगपद्यम्, इत्थञ्च ते नानारूपे, अक्षणिकत्वञ्च एकरूपता, एकरूपता-नानारूपते च एकाश्रिते विरुद्धे, अतः अक्षणिकान्निवर्त्तमानं सत्त्वं क्षणिक एव अवतिष्ठते प्रकारान्तरासम्भवात् । नहि क्षणिकाऽक्षणिकव्यतिरिक्तस्तृतीयः प्रकारोऽस्ति यतस्तत्र [13]अस्य वृत्तिराशङ्क्येत ।

प्तिग्रह इत्येषा सिद्धान्तः । तदुक्तम्–"धूमाधीर्वह्निविज्ञानं धूमज्ञानमधीस्तयोः । प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामिति पञ्चभिरन्वयः ॥'–जैनतर्कभा० पृ० ११ । प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः ।' –हेतुबि०पृ० ५३ B ।

(१) उपलम्भ इति शेषः । (२) धूमोऽग्निनियतः तत्कार्यत्वात् इति । (३) अग्निना । (४) "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् । अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसम्भवः ॥"–प्रमाणवा० ३।३६ । (५) धूमोऽग्निनियामकः अग्निकार्यत्वेन तन्नियतत्वात् । (६) उत्पद्यते इति शेषः । (७) आसन्नोक्तनियतत्वनियामकत्वरूपेण–आ० टि० । पूर्वोक्तनियतत्वनियामकत्वलक्षणहेतुद्वयम् । (८) 'सन् शब्दः कृतको वा यश्चैवं स सर्वोऽनित्यः यथा घटादिरिति । अत्र व्याप्तिसाधनं विपर्यये बाधकप्रमाणोपदर्शनम् । यदि न सर्वं सत् कृतकं वा प्रतिक्षणविनाशि स्यादक्षणिकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियायोगादर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणमतो निवृत्तमित्यसदेव स्यात् । सर्वसामर्थ्योपाख्याविरहलक्षणं हि निरुपाख्यमिति ।–वादन्याय पृ० ७ । तत्त्वसं० पृ० १४३ । हेतुबि० टी० पृ० १४३ A । क्षणभङ्गसि० पृ० २० । न्यायकु० पृ० ८ टि० १ । (९) क्रमयौगपद्ये । (१०) अर्थक्रिया । (११) 'क्रमो नाम परिपाटिः कार्यान्तरासाहित्यं यथाऽव्यवहितकुरादेः । यौगपद्यमपि तस्यापरबीजादिकार्यैः साहित्यं प्रकारान्तरत्वादङ्कुरादेः, तदुभयावस्थाविरहोऽप्यथाभवनम् "–हेतुबि० टी० पृ० १४३ B । (१२) तृतीये क्षणिकाक्षणिकबहिर्भूते प्रकारान्तरे । (१३) सत्त्वस्य ।

1–पलम्भाऽनन्त–आ०, श्र० । 2–यौगपद्याभ्या–ब० । 3–कृता चक–ब० । 4 'एकरूपता' नास्ति आ०, श्र० ।

अनुपलब्धि पुन सर्वा स्वभावानुपलब्धौ अन्तर्भवति । स्वभावानुपलब्धिश्च स्वभावहेतु, तस्य च तादात्म्यमेव प्रतिबन्ध । अतोऽस्या न पृथक् प्रतिबन्धचिन्ता इति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्–'अविनाभावस्तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्या नियत' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, नहि तादात्म्यम् अविनाभावनियमनिमित्तम्, तस्मिन् सति भेदाभावेन सम्बन्धाभावे अविनाभावानुपपत्ते, भेदाधिष्ठानत्वात् सम्बन्धस्य । न चानंशार्थवादिनं तादात्म्यभेदो मनागपि उपपद्य(द्ये)ते । तादात्म्यं हि तत्स्वभावता, तेन साध्येन साधनस्यैक्यम्, न चैक्ये भेद सम्भवति, भेदे वा नैक्यम्, अत कथं तदात्मतया शिंशपा वृक्षं गमयेत् ? तादात्म्येन च गमकत्वे हेतुग्रहणवेलायामेव तदव्यतिरेकितया साध्यस्य प्रतिपन्नत्वात् नानुमानस्य साफल्यम् । न ह्यगृहीतं लिङ्गं लिङ्गिविषया धियमाधत्ते । गृहीतौ च यदि लिङ्गप्रतीतौ न लिङ्गी प्रतिभासेत् तदा कथं तयोस्तादात्म्यम् ? प्रतिभासे तु सिद्धमनुमानस्य वैफल्यम्, प्रतिपन्नार्थकदर्शिता च हेतो । विपरीतसमारोपव्यवच्छेदार्थत्वात्तस्य साफल्यञ्चेत्, ननु तैरस्य-

तत्प्रतीतिविधानपुरस्सरं तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि अविनाभावसम्भवनात् इति कार्यादिहेतूनां गमकत्वप्रदर्शनम्—

(१) पृ० ४४४ पं० १० । (२) तुलना– तथा वृक्षत्वशिंशपात्वयोर्न तादात्म्यप्रतिबन्ध साध्यसाधनभावानुपपत्तिप्रसङ्गात् । तथाहि–धर्मिण्युपलम्भे तत्तादात्म्यादुभयोरप्युपलम्भ कथ साध्यसाधनभाव । –प्रश० व्यो० पृ० ५७१ । अपि च तादात्म्ये कथ गम्यगमकभाव न हि तदेव कर्म कर्तृ चेति युक्तम् तस्य भेदाश्रयत्वात् । –न्यायवा० ता० पृ० १६१ । न च तादात्म्ये गम्यगमकता घटते एकस्य सहजन्यानत्वानाततत्वायोगात् । –बृह० पं० पृ० ९५ । तादात्म्ये च यदनुमानं तदपि न साधीय सिद्धं हि लिङ्गं साध्यं लिङ्गिकम् न सिद्धस्य साध्यस्य च तादात्म्यमुपपद्यते । –प्रक० पं० पृ० ६७ । न च तादात्म्ये गम्यगमकभावव्यवस्था युक्ता तस्या भेदाश्रयत्वात् । यदि शिंशपात्वे गृह्यमाणे वृक्षमगृहीतं क्व तादात्म्यम् ? गृहीतं चेत् क्वानुमानम् ? –प्रश० कन्द० पृ० २०७ । अपि च यदि तादात्म्यं गमकत्वाङ्गमिष्यते तदा साध्यसाधनयोर्भेदाभावेन सम्बन्धाभावादविनाभावानुपपत्ति –स्या० र० पृ० ५३३ । (३) सौगतस्य । (४) तुलना– तादात्म्यं तावत् गमकत्वाङ्गं हेतुसाध्ययोरव्यतिरेके गम्यगमकभाव एव दुरुपपाद । न खल्वगृहीतं लिङ्गं लिङ्गिप्रतीतिमाधातुमर्हति । तत्र लिङ्गबुद्धौ लिङ्ग (लिङ्गी) प्रतिभासते न वा ? अप्रतिभासे तद्बुद्ध्या तदग्रहणात् कथं तस्य तदात्मकत्वम् । प्रतिभासे तु लिङ्गवत् प्रत्यक्ष एव साध्य इति किमनुमानेन ? –न्यायम० पृ० ११३ । तादात्म्येन च गमकत्वे हेतुप्रतिपत्तिवेलायामेव साध्यस्यापि प्रतिपन्नत्वान्नानुमानस्य साफल्यम् । –स्या० र० पृ० ३५३ । (५) हेतुना तादात्म्येन अभिन्नत्वात् । (६) गृहीतिशब्दस्य सप्तम्येकवचनम् । लिङ्गग्रहणे सत्यपि चशब्दस्य अप्यर्थकत्वात् । (७) लिङ्गलिङ्गिना । (८) लिङ्गप्रतीतौ साध्यस्य प्रतिभासे । (९) साध्यसाधनयो वृक्षत्वशिंशपात्वयो तादात्म्यं हि प्रतिपन्नत्वेऽभूत यत वृक्षत्वं साध्यं तत्तादात्म्यापन्नं शिंशपात्वमेव च हेतु इति साध्यस्य अभिद्धत्वात् हेतोरप्यसिद्धत्वमिति भाव । (१०) तुलना– विपरीतसमारोपव्यवच्छेदार्थमनुमानमिति चेत् न तत्स्वरूपग्रहणे विपरीतारोपणावसराभावात् । न हि गिरपाण्या निश्चिते सति स्थाणुसमारोप प्रवर्तते तत्र तद्भ्रान्त्युपपद्यतापि न हि गिरपाण्यादय एव पुरुष इति तद्भ्रान्त्याप्यपुरुषारोप नाम भवेत् इह वृक्षत्वशिंशपात्वयोरभेदात् शिंशपाग्रहणे सति का कथा वृक्षान्तरसमारोपस्य । –न्यायम० पृ० ११३ । स्या० र० पृ० ५३५ । (११) शिंशपात्वमस्त्वान्हेतौ –आ० टि० । (१२) हेतुस्वरूपे ।

रूपे प्रतिपन्ने, अप्रतिपन्ने वा विपरीतसमारोपः स्यात् ? तत्र प्रतिपन्ने कोऽवसरो विपरीतसमारोपस्य ? न हि शिरःपाण्यादिविशेषोपलम्भे स्थाणुसमारोपः समाविशति। तत्स्वरूपेऽप्रतिपन्ने तु का कथा विपरीतसमारोपस्य ?

किञ्च, वृक्षत्वग्रहणे सति सामान्यग्रहणाद् विशेषाग्रहणात् स्यात् कदाचिदशिंशपात्वसमारोपः, नतु शिंशपात्वग्रहणे सति अवृक्षत्वसमारोपः। शिंशपात्वं हि यस्य प्रत्यक्षं वृक्षत्वं न तस्याऽप्रत्यक्षम्।

किञ्च, साध्यसाधनयोरव्यतिरेके यथा शिंशपात्वेन वृक्षत्वमनुमीयते, तथा वृक्षत्वेनापि किन्न शिंशपात्वं तादात्म्याऽविशेषात् ? अथ शिंशपात्वमेव वृक्षत्वे प्रतिबद्धं न वृक्षत्वं शिंशपात्वे, न तर्हि तादात्म्याद् गमकत्वम्, अपितु अविनाभावादेव। तन्न तादात्म्ये अविनाभावस्य नियतत्वम्।

नापि तदुत्पत्तौ, वह्न्युत्पन्नेष्वपि धूमधर्मेषु श्यामत्वादिषु अविनाभावस्याऽनुपलब्धेः। न च सामान्ययोः कार्यकारणभावः किन्तु विशेषयोः, ययोश्चाऽनयोर्महानसादौ कार्यकारणभावोऽवगतः न तयोर्गम्यगमकभावः, ययोस्तु पर्वतस्थयोः गम्यगमकभावः न तयोः कार्यकारणभावोऽवगतः। न चानवगते तस्मिन् तयोरविनाभावो ग्रहीतुं शक्यः।

---

(१) शिंशपात्वलक्षणे हेतुस्वरूपे प्रतिपन्ने हि तदभेदाद् वृक्षत्वमपि प्रतीतमेवेति विपरीतस्य वृक्षत्वेतरत्वस्य आरोपः कथं स्यात् ? (२) 'तुलना–अपि च वृक्षस्य ग्रहणे सति सामान्यधर्मग्रहणाद्विशेषानध्यवसायात् कदाचिदशिंशपासमारोपः स्यान्न तु शिंशपात्वग्रहणे सति अवृक्षत्वसमारोपो युक्तः। प्रमातुः शिंशपात्वं हि यस्य प्रत्यक्षगोचरः। परोक्षं तस्य वृक्षत्वमिति नातीव लौकिकम् ॥' –न्यायमं० पृ० ११४। (३) तुलना–'तयोरुभयोस्तादात्म्याविशेषेऽपि शिंशपात्वेन वृक्षस्य प्रतिपत्तिवत् वृक्षत्वेन शिंशपात्वप्रतिपत्तिरपि स्यात्।'–प्रश० व्यो० पृ० ५७१। 'किञ्च साध्यसाधनयोरव्यतिरेके यथा शिंशपात्वेन वृक्षत्वमनुमीयते तथा वृक्षत्वेनापि शिंशपात्वमनुमीयेत तादात्म्याविशेषात्। ततश्च सपक्षव्याप्त्यव्याप्तिभ्यां कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वयोर्यो भेद उक्तः स हीयेत। ननु चान्यः सम्बन्धः अन्यश्च प्रतिबन्धः, द्विष्ठः सम्बन्धः, प्रतिबन्धस्तु परायत्तत्वलक्षणः। तत्र शिंशपात्वं वृक्षत्वे प्रतिबद्धं न वृक्षत्वं शिंशपात्वे प्रयत्नानन्तरीयकत्वमपि अनित्यत्वे नियतं न त्वनित्यत्वं तत्रेति, तथा धूमस्याग्नौ प्रतिबन्धः न त्वग्नेर्धूमे सत्यमेवम्, किन्त्वेवमुच्यमाने नियम एवाङ्गीकृतो भवेन्न तादात्म्यम्। तादात्म्ये हि यथा शिंशपा शिंशपां विना न दृश्यते तथा वृक्षत्वमपि शिंशपारहितं न दृश्येत, दृश्यते च खदिरादौ शिंशपारहितं वृक्षत्वम्, विद्युदादौ च प्रयत्नानन्तरीयकत्वरहितमनित्यत्वमुपलभ्यत इति कथमभेदः ? विना साधनधर्मेण साध्यधर्मोऽप्यस्ति हि। दृष्टसम्बन्धनिरपेक्षेण तदात्मा चेति वक्तव्यम् ॥'–न्यायमं० पृ० ११४। प्रमे० क० पृ० ६७। स्या० र० पृ० ५३५। (४) तुलना–'कार्यहेतुरपि न सम्भवति भवता हि सामान्ययोर्वा कार्यकारणभावो भवेत् सन्तानयोर्वा ? यदि धूमः कार्यत्वादनलमनुमापयेत् कटुमलिनगगनगामित्वादिधर्मैरपि तस्य गमकः भवेत्। न च कथञ्चित्तत्कार्यत्वं कथञ्चिदनत्कार्यत्वञ्च धूमस्योपपन्नम्, सर्वात्मनस्य तदन्वयव्यतिरेकानुविधायिप्रभवजात।'–न्यायमं० पृ० ११६। स्या० र० पृ० ५३५। (५) कार्यकारणभूतयोः धूमाग्न्योः। (६) कार्यकारणभावः। (७) पर्वतस्थधूमाग्न्योः।

---

1 प्रत्यक्षं कथं वृक्षत्वं तस्याप्रत्यक्षत्वम् श्र०, ब०। 2–साल्वेन प्रति– श्र०। 3–पात्वेन न तर्हि श्र०।

न च अगृहीतोऽसौ[1] अनुमानाङ्गम् । तदानीं ग्रहणे तु हेतुप्रतिपत्तिसमय एव साध्यप्रतिपत्तेर्जातत्वात् किमनुमानेन ?

तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्याम् अविनाभावप्रतिनियमे च कथं कृत्तिकोदय शकटोदययोः चन्द्रोदय-समुद्रवृद्धयोश्च[2] गम्यगमकभावस्तत्र तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावात्[3] ।

यदप्युक्तम्[4]–'अविनाभावस्य प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन प्रतिपत्तिः'[5] इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्, प्रत्यक्षस्य अविकल्पकतया[6] अनुपलम्भस्यापि अर्थान्तरोपलम्भस्वभावस्य तद्रूपतया शतशोऽपि प्रवृत्तस्य व्याप्तिग्रहणे सामर्थ्याभावात् । नहि निर्विकल्पकम् 'इदमस्मिन् सत्येव भवति अतोऽन्यथा[7] न भवत्येव' इत्येतावतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च इत्युक्तमनन्तरमेव[8] । नापि तत्प्रभवो विकल्पः[9], तस्य भवता[10] प्रामाण्यानभ्युपगमात् ।

"व्यावृत्त्योर्लिङ्गलिङ्गित्व प्रतिबन्धस्तु वस्तुना ।

विकल्पैर्न्यता[11] तस्यै को मूयात् सौगतात् परः ॥" [न्यायमं० पृ० ११७]

यदपि–'स्वभावहेतोर्विपक्षे बाधकप्रमाणेन व्याप्तिः प्रतीयते' इत्याद्युक्तम्[12], तदप्यु-

(१) अविनाभावः । (२) अनुमानप्रयोगकाले तु कार्यकारणयोः अविनाभावग्रहणे स्वीक्रियमाणे । (३) तुलना– एवं सर्वत्र देशकालाविनाभूतमितरस्य लिङ्गम् । शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नावधारणार्थम् । कस्मात् ? व्यभिचारदर्शनात् । तथा अम्बुयुराश्रावयन् व्यवहितस्य होतुर्लिङ्गम्, चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेः कुमुदविकासस्य च, शरदि जलप्रसादोऽगस्त्योदयस्येति । एवमादि तत्सर्वमस्येदमिति वचनात् सिद्धम् । –प्रश० भा० पृ० ५६२ । न्यायमं० पृ० ११७ । न च तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धाभ्युपगमः स्पर्शनात् स्पर्शानुमानम् उदयादस्तमयप्रतिपत्तिः कृत्तिकोदयाच्च रोहिण्यनुमानं न स्यात् तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावात् । –प्रश० व्यो० पृ० ५७१ । 'अपि च रसाद्यद्रूपं रससमानकालमनुमिमतेऽनुमातारः न चानयोरस्ति कार्यकारणभावस्तादात्म्यं वा । अपि चाद्यतनस्य सवितुरुदयस्य ह्यस्तनसवितूदयेन चन्द्रोदयस्य च समानकालस्य समुद्रवृद्ध्या मध्यन्दिनदृष्ट्या चाष्टमासमयोदयस्य न कार्यकारणभावस्तादात्म्यं वा अथ च दृष्टो गम्यगमकभावः । –न्यायवा० ता० पृ० १६१ १६३ । प्रक० प० पृ० ६७ । प्रमा० क० पृ० २०९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९९ । सन्मति० टी० पृ० ५९३ । स्या० र० पृ० ५३६ । (४) कृतिकोदयादिहेतौ । (५) पृ० ४४४ पं० १६ । (६) अविकल्पनया–आ० टि० । (७) साध्याभावे । (८) पृ० ४२७ पं० २ । (९) निर्विकल्पकजन्यो विकल्पः । (१०) सौगतेन । (११) तुलना– अपि च व्यावृत्त्योर्लिङ्गलिङ्गित्व प्रतिबन्धश्च वस्तुनोः । विकल्पग्रहणं तस्य कथं सद्भिश्च गम्यते ॥ –न्यायमं० पृ० ११७ । यो हि तादात्म्यतदुत्पत्तिस्वभावः प्रतिबन्ध इष्यते स किं वस्तुधर्मो विकल्पारोपिताकारधर्मो वा ? तत्र नायमारोपितधर्मो भवितुमर्हति वस्तु वस्तुना जन्यते वस्तु च वस्तुस्वभावं भवेत् तस्माद्वस्तुधर्मः प्रतिबन्धः । विकल्पैश्च वस्तु न स्पृश्यते तत्प्रतिबन्धस्य निश्चीयत इति चित्रम् । इदञ्च स्वभापितम् वस्तुनोः प्रतिबन्धस्तात्म्यात् गम्यगमकत्वञ्च विकल्पारोपितयोरपोहयोः । तदेवमन्यत्र प्रतिबन्धः अन्यत्र सम्प्रहणाभाय अन्यत्र प्रतीतिः अन्यत्र प्रवृत्तिप्राप्ती इति सर्वं कलवम् । –न्यायमं० पृ० ३४ । (१२) प्रतिबन्धस्य अविनाभावरूपस्य । (१३) पृ० ४४५ पं० ११ ।

1–पत्तेर्जात–श्र० । 2–वृद्धयोर्वा ग–ब० ।

क्रियाऽनुमानम्, यतो विपक्षे बाधकं प्रमाणं क्रमयौगपद्यानुपलम्भलक्षणमनुमानम्। अनुमानञ्च सिद्धव्याप्तिकमेव स्वसाध्यसिद्धये प्रभवति नान्यथाऽतिप्रसङ्गात्। व्याप्तिश्च तत्रान्यनुमानान्तरेण प्रतीयते, प्रकृतानुमानेन वा? अनुमानान्तरेण चेत्, अनवस्था। प्रकृतानुमानेन चेद्, अन्योन्याश्रयः। अतोऽनुमानमिच्छता भवता व्याप्तिग्राही तर्कः प्रमाणान्तरं प्रतिपत्तव्यः, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां तद्ग्रहणानुपपत्तेः इति।

विवृतिव्याख्यानम्- एतदेवाह-'नहि' इत्यादि। तत् साध्यम् आत्मा यस्य तस्य भावः तादात्म्यम्, तस्मात् साध्याद् आत्मलाभः तदुत्पत्तिः, पुनरनयोः इतरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः। ननु स्वरान्तत्वात् तदुत्पत्तिशब्दस्य पूर्वनिपातः प्राप्नोति, तन्न, अस्य लक्षणस्य "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" [जैनेन्द्रव्या० २।२।१०४] इत्यनेन अनैकान्तिकत्वात्। ते तादात्म्यतदुत्पत्ती नहि नैव ज्ञातु शक्येते। कथमित्याह-'विना' इत्यादि। साध्याभावप्रकारेण अन्यथा या अनुपपत्तिः अघटना साधनस्य तस्याः सम्बन्धी ग्राहकत्वेन तर्कः तेन विना। तदेवं वृक्षत्वशिंशपात्वादौ तादात्म्यादेः सद्भावेऽपि अविनाभावबलेनैव शिंशपात्वादेरेव वृक्षत्वादिं प्रति गमकत्वम् न वृक्षत्वादेः शिंशपादिकं प्रति इति प्रतिपाद्य, इदानीं तदभावेऽपि तद्बलेनैव गमकत्वं प्रतिपादयन्नाह-'ताभ्याम्' इत्यादि। ताभ्यां तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां विनैव एकलक्षणस्य अविनाभावस्य सिद्धिः निष्पत्तिः निर्णीतिर्वा। एतदेव समर्थयमानः प्राह-'नहि' इत्यादि। हिर्यस्मात् न वृक्षादिः आदिशब्देन रसादिपरिग्रहः। छायादेः अत्रापि आदिशब्देन रूपादिस्वीकारः, स्वभावः वृक्षादिछायायाः देशादिविभेदात्, कार्यं वा सहभावात् इत्यभिप्रायः।

ननु च आस्वाद्यमानात् रसात् पूर्वोत्तरसामग्री अनुमीयते ततो रूपस्य छायायाश्चा-

(१) अनुमीयतेऽनेनेति अनुमानं हेतुः। (२) नित्यमर्थक्रियाशून्यं क्रमयौगपद्यानुपलम्भात् स्वरूपवत्। (३) व्याप्तिग्रहणानुपपत्तेः। (४) सु इति संज्ञा जैनेन्द्रव्याकरणे पाणिनिव्याकरणस्य 'घि' संज्ञायाः स्थाने प्रयुक्ता। "द्वन्द्वे सु।" १।३।९७। द्वन्द्वे स स्वन्तं पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। -जैनेन्द्रव्या०। (५) 'द्वन्द्वे सु' इति व्याकरणसूत्रस्य। (६) अत्र हि हेतुशब्दः स्वन्तस्तथापि नास्य पूर्वनिपातः। (७) तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि। (८) अविनाभावबलेनैव। (९) वृक्षादि छायायाः न स्वभावः देशादिभेदात् न च कार्यं सहभावात् -आ० टि०। (१०) 'एकसामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतो गतिः। हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत्॥ या च रसतो मधुरादिकात् रूपादेः आदिशब्दात् गन्धस्य स्पर्शस्य च एकसामग्र्यधीनस्य रसादिना सह एकसामग्र्यायत्तस्य गतिः, सा कथमित्याह हेतुधर्मानुमानेन रसकारणस्य धर्मो रसादिसहचररूपजनकत्वं तदनुमानेन रसाद् रूपादिगतिः। न हि कार्यं रसः कारणमन्तरेण कारणञ्चास्य रससहचारिरूपजनकं पुञ्जात् पुञ्जोत्पत्तेः। अनस्तस्मिन्ननुमितेऽनुमितमेव रूपम् धूमेन्धनविकारवत्। धूमाद् हेतुधर्मानुमानेन इन्धनविकारस्य अङ्गारादेर्धूमसहचरस्यैव वानुमानम्।'-प्रमाणवा० मनोरथ० ३।८। 'तेनायमर्थो रसात् सकाशात् तद्धेतौ रससमानकालभाविरूपजनकत्वं निश्चीयते एव हि तस्य रससमानकालभाविरूपजनकत्वं निश्चीयते। यदि समानकालभाविनो रूपस्यापि निश्चयः स्यात् तेनातीतकालस्यानागतस्य गतिः कार्यलिङ्गजा।' -प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।८। हेतुबि० टी० पृ० ५४ A।

1-लक्षणमनुमानञ्च सि-ब०। 2 स्व्यन्तत्वात् श्र०, स्वल्पान्तरत्वात् ब०। 3-मित्याद्याह ब०। 4 यस्मादे ब०। 5 हि य-ब०। 6 देशादिभे-श्र०, ब०। 7 सामाग्र्यनु-ब०, सामग्र्यनु-श्र०।

नुमानम् अनुमितानुमानात्, इत्यप्यसत्, तथा व्यवहाराभावात्। नहि आस्वाद्यमानाद् रसात् व्यवहारी सामग्रीमनुमिनोति, वर्त्तमानरूपादप्रतीतिप्रसङ्गात्। तथा च 'इन्धनाग्निसंयोगजम् एवंविधरूपम् एवंविधरसत्वात्' इत्यनुमानम्, पावकरूपदर्शनात् तत्समकालोष्णस्पर्शानुमानम्, तदर्थिनः तत्र प्रवृत्तिश्च न प्राप्नोति। व्यवहारानुसारेण च भवता प्रमाणचिन्ता प्रतन्यते "प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्रमाणवा० २१५] इत्यभिधानात्। सामग्रीतो रूपानुमाने च कारणात् कार्यानुमानप्रसङ्गात् लिङ्गसंख्याव्याघातः स्यात्। ततः सिद्धम्–अकार्यादस्वभावाच्च वृक्षादेः छायाद्यनुमानम्। तर्हि व्यभिचारोऽत्र भविष्यति इत्यत्राह–'नच' इत्यादि। नच नैव वृक्षादेः छायाद्यनुमाने निसर्गादौ व्यभिचारोऽस्ति तथाप्रतीतेः। अत्रैवार्थे दृष्टान्तान्तरमाह–

चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथाऽनुमा ॥ १३ ॥

विवृतिः–न हि जलचन्द्रादेः चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा।

रविकविवृत्या ख्यानम्-

चन्द्र आदिर्यस्य आदित्यादेः स तथोक्तः, तस्मात्, **जलचन्द्र आदि**र्यस्य जलादित्यादेः सोऽपि तथोक्तः तस्य **प्रतिपत्तिः तथा** [अन्यथाऽ]नुपपत्तिप्रकारेण **अनुमा** अनुमानम्। जलचन्द्रादिना प्रतिपत्तिः चन्द्रादेरिति वा व्याख्यातव्यम्। एतदेव व्याचष्टे '**नहि**' इत्यादिना। '**नहि**' नैव जलचन्द्रादेः

(१) तुलना– समानकारणयोगम्यगमकभावोऽस्ति तथाहि–रूपरसयोः समानकाले रूपेऽनुमीयमाने न पूर्वं तत्र एकसामग्र्यधीनतायामेव एव। न च रूपरसयोः परस्परात्मत्वे कारणत्वे प्रमाणमस्ति इतरथा व्यस्येतरस्यानुपलम्भः। –प्रश० व्यो० पृ० ५७१। लौकिकानामन्धकारे रूपानुमानम्। न चान्धतमसेषु क्षणानामयोगमध्यवस्यन्ति। न चानध्यवस्यन्तः प्रवृत्तव्यपोहनसामर्थ्यं रसहेतुमनुमानुमुत्सहन्ते। –न्यायवा० ता० पृ० १६३। लोकस्यात्यमप्रतीते रूपमेव रसात्कोऽपि प्रतिपद्यते। लौकिकी च प्रतीतिः परीक्षकैरप्यनुसरणीया। –प्रक० प० पृ० ६७। बृह० प० पृ० ९४। (२) न प्राप्नोतीत्यर्थः किन्तु इन्धनादिसमवयसामग्रीविशेषमिति प्राप्तिः –आ० टि०। (३) रूपः उष्णस्पर्शार्थिनः। (४) रूपानुमाने न प्रवृत्तिः प्राप्नोति किन्तु सामग्र्याम् –आ० टि० (५) सौगतेन। (६) तुलना– तथा च रसात् कार्यात्कारणरूपमनुमातव्यं ततश्चानुमितात् रूपात् कारणात् तत्कार्यं रससमानकालं रूपमनुमातव्यं तथा च कारणात् कार्यानुमानं तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामन्यस्मिन्ति नाभ्यामेव प्रतिबन्धसिद्धिः। –न्यायवा० ता० पृ० १६२। प्रक० प० पृ० ६७। बृह० प० पृ० ९४। रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुः यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये। –परीक्षामु० ३।६०। सन्मति० टी० पृ० ५९३। प्रमाणनय० ३।६६। प्रमाणमी० पृ० ४३। (७) यदि सामग्री कारणं रूपात्पर्यन्तु कार्यं तदा स्वभावलिङ्गं कार्यलिङ्गं कारणलिङ्गमिति त्रयप्रसक्ते –आ० टि०। (८) त्रीण्येव च लिङ्गानि। अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये चेति। –न्यायबि० पृ० ३५। (९) कारणहेतुसमर्थनायम्। (१०) चन्द्र आदिर्यस्य आदित्यादेरसौ चन्द्रादिः तस्मात् कारणभूतात् जले स्वच्छाम्भसि चन्द्रादेः चन्द्रादिप्रतिबिम्बस्य प्रतिपत्तिरवबोधोऽनुमा अनुमानमनुमन्तव्यमव्यभिचारात्। किंवत् ? तथा कार्यात्कारणप्रतिपत्तिवत्। –लघी० ता० पृ० ३२। तुलना– चन्द्रादौ जलचन्द्रादि सोऽपि तत्र तथाविधः। छायादिपादपादौ च सोऽपि तत्र क्वाचन॥ –तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०१। (११) जलप्रतिबिम्बितस्य चन्द्रादेः। (१२) तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि–आ० टि०।

1 अनुमित्यनुमा–आ० ब०। 2 प्रतिपत्तिश्च ब०।

चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा, अथ च अतं[1] तत्र[2] अव्यभिचारिणी प्रतिपत्तिः प्रतीयते इति।

जलाद्यौ न आदित्यादेः प्रतिबिम्बं किन्तु स्वदेशस्थ एव आदित्यादिः तत्र प्रतिभासत इति प्रतिबिम्बाभाववादिनः कुमारिलभट्टस्य पूर्वपक्षः –

ननु जलादौ[3] न प्रतिबिम्बं नाम वस्त्वन्तरं सम्भवति, तत्सम्भवे बिम्बसन्निधानात् प्रागपि तत्र तदुपलम्भप्रसङ्गात्[4]। अथ बिम्बसन्निधान एव तदुत्पद्यते[5] अतो न प्रागपि तत्प्रसङ्गः, ननु तत्सन्निधाने[6] गुणरूपम्, द्रव्यरूपं वा तदुत्पद्येत ? न तावद् गुणरूपम्, द्रव्यत्वेन प्रतिभासमानत्वात्। अथ द्रव्यरूपम्, तत्किं निरवयवद्रव्यरूपम्, सावयवद्रव्यरूपं वा ? तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः, तत्र[7] अवयवप्रतिभासनात्[8]। नापि सावयवम्, जलादिस्पर्शात् पृथक् तत्स्पर्शोपलम्भासम्भवात्[9]।

स्पर्शवन्तश्च परमाणवः स्पर्शवद्द्रव्यस्यारम्भका भवन्ति, तत्र चास्य[10] किं जलादिपरमाणव एव आरम्भकाः[11], अन्ये वा ? न तावदन्ये, स्पर्शवदन्यविदेशे तेषां[12] तदारम्भकत्वासम्भवात्। अथ जलादिपरमाणव एव तदारम्भकाः, तन्न, जलमयत्वेन अस्याऽप्रतिभासनात्। जलरूपवैलक्षण्यप्रतीतेश्च, शुक्लं हि रूपं जलस्य, न च मुखादिप्रतिबिम्बे तत्[13] अस्ति। न च बिम्बरूपमेव तदारम्भकमित्यभिधातव्यम्, निमित्तकारणगतस्य पृथग्देशावस्थितस्य रूपस्य कार्यद्रव्यरूपानारम्भकत्वात्[14]। द्वयोश्च सावयवयोः समानाकाशदेशत्वानुपपत्तिः[15]। आश्रयद्रव्यस्य च[1] आदर्शादेः परिमाणगौरवयोरुत्कर्षः स्यात्, नचैतदस्ति। अतो न प्रतिबिम्बं किञ्चिद् वस्त्वन्तरं युक्तम्। ननु यदि तन्नास्ति[16] कथं जलादौ[17] सूर्यादिप्रतिबिम्बप्रतिभासः ? इत्यप्ययुक्तम्, तत्र[19] तत्प्रतिभासाऽसम्भवात्[18], स्वदेशस्थस्यैव आदित्यादेः तत्र[20] प्रतिभासनात्।

अत्र[3] केचित् प्रतिबिम्बोदयवादिनः पर्यनुयुञ्जते–यदि स्वप्रदेशस्थ एव सविता उपलभ्यते न प्रतिबिम्बानि, कस्मात्तर्हि नोपरि एव दृश्यते ? नहि अन्यत्रस्थः[21] अन्यत्र[22] द्रष्टुं

(१) जलचन्द्रादे। (२) चन्द्रादौ। (३) जले –आ० टि० (४) प्रतिबिम्बोपलम्भ।(५) प्रतिबिम्बम्। (६) बिम्बसन्निधाने। (७) प्रतिबिम्बे –आ० टि०। (८) हस्तपादादीनाम् –आ० टि०। (९) यदि सावयवं प्रतिबिम्बमर्थान्तरभूतं जले समुत्पन्नं तदा तस्य स्पर्शादिभिः पृथग्भवितव्यम्, न चैतत्सम्भवति जलीयस्पर्शाद्यात्मकत्वात् प्रतिबिम्बस्पर्शादीनाम्। (१०) प्रतिबिम्बस्य। (११) उत्पादका (१२) अन्येषाम् –आ० टि०। (१३) शुक्लं रूपम्। (१४) कार्यद्रव्यरूपारम्भकं हि समवायिकारणगतं रूपं भवति। (१५) अथ निमित्तकारणं तत्रापत्यं निष्पादयतीत्याह –आ० टि०। निमित्तसमवायिकारणयोः। 'सहैकत्र द्वयासत्त्वान्न वस्तु प्रतिबिम्बकम्। तत्कथं कायता तस्य युक्ता चेत्पारमार्थिकी॥ अवस्तुत्वे हेतुः सहैकत्र द्वयासत्त्वादिति। यतेव प्रदेशे आदर्शरूपं दृश्यते प्रतिबिम्बकमपि तत्रैव। न चैकत्र प्रदेशे रूपद्वयस्यास्ति सहभावः सप्रतिघत्वात्, अतः सहैकत्र द्वयोः रूपयोः सत्त्वं न प्राप्नोति। तस्माद् भ्रान्तिरियम्। अतो नास्त्येव किञ्चिद्वस्तुभूतं प्रतिबिम्बकं नाम।" –तत्त्वसं० प० पृ० ४१८, ६९७। (१६) प्रतिबिम्बम्। (१७) जलादौ। (१८) सूर्यादिप्रतिबिम्ब। (१९) जलादौ (२०) नभोदेशस्थ। (२१) नभोदेशस्थ। (२२) जलादौ।

1 जलादेन ब०। 2 सावयवम् ... 3 स्पर्शद्रव्य–श्र०। 4 –स्थितस्य कार्य–श्र०। 5–रूपारम्भक–श्र०। 6 वा ब०। 7 ... ०, श्र०। 8 अत्र केचित् प्र– श्र०।

पार्यते सर्वदा तथा[1]दर्शनप्रसङ्गात्। न च प्रतिबिम्बमन्तरेण कूपादिषु अधस्तात्[2]तद्वीक्षणम्। प्राङ्मुखश्चै[3]व दर्पणं पश्यन् प्रत्यङ्मुखश्च कथं स्यात्? यदि च बहिर्निर्गत्य[4] तमिन्द्रियं तेनैव[5] बोधयेदर्थं[6] तत एतदेव भवेत्, शरीरं तु तद्बोधकमिति। उक्तञ्च–

"[7]चैव तु चोदयन्त्येनं प्रतिबिम्बाद्यदर्शिणः। स एव चेत् प्रतीयेत कस्मान्नोपरि दृश्यते? ॥
कूपादिषु कुतोऽधस्तात् [8]प्रतिबिम्बाद्विनेक्षणम्। प्राङ्मुखो दर्पणं पश्यन् [9]स्याच्च प्रत्यङ्मुखः कथम्? ॥
तेनैव बोधयेदर्थं बहिर्यातं [10]यदीन्द्रियम्। तत एतद्भवेदेवं शरीरं तस्य बोधकम्॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८३-१८६ ।] इति"।

[11]अत्रोच्यते–जले सूर्यादिदर्शिना द्वेधा चक्षुः सर्वदा प्रवर्त्तते, एकमूर्ध्वम्, अपरञ्च अधस्तात्। तत्र नोर्ध्वांशप्रकाशितं सूर्यम् आत्मा प्रतिपद्यते अधिष्ठानाऽनृजुत्वात्, अवाग्वृत्त्या तु तं बुध्यते पारम्पर्यार्पितं सन्तम् अधिष्ठानर्जुत्वात्, अवागिव च मन्यते। [13]ऊर्ध्ववृत्तितदेकत्वात्, तेन कारणेन अधस्तादेव आदित्यं सान्तरालं प्रतीयते। एवं दर्पणाभिमुखो नायनो रश्मिः प्रतिहतो व्यावृत्त्य स्वकीयमेव मुखं प्राङ्मुखस्य समर्पयति, ततश्च प्राग्गततया नायनरश्मिवृत्त्या मुखं बुध्यमानः प्रतिपत्ता प्रत्यक् तद्वृत्तिसमर्पितं 'प्रत्यग्' इत्यवगच्छति। तदुक्तम्–

"[14]प्रतिबिम्बदर्शिना नित्यं द्वेधा चक्षुः प्रवर्त्तते। एकमूर्ध्वमधस्ताच्च तेनोर्ध्वांशप्रकाशितम्॥

(१) जलादावेव सूर्यदर्शनं स्यात्। (२) कूपादि। (३) पुरुष। (४) अयमन्य गत्वा। (५) स्वदेशस्थ एव आदित्यादिस्तेन प्रतिभासेत इति –आ० टि०। (६) इन्द्रियं चक्षुः। (७) व्याख्या– जलादिषु यथर्वादि नानात्मा सविनश्यन्–त्वस्य हेतुव्यभिचारविषयतानोत्तरस्याभिद्धि मन्यमाना प्रतिबिम्बसमर्था तरीमन्द्रत्वचोद्यन्ति। यदि स एव एवादित्यो दृश्यते न प्रतिबिम्बं तर्हि किमिति उपरिष्टादस्य ग्रहणं न भवति? एवं हि तस्य ग्रहणं भवेत यदि दक्षावस्थितस्वरूपं गृह्णीयात नान्यथा, अन्यथा हि अतिप्रसङ्गः। किञ्च कूपादिषु च दूरावगाढस्यापि कथं ग्रहणं भवेत यदि तत्र प्रतिबिम्बं नोत्पन्नं स्यात्? न हि तत्र तथार्कादिव्यवस्थितिः। अपि च प्राङ्मुखो दर्पणमवलोकयन् कथमिव प्रत्यङ्मुखो भवति? न हि तस्य तदा पृष्ठाभिमुखं मुखमुपजातं दृश्यते। एवं मन्यते यदि बहिर्निर्गतमिन्द्रियमादित्यं बोधयेत् एतस्मात् उपरिस्थितमेव पश्यतावस्तादिति। यावता धर्माधर्माभ्यांशीकृते शरीर एव तदिन्द्रियं ग्राहकमिष्यतां नोपरिस्थम्। –तत्त्वसं० प० पृ० ६१४। (८) प्रतिबिम्बेक्षणं भवेत्' मी० श्लो०। (९) स्याच्चैतत्' –मी० श्लो०। (१०) यदीन्द्रियं –मी० श्लो०। (११) उच्यते –तत्त्वसं० पृ० ६१४। प्रमेयक० पृ० ४०८। (१२) प्रतिबिम्बनिरीक्षिभिः –आ० टि०। (१३) ऊर्ध्वाधोरश्मीनामेकत्वात् –आ० टि०। (१४) व्याख्या– एवमत्र चक्षुस्तिष्ठिताम्बमानसप्तवत् द्वेधा वर्तते अधस्तादूर्ध्वञ्च। तत्रोर्ध्ववृत्तिप्रकाशितं दहानाज्ञवात्मा बुध्यत इति। कस्मात्तर्हि बुध्यत अत आह–पारम्पर्येणेति। ऊर्ध्ववृत्तिरधोवृत्त्यै समर्पयति सा च आत्मन इति। कः पुनरूर्ध्ववृत्तेरधोवृत्त्या सम्बन्धो येन समर्पयति अत आह ऊर्ध्वेति। एकत्वमेव हि तावत् तेनास्योर्ध्ववर्तनतया वृत्त्या धर्मिरूपणत्वमिति अधोवृत्त्याऽवबुध्यमानस्तदानुगुण्याद वागिव भूयो मन्यत इति। यत्तु प्राङ्मुखो दर्पणं पश्यन् कथं प्रत्यङ्मुखो दृश्यत इत्युक्तं तत्राह–एवमिति। तत्रापि प्रत्यग्वृत्तिप्रकाशितं मुखम् अधिष्ठानानाज्ञवात्मा प्रतिपद्यत इति किन्तु प्रत्यग्वृत्तिः प्राग्वृत्त्यै समर्पयति तया च समर्पितं प्राग्वृत्त्या बुध्यमानः तदानुगुण्येन प्रत्यगिति बुध्यते। न चात्र दर्पणस्थमेव

1 बोधयत्यत्र ब०। 2 स तम ब०। 3–स्यतीति ब०। 4 उक्तञ्च ब०।

अधिष्ठानानृजुत्वाच्च नात्मा सूर्यं प्रपद्यते । पारम्पर्यार्पितं सन्तमवाग्वृत्त्या तु बुध्यते ॥
ऊर्ध्ववृत्तितदेरस्मात् अवागिव च मन्यते । अधस्तादेव तेनार्कः सान्तरालः प्रतीयते ॥
एवं प्रागनर्तया वृत्त्या प्रत्यग्वृत्तिसमर्पितम् । बुध्यमानो मुखं भ्रान्त्या प्रत्यगित्यवगच्छति ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८६-१९० ।] इति ।

किञ्च, यदि प्रतिबिम्बमर्थान्तरं बिम्बादुत्पन्नं तदा कथं बिम्बे चलति नियमेन तदपि चलेत्, तिष्ठति च तिष्ठेत् ? नहि दण्डे चलति तिष्ठति च ततोऽर्थान्तरभूतो घटः नियमेन चलति तिष्ठति चेति प्रतीतम् । प्रतीयते च बिम्बस्य चलाचलत्वे नियमेन प्रतिबिम्बस्य चलाचलत्वम्, अतो न तत् ततोऽर्थान्तरम् । § यदि च तत्ततोऽर्थान्तरं § स्यात् तदा दर्पणादौ बिम्बापाये कुतो नोपलभ्यते ? विनष्टत्वाच्चेत्, न, निमित्तकारणापाये कार्यस्य अपायाऽप्रतीतेः । न खलु दण्डादेर्निमित्तकारणस्यापाये घटादेः कार्यस्य विनाशः स्वप्नेऽपि प्रतीयते । अस्तु वा तदपाये तद्विनाशः, तथापि प्रतिबिम्बविनाशे पुनः तदवयवोपलम्भप्रसङ्गः घटविनाशे कपालोपलम्भवत्, न चैवमस्ति । ततो न

मुखं गृह्यते न जलपात्रेष्विव अधः सान्तरालं तत्कस्य हेतोः ? अत्रापि सान्तरालमेव प्रत्यग्वृत्त्या प्रकाशितं प्राग्वृत्त्या समर्पितं तथैव ग्रहीतव्यम्, उच्यते-वस्तुस्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वाददोषः । तैजसेषु हि दर्पणादिषु तत्स्थानमेव मुखं गृह्यते जले तु सान्तरालमिति किमत्रोपलभ्यते इति ।' -मी० श्लो० न्यायर० पृ० ७७६-७७ ।
'ये हि जलपात्रे जले सूर्यञ्च पश्यन्ति तेषामप्सूर्यदर्शिनामेकमेव चक्षुरूर्ध्वमधश्च द्विधा भागेन प्रवर्तते । तत्राधोभागप्रकाशितमादित्यमात्मा पुरुषो न गृह्णाति । कुतः ? अधिष्ठानानृजुत्वात्-चक्षुरिन्द्रियाधिष्ठानस्याजवेन तत्रानवस्थितत्वात् । पारम्पर्येण तु सौरेण तेजसा वृत्तर्पितमादित्यमवागवस्थया धारणभूतया बुध्यते । तथाहि-किल सौरं तैजसं तेजस्विनं वर्त्तरपयति वर्तिश्चक्षुषश्चक्षुरात्मने इत्येतत् पारम्पर्येण सूर्यस्य तेजस्विनं इति । आदित्यमूर्ध्ववृत्तिम् उपरिस्थञ्च तमादित्यमवागिव अधःस्थितमिव मन्यते । कः ? आत्मा । न पुनरधस्तादेव एवादित्यः । कुतः ? तदपरत्वात् तस्यादित्यस्य अभिघ्रवात् । चक्षुष इत्यपरे । तस्मादनन्तरादितनव चक्षुषा वृत्तिवशेन सान्तरालोऽधस्तात् सूर्यो दृश्यते जलादिषु न भेदात् । अन्यथा कथमभेदेन ग्रहणं स्यात ? प्रथमं किल चक्षुरश्मयो मुखमाश्रम निर्गच्छन्ति यावदादर्शम्, सा प्राक्प्रता वृत्तिरुच्यते । ते च तत्रादर्शे प्रतिहता निवर्तमानाः स्वमुखमेव यथावस्थितमागच्छन्ति । सा च प्रत्यग्वृत्तिः । तत्र प्राक्प्रता वृत्तिर्मुखं प्रत्यग्वृत्तरर्पयति, प्रत्यग्वृत्तिश्चात्मने ततः आत्मा प्रत्यग्वृत्तिसमर्पितमवगच्छन् मुखं भ्रान्त्या प्रत्यङ्मुखं यास्यामीति मन्यते । चक्षुर्वृत्तेर्वैचित्र्यमेव भ्रान्तिबीजमिति भावः ।' -तत्त्वसं० प० पृ० ६१५ । (१५) 'चक्षुर्द्वेधा' -मी० श्लो० । (१६) 'तथोर्ध्वाग्र'-तत्त्वसं० ।

(१) 'अधिष्ठानानृजुत्वाच्चात्मा' -मी० श्लो०, तत्त्वसं० (२) 'वस्यात्मनु -तत्त्वसं० । वस्या तु बु' -मी० श्लो० । (३) 'ऊर्ध्ववृत्तितद'-मी० श्लो० 'ऊर्ध्ववृत्तिमर'-तत्त्वसं० । ऊर्ध्ववृत्तिरश्मीनामधोवृत्तिभिः रश्मिभिः सममेकत्वात् -आ० टि० । (४) 'प्राग्भूतया' -मी० श्लो० । (५) 'भ्रान्त्या' -मी० श्लो० तत्त्वसं० । 'भ्रान्त'-प्रमेयक० । (६) 'उत्थिता इम -तत्त्वसं० पृ० ६१४ । प्रमेयक० पृ० ४०८ । (७) प्रतिबिम्बमपि । (८) दण्डात् । (९) प्रतिबिम्बम् । (१०) बिम्बात् । (११) प्रतिबिम्बम् । (१२) निमित्तकारणस्य बिम्बस्याभावे । (१३) कार्यभूतस्य प्रतिबिम्बस्यापाये । (१४) प्रतिबिम्बावयव । (१५) न मन्नु प्रतिबिम्बनाशे पश्चादनुत्पन्ना अवयवा समुपलभ्यन्ते ।

1 प्राग्गतया ब० । 2 तदा तत्कथं आ० । § एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० ।

वास्तवं जलादौ प्रतिबिम्बमभ्युपगन्तव्यम्, किन्तु तेन प्रतिहता रश्मयो व्यावृत्य मुखादि-बिम्बमेव जलादौ दर्शयन्तीत्यभ्युपगन्तव्यमिति ।

तन्निरसनपुरस्सरं प्रतिबिम्बस्य परमार्थतः पुद्गलात्मकत्वप्रसाधनम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'जलादौ न प्रतिबिम्बं नाम वस्त्वन्तरं सम्भवति' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, यतोऽस्य असम्भवः ग्राहकप्रमाणाऽसम्भवात्, उत्पादककारणाभावाद्वा स्यात्? तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः, निखिलप्रमाणज्येष्ठस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यैव तत्र तत्सद्भावावेदकस्य सम्भवात्। 'निर्मले हि जलादौ चन्द्रादिप्रतिबिम्बं पश्यामि' इति प्रतीतिः प्रतिप्राणि प्रसिद्धा। नहि इयं 'चन्द्रं पश्यामि' इत्येवं रूपोपजायते, नापि जलम्। किं तर्हि? चन्द्रादेः प्रतिबिम्बमिति। न चेयं प्रतीतिर्भ्रान्ता, सर्वत्र सर्वदा सर्वेषाम् एकादृशेनैव रूपेण उपजायमानत्वात्। यत् सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामेकादृशेनैव रूपेण उपजायते न तद् भ्रान्तम् यथा घटादिसंवेदनम्, तथाभूता चेयं प्रतिबिम्बप्रतीतिः, तस्मान्न भ्रान्ता इति। भ्रान्तसंवेदनस्य तथाविधस्वरूपेणोत्पत्त्यनुपपत्तेः। नहि भ्रान्तं शुक्तिकादौ रजतादिसंवेदनं सर्वत्र सर्वदा सर्वेषाम् एकादृशेनैव रूपेण उपजायते, दुष्टेन्द्रिययोगिनामेव पुंसां तदुत्पत्तिप्रतीतेः, अदुष्टेन्द्रिययोगिनां तेषां तदनुपपत्तेः।

किञ्च, यत्र ज्ञाने समुत्पन्ने बाधकप्रत्ययः कारणदोषज्ञानं वा प्रादुर्भवति तद् भ्रान्तं भवति, यथा शुक्तिकायां रजतादिज्ञानम्। न च आजन्मतो प्रतिबिम्बप्रतीतौ 'नैतदेवम्' इत्येवंरूपो बाधकप्रत्ययः कदाचिदप्याविर्भवति। न च बाधकाभावेऽप्यस्याः भ्रान्तत्वं वाच्यम्, अतिप्रसङ्गात्। कारणदोषाऽप्रतीतेश्च न तत्प्रतीतिर्भ्रान्ता। प्रतिबिम्बप्रतीतेः खलु कारणम् आत्ममनश्चक्षुरादिलक्षणम्, न च तत्र दोषाः प्रतीयन्ते। नहि क्षुदादिरात्मनो दोषः निद्रादिर्मनसः काचकामलादिश्चक्षुषः तत्प्रतीत्युत्पत्तौ प्रतीयते, सन्त्यक्तनिद्रानुपहतचेतसो निर्मलनेत्रस्यापि प्रतिपत्तुः प्रतिबिम्बप्रतिपत्तेः प्रतीयमानत्वात्। तदेवं सिद्धमभ्रान्तमिदं प्रत्यक्षं बिम्बात् प्रतिबिम्बस्य अर्थान्तरत्वप्रसाधकम्।

तथा अनुमानमप्यस्यैव बिम्बाभ्यामर्थान्तरत्वप्रसाधकमस्त्येव। तथाहि–

(१) जलपर्णाग्निना। (२) पृ० ४५१ पं० २। (३) तुलना– न हि दृष्टाज्ज्येष्ठं गरिष्ठमिष्टम् –अष्टश० अष्टसह० पृ० ८०। न हि दृष्टाज्ज्येष्ठं गरिष्ठं प्रमाणमस्ति –नयच० च० पृ० १८। न च प्रत्यक्षाद् गरिष्ठं प्रमाणमस्ति। –हेतुबि०टी० पृ० ८७ A। (४) जलादौ। (५) प्रतिबिम्बं। (६) प्रतीतिः। (७) पश्यामीत्येवं रूपोपजायते इति शेषः। (८) एकादृश–आ० टि०। (९) पुरुषाणाम्। (१०) तुलना– 'तस्मात् यस्य च दुष्टं कारणम् यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एवासमीचीनः प्रत्ययो नान्य इति।' –शाबरभा० १।१।५। (११) प्रतिबिम्बज्ञानस्य। (१२) आत्ममनश्चक्षुरादिषु। (१३) प्रतिबिम्बप्रतीतिः। (१४) प्रतिबिम्बस्य। (१५) जलादि।

1 यतो यस्मासम–श्र०। 2–सपक्षा–श्र०। 3 इति प्रतिप्रा–ब०। 4 न तेन तत्र ब०। 5 –विषयरूपेणो–ब०। –विषयरूपेणो–ब०। 6–रजतरूपेण श्र०। 7 न हि चक्षुरादि–श्र०, ब०। 8–हतमनसो ब०। 9 प्रतिबन्धप्रति–ब०।

यद् यतो विलक्षणप्रतीतिग्राह्यं तत् ततो भिन्नम् यथा मुद्रातः प्रतिमुद्रा, जल-चन्द्रादिबिम्बाभ्यां विलक्षणप्रतीतिग्राह्यञ्च चन्द्रादिप्रतिबिम्बमिति। न चैतदसिद्धम्, बिम्बाकारानुकारितया हि बिम्बं प्रति आभिमुख्येन यद् वर्त्तते तत् प्रतिबिम्बम्, यथा मुद्राकारानुकारिणी प्रतिमुद्रा। तत्प्रतीतौ च कथं ततो विलक्षणप्रतीतिग्राह्यत्वमस्य असिद्धम्। न चैतद् बिम्बस्यैव ग्रहणमित्यभिधातव्यम्, जलादौ दृक्पातानन्तरमेव चन्द्रादिबिम्बमपश्यतः तत्प्रतीतिदर्शनात्। न चात्र विलक्षणा प्रतीतिः प्रतीयमानापि अस्य ततो भेदं न प्रसाधयतीति वाच्यम्, सर्वत्र भेदवार्त्तोच्छेदप्रसङ्गात्, सर्वत्र अस्याः प्रतीतिभेदनिबन्धनत्वात्। अतः बिम्बात् प्रतिबिम्बमन्यदभ्युपगन्तव्यम्। कथमन्यथा यद्वस्तु कदाचिदपि न प्रतीतं तस्मिन्नपरिदृश्यमाने व्यवहितेऽपि तद्बिम्बावारकाभावे[13] तत्प्रतिबिम्बप्रतीतिः स्यात् ? तद्बिम्बे दर्शनस्य स्मरणस्य प्रत्यभिज्ञानस्य वा सर्वथाऽसंभवात्। तन्न ग्राहकप्रमाणासंभवात् प्रतिबिम्बासंभवः।

नाप्युत्पादककारणाभावात्; तदुत्पादककारणस्य उपादानरूपस्य निमित्तभूतस्य चात्र संभवात्। प्रतिबिम्बोत्पत्तौ हि जलादिकमुपादानकारणम्, चन्द्रादिकं तु निमित्त-

(१) प्रतिबिम्बं जलाद्याश्रयात् चन्द्रादिबिम्बाच्च भिन्नं तद्विलक्षणप्रतीतिग्राह्यत्वात्। तुलना–"तथा यद्यतो विलक्षणप्रतीतिग्राह्यं तत्ततो भिन्नं यथा मुद्रातः प्रतिमुद्रा ..."–स्या० र० पृ० ८६३। (२) बिम्बाकारानुकारितया प्रतीतौ च। (३) चन्द्रादिबिम्बादाश्रयभूतदर्पणादेश्च। (४) प्रतिबिम्बस्य। (५) जलादौ चन्द्रादिप्रतिबिम्बदर्शन। (६) पुरुषस्य। (७) प्रतिबिम्ब। (८) प्रतिबिम्बस्य। (९) आश्रयाद् बिम्बाच्च। (१०) भेदवार्तायाः। (११) प्रतीतिभेदो निबन्धनमस्या इति। (१२) वस्तुनि बिम्बाख्ये। (१३) बिम्बस्य आवरणं यदि स्यात् तदा प्रतिबिम्बस्योत्पत्तिरेव न स्यात् अत आह तद्बिम्बावारकाभावे। (१४) प्रत्यक्षमूलकत्वात् स्मरणप्रत्यभिज्ञानयोः अव्यवहितत्वनिबन्धनत्वाच्च प्रत्यक्षस्य। (१५) स्याद्वादरत्नाकरे। (पृ० ८६५) अस्य चोद्धरणं खण्डनमित्थम्–'यदपि प्रभाचन्द्रः प्राह–प्रतिबिम्बोत्पत्तौ हि जलादिकमुपादानकारणं चन्द्रादिकं च निमित्तकारणं गगनतलावलम्बिनं चन्द्रं निमित्तीकृत्य जलादेस्तथा परिणामात् इति, तदस्यात्यन्तजाड्यविजृम्भितम्। यथा हि तेजोऽभावमपेक्ष्य ते पश्चाद् छायापुद्गलाः पृथिव्यादिकमाश्रयं छायाद्रव्यरूपतया परिणमन्ते तथात्रापि यदि वदनादिबिम्बस्य छायापुद्गला दर्पणादिप्रसन्नद्रव्यसामग्रीमपेक्ष्य प्रतिबिम्बरूपतया परिणमन्ते तदा किन्नाम क्षूणं स्यात् अस्यापि छायाविशेषस्वभावत्वात्। तथा चागमः–सामा उ दिया छायाऽभासुरगया निसिम्मि कालाभा। सा च्चेव भासुरगया सदेहवन्ना मुणेयव्वा॥ आदरिसस्संतो देहावयवा हवंति संकंता। तेसिं तत्थुवलद्धी पगाससजोगा न इयरेसिं॥ प्रकरणचतुर्दशशतीकारोऽपि धर्मसारप्रकरणे प्राह–न ह्यङ्गनावदनछायानुप्रवेशातिरेकेणादर्शे तत्प्रतिबिम्बसंभवः इत्यादि। –स्या० र० पृ० ८६५। तच्च चिन्त्यम्–आ० वादिदेवसूरिमतेन हि मुखादिबिम्बस्य छायापुद्गला मुखाद्विनिर्गच्छन्तः दर्पणादौ स्वच्छादिसमाप्रीणनात् प्रतिबिम्बमारभन्ते 'अस्मन्मते तु स्वच्छे एवादर्शादौ बिम्बसन्निधाने तदागतछायापुद्गलसंक्रमात् प्रतिबिम्बमुत्पद्यते' (स्या० र० पृ० ८६४) इति स्वयमभिधानात्। तत्रेदं विचारणीयं यत्–मुखादिभ्यः छायापुद्गलविनिर्गमने किं निबन्धनम् ? यदि तेषां स्वभावोऽयं यत्ते सततं विनिर्यान्ति तदा चक्षुषो रश्मिविनिर्गमनं नैयायिकादिभिः उक्तं कथं प्रतिक्षिप्यते। यदि हि अभास्वरान्मुखात् घटादेर्वा छायापुद्गलविनिर्गमनं युक्तिपथप्रस्थायि स्यादिति मन्यते तदा भास्वररूपवतश्चक्षुषो रश्मिविनिर्गमनं तु न्यायानुभवसङ्गतं सुतरामेव स्यात्। अत

1–तिरस्करणात् ब०। 2 तस्मिन्नुपरि–श्र०। 3 व्यवहितोऽपि आ०।

कारणम्, गगनतलावलम्बिनं चन्द्रं निमित्तीकृत्य जलादेस्तथापरिणामात्।

यदप्युक्तम्–'तत्सन्निधाने गुणरूपं द्रव्यरूपं वा तदुत्पद्येत' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्, द्रव्यरूपस्यैवास्य तत्सन्निधाने तेषामुत्पादाभ्युपगमात्।

यदपि–'निरवयवद्रव्यरूपं सावयवद्रव्यरूपं वा तत् स्यात्' इत्याद्युक्तम्, तदप्युक्तिमात्रम्, अस्मदादीन्द्रियग्राह्यद्रव्यस्य निरवयवत्वाऽसिद्धेः।

यत्पुनरुक्तम्–'नापि सावयवं जलादिस्पर्शात् पृथक् तत्स्पर्शोपलम्भाऽसम्भवात्' इति, तदप्यसाम्प्रतम्, यतो जलादिस्पर्शात् पृथक् तत्स्पर्शोपलम्भस्तदा स्यात् यदा जलादेः प्रतिबिम्बमर्थान्तरभूतं द्रव्यं स्यात्, यदा तु जलादिकमेव तथा परिणमते तदास्य ततोऽर्थान्तरत्वासम्भवात् कथं पृथक् तत्स्पर्शोपलम्भस्याशङ्काऽपि स्यात्?

एतेन 'जलादिपरमाणव एवास्य आरम्भका अन्ये वा' इत्यादि प्रत्युक्तम्, जलपरमाणूनामेव उक्तप्रकारेण तदारम्भकत्वप्रतिज्ञानात्। प्रतिबिम्बे जलरूपाद् विलक्षणरूपप्रतीतेः कथं ते तदारम्भकाः? इत्यप्यनुपपन्नम्, पुद्गलानां विचित्ररूपादिपरिणामसामग्रीसन्निधाने विचित्ररूपादिपरिणत्युपपत्तेः। दृश्यते हि मुखादिबिम्बेऽपि तत्सन्निधाने विचित्रा रूपपरिणतिः, कोपाद् रक्ततया लज्जातः कृष्णतया हर्षात् सुकान्तितमतया मुखादेः परिणामप्रतीतेः। अतो मुखचन्द्रादिबिम्बसन्निधाने जलादेर्विचित्रो रूपादिपरिणामो न विरोधमध्यास्ते।

एतेन इदमपि प्रतिव्यूढम्–'द्वयोः सावयवयोः समानाकाशदेशत्वानुपपत्तिः, आश्रयद्रव्यस्य चादर्शादेः परिमाणगौरवयोरुत्कर्षः स्यात्' इति, द्वयोः सावयवद्रव्ययोः अत्राऽसम्भवात्, एकस्यैव जलादिद्रव्यस्य स्वसामग्रीविशेषवशात् तथापरिणामात्। न च समानाकाशदेशत्वं सावयवतया विरुद्धम्, जलभस्मनोः वातातपयोर्वा सावयवयोरपि

एव पुनो रश्मिविनिर्गमनं प्रति ... प्रतिबिम्बानि छायापुद्गलविनिर्मितानि स्वीक्रियमाणानि स्वबुद्ध्या दुर्यापातमत्र प्रतिभाति। स्या० रत्नाकरस्य ६९८ पृष्ठे तु एभिरेव प्रमेयकमलमार्तण्डमनुसरद्भिः स्वाभ्युपगमम् यत्– स्वच्छतादिगुणादि ... मुखादिप्रतिबिम्बाकारविकारधारिणि ... ते ... रश्मिनिर्गमनस्य प्रतिषेधात् ... प्रभाचन्द्र ... अनुसरन्ति अत्र च तत्खण्डनाभिलापेण पूर्वापरविरोधमपि न पश्यन्तीति चित्रमेतत्।

(१) प्रतिबिम्बाकारतया। (२) पृ० ४५१ पं० ४। (३) प्रतिबिम्बस्य। (४) बिम्ब। (५) जलादौ। (६) पृ० ४५१ पं० ६। (७) हस्तपादाद्यवयव सावयवमेव तत्प्रतिबिम्बमभ्युपगम्यते। (८) पृ० ४५१ पं० ७। (९) प्रतिबिम्बस्पर्शेण। (१०) जलादौ। (११) प्रतिबिम्ब। (१२) पृ० ४५१ पं० ९। (१३) बिम्बसन्निधानेन जलादीनां प्रतिबिम्बाकारतया परिणमनप्रकारेण। (१४) स्यादेतत् प्रतिबिम्बं जलादौ गुणरूपम्। (१५) जलादेः। (१६) विचित्ररागाद्युद्बोधकसामग्रीसन्निधाने। (१७) पृ० ४५१ पं० १४। (१८) प्रतिबिम्बारम्भकत्वस्य। (१९) प्रतिबिम्बाकारतया।

(२) तुलना– तदपि समानदेशाप्रमाणसमीरातपाभ्यां व्यभिचारि –स्या० र० पृ० ८६१।

---

1 इत्यनुप– श्र०। 2 विचित्ररूप– श्र०। 3 परिमाणात आ०।

तत्प्रतीतेः। परिमाणगौरवोत्कर्षनियमोऽपि सावयवयोर्नास्ति; जलकनकाग्निसंयुक्ताऽनलादौ तदप्रतीतेः।

यच्चान्यदुक्तम्–'अपूर्वदर्शिना नित्यं द्विधा चक्षुः प्रवर्तते' इत्यादि, तदप्यविचारितरमणीयम्, रश्मिरूपस्य चक्षुषः कुतश्चिदपि प्रमाणादप्रसिद्धेः। ततस्तदप्रसिद्धिः चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वसिद्धौ प्रपञ्चेन प्ररूपिता।

ननु प्रतिबिम्बोऽन्यवादिना मते बिम्बानुकारिणा प्रतिबिम्बेन भवितव्यम् तत्कथं सव्यदक्षिणविपर्ययेण प्रतिबिम्बस्य प्रतीतिः, इत्यप्यचोद्यम्, स्वभावतः तस्य सव्यदक्षिणस्वभावतयैव उत्पत्तेः। बिम्बाभिमुखेन हि प्रतिबिम्बेन भवितव्यम्, आभिमुख्यञ्च सव्यदक्षिणविपर्यासव्यतिरेकेण अस्य नोपपद्यते इति तथैव अस्योत्पत्तिरुपपन्ना, अन्यथा 'प्रतिबिम्बम्' इति व्यपदेशोऽस्य अनुपपन्नः स्यात्।

किञ्च, येन्मते प्रतिबिम्बमर्थान्तरं तस्य सव्यदक्षिणविपर्यासो गुण एव, यत एव

(१) तुलना–'करम्बितकनकपारदाभ्यामनैकान्तिकत्वात्' –स्या० र० पृ० ८६१। (२) उत्पाजलेहि जलाग्यो द्रव्या सावयवया समानदेशता जाता न च परिमाणगौरवयोस्तत्र, तथा तप्तसुवर्णे सुवर्णाग्न्या सावयवयो सम्बन्धेऽपि न तयोस्तत्र सन्दृश्यते इति भाव। (३) परिमाणगौरवयोरप्रतीते –आ० टि०। (४) पृ० ४५२ पं० १५। (५) तुलना–'स्वप्रत्यक्षस्यतया सवितुर्ग्रहणासिद्धेः चाक्षुषं तेजः प्रतिस्रोतः प्रवर्तत इति चातीवासङ्गतं प्रमाणाभावात्।''–प्रमेयक० पृ० ४२५। चाक्षुषं तेजः प्रतिस्रोतः प्रवर्तत इति चातीवासङ्गतम्, प्रमाणाभावात्। न हि चक्षुस्तेजांसि जलेनाभिसम्बध्य पुनः सवितारं प्रति प्रवृत्तानि प्रत्यक्षादिप्रमाणतः प्रतीयन्ते। यथा च नायनरश्मीनां विषयं प्रति प्रवृत्तिर्नास्ति तथा चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वप्रघट्टके प्रतिपादितमित्यलमतिप्रसङ्गेन। –स्या० र० पृ० ६९८। (६) पृ० ७५–८२। (७) सव्यदक्षिणविपर्ययेणैव। (८) तुलना–'तदपि प्रतिबिम्बशब्दनिरुक्त्यैव कृतोत्तरम् परं मिथ्याभिनिवेशान्न चेतयते भवान्। प्रत्यर्थिबिम्बं प्रतिबिम्बमुच्यते। प्रत्यर्थिता चास्य सकलतदीयावयवतिलकभ्रूभङ्गभ्रुकुट्यादिविशेषस्वीकरणेनाभिमुखतया पुरःस्थायित्वम्। तच्च सव्यदक्षिणपार्श्वविपर्यासव्यतिरेकेणास्य नोपपद्यत इति तथैवोत्पत्तिरुपपन्ना, अन्यथा तु प्रतिबिम्बमिति व्यपदेश एवास्यानुपपन्नः स्यात्। –स्या० र० पृ० ८६२। (९) तुलना–"किञ्च, यन्मते प्रतिबिम्बमर्थान्तरं तस्य सव्यदक्षिणपार्श्वयोर्विपर्यासो गुण एव। यत एव बिम्बविपरीतधर्मयोगोऽत एवातोऽस्यान्यत्वमिति।' –स्या० र० पृ० ६८२। "आदर्शतलादिषु प्रसन्नद्रव्येषु मुखादिच्छाया तद्वर्णादिपरिणतापलभ्यते इतरत्र प्रतिबिम्बमात्रमेव। अत्राह–विपरीतग्रहणं कुतः प्राङ्मुखस्य प्रत्यङ्मुखी छाया दृश्यते इति? प्रसन्नद्रव्यपरिणामविशेषात् भवति। अत्र चाग्रे नादर्शतलादिच्छायामद्भावः। किं तर्हि? नयननिर्गतरश्मिना घनद्रव्यात् प्रतिहत्य निवृत्तेन स्वमुखस्यैव ग्रहणमिति तदयुक्तम् विपर्यासग्रहणाभावप्रसङ्गात् कुड्यादिषु अतिप्रसङ्गात् ग्रहणशक्त्यभावाच्च। विपर्यासग्रहणाभावप्रसङ्गस्तावत् यदि प्रतिनिवृत्तेन नयनरश्मिना स्वमुखस्य ग्रहणं प्राङ्मुखस्य प्राङ्मुखमेव ग्रहणं स्यात् विपर्यासहेत्वभावात्। कुड्यादिषु चातिप्रसङ्गः स्यात्, नयनरश्मेः प्रतिघातस्य तत्रापि सद्भावात्।' –राजवा० पृ० २३३। न्यायवि० वि० पृ० ५६७ B।

कथं पुनर्दर्पणतलादिषु प्रतिबिम्बं मुखादीनां सम्मुखमेव छायाकारेण परिणमनं न पराङ्मुखम्? कथं वा कठिनमादर्शमण्डलं प्रतिभिद्य मुखतो विनिर्गताः पुद्गलाः प्रतिबिम्बमाजिहते इति? [illegible] सम्मुखमेव प्रतिबिम्बमुत्पन्नं नायतो मुखमिति तत्र परिणामः स तादृशः पुद्गलानाम् [illegible] पर्यनुयोगः कर्तुं शक्यः –तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ३६४। (१०) सम–आ० टि०। [illegible]

1 परिणाम –ब०। 2 तदप्रतिपत्ते 3 –दसिद्धिश्च चक्षु –ब०। 4 [illegible]

बिम्बधर्मविपरीतधर्मयोगोऽत एव अस्य अतोऽन्यत्वम्। यदि च प्रतिबिम्बमन्यन्न स्यात्, आदर्शादिना प्रतिहतैर्नायनरश्मिभिर्व्यावृत्य देशविपर्यासेन मुखादेरेव आदर्शे प्रकाशनात्, तर्हि कुड्यादिनाऽपि प्रतिहतास्ते व्यावृत्य किमिति कुड्यादौ मुखं न प्रकाशयन्ति विशेषाभावात्? नचात्र स्वच्छता उपयोगिनी, रश्मिप्रतीघातमात्रस्यैव तत्रोपयोगात्, तच्च उभयत्राप्यविशिष्टम्, प्रत्युत कुड्यादिना घनद्रव्येण अतिशयवान् प्रतीघातो विधीयते, अतः तत्र अतिशयवता तत्प्रतिभासेन भाव्यम्। कारणातिशयाद्धि कार्यातिशयो दृष्टः, यथा पित्तातिशयात् शङ्खादिष्वपि पीतत्वावभासातिशयः। अस्मन्मते तु निर्मले स्वच्छ एव आदर्शादौ बिम्बसन्निधाने प्रतिबिम्बमुत्पद्यते न पुनः कुड्यादौ तद्विपरीते, अतस्तत्र तत्प्रतिभासाभावः।

किञ्च, आदर्शादिना प्रतिहता रश्मयः व्यावृत्य यदि बिम्बमेव प्रकाशयन्ति, तर्हि महतो हस्त्यादेः स्वपरिमाणानतिक्रमेणैव प्रतीतिप्रसङ्गात् लघुत्वप्रतीतिर्न स्यात्। नचैवम्। अतः प्रतिबिम्बमेव तत्र तथाभूतमुत्पन्नं प्रतिभासते इत्यभ्युपगन्तव्यम्। स्वपरिमाणानुसारितया हि दर्पणादिना प्रतिबिम्बमारभ्यते, अतो महतो लघुत्वप्रतिपत्तिरविरुद्धा। यदि च कृपाणादौ काचादौ चाश्रये प्रतिहतास्ते व्यावृत्य बिम्बमेव प्रकाशयन्ति, तर्हि आयत-श्याममुखप्रतीतिर्न स्यात्। अस्मन्मते तु आश्रयस्य आयतत्वात् श्यामत्वाच्च तदारब्धस्य प्रतिबिम्बस्यापि आयतत्वं श्यामत्वञ्चोपपन्नम्। जलादेस्तु अतिस्वच्छत्वात् बिम्बाकारानुकारेणैव तत्र प्रतिबिम्बोत्पत्तिः।

यच्चान्यदुक्तम्–'यदि प्रतिबिम्बमर्थान्तरमुत्पन्नम्' इत्यादि, तदप्यविचारिताभिधानम्, अर्थान्तरस्यास्योत्पत्तावपि नियमेन निमित्तकारणक्रियानुकारितया तत्क्रियाया नियमेन क्रियान्तरोपपत्तेः प्रदीपप्रकाशवत्, छत्रछायावद्वा। यथैव हि प्रदीपे छत्रे च चलति प्रकाशच्छाया च नियमेन चलति स्थिरे तु स्थिरा भवति, एवं बिम्बे चलति नियमेन

(१) प्रतिबिम्बस्य। (२) बिम्बात्। (३) तुलना– यदि चादर्शादिप्रतिहता रश्मयः मुखं प्रकाशयन्ति तर्हि भित्त्यादिप्रतिहता अपि ते तत्प्रकाशयेयुः विशेषाभावात् –स्या० र० पृ० ८६४। (४) व्यावृत्य बिम्बप्रकाशने। (५) प्रतिघातमात्रम्। (६) दर्पणादौ कुड्यादौ च। (७) बिम्बप्रतिभासेन। (८) जैनमते। (९) अस्वच्छादर्शादि। (१०) कुड्यादौ। (११) बिम्ब। (१२) तुलना– तर्हि महतो हस्त्यादेः स्वपरिमाणानतिक्रमेणैव प्रतीतिप्रसङ्गाल्लघुत्वप्रतीतिर्न स्यात्। –स्या० र० पृ० ८६४। (१३) दर्पणादौ। (१४) लघ्वाकाराननम्। (१५) तुलना– यदि च खड्गादौ प्रतिहतास्ते व्यावृत्य बिम्बमेव प्रकाशयन्ति तर्हि तत्रायतश्याममुखप्रतीतिर्न स्यात्। –स्या० र० पृ० ८६४। (१६) आयतकाचादौ। (१७) रश्मयः। (१८) कृपाणस्य काचादेश्च। (१९) पृ० ४५१ पं० ५। (२०) तुलना–अर्थान्तरस्योत्पत्तावपि नियमेन परिणामकारणक्रियानुकारितया तत्क्रियावच्चलति चलनस्य स्थिरत्वे स्थिरत्वस्य च समोत्पत्तेः। –स्या० र० पृ० ८६२। (२१) मुखप्रतिबिम्बं। (२२) मुखादौ क्रियायां सत्याम्।

1 –कुड्यादौ ब०। 2 –दृष्टं पटुरूपा –ब०। 3 –आ इत्येव ब०। 4 हस्तादे आ०। 5 सयन्ति –श्र०।

प्रतिबिम्बे चलति तिष्ठति तु तिष्ठति । न खलु घटे नियमेन निमित्त[1]कारणे[2]क्रिया-नुविधान न दृष्टम् इत्येतावता सर्वत्र त[3]न्निषेद्धुमुचितम्, प्रदीपप्रकाशादावपि त[4]न्निषेध-प्रसङ्गात् । घटे च तद्वद् भासुररूपादिकमपि नोपलब्धम् अतः [5]प्रदीपप्रकाशादावपि [6]तन्निषिद्धतामविशेषात् । प्रतीतिविरोध अन्यत्राप्यविशिष्ट ।

यच्चान्यदुक्तम्–'निमित्तकारणापाये कार्यस्यापायाप्रतीते' इत्यादि, तदप्यनल्प-तमोविलसितम्, [8]प्रदीपछत्रादेर्निमित्तकारणस्याऽपाये प्रकाशछाययोरपायप्रतीते ।

एतेन 'प्रतिबिम्बविनाशे पृथक् तदवयवोपलम्भप्रसङ्ग' [9]इत्यादि प्रत्युक्तम्, [10]प्रदीपादेर्विनाशेऽपि त[11]दप्रतीते । न खलु प्रदीपविद्युदादिद्रव्याणा विनाशेऽपि पृथक् तदवयवा क्वचित् कदाचित् कस्यचित् प्रतीतिपथप्रस्थायिनो भवन्तीति ।

साम्प्रतम् '[12]अतीतैककालाना गति नाऽनागताना व्यभिचारात्' [प्रमाणवा० स्ववृ० १।१२] इत्येतन्निराकुर्वन्नपरमपि कार्यादिभ्योऽर्थान्तर हेतुमुपदर्शयति–

भविष्यत् प्रतिपद्येत [13]शकटं कृत्तिकोदयात् ।
श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति[14] ॥ १४ ॥

(१) दण्डादि–आ० टि० । (२) प्रतिबिम्बेऽपि । (३) निमित्तकारणक्रियानुविधानम् । (४) निमित्तकारणक्रियानुविधान । (५) निमित्तकारणभूतदण्डादिवच्छुरूपादिकमपि । (६) निमित्तकारणभूतप्रदीपवत भासुररूपादिक तत्प्रकाश निषिद्धतनाम । (७) पृ० ४५३ प० १० । (८) तुलना–'न खलु मृगाद्यपाय कलशादावपायो नोपलब्ध इति ।–स्या० र० पृ० ८६३ । (९) पृ० ४५३ प० ११ । (१०) तुलना–"सौदामिनीप्रदीपादिद्रव्याणा विनाशेऽपि पृथक् तदवयवानामनुपलम्भात ।–स्या० र० पृ० ८६३ । (११) अवयवोपलम्भ–आ० टि० । (१२) 'अतीतानामेककालानाम्' –प्रमाणवा० स्ववृ० । व्याख्या–'तत्रापि रसादे रूपाद्यनुमान अतीतानामेककालानाञ्च गति रसोपादानसमानकालभाविनोऽतीता लिङ्गभूतरससहभाविन एककाला तथा इति नानागतानाम् वर्तमानेन लिङ्गेनानुमान व्यभिचारात, अनागतं हि कारणान्तरप्रतिबद्धं तत्र प्रतिबन्धकसम्भवात भवदपि । धूम्राद्योत्यात इव सूर्योत्पाद्यनुमानेन तदनुमान नियामकलिङ्गाभावात अद्य गर्दभदर्शनात इव सूर्यान्यानुमानवत । –प्रमाणवा० स्ववृत्तिटी० १।१२ । उद्धतमिदम्–सिद्धिवि० टी० प० ३११A । प्रमेयक० पृ० ३८१ । स्या० र० पृ० ५९० । (१३) रोहिणीनक्षत्रम् । (१४) 'शकट रोहिणी धर्मी मुहूर्तान्ते भविष्यदुत्पत्तिमदिति साध्यधर्म, कुत ? कृत्तिकोदयादिति साधनम् । न खलु कृत्तिकोदय शकटोदयस्य कार्य स्वभावो वा केवलमविनाभावबलाद् गमयत्येव स्वोत्तरमिति प्रतिपद्येत अनुमाता सर्वोऽपि जन इति । तथा श्व प्रात आदित्य सूर्य उदेता उत्पत्स्यते अद्यादित्योदयादिति प्रतिपद्यत । तदा श्वो ग्रहणं राहुस्पर्शो भविष्यति एवंविधफलकाद्यादिति वा प्रतिपद्यत सर्वथाऽव्यभिचारात् –लघी० ता० पृ० ३३ । तुलना–'कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्यासत्तिकॢप्तिवत् ।'–मी० श्लो० प० ३५१ । प्रश० व्यो० पृ० ५७१ । प्रमाणप० पृ० ७१ । परीक्षामु० ३।७१ । सन्मति० टी० पृ० ५९९ । प्रमाणनय० ३।८० । प्रमाणमी० पृ० ४१ । जैनतर्कभा० पृ० १६ । प्रतिबन्धपरिसमाप्त्याद् उदयस्यापरस्य कृत्तिकोदयादिति किं प्रमाणम ?'–सिद्धिवि० पृ० ३१७ B ।

1–क्रियानुसारं ब० –क्रियाविधानं आ० । 2–प्रदीपादावपि ब० । ३–तन्नि– ब० । ४–बिम्बप्रनाशे ब० । ५ तत्प्रतीते ६–आ० ।

विवृतिः[1]–तदेतद् भविष्यद्विषयमविसंवादकं ज्ञानं प्रतिबन्धसंख्यां प्रमाणसंख्यां च प्रतिरुणद्धि ।

कारिकार्थः — भविष्यद् भावि, प्रतिपद्येत जनः । किम् ? शकटम् । कुतः ? कृत्तिकोदयात् । तथा श्वः प्रातः आदित्य उदेता इति प्रतिपद्येत अत आदित्योदयात् इति गम्यते । 'ग्रहणं वा भविष्यति' इति प्रतिपद्येत, कुतश्चित् फलकाङ्क्षादेः ।

कारिकायाः तात्पर्यार्थमुपदर्शयन्नाह–'तद्' इत्यादि । तस्माद् ऐकलक्षण्यान्वितात्

विवृतिव्याख्यानम्– हेतोः एतद् भविष्यद्विषयं भाविशकटोदयादिगोचरम् अविसंवादकं ज्ञानं सिद्धम् । तत् किं करोति ? इत्याह–प्रतिबन्धसंख्यां प्रतिरुणद्धि तादात्म्यतदुत्पत्त्योस्तत्रासंभवात् । अथ कृत्तिकोदयादेः शकटोदयादिकार्यत्वान्न दोषः, तन्न, अतीतकृत्तिकोदयादेः[2] शकटोदयात् प्रतीयमानप्रसङ्गात् । अन्योन्यकार्यत्वे अन्योन्याश्रयप्रसक्तिः । अन्यच्च तत् किं करोति ? इत्याह–प्रमाणसंख्यां च प्रतिरुणद्धि परैः परिकल्पितस्य प्रतिबन्धस्य पक्षधर्मत्वादेश्चाऽभावेऽपि कृत्तिकोदयाद्यनुमानस्य भावात् । तन्न कार्यस्वभावानुपलब्धिलिङ्गप्रभवं त्रिविधमेव अनुमानम् इत्यनुमानप्रमाणसङ्ख्यानियमः सौगतानां व्यवतिष्ठते प्रागुक्तलिङ्गप्रभवानुमानानां ततोऽर्थान्तरत्वप्रसिद्धेः ।

एतेन नैयायिकोपकल्पितः पञ्चैवानुमानमित्यनुमानसङ्ख्यानियमः प्रत्याख्यातः, पूर्वोक्तानुमानानां पञ्चस्वनुमानेषु अनन्तर्भावात् ।

ननु "*अस्येदं कारणं कार्यं संयोगि समवायि विरोधि चेति लैङ्गिकम्*" [वैशे०सू० ९।२।१]

कारणादयः पञ्च हेतवः गमकाः इति नैयायिकस्य पूर्वपक्षः – इति सूत्रोपात्ताः पञ्च हेतवो लैङ्गिकाङ्गम् अविनाभावस्य अत्रैव परिसमाप्तेः, तत्कथं न नैयायिकानामनुमानसंख्यानियमो न व्यवतिष्ठते ? अत्र कारणात् कार्यानुमानम्, यथा उन्नतदिग्घनदर्शनात्

(१) फलके फलके सङ्ख्यागणनायाः (सन्धिकासन्धिसमितासङ्कुगणनायाः)–आ० टि० । (२) अविनाभावस्य । (३) कृत्तिकोदय शकटोदययोः । तुलना– न पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः । –परीक्षामु० ३।६१ । प्रमाणनय० ३।६७ । (४) भाविकारणवादी प्रज्ञाकरगुप्त आह । प्रज्ञाकरगुप्तस्य भाविकारणतासूचकं मतमित्थम्– भावेन च भावो भाविनाऽपि लक्ष्यत एव मयूरप्रयुक्तमरिष्टमिति लोके व्यवहारः । यदि मृत्युर्न भविष्यन्न भवेदेवम्भूतमरिष्टमिति तस्मादनागतस्यापि कारणत्वमव्यभिचारादिति युक्तमेतत् । –प्रमाणवार्तिकाल० पृ० १७७ । (५) भवत्यत्रापि प्रयोगः–जातः कृत्तिकोदयः शकटोदयात्–आ० टि० । (६) कृत्तिकोदयानुमानं सिद्धमिति तत् शकटोदयानुमानम् तस्माच्च कृत्तिकोदयानुमानमिति । (७) सौगत । (८) तादात्म्यादिसम्बन्धस्य । (९) हेतोः रूपत्रयस्य । (१०) कृत्तिकोदयादिहेतुजन्यानुमानानाम् । (११) तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धरहितघनानुमानात् । (१२) कार्यं कारणपूर्वकत्वेनोपलम्भादुपलभ्यमानं सद्

1–भवतु आ० । 2–व्यवस्थाप्रम–ब० । 3 प्रतिबिम्बस्य ब० । 4 पञ्चतया–श्र० । 5–तिष्ठतु आ० ।

भविष्यति भस्म इति। कार्यात् कारणानुमानम्; यथा नदीपूरोपलम्भात् वृष्टेः। संयोगिदर्शनात् संयोगिनोऽनुमानम्, यथा धूमदर्शनाद् वह्नेः। समवायिदर्शनात् समवायिनोऽनुमानम्, यथा शब्दाद् आकाशस्य। [1]एकार्थसमवायिदर्शनात् एकार्थसमवायिनोऽनुमानम्, यथा रूपाद् रसस्य। विरोधिदर्शनाद् विरोध्यन्तरानुमानम्, यथा विस्फूर्जितनकुलदर्शनात् सन्निहितसर्पज्ञानमिति।

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं कृत्तिकोदयादीनां पूर्वचरादिहेतूनामपि पृथग्रूपेण गमकत्वप्रदर्शनम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[1]–'सूत्रोपात्ता एव पञ्च हेतवो लैङ्गिकाङ्गम्' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, तदतिरिक्तानां[2] कृत्तिकोदयादिहेतूनां तदङ्गत्वप्रतिपादनात्। अविनाभाववशाद्धि हेतोरनुमानाङ्गत्वं न कारणादिरूपतामात्रेण अस्या[3]ऽव्यापकत्वादतिप्रसङ्गाच्च। अविनाभावस्य तु सकलहेतुकलापव्यापित्वात् तदाभासेभ्यो व्यावृत्तत्वाच्च तद्वशादेव हेतोर्गमकत्वं प्रतिपत्तव्यम्। नहि तद्[2]व्यतिरेकेण[4] क्वचिदपि हेतोर्गमकत्वं प्रतीयते, सर्वत्र गमकत्वस्य अविनाभावे सत्येव उपपत्तेः। कार्यकारणभावस्य च षट्पदार्थपरीक्षायां प्रपञ्चतः प्रतिषिद्धत्वात्[5] परमते[6] कार्यकारणलिङ्गयोरसिद्धिः। संयोगसमवाययोरपि तत्रैव[7] निषेधात् संयोगिसमवायिलिङ्गयोरपि असिद्धिः। विरोधिनोऽप्यविनाभावादेव विरोध्यन्तरानुमापकत्वम्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात्।

गमकम्, यथाहि–विशिष्टनदीपूरोपलम्भादुपरिष्टाद् वृष्टो देव इति। तथा च बहलफेनफलपर्णकाष्ठाद्युपहतविशिष्टस्य नदीपूरस्य वृष्टिकार्यत्वेन पूर्वमुपलम्भात् पुनस्तदुपलम्भे सति युक्तमनुमानम्–अयं नदीपूरो वृष्टिकार्यो विशिष्टनदीपूरत्वात् पूर्वोपलब्धनदीपूरवदिति। पूरस्तु उभयतटव्यापकोऽम्भसंयोगः। स पारम्पर्येण वृष्टिकार्य इति। कारणमिति कार्यजनकत्वेन पूर्वमुपलब्धमुपलभ्यमानं तल्लिङ्गं यथा च विशिष्टमेघोन्नतिर्वर्षकर्मणः। तथा धूमोऽग्नेः संयोगी समवायी च उष्णस्पर्शो वारिस्थं तेजो गमयतीति। विरोधी च यथाहिविस्फूर्जनविशिष्टो नकुलोऽहिलिङ्गमिति।'–प्रश० व्यो० पृ० ५७२। प्रश० किर० पृ० ३०२।

(१) पृ० ४६० पं० १९। (२) तुलना–'समुद्रवृद्धयादौ यथोक्तसम्बन्धाभावेऽप्यनुमानदर्शनात्। संयोगसमवायकार्यसमवायास्तु नानुमानोत्पत्तौ कारणम्। नहि चन्द्रमण्डलेन छात्रानुमानम्, नापि स्पर्शाद् पृथिव्याद्यनुमानम्, नापि रूपाद्रसानुमानमिति। यच्च विरुद्धस्यानुमानस्योदाहरणं भूतं वर्षकर्म अभूतस्य वाय्वभ्रसंयोगस्यानुमापकं तथाऽभूतं वर्षकर्म भूतस्य वाय्वभ्रसंयोगस्यानुमापकमिति, तदनुपपन्नम्, भावाभावयोह्यत्र गम्यगमकता न च तयोर्विरोधोऽस्ति तस्मात् कार्यकारणभावादय एव सम्बन्धा यस्य सन्ति नियता अव्यभिचारिणः स हेतुरिति।'–प्रक० पं० पृ० ६८। न्यायवा० ता० पृ० १६४। स्या० र० पृ० ५३२। लघी० ता० पृ० ३४। (३) कारणादिरूपतामात्रस्य कृत्तिकोदयादिहेतुषु अव्याप्तिः, धूमादिसाध्यं प्रति व्यभिचारित्वाद्धेत्वाभासभूतेषु अग्न्यादिषु सद्भावाच्चातिप्रसङ्गः। (४) अविनाभावं विना। (५) पृ० २२०। (६) वैशेषिकमते। (७) षट्पदार्थपरीक्षायाम् पृ० २९७।

---

1 'एकार्थसमवायिदर्शनात्–नास्ति ब०। 2 तद्व्यतिरि–ब०।

सांख्यपरिकल्पितस्या मात्रामात्रिकादिसप्तहेतुस्याऽपि कृत्तिकोदयादिपूर्वचरादिहेतुना पृथक्तया गमकत्वप्रसाधनम्–

यदपि सांख्यैरभिहितम्–मात्रामात्रिक कार्य विरोधि सहचारि-स्वस्वामि-वध्यघाताद्यै सप्तधाऽनुमिति । तत्र मात्रामात्रिकानुमानम्, यथा चक्षुषो विज्ञानानुमानम्। कार्यात् कारणानुमानम्, यथा विद्युद्दर्शनात् कारण विमानम्। प्रकृतिविरोधिनिदर्शनात् तद्विरोध्यन्तरानुमानम्, यथा न वर्षिष्यति वलाहक प्रत्यनीकपवनयोगित्वात्। सहचराऽनुमानम्, यथा चक्रवाकयोरन्यतरदर्शनात् द्वितीयज्ञानम्। स्वदर्शनात् स्वामिनोऽनुमानम्, यथा छत्रविशेषदर्शनात् राज्ञोऽनुमानम्। वध्यघातानुमानम्, यथा महर्पनकुलदर्शनात् 'घातितोऽनेन सर्प' इति ज्ञानम्। आदिग्रहणात् सयोग्यनुमानम्, यथा समुदायवर्तिनि परिव्राजके 'क परिव्राजक' इति सशये त्रिदण्डदर्शनात् 'परिव्राजकोऽयम्' इति ज्ञानमिति। तदप्येतेनैव प्रत्याख्यातम्, कृत्तिकोदयादिहेतूना नैयायिकोपकल्पितहेतुभ्य इव अतोऽर्थान्तरभावाऽविशेषात्।

अथेदानीम् 'दृश्यानुपलब्धिरेव गमिका, नान्या सशयहेतुत्वात्' इति नियम निराकुर्वन्नाह–

अदृश्यपरचित्तादेरभाव लौकिका विदु ।
तदाकारविकारादेरन्यथाऽनुपपत्तित ॥ १५ ॥

विवृति –अदृश्यानुपलब्धे सशयैकान्ते न केवल परचित्ताभावो न सिद्ध्यति अपि तु स्वचित्तभावश्च, तदनशतत्त्वस्य अदृश्यात्मकत्वात्। तथा च कुत

(१) आक्षिप्तान सयोग्यनुमान सप्तमम्–आ० टि०। (२) विद्युत कादाचित्कत्वेन काय त्वात् कनापि कारणेन भवितव्यमिति–आ० टि०। (३) तुलना– एतेन सप्तविध सम्बन्ध इति प्रत्यु क्तम् –न्यायवा० पृ० ५७। एतेनैव–मात्रानिमित्तसयोगिविरोधिसहचारिभि । स्वस्वामिवध्यघाताद्य साख्याना सप्तधानुमा । –न्यायवा० ता० पृ० १६५। नयचक्रवृ० पृ० ४२४ A । लघी० ता० पृ० ३४। (४) साध्यवल्लिङ्गहेत्वोरपि। (५) प्रतिषेधसिद्धिरपि यथोक्ताया एवानुपलब्ध, सति वस्तुनि तस्या असम्भवात अन्यथा चानुपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु देशकालस्वभावविप्रकृष्टेषु आत्मप्रत्यक्ष निवृत्तरभावनिश्चयाभावात्। (पृ० ४२) विप्रकृष्टविषयानुपलब्धि प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा सशय हेतु प्रमाणनिवृत्तावपि अर्थाभावासिद्धेरिति। –न्यायबि० पृ० ५९। वादन्याय पृ० १८। अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्ध सशयहेतुतया गमकत्वान्नेति भाव। –वादन्यायटी० पृ० १९। हेतुबि० टी० पृ० १६२ A। (६) निर्जानन्ति क ? लौकिका। अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्य, तेन लौकिका गोपालाद्योऽपि कि पुन परीक्षका इत्यर्थ। कम ? अभावम् असत्ताम् कस्य ? अदृश्यपरचित्तादे परेषामातुराणा चित्त चेत यस्मादयस्यासौ परचित्तादि अदृश्यश्चासौ परचित्तादिश्च स तथोक्तस्तस्य। आदिशब्देन भूतग्रहव्याधिप्रभृतिग्रहाते यस्य सूक्ष्मस्वभाव। कुत ? तदित्यादि तस्य परचित्तादे कार्यभूतो विनाभावी आकार उष्णस्पर्शादिलक्षण तस्य विकारोऽयथाभाव आदियस्य वचनविशेषा दाव्यापारादे तस्यानुपपत्तित असम्भवात। –लघी० ता० पृ० ३४। (७) अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धि रित्ययुक्तम् परचैतन्यनिवृत्तावारेकापत्त संस्कर्तृणा पातकित्वप्रसङ्गात् बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात्। –अष्टश० अष्टसह० पृ० ५२। लघी० ता० पृ० ३५।

1 प्रतिकृतिर्निर्वि–श्र०। 2–न्यर्थान्तरविशेषाभावात् श्र०।

परमार्थसतः क्षणभङ्गसिद्धिः ? तद्विपरीतस्य अभेदलक्षणस्यैव स्यात् ।

अदृश्यश्चासौ परचित्तादिश्च, आदिशब्देन भूतमहव्याधिपरिग्रह, तस्याऽभावं **लौकिका विदुः ।** कुत इत्यत्राह–**'तदाकार'** इत्यादि । तेन अदृश्यपरचित्तादिना महभावी शरीरगत उष्णस्पर्शादिलक्षण आकार **तदाकारः** तस्य **विकारः** अन्यथाभाव **आदिर्यस्य** वचनविशेषस्य तस्य **अन्यथानुपपत्तितः ।**

कारिकाया —

ननु सर्वत्र अभावपरिच्छेदे अभावप्रमाणस्यैव व्यापार, परचित्ताभावश्च अभाव तस्माद् अभावस्यैव परिच्छेद्य । तच्च अभावप्रमाणम् प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नम्, तद्भिन्नसामग्रीप्रभवत्वात् भिन्नविषयत्वात् भिन्नफलसाधकत्वाच्च, यद् यतो भिन्नसामग्रीप्रभवत्वादिविशेषणविशिष्ट तत् ततो भिन्नम् यथा प्रत्यक्षादनुमानादि, तथाभूतश्चेदम, तस्मात् प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नमिति । न चास्य तद्भिन्नसामग्रीप्रभवत्वम-सिद्धम्, तथाहि–इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूपाया प्रत्यक्षादिसामग्रीत तावदभावप्रमाण नोत्पत्तुमर्हति, अभावेन मह इन्द्रियाणा सन्निकर्षाभावात् । न हि तत्र तेषा सयोगलक्षण सन्निकर्ष समवति, अभावस्य अद्रव्यत्वात् । नापि समवायलक्षण, द्रव्य गुण-कर्म-सामान्य-विशेषेभ्योऽन्यत्वात् । तयोरभावे च तत्प्रभेद सयुक्तसमवायादि दूरादपास्त । सयुक्तविशेषणभावोप्यसभाव्य ; घटाभावस्य भूप्रदेशविशेषणत्वाभावात् । विशेषण हि सयुक्त समवेत वा भवति यथा दण्डो गुणादिश्च, न चाभाव कचित् सयुक्त समवेतो वा इत्युक्तम् । उक्तञ्च–

अभावपरिच्छेद अभाव प्रमाणस्यैव व्यापार न भावरूपाणा प्रत्यक्षादीनामिति अभावस्य पृथक् प्रामाण्यवादिना मीमासकस्य पूर्वपक्ष –

"न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मति ।
भावांशेनैव सम्बन्धो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १८]

---

(१) "अभावोऽपि प्रमाणाभाव नास्तीत्यस्यार्थस्यासन्निकृष्टस्य'–शाबरभा० १।१।५। (२) 'अभावशब्दवाच्यत्वात् प्रत्यक्षादेश्च भिद्यते। प्रमाणाभावा हि प्रमेयाणामभाववत् ॥–मी० श्लो० अभाव० श्लो० ५४। (३) द्रव्यद्रव्ययोरेव सयोगात्। (४) द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणामेव समवायित्वम्। (५) सयोगसमवाययो। (६) चक्षु सयुक्त भूतल तद्विशेषणश्चाभाव इति। 'मा भूत् सयोगत, सयुक्तविशेषणत्वाद ग्रहीतामिति चेत् न असति सम्बन्धे विशेषणत्वायोगात्। अस्त्येव सम्बन्ध इति चेत् कोऽसौ ? न तावत्सयोग अद्रव्यत्वात्। न समवाय, तदनभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा सयुक्तसमवायादेव ग्रहणात् तद्विशेषणत्वमवक्तव्य स्यात्। तत्र तावद भवतामस्ति सन्निकर्ष अस्माक तु अस्ति सयुक्तसमवाय। तथापि तु नेन्द्रियकत्वमित्यत्रेव वक्ष्याम ।'–मी० श्लो० न्यायर० पृ०४७९ (७) 'न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पद्यते मति –मी० श्लो०। (८) 'संयोगे–मी० श्लो०। सन्मति० टी० पृ० ५८०। प्रमाणमी० पृ० ९। (९) उद्धृताश्चम–

1–सिद्धिपरी–ज० वि०। 2 भिन्नविषयत्वात् नास्ति व०। 3 प्रत्यक्षस्तत्साम–ब०। 4–विशेषणीभावो श्र०। 5–भाव्यो यथा घटा–ब०।

यदि नेन्द्रियादिसामग्रीतस्तदुत्पद्यते, कुतस्तर्हि तदुत्पत्तेन इति चेत् ? उपलब्धिलक्षणप्राप्तप्रतिषेध्यार्थानुपलब्धि भूतलाद्याश्रयोपलब्धि प्रतिषेध्यघटादिस्मरणलक्षणसामग्रीविशेषात् ।

"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० २७]

'प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते ।
सात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि ॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ११]

इति तल्लक्षणसामग्रीतस्तदुत्पत्तिश्च तदन्यतमस्याप्यपाये तदनुपपत्तेः सुप्रसिद्धा । यदि हि उपलब्धिलक्षणप्राप्तार्थानुपलब्धिर्न स्यात् तदा भूतलाद्याश्रयोपलब्धावपि अभावप्रतीतिर्न स्यात् । यदि च भूतलाद्याश्रयप्रतीतिर्न स्यात् तदा भूतलाद्यवच्छेदेन घटाद्यभावप्रतीतिर्न स्यात् । नहि अज्ञातस्य विशेषणत्वं युक्तमतिप्रसङ्गात् । न च सामान्येन घटाद्यभावप्रतीतिरुपजायते, किन्तु भूतले । तथा, यदि प्रतियोगिस्मरणं न स्यात् तर्हि 'नास्ति' इत्येवरूपा प्रतीतिः स्यात् ननु 'घटो नास्ति' इति । अतः सिद्धं प्रत्यक्षसामग्रीतो भिन्नसामग्रीप्रभवत्वमभावप्रमाणस्य ।

तथा अनुमानसामग्रीतोऽपि, तस्य हि सामग्री लिङ्गादिलक्षणा, न च अभावेना-

सिद्धिवि० टी० प० १७९ B । प्रमेयक० प० १८९ । सन्मति० टी० पृ० ५८० । जैनतर्कवा० पृ० ७८ । न्यायाव० टी० प० २२ । स्या० र० पृ० २८० । प्रमाणमी० पृ० ९ ।

(१) भूतलाद्याश्रयग्रहणम् । (२) यस्याभावः क्रियते स प्रतियोगी यथा घटाभावे घटः । (३) उद्धृतमिदम्–प्रश० व्यो० पृ० ५९२ । न्यायम० प० ५० । बृहदा० वा० पृ० ८८५ । सिद्धिवि० टी० पृ० १७९ B । प्रमेयक० प० १८९ । सन्मति० टी० प० २३, २७६ । न्यायाव० टी० प० २२ । न्यायवि० वि० पृ० ४८८ A । स्या० र० प० २८० । प्रमेयर० पृ० ६९ । रत्नाकराव० २।१ । विश्वतत्त्वप्र० प० १३ । प्रमाणमी० प० ९ । जैनतर्कवा० वृ० पृ० ९७ । प्रभाकरवि० पृ० ५८ । प्रमेयरत्नका० पृ० ५८ । (४) सात्मनः परिणाम –मी० श्लो० । तामेव द्विधा विभजते सेति । योऽयमात्मनो घटादिविषय प्रत्यक्षादिज्ञानस्वरूप परिणामः तदभावमात्रमेवानुत्पत्तिरभाव इति व्याख्यानं । तच्च घटाद्यभावविषयं नास्ति बुद्धिजनकतया इन्द्रियादिवत् प्रमाणं नास्ति इति । –मी० श्लो० न्यायर० प० ४७५ । सा प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिः निषेध्याभिमतघटादिप्रतियोगिकज्ञानरूपेणापरिणत आत्मा वस्थामात्रमद्रव्यमुच्यते घटादिविविक्तभूतलस्थानं वा –तत्त्वस० प० पृ० ४७१ । आत्मनः स्वरूपस्या परिणाम इति प्रसज्य इति प्रतिषेध –आ० टि० । (५) पर्युदास –आ० टि० । भूतलादिवस्तुन्याश्रयभूते । उद्धृतोऽयम्–प्रश० व्यो प० ५९२ । स्थात –तत्त्वस० का० १६४९ । प्रमेयक० पृ० १८९ । सन्मति० टी० प० ५८० । स्या० र० प० २७८ । षड्द० बृह० पृ० १२० A । रत्नाकराव० २।१ । ब्रह्मसू० पृ० १५१ । (६) आभावात्मनिश्च । (७) प्रतिषेध्यानुपलब्धि आश्रयोपलब्धि प्रतियोगिस्मरणरूपसामग्र्य । (८) इह भूतले घटाभाव इति प्रतिनियतरूपतया । (९) भूतलस्य (१) न चाप्यत्रानुमानत्वं लिङ्गाभावात् प्रतीयते । अभावो ननु लिङ्गं स्यात्तन्नास्ति नास्ति गृह्यमाणात् ॥ –मी० श्लो० पृ० ४८४ ।

1–लब्धिप्रतिषेध्यभूतला–श्र० । 2–स्या तत्प्रति–आ० ब० ।

ऽविनाभूतं किञ्चिल्लिङ्गमस्ति । अनुपलब्धिरस्तीति चेत्; नन्वसौ गृहीतव्याप्तिका, अगृहीतव्याप्तिका वा अभावमनुमापयेत् ? न तावदगृहीतव्याप्तिका, अतिप्रसङ्गात् । नापि गृहीतव्याप्तिका, यतो व्याप्तिग्रहणं धूमाग्निवद् उभयधर्मग्रहणपूर्वकम् । व्याप्तिग्रहणवेलायाञ्च कुतः अभावाख्यधर्मग्रहणम्-अत एव अनुमानात्, तदन्तराद्वा ? यदि अत एव; अन्योन्याश्रयः, तथाहि-अतोऽनुमानादभावसिद्धौ अनुपलब्धेरभावेन अविनाभावित्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ चातोऽनुमानादभावसिद्धिरिति । अनुमानान्तरात् तत्सिद्धौ चाऽनवस्था ।

किञ्च, अनुपलब्ध्याख्यं लिङ्गमपि उपलभ्यमानस्वभावम्, अतः तत्स्वरूपप्रतिपत्तावपि उक्तदोषानुषङ्गः । अनुपलब्धेरग्रहणे च अभावाऽनुपलब्ध्योः अविनाभावप्रतिपत्तिरतिदुर्घटा । अतो नाभावप्रमाणस्य अनुमानसामग्रीप्रभवता ।

नापि अर्थापत्त्युपमानागमसामग्रीसमुत्थता, प्राक् प्रतिपादिताया अभावप्रमाणसामग्र्याः अर्थापत्त्यादिसामग्रीतोऽन्यथानुपपद्यमानार्थ-उपमानोपमेयगतसादृश्यग्रहण-शब्दादिलक्षणायाः सर्वथा भिन्नत्वात् । तन्न अभावप्रमाणस्य अध्यक्षादिभ्यो भिन्नसामग्रीप्रभवत्वमसिद्धम् ।

नापि भिन्नविषयत्वम्, तथाहि-'इह भूतले घटो नास्ति' इति प्रत्ययः न तावद् भावविषयः, तद्वैलक्षण्येन प्रतिप्राणि संवेद्यमानत्वात् । भावविषयत्वे चास्य घटो विषयः, भूतलम्, तत्संसर्गो वा ? प्रथमपक्षे सति घटे घटसत्ताप्रत्ययवत् अभावप्रत्ययोऽपि स्याद् आलम्बनस्य विद्यमानत्वात् । द्वितीयपक्षे तु सघटेऽपि भूतले अभावप्रत्ययप्रसङ्गः विषयभूतस्य भूतलस्य विद्यमानत्वात् । नापि तत्संसर्गः, घटसंयुक्तेऽपि भूतले 'घटो नास्ति' इति प्रत्ययप्रसङ्गात् । अथ घटविविक्तं भूतलम् अस्य विषयः, ननु तद्विविक्तत्वं किं भूतलस्वरूपमात्रम्, †तद्व्यतिरिक्तं वा ? यदि भूतलस्वरूपमात्रम्,† तर्हि विद्यमानेऽपि घटे तत्प्रत्ययप्रसङ्गः । अथ तद्व्यतिरिक्तम्, तर्हि नाममात्रं भिद्यते नार्थः, विविक्तताशब्देन अभावस्यैव अभिधानात् । अतः सिद्धो भावादर्थान्तरम् अभावप्रमाणस्यैव परिच्छेद्योऽभावः, प्रत्यक्षादीनां भावविषयतया अभावगोचरचारित्वाभावात् ।

(१) 'प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः तु लिङ्गं भविष्यति । न चानवगतं लिङ्गं गृह्यते चेत्समावपि । अभावत्वाद्भावेन गृह्यतामथ हेतुना ॥ स चावगतसम्बन्धो गृहीतं हि लिङ्गता । तद्ग्रहीतौ लिङ्गं स्यादनवस्थता ॥ लिङ्गाभावे तथैव स्यादनवस्थेयमित्यतः । क्वाप्यस्य स्यात्प्रमाणत्वं लिङ्गत्वेन विना ध्रुवम् ॥' -मी० श्लो० पृ० ४८६-८८ । शास्त्रदी० पृ० ३२५ । (२) साध्यसाधनरूपोभयधर्म-आ० टि० । (३) असिद्धम्-आ० टि० । (४) भावप्रत्ययविलक्षणतया । (५) विषयभूतस्य घटस्य । (६) न भूतलम्, सत्यपि घटे प्रसङ्गात् -शास्त्रदी० पृ० ३२५ । (७) घटो नास्तीतिप्रत्ययस्य । (८) 'कोऽयं घटविविक्तः ? यदि भूतलमात्रमेव घटवत्यपि प्रसङ्गः । घटसंयोगाभावश्चेत् अङ्गीकृतस्तर्हि अभावः ।' -शास्त्रदी० पृ० ३२७ । (९) नास्तीतिप्रत्ययः ।

1-हि अनुमा-आ० । 2 चातो आ० । 3 वान-आ० । 4-व्याप्ति-आ०, ब० । 5 विषयभूतस्य ब० । विषयभूतस्य भूतलस्य ब० । †एतन्मध्यगतः पाठो नास्ति आ० । 6 विविक्तशब्देन आ० ।

यदि चाभावः प्रत्यक्षपरिच्छेद्यः स्यात्, कथमिन्द्रियेणाऽसन्निकृष्टः परिच्छिद्येत? यदा हि केनचिद् अपवरकः स्वरूपेण गृहीतः जिज्ञासाऽभावाद् 'देवदत्तोऽत्र नास्ति' इति न निश्चितम्, पश्चाद् दूरदेशमसौ गतः, यदा केनचित्पृष्टः 'किं तत्र देवदत्त आसीन्न वा' इति? प्रतिवचनञ्चासौ तदैव तद्देशमनुस्मृत्य देवदत्ताभावं प्रतिपद्य प्रयच्छति 'नासीत्' इति। नहि तत्र इन्द्रियसन्निकर्षोऽस्ति इति कथं तत्र प्रत्यक्षसम्भवः? ततो न प्रत्यक्षपरिच्छेद्योऽभावः।

नाप्यनुमानादिपरिच्छेद्यः, तदविनाभाविनो लिङ्गादेरसम्भवात्। अनुपलब्ध्यादेश्च तल्लिङ्गादेरनन्तरमेव कृतोत्तरत्वात्। अतः पारिशेष्याद् अभावप्रमाणगोचर एव अभाव इति नासिद्धं भिन्नविषयत्वम्। उक्तञ्च–

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १]

नापि भिन्नफलसाधकत्वम्, अभावाधिगतिलक्षणफलस्य अभावप्रमाणप्रसादादेव प्रसिद्धेः। अतः प्रत्यक्षादिभ्यो विलक्षणस्य प्रतिषेध्याधारग्रहणादिसामग्रीप्रभवस्य नञर्थविषयस्य नञर्थसंवित्तिफलस्य अभावप्रमाणस्य प्रमाणान्तरत्वमभ्युपगन्तव्यम्।

(१) स्वरूपमात्रं दृष्ट्वापि पश्चात्किञ्चित्स्मरन्नपि। तत्रान्यनास्तितां पृष्टस्तदैव प्रतिपद्यते॥ यदा हि कस्मिंश्चित् प्रातःकाले कश्चिद् गृहमध्यासीनस्तत्र व्याघ्रादिकमदृष्ट्वा तदस्मरणाच्च तदभावमप्यगृहीत्वा ग्राममात्रं दृष्ट्वा ग्रामान्तरगतो मध्याह्ने पृच्छ्यते कश्चित्तस्मिन् प्रातःकाले व्याघ्रो गजः सिंहः पार्थिवो वा समागतः? इति। स तदा तु सम्भवगतत्वात्स्मरन्नपि तत्र देशेऽन्यथा व्याघ्रादीनामभावं प्रागतनं तस्य गृह्णाति। न च मध्याह्ने समये प्रातःकालिकस्याभावस्यानिन्द्रियसन्निकृष्टस्य सम्भवति प्रत्यक्षेण ग्रहणम्, तस्यासन्निकृष्टवर्तमानविषयत्वात्। –मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४८३। शास्त्रदी० पृ० ३२९। (२) उत्तरम्। (३) देवदत्ताभावः। (४) नाप्यनुमेयः अज्ञातेन तेन कस्यचिल्लिङ्गस्य सम्बन्धग्रहणासम्भवात्। –शास्त्रदी० पृ० ३४०। (५) 'मेयो यद्वदभावो हि मानमप्येवमिष्यताम्। भावात्मके यथा मेये नाभावस्य प्रमाणता। तथाऽभावप्रमेयेऽपि न भावस्य प्रमाणता॥ अभावो वा प्रमाणेन स्वानुरूपेण मीयते। प्रमेयत्वाद्यथा भावस्तस्माद् भावात्मकात् पृथक्॥ –मी० श्लो० अभाव० श्लो० ४५, ४६ ५५। (६) व्याख्या– आत्रेय (उम्बेक) स्त्वेवं व्याख्यातवान् यत्र घटाख्ये वस्तुनि प्रत्यक्षादि सद्भावग्राहकं नोपजायते तस्य नास्तिता भूप्रदेशाधिकरणाभावप्रमाणस्य प्रमेया –स्या० र० पृ० २७९। 'तत्र सदसद्रूपेणोभयात्मके वस्तुनि व्यवस्थिते यस्मिन् वस्तुरूपे वस्त्वंशे सदाख्ये प्रमाणपञ्चकमर्थापत्तिपर्यन्तं न जायते। किमर्थम्? वस्तुनः सत्तावबोधार्थम्। तत्र अभावांशे प्रमेये अभावस्य प्रमाणता। –तत्त्वसं० पं० पृ० ४७०। उद्धृतोऽयम्–प्रश० व्यो० पृ० ५९२। हेतुबि० टी० प० १९० A। तत्त्वसं० का० १६४८। षड्द० श्लो० ७६। प्रमेयक० पृ० १८९। सन्मति० टी० पृ० ५८०। नन्दि० मलय० पृ० २५। स्या० र० पृ० २७९। 'वस्त्वसत्तावबोधाय –षड्द० श्लो० ५० बृह० पृ० १२० A। प्रमेयर० पृ० १३१। शिवतत्त्वप्र० पृ० १३। चित्सु० पृ० २६८। बृहत्सर्व० पृ० १६५। नन्दि० मलय० पृ० २५। (७) असिद्धमित्यत्रापि योज्यम्–आ० टि०। (८) प्रतिषेध्यो घटः तस्याधारो भूतलादि। (९) प्रतियोगिस्मरणम् प्रतियोग्यनुपलब्धिश्च ग्राह्या।

1 –च हि तद्दे– श्र०। 2 –देव सिद्धे श्र०।

न च अवस्तुविषयत्वादस्यं अप्रामाण्यम्, अभावस्य प्रमाणेन परिच्छिद्यमानतया अवस्तुत्वानुपपत्ते । यत् प्रमाणेन परिच्छिद्यते न तदवस्तु यथा भाव, प्रमाणेन परिच्छिद्यते च अभाव इति । अवस्तुत्वे चास्यं भेदो दुर्घट, यदवस्तु न तस्य भेद यथा खपुष्पादे, अस्ति च प्रागभावादिभेदोऽभावस्य इति । तदवस्तुत्वे च अर्थाना सांकर्यं स्यात्, दध्यादे क्षीराद्यवस्थाया प्रागभावादेरवस्तुतयाऽसाङ्कर्याऽहेतुत्वात्, तथा च प्रतिनियतव्यवहारवार्त्तोच्छेद स्यादिति । तदुक्तम्–

"न च स्याद्व्यवहारोऽय कारणादिविभागत । प्रागभावादिभेदेन नाभावो यदि भिद्यते ॥
यद्वाऽनुवृत्तिर्व्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यो यतस्त्वयम् । तस्माद् गवादिवद्वस्तु प्रमेयत्वाच्च गृह्यताम् ॥
न चावस्तुन एते स्यु भेदा तेनास्य वस्तुता । कार्यादीनामभाव को भावो य कारणादित (ना)॥
वस्तुसङ्करसिद्धिश्च तत्प्रामाण्य समाश्रिता । क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभाव स उच्यते ॥
नास्तिता पयसो दधि प्रध्वसाभावलक्षणम् । गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योन्याभाव उच्यते ॥

(१) अभावस्य । (२) अभावस्य । (३) परस्परात्मत्वम । (४) व्याख्या–'यत् सत् दधिरूप प्रागभूत्वा भवति तदुपादेय कार्यम्, यच्च प्रागवस्थित क्षीररूप पश्चान्न भवति तदुपादानकारणम् सोऽय कार्यकारणविभाग । तथा गौरश्वो न भवति, अश्वो न भवति गौ, विषाणशून्य शश इत्यादि व्यवहारोऽसत्यभावस्य प्रागभावादिरूपभेदे नोपपद्यत इति । –मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४७४। (५) कार्यस्य प्रागभाव कारणम्–आ० टि० । (६) व्याख्या– अस्ति ह्यभावस्य प्रागभावादिरूपेण व्यावृत्तिरभावरूपेण चानुवृत्तिरिति । तत्रैव हेत्वन्तरमाह प्रमेयेति"–मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४७५ । 'अभावो वस्तु इति पक्ष, अनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यत्वात् प्रमेयत्वाच्चेति हेतुद्वयं गवादिवदिति दृष्टान्त ।–तत्त्वसं० प० पृ० ४७३ । (७) अभाव इति–आ० टि० । (८) प्रागभावादि–आ० टि० । (९) व्याख्या–"न ह्यवस्तुनो भेदो युक्त वस्त्वधिष्ठानत्वात्तस्य तस्मादभावो वस्तु । कीदृश पुनरस्य वस्तुत्वमित्याह–कार्यादीनामिति । क्षीरादे कारणस्य यो भाव स एव दध्यादे कार्यस्याभाव, कार्यस्य दध्यादेर्यो भाव स एव क्षीरादे कारणस्याभाव इत्येतदभाववस्तुत्वम् ।'–तत्त्वसं० पं० पृ० ४७३। (१०) भेदवत्त्वेन । (११) 'को योऽभाव कारणादिन –मी० श्लो० । 'न यो भाव कारणादिना –तत्त्वसं० । को भावो य कारणादि न –सन्मति० टी० । को भावो य कारणादिन '–स्या० र० । 'को भावो य कारणादिना' –षड्द० बृह० । (१२) व्याख्या–"प्रत्यक्षादिभि सद्रूपेण प्रमीयमाणमपि घटादिकमसद्रूपेण अभावस्य प्रमेयम्, अभावरोऽसद्रूपमभाव इति यावत् ।'–मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४७३ । (१३) 'तत्प्रामाण्यसमाश्रया' –मी० श्लो० । (१४) व्याख्या–"क्षीरमृदादौ कारणे दधिघटादिलक्षण कार्य नास्तीत्येव यत्प्रतीयते लोके स प्रागभाव उच्यते । यदि तु प्रागभावो न भवेत् क्षीरादौ दध्यादि कार्य भवेदेव । एव दध्नि क्षीरादेर्यस्य यन्नास्तित्वमेव प्रध्वसाभाव, अन्यथा दध्नि क्षीर भवेदेव । गवादौ अश्वादेरभावोऽन्योन्याभाव उच्यते । यस्मात्तस्य गवादे पररूपमश्वादिस्वभावो नास्ति तस्मात्तयोरन्योन्याभाव उच्यते । अन्यथा गवादौ भवेदश्वादि यद्यन्योन्याभावो न भवेत् । शशशिरसोऽवयवा निम्ना (अनुन्नता) वृद्धिकाठिन्याभ्या रहिता विषाणादिरूपेण अत्यन्तमसन्त अत्यन्ताभाव उच्यते । यदि ह्यत्यन्ताभावो न भवेत् शशे शृङ्ग भवेदेव ।'–तत्त्वसं० पं० पृ० ४७२ । उद्धृतोऽयम्–न्यायम० पृ० ६५ । हेतुबि० टी० पृ० ८१ B ।

1–वस्तुतसमासाकार्यहेतुत्वात् ब० । 2 उक्तञ्च श्र० ।

शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिता । शशशृङ्गादिरूपेण सोऽस्य नाभाव उच्यते ॥
क्षीरे दधि भवेदेवं दध्नि क्षीरं घटे पटः । शशे शृङ्गं पृथिव्यादौ चैतन्यं मूर्तिरात्मनि ॥
अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ वायौ रूपेण तौ सह । व्योम्नि संस्पर्शि(र्शि)ता ते च न चेदस्य प्रमाणता ।"
[मी० श्लो० अभाव० श्लो० ७, ८, २-६ ।] इति ।

तत्प्रतिविधानपुरस्सरम् अभावस्य प्रत्यक्षाद्यन्तर्भावत्वसमर्थनम्—

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्–'अभावप्रमाणं प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नम्' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, तद्विषयस्य प्रत्यक्षादिभिः परिच्छिद्यमानतया तेभ्यस्ततो भेदानुपपत्तेः । द्विविधो हि अभावः–विप्रकृष्टार्थसम्बन्धी, अविप्रकृष्टार्थसम्बन्धी चेति । तत्र यो देशाद्यविप्रकृष्टार्थसम्बन्ध्यभावः स प्रत्यक्षत एव परिच्छिद्यते, इन्द्रियव्यापारादनन्तरम् 'अघटं भूतलम्' इत्यादिप्रत्ययप्रतीतेः । अप्रत्यक्षत्वञ्च अभावस्य इन्द्रियेणाऽसम्बद्धत्वात्, अरूपित्वात्, असद्रूपत्वाद्वा[1] ? न तावदसम्बद्धत्वात्, रूपस्याप्यप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, अप्राप्यकारिणा हि

(१) उन्नता अथ च वृद्धिमन्तः कठिना अवयवा विषाणवत् स्यादित्यर्थः यदा च तथाविधः सोऽवयवो निम्नोऽनुन्नतः अथ च वृद्धिकाठिन्यविरहितः तदा स एव शृङ्गाभावस्तस्य ख्यातो नाहम् । (२) रसगन्धौ । (३) संस्पर्शिता भाव संस्पर्शिता स्पर्शो न स्यात् । संस्पर्शवाक्ये च–तत्त्वसं०, स्या० र० । 'संस्पर्शतां च' –सन्मति० टी० । (४) न्यायकुमुदचन्द्रे–आ० टि० । (५) अभावस्य । (६) तदन्यथादपि अन्यथा निर्णयः उद्धृता–तत्त्वसं०, तत्त्वसं० पं० पृ० ४७१–४७२ । प्रमेयक० पृ० १९० । सन्मति० टी० पृ० ५८०–८१ । ब्रह्म० बृह० पृ० १२० ।। । 'न च स्याद्व्यवहारोऽयं कारणादिविभागतः' विना सम्बन्धात् –स्या० र० पृ० २८१–८३ । (७) पृ० ४६३ पं० ८ । अभावोऽप्यनुमानमेव यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम् एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम् । –प्रश० भा० पृ० ५७७ । (८) तुलना– प्रत्यक्षादिनाभावस्य ग्रहणम् तथा चाक्षव्यापारादिह भूतले घटो नास्तीति ज्ञानमपरोक्षमुत्पद्यमानं दृष्टम् –प्रश० व्यो० पृ० ५९२ । प्रश० कन्द० पृ० २२५ । नार्थापत्तिर्यामर्थान्तरभावाद् अनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः । –न्यायसू० २।२।२ । अभावोऽप्यनुमानमेव –न्यायवा० पृ० २७६ । न यमभावं प्रमेयमभ्युपगच्छन् प्रत्यक्षाद्यवसीयमानस्वरूपं तस्य प्रमाणान्तरमात्मपरिच्छित्तये मृगयते । अदृश्यमानोऽन्यत्वविनिर्मुक्तः कथं तथा । परिच्छेदप्रकारस्य क्वचिन्मानान्तरैरपि ॥ –न्यायम० पृ० ५१ । अयमस्य घटादिविविक्तस्य भूतलस्यावलम्ब्य घटानुपलब्धिरिति प्रत्यक्षसिद्धानुपलब्धिः । तदुक्तं भवति–घटग्राहकत्वस्य भूतलग्राहकत्वस्य चैकज्ञानसंसर्गित्वात् यदा भूतलग्राहकमेव तज्ज्ञानं भवति तदा घटग्राहकत्वाभावं निश्चाययतीति प्रतीतिप्रत्यक्षसिद्धैव घटानुपलब्धिः । –प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ११६ । यदि वस्तु प्रमाभावः प्रमेयाभावस्तथैव च । प्रत्यक्षत्वगताभावं तथा सति कथञ्चन ते ॥ –तत्त्वसं० पं० ४७५ । भावान्तरविनिर्मुक्तस्यापि प्रत्यक्ष एव –सिद्धिवि० टी० पृ० १७९ A । एवमभावप्रमाणवैयर्थ्यम् अभावस्यापि प्रत्यक्षादिसमधिगम्यत्वसिद्धेः । –तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२ । अभावप्रमाणं तु प्रत्यक्षान्तर्भावान्तर्भवति –स्या० र० पृ० ३१० । न्यायाव० टी० टि० पृ० २१ । (९) अभावस्य–आ० टि० । (१०) प्रत्यक्षस्य–आ० टि० । (११) न चाभावस्यासत्त्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणैरवसीयमानत्वात् तथाहि–इह भूतले घटो नास्तीति ज्ञानमिन्द्रियभावव्यतिरेकानुविधानादिन्द्रियजम् । –प्रश० व्यो० पृ० ४०० ।

1–तावदेव न ब० । 2–रूपत्वप्र–ब० । 3 विप्रकृष्टोऽर्थसम्बन्धी चेति ब० । 4–सम्बन्धाभाव आ० । 5–सम्बन्धत्वात् आ० ।

चक्षुषा यथा रूपस्य असम्बद्धस्य ग्रहणं तथा अभावस्यापि। ननु चासम्बद्धस्याप्यभावस्य चक्षुषा ग्रहणे देशान्तरवर्तिनोऽपि ग्रहणप्रसङ्ग अविशेषात्, इत्यपि रूपेण कृतोत्तरम्। नहि तस्य असम्बद्धस्य ग्रहणेऽपि सकलदेशकालवर्तिनो ग्रहणं दृष्टम्। अथ रूपे चक्षुषः संयुक्तसमवायसम्बन्धसद्भावादसम्बद्धत्वमसिद्धम्, तन्न, चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वस्य प्रागेव प्रतिपादनात्। तत्सम्बन्धात् तस्य तद्ग्रहणे च रसादेरपि ग्रहणप्रसक्तिः तदविशेषात्। अयोग्यत्वात्तदग्रहणे देशान्तरादिस्थस्य अभावस्याप्ययोग्यत्वादग्रहणमस्तु अविशेषात्।

किञ्च, आश्रयग्रहणसापेक्षम् अभावग्रहणम्, आश्रयश्च सन्निहित एव गृह्यते, तत्कथं देशान्तरादिस्थस्य अभावस्य ग्रहणसम्भावनाऽपि? तत्रेन्द्रियेणासम्बद्धत्वात्तस्य अप्रत्यक्षता युक्ता।

नाप्यरूपित्वात्, तस्य प्रत्यक्षता प्रत्यनङ्गत्वात्, नहि रूपित्वं प्रत्यक्षता प्रत्यङ्गम्, परमाणूनां रूपित्वेऽपि अप्रत्यक्षत्वात्। गुण-कर्म-सामान्येन अनेकान्ताच्च, न खलु रूपादिगुणस्य गमनादिकर्मणः गोत्वादिसामान्यस्य च रूपित्वमस्ति, अथ च प्रत्यक्षत्वं तत्र विद्यते।

असद्रूपत्वमपि न प्रत्यक्षतां प्रतिहन्ति, असद्रूपस्य हि सद्रूपतया प्रत्यक्षत्वमनुपपन्नं न पुनरसद्रूपतया, स्वस्वभावेन अर्थानां प्रत्यक्षत्वाऽविरोधात्। नहि पटस्य घटात्मना प्रत्यक्षत्वविरोधे स्वात्मनापि तद्विरोधो युक्तः, सर्वत्र प्रत्यक्षव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्। ततस्तैमिरिकवत् भाववद् अभावस्यापि स्वस्वभावेन प्रत्यक्षत्वमभ्युपगन्तव्यम्। ननु तथापि अभावस्य कथं प्रत्यक्षता निर्णीतेति चेत्? भावस्य कथम्? प्रत्यक्षभावत्वाच्चेत्, इतरत्र समानम्। तथाहि–उन्मीलिते चक्षुषि भूतले घटाभावः प्रतिभासते, न निमीलिते। अतः समाने तद्भावभावित्वे कथं भूतलज्ञानमेव प्रत्यक्षं न तदभावज्ञानमिति नियमविभागो युक्तः? प्रयोगः–यच्चक्षुर्भावाऽभावानुविधायि तत् प्रत्यक्षम् यथा भूतलादिज्ञानम्, तदनुविधायि च घटाद्यभावज्ञानमिति। अन्यथा चास्य आलोकापेक्षापि अतिदुर्घटा, आलोको हि चक्षुष एव उपकारकः प्रसिद्धः। तच्चक्षुःप्रभवत्वानभ्युपगमे च घटाद्यभावज्ञानस्य, अन्धस्यापि तदुत्पत्तिः स्यात्।

(१) अभावस्य। (२) असम्बद्धत्वस्य समानत्वात्। (३) पृ० ८३। (४) संयुक्तसमवायसम्बन्धात्। (५) रूपस्य–आ० टि०। (६) इन्द्रियेण–आ० टि०। (७) संयुक्तसमवाया विशेषात् 'चक्षुःसंयुक्तमाम्रफलं' तत्र च रसस्य समवायात्। (८) रसादेः। (९) अयोग्य त्वादेव। (१०) तुलना–"असम्बद्धत्वाविशेषाद्देशान्तरगतस्यापि ... दुर्निवारम्, आश्रय ग्रहणसापेक्षत्वादभावग्रहणस्य, आश्रयस्य च सन्निहितस्यैव ग्रहणात्।"–न्यायमं० पृ० ५२। (११) आश्रयो भूतलादि। (१२) अभावस्य। (१३) इन्द्रियस्य। (१४) प्रत्यक्षत्वाविरोधात्। (१५) प्रत्यक्षव्यवहारस्य। (१६) ... (१७) अभावेऽपि। (१८) चक्षुः–आ० टि०। (१९) ... ।(२०) आलोकस्य।

1 तस्य तत्र प–श्र०। 2 ... श्र०। 3 ... ब०। 4 ... ब०।

ननु घटाद्यभावज्ञाने लोचनान्वयव्यतिरेकानुविधानम् अन्यथासिद्धम् रूपज्ञानानन्तरभाविस्पर्शसंवेदनवत्, यथैव हि दूरदेशस्थितज्वलज्ज्वलनज्वालारूपोपलम्भानन्तरभाविनि तद्गतोष्णस्पर्शसंवेदने लोचनान्वयव्यतिरेकानुविधानम् अन्यथासिद्धं तथा भूतलोपलम्भानन्तरभाविनि घटाद्यभावज्ञानेऽपि, इत्यप्यसाम्प्रतम्, 'इह भूतले घटो नास्ति' इति ज्ञानस्य भेदाऽसिद्धेः। सिद्धे हि ज्ञानभेदे तदन्वयव्यतिरेकानुविधानस्य अन्यथासिद्धत्वं वक्तुं युक्तम् रूपस्पर्शज्ञानवत्। न चात्र तद्भेदोऽस्ति, 'इह कुण्डे दधि' इत्यादिज्ञानवत् 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्यादिज्ञानस्यापि एकस्य उभयाकारावलम्बिन अनुपरतनयनव्यापारे प्रतिपत्तरि प्रतीतेः। अस्तु वा तद्भेदः, तथापि इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन उभयस्योपलम्भाऽविशेषे कथमेकस्य प्रत्यक्षत्वमन्यस्याऽप्रत्यक्षत्वं वक्तुं युक्तं स्वेच्छाकारित्वप्रसङ्गात् ?

प्रतियोगिस्मरणानन्तरभावित्वात् घटाद्यभावप्रतीतेरप्रत्यक्षत्वे सविकल्पकप्रत्यक्षाय दत्तो जलाञ्जलिः। तद्धि निर्विकल्पकप्रत्यक्षानन्तरं शब्दार्थसम्बन्धस्मरणे सति 'घटोऽयम्' इत्याद्याकारमुपजायते। तथाविधस्याप्यस्य इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायितया प्रत्यक्षत्वे घटाद्यभावप्रत्ययस्यापि तदस्तु अविशेषात्। न चैवं रूपोपलम्भानन्तरभाविस्पर्शसंवेदनेऽपि चाक्षुषत्वप्रसङ्गः इत्यभिधातव्यम्, स्पर्शग्रहणयोग्यताशून्यत्वाच्चक्षुषः स्पर्शनस्यैव तद्ग्रहणयोग्यतासद्भावात्, अन्यथा उपहतत्वगिन्द्रियस्यापि

(१) अनुमया –आ० टि०। "अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववृत्तिन एव कार्यसम्भवे तत्सहभूतमन्यथासिद्धम्" –मुक्ता० का० १९–२०। तुलना– न च दूरव्यवस्थितज्वलदनलस्पर्शनपूर्वकस्पर्शानुमानवदिदमन्यथासिद्धं तद्भावभावित्वम्, तत्र हि बहुशः स्पर्शज्ञानकौशलशून्यत्वमवधारितं चक्षुषः स्पर्शपरिच्छित्तौ च कारणान्तरं त्वगिन्द्रियमवगतम्। अविनाभाविता च पुरा तथाविधयो रूपस्पर्शयोरुपलब्धेत्यनुमेय एवासौ स्पर्श इति युक्तं तत्रान्यथासिद्धत्वं चक्षुर्व्यापारस्य, प्रकृते तु नैवंप्रकारं समस्ति। –न्यायमं० पृ० ५१। 'यत्तु भूप्रदेशग्रहणजन्मन एव अक्षाणामुपयोगित्वात्तदक्षान्वयव्यतिरेकित्वमन्यथासिद्धमभावज्ञानस्येत्युक्तम्, तदनुपपन्नम्; न खलु ज्ञानद्वयं क्रमेणोत्पद्यमानमिदमनुभूयते प्रथममिन्द्रियेण भूप्रदेशज्ञानं ततः प्रतियोगिस्मरणे सति मानसमनिन्द्रियानपेक्षं नास्तिताज्ञानं च। एकस्यैव कुम्भादिविविक्तभूप्रदेशग्राहिणो ज्ञानस्याभावग्राहित्वेनाप्यनुभूयमानत्वात् तस्य चेन्द्रियजत्वेन त्वयापि प्रतिपन्नत्वात्तदन्यथासिद्धमनपेक्षित्वमभावज्ञानस्य। –स्या० र० पृ० ३१०। (२) इन्द्रिय। (३) इह भूतले घटो नास्तीत्यत्र। तुलना– तथा चेह घटो नास्तीति ज्ञानमेकमेवेदमिह कुण्डे दधीति ज्ञानवद् उभयावलम्बनमनुपरतनयनव्यापारस्य भवति, तत्र भूप्रदेशमात्र एव नयनजं ज्ञानमितरत्र प्रमाणान्तरजमिति कुतस्त्योऽयं विभागः। –न्यायमं० पृ० ५१। (४) भूतलघटाभावौ उभयम्। (५) ज्ञानभेद। (६) भूतलघटाभावौ उभयम्। (७) भूतलस्य। (८) घटाभावस्य। (९) घटस्मरण। (१०) दत्तो विवादमभिमताय–आ० टि०। (११) सविकल्पकम्–आ० टि०। (१२) स्मरणानन्तरभाविनोऽपि सविकल्पकस्य। (१३) प्रत्यक्षत्वम्। (१४) इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानस्य समानत्वात्। (१५) स्पर्शग्रहण। (१६) चक्षुषा स्पर्शग्रहणे सति–आ० टि०। (१७) बधिरत्वरोगवत्त्वगिन्द्रियस्यापि–आ० टि०। पक्षाघातादिना शून्यस्पर्शनेन्द्रियस्य पुंसः।

1 –न्वयव्यतिरेका– ब०। 2 तथा श्र०। 3 ज्ञानस्यास्य भे– श्र०। 4 ज्ञानस्य भे– श्र०। 5 प्रतिपत्तरि प्र– आ०, श्र०। 6 –प्रत्यक्षम्यापि ब०।

स्पर्शमितिरिति स्यात्। तस्मादानुमानिकमेव इदं विज्ञानं 'यद्[1] रूपवत् तत् स्पर्शवत्, यदि वा, यदेवंविधरूपवत् तदेवंविधस्पर्शवत्'[3] इति सामान्यतो विशेषतश्च[4] प्रतिपन्नाऽविनाभावहेतुसामर्थ्येन उत्पत्तेः, यदित्थमुत्पद्यते तदनुमानमेव यथा 'यद् धूमवत् तदग्निमत्, यद्वा यदेवंविधधूमवत् तदेवंविधाग्निमत्' इत्याद्यवगताविनाभावहेतुप्रभवं विज्ञानम्, प्रतिपन्नाविनाभावहेतुसामर्थ्येनोत्पद्यते च रूपोपलम्भानन्तरभाविस्पर्शविज्ञानमिति। ननु स्थितमेतत्–देशाद्यविप्रकृष्टार्थसम्बन्ध्यभावः प्रत्यक्षत एव परिच्छिद्यत इति।

यस्तु[5] देशादिविप्रकृष्टार्थसम्बन्ध्यभावः सोऽनुमानादेः, तत्र देशविप्रकृष्टस्य कमलाकरकमलादेः सम्बन्धी विकासाद्यभावः दिनकरोदयाद्यभावादवसीयते। कालविप्रकृष्टस्य च शकटादेः[6] मुहूर्तान्ते[1] उदयाभावः अश्विन्युदयात् प्रतीयते। स्वभावविप्रकृष्टस्य[2] च चैतन्यस्य शवशरीरे सत्त्वाभावः व्यापारव्याहाराकारविशेषाभावादनुमीयते। न खलु एवंविधाभावः एवंविधलिङ्गादन्यतः कुतश्चित् प्रतिपत्तुं शक्यः।

एतेन यदुक्तम्[7]–'यद्यभावः प्रत्यक्षपरिच्छेद्यः स्यात् कथमपवरकादौ इन्द्रियेणाऽसन्निकृष्टो देवदत्ताद्यभावः परिच्छिद्येत'[3] इत्यादि, तदपि प्रतिव्यूढम्; 'नासीदपवरके देवदत्तः' इत्यादिप्रतीतेः स्मृतित्वात्[8] 'आसीत् तत्र घटः' इत्यादिप्रतीतिवत्। अपवरकग्राहिणा[4] हि प्रत्यक्षेण तत्राऽसन्निहितार्थानामभावा युगपत्प्रतिपन्ना[5] तत्र सन्निहितार्थसद्भाववत्। तदुत्तरकालञ्च संस्कारप्रबोधवशात् तद्भावाभावविषया प्रतीतिः उदयमासादयन्ती स्मृतित्वं न जहातीति। न चैतद् वक्तव्यम्–'सकृदनुभूतेषु सकलपदार्थाभावेषु

(१) रूपदर्शनानन्तरभावि स्पर्शज्ञानम् अनुमानात्मकम् सामान्यतो विशेषतश्च प्रतिपन्नाविनाभावहेतुसामर्थ्येनोत्पद्यमानत्वात्। (२) इयं सामान्येन व्याप्तिः। (३) एषा विशेषतो व्याप्तिः। (४) सामान्यतो विशेषतश्च। (५) तुलना– "क्वचित्पुनरसन्निकृष्टदेशावृत्तिरनुमेयोऽपि भवत्यभावः यथा सन्ततसलिलधाराविसरसिक्तसस्यमूलमभिवर्षति देवे घनपवनसंयोगाभावोऽनुमीयते, यथा चार्थापत्त्या नुमाहृतगृहभावेन चैत्रस्य बहिर्भावकल्पनमिति। आगमादप्यभावस्य क्वचिद् भवति निश्चयः। चौरादिनास्तितानात्मकवनानामिवाप्ततः॥"–न्यायमं० पृ० ५४। (६) रोहिण्यादिनक्षत्रस्य। (७) पृ० ४६६ पं० १। (८) तुलना– अस्य स्मरणत्वात्। यद्यपि पूर्वं हस्ती नास्तीत्यादि सविकल्पकं ज्ञानं नोत्पन्नं तथापि हस्त्याद्यभावविशिष्टे देवकुले निर्विकल्पकं ज्ञानमुत्पन्नम्। अन्यथा हि यन्नाहं देवकुलमद्राक्षं न तत्र तं समीपवर्तिनं हस्तिनमिति प्रश्नानन्तरं स्मरणं न स्यात्। तत्तु दृष्टम्। यस्य वस्तुनः पूर्वं नाभावः परिच्छिन्नस्तत्र परप्रश्नानन्तरं मतिर्न 'न निरीक्षितं मया किं तत्र देवदत्तोऽस्त्युत हस्ती' इति। न यदानीमभावः निश्चिनोति अतः पूर्वमेव हस्त्याद्यभावस्य प्रतीतियुक्तमेतत् स्मरणं 'न मया तत्र हस्ती दृष्टः' इत्यादि। –प्रश० व्यो० पृ० ५९३। न्यायमं० पृ० ५३। प्रश० कन्द० पृ० २२७। (९) देवदत्तादीनाम्। (१०) अपवरके। (११) येषामर्थानां सद्भावः तथा सम्भावनया येषाञ्च देवदत्तादीनामभावस्तेषामभावरूपेण। (१२) तुलना– ननु सैव बुद्धिः सत्त्वाभावग्रहणं सहसैव सकलाभावस्मृतिरिति–

1 मुहूर्तान्ते ब०। 2–स्य च–ब०। 3 परिच्छिद्यते ब०, परिच्छेद्यते आ०। 4–हिणा प्र आ०, ब०। 5–नामभावो युगपत्प्रतिपन्ने तत्र ब०।

सहसैव स्मृतिः स्यात्' इति, अनुभूतत्वमात्रस्य स्मृत्यकारणत्वात्, अनुभूतेष्वपि हि भावाभावस्वभावेषु निखिलार्थेषु यस्य यस्य संस्कारोद्बोधनिमित्ता प्रश्नादिसामग्री सम्पद्यते तस्य तस्य रूपस्य स्मृतिः प्रादुर्भवति 'इदं तत्रासीत्, इदं नासीत्' इति ।

यदपि–'अभावप्रमाणोत्पत्तौ भूतलाद्याश्रयग्रहणरूपा सामग्री' इत्याद्युक्तम्, तदप्यसारम्, आश्रयग्रहणस्य प्रत्यक्षेऽप्यविशिष्टत्वात् । न खलु 'भूतले घटोऽस्ति' इति प्रत्यक्षं भूतलग्रहणादृते घटे । न चाश्रयग्रहणपूर्वकमेव अभावग्रहणमिति नियमोऽस्ति, अन्धकारे प्रदीपाभावप्रतिपत्तेराश्रयाऽग्रहणेऽप्युत्पत्तेः । न चान्धकार एव आश्रय इत्यभिधातव्यम्, प्रकाशाभावमात्रतया भवता तस्य इष्टेः, स एव च प्रदीपाभाव इति नाश्रयस्य तद्व्यतिरिक्तस्य कस्यचित्तत्र ग्रहणम् । तथा 'गन्धो नास्ति' इत्यपि प्रतीतिः आश्रयग्रहणनिरपेक्षैवोत्पद्यते, निमीलिताक्षस्यापि हि घ्राणेन्द्रियव्यापारादनन्तरं गन्धाभावप्रतीतिः उत्पद्यते । न च तत्र घ्राणेन्द्रियेण आश्रयस्य द्रव्यस्य ग्रहणं सम्भवति, दर्शन-स्पर्शनाभ्यामेव द्रव्यस्य ग्रहणसम्भवात् । तथा 'नास्ति शब्दः' इति श्रोत्रव्यापारादेव आश्रयग्रहणनिरपेक्षादुत्पद्यते अभावप्रतीतिः । न हि श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दस्य आश्रयो ग्रहीतुं शक्यः, तस्य अत्यन्तपरोक्षस्य अनुमानेनैवावसायात् । तन्नाश्रयग्रहणमभावप्रमाणसामग्र्यामनुप्रविशति ।

अनुप्रविशतु वा, तथापि आश्रयस्य ग्रहणं किं निषेध्याभावसहितस्य, केवलस्य वा ? प्रतियोगिनोऽपि स्मरणम्–किम् अभावाश्रयतया, तद्विपरीतस्य वा ? तत्र अभावविशेषितयोः आश्रयप्रतियोगिनोः ग्रहणस्मरणपथप्राप्तयोः तत्कारणत्वाभ्युपगमे 'अभावज्ञानादेव अभावज्ञानम्' इत्युक्तं स्यात् । न च सर्वात्मनाश्रयस्य कस्यचित् सिद्धियुक्ता अतिप्रसङ्गात् । चक्रकप्रसङ्गश्च–अभावप्रमाणोत्पत्तौ हि प्रतियोग्यभावप्रतिपत्तिः, तत्प्रतिपत्तौ च तद्विशेषितयोः आश्रयप्रतियोगिनोः प्रतिपत्तिः, तस्याञ्च सत्याम् अभाव-

ज्ञानम् नैवम्, यस्य यस्य प्रश्नादि स्मरणकारणमस्य भवति तत्तत्स्मरति न सर्वम् अविद्यमानस्मरणनिमित्तम् । अन्यत्र तु युगपदनुभूतेष्वपि वर्णेषु युगपदन्त्यवर्णानुभवसमनन्तरं स्मरणम् । अन्यत्र तु युगपदुपलब्धेष्वपि क्रमेण स्मरणं भविष्यतीति न सर्ववृद्धावस्य लोपः । –न्यायमं० पृ० ५३ ।

(१) पृ० ४६४ पं० २ (२) व्यापारेण (३) अन्धकारस्य । द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद्भावस्तमः । –वैशे० सू० ५।२।१९ । (४) प्रकाशाभाव एव । (५) प्रदीपाभावभिन्नस्य । (६) प्रकाशाभावप्रतीतौ । (७) आकाशम् । (८) तुलना– तत्र निषेध्याधारो वस्त्वन्तरं प्रतियोगिसंसृष्टं वा प्रतीयते असंसृष्टं वा ? प्रतियोगिनोऽपि स्मरणं वस्त्वन्तरसंसृष्टस्य असंसृष्टस्य वा ? –प्रमेयक० पृ० २०३ । सन्मति० टी० पृ० २४ । अनन्तवा० वृ० पृ० ९३ । स्या० र० पृ० ३११ । (९) भूतलस्य (१०) घटाभावमात्रस्य । (११) घटस्य । (१२) भूतलघटयोः (१३) अभावप्रतीतिहेतुत्वे । (१४) स्वस्य स्वाश्रयाप्रतीतौ स्वाश्रयत्वम् । (१५) सर्वस्य अनिमित्तसिद्धिप्रसङ्गात् । तथा च सर्वं सर्वस्य सिद्ध्येत् (१६) अभावविशिष्टयोः ।

1–ग्रहणत्वात्सा श्र० । 2–त्युपपत्ते आ० । 3–पि घ्रा–आ०, श्र० । 4–त्त भवति श्र० । 5–त्तौ तद्वि–आ० ब० ।

प्रमाणोत्पत्तिरिति। अभावनिरपेक्षतया च आश्रये प्रतियोगिनि च गृह्यमाणे यद्यभाव-प्रतीतिः स्यात् तर्हि सघटेऽपि भूतले 'घटो नास्ति' इति प्रतीतिः स्याद् विशेषाभावात्। ततो यथोक्तसामग्र्या विचार्यमाणाया अनुपपत्तेः चक्षुरादिसामग्रीत एव अभावप्रमाणस्य उत्पत्तिः स्वपरात्मना सदसद्रूपघटाद्यर्थविषयता चाभ्युपगन्तव्या। ननु परात्मना घटादेर-सत्त्वं प्रतीयमानं न स्वात्मतया प्रतिपन्नं स्यात्, यच्च स्वात्मतया न प्रतीयते कथं तत्तस्य रूपम् अतिप्रसङ्गात्? इत्यप्यसुन्दरम्, यतः परात्मनाऽपि प्रतीयमानमसत्त्वं घटादेरेव प्रतीयते न तु परस्य, 'घटो हि पटो न भवति' इत्येवं नञर्थः प्रतीयते, न तु 'पटः पटो न भवति' इत्येवम्। अतः परात्मना प्रतीयमानोऽपि नञर्थः घटादेरेव प्रतीयते इति तस्यैव तद्रूपेण असत्त्वमिति व्यपदिश्यते।

यच्चान्यदुक्तम्–'घटविविक्तस्य किं भूतलस्वरूपमात्रम्, तद्व्यतिरिक्तं वा' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्, यतः तद्विविक्तत्वं तद्धर्मतया तेन कथञ्चिद् व्यतिरिक्तं पृच्छ्यते, पदार्था-न्तरतया वा? तत्र तद्धर्मतयैव तत् कथञ्चिद्भिन्नमुपपन्नं न पुनः पदार्थान्तरतया। स्वहेतुतो हि भावाः परस्पराऽसङ्कीर्णस्वभावविशिष्टाः समुत्पन्नाः, तद्विपरीता वा? प्रथम-विकल्पे सिद्धमेषां स्वकारणकलापादेव अन्याऽसंसृष्टस्वभावत्वम्, अतो वैयर्थ्यमर्थ-र्थान्तरभूताभावपरिकल्पनायाः। यत् स्वरूपतो विविक्तस्वभावं न तत्र अर्थान्तर-भूताऽभावपरिकल्पना फलवती यथा प्रागभावादौ, स्वरूपतो विविक्तस्वभावाश्च भावाः स्वहेतुतः समुत्पन्ना इति। द्वितीयविकल्पस्त्वनुपपन्नः; स्वरूपतोऽविविक्तानामर्थानां व्यतिरिक्ताभावेन वैविक्त्यार्थं कर्तुमशक्यत्वात्। यत् स्वभावतोऽविविक्तस्वरूपम् न तत्र अर्थान्तरभूताभावेन विवेकः कर्तुं शक्यः यथा एकव्यक्तौ, स्वभावतोऽविविक्त-स्वरूपाश्च परमते पदार्था इति।

---

(१) घटस्यैव। (२) पटरूपेण (३) पृ० ४६५ पं० २०। (४) घटधर्मतया। (५) घटात्। (६) द्विविधा हि विविक्तता–धर्मधर्मिरूपेण कथञ्चिद्विविक्तता यथा ज्ञानात्मनोः पदार्थान्तररूपेण यथा घटपटयोः। (७) तुलना–'सर्वे हि भावाः स्वस्वरूपव्यवस्थितयो नात्मानं परेण मिश्रयन्ति तस्यापरत्वप्रसङ्गात्' –प्रमाणवा० स्ववृ० १।४२। नाप्यथा परस्पराभिन्नानामभावेन भेदः शक्यते कर्तुम्, तस्य भिन्नाभिन्नभेदकरणाकिञ्चित्करत्वात्। न चाभिन्नानामन्याभावः सम्भवति। नापि परस्परभिन्नानामभावेन भेदः क्रियते स्वहेतुभ्य एव भिन्नानामुत्पत्तेः। नापि भेदव्यवहारः क्रियते यतो भावानामात्मात्मीयरूपेणोत्पत्तिरेव स्वतो भेदः स च प्रत्यक्षप्रतिभासनादेव भेदव्यवहारहेतुः। –प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।६। 'यतः स्वकारणकलापात् स्वस्वभावव्यवस्थितयो भावाः समुत्पन्नाः नात्मानं परेण मिश्रयन्ति तस्यापरत्वप्रसङ्गात्-' –प्रमेयक० पृ० २०८। सन्मति० टी० पृ० ५८८। स्या० र० पृ० ५८१। (८) अन्यापर्यामिलितस्वरूपा भिन्ना इत्यर्थः। (९) भिन्नस्वभावत्वम्। (१०) प्रागभावः नास्ति प्रध्वंसादिरित्यत्र। (११) भिन्नतायाः।

---

1 इति स्या–ब०। 2–माने स्या–ब०। 3 न तु पटो न ब०। 4–त्येवमित्येव स्य–ब०। 5–स्वभावाश्च ब० ... तत्तस्य ब०। 7–सो विवि–ब०।

किञ्च, अभावेन विना भावानां विवेकोऽसम्भवे कथमभावानामन्योन्यं भावान्तराच्च विवेकः स्यात् ? तत्रापि तद्धेतोरभावान्तरस्याऽभ्युपगमे अनवस्थाप्रसङ्गः । अथ अभावान्तरमन्तरेणापि अस्य विलक्षणस्वभावत्वादेव अन्यतो विवेकः, तर्हि वैयर्थ्यम् अर्थान्तराभावपरिकल्पनायाः, घटादेरपि विलक्षणस्वभावतयैव अन्यतो व्यावृत्तिप्रसिद्धेः । तथाहि–घटादेः अन्यतो व्यावृत्तिः विलक्षणस्वभावनिबन्धनैव, अन्यतो व्यावृत्तित्वात्, या अन्यतो व्यावृत्तिः सा विलक्षणस्वभावनिबन्धनैव यथा अभावस्य, अन्यतो व्यावृत्तिश्च घटादेरिति ।

किञ्च, आश्रयभेदेन इतरेतराभावः तावन्न भिद्यते सर्वत्रैव अस्य एकत्वेनाऽभ्युपगमात् । ततश्च घटस्य इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिर्नोऽभावनिबन्धना । सैव हि इतरेतराभावः, अभावान्तरं वा निबन्धनं स्यात् ? इतरेतराभावश्चेत्, किं स एव, अन्यो वा ? न तावत् स एव, अतो घटादेर्व्यावर्त्तमानत्वात् । यतो यतो व्यावर्त्तते न तस्मादेव तस्य व्यावृत्तिः यथा पटाद् व्यावर्त्तमानस्य घटस्य न पटादेव व्यावृत्तिः, व्यावर्त्तते च इतरेतराभावाद् घट इति । इतरेतराभावान्तराभ्युपगमे च अस्य एकत्वक्षतिः अनवस्था च स्यात् । अथ अभावान्तरमस्य ततो[23] व्यावृत्तेर्निबन्धनम्, तन्न, इतरेतरव्यावृत्तेः अभावान्तरनिबन्धनत्वानुपपत्तेः, उपपत्तौ वा अभावचतुष्टयकल्पनाऽनर्थक्यम्, एकस्मादेव अभावात् 'इदमेतत् प्राङ् नासीत्, इतरद् इतरत्र नास्ति' इत्यादिप्रतीतेरुपपत्तेः । अथ घटस्य इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिरेव नेष्यते तत्कथमयं दोषः ?

(१) तुलना– किञ्च भावाभावयोर्भेदो नाभावनिबन्धनोऽनवस्थाप्रसङ्गात् । अथ स्वरूपेण भेदस्तथा भावानामपि स स्यादिति किमभावेन कल्पितेन । –प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।६ । यदि इतरेतराभाववशात् घटः पटादिभ्यो व्यावर्त्तते तर्हि इतरेतराभावोऽपि भावादभावान्तराच्च प्रागभावादेः किं स्वतो व्यावर्त्तेत अन्यतो वा ? –प्रमेयक० पृ० २०८ । स्या० र० पृ० ५८१ । (२) भेदाभावे । (३) प्रागभावः प्रध्वंसाद् भिन्नः । (४) प्रागभावः घटाद्भिन्न इति । (५) अभावेष्वपि । (६) भवद्धेतोः इतरेतराभावस्य । (७) अभावस्य । (८) भावाद् घटादेः अभावान्तराच्च प्रागभावादेः । (९) भिन्नाभावः । (१०) घटादेः । (११) घटो भूतलं न भवति भूतलञ्च घटो न भवतीति इतरेतराभावादेव (विलक्षणस्वभावादेव) घटस्य भूतलाद् व्यावृत्तिः पुनरभावादिति भावः –आ० टि० । (१२) तस्माद्विलक्षणस्वभावनिबन्धनैव नाभावनिबन्धनैव–आ० टि० । (१३) इतरेतराभावस्य । (१४) द्वितीयाभावः । (१५) अभावनिबन्धनत्व–आ० टि० । (१६) अस्मात् प्रथमादितरेतराभावात् । (१७) घटेतरेतराभावयोः व्यावृत्तिः न इतरेतराभावनिबन्धना तस्मादेव तस्य व्यावर्त्तमानत्वात् (१८) किन्तु त्रिभुवनादेव–आ० टि० । (१९) इतरेतराभावस्य । गव्यश्वाभावोऽश्वे च गोरभाव इतरेतराभावः । स च भवन्नैको नित्य एव पिण्डविनाशेऽपि सामान्यवत् पिण्डान्तरे प्रत्यभिज्ञानात् । यथा सामान्यमुत्पद्यमानादुपजायमानेनैव पिण्डेन सह सम्बद्ध्यते नित्यत्वञ्च स्वभावमिदम् तथेतरेतराभावोऽपि । –प्रश० कन्द० पृ० २३० । (२०) द्वितीयेतरेतराभावस्य व्यावृत्त्यर्थम् तृतीय इतरेतराभावः कल्पनीयः तद्व्यावृत्त्यर्थञ्च चतुर्थ इति । (२१) इतरेतराभावाद् भिन्नं कश्चित् प्रागभावादिरूपमभावमभावान्तरम् । (२२) घटस्य । (२३) इतरेतरत–आ० टि० । (२४) प्रागभावः ।

1 व्यावृत्तमान–आ० ।

तर्हि इतरेतराभावोऽपि घेट स्यात्। यस्य यतो व्यावृत्तिर्नास्ति न तस्य ततो भेद यथा घटस्वरूपाद् घटस्य, नास्ति च इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिर्घटस्य इति।

यदपि–अभावस्य वस्तुत्वमभिहितम्, तदपि वस्तुधर्मस्यैवोपपन्न न पुन सर्वथा तुच्छस्वभावस्य, तथाविधस्यास्य वस्तुत्वानुपपत्ते। यत् सर्वथा तुच्छस्वभाव न तद्वस्तु यथा गगनेन्दीवरम्, सर्वथा तुच्छस्वभावश्च परैरभ्युपगतोऽभाव इति। अस्तु वा अस्य वस्तुत्वम्, तथापि तत् केन गृह्यताम्–किमभावाख्येन प्रमाणेन, प्रमाणान्तरेण वा? प्रथमपक्षे किं तद्वस्तुत्व भाव, अभावो वा? यदि भाव, कथमभावमाह्य तस्य तद्विपयत्वाऽनभ्युपगमात्? तुच्छस्वभावाभावस्य भावस्वरूपवस्तुत्वाश्रयत्वविरोधाच्च। यत् तुच्छस्वभाव न तद् भावरूपभाववस्तुत्वाश्रय यथा शशविषाणम्, तुच्छस्वभावश्च परै परिकल्पितोऽभाव इति। अथ अभाव, तन्न, वस्तुत्वस्य अभावरूपत्वे नीलादावपि तस्य अभावरूपत्वप्रसङ्गाद् भाववार्त्तोच्छेद स्यात्। अथ प्रमाणान्तरेण गृह्यते तत्, तन्न, प्रमाणान्तराणामभावग्राहकत्वानभ्युपगमे तद्गतवस्तुत्वग्राहकत्वाभ्युपगमविरोधात्। तन्न अभावप्रमाणस्य सामग्रीवद् विषयोऽपि विचार्यमाणो व्यवतिष्ठते।

नापि फलम्, अभावावगतिलक्षणफलस्य प्रत्यक्षादितोऽपि सद्भावप्रतिपादनात्। किञ्च, सिद्धे स्वरूपे कारणविषयफलव्यवस्था वक्तु युक्ता। न च अस्य तत्सिद्धम्। ननु सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकानुत्पत्तिलक्षणम् अभावप्रमाणस्वरूप प्रतिप्राणि प्रसिद्धत्वात् कथमपह्नोतु शक्यम्? इत्यप्यनुपपन्नम्, यत केय तदनुत्पत्ति –किं निषेध्यविपयज्ञानरूपतया आत्मनोऽपरिणाम, अन्यवस्तुविज्ञान वा? तत्र अपरिणामस्य अभावस्वभावत्वात् कथ तथाविधज्ञानजनने सामर्थ्यं स्यात्? कथ वा प्रामाण्यम्? प्रमेयपरिच्छेदकस्य हि प्रामाण्य प्रसिद्धम्, यच्च स्वरूपेण न किञ्चित् तत्कथ कस्यचित्परिच्छेदकमतिप्रसङ्गात्? यत् स्वरूपेणाऽकिञ्चिद्रूपम् न तत् कस्यचित्परिच्छेदक यथा

---

(१) इतरेतराभाव घटात्मक तस्माद्व्यावर्तमानत्वात्। (२) पृ० ४६७ प० १। (३) वस्तुत्वम्। (४) अभावस्य। (५) अभावो न वस्तु सर्वथा तुच्छस्वरूपत्वात्। (६) वस्तुत्वम्। (७) भावस्वरूपस्य वस्तुत्वस्य। (८) अभावविषयत्व। (९) अभावो न वस्तुत्वाश्रय तुच्छस्वभावत्वात्। (१०) वस्तुत्वस्य। (११) वस्तुत्वम्। (१२) अभावगत। (१३) अभावस्य। (१४) प्रमाणपञ्चकानुत्पत्ति। (१५) निषेध्या घटादि। (१६) भूतलाद्याश्रयात्मकमन्यवस्तु। (१७) तुलना–'नीरूपस्य हि विज्ञानरूपहानौ प्रमाणता। न युज्यते प्रमेयस्य सा हि सवित्तिलक्षणा॥ स प्रमेयाधिगतिरूप न भवति न तत्प्रमाणं यथा घटादि, प्रमेयाधिगतिशून्यश्चाभाव इति व्यापकानुपलब्धि।"–तत्त्वसं० पं० पृ० ४७८। "यत प्रमाणपञ्चकाभावो निरुपाख्यत्वात् कथ प्रमेयाभाव परिच्छिन्द्यात् परिच्छित्तेर्ज्ञानधर्मत्वात्।'–प्रमेयक० पृ० २०५। सन्मति० टी० पृ० ५७८। स्या० र० पृ० ७१०। (१८) 'अत्र घटो नास्ति' इत्याकारकज्ञानोत्पत्ति। (१९) शशविषाणादेरपि परिच्छेदकत्वप्रसक्ति। (२०) आत्मनोऽपरिणामरूपोऽभाव न प्रमेयपरिच्छेदक स्वरूपेणाऽकिञ्चिद्रूपत्वात्।

---

1 घट व०। 2–स्य परि–ब०। 3 अभावस्वरू–श्र०। 4–ते तत्र श्र०। 5 सिद्धस्वरूपे व०। 6 युक्तम् ब०। 7 [illegible] ब०। 8 अभावस्य भावत्वात् आ०। 9–विधस्य ज्ञान–श्र०।

वन्ध्यास्तनन्धयः, स्वरूपेणापरिच्छिन्नश्च परपरिकल्पितमभावप्रमाणमिति । परिच्छेदकत्वं हि ज्ञानधर्मः, सोऽस्य विषाणप्रख्यस्य अध्यक्षाद्यभावस्यातिदुर्घटः । ततश्च 'प्रमाणाभावः प्रमाणञ्च' इति प्रतिज्ञापदयोः विरोधः, यथा 'इदञ्च, नास्ति च' इति ।

अन्यवस्तुविज्ञानपक्षेऽपि किमन्यस्मिन् वस्तुमात्रे, घटाभावाश्रये वा ज्ञानमभावपरिच्छेदकं स्यात् ? तत्राद्यपक्षे यत्र कुत्रचिद् यस्य कस्यचिद् अभावस्य ज्ञानं स्यात् । अथ घटाभावाश्रयस्य, न चैतत् घटाभावे सिद्धे सिद्ध्येत्, न चासौ भवत्पक्षे सिद्धः ।

प्रतियोगितापि एतेन प्रत्याख्याता, सिद्धे हि घटाभावे 'अयमस्य आश्रयः, अयञ्च प्रतियोगी' इति सिद्ध्येत् । ततोऽभावप्रमाणस्य यथाभ्युपगतस्वरूपसामग्रीविषयफलानामव्यवस्थिते वस्तुधर्म एवाभावः प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धश्च भाववदभ्युपगन्तव्य इति ।

न भावस्वरूपव्यतिरिक्तः कश्चिदभावः प्रत्यक्षानुमानग्राह्यः, इति बौद्धस्य पूर्वपक्षः

अत्र सुगतमतावलम्बिन आहुः – न भावस्वरूपव्यतिरिक्तः कश्चिदभावः प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रतीयते । प्रत्यक्षस्य हि स विषयो भवति यो जनकत्वे सति आकारसमर्पकः, अभावस्य च जनकत्वमाकारसमर्पकत्वञ्चातिदुर्घटम् । यद् अभावरूपं न तत् कस्यचिज्जनकं स्वाकारसमर्पकञ्च यथा खपुष्पम्, अभावरूपश्चाभावो भवद्भिरिष्ट इति । स्वाकारसमर्पयतो ज्ञानजनकत्वे चास्य भावरूपतैव स्यात् । यत् स्वाकारसमर्पयत् ज्ञान

(१) प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिरूपतया अभावप्रमाणं प्रमाणाभावात्मकम् अथ च अभावपरिच्छेदकत्वेन परिच्छेदकत्वमाधारभूतं प्रमाणात्मकत्वमिति विरोधः । (२) प्रमाणाभावरूपस्वीकरणं प्रतिज्ञा परिच्छेदकत्वेन प्रमाणरूपताभिधानं पक्षः । (३) भूतलादौ वा । (४) "एवमन्यत्र–अभावो नाम नास्त्येव केवलं भूतस्य भावविषयमेव प्रत्यक्षमभावं व्यवहारयति । –प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।६ । "एकज्ञानसंसर्गिवस्त्वन्तरं तदुपलब्धिश्चानुपलब्धिर्विवक्षिता उपलब्धेर्यस्याभावो निश्चीयते स घटाभावः, अतिरिक्तस्य विषयत्वानभावस्याभावात् । –प्रमाणवा० मनोरथ० ३।३ । तस्मादुपलब्धिविषयाभावादन्या वस्त्वन्तरविषया उपलब्धिः ज्ञानात्मिकानुपलब्धिः । कथं पुनरुपलब्धिरेवानुपलब्धिरुच्यते इत्याह विवक्षितत्वात् । यथा भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणे विवक्षिताद् भक्ष्यादन्यत्वादभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटो भक्ष्योऽपि सन् तदन्यत्वादुच्यते यथा च स्पर्शनीयास्पर्शनीयाधिकारे विवक्षितात् स्पर्शनीयादन्यत्वादस्पर्शनीयो ब्राह्मणादिस्तदन्यत्वात् स्पर्शनीयोऽपि सन्नुच्यते तद्वदुपलब्धिरेवानुपलब्धिरभिमता । तस्मात् प्रतिषेध्याद् घटात् स्वविषयविज्ञानजननयोग्याद् योऽन्य उपलम्भजननयोग्य एव न तद्विपरीतः स्वभावो घटविविक्तप्रदेशरूपः स एव चात्र अनुपलब्धिशब्देनोच्यते । –हेतुबि० टी० पृ० १६३ A । तस्यापि प्रदेशस्य केवलस्य यत् तत्त्वं यत् एकाकित्वमसहायता तदेवापरस्य प्रतियोगिनो घटादेर्वैकल्यमभाव इति । तस्मादभाव एव भावानां एव त्वदभिमतस्तदभावः प्रतियोग्यभावो न ततः पृथग्भूतः धर्मान्तरमित्युच्यते सुगतसुतैः । –हेतुबि० टी० पृ० १७९ B । न ह्यभावः कश्चिद्विग्रहवान् यः साक्षात्कर्तव्यः अपि तु व्यवहर्तव्यः । –क्षणभङ्गसि० पृ० ६५ । (५) अभावः कस्यचिज्जनकः स्वाकारसमर्पकश्च न भवति अभावरूपत्वात् । (६) अभावस्य ।

1 स्वरूपेणास्वरूपेणा–ब० । 2 'यस्य कस्यचित्' नास्ति आ० । 3 अभावज्ञानं श्र० । 4–द्धे घ–आ० । 5–सिद्धभावव–आ० । 6 न तावत्तस्य–ब० ।

जनयति तद् भावस्वभावमेव यथा घटादि, स्वाकारमर्पयन् ज्ञानं जनयति च अभाव इति । यत् खलु कुतश्चिदुत्पन्नं केनचिद्रूपेण प्रतिभासमानं काञ्चिदर्थक्रियां करोति तद् भावस्वरूपमुच्यते ।

किञ्च, अभावाकारस्य ज्ञानेऽनुप्रवेशे तस्यापि असत्त्वप्रसङ्गात् कुतः किं प्रतीयताम् ? न च 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्येव प्रत्यक्षं तत्सद्भावे प्रमाणमित्यभिधातव्यम्, शब्दसंसर्गेणोपजायमानस्यास्य विकल्परूपतया प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः । विकल्पानाञ्च अर्थे प्रामाण्यानुपपत्तिः अर्थाऽसंस्पर्शित्वात्तेषाम् । तन्न प्रत्यक्षतोऽभावसिद्धिः । नाप्यनुमानतः, तद्धि साध्यप्रतिबद्धलिङ्गबलादुदयमासादयति । प्रतिबन्धश्च साध्यसाधनयोः प्रत्यक्षतः, अनुमानतो वा प्रतीयेत ? न तावत् प्रत्यक्षतः, अभावस्य उक्तप्रकारेण प्रत्यक्षाऽगोचरत्वे ततोऽस्य केनचित् लिङ्गेन सह प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः । अनुमानतः तत्प्रतीतौ अनवस्था, तत्रापि अनुमानान्तरात् तत्प्रतीतिप्रसङ्गात् । तन्न कुतश्चित् प्रतिबन्धसिद्धिः । नचासिद्धप्रतिबन्धं लिङ्गं साध्यसाधनाय प्रभवति अतिप्रसङ्गादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्–'न भावस्वरूपव्यतिरिक्तोऽभावः' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, भावस्वरूपाऽतिरिक्तस्याऽभावस्य प्रतीतिभेदात् स्वरूपभेदात् सामग्रीभेदात् अर्थक्रियाभेदाच्च भेदसिद्धेः । यस्य यतः प्रतीत्यादिभेदः तस्य ततो भेदः यथा घटात् पटस्य, प्रतीत्यादिभेदश्च भावादभावस्य इति । न चायमसिद्धः, तथाहि–भावाऽभावयोस्तावत् प्रतीतिभेदः सुप्रसिद्ध एव 'इदमत्रास्ति, इदं नास्ति' इति । नहि प्रतीयमानापीत्थं भेदेन अभावप्रतीतिरपह्नोतुं युक्ता, भावप्रतीतेरप्यपह्नवप्रसङ्गात् । ननु निर्विकल्पकसामर्थ्येन 'इदमिहास्ति, नास्ति' इति विकल्पद्वयमुत्पद्यते, न च तद्वशाद्वस्तुव्यवस्था, विकल्पानामर्थे प्रामाण्याऽभावात्, इत्यपि श्रद्धामात्रम्, सविकल्पकसिद्धौ निर्विकल्पकस्य प्रामाण्यप्रतिषेधतः सविकल्पकस्यैव अन्तर्बहिर्वा वस्तुव्यव-

तन्निराकरणपूर्वकम् अभावस्य भावान्तररूपस्य वस्तुसतः समर्थनम्—

(१) अभावो भावस्वरूप एव स्वाकारार्पकत्वे सति ज्ञानजनकत्वात् । (२) ज्ञानस्यापि । (३) "एकोपलम्भानुभवादिदं नोपलभ इति । बुद्धेरुपलम्भं वक्ति कल्पिकाया समुद्भवः ॥"–प्रमाणवा० ४।२७० । (४) प्रत्यक्षस्य –आ० टि० । (५) विकल्पानाम्–आ० टि० । (६) अनुमानं हि । (७) अविनाभाव । (८) प्रत्यक्षात्–आ० टि० । (९) अभावस्य –आ० टि० । (१०) द्वितीयानुमानेऽपि । (११) अविनाभावप्रतीति । (१२) पृ० ४७६ प० १० । (१३) अभावो भावस्वरूपातिरिक्तः प्रतीतिस्वरूपसामग्र्यर्थक्रियाभेदात् । (१४) तुलना– इदं तावत्सकलप्राणिसाक्षिकं संवेदनद्वयमुपजायमानं दृष्टम् इह घटोऽस्ति इह नास्तीति ।'–न्यायम० पृ० ५८ । (१५) विकल्पवशात्–आ० टि० । (१६) अन्तश्चेतनात्मकस्य बहिश्चाचेतनस्वरूपस्य वस्तुनः ।

1–स्याज्ञाने ब० । 2–सर्सगेणोप–ब० । 3–तीयेत् आ० । 4–प्रतिबन्धलिङ्ग ब० । 5 प्रामाण्यार्दिरपि श्र० ।

स्थापकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः प्रतिपादितत्वात्। तत्सामर्थ्येनोत्पन्नाऽभावविकल्पाद् अभावाऽसिद्धौ भावसिद्धिरपि अतोऽतिदुर्लभा। अथ प्रत्यक्षादेव भावसिद्धिः, अभावसिद्धौ तत् किं कार्यैकक्षितम् ? प्रथमं हि इन्द्रियाद्भिमामयीतः समुत्पन्नं प्रत्यक्षम् अनेकभावाभावोपाधिरचितमुपाधिमन्तं प्रतिपद्यते, तत्र शब्दार्थयोः प्रतिपन्नप्रतिबन्धः प्रतिपत्ता अर्थदर्शनोत्तरकालं यस्य यस्य विवक्षा भवति तत्तद्वाचकं शब्दं स्मृत्वा 'इदमिहास्ति, इदं नास्ति' इति विकल्पव्यापारं दर्शयति। यदि च तेऽभावविशेषाः प्रत्यक्षतो न प्रतिपन्नाः तन्न प्रतियोगिस्मरणमपि अनुपपन्नमेव स्यात्। नहि अप्रतिपन्ने घटाभावे घटस्य प्रतियोगितया स्मृतिर्युक्ता अतिप्रसङ्गात्। अतः प्रतिनियतप्रतियोगिस्मरणाऽन्यथानुपपत्त्या प्रतिनियताभावप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षे प्रतिपत्तव्या इति।

न च 'इह भूतले घटो नास्ति' इति विशिष्टायाः प्रतीतेः विशेषणमन्तरेणोपपत्तिर्युक्ता। या विशिष्टा प्रतीतिः नासौ विशेषणमन्तरेण उपपद्यते यथा दण्डीत्यादिप्रतीतिः, विशिष्टा च 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्यादिप्रतीतिरिति। अथ भाव अभावप्रतीतेर्निबन्धनम् अतः स एवास्या विशेषणं भविष्यति, एवञ्च भवतो न किञ्चिदिष्टं सिद्ध्येत्, इत्यप्यसाम्प्रतम्, यतः किं निषिध्यमानो घटादिर्भावः अस्याः निबन्धनमभ्युपगम्यते, तदाश्रयो भूतलादिर्वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः, भावाऽभावप्रतीत्योर्निर्बाधतया प्रतीयमानयोर्वैलक्षण्यस्य विषयवैलक्षण्यव्यतिरेकेण अनुपपत्तेः। ययोर्निर्बाधतया प्रतीयमानयोः प्रतीत्योर्वैलक्षण्यं तद् विषयवैलक्षण्यपूर्वकम् यथा रूपादिप्रतीतिवैलक्षण्यम्, वैलक्षण्यञ्च निर्बाधतया प्रतीयमानयोः भावाऽभावप्रतीत्योरिति। न च तत्प्रतीत्योर्निर्बाधता वैलक्षण्येन प्रतीयमानत्वञ्चाऽसिद्धम्, तद्बाधकस्य कस्यचिदप्यभावात्, परस्परासङ्कीर्णस्वभावतयाऽनुभूयमानत्वाच्च। नहि कश्चिन्मायाविलो भावमेव अभावतया प्रतिपद्यते, अन्या हि भावप्रतीतिः अन्या चाभावप्रतीतिरिति। यदि च भाव एव अभावः स्यात्, तर्हि तत्सत्ताक्षणे तद्देशे चाऽभावप्रतीतिः स्यात्। न चैवम्, नहि स्वदेशकालनियता भावसत्तामेव

(१) पृ० ४७। (२) निर्विकल्पक –आ० टि०। तुलना– तत्र विकल्पमात्रसंवेदनमनालम्बनमालम्बनं भवति यन्नभिलप्यते तत्रास्तिनास्तीति वा अस्तित्वज्ञानेऽपि समानमतो द्वयोरपि प्रामाण्यं भवतु द्वयोरपि वा मा भूत्। –न्यायसं० पृ० ५८। (३) भावविकल्पात्। (४) निर्विकल्पकप्रत्यक्षम्–आ० टि०। (५) अनेके भावा अभावाश्च उपाधयः विशेषणानि तैः रचितं शबलितं चित्रितम् उपाधिमन्तं विशेष्यभूतमर्थम्। (६) गृहीतसङ्केतः। (७) यस्याभावः स प्रतियोगी। (८) इह भूतले घटो नास्तीति प्रतीतिः विशेषणग्रहणपूर्विका विशिष्टप्रतीतित्वात्। (९) भाव एव। (१०) अभावप्रतीतेः –आ० टि०। (११) इह भूतले नास्ति घट इत्यभावप्रतीतेः। (१२) घटाभावाश्रयो। (१३) भावाभावप्रतीत्योर्वैलक्षण्यं विषयवैलक्षण्यपूर्वकम् निर्बाधप्रतीतिवैलक्षण्यात्। तुलना– 'नहि विषयवैलक्षण्यमन्तरेण विलक्षणाया बुद्धेरस्त्युत्पत्तिः नापि व्यवहारभेदस्य संभवः।' –प्रश० कन्द० पृ० २२९। (१४) अन्योन्यभिन्नस्वभावतया। (१५) भावसत्ताक्षणे (१६) भावदेशे।

1–प्राच्याभाव–श्र०। 2–अभावासि–ब०। 3 अनेकभावा–ब०। 4 प्रदेश–श्र०। 5 घटादिभाव ब०। 6–विवक्षा–ब०। 7–न्तोऽभावमेव भावतया आ०, श्र०। 8 यदि भाव ब०।

अभावतया कश्चित् प्रतिपत्तुमर्हति ।

अथ निषिध्यमानघटाद्याश्रयतयाऽभिप्रेतं भूतलादिभावं तदभावप्रतीतेर्निबन्धनम्, तत्रापि किं भूतलमात्रं घटाभावप्रतीतेर्निबन्धनम्, विशिष्टं वा ? प्रथमविकल्पे सघटेऽपि भूतले घटाभावव्यवहारः स्यात् तदविशेषात् । द्वितीयपक्षेऽपि किंकृतमस्य वैशिष्ट्यम्–स्वरूपकृतम्, घटसंसर्गरहितत्वकृतं वा ? न तावत् स्वरूपकृतम्, सघटेऽपि भूतले अभावप्रतीतिप्रसङ्गात्, स्वरूपसत्त्वस्य तत्राप्यविशिष्टत्वात् । घटसंसर्गरहितत्वनिबन्धनत्वे तु नास्ति विवादः घटाभावस्य घटसंसर्गरहितत्वशब्देन अभिधानात् ।

नचैतद्वक्तव्यम्–अभिमानमात्रमेवायं 'नास्ति' इति व्यवहारः, सद्व्यवहारानुत्पत्त्या तत्संभवादिति, यतः प्रतीयमानस्य बाधारहितस्यास्याभिमानिकत्वे 'अस्ति' इत्यादिव्यवहारस्याप्याभिमानिकत्वप्रसङ्गः । यदि च सद्व्यवहारानुत्पत्त्या नास्तीतिव्यवहारस्य

(१) तुलना–"तत इदं प्रष्टव्या नास्तीति संवित् किमालम्बनम् ? यदि न किञ्चित्, तत् स्वल्पो निरालम्बनं विज्ञानमिच्छतां महायानिकानाम् । अथ भूतलमालम्बनम्, कण्टकादिमत्यपि भूतले कण्टको नास्तीति भवितुं तत्पूर्वकश्च निःशङ्कं गमनागमनलक्षणो व्यापारो दुर्निवारः । केवलभूतलविषयं नास्तीति संवेदनम्, कण्टकसद्भावे च कैवल्यं निवृत्तमिति प्रतिपत्तिप्रवृत्त्योरभाव इति चेत्, ननु किं कैवल्यं भूतलस्य स्वरूपमेव, किमुत धर्मान्तरम् ? तत्स्वरूपं तावत् कण्टकादिमत्त्वेऽप्यपरावृत्तमिति स एव प्रतिपत्तिप्रवृत्त्योरविरामो दोषः । धर्मान्तरपक्षे च तत्त्वान्तरसिद्धिः ।"–प्रश० कन्द० पृ० २२९ । प्रश० किर० पृ० १२९ । (२) भूतलमात्रस्य तत्रापि सम्भावात् । (३) भूतलस्य । (४) सघटेऽपि भूतले । (५) प्राभाकर । अप्रमीयमाणत्वमेव हि नास्तित्वं नाऽपरम् न चाप्रमीयमाणत्वं प्रमेयम्, यस्मात्तद्धर्मिसम्बद्धानुभवयुक्ततयाऽऽत्मनः तस्यापि अप्रमीयमाणता सा चावस्था आत्मनः स्वसंविदितैव । अतः प्रमेयं नावशिष्यते ।"–बृह० प० पृ० ११९–२० । तस्माद् भावग्राहकप्रमाणाननुवृत्तिरेवाऽभावावगमः प्रभूतः (प० ११९) अभावस्य तु स्वरूपावगतिर्नास्ति इति ॥ प्रमाणाभावात्प्रमेयाभावः प्रमाणाभावोऽपि च स्वरूपान्तरानवगमात् न भावान्तरप्रमितिमिच्छन्, भावान्तरप्रमितिरिच स्वयंप्रकाशरूपा न प्रमेयतामनुभवतीति प्रमेयप्रभावात्स्य प्रमाणस्य नोपपद्यते । प्रमेयासद्भावाच्च न प्रमाणान्तरमभ्युपगन्तव्यमिति स्थितम् । (पृ० १२४) नास्तित्वञ्च प्रमाणानामनुत्पत्त्यैव गम्यते । नास्तित्वप्रतिपत्तिर्हि तां विना नास्ति कुत्रचित् ॥ योग्यप्रमाणानुत्पत्तेः कारणत्वपरिग्रहात् । अतिप्रसङ्गदोषोऽपि नावकाशमुपाश्नुते ॥'–प्रकरणप० प० १२९ । नयवि० पृ० १६२ । तन्त्ररह० प० १७ । प्रभाकरवि० प० ५७ । (६) कल्पनिकत्वे । (७) तुलना–'ज्ञानाभावे ज्ञानभ्रमः व्यवहाराभावे व्यवहारभ्रमः आलोकाभावे अन्धकारभ्रमवत्, न सुषुप्त्याद्यवस्थासु प्रसङ्गात् । अप्रमिते च भ्रमायोगात् सुषुप्त्यादिवत् ।–यथापि वयं यादृश्यते न च तत्त्वतो नास्तीति बुद्धिव्यवहारौ स्तः, किन्तु घटज्ञानाभावे चैत्रो नास्तीति ज्ञानभ्रमः घटादिव्यवहाराभावे तद्भावव्यवहारभ्रमः । अत्र निदर्शनमाह–आलोकाभावे अन्धकारभ्रमवत् तदनन्तरावरोध इति–न, सुषुप्त्याद्यवस्थासु प्रसङ्गात् । यदि हि ज्ञानव्यवहारयोरभावः तद्भ्रमः सुषुप्त्याद्यवस्थास्वपि तथाप्रसङ्गः । यदि तत्र ज्ञानं नापि व्यवहारः समस्तविज्ञानोपसंहृतिलक्षणत्वात्सुषुप्त्याद्यवस्थायाः । इत्यत आह–अप्रमिते च भ्रान्तियोगात् सुषुप्त्यादिवत् । प्रमितस्य हि भावस्य प्रमित एव भावः समारोप्यमाणो दृष्टः, ज्ञानाभावस्य नाप्ययम् इत्युपपादितं विभ्रमविवेके, अत्रापि सूचयिष्यति । न च ज्ञानव्यवहाराभावो

1–घटाद्याश्रय तयाभि–आ० । 2 विशिष्टस्य ब० । 3–कृतम् ब० । 4–कृतम् ब० ।

अङ्गम्, तदा सुषुप्तावस्थायामपि नास्तीतिव्यवहारः स्यात् सत्त्वव्यवहारानुत्पत्तेस्तत्राप्यविशेषात्। ततो निर्विकल्पयोर्भावाऽभावप्रतीत्योर्वैलक्षण्यसिद्धेः सिद्धो भावाऽभावयोर्वास्तवो भेदः।

स्वरूपभेदाच्च, अभावस्य हि भावप्रतिषेधकत्वं स्वरूपं नेतरस्य। स्वरूपभेदेऽपि अनयोरभेदे भेदवार्त्तोच्छेदप्रसङ्गः, परस्परतो भेदस्य सर्वत्र घटपटादौ स्वरूपभेदादन्यतोऽप्रसिद्धेः।

सामग्रीभेदाच्च अनयोर्भेदः, सुप्रसिद्धश्च तद्भेदः। तथाहि-घटादिभावमुत्पादयितुकामः तदुत्पादनानुकूलमेव मृत्पिण्डादिसामग्रीमुपादत्ते, विनाशयितुकामस्तु तद्विलक्षणां मुद्गरादिसामग्रीमिति।

ननु मुद्गरादिसामग्री परस्पराऽसंसृष्टकपालोत्पाद एव व्याप्रियते नाऽभावे, न च तदुत्पादकम्, तदेभावोऽर्थत एव भविष्यतीत्यभिधातव्यम्, यतः सर्वोऽपि कार्यभेदः कारणभेदेन व्याप्तः। न च अभावकपाललक्षणकार्यभेदे कारणभेदोऽस्ति, मुद्गरलक्षणस्यैकस्यैव कारणस्य प्रतीतेः। न च तस्यैकस्यैव अन्योन्यविरुद्धकार्यद्वयजनकत्वं युक्तं विरोधात्, इत्यप्यसमीचीनम्, प्रतीतिविरोधानुषङ्गात्। तथाहि-मुद्गरादिव्यापारानन्तरं लौकिकेतरयोः 'अनेन विनाशितो घटः' इति प्रतीतिः, न पुनः 'कपालानि

उपलम्भपूर्वो। तदुपलम्भं वा कुतमत्र भमोपयासन। तस्मादप्रमिते भात्यनुपपत्तरयुक्तमनन्यत्वम्।
-विधिवि० न्यायकणि० पृ० ७३-७४।

(१) तुलना- स्वरूपभेदस्योपपत्तेः यथाहि कारणादुत्पद्यमाना रूपादयः परस्परं स्वरूपभेदात् भिद्यन्ते तथाऽभावोऽपि भावादिति। अस्ति च प्रत्यक्षादिलक्षणालक्षितस्य भावपरतन्त्रेण गृह्यमाणत्वमभावस्य रूपमिति। -प्रश० व्यो० पृ० ४००। (२) भावस्य। (३) भावाभावयोः। (४) सामग्रीभेदा। (५) उत्पादसामग्रीभिन्नाम। (६) तस्मात् स्वरसतो निवर्तत काष्ठादिभ्यो यथाग्निभ्यस्तु अङ्गारादिजन्म इत्ययं सद्क्रमः। -हेतुबि० टी० पृ० ८३ A। तन्मत्र समुदायार्थः- मुद्गरव्यापारानन्तरं इय प्रतीयते घटनिवृत्तिः कपालञ्च। तत्र विनाशरूपतया प्रतीयते। तत्र घटनिवृत्तेर्नीरूपत्वेनाकार्यत्वादिति वक्ष्यति। तत्कार्यत्वेन तु तत्प्रतीतिर्भ्रान्तिरेव कार्यत्वे चास्या न घटनिवृत्तिरूपत्वं स्यात् घटसम्बन्धित्वेन कृतकत्वात् विनाशरूपतया च प्रतीतिः स्यात घटस्य सत्त्वात्। निर्हेतुके तु विनाशे स्वरसतो निवर्तमान एव घटो मुद्गरादिसहकारी कपालजनकत्वेन सद्भावलक्षणारम्भकत्वात् मुद्गरव्यापारानन्तरं घटनिवृत्तेः कपालस्य च सद्भावात् तयोर्विनाशरूपतया विनाशस्य च सहेतुकत्वेन मन्दमतीनामवसायो युज्यत एव। प्रयोगस्तु ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षास्ते तद्भावनियताः तद्यथाऽन्त्यावस्थाप्राप्ता कारणसामग्री कार्योत्पादने अनपेक्षश्च कृतको भावो विनाश इति स्वभावहेतुः। -प्रमाणवा० स्वव० टी० १।१९६-९७। प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२६९-७०। तत्त्वसं० पृ० १३२। (७) घटविनाशोऽपि। (८) मुद्गरादिव्यापारादेव। (९) मुद्गरादिव्यापारस्य। (१०) घटविनाशकपालोत्पादलक्षण। (११) तुलना-'तस्मात्कार्यकारणयोरुत्पादविनाशौ न सहेतुकौ हेतुको सहभावात्माविन्। मुद्गरादिव्यापारानन्तरं कार्योत्पादवत् कारणविनाशस्यापि प्रतीतेः विनष्टो घटः उत्पन्नानि कपालानि इति व्यवहारस्यसद्भावात्।"-अष्टश० अष्टसह० पृ० २००।

1-वस्तुस्य च त-ब०। 2 तत्रानिर्वा-श्र०। 3-भवाभावा-ब०। 4 एतयोर-ब०। 5-भेदावगम-ब०। 6-इच तथा तद्भेद ब०। 7 प्रतीते ब०।

उत्पादितानि' इति । नापि घटविनाशकस्य 'कपालान्युत्पादयामि' इत्यनुसन्धान स्वप्नेऽप्यनुभूयते । न खलु विषादिना शत्रुवधे वह्न्यादिना च पटदाहे प्रवृत्तस्य[1] शत्रुपटविनाशादृते 'अन्यत् किञ्चित्तत्र उत्पादयामि' इति हन्तु पटविनाशकस्य[3] वा अनुसन्धानमस्ति । नापि पार्श्वस्थानाम्[2] 'अन्यत् किञ्चिदनेनोत्पादितम्' इति प्रतीति, किन्तु 'तद्विनाश एव अनेन कृत ' इत्यविकलजनाना प्रतीति । तद्विनाशे एव चासौ परितुष्यति । नहि अवयवनिष्पत्त्या तस्य किञ्चित् प्रयोजनम् । ननु भावाना स्वभावतो विनाशस्वभावनियततया विनाशस्य अहेतुकत्वात् मुद्गरादे तद्धेतुत्वम्, इत्यप्यपेशलम्, तेषा तत्स्वभावनियतत्वस्य[4] अक्षणिकत्वसिद्धौ निराकृतत्वात्[5] ।

यदप्युक्तम्[6]–'कार्यभेद कारणभेदेन व्याप्त ' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, एककारणस्य एककार्योत्पादकत्वेन अविनाभावाऽभावात्, प्रदीपादेरेकस्यापि अनेककार्योत्पादकत्वप्रतीते[7] । अत सिद्ध सहेतुको विनाश । तथा च घटाभावोत्पादकसामग्रीतो[8] भावोत्पादकसामग्र्या[9] भेदसिद्धे सिद्धो भावाऽभावयोर्भेद ।

अर्थक्रियाभेदाच्च, सुप्रसिद्धो हि भावाऽभावयो प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणोऽर्थक्रियाभेद, जलाद्यर्थिन तत्सद्भावस्य प्रवृत्तिहेतुत्वात्, तदभावस्य च निवृत्तिहेतुत्वात् । प्रमोदाद्यर्थक्रियाकारित्वाच्च अनयोर्भेद, तथा हि शत्रुविनाश कृत श्रुतो वा पर प्रमोदमाधत्ते, तत्सद्भावस्तु विषादम् । न हि भावाभावाभ्यामन्यस्य प्रमोद-विषादहेतुत्व प्रतीयते[10] ।

यदप्युक्तम्[11]–'अभावोऽपि यदि कुतश्चिदुत्पद्येत काञ्चिदर्थक्रिया कुर्यात् तदा भाव एव स स्यात्' इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्, यतो भावप्रतीतिविषयत्व भावत्वम्[12], न पुन अर्थक्रियाकारित्वादि । अभावो हि स्वकारणकलापाद् भावविलक्षणतयोत्पन्न अर्थक्रियाञ्च कुर्वाण पदार्थतया प्रतीयते न पुनर्भावतया ।

यच्चान्यदुक्तम्[13]–'यदि अभाव स्वाकार ज्ञाने समर्पयेत् तदा ज्ञानस्याप्यभावरूपता स्यात्' इत्यादि, तदप्यसुन्दरम्, अर्थाकारतया ज्ञानस्य अर्थप्रकाशकत्वप्रतिक्षेपात् । निराकारमेव हि ज्ञान [14]योग्यतया योग्यदेशस्थ योग्यमर्थं प्रकाशयति इत्युक्त प्रत्यक्षप्ररूपणप्रस्तावे[15] ।

(१) पुरुषस्य । (२) प्रेक्षकजनानाम् । (३) विषदायिना, पटविनाशकेन वा पुरुषेण । (४) विनाशस्वभावनियतत्वस्य । (५) पृ० ३८९ । (६) पृ० ४८० पं० १० । (७) वर्तिकामुखदाह-तैलशोष-कज्जलोत्पादन-अन्धकारविनाशादि । (८) मुद्गराद्यभिघातादिरूपाया । (९) घटोत्पादकमृत्पिण्डादिरूपाया । (१०) तुलना–"सुहृदसमुत्पत्तिरभाव शत्रुमित्रयो । अभ्युदयाभावमालम्ब्य पद पथि निधीयते ॥ ... प्रत्ययभाव को नाम निह्नुवीत सचेतन । –न्यायमं० पृ० ५९ । (११) पृ० ४७७ पं० २१ (१२) तुलना–"सत्प्रत्ययगम्यो हि भाव इष्यते असत्प्रत्ययगम्यस्त्वभाव इति ।"–न्यायमं० पृ० ५९ । (१३) पृ० ४७७ पं० ४ । (१४) स्वावरणक्षयोपशमलक्षणया । (१५) पृ० १७१ ।

1 प्रवृत्त न–आ० । 2–स्थ ... श्र० । 3 घटादिभावो–ब० । 4 कृत पर ब० । 5–दुत्पद्यते आ० । 6 भाव ... ब० । 7–था प्रदेशस्य ब० ।

न चाऽवस्तुत्वान्नाभावस्य किं प्रसाधनप्रयासेनेत्यभिधातव्यम्, प्रमाणतः प्रतीय-मानत्वादिसाधनात् तस्य वस्तुत्वप्रसिद्धेः । तथाहि–अभावो वस्तु, प्रमाणतः प्रतीयमानत्वात्, यत् प्रमाणतः प्रतीयमानं तद् वस्तु यथा भावः, प्रमाणतः प्रतीयमानश्चाऽभाव इति । तथा, यत् कारणादुत्पद्यते तद्वस्तु यथा घटादि, कारणादुत्पद्यते चाऽभाव इति । तथा, यदर्थक्रियाकारि तद्वस्तु तथा प्रदीपः, अर्थक्रियाकारी चाऽभाव इति । तथा, यद् अवान्तरभेदेन भिद्यते तद्वस्तु यथा रूपरसादि, प्रागभावाद्यवान्तरभेदेन भिद्यते चाऽभाव इति । ततः सिद्धो भाववद् अभावो वास्तवो वस्तुधर्मः प्रमेय इति । प्रमाणं तु तत्परिच्छेदकम् अभावाख्यं प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं वास्तवं न प्रसिद्धम्, प्रत्यक्षादितोऽपि तत्परिच्छेदप्रसिद्धेः । यत् प्रमाणान्तरादपि परिच्छिद्यते न तत्र प्रमाणनियमः यथा वह्न्यादौ, प्रमाणान्तरादपि परिच्छिद्यते चाऽभाव इति । यत् पुनः यत्प्रकारप्रमाणान्तरान्न परिच्छिद्यते तत्र तत्प्रकारप्रमाणनियमो यथा रूपरसादाविति ।

ततः सूक्तम्–'**अदृश्यस्यापि परचित्तविशेषस्य अभावः तदाकारविकारादेरन्यथानुपपत्तितः**' इति । सर्वत्र हि गमकत्वम् अन्यथानुपपत्तिप्रसादादेव, सा च अदृश्यानुपलब्धावप्यस्ति इति कथं नास्या गमकत्वम् ?

'अदृश्य' इत्यादिना व्यतिरेकमुखेन कारिकां व्याचष्टे–अदृश्यानुपलब्धेः सकाशात् संशयैकान्ते अङ्गीक्रियमाणे न केवलं परचित्ताभावो न

विवृतिव्याख्यानम्— सिद्ध्यति सौगतस्य अपि तु स्वचित्तभावश्च न सिद्ध्यति । कुत एतद् ? इत्याह–'तद्' इत्यादि । तस्य स्वचित्तस्य यद् अंशः तत्र सजातीयविजातीयव्यावृत्तं मध्यक्षणस्वरूपं तस्य अदृश्यात्मकत्वात् । ततः किं जातम् ? इत्याह 'तथा च' इत्यादि । **तथा च** तेन च स्वचित्तभावाऽसिद्धिप्रकारेण कुतः न कुतश्चित् **परमार्थसतो** मानाद् भावस्य क्षणभङ्गसिद्धिः धर्मिहेतुदृष्टान्तादेरसिद्धेः । न खलु बहिरन्तर्वा अनंशतत्त्वस्य अदृश्यात्मतयाऽसिद्धौ धर्म्यादेः सिद्धिर्युक्ता, तदसिद्धौ च पुनः क्षणभङ्गादेः

(१) अभावस्य । (२) स च त्रिविधः प्रागभावः प्रध्वंसाभावश्चेति । चतुर्विध इत्यन्ये इतरेतराभावः, अत्यन्ताभावश्च तौ च द्वौ । पञ्चप्रकार इत्यन्ये–अपेक्षाभावः सामर्थ्याभावश्च ते च चत्वार इति । –न्यायमं० पृ० ६३ । 'अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः । प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥ एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते ।' –मुक्ता० का० १२, १३ । (३) अभावपरिच्छेदकं पृथगभावाख्यं प्रमाणं नास्ति प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरैरपि तस्य परिच्छिद्यमानत्वात् । (४) रसो यथा रूपग्राहिचाक्षुषप्रत्यक्षान्न परिच्छिद्यते अतः तद्ग्रहणाय रासनप्रत्यक्षस्य नियमो भवति नचैवमभावः प्रत्यक्षादिभिः परिच्छिद्यमानः प्रमाणान्तरत्वनियमः । (५) स्वचित्तसद्भावः । (६) अदृश्यात्मकत्वासिद्धौ सत्याम् ।

1 प्रमीयमान–ब । 2 प्रदीपादि अथ–ब० । 3–नियमोऽपि यथा ब० । 4 तत्तत्प्रका–आ० । 5 तत्प्रमाणनि–आ० । 6–सत्यावस्तीति आ० । 7 'तदित्यादि' नास्ति आ०, ब० । 8 सजातीयव्या–ब० । 9 तेन स्वचि–आ० । 10–सतो भावस्य अनुमानात् क्ष–श्र० ।

सिद्धिः स्यात्? कस्य तर्हि क्षणभङ्गसिद्धिः स्यात्? इत्याह–'तद्' इत्यादि। तस्माद् अनंशतत्त्वाद् विपरीतं सारं तत्त्वं तस्य। कथम्भूतस्य? अभेदलक्षणस्य युगपत् क्रमेण वा अनेकस्वभावात्मकस्य स्याद् भवेत् क्षणभङ्गसिद्धिः नान्यस्य इति एवकारार्थः।

ननु चाभेदलक्षणतत्त्वस्य सविकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना प्रतिपन्नत्वात् किं तत्र क्षणभङ्गाद्यनुमानेन? इत्याशङ्कापनोदार्थमाह–

वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्यक्षणभङ्गाद्यवीक्षणम्।
स्वसंविद्विषयाकारविवेकानुपलम्भवत् ॥ १६ ॥

विवृतिः–स्थूलस्यैकस्य दृश्यात्मन एव पूर्वापरकोट्योरनुपलम्भात् अभावसिद्धेरनित्यत्वं बुद्धेरिव वेद्यवेदकाकारभेदस्य परमार्थसत्त्वम्, न पुनः परिमण्डलादेः विज्ञानानंशतत्त्ववत्। नापि क्षणिकपरिमण्डलादेः अविभागज्ञानतत्त्वस्य वा जातुचित् स्वयमुपलब्धिः तथैवाप्रतिभासनात्। तत्कथञ्चित् तत्स्वभावप्रतिभासे अनेकान्तसिद्धिः।

कारिकार्थ — **वीक्ष्यम्**, उपलब्धिलक्षणप्राप्तं स्थूलमेव ग्राह्यम्, तस्य ये **अणवः** अतिसूक्ष्मा भागाः तेषां **पारिमाण्डल्यं** वर्तुलत्वं यच्च **क्षणभङ्गादि** आदिशब्देन कार्यकारणसामर्थ्यादिपरिग्रहः तस्याऽ**वीक्षणम्** अग्रहणम्। अत्र दृष्टान्तमाह 'स्व' इत्यादि। **स्वसंविदो** बौद्धकल्पितनिरंशबुद्धेर्ये **विषयाकारस्य** स्थूलाद्याकारस्य **विवेकः** निवृत्तिः तस्य **अनुपलम्भवत्**। नहि तस्यां प्रतिभासमानायां

(१) अनन्तपर्यायेषु अनुगताकारतया व्यापिनः अभेदलक्षणस्य द्रव्यस्येति यावत्, अथवा अनेकावयवेषु कथञ्चित्तादात्म्यतया व्यापिनः अभेदलक्षणस्य स्कन्धस्येति। (२) "वीक्ष्यमुपलब्धिलक्षणप्राप्तं स्थूलं तस्याणवः सूक्ष्मा भागा अवयवास्तेषां पारिमाण्डल्यं वर्तुलत्वम् अन्योन्यविवेकः क्षणे क्षणे भङ्गः क्षणभङ्गः समयं प्रति नाश इत्यर्थः। स आदिर्यस्य कार्यकारणसामर्थ्यादेस्तयोक्तः, वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्यं च क्षणभङ्गादिश्च तत्तथोक्तम् तस्याऽवीक्षणं प्रत्यक्षेणानुपलम्भो दर्शितः। न खलु साव्यवहारिकप्रत्यक्षेण क्षणभङ्गादिर्वीक्ष्यते तेन स्थिरस्थूलसाधारणाकारस्यैव वीक्षणात्, योगिप्रत्यक्षस्यैव तद्वीक्षणसामर्थ्यसिद्धेः, सत्त्वात्मकत्वान्यथानुपपत्त्यादिहेतुना कथञ्चिदनित्यादिधर्मस्याप्यविनाभावप्रसिद्धेः। प्रकृतार्थे दृष्टान्तमाह–स्वसंविदित्यादि। स्वसंविदः स्वसंवेदनस्य तस्या विषयाकारा घटाद्याकारास्तस्माद्विवेको व्यावृत्तिस्तस्यानुपलम्भः प्रत्यक्षेणाग्रहणं तद्वत्। यथा ज्ञानस्य स्वरूपप्रतिभासने बहिरर्थाकारनिवृत्तिर्विद्यमानेनापि न प्रतिभासते सौगतानां तस्य तादृक् सामर्थ्याभावात् तथा बहिरन्तश्चाणुपारिमाण्डल्यादि प्रत्यक्षेण न प्रतिभासते तथासामर्थ्याभावात्। ततोऽनुमानादेवान्यतः तत्प्रतिपत्त्यर्थं।'–लघी० ता० पृ० ३६। (३) घटपटादि। (४) "नित्यं परमाणुमनःसु भवतु पारिमाण्डल्यम् पारिमाण्डल्यमिति तस्य नाम, तथाहि–परिमण्डलानि परमाणुमनांसि तेषां भावः पारिमाण्डल्यं तत्परिमाणमेव।–प्रश० भा०, व्यो० पृ० ४३२। 'पारिमाण्डल्यमिति सर्वापकृष्टं परिमाणम्।'–प्रश० कन्द० पृ० १३३। 'पारिमाण्डल्यं परमाणुपरिमाणम्'–तत्त्वप० टी० पृ० ४९। मुक्ता० का० १५। (५) स्वविज्ञानस्य–भा० टि०। (६) सविकल्प–भा० टि०।

1–स्याद्भङ्गा–ज० वि०। 2–स्वरूपमा–ब०। 3–इत्यादि–ब०।

र्ग्राह्याकारविवेकः प्रतिभासते स्थूलाद्याकारभ्रान्तेरभावप्रसङ्गात्। यत्र यदा वास्तवो यदाकारः प्रतीयते न तत्र तदा तद्विपरीताकारस्य प्रतीतिरस्ति यथा नीले प्रतीयमाने न पीतस्य, प्रतीयते च विषयाकारविवेकः सौगतकल्पिताया संविदि इति।

कारिकार्थं विवृण्वन्नाह–'स्थूलस्य' इत्यादि। स्थूलस्य महतः एकस्य क्रमाऽक्रमानेकविवर्त्तव्यापिनः प्रतिपादितप्रकारेण दृश्यात्मन एव उपलभ्यस्वभावस्यैव अनित्यत्वं सिद्ध्यति 'नान्यस्य' इति सम्बन्धः। कुत एतत्? अनुपलम्भात् हेतोः तस्यैव पूर्वापराकारकोट्योः अभावसिद्धेः। तथा च यदुक्तं परेण–"यद् यत्र उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तत् तत्र नास्ति यथा क्वचित् प्रदेशविशेषे घटः, नोपलभ्यते च उपलब्धिलक्षणप्राप्तो मध्यक्षणः पूर्वापरकोट्योः" [ ] इति, तदयुक्तम्, यतः कथञ्चित्तत्र तदभावसाधने सिद्धसाधनम्। सर्वथा तत्साधने पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनं हेतोश्चाऽसिद्धिः, तथा तत्र तदनुपलम्भाऽसिद्धेरिति। ननु चास्तु स्थूलादिस्वभावस्यार्थस्य अनित्यत्वं न तु परमार्थसत्त्वम् मरीचिकाजलादिवदसत्त्वात्, इत्याशङ्क्याह–'बुद्धे' इत्यादि। यथोक्तस्यैवार्थस्य परमार्थसत्त्वं बुद्धेर्वेद्यवेदकाकारभेदस्य इव। प्रयोगः–यद् अनेकस्वभावं तदेव परमार्थसत् यथा वेद्यवेदकाद्यनेकस्वभावा संवित्, अनेकस्वभावञ्च अन्तर्बहिर्वा जैनाभ्युपगतं वस्तु इति। तथापि मरीचिकातोयनिदर्शनेन अस्याऽसत्त्वे बुद्धेरप्यतोऽसत्त्वप्रसङ्गः विशेषाभावात्। ननु नाऽनेकस्वभावस्यार्थस्य अनित्यत्वं परमार्थसत्त्वं वा अपि तु परमाण्वादेः, इत्यत्राह–'नपुनः' इत्यादि। न पुनः नैव परिमण्डलसम्बन्धात् परिमण्डलः परमाणुः आदिर्यस्य यौगकल्पिताऽवयव्यादेः स तथोक्तः तस्याऽनित्यत्वं परमार्थसत्त्वञ्च। निदर्शनमाह–

(१) ग्राह्याकाररहितत्वम्। (२) यदि हि संविदि ग्राह्याद्याकारा प्रतिभासेरन् तदैव तस्याः प्रतिभासमानस्य स्थूलाद्याकारस्य भ्रान्तत्वं शक्यते कल्पयितुम् यदा च संवित्ति ग्राह्याद्याकारशून्य वास्ति तदा कथं तत्र भ्रान्तत्वेनापि स्थूलाद्याकारः प्रतिभासेत? (३) संविदि न भ्रान्ततयाऽपि स्थूलाद्याकारप्रतिभासः, वास्तवस्य ग्राह्याद्याकाररहितत्वस्य तत्र प्रतिभासमानत्वात्। (४) स्कन्धस्य। (५) निरंशपरमाणुरूपस्वलक्षणस्य। (६) सौगतेन। (७) पूर्वापरक्षणयोः–आ० टि०। (८) मध्यक्षणाभावः–आ० टि०। (९) सर्वथा। (१०) पूर्वापरक्षणयोः। (११) मध्यक्षणः। (१२) बौद्धमत–आ० टि०। (१३) स्थूलादिस्वभाव एवार्थः परमार्थसन् अनेकस्वभावत्वात्। (१४) 'यथोक्तम् आर्यरत्नावल्याम्–मरीचिकातोयमित्यतोऽस्ति मत्वा गतोऽत्र सन्। यदि नास्तीति तत्तोयं गृह्णीयान्मूढ एव सः॥ मारीचिप्रतिमं लोकमेवमस्तीति गृह्णतः। नास्तीति चापि मोहोऽयं सति मोहे न मुच्यते॥ अनाप्तकल्पितं पूर्वं पश्चात्तत्त्वार्थनिर्णयः। यत्र न लभते भावमेवाभावस्तत्र कुतः॥ इति। तदेवं निःस्वभावानां सस्वभावानां कुतो यथोक्तप्रकारसिद्धिः। तस्माल्लौकिकं विपर्यासमभ्युपेत्य सांवृतानां पदार्थानां मरीचिकाजलकल्पानामिदं प्रत्ययतामात्राभ्युपगमेनैव प्रसिद्धिर्नान्यतः।'–माध्यमिकवृ० पृ० १८८। (१५) स्थूलाद्यनेकस्वभावस्य वस्तुनः। (१६) मरीचिकातोयदृष्टान्तात्। (१७) परिमण्डलः वर्तुलाकारः।

1–ति विव–ब०। 2 पूर्वापरकोट्योः–श्र०, ब०। 3 तदनुपलम्भासिद्धिरिति ब०। 4 नानव–ब०। 5–त्यादि ब०। 6 –र्थं निद–ब०।

'विज्ञान' इत्यादि । **विज्ञानस्य यद् अनंश तत्त्व स्वरूप तस्य इव तद्वदिति ।** ननु वहिरन्तश्च अनशस्यैव तत्त्वस्य उपलम्भ अतस्तस्यैव परमार्थसत्त्वम्, अनुपलम्भाच्च पूर्वापरकोट्योरसत्त्व सिद्ध्यति इति यौग-सौगता¹, तत्राह–**'नापि'** इत्यादि । **नापि** नैव **क्षणिकाः परिमण्डलाः** परमाणव **आदयो** यस्य अवयव्यादे स तथोक्त तस्य **अविभागविज्ञानतत्त्वस्य वा जातुचित्** कदाचिदपि **स्वयम्** आत्मना **उपलब्धि ।** कुत एतदित्यत्राह–**'तथैव'** इत्यादि । **तथैव** परपरिकल्पितप्रकारेणैव **अप्रतिभासनात् ।** अथ वहिरन्तस्तत्त्वस्य क्षणिकाऽनशादिस्वभावतया अप्रतिभासनेऽपि सच्चेतनादिरूपतया प्रतिभासनादयमदोष, अत्राह–**'तत्कथञ्चिद्'** इत्यादि । **तस्य** वहिरन्तस्तत्त्वस्य **कथञ्चित्** न सर्वात्मना **तत्स्वभावप्रतिभासे** सच्चेतनादिस्वरूपप्रतिभासने अङ्गीक्रियमाणे **अनेकान्तसिद्धिः** एकस्य द्वयेतरस्वभावसिद्धे ।

एव परस्य अनुपलब्धि निराकृत्य अधुना स्वभावादिहेतु निराकुर्वन्नाह–

अनंशं वहिरन्तश्चाप्रत्यक्षं तदभासनात् ।
कस्तत्स्वभावो हेतु स्यात् कि तत्कार्यं यतोऽनुमा ॥१७॥

विवृतिः–साक्षात् स्वभावमप्रदर्शयतो निरंशतत्त्वस्यानुमितौ स्वभावहेतोरसंभवः स्वभावविप्रकर्षात् । तत एव कार्यहेतोः; कार्यकारणयोः सर्वत्रानुपलब्धेः । न चात्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः³ प्रभवः कार्यव्यतिरेकोपलक्षिता वा कारणशक्तिः । तदङ्गीकरण प्रमाणान्तरमन्तरेणानुपपन्नम् । स्वयमुपलब्धस्य प्रागूर्ध्वञ्चानुपलब्धेः कृतकत्वादनित्यत्व सिद्ध्येत् नान्यथा ।

यौगसौगतकल्पित यद् **अनशं** तत्त्वम्, क्व ? **वहिरन्तश्च** । तत्किम् ?

कारिकाय – **अप्रत्यक्षं** प्रत्यक्षग्राह्य न भवति । कुत एतद् ? इत्यत्राह–**तदप्रतिभासनात्** तस्य अनशतत्त्वस्य अप्रतीते । तत किं जातम् ? इत्यत्राह–**'कस्तद्'** इत्यादि । कः, न कश्चित् **तस्य** अनशस्य **स्वभावो हेतुः**

(१) योगाना मते अन्त अनशस्य निरवयवस्य व्यापिन आत्मन उपलम्भ, वहिश्च निरशावयविन । सौगतमते च स्वलक्षणस्य पूर्वापरक्षणयोरनुपलम्भात् अभाव, मध्यमक्षण एव च स्थायिता । (२) 'यत् सौगतै परिकल्पित वहिरचेतनम् अन्तश्चेतनम्, निरशम् अणवो द्रव्यक्षणकाल्भाव विभागा तेभ्यो निष्क्रान्त निरंश तदप्रत्यक्ष प्रत्यक्षाविषय । कुत ? तदभासनात् तस्य निरंशतत्त्वस्य भासनादननुभवात । न खलु द्रव्यादिविभागरहित चिदचिद्वा तत्त्व प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासते तत्र नित्यानित्याद्यनेकाशव्यापित्वेन वस्तुन प्रतीते । ततस्तस्य निरंशस्य प्रत्यक्षतोऽसिद्धस्य स्वभावो धर्म को हेतुर्लिङ्ग स्यात्, न कोऽपि इत्यर्थ । प्रमाणतोऽसिद्धस्याहेतुत्वात् । तस्य कार्यञ्च किनु हेतु स्यात, सर्वथा निरशस्यापरिणामिन कार्यकरणायोगात यतोऽनुमा भवेदित्याक्षेपवचन न कुतोऽपीत्यर्थ । तन्न सौगतमतेऽनुमान प्रामाण्यमास्कन्दत्यनुपपत्त ।'–लघी० ता० पृ० ३७ । (३) "प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन कार्यकारणभाव ।"–हेतुबि० टी० प० ७३ । "भाव भाविनि तद्भाव भाव एव च भाविता । प्रसिद्धे हेतुफलते प्रत्यक्षानुपलम्भत ॥' (सम्बन्धप०)–प्रमेयक० पृ० ५१० । स्या० र० पृ० ८१८ ।

1–भावादिसिद्धे व० । 2 विभप्रत्यक्षग्राह्य व० ।

स्यात् । किं न किञ्चित् **तस्य** अनंशस्य **कार्यं** हेतुः । कार्यग्रहणमुपलक्षणम्, तेन साध्याद् भिन्नानां संयोगिसमवाय्यादीनां निरासः सिद्धो भवति, अतो न परमते किञ्चित् लिङ्गं घटते **यतोऽनुमा** स्यात् ।

विवृतिव्याख्यानम्–

कारिकां विवृण्वन्नाह–**'साक्षात्'** इत्यादि । **साक्षात् स्वभाव** स्वरूपम् **अप्रदर्शयतो** भावस्य यत् **निरंशं** तत्त्वं स्वरूपं तस्य **अनुमितौ नियमाणायां स्वभावहेतोरसंभवः** । कुत इत्याह–**'स्वभाव'** इत्यादि । **स्वभावस्य** स्वरूपस्य **विप्रकर्षाद्** अदृश्यत्वात् । **तत एव** तद्विप्रकर्षादेव **कार्यहेतोरप्रतिपत्तिः** । कुत एतत् ? इत्याह–**'कार्य'** इत्यादि । **कार्यकारणयोः सर्वत्र** बहिरन्तर्वा **अनुपलब्धेः** अदर्शनात् । किञ्च, सिद्धे कार्यकारणभावे कार्यहेतोः प्रतिपत्तिर्युक्ता, न चात्र सोऽस्ति इत्याह–**'नच'** इत्यादि । **नच नैव अत्र** यौग सौगतकल्पिते **एकान्ते प्रत्यक्षानुपलम्भौ साधनं** यस्य स तथोक्तः । कः ? **प्रभवः**, कार्यकारणभावः 'प्रभवति' 'प्रभवति अस्मात्' इति च व्युत्पत्तेः । यथा च तत्कल्पितैकान्ते प्रभवो न घटते तथा विषयपरिच्छेदे प्रपञ्चितम् । ननु न सर्वत्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः प्रभवः, किन्तु क्वचित् इन्द्रियशक्तिवत् कार्यव्यतिरेकसाधनोऽपि, सोऽत्र स्यात्, इत्याशङ्क्य आह–**'कार्य'** इत्यादि । **कार्यस्य व्यतिरेकः** विवक्षितकारणव्यतिरिक्तकारणसाकल्येऽपि अनुत्पादः तेन **उपलक्षिता वा** । पक्षान्तरसूचको वाशब्दः । **कारणशक्तिः 'न चात्र'** इति सम्बन्धः । निरंशयोः कार्यकारणयोः मूलतोऽप्यदर्शने कारणव्यतिरेकतः कार्यव्यतिरेकाऽसिद्धिः इत्यभिप्रायः । नच प्रमाणान्तरमन्तरेण कारणशक्त्यङ्गीकरणं युक्तम् इत्याह–**'तदङ्गीकरणम्'** इत्यादि । **तस्याः कारणशक्तेः अङ्गीकरणम्** कार्यव्यतिरेकतः सद्भावस्वीकरणं **प्रमाणान्तरमन्तरेण** ऊहाख्यप्रमाणं विना **अनुपपन्नम्** । प्रसिद्धे हि कार्यकारणभावे कार्यव्यतिरेकतः कारणशक्तिपरिकल्पना स्यात् । नच प्रत्यक्षानुमानयोः कार्यकारणभावाभिसम्बन्धप्रतिपत्तौ सामर्थ्यमित्युक्तम्–**'अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित् सम्प्रतीयते'** [लघी० का० ११] इत्यत्र । कुतः पुनस्तदङ्गीकरणं तदन्तरेणाऽनुपपन्नम् ? इत्याह–**'स्वयम्'** इत्यादि । **स्वयम्** आत्मना **उपलब्धस्य** मध्यदशायां दृष्टस्य **प्रागूर्ध्वं** वा **तथैव अनुपलब्धिः** स्वयमेव अदर्शनं तस्मात् यत् **सिद्धं कृतकत्वं** कार्यत्वं तस्माद् **अनित्यत्वं** शब्दादेः **सिद्ध्येत् नान्यथा** न प्रकारान्तरेण । नच प्रत्यक्षमनुमानं

(१) अनुमानम् । (२) प्रभवति उत्पद्यते कार्यमिति कार्यव्युत्पत्तिः प्रभवति कार्यं यस्मात् कारणात् इति कारणव्युत्पत्तिः–आ० टि० । (३) पृ० २२०, पृ० ३८४ । (४) कारणशक्तिरस्ति कार्योत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेः । (५) कारणशक्तिस्वीकारः । (६) ऊहप्रमाणमन्तरेण ।

1 कार्यहेतुः श्र० । 2–नुमानं स्यात् आ० श्र० । 3 स्वरूपं दर्शय–ब० । 4 एतदित्याह–ब० एतदित्यत्राह श्र० । 5 प्रभवति अस्मात् इति व्यु–ब० श्र० । 6 प्रपञ्चितं ब० । 7–क्षितो वा ब० । 8–ञ्च तथा ब० ।

वा तथा प्रत्येतु समर्थमित्यूहस्यैव अत्र व्यापार इति मन्यते। कृतकत्वानित्यत्व-ग्रहणमुपलक्षण सकलहेतुमाध्यानाम्।

ननु सर्वोऽय कार्यकारणभावोऽनुमानानुमेयभावो वा कल्पनाशिल्पिकल्पितो न पार-मार्थिक तत्कथ प्रमाणान्तरप्रमक्ति ? इत्यप्यनुपपन्नम्, यतो विकल्पबुद्धौ सिद्धाया तत्कल्पितोऽसिद्धोऽय व्यवहार स्यात्। न च तैस्सिद्धि स्वत परतो वा घटते इत्यावेदयति–

धीर्विकल्पाऽविकल्पात्मा बहिरन्तश्च किं पुनः।
निश्चयात्मा स्वतः सिद्धयेत् परतोऽप्यनवस्थितेः ॥१८॥

विवृतिः–सर्वविज्ञानाना स्वसंवेदन प्रत्यक्षमविकल्प यदि, निश्चयस्यापि कस्यचित् स्वत एव अनिश्चयात्, निश्चयान्तरपरिकल्पनायामनवस्थानात् कुतस्तत्सव्यवहारसिद्धिः ? ततः स्वार्थेऽपि कथञ्चिदभिलापससर्गयोग्यायोग्य-निर्भासैकज्ञान प्रतिपत्तव्य स्वरूपवत्।

धीः बुद्धि, कथम्भूता ? **निश्चयात्मा** विकल्पबुद्धि इत्यर्थ। पुनरपि कथ-म्भूता ? इत्याह–**'विकल्प'** इत्यादि। **विकल्पो** व्यवसाय, कारिकार्थ – **अविकल्पो निर्विकल्पकः, तौ आत्मानौ** यस्या सा तथोक्ता। क ? **बहिरन्तश्च,** बहिर्विकल्पात्मा अन्तश्च अविकल्पात्मा इति। सा किम् ? इत्यत्राह–

(१) 'तथा चानुमानानुमेयव्यवहारोऽय सर्वो हि बुद्धिपरिकल्पितो बुद्धयारूढेन धर्मधर्मिभेदेने त्युक्तम्।–आचार्यदिग्नागेनाप्येतदुक्तमित्याह तथा चेत्यादि। सव एवेति यत्रापि साध्यसाधनयोरग्निधूमयोर्वास्तवो भेद तत्रापि स्वलक्षणेन व्यवहारायोगात्। अनुमीयतेऽनेनेत्यनुमान लिङ्गम अनुमेय साध्य धर्मी साध्यधर्मश्च तेषा व्यवहारो नानात्वप्रतिरूप बुद्धयारूढेन धर्मधर्मिणोर्भेदस्तेन बुद्धिप्रतिभासगतेन भिन्नेन रूपेण भेदव्यवहार इति यावत्।'–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।४। (२) विकल्पसिद्धि। (३) "किं पुन सिद्धयेत ? न सिद्धयदित्यर्थ। का ? धी बुद्धि। किं विशिष्टा ? निश्चयात्मा अनुमानबुद्धिरित्यर्थ। पुनरपि कथम्भूता ? विकल्पाविकल्पात्मा, विकल्पो व्यवसाय अविकल्पोऽव्यवसाय तावात्मानौ यस्या सा तथोक्ता। क्व ? बहिरन्तश्च, अत्र यथासंख्यमभिसम्बन्ध कर्तव्य, बहिर्घटादिविषये विकल्पात्मा अन्त स्वरूपे निर्विकल्पात्मा चेति। कुतो न सिद्धयत् ? स्वत स्वसंवेदनात्, तस्य निर्विकल्पकत्वेन विकल्पाविषयत्वात्। सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदन स्वसंवेदनमिति वचनात्। न केवल स्वत अपि तु परतोऽपि। किं पुन सिद्धयति ? परस्माद्विकल्पान्तरादपि न सिद्धयतीत्यर्थ। कुत ? अनवस्थिते। तदपि विकल्पान्तरत, स्वतो न सिद्धयति अगोचरत्वात् तत्रापि तत्सिद्धयर्थं विकल्पान्तर कल्पनीयमिति क्वचिदप्यनुपरमात। ततो नुमानस्यासिद्धे कथ बौद्धकल्पित प्रमाणसंख्यानियमो घटत इति भाव।'–लघी० ता० पृ० ३८। (४) 'सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम्। चित्तमर्थमात्रग्राहि, चैत्ता विशेषावस्थाग्राहिण सुखादय। सर्वे च ते चित्तचैत्ताश्च सर्वचित्तचैत्ता। सुखादय एव स्फुटानुभवत्वात् स्वसंविदिता नान्या चित्तावस्थेत्येतदाशङ्कानिवृत्त्यर्थ सर्वग्रहण कृतम। नास्ति सा काचिच्चित्तावस्था यस्यामात्मन संवेदन न प्रत्यक्ष स्यात्। येन हि रूपेणात्मा वेद्यते तद्रूपमात्मसंवेदन प्रत्यक्षम।–न्यायबि० टी० पृ० १९। (५) तुलना–"स्वत एव विकल्पसंविदा निर्णये स्वलक्षणविषयोऽपि विकल्प स्यात् परतश्चेदनवस्थानादप्रतिपत्ति।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० १७०।

1–विकल्पक ई० वि०। 2 निर्विकल्प ब०, श्र०।

किं पुनः सिद्ध्येत् ? नैव सिद्ध्येत्। कुतः ? **स्वतः** स्वसंवेदनात् निर्विकल्पकात्। यत् निर्विकल्पकेन गृह्यते न तत्सिद्ध्यति यथा क्षणक्षयस्वर्गप्रापणसामर्थ्यादि, निर्विकल्पेन गृह्यते च विकल्पस्वरूपमिति। तर्हि विकल्पान्तरात् तत् सेत्स्यति, इत्याह-**'परतः'** इत्यादि। न केवलं स्वतः अपि तु **परतः** विकल्पान्तरादपि **किं पुनः सिद्ध्येत्** इति 'नो सिद्ध्येत्' इति सम्बन्धः। कुत एतत् ? इत्याह-**अनवस्थितेः** अनवस्थानात्, विकल्पान्तरस्यापि तदन्तरात् सिद्धिप्रसङ्गात्।

कारिकां विवृण्वन्नाह-**'सर्व'** इत्यादि। **सर्वविज्ञानानां** विकल्पेतरज्ञानानां

विवृतिव्याख्यानम्-

स्वसंवेदनम् आत्मग्रहणं प्रत्यक्षम् अविकल्पकं निर्विकल्पकं **यदि** चेत् इष्यते। अत्र दूषणम् **'निश्चय'** इत्यादि। **निश्चयस्यापि** न केवलम् अनिश्चयस्य **कस्यचिद्** अनुमानानुमेयव्यवहारहेतोः **स्वत एव** स्वसंवेदनादेव **'अनिश्चयात्'** निश्चयाभावात्। अथ अन्यतो निश्चयः स्यादित्याह-**'निश्चय'** इत्यादि। प्रकृतान्निश्चयाद् अन्यो निश्चयः **तदन्तरम्** तस्य कल्पनायाम् **अनवस्थानात्।** कुतः, न कुतश्चित्, तस्मात् **सद्व्यवहारस्य** कार्यकारणभावादिलक्षणस्य सिद्धिः। तस्यैव असिद्धेः इत्यभिप्रायः। अस्तु तर्हि धीः निश्चयात्मा बहिरिव अन्तरपि इत्याह-**'ततः'** इत्यादि। **ततः** तस्माद् उक्तदोषात् **स्वार्थेऽपि** स्वस्य बुद्धेः अर्थो ग्राह्यः स्वलक्षणं तत्रापि न केवलं सामान्ये **कथञ्चित्** न सर्वात्मना, 'अभिलप्यते अनेन' 'अभिलप्यते' इति च **अभिलापौ** शब्दजात्यादी तयोः **संसर्गः** 'अस्येदं वाचकम्, अस्येदं वाच्यम्' इति योजनं तस्य **योग्ययोग्यौ निर्भासौ** तयोरेकं साधारणं **ज्ञानं** प्रतिपत्तव्यम् सौगतैः। अत्र दृष्टान्तमाह-**'स्वरूपवत्'** इति। स्वरूपम् इव तद्वदिति।

एवं परं प्रति तर्कादिकं प्रमाणान्तरं प्रतिपाद्य इदानीमुपमानस्य प्रमाणान्तरत्वनियमं निधुरयन्नाह-

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात्संज्ञिप्रतिपादनम् ? ॥१९॥

(१) विकल्पस्वरूपमसिद्धं निर्विकल्पेन गृह्यमाणत्वात्। (२) नीलादौ क्षणक्षये अहिंसादौ च स्वर्गप्रापणसामर्थ्यम्। (३) इति अभिलापः शब्दः। (४) इति अभिलापः अभिलप्यमानो जात्यादिः। (५) अत्र यदित्यनेनाध्याह्रियते। प्रसिद्धप्रमाणेन निश्चितोऽर्थो गोरूपस्तेन साधर्म्यात् सादृश्यात् उपजायमानं साध्यस्य गवयस्य तत्सादृश्यविशिष्टस्य गवयलक्षणस्य साधनं गोसदृशो गवय इति ज्ञानं यद्युपमानं प्रमाणान्तरमभ्युपगम्यते तदा तद्वैधर्म्यात् प्रसिद्धार्थवैसादृश्यादुपजायमानं साध्यसाधनं गोविलक्षणो महिष इति ज्ञानं किं प्रमाणं स्यात् ? तस्य किन्नामेत्याशयः। नहि तदुपमानमेव तल्लक्षणाभावात्। नापि प्रत्यक्षादि भिन्नविषयत्वाद् भिन्नसामग्रीप्रभवत्वाच्च। तथा संज्ञिनो वाच्यस्य प्रतिपादनं च

1 कुतः स्वस-आ०, श्र०। 2-तः संवेद-ब०। 3-कल्परूपमिति श्र०। 4 अपि विक-आ०। 5 'नो सिद्ध्येदिति' नास्ति आ०, श्र०। 6-ल्पनि-ब०। 7 यदीष्यते ब०। 8-वेदनानिश्च-आ०, [illegible]। 9 'अथ' नास्ति आ०। 10 अनवस्थाभावात् ब०। 11 अन्तरेऽपि ब०। 12 बाभि-ब०। 13 'स्वरूपवदिति' नास्ति आ०, ब०।

विवृतिः–प्रसिद्धार्थसाधर्म्यम् अन्यथानुपपन्नत्वेन निर्णीतञ्चेत् लिङ्गमेव ततः प्रतिपत्तिः अन्यथा न युज्यते। प्रत्यक्षेऽर्थे सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वे 'वृक्षोऽयम्' इति ज्ञानं वृक्षदर्शिनः प्रमाणान्तरम्, 'गवयोऽयम्' इति यथा गवयदर्शिनः प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसिद्धेरभावात्। 'गौरिव गवयः' इति श्रुत्वा गवयदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिवत् प्रत्यक्षेषु इतरेषु तिर्यक्षु तस्यैव पुनरगवयनिश्चयः किन्नाम प्रमाणम्? हानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्तिफलं नाप्रमाणं भवितुमर्हति।

कारिकार्थ – **प्रसिद्धोऽर्थो** गौः तेन **साधर्म्यं** सादृश्यं यद् गवयस्य तस्मात् **साध्यस्य** सादृश्यविशिष्टस्य विशेषस्य तेन वा विशिष्टस्य सादृश्यस्य **साधनं** सिद्धिः **उपमानं** प्रमाणम्। 'यदि'शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः। अत्र दूषणमाह–'**तद्**' इत्यादि। तेन प्रसिद्धार्थेन **वैधर्म्यं** वैसदृश्यं यन्महिष्यादे तस्मात् साध्यसाधनं 'गोविलक्षणा एते महिष्यादयः' इति प्रतीतिः, तत् **किं प्रमाणम्** किमभिधानं तत्प्रमाणम्? तस्य किञ्चिन्नाम कर्त्तव्यं यत् प्रत्यक्षादिषु न सम्भवति। तथा च सप्तमप्रमाणप्रसङ्गात् 'षडेव प्रमाणानि' इति सत्याव्याघातः।

उपमानं पृथक् प्रमाणमिति मीमांसकस्य पूर्वपक्षः — ननु उपमानप्रमाणानभ्युपगमे कुतो गवयदर्शनाद् असन्निकृष्टे अर्थे बुद्धेरुत्पत्तिः? येन हि प्रतिपन्ना गौरुपलब्धा न गवयः, न च अतिदेशवाक्यं श्रुतं 'गौरिव गवयः' इति, तस्य अरण्ये पर्यटतो गवयदर्शनानन्तरम् 'अनेन सदृशो गौः' इत्येवमाकारं परोक्षे गवि यत् सादृश्यज्ञानमुत्पद्यते तदुपमानम्।

विवक्षितसञ्ज्ञाविषयत्वेन सकलं यथा वृक्षोऽयमिति। तदपि किन्नाम प्रमाणं स्यादित्याक्षिप्यते। न खलु सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धज्ञानमप्रमाणम् आगमप्रामाण्यविलोपापत्तेः, उपमानाप्रामाण्यापत्तेश्च।"–लघी० ता० पृ० ३९। "प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।"–न्यायसू० १।१।६। (६) तुलना–"गवयस्योपलम्भे च तुरङ्गादौ प्रवर्तते। तद्वसादृश्यविज्ञानं यत्तदया प्रमा न किम्॥ –तत्त्वसं० पृ० ४५०। "साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेव प्रसज्यते।"–न्यायकुसु० ३।९। 'सादृश्यञ्चेत् प्रमेयं स्यात् वैलक्षण्यं न किं तथा।'–जनतकवा० पृ० ७६। उद्धृतोऽयम्–स्या० र० पृ० ४९८। रत्नाकराव० ३।४। प्रमेयर० ३।५। प्रमाणमी० पृ० ३५।

(१) "एकत्र श्रुतस्यान्यत्र सम्बन्धः अतिदेशः"–व्युत्पत्तिवा० त०। "इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगायादेशः"–वाचस्पत्यम्। 'तद्वदिदं कर्त्तव्यमित्यतिदेशः।'–शास्त्रदी० पृ० २७७। (२) "उपमानमपि सादृश्यमसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति, यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य।"–शाबरभा० १।१।५। "सादृश्यदर्शनोत्थं ज्ञानं सादृश्यविषयकमुपमानम्, दृष्टगोः पुरुषस्य गवयं तत्सदृशं पश्यतो यद् गोविषयकं गवयसदृशज्ञानं तदुपमानम्।"–प्रक० पं० प० ११०। "सादृश्याद् दृश्यमानाद्यत्प्रतियोगिनि जायते। सादृश्यविषयं ज्ञानमुपमानं तदुच्यते॥"–बृह० प० पृ० १०९। 'पूर्वदृष्टे स्मर्यमाणार्थे दृश्यमानार्थसादृश्यज्ञानमुपमानम्, यासावस्माभिर्नगरे दृष्टा गौः साऽनेन सदृशीति।'–शास्त्रदी० पृ० २५८। नयवि० पृ० १४६। तन्त्ररह० पृ० १३।

---

1 युज्येत ज० वि०। 2 इतरेषु तस्यव ई० वि०। 3–त्ति प्रमा–ई० वि०। 4 प्रसिद्धार्थो श्र०। 5–र्णं किञ्चि–ब०। 6 प्रतिपत्ता आ०, ब०। 7 न चातिदे–ब०।

अत्र च विप्रकृष्टसादृश्यप्रतीतौ सन्निकृष्टे सादृश्य करणम्। उक्तञ्च–

"दृश्यमानाद् यदन्यत्र विज्ञानमुपजायते।
सादृश्योपाधितस्तज्ज्ञैरुपमानमिति स्मृतम्॥" [　　　]

अस्य च अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वात् प्रामाण्यम्। यद्यपि गौरनेन प्रागेव उपलब्ध, सादृश्यञ्चेदानीं प्रत्यक्षत एव गवये दृश्यते, तथापि 'गवयसदृशो गौः' इति प्रागप्रतिपत्तेः अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वम्। यदि इदानीमेव गोः स्मृत्या सादृश्यस्य च अध्यक्षतोऽधिगमात् अधिकप्रमेयाभावाच्च अधिगतार्थाधिगन्तृत्वमस्य, इत्यप्ययुक्तम्, तद्विशिष्टस्य तत्र ताभ्यामनधिगते। यद्यपि प्रत्यक्षेण सादृश्य प्रतिपन्न गौश्च स्मृत्या, तथापि सादृश्यविशिष्टस्य गोपिण्डस्य स्मृत्या प्रत्यक्षेण उभाभ्यां वाऽप्रतीते तद्विषयत्वेन उपमानस्य अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वात् प्रामाण्यम्। नहि अनुमानेऽपि अतोऽन्यत् प्रामाण्यनिबन्धनम्। प्रत्यक्षेऽपि हि प्रदेशादौ धर्मिणि स्मृत्या चाग्नौ प्रतिपन्नेऽपि अग्निविशिष्टप्रदेशादिविषयत्वेन अनुमानस्य प्रामाण्य तद्वदुपमानस्यापि। तदुक्तम्–

"तस्माद्यत्स्मर्यते तत्स्यात् सादृश्येन विशेषितम्। प्रमेयमुपमानस्य सादृश्य वा तदन्वितम्॥
प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते। विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता॥
प्रत्यक्षेऽपि यथा देशे स्मर्यमाणे च पावके। विशिष्टविषयत्वेन नानुमानाऽप्रमाणता॥"

[मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३७–३९] इति।

ननु अस्तु उपमानप्रमाणम्, नतु प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्न तदन्यतमस्वभावत्वात्तस्य, इत्यप्यनुपपन्नम्, तदन्यतमस्वभावत्वस्य तत्राऽसम्भवात्। तथाहि–न तावत् प्रत्यक्षरूप तत्, परोक्षे गवि इन्द्रियार्थसम्प्रयोगाभावेऽपि उत्पद्यमानत्वात्। नापि स्मरणमेवेदमि-

(१) विप्रकृष्टो गौः। (२) सन्निकृष्ट गवयनिष्ठ सादृश्यम्। (३) साधकतम करणम्–आ० टि०। (४) गवयात्। (५) गवि। (६) उद्धृतोऽयम्–आप्तप० पृ० ५३। प्रमेयक० पृ० १८५। तत्त्वस–सन्मति० टी० पृ० ५७५। (७) उपमानस्य। (८) पुरुषेण। (९) स्मृतिवत्–आ० टि०। (१०) उपमानस्य। (११) सादृश्य –आ० टि०। (१२) गवि। (१३) स्मरणप्रत्यक्षाभ्याम्। (१४) विशिष्टविषयत्वेन। (१५) विशिष्टविषयत्वात्। (१६) पवनाग्नौ–आ०टि०। (१७) गौः। तस्माद् दृश्यते –न्यायवा० टी० पृ० ११। (१८) इति सादृश्यावधारणम् –आ० टि०। (१९) तयोः गोगवययोरन्वितम्। तत्र भिन्न –तत्त्वस०। व्याख्या– यस्मान्न प्रत्यक्षे गवये न किञ्चिदुपमानस्य प्रमेयमस्ति तस्मात्स्मर्यमाणश्च गोगवयसादृश्यविशिष्टा तद्विशिष्ट वा सादृश्यमुपमानस्य प्रमेयमिति। ननु गवये सादृश्यं प्रत्यक्षे गृहीतं गौ स्मर्यते किम यदुपमयपत आह–प्रत्यक्षेणेति। तत्रैव दृष्टान्तमाह प्रत्यक्ष इति। –मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४४५। (२०) 'विशिष्टस्यान्यत सिद्धे –प्रमेयक० पृ० ३४५। (२१) उद्धृता इमे–तत्त्वस० पृ० ४४५। प्रमेयक० पृ० ३४५। सन्मति० टी० पृ० ५७६। आप्तमी०–स्या० र० पृ० ४९७। जैनतर्कभा० पृ० १०। (२२) प्रत्यक्षाद्यन्यतम। (२३) उपमान। (२४) 'तस्मिन्नुपमान न प्रत्यक्षम् तिरोहिते गवि चक्षुःसन्निकर्षानिवर्तिनि जायमानत्वात्। न च स्मृतिः, गोगतसमये अनवगतगवयस्य तत्सादृश्यानुभवाभावात्।'–प्रक० प० पृ० १११।

1–स्य ताभ्या–ब०। 2–मानप्रमा–ब०।

गवये गृह्यमाणञ्च न गवामनुमापकम् । प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद् गोगतस्य न लिङ्गता ॥
गवयश्चाप्यसम्बन्धान्न गोलिङ्गत्वमृच्छति । सादृश्यं न च सर्वेण पूर्वं दृष्टं तदन्वयि ॥
एकस्मिन्नपि दृष्टेऽर्थे द्वितीयं पश्यतो वने । सादृश्येन सहैवाँस्मिंस्तदेवोत्पद्यते मतिः ॥"
[मी० श्लो० उपमान० श्लो० ४३-४६] इति[4] ।

नाप्येतत् शाब्दम्, अश्रुताऽतिदेशवाक्यस्य[6] प्रतिपत्तुः तत्सम्भवात् । नाप्यर्थापत्तिः, अन्यथानुपपद्यमानदृष्टश्रुतार्थानपेक्षणात् । नाप्यभावः, प्रमाणप्रमेयनिवृत्त्यनपेक्षणादिति ।

तन्निरसनपुरस्सरम् उपमानस्य सादृश्यप्रत्यभिज्ञाने एवान्तर्भावप्रदर्शनम्-

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्-'अनेन सदृशो गौः' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, तथाविधाया प्रतीतेरेवाऽसम्भवात् । तथाहि-अश्रुतातिदेशवाक्यो नागरकः काननं पर्यटन् अदृष्टपूर्वं गोसदृशं पशुं पश्यन् एव बुद्ध्यते ब्रवीति च-'गवा सदृश एव कश्चित् पशुः' इति, ननु 'अनेन सदृशो गौः' इत्येवंविधज्ञानमभिधानं वा कस्यचित्तदानीमस्तीति । अस्तु वा, तथापि अस्य प्रत्यभिज्ञारूपत्वान्न प्रमाणान्तरत्वम् । ननु अनुभूतेऽर्थे प्रत्यभिज्ञा प्रवर्तते दर्शनस्मरणनिबन्धनत्वात्तस्याः, न च पुरोवर्तिगवयावच्छिन्नसादृश्योपाधितया पूर्वं गोपिण्डोऽनुभूतः, गवयाग्रहणे तदवच्छिन्नसादृश्यविशेषितस्य गोपिण्डस्य ग्रहीतुमशक्तेरिति, तदयुक्तम्, यतः अस्य अनुभवाभावः-[13]गवयावच्छेदस्य,

(१) गवामनुमापकम्-मी० श्लो० । (२) व्यधिकरणत्वात् सम्बन्धे हि गमको गम्यं गमयति -आ० टि० । (३) न च तदन्वयि गवयगतं सादृश्यं पूर्वं दृष्टं किन्तु गवयदर्शनकाल एव सर्वस्यापि प्रमातुरुदीयते अननानधिगतार्थाधिगन्तृत्वं प्रामाण्यबीजमुपमानस्य ज्ञापितम् -आ० टि० । (४) 'सहैकस्मिन्-सन्मति० टी० पृ० ५७७ । (५) उद्धृता इमे-प्रमेयक० पृ० १८७ । सन्मति० टी० पृ० ५७७ । तुलना- अरूप्यानुपपत्तेश्च न च तस्यानुमानता । पक्षधर्मादि नैवात्र कथञ्चिदवकल्पते ॥ (प्राग्गोगतं हि सादृश्यं न) धर्मत्वेन गृह्यते । गवये गृह्यमाणञ्च न गवामनुमापकम् ॥ प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वात् गोगतस्य न लिङ्गता । गवयश्चाप्यसम्बन्धान्न गोलिङ्गत्वमृच्छति ॥ -तत्त्वसं० का० १५३९-४१ । (६) 'श्रुतातिदेशवाक्यस्य वने यातावोपयुज्यते । तेऽपि ह्यश्रुतवाक्यास्तेषामपि भवत्ययम् ॥ -मी० श्लो० उपमान० श्लो० १० । (७) तुलना- अन्यथानुपपद्यमानदृष्टश्रुतार्थानपेक्षत्वान्नार्थापत्तिः । प्रमाणप्रमेयनिवृत्त्यनपेक्षणान्नाभावः । -तत्त्वसं० प० पृ० ४५० । (८) पृ० ४८९ प० १६ । (९) तुलना- एवंविधप्रतीत्यभावात् । प्रसिद्धेन हि सादृश्यमप्रसिद्धस्य गम्यते । गवा गवयपिण्डस्य न तु युक्तो विपर्ययः ॥ तथाहि -अश्रुतातिदेशको नागरकः कानने परिभ्रमन्नदृष्टपूर्वं गोसदृशं प्राणिनमुपलभमान एव बुद्ध्यते ब्रवीति च अहो नु गवा सदृश एष कश्चन प्राणीति । न त्वनेन सदृशो गौरिति ज्ञानमभिधानं वा तदानीं कस्यचिद-स्तीति अत प्रमितेरेवाभावात् किं प्रमाणचिन्तया । -न्यायम० पृ० १४६ । (१०) तुलना- एकत्वसादृश्यप्रतीत्या सङ्कलनज्ञानरूपतया प्रत्यभिज्ञानतानतिक्रमात् । -प्रमेयक० पृ० ३४५ । न्यायाव० टी० पृ० १९ । स्या० र० प० ४९७ । प्रमाणमी० प० ३५ । जैनतर्कभा० पृ० १० । (११) प्रत्यभिज्ञायाः । (१२) गवयनिष्ठसादृश्यविशेषणविशिष्टतया । (१३) इदं सादृश्यं गवयनिष्ठमित्याकारस्य ।

1 सहैकस्मि-ब० । 2 शब्दम ब० । 3-त्तिरन्यथापत्तौ अन्यथानुप-आ० । 4 प्रमाणं प्रमेय-ब० श्र० । 5 नागरिक ब० । 6 पश्यन्नेव ब० । 7-त्स्यात् न च ब०, आ० ।

सादृश्यस्य वा ? प्रथमपक्षे 'स एवायम्' इत्यादि प्रतीतेरपि प्रत्यभिज्ञानता न स्यात् उत्तरपर्यायावच्छेदस्य पूर्वमननुभवात्। अथात्र अवच्छेदकस्य उत्तरपर्यायस्य पूर्वमननुभवेऽपि अवच्छेद्यस्य अन्वितद्रव्यस्य अनुभवात् प्रत्यभिज्ञानता, तदन्यत्रापि समानम्–अवच्छेदकस्य गवयस्य तदानधिगमेऽपि सादृश्यस्य अवच्छेद्यस्य अधिगमात्। कथमप्रतीतस्य गवयस्य सादृश्यविशेषणतेति चेत् ? कदा तदप्रतीतिः–गोदर्शनसमये, उत्तरकाल वा ? प्रथमविकल्पे उत्तरपर्यायस्यापि द्रव्यविशेषणत्वाभावप्रसङ्गः, पूर्वपर्यायप्रतीतिसमये तस्याप्यप्रतीतेः। अथ उत्तरप्रत्यक्षेण प्रतीतस्य तस्य तद्विशेषणता, तदेतदन्यत्रांप्यविशिष्टम्। तन्न गवयावच्छेदस्य अनुभवाभावः।

नापि सादृश्यस्य; तद्धि असन्निहितत्वान्नानुभूयते, प्रतिबन्धकसद्भावाद्वा ? न तावदसन्निहितत्वात्, सन्निहितपदार्थवृत्तित्वेन असन्निहितत्वाऽसिद्धेः। नापि प्रतिबन्धकसद्भावात् तस्यानुपलम्भः, गोपिण्डोपलम्भवत् सादृश्योपलम्भेऽपि प्रतिबन्धकस्य कस्यचिदप्यनुपलम्भात्। ननु उभयवृत्तित्वात् सादृश्यस्य कथमेकपिण्डोपलम्भसमये प्रतियोगिग्रहणमन्तरेणोपलम्भः स्यात् ? इत्यप्यसुन्दरम्, एकैकत्र अस्य समाप्ततया प्रतियोगिग्रहणमन्तरेणापि उपलम्भोपपत्तेः। कथमन्यथेदं शोभेत–

"सामान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र समाप्यते। प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि तैत्तस्मादुपलभ्यते॥" [मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३५] इति।

'इदमनेन सदृशम्' इति सादृश्यव्यवहार एव हि प्रतियोगिग्रहणापेक्षो न पुनः तत्स्व-

(१) उत्तरपर्यायनिष्ठमिदमवस्थमित्याकारस्य। (२) एकत्वप्रत्यभिज्ञाने। (३) सामान्यः...मानस्य प्रशस्तपादभाष्यादिषु आगमस्मरणयोरन्तर्भाव प्रदर्शि, तथाहि–"आप्तेनाप्रसिद्ध...गवा गवयप्रतिपादनादुपमानमाप्तवचनमेव।"–प्रश० भा० पृ० ५७६। "किञ्च स्मृतिः...न प्रमाणमुपमानं स्मृत्यन्तरवत् ... एव तु युज्यते तत्र गोस्पायमव सह। गवयावयवा ...तव ॥ तथास्य गवये दृष्टे स्मृतिः समुपजायते।"–तत्त्वसं० पृ० ४४८। "भवतु यथा ...गौ तथापि स्मृतित्वान्न प्रमाणफलम्।"–न्यायमं० पृ० १४६। "तस्मात् गवयग्रहण ...पिण्डावलम्बिनी सादृश्यप्रतीतिः सम्पादनाभिव्यक्तमस्कारजन्या स्मृतिरेव न प्रमाणान्तरम्।"–प्रश० कन्द० पृ० २२१। 'सादृश्यज्ञानस्य चोत्पत्तावयं क्रमः–पूर्वं तावत् गोगवययोर्विषाणित्वादि... प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, पश्चाद् गवयदर्शनानन्तरं 'यदेतद् विषाणित्वादिसादृश्यं ...मया तद् गव्यप्युपलब्धम्' इति स्मरति तदनन्तरं विषाणित्वादिसादृश्यप्रतिसन्धानं ...'अनेन ... गौः' इति। एवञ्च स्मार्तमेतद् ज्ञानं कथं प्रमाणान्तरं भवेत् ?"–सन्मति० टी० पृ० ५८७। (३) सादृश्यप्रत्यभिज्ञानेऽपि। (४) स एवायमिति एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्य...। (५) ...। (६) उत्तरपर्यायस्य–आ० टि०। (७) अन्वितद्रव्यस्यानीयमत्र ...विशिष्टम्, अत्रापि गवयप्रत्यक्षेण प्रतीतस्य सादृश्यस्य गोविशेषणत्वोपपत्तेरिति तात्पर्यम्–आ० टि०। (८) सादृश्यस्य। (९) 'तस्मात्तदुपगम्यते'–मी० श्लो०। 'तस्मात्तदुपलभ्यते'–न्यायमं० पृ० १४७। न्यायमं० पृ० १४७। प्रमेयक० पृ० ३४६। प्रश० कन्द० पृ० २२१। उद्धृतमिदम्–तुलना–'सामान्यवद्धि सादृश्यं प्रत्येकं च समाप्यते। प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि यस्मात्तदुपलभ्यते॥"–तत्त्वसं० पृ० ४४५।

1 गवय एवायम् ब०। 2 प्रतीतस्य तद्वि–ब०।

रूपप्रतिपत्तिः । प्रतिपत्ता हि गवयमुपलभ्य पूर्वानुभूतं गोपिण्डसंस्थानविशेषम् अवहितचेतसा परिभाव्य तयोः सादृश्यव्यवहारं प्रवर्त्तयति सङ्कलयति चैवम्–'मया पूर्वमेव गौः अनेन प्राणिना [1]तुल्यसंस्थानः प्रतिपन्नः, ततस्तां तुल्यसंस्थानतां स्मृत्वा सादृश्यं व्यवहरामि' इति । ततोऽयं सङ्कलनात्मकः प्रत्ययः स प्रत्यभिज्ञानमेव यथा 'स एवायम्' इति प्रत्ययः, सङ्कलनात्मकश्च 'अनेन सदृशो गौः' इति प्रत्यय इति । सङ्कलनं हि पूर्वोत्तरसमयसमधिगतयोः वस्तुरूपयोः [2]एकधर्मयोगितया सदृशादिधर्मयोगितया वा प्रत्यवमर्शनम् । तदात्मकत्वञ्च अत्रास्ति, गोगवययोः सदृशधर्मान्वितत्वेन प्रत्यवमर्शसम्भवात् ।

ननु चास्य प्रत्यभिज्ञानत्वे स्मृतिप्रत्यक्षप्रभवत्वप्रसङ्गः तत्सामग्रीत एवास्य आविर्भावात्, न चात्र सास्ति, गवयप्रत्यक्षादिसामग्रीमात्रात्तदुत्पत्तेः । न च विलक्षणसामग्रीप्रभवं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानं युक्तमतिप्रसङ्गात्, इत्यप्यसाम्प्रतम्, अत्रापि तत्सामग्र्या [3]विद्यमानत्वात् । तथाहि–स्मरणापेक्षं गवयप्रत्यक्षम् एवंविधं ज्ञानमुपजनयति, अनपेक्षं वा ? तत्र अनपेक्षस्य जनकत्वे अप्रसिद्धगोपिण्डस्यापि एतत् स्यात् । अथ स्मरणापेक्षं जनकत्वम्, तत्रापि किं स्मरणमात्रापेक्षम्, गोपिण्डस्मरणापेक्षं वा तत्तज्जनयेत् ? यदि स्मरणमात्रापेक्षम्, तदा अश्वादिस्मरणेऽपि तत् तज्जनयेत् । अथ गोपिण्डस्मरणापेक्षम्, तत्रापि किं गोपिण्डस्मृतिमात्रापेक्षम्, सादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणापेक्षं वा ? प्रथमपक्षे महिष्यादिस्मरणेऽपि तस्य तज्जनकत्वप्रसङ्गः, सादृश्याप्रतिपत्तेः उभयत्राप्यविशेषात् । गवयसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणापेक्षित्वे तु सिद्धं पूर्वमेव सादृश्यानुभवः, तदसिद्धौ संस्कारविशेषाभावतः तत्स्मरणस्यैवाऽनुपपत्तेः । पूर्वं तदननुभवे च

(१) अनेन सदृशो गौरिति प्रत्ययः प्रत्यभिज्ञानात्मकः सङ्कलनात्मकत्वात् । (२) स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाने–आ० टि० । (३) तुलना– तत्र किं स्मरणापेक्षमिन्द्रियमेव ज्ञानं जनयति अनपेक्षं वेति ? अनपेक्षस्य ज्ञानजनकत्वे अप्रसिद्धगोपिण्डस्य स्मरणमप्येतत् स्यात् । अथ पिण्डमात्रस्मरणे अश्वादिपिण्डस्मरणे स्यात् । अथ गवयसादृश्यावच्छिन्नस्मरणापेक्षं जनकम् तत्रापि यदि स्मरणमात्रमपेक्ष्य गजादिस्मरणेऽपि स्यात् । अथ गोपिण्डस्मरणापेक्षम् तत्रापि किं गोपिण्डमात्रस्मरणमपेक्षते, गवयसादृश्यावच्छिन्नं गोपिण्डस्मरणं वेति ? गोपिण्डमात्रस्मरणे अश्वादिपिण्डस्मरणेऽपि स्यात् । गवयादिसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणापेक्षित्वे पूर्वमेवानुभवो वाच्यः तदन्तरेण संस्कारानुत्पत्तेः स्मरणस्याभावात् । न च सविकल्पज्ञानाभावेऽपि गवयसादृश्यावच्छिन्ने गोपिण्डे पूर्वमनुभवोऽभ्युपगन्तव्यः । यत्र हि संस्कारोत्पत्तौ स्मरणात् मदीयया गवा सदृशोऽयं गवय इति ज्ञानं स्यात् । पूर्वं च गवयसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डेऽनुभवप्रसिद्धौ गवयोपलम्भात् 'मदीया गौरनेन सदृशी' इति कथमेतत् स्मरणं न स्यात् ? तथा पृष्टो ब्रवीति एतत्सदृशी मयोपलब्धा न तु प्रमाणान्तरं निश्चिनोति । –प्रश० व्यो० पृ० ५८८ । (४) अनेन सदृशो गौरिति–आ० टि० । (५) गवयप्रत्यक्षम् । (६) गवयप्रत्यक्षस्य । (७) यथा हि महिष्यादिस्मरणे न गोसादृश्यं प्रतीयते तथा गोपिण्डस्य स्मरणमात्रेऽपि न सादृश्यस्य प्रतिपत्तिः । (८) सादृश्यस्मरणस्यैव ।

1 सव पर्यन्त व० । † एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० । 2 एकधर्मयोगितया वा प्र– ब० । 3–विद्यमान–ब०, –विषयविज्ञान–श्र० । 4–मात्रापेक्षत्वे ब० ।

गोपिण्डसंस्थानविशेषविषयं निपुणनिरूपणमनर्थकमेव स्यात्। पिण्डमात्रस्मरणेऽपि सन्निकृष्टसादृश्यदर्शनबलेन विप्रकृष्टसादृश्यप्रतीतेरुत्पादप्रसङ्गात्। न च पिण्डमात्रमनुस्मरतः संस्थानविशेषमनिरूपयतः सादृश्यप्रतीतिरुत्पद्यते। अतो मन्यामहे–गवयसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डानुभवभावितेयं स्मृतिरिति। तथाविधस्मृतिसहायश्च गवयप्रत्यक्षम् 'अनेन सदृशो गौः' इति ज्ञानमुत्पादयतीति सिद्धमस्य स्मृतिप्रत्यक्षप्रभवत्वम्। अतः नोपमानं प्रत्यभिज्ञानाद् भिद्यते, अभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात्, यदभिन्नसामग्रीप्रभवं तदभिन्नम् यथा अविनाभावलक्षणलिङ्गितहेतुना समुपजायमानं स्वार्थपरार्थानुमानम्, स्मृतिप्रत्यक्षलक्षणाऽभिन्नसामग्रीप्रभवञ्च प्रत्यभिज्ञानोपमानलक्षणं ज्ञानद्वयमिति।

यच्चोक्तम्–विप्रकृष्टसादृश्यप्रतीतौ सन्निकृष्टं सादृश्यं करणम्' इत्यादि, तत्र किमिदं सन्निकृष्टसादृश्यस्य करणत्वम्–तदनुमापकत्वम्, तत्स्मारकत्वम्, तदुपमापकत्वं वा? प्रथमपक्षे पूर्वापरविरोधः–पूर्वं तस्य तदनुमापकत्वप्रतिषेधात् इह चाभ्युपगमात्। द्वितीयपक्षे तु सन्निकृष्टसादृश्यस्य विप्रकृष्टसादृश्यस्मृतिहेतुत्वात् उपमानहेतुत्वानुपपत्तिः, स्मृतेः उपमानत्वाऽसम्भवात्। तत्स्मृतिसहायं तु तत् तद्धेतुः स्यात् न चैवम्, तथा च 'दृश्यमानाद् यदन्यत्र' इत्यादि दुर्घटम्। एतेन तृतीयपक्षोऽपि प्रत्याख्यातः, येनैव तत्सादृश्यस्य तदुपमापकत्वासम्भवात्। न च सादृश्यस्य ज्ञानजनकत्वं सम्भवति, अर्थे ज्ञानजनकत्वस्य अग्रे निराकरिष्यमाणत्वात्। अतः सदृशवस्तुविषयाभ्यां दर्शनस्मरणाभ्यां गो-गवययोः सादृश्यपरामर्शि प्रत्यभिज्ञानाऽपरपर्यायमुपमानं जन्यते इत्यभ्युपगन्तव्यम्। तस्मात् उपमानस्य प्रत्यभिज्ञानस्वभावत्वान्न प्रमाणान्तरत्वं युक्तम्।

अनुमानस्वभावत्वाद्वा। कथमस्यानुमानत्वमिति चेत्? उच्यते स्मर्यमाणो गोपिण्डो विवक्षितगवयसादृश्यावच्छिन्नत्वेनोपमीयमानः, तेन अयं [illegible] उपमानत्वात्, यद् यदीयम् तत्तथा

(१) स्मृतिः। (२) पृ० ४९० पं० ११। (३) गवयसादृश्यानुस्मृतः। (४) विप्रकृष्ट [illegible]–आ० टि०। (५) सन्निकृष्टसादृश्यम्–आ० टि०। (६) उपमान–आ० टि०। (७) [illegible] (८) न प्रमाणान्तरत्वं युक्तमिति सम्बन्धः। [illegible]

यथा सन्निहितो गवयपिण्डः, तथा चायम्, तस्मात्तथेति। यदि वा, अविलक्षणविषाणाद्यवयवयोगित्वादिति हेतुः, साध्यदृष्टान्तौ तौ एव।

सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धज्ञानफलस्य उपमानस्य पृथक् प्रामाण्यं वदतां नैयायिकानां पूर्वपक्षः –

ननु माभूत् मीमांसकाभ्युपगतमुपमानं प्रत्यभिज्ञानादेः प्रमाणान्तरम्, नैयायिकैरभ्युपगतं तु भविष्यति। [1]ते हि "प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्" [न्यायसू० १।१।६] इत्युपमानलक्षणं वर्णयन्ति। तत्र [2]प्रसिद्धश्च तत्साधर्म्यञ्च, प्रसिद्धेन वा गवा साधर्म्यं गवयस्य, प्रसिद्धं वा साधर्म्यं यस्य स प्रसिद्धसाधर्म्यो गवयः तस्मात्, समाश्रित्य साध्यस्य सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धस्य साधनं बोधनम् उपमानम्। श्रुतातिदेशवाक्यस्य हि प्रमातुः अप्रसिद्धे पिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानं यद् इन्द्रियजं सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिफलं तदुपमानं प्रतिपत्तव्यम्। [3]तद्धि इन्द्रियजनितमपि धूमज्ञानमिव तैदगोचरप्रमेयप्रमितिप्रसाधनात् प्रमाणान्तरम्। श्रुतातिदेशवाक्यो हि नागरकः कानने परिभ्रमन् गोसदृशप्राणिदर्शनानन्तरम् आटविकवचः 'यादृशो गौस्तादृशो

(१) 'प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति। यथा गौरेवं गवय इति। किं पुनरत्र उपमानेन क्रियते? यदा खल्वयं गवा समानधर्मं प्रतिपद्यते तदा प्रत्यक्षतस्तमर्थं प्रतिपद्यते इति समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थ इत्याह। यथा गौरेवं गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्ममर्थम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपलभमानोऽस्य गवयशब्दः सञ्ज्ञेति सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यत इति। यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णी यथा माषस्तथा माषपर्णी इत्युपमाने प्रयुक्ते उपमानात् सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यमानस्ताम् ओषधीं भैषज्यायाहरति।' –न्यायभा० १।१।६। (२) प्रसिद्धसाधर्म्यादिति–प्रसिद्धं साधर्म्यं यस्य, प्रसिद्धेन वा साधर्म्यं यस्य सोऽयं प्रसिद्धसाधर्म्यो गवयस्तस्मात् साध्यसाधनमिति समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः। किमुक्तं भवति? आगमाहितसंस्कारस्मृत्यपेक्षं सारूप्यज्ञानमुपमानम्। यदा ह्यनेन श्रुतं भवति यथा गौरेवं गवय इति प्रसिद्धे गोगवयसाधर्म्ये पुनर्गवा साधर्म्यं पश्यतोऽस्य भवति अयं गवय इति समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिः। –न्यायवा० पृ० ५७। प्रसिद्धसाधर्म्यादित्यत्र प्रसिद्धिरुभयी श्रुतिमयी प्रत्यक्षमयी च। श्रुतिमयी यथा गौरेवं गवय इति। प्रत्यक्षमयी च यथा गोसादृश्यविशिष्टोऽयमीदृशः पिण्ड इति। तत्र प्रत्यक्षमयी प्रसिद्धिरागमाहितस्मृत्यपेक्षा समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिहेतुः। तस्मादागमप्रत्यक्षाभ्यामन्यदेवदमागमस्मृतिसहितं सादृश्यज्ञानमुपमानाख्यं प्रमाणमास्थेयम्। –न्यायवा० ता० पृ० १९८। (३) 'अद्यतनास्तु व्याचक्षते–श्रुतातिदेशवाक्यस्य प्रमातुरप्रसिद्धे पिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानमिन्द्रियजं सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिफलमुपमानम्। तद्धीन्द्रियजनितमपि धूमज्ञानमिव तदगोचरप्रमेयप्रमितिसाधनात् प्रमाणान्तरम्। श्रुतातिदेशवाक्यो हि नागरकः कानने परिभ्रमन् गोसदृशं प्राणिनमवगच्छति ततो वनेचरपुरुषकथितं यथा गौस्तथा गवय इति वचनमनुस्मरति, स्मृत्वा च प्रतिपद्यते अयं गवयशब्दवाच्य इति। तदेतत्सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धज्ञानं तज्जनकमित्युपमानफलमित्युच्यते।' –न्यायमं० पृ० १४२। न्यायकलि० पृ० ३। सम्बन्धस्य परिच्छेदः सञ्ज्ञायाः सञ्ज्ञिना सह। प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः॥ –न्यायकुसु० ३।१०।– ग्रामीणस्य प्रथमतः पश्यतो गवयादिकम्। सादृश्यधीर्गवादीनां या स्यात्सा करणं मतम्॥ वाक्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिर्व्यापार उच्यते। गवयादिपदानां तु शक्तिधीरुपमाफलम्॥ भाषा० का० ७९, ८०। तर्कसं० उपमानपरि०। (४) सारूप्यज्ञानम्। (५) इन्द्रियागोचर।

1 तथाहि ब०।

गवय' इति स्मृत्वा प्रतिपद्यते 'अयं स गवयशब्दवाच्य' इति । तदेतत् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानं प्रत्यक्षाद्यजन्यत्वात् उपमानफलम् । नहि प्रत्यक्षस्य तत्फलम्, वनस्थगवयाकारमात्रपरिच्छेदफलत्वात्तस्य । नाप्यनुमानस्य, पक्षधर्म-अन्वय-व्यतिरेकादिसामग्रीमन्तरेणापि संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेरुत्पादप्रतीतेः । नाप्यागमस्य तत्फलम्, न खलु नागरकः प्रतिपत्ता आरण्यकवाक्यादेव अरण्यस्थंप्राणिनं गवयशब्दवाच्यतया प्रतिपद्यते, किन्तु सारूप्यं प्रसिद्धेन गवा तस्य पश्यन् । नहि गवयादर्शने 'अयं स गवयशब्दवाच्य' इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिर्युक्ता अतिप्रसङ्गात् । तद्दर्शने तु सदेव 'श्रुतातिदेशवाक्यस्य हि' इत्याद्युक्तप्रकारेण तत्प्रतीतिफलमुपमानमुच्यते इति ।

वृद्धनैयायिकास्तु प्रसिद्धेतरयोः सारूप्यप्रतिपादकमतिदेशवाक्यमेव उपमानं वर्णयन्ति । गवयार्थी हि नागरकः अनवगतगवयस्वरूपः तदभिज्ञमारण्यकं पृच्छति 'कीदृशो गवय' इति ? स तं प्रत्याह–'यादृशो गौः तादृशो गवय' इति । तदेतद्वाक्यम् अप्रसिद्धस्य गवयस्य प्रसिद्धेन गवा सारूप्यमभिदधत् तद्द्वारकम् अप्रसिद्धस्य पशोः गवयसंज्ञाभिधेयत्वं ज्ञापयति इत्युपमानमुच्यते इति ॥ छ ॥

अत्रोच्यते । यत्तावन्नवीननैयायिकैरभिहितम्–'श्रुतातिदेशवाक्यस्य' इत्यादि, तत्र किं साक्षात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्त्यङ्गस्य उपमानता उच्येत, परम्परया वा ? प्रथमपक्षे न मीमांसकोपवर्णितोपमानादस्य कश्चिद्विशेषः, अतस्तत्पक्षोक्तदूषणगणप्रसङ्गोऽत्राप्यनिवारितप्रसरः प्रतिपत्तव्यः । न खलु भवत्कल्पितम् अप्रसिद्धपिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानमिन्द्रियप्रभवं साक्षात् तत्प्रतिपत्तेरङ्गं भवितुमर्हति । तद्धि केवलं तदङ्गं भवेत्, संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्मृतिसहायं वा ? यदि केवलम्, तदा अश्रुतातिदेशवाक्यस्यापि दृष्टगो

तत्प्रतिविधानपुरस्सरम् उपमानस्य सादृश्यप्रत्यभिज्ञान एवान्तर्भावसमर्थनम्–

(१) "प्रत्यक्षं तावदस्मिन् विषये न कृतश्रमम् । वनस्थगवयाकारपरिच्छेदफलं हि तत् ॥ अनुमानं पुनर्नात्र शङ्कामप्यधिरोहति । क्व लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धः क्व समाख्यासमाख्यति ॥ आगमाख्यं (?) तत्संविद्वनचरभाषितात् । तत्काले संज्ञिना नाम्नि गवयस्य हि दर्शनम् ॥"–न्यायम० पृ० १४२ । "सेयं न तावदागमस्य फलम् अनुपलब्धपिण्डस्यापि प्रसङ्गात् । नापि प्रत्यक्षफलम्, अश्रुतवाक्यस्यापि प्रसङ्गात् । नापि समाहारफलम् वाक्यप्रत्यक्षयोर्भिन्नकालत्वात् । वाक्यजन्यया स्मृतिद्वारेणान्यथापि गवयपिण्डसम्बन्धिनेन्द्रियेण तद्गतसादृश्यानुपलम्भे समयपरिच्छेदासिद्धेः–"–न्यायकुसु० ३।१० । (२) 'अत्र वृद्धनैयायिकास्तावदेवमुपमानस्वरूपमाचक्षते–संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिफलं प्रसिद्धेतरयोः सारूप्यप्रतिपादकमतिदेशवाक्यमुपमानम् । गवयार्थी हि नागरकः अनवगतगवयस्वरूपः तदभिज्ञमारण्यकं पृच्छति कीदृग्गवय इति स तमाह यादृशो गौस्तादृग्गवय इति । तदेतद्वाक्यमप्रसिद्धस्य प्रसिद्धेन गवा सादृश्यमभिदधत् तद्द्वारकमप्रसिद्धस्य गवयशब्दाभिधेयत्वं ज्ञापयतीत्युपमानमुच्यते'–न्यायमं० पृ० १४१ । (४) पृ० ४९६ पं० ८ । (५) समर्थ्यन्ते।

1–तेऽरण्यके ब० । 2–स्थं प्राणिनं ब० । 3–वाक्यं हि आ० ब० । 4–ङ्ग–ब० । 5 प्रसङ्गेऽत्र–आ० ।
॥ अत्र प्रतिविधीयते ब०,

नागरकस्य अटव्यां गवयं पश्यतः प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानं तत्सम्बन्धप्रतिपत्तिं विदध्यात्। अथ तद्वाक्यश्रवणसहायस्यैवास्य तत्प्रतिपत्तिजनने सामर्थ्यं न केवलस्य, तेनायमदोषः, तर्हि श्रुतनिस्मृतातिदेशवाक्यस्यापि प्रतिपत्तुः तत् तत्प्रतिपत्तिं विदध्यात्। अथ तत्स्मृतिसहायं सत् तत् तत्प्रतिपत्तेरङ्गम्, तर्हि प्रत्यभिज्ञानप्रमाणादेव साक्षात् तत्प्रतिपत्तिरङ्गीकृता स्यात्, तस्यैव गोगवययोः सादृश्यपरामर्शद्वारेण सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिहेतुत्वोपपत्तेः। तत्स्मृतिसहायेन हि गवयप्रत्यक्षेण उपलब्धोपलभ्यमानयोः गोगवययोः सारूप्यपरामर्शिप्रत्यभिज्ञाख्यं ज्ञानं जन्यते अन्यस्य तत्परामर्शायोगात्। नहि गवयप्रत्यक्षं गोस्मरणमुभयं वा तत्परामर्शं समर्थमित्युक्तं मीमांसककल्पितोपमानविचारावसरे। तेन च तत्परामर्शकुर्वता सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिर्विधीयते इति।

एतेन 'परम्परया तत्प्रतिपत्त्यङ्गस्य उपमानता' इत्यपि प्रत्युक्तम्, साक्षात् तत्सम्बन्धप्रतिपत्त्यङ्गप्रत्यभिज्ञानजनकत्वेन प्रसिद्धसारूप्यज्ञानादेरपि उपचारेण उपमानताभ्युपगमे सिद्धसाध्यताप्रसङ्गात्। चक्षुरादिना अतिप्रसङ्गाच्च, तस्यापि परम्परया तज्जनकत्वसम्भवात्। अत 'तद्धि इन्द्रियजनितमपि' इत्यादि प्रत्याख्यातम्, प्रत्यभिज्ञानस्यैव इन्द्रियागोचरसञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिप्रसाधनात् प्रमाणान्तरत्वोपपत्तेः।

यच्चाप्युक्तम्–'नाप्यागमस्य तत्फलम्' इत्यादि, तत्र सिद्धसाधनमेव, तत्सम्बन्धज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानफलत्वात्। किञ्च, शब्दान्तुलब्धमानत्वाद्वास्य आगमाऽफलत्वम्, तत्प्रतीतावुपायस्य अपरस्योपदेशात्, धीन्यमधित्त्यपेक्षणाद्वा ? तत्राद्यपक्षे किं सामान्यतोऽतिदेशवाक्यात् सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धज्ञानानुत्पत्तिः, विशेषतो वा ? यदि सामान्यतः, तदा 'अयमसौ गवयः यस्य मया पूर्वं सञ्ज्ञा श्रुता' इत्येवमाकारा प्रतिपत्तिरतिदुर्घटा स्यात्,

(१) प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानस्य। (२) अतिदेशवाक्य। (३) प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानम्। (४) गवयप्रत्यक्षात्–आ० टि०। (५) पृ० ४०४ पं० १२। (६) प्रत्यभिज्ञान। (७) साक्षात्सम्बन्धबोधकारणं यत् प्रत्यभिज्ञानं तस्य जनकत्वेन कारणे कार्योपचारान्निश्चय। (८) पृ० ४९६ पं० १०। (९) पृ० ४९७ पं० ४। (१०) तुलना– यादृशो गौस्तादृशो गवय इति श्रुतातिदेशवाक्यस्य वने गवयमुपलभमानस्याय गवय इति प्रतीतिरुपमानफलमुच्यते। तत्र तावत् गोसदृशो गवय इति प्रथमावगतिः पुरुषवाक्यमात्रप्रभवा नोपमानं भवति। यदपि वनगतस्य गवयं पश्यतो गोसादृश्य ज्ञानं तदपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षम्। या त्वनस्य गवयशब्दवाच्यतावगतिः साऽपि गवयशब्दप्रयोगानुमानिकी। यस्य शब्दस्य यत्र प्रयोगः तस्य तद्वाच्यतया सम्बन्धनियमोऽवगतः। वने च सञ्ज्ञिनमुपलभ्यतस्य सा मया सञ्ज्ञाऽवगतेति तज्ज्ञानं स्मरणमेवेति नोपमानस्यावकाशः। –प्रक० प० पृ० ११२। प्रश० कं० पृ० २२१ २२। तथा गोसदृशो गवय इति सङ्केतकाले गोसदृश-गवयाभिधानयोः वाच्यवाचकसम्बन्धं प्रतिपद्य पुनर्गवयदर्शनात्तत्प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञैव निष्पद्यते' –प्रमेयक० पृ० ३४७। स्या० र० पृ० ४९८। (११) 'न निगवाच्यतावुद्धिर्दर्शनादुपजायते। तज्ज्ञानेऽनवकन्तशब्दव्यापार इष्यते॥ न चासौ निरवत्यत्र वाच्यसंवित्त्यपेक्षणात्। शब्दो हि तन्निर्वाहान्न स्वकार्ये कृतो भवेत्॥' –न्यायमं० पृ० १४४।

1 तद्वाक्यात श्रव–ब०। 2–यतस्तत्प्रति–ब०। 3–य सतत्प्रति–ब०। 4–जनकमपि ब०। 5–त्तिरितिदुर्घ–ब०।

अतिदेशवाक्योच्चारणवैयर्थ्यञ्च। यत् यत्प्रतिपत्त्यर्थिनं तद्विषयां प्रतिपत्तिं मनागपि नोत्पादयति न तत्तं प्रति प्रेक्षावद्भिः प्रयुज्यते यथा जलप्रतिपत्त्यर्थिनोऽनलवाक्यम्, नोत्पादयति च गवयप्रतिपत्त्यर्थिनं तत्प्रतिपत्तिं मनागपि अतिदेशवाक्यमिति। अत विशेषतः, तत्र आगमप्रमाणाय दत्तो जलाञ्जलिः, तस्य प्रत्यक्षवत् [illegible] विशेषतः क्वचिदपि विषये विज्ञानजनकत्वासम्भवात्, सामान्यतः [illegible] सर्वत्र संवित्तिसम्भवात्।

अथ तत्प्रतीत्युपायस्य अपरस्योपदेशान्नास्य आगमफलत्वम्, यत्र हि [illegible] यदेव अर्थतत्त्वम् उपायान्तरनिरपेक्षमवधार्यते स आगमः, यत्र तु दुरवबोधे अर्थप्रतीतौ उपायान्तरमपरमुपदिशति तत्र तत एवोपायात् [illegible] सम्बन्धावधारणम्, उपायमात्रावगम एव तु [illegible], शब्दव्यापारप्रभवस्याप्यस्य सर्वात्मना विशेषेण यथागमात् [illegible] तदा प्रमाणानामानन्त्यप्रसङ्गात् नैयायिकस्य 'चत्वारि प्रमाणानि' इति [illegible] स्यात्। तथाहि–'यः सिंहासनाधिरूढः स राजा, परोऽस्मदनैः [illegible]

सप्तपर्णो विषमच्छदः' इत्येवमादिवाक्यैर्जनितसंस्कारस्य यथोक्तविशेषणविशिष्टं राजादिकं पश्यतः 'अयमसौ राजा' इत्येवमादिर्या सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरुत्पद्यते सा भवन्मते प्रमाणचतुष्टयानन्तर्भूतत्वात् प्रमाणान्तरं स्यात्। न ह्यसौ उपमानम्, प्रसिद्धसाधर्म्यानपेक्षणात्। नाप्यागमः, तत्प्रतीतौ सिद्धाम्नायानधिरूढत्वादेरुपायान्तरस्योपदेशात्। तथाप्यस्य आगमेऽन्तर्भावे उपमानस्यापि तत्रान्तर्भावोऽस्तु अविशेषात्।

एतेन 'नान्यसन्निध्यपेक्षणात्' इत्यपि प्रतिव्यूढम्, उक्तप्रतीतेस्तदपेक्षणेऽपि आगमे अन्तर्भावाऽभ्युपगमात्। ननु उपायान्तरादर्थप्रतीतावपि उपमानस्य आगमेऽन्तर्भावाभ्युपगमे 'अग्निमानयं पर्वतो धूमवत्त्वात् महानसवत्' इत्यादेः परार्थानुमानस्य कुतस्तत्रान्तर्भावो न स्यादिति चेत्? 'अनुमानकारणकार्यत्वात्' इति ब्रूमः। तथाहि–प्रतिपादकस्वार्थानुमानकार्यत्वात् प्रतिपाद्यस्वार्थानुमानकारणत्वाच्च वचनरूपस्यापि परार्थानुमानस्य अनुमानता न विरुध्यते। नचैतद् भवत्कल्पितोपमाने सम्भवति। न खलु उपदिष्टप्रसिद्धसाधर्म्यलक्षणोपायादर्थप्रतीतिं विहाय अन्यदुपमानं किञ्चिद् भवतः प्रसिद्धमस्ति यत्कारणकार्यतया अस्य उपदेशप्रभवस्याप्युपमानता स्यादिति[8]।

एतेन वृद्धनैयायिकैर्यदुक्तमुपमानलक्षणम्–'प्रसिद्धेतरयोः सारूप्यप्रतिपादकमतिदेशवाक्यमेव उपमानम्' इति, तदपि प्रत्याख्यातम्, अतिदेशवाक्यात्मनोऽस्य आगमस्वभावतया उपमानत्वायोगात्। किञ्चिद्विशेषमादाय अस्य अनागमस्वभावत्वाभ्युपगमे प्राक्प्रतिपादिताशेषदोषानुषङ्गः स्यात्। ततो गोगवययोः सारूप्यपरामर्शात्मकं ज्ञानमेव प्रत्यभिज्ञाख्यं मुख्यतः उपमानं युक्तं नान्यदिति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्, अत्र उक्तदोषाणां लेशतोऽप्यवकाशासम्भवात्॥ छ॥

५) कारिकायामनुक्तमपि दूषणं 'प्रसिद्ध' इत्यादिना दर्शयन्नाह–प्रसिद्धार्थसाधर्म्यम्

विवृतिव्याख्यानम्– अन्यथानुपपन्नत्वेन साध्याभावप्रकारेण निर्णीतं चेत् यदि तर्हि

दीनवस्त्रोक्षं तथा सत्यापयति यत्र तत्र तत्सङ्कलनमपि प्रत्यभिज्ञानमुक्तं दर्शनस्मरणकारणत्वाविशेषात्। परथा तु तत्प्रमाणान्तरमेवोपपद्यते उपमानादौ तस्यान्तर्भावाभावात्।'–प्रमेयर० पृ० ८४। स्या० र० पृ० ४९८। प्रमाणमी० पृ० ३४। जैनतर्कभा० पृ० १०।

(१) नैयायिकमते। (२) तुलना– वाक्यान्वयसङ्कृतस्य प्रतीतत्वात्। तथाहि–सादृश्यवाक्यस्यायमर्थो यो गोसदृशः स गवय इत्येव व्यवहर्तव्यः। स च वाक्यादुपलब्धसङ्केतः सादृश्यावच्छिन्नं पिण्डमुपलभमानः परं व्यवहरति अयं गवय इति। –प्रश० व्यो० पृ० ५८९। 'उपमानं तावत् यथा गौस्तथा गवय इति वाक्यम् तज्जनिता धीरागम एव। –साङ्ख्यतत्त्वकौ० पृ० ३९। वशे० उप० पृ० ३३७। (३) अतिदेशवाक्यावगतप्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानात्। (४) आगम–आ० टि०। (५) तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् –परीक्षामु० ३।५६। (६) भवानभिसम्बन्धस्य–आ० टि०। (७) अतोऽस्याऽऽगमेऽन्तर्भावो युक्त इति तात्पर्यम्–आ० टि०। (८) पृ० ४९७ पं० ९।

1–विनयविनि–श्र०। 2–मादिशया स–ब० –मादित्यास–श्र०। 3–सौ तु उप–श्र०। 4–तौ हि सिद्ध–श्र०। 5–रं प्रमाणं युक्तं ब०। 6–वादिति ब०।

लिङ्गमेवं तल्लक्षणत्वात् लिङ्गस्य । अथ तथात्वेन तदनिर्णीत तत्र दूषणमाह–'ततः' इत्यादि । तत प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् प्रतिपत्तिः साध्यसंवित्ति अन्यथा अन्यथानुपपन्नत्वनिर्णयाभावप्रकारेण न युज्यते । 'प्रत्यक्ष' इत्यादिना प्रथम कारिकार्द्धं व्याचष्टे–प्रत्यक्षे दर्शनेन विषयीकृते अर्थे गवयलक्षणे 'गवय' इति सञ्ज्ञा तस्या गवयलक्षणोऽर्थः सञ्ज्ञी तयोर्वाच्यवाचकभावलक्षण सम्बन्धः तस्य प्रतिपत्तेः 'गवयोऽयम्' इति संवित्ते प्रमाणान्तरत्वे अङ्गीक्रियमाणे दूषणमाह–'वृक्षं' इत्यादि । अयं दृश्यमानो भाव वृक्षः इति यत् ज्ञान तत् 'प्रमाणान्तर स्यात्' इत्यध्याहार । कस्य तज्ज्ञानम् ? इत्याह–वृक्षदर्शिनः । अत्र निदर्शनमाह–'गवय' इत्यादि । 'अय गवयः' इति ज्ञान यथा गवयदर्शिनः उपमानाख्य प्रमाणान्तर तथा प्रकृतमपि तदन्तर स्यात् । उपमान कस्मात् तत्र भवतीति चेत् ? अत्राह–'प्रसिद्ध' इत्यादि । प्रसिद्धार्थसाधर्म्याद् या साध्यसिद्धिः तस्या अभावात् तत्प्रमाणान्तरम् । कथ तज्ज्ञानमुत्पद्यत इति चेत् ? उच्यते वृक्षानभिज्ञो यदा कश्चित् कञ्चित् पृच्छति 'कीदृशो वृक्ष' इति ? स त प्रत्याह–'शाखादिमान् वृक्ष' इति । तद्वाक्याधाहितसंस्कार प्रष्टा पुन शाखादिमन्त पदार्थं पश्यन् 'अय वृक्ष' इति प्रतिपद्यते । अनेन च तद्वैधर्म्यात् तत्प्रतिपत्तिवैलक्षण्यात् इत्ययमर्थो व्याख्यात ।

तथाऽपरमपि प्रमाणान्तर परस्य आपादयितु 'गौरिव' इत्याद्याह । अस्यायमर्थ - यदा कश्चिदाटविक नगरस्थेन 'कीदृशो गवयः' इति पृष्ट इदमाह–'गौरिव गवय' इति । तदा तस्य नागरकस्य 'गौरिव गवयः' इत्येव वाक्य श्रुत्वा पर्यटतो गवयदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिवत् । तच्छब्देन दृष्टो गवय परामृश्यते, तस्य 'गवय' इति नाम तस्य प्रतिपत्ति सैव तद्वदिति । प्रत्यक्षेषु दर्शनविषयीकृतेषु इतरेषु प्रसिद्धार्थविसदृशेषु तिर्यक्षु महिष्यादिषु तस्यैव 'गौरिव गवय' इति वाक्य श्रुतवत पुन पश्चाद् 'अगवयोऽयम्' इति निश्चयः किन्नाम किमभिधान प्रमाण स्यात् ? सामान्येन

(१) तुलना–'योऽयम गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचक' इति प्रत्यय सोऽनुमानमेव । यो हि शब्दो यत्र वृद्ध प्रयुज्यत सोऽसति वस्त्वन्तरे तस्य वाचक यथा गोशब्दो गोत्वस्य, प्रयुज्यते च गवयशब्दो गोसदृश इति तस्यैव वाचक इति तज्ज्ञानमनुमानमेव ।' –सांख्यतत्त्वकौ० पृ० ४० । न्यायवा० पृ० ५६ । वर्गी० उप०पृ० ३३७ । (२) अन्यथानुपपत्तिलक्षणत्वात । (३) तुलना–"[illegible]" –परीक्षामु० ३।१० । प्रमेयक० पृ० ३४७ । (४) प्रमाणान्तरम–आ० टि० । (५) [illegible]–आ० टि० । (६) महिष्यादिषु वैधर्म्यात् प्रमाणान्तरत्वापत्ति –आ० टि० । (७) [illegible]–आ० टि० । (८) यथा तन्नामप्रतिपत्तिभवत प्रमाणान्तरं तथा गवय [illegible] प्रमाणान्तर प्राप्नोति इति भाव –आ० टि० ।

1 अपातथा–आ० । 2 तत्प्रसिद्धा–ब० । 3 प्रत्यक्षत इत्या–स० । 4 [illegible] 5 गवयोऽयमित्या–स०, ब० । 6 वृक्षाज्ञो आ०, वृक्षायज्ञो ब० । 7 [illegible] । 8 [illegible] 9 गवय इति वचन स० ।

निश्चयवचनम् अशब्दस्य मीमासकसम्बन्धिन शैान्स्य च नैयायिकसम्बन्धिनो निश्चयस्य सङ्ग्रहार्थम्, तेन मीमासक प्रति यद् व्याख्यान तदपि सङ्गृहीतम्, इतरथा 'अगवयनामनिश्चय' इति ब्रूयात्। अथ अगवयज्ञान प्रमाण न भवतीत्युच्यते, अत्रोत्तरमाह–'हानोपादान' इत्यादि। हानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्ति' फल यस्य अगवयज्ञानस्य तन्न अप्रमाण भवितुमर्हति किन्तु प्रमाणमेव तदिति प्रमाणेयत्ताव्याघात।

तथाऽपरमपि परस्याऽनिष्ट प्रमाण दर्शयन्नाह–

प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपद्यतः।
तत्प्रमाण न चेत्सर्वमुपमान कुतस्तथा ? ॥ २० ॥

विवृति –आगमाहितसंस्कारस्य तदर्थदर्शिन तन्नामप्रतिपत्ति' साकल्येन प्रमाणमप्रमाण वा न पुनरुपमानमेव। यथा एतस्मात् पूर्व पश्चिममुत्तर दक्षिण वा ग्रामधानकमेतन्नामकमित्याहितसंस्कारस्य पुनस्तद्दर्शिनः तन्नामप्रतिपत्ति। कश्चाय निश्चय' सनामसंज्ञिसम्प्रतिपत्तिसाधनमेव समवेऽर्थे प्रमाणान्तर न पुनः मरयादिप्रतिपत्तिसाधनमिति ?

प्रत्यक्षश्च तदर्थान्तरश्च तस्य अपेक्षा यस्या सा तथोक्ता। काऽसौ ? इत्याह–

कारिकार्थ – सम्बन्धप्रतिपत् वाच्यवाचकयो य सम्बन्ध तस्य प्रतिपत्ति यत. यस्मात् 'जायते' इत्यध्याहार, तत्प्रमाणम्। तदनभ्युपगमे दूषणमाह–'न चेत्' इत्यादि। न चेत् प्रमाण सर्व मीमासक नैयायिकपरिकल्पितम् उपमानम् कुत. ? न कुतश्चित् प्रमाणमिति सम्बन्ध तथा तेन तदप्रामाण्यप्रकारेण।

---

(१) मीमासका हि सादृश्यज्ञानमुपमानकथयन्ति अतस्तेषामुपमान न नामात्मकम्। (२) नैयायिकास्तु सनामसंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमान वर्णयन्ति अतस्तेषामभिप्रायेण तच्छब्दयोगात्मक भवति। (३) सूत्रकार–आ० टि०। अकलङ्कदेव। (४) यतो यस्माज्ज्ञानात् भवति। का ? सम्बन्धप्रतिपत सम्बन्धस्य वाच्यवाचकभावस्य प्रतिपत ज्ञप्ति। कि विशिष्टा ? प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा प्रत्यक्षात् शब्दलक्षणादर्थाद्यार्थोऽर्थान्तर प्रत्यक्ष च तदर्थान्तरञ्च प्रत्यक्षार्थान्तरं वृक्षादि तत्तथोक्तम्, तस्यापेक्षा यस्या सा प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा। तज्ज्ञान चेद्यदि न प्रमाण स्यात्तर्हि सर्व नैयायिकमीमासकादिकल्पितमुपमाने कुत प्रमाण स्यादविशेषात्। न हि सादृश्यसम्बन्धज्ञान प्रमाण न पुनर्वाच्यवाचकसम्बन्धज्ञानमिति विशेषोऽस्ति। तत्र संज्ञासंज्ञिसङ्कलनमपि प्रमाणान्तरमेव भविष्यतीति कुत प्रमाणसङ्ख्यानियम ? –लघी० ता० पृ० ४०। (५) तुलना– तथा अस्मात्पूर्वमिद पश्चाद्दीर्घ ह्रस्वमिद महत्। इत्यवमादिविज्ञान प्रमाणान्निष्टा प्रसज्यत॥' –तत्त्वस० प० पृ० ४५०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४२। (६) उपमानम्–आ० टि०।

---

1 असादयस्यामीमा–ब०। 2 सादय च ब०। 3 इतरथा गव–आ० ब०। 4–हानोपेक्षा' फल आ० ब०। –धानक य तन्ना–ई० वि०। 6 सनामसम्प्र–ब० वि०। 7 यस्या सा श्र०। 8–स्मा जायते श्र०। 9–ल्पित कुत ब०, आ०।

विवृतिव्याख्यानम्–

कारिकां विवृण्वन्नाह–'आगम' इत्यादि। [1]यो यस्य अविसंवादकः पुरुषः स तस्य आप्तः तस्य वचनम् आगमः तेन आहितः संस्कारो यस्य तदर्थदर्शिनः आगमार्थदर्शिनः **तन्नामप्रतिपत्तिः** आगमार्थाभिधानप्रतिपत्तिः **साकल्येन** अनवयवेन या काचित् तदर्थदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः सा **प्रमाणमप्रमाणं वा ?** 'स्यात्' इत्यध्याहारः। यदि प्रमाणम्, प्रमाणसंख्याव्याघातः। अथ अप्रमाणम्, तर्हि उपमानमप्यप्रमाणं स्यादविशेषात्, अतः स एव संख्याव्याघातः। ननु तस्य तत्प्रतिपत्तिरुपमानमेव तच्च प्रमाणमिष्टमेव इत्युक्तदोषानवकाशः इत्याशङ्क्याह–'न पुनः' इत्यादि। **न पुनः** नैव **उपमानमेव** तत्प्रतिपत्तिरित्यनुवर्तते। किन्तु ततोऽन्यापि विद्यते इत्यभिप्रायः। अत्रोदाहरणमाह–'यथा' इत्यादि। 'यथा' इत्युदाहरणप्रदर्शने, एतस्मान्नगरादेः **पूर्वं पश्चिममुत्तरं दक्षिणं वा ग्रामधानकं** ग्रामविशेषस्यैव संज्ञा **एतन्नामकं** एतदनिर्दिष्टं नाम यस्य तत्तथोक्तम् **इत्येवमाहितसंस्कारस्य पुनः पुनस्तद्दर्शिनो** यत् तत् 'एतस्मात्' इत्यनेन 'ग्रामधानकम्' इत्यनेन चोक्तम् तत्पश्यतीत्येवंशीलस्य **तन्नामप्रतिपत्तिः** ग्रामधानकनामप्रतिपत्तिः। चशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः। 'एतस्मात्' इत्यनेन अपेक्ष्य प्रत्यक्षार्थान्तरमुक्तम् 'पूर्वम्' इत्यादिना तु तदपेक्ष्य ग्रामधानकम्। अतः एवास्य विशेषः। भवतु इयं प्रमाणं को दोषः इति चेत् ? अत्राह–'कश्च' इत्यादि। कश्च ? न कश्चिद् अयम् परेणोच्यमानो निश्चयोऽवश्यभावः। कोऽसौ ? इत्याह–**संज्ञासंज्ञिसम्प्रतिपत्तिसाधनमेव समक्षेऽर्थे प्रमाणान्तरं न पुनः संख्यादिप्रतिपत्तिसाधनमिति** किन्तु तदपि स्यादिति भावः। एतदेव दर्शयन्नाह–

इदमल्पं महद्दूरमासन्नं प्रांशु नेति वा।
व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥ २१ ॥

---

(१) तुलना–"रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये। येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥ आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्। सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥" –चरक० सू० ११।१८–१९। "आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा।"–न्यायभा० १।१।७। सांख्यका० माठर० का० ५। युक्तिदी० पृ० ४६। 'आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना। भवितव्यं ...'–रत्नक० श्लो० ५। "यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः ततोऽपरोऽनाप्तः।"–अष्टश० अष्टसह० पृ० २३६। (२) आगमार्थदर्शिनः। (३) तन्नामप्रतिपत्तिः। (४) उपमानम्। (५) नगरादेः–आ० टि०। (६) प्रसिद्धसाधर्म्याद्यभावात्–आ० टि०। (७) नामप्रतिपत्तिः–आ० टि०। (८) द्वित्वादिसंख्याया अपि अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वात् प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तिरिति भावः–आ० टि०। (९) साधनान्तरं प्रमाणान्तरं स्यात्। किम् ? विकल्पो निश्चयः। तस्योल्लेखमाह–इदमस्मादल्पम्, इदमस्मान्महत्, इदमस्मादासन्नम्, इदमस्मात्प्रांशु दीर्घत्वम्, इदमस्मान्न प्रांशु इति। वाशब्दः परस्परसमुच्चये। कस्मिन् ? समक्षे प्रत्यक्षे पदार्थे। कुतः ? व्यपेक्षातः विरुद्धस्य प्रतिपक्षस्यापेक्षा कथञ्चिदजहद्वृत्तिः ततः इति। एवम् अल्पमहत्त्वादिसङ्कलनमपि परप्रमाणसंख्यानियमं विघट

---

1 –त्तरं वा ग्रा–श्र०   2 ...–ब०, श्र०। 3 एव योऽस्य आ०। 4–सन्निप्रतिपत्ति–श्र०।

विवृतिः–दृष्टेष्वर्थेषु परस्परव्यपेक्षालक्षणम् अल्पमहत्त्वादिज्ञानमधरोत्तरादिज्ञानं द्वित्वादिसंख्याज्ञानमन्यच्च प्रमाणमनिमानिकत्वादुपमानवत्। अर्थापत्तिः 'अनुमानात् †प्रमाणान्तरं न वा' इति किन्नश्चिन्तया सर्वस्य परोक्षेऽन्तर्भावात्†। तस्मात् प्रत्यक्षं परोक्षञ्चेति द्वे एव प्रमाणे अन्यथा तत्संख्यानवस्थानात्।

विकल्पशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, इदमल्पमिति विकल्पः, इदं महदिति विकल्पः, इदं दूरमिति विकल्पः, इदमासन्नमिति

कारिकार्थः –

विकल्पः, इदं प्रांशु इति विकल्पः, तथा अल्पं नेति विकल्पः महन्नेति, दूरं नेति, आसन्नं नेति, प्रांशु नेति। वाशब्दः पक्षान्तरसूचकः। कुतोऽसौ विकल्पो जायते? इत्याह–'व्यपेक्षातः' इति। आमलकापेक्षया बिल्वं महत्, देवदत्तसमीपवृक्षापेक्षया पर्वतादिकं दूरम्, एवमन्यत्रापि योज्यम्। इदमल्पमित्यादिग्रहणमुपलक्षणम्, तेन अधरोत्तरादिविकल्पस्य द्वित्वादिविकल्पस्य च ग्रहणम्। क्वासौ जायते? इत्याह–समक्षेऽर्थे। स किम्? इत्याह–साधनान्तरं प्रमाणान्तरम्।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'दृष्टेषु' इत्यादि। दृष्टेषु प्रत्यक्षेषु अर्थेषु परस्परम् अन्योन्यं व्यपेक्षालक्षणं यस्य तत्तथोक्तम्। किं तत्? अल्पमहत्त्वादिज्ञानम्,

विवृतिव्याख्यानम् –

आदिशब्देन दूरादि गृह्यते। तथा अधरोत्तरादिज्ञानम् अत्रापि आदिशब्देन मध्यादिज्ञानपरिग्रहः। द्वित्वादिसंख्याज्ञानम्, इहापि आदिशब्देन त्रित्वादिसंख्याज्ञानपरिग्रहः। अन्यच्च पूर्वापरादिज्ञानम्। तत्किम्? इत्याह–प्रमाणम्।

प्रतीयते। –न्यायवि० ता० पृ० ४०। तुलना– एकविषाणी खड्गः सप्तपर्णो विषमच्छद इत्याहितसंस्काराणां पुनस्तत्प्रत्यक्षदर्शिनामभिधानं किंनाम प्रमाणं स्यात्? तथा स्थ्यादिलक्षणश्रवणात् तथाविधसमभिज्ञानं संख्याप्रतिपत्तिश्च पूर्वापरनिरीक्षणात् पश्यतामन्वयसामग्रीयोजना उपमानवत् सर्वं प्रमाणान्तरम्। –सिद्धिवि० टी० पृ० १५ B। परीक्षामु० ३।५–१०। प्रमाणनय० ३।५–६। प्रमाणमी० १।२।४। उद्धृतोऽयं श्लोकः–'समक्षार्थे'–स्या० र० पृ० ४९८। प्रमेयर० ३।५। प्रमाणमी० पृ० ३५।

(१) तुलना– तेषां द्वयादिसंख्यानां प्रमाणान्तरम् गणितज्ञसंख्यावाक्याहितसंस्कारस्य प्रतिपाद्यस्य पुनर्द्वयादिसंख्याविशिष्टद्रव्यदर्शनादेतानि द्वयादीनि तानीति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिर्द्वयादिसंख्याज्ञानप्रमाणफलमिति प्रतिपत्तव्यम्। तथोत्तराधर्यज्ञानं सोपानादिषु स्वविष्ठानां पर्वादिषु महत्त्वनानात्वज्ञानादिषु संस्थानज्ञानं व्यक्तादिषु वक्रवादिनानात्वं क्वचित्प्रमाणान्तरमापन्नम्।' –तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४२। (२) तुलना– अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसंभवाभावानपि प्रमाणानीति केचिन्मन्यन्ते तत्कथमत्रेति? अत्रोच्यते–सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूतानि इन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात्। –तत्त्वार्थाधि० भा० १।१२। 'उपमानार्थापत्त्यादीनामत्रैवान्तर्भावात्' –सर्वार्थसि० १।११। अर्थापत्त्यादेरनुमानव्यतिरेकेऽपि परोक्षेऽन्तर्भावात्। –अष्टश० अष्टसह० पृ० २८१। (३) तुलना– तत्पञ्चकयादिसंदृष्टौ एकपार्श्वदर्शनात्। द्वितीयपार्श्वविज्ञानाद्योऽसाविति निश्चयः॥ प्रमाणान्तरमापन्नं मान्ध्याद्यनपेक्षणात्।' –तत्त्वसं० पृ० ४५०।

1 परस्परं व्य–ई० वि०। 2 अल्पबहुत्वादि–ई० वि०। † एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति ई० वि०। 3 जात ब०। 4 इन्द्रियादि ब०। 5 इत्यत्राह ब० श्र०।

कुत ? **अविसंवादकत्वात्** । किमिव ? इत्याह–**उपमानवदिति** । एवं नैयायिकमीमासकयो प्रमाणान्तरसम्प्लवं[1] तदभिमतप्रमाणसंख्यानियमनाञ्च निरूप्य इदानीं मीमांसकाभिमतार्थापत्तिं विचिन्तयन्नाह–'**अर्थापत्तिः**' इत्यादि । याऽसौ–

> "प्रमाणषट्कविज्ञाता[2] यत्रार्थोऽनन्यथाभवन् ।
> अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता[3] ॥" [मी० श्लो० अर्था० श्लो० १]

इत्येतल्लक्षणलक्षिता मीमांसकै परिकल्पितार्थापत्ति सा '**अनुमानात् प्रमाणान्तरं नेष्टा**' इति **किन्नश्चिन्तया** ? अयमभिप्राय –अर्थापत्त्युत्थापकार्थस्य[1] साध्याभावे नियमेनाऽनुपपद्यमानस्य[2] अविनाभावस्वभावलिङ्गलक्षणलक्षितत्वात् लिङ्गत्वमेवोपपन्नम् । तत्प्रभवञ्च ज्ञानमनुमानमेवेति । अत –

> "प्रत्यक्षमनुमानञ्च शाब्दञ्चोपमया सह ।
> अर्थापत्तिरभावश्च षट्प्रमाणानि जैमिने[7] ॥" [षड्द०समु०श्लो०७२ (?)]

इति कुमारिलस्य वदत प्रमाणसंख्याव्याघात, प्रभाकरस्य च अभावं प्रत्यक्षनिक्षेप वदत 'पञ्च प्रमाणानि' इति[9] ।

अर्थापत्ति अनुमानादनतिरिक्तं प्रमाणमिति वदतो मीमांसकस्य पूर्वपक्ष –

ननु चार्थापत्ते स्वरूपादिभेदात् प्रत्यक्षादिभ्यो भेदप्रसिद्धे कथं प्रमाणसंख्याव्याघात ? तथा च प्रयोग –अर्थापत्ति प्रत्यक्षादिभ्य प्रमाणान्तरम्, विभिन्नस्वरूपत्वात्, यद्यतो विभिन्नस्वरूप तत्तत प्रमाणान्तर यथा प्रत्यक्षादनुमानम्, प्रत्यक्षादिभ्यो विभिन्नस्वरूपा चार्थापत्तिरिति । नच विभिन्नस्वरूपत्वमसिद्धम्, तथाहि–तस्या स्वरूपम्[11]–दृष्ट श्रुतो वाऽ-

(१) एकत्र प्रमेये बहूनां प्रमाणानां प्रवृत्ति सम्प्लव । (२) व्याख्या–"यत्र देशकालादौ प्रत्यक्षानुमानोपमानशाब्दार्थापत्त्यभावलक्षण षड्भि प्रमाण परिच्छिन्नोऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत यद्यदभूतार्थो न भवत्यिव या परोक्षार्थविषया कल्पना साऽर्थापत्ति प्रमाणमुदाहृता शबरस्वामिना ।"–तत्त्वसं० प० पृ० ४५६ । (३) उद्धृतेयम्–नान्यथा भवेत्'–मी० श्लो० । प्रश० व्यो० पृ० ५९० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१६ । स मति० टी० पृ० ५७८ । 'कल्पयत्यय –तत्त्वसं० प० ४५६ । सन्मति० टी० पृ० ५७८ । प्रकृतपाठ–प्रमेयक० प० १८७ । स्या० र० प० २७६ । रत्नाकराव० २।१ । (४) पानत्वस्य–आ० टि० । (५) रात्रिभोजनाभाव–आ० टि० । (६) लिङ्गप्रभवञ्च । (७) तुलना–'प्रत्यक्षमनुमानञ्च शाब्दञ्चोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च षडेते साध्यसाधका ।"–तत्त्व सं० प० प० ४५० । (८) अर्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावात् पञ्चसंख्यापत्त –आ० टि० । (९) "तत्र पञ्चविधं मानं प्रत्यक्षमनुमा तथा । शास्त्रं तथोपमानार्थापत्तीति गुरोर्मतम् ॥ –प्रक० प० प० १२७ । (१०) प्रमाणसंख्याव्याघात इति सम्बन्ध तस्य चत्वारि [एव स्यु]–आ० टि० । (११) "अर्थापत्तिरपि दृष्ट श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना यथा जीवति देवदत्ते गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पना ।'–शाबरभा० १।१।५ । 'विना कल्पनयार्थेन दृष्टेनानुपपन्नताम् । नयता दृष्टमर्थं सार्थापत्तिस्तु कल्पना ॥ दृष्टेनार्थेन दृष्टस्याथवार्थान्तरकल्पनायाममयामनुपपत्तिमापादयता साऽन्यान्त

1 इत्यशाद् ब०, श्र० । 2–नियमविना–श्र० । 3–सकपरिकल्पि–ब० । 4 न चेदिति ब० न चेति श्र० । 5 प्रत्यक्षादिविनोय ब० श्र० ।

र्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यदृष्टार्थकल्पना। तत्र दृष्टं प्रत्यक्षादिभिः पञ्चभिः प्रमाणैरुपलब्धम्, श्रुतं लौकिकाद् वैदिकाद्वा वाक्यादवगतम्, तस्मादनुपपद्यमानाद् या अर्थान्तरकल्पना सा अर्थापत्तिः। सा च षट्प्रकारा भवति प्रत्यक्षादिनिमित्तभेदात्। तत्र प्रत्यक्षप्रतिपन्नदाहान्यथानुपपत्त्या वह्नेर्दाहशक्तिकल्पना प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्तिः। देशान्तरप्राप्तेर्लिङ्गादनुमिताऽऽदित्यगत्यन्यथानुपपत्त्या आदित्ये गमनशक्तिकल्पना अनुमानपूर्विका। तथा उपमानज्ञानावगतगवयसारूप्यविशिष्टगोपिण्डान्यथानुपपत्त्या तस्यै तज्ज्ञानग्राह्यशक्तिकल्पना उपमानपूर्विका।

ता एता अर्थापत्तयः प्रमाणान्तरम् अतीन्द्रियशक्तिविषयत्वात्। न खलु शक्तयः प्रत्यक्षपरिच्छेद्या अतीन्द्रियत्वात्। नाप्यनुमानपरिच्छेद्याः, प्रत्यक्षाविषये अनुमानस्याऽप्रवृत्तेः तत्पूर्वकत्वात्तस्य। प्रत्यक्षेण हि प्रतिपन्ने प्रतिबन्धे अनुमानं प्रवर्तते। न च शक्तेरतीन्द्रियत्वेन अध्यक्षागोचरत्वे तत्र केनचिल्लिङ्गेन सह अस्याः प्रतिबन्धप्रतिपत्तिर्युक्ता। नाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्प्रतिपत्तिः, प्रत्यक्षाविषये तत्प्रवृत्तेरेवाऽसम्भवात्। नाप्यनुमानात् प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः, तद्धि इदमेव अन्यद्वा तत्प्रतिपत्तौ प्रवर्तेत? न तावदिदमेव, चक्रकप्रसङ्गात्–सति हि प्रतिबन्धग्रहणे अनुमानप्रवृत्तिः, तद्ग्रहणाच्च शक्तिप्रति-

---

रकल्पना साऽर्थापत्तिः। –प्रक० प० पृ० ११३। प्रमितस्यार्थस्य अर्थान्तरेण विनाऽनुपपत्तिमालोच्य तदुपपत्तये यार्थान्तरकल्पना साऽर्थापत्तिः। –शास्त्रदी० पृ० ३१०। नयवि० पृ० १५२। तन्त्ररह० पृ० १३। प्रभाकरवि० पृ० ५३।

(१) 'दृष्टः पञ्चभिरप्यस्मात् भेदेनोक्ता श्रुतोद्भवा। प्रमाणग्राहिणीत्वेन यस्मात्पूर्वं विचारणा॥' –मी० श्लो० अर्था० श्लो० २। 'दृष्टार्थान्येन यद्यप्युपलम्भमात्रमुच्यते तथापि श्रुतस्याभिधानात् गोबलीवर्दन्यायेन शब्दप्रमितव्यतिरिक्तमुच्यते।' –बृह० प० पृ० ११७। मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४५०। (२) रूपोप–आ० टि०। (३) सादृश्य। (४) सारूप्यविशिष्टगोपिण्डस्य–आ० टि०। (५) उपमानात्। (६) 'शक्तयोऽपि च भावानां कार्यार्थापत्तिकल्पिताः। प्रसिद्धाः पारमार्थिक्यः प्रतिकार्यं व्यवस्थिताः।' –मी० श्लो० शून्य० श्लो० २५४। तेनार्थापत्तिपूर्वत्वमत्र यत्र च कारणम्। कार्याद्धि ज्ञानात् शक्तेरस्तित्वं सम्प्रतीयते। कार्यस्य तु लिङ्गत्वं न सम्बन्धानपेक्षणात्। दृष्ट्वा सम्बन्धिनो यथा नाग्निर्गम्यते नान्यथा। तद्दर्शनं तयोर्नो च प्रत्यक्षात्सम्भवात्। अर्थापत्तेः प्रमाणत्वं प्रत्यक्षाद्यादिना भवेत्। शक्तिकल्पनाप्यर्थापत्तिरेवेत्याह यत्रेति। चान्यत्ति कार्यस्येति। कारणवर्तिनी शक्तिः कल्प्यते कार्याच्च कारणबुद्धिरनुमानमिति। निराकरोति नेति। कारणमाह सम्बन्धेति। बीजे सत्यङ्कुरोत्पत्तिदर्शनाद् बीजकारणत्वमवगम्यते सत्यपि तस्मिन् मूषिकाघाते अङ्कुरानुत्पत्तेरकारणत्वं तस्मिन् कारणाकारणत्वव्याघातपरिजिहीर्षया शक्तिकल्पनम्, सम्बन्धानानपेक्षत्वाच्चानुमानम्। अतश्च नानुमानमित्याह–दृष्ट्वेति सार्द्धेन। सम्बन्धिग्रहणपूर्वकं हि सम्बन्धग्रहणम्, न च शक्तेः प्रत्यक्षग्रहणं सम्भवति अतोऽवश्यं सम्बन्धग्रहणवेलायां शक्तिग्रहणमभ्युपगन्तव्यम्। अर्थापत्तिर्हि प्रत्यक्षादिवर्जिता शक्नोति तां ग्रहीतुमिति।' –मी० श्लो० अर्था० न्यायर० पृ० ४६२-६३। शास्त्रदी० पृ० ३०६। (७) प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्। (८) अनुमानस्य। (९) अविनाभावे–आ० टि०। (१०) प्रत्यक्षात्–आ० टि०। (११) अविनाभाव। (१२) अन्वयव्यतिरेक।

---

१ तज्ज्ञानग्राहकशक्ति–ब०।

पत्तौ, तत्प्रतिपत्तिश्चानुमानप्रवृत्तौ, तत्प्रतिपत्ति (तत्प्रवृत्ति) श्च प्रतिबन्धग्रहणे इति। अथान्यतोऽनुमानात्तत्प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः, ननु तदपि प्रतिबन्धप्रतिपत्तौ सत्यां प्रवर्त्तते, तत्र च प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः प्रथमानुमानात्, तदन्तराद्वा स्यात्? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रय – सिद्धे हि द्वितीयानुमाने ततः प्रसिद्धप्रतिबन्धाल्लिङ्गात् प्रथमानुमानसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अतः प्रसिद्धप्रतिबन्धाल्लिङ्गाद् द्वितीयानुमानसिद्धिरिति। द्वितीयपक्षे त्वनवस्था–अनुमानान्तरेऽपि प्रतिबन्धप्रतिपत्तेः अनुमानान्तरादेव प्रसिद्धेः। नहि तत् प्रतिबन्धप्रतिपत्तिं विना स्वसाध्यसिद्धये प्रभवति। शब्दोपमानयोस्तु शक्तिप्रतिपत्तौ सम्भावनैव नास्ति, शब्दसादृश्याभ्यां विनैव तत्प्रतिपत्तिप्रतीतेः। अतः अर्थापत्तेरेव शक्तिविषयत्वं युक्तम्।

तथा शब्दसाधनार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दस्य वाचकशक्तिमवगम्य तदन्यथानुपपत्त्या तस्यैव नित्यत्वकल्पना अर्थापत्तिपूर्विकाऽर्थापत्तिः।

'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्यश्रवणात् रात्रौ भोजनकल्पना श्रुतार्थापत्तिः। नहीदं श्रूयमाणं वाक्यमेव तत्प्रतिपत्तिनिबन्धनम्, पीनादिपदानां स्वार्थप्रतिपादनपरतया रात्रिभोजनलक्षणार्थप्रतिपादनसामर्थ्यानुपपत्तेः। अथ पदसमुदायात् तत्प्रतिपत्तिः, तन्न, अस्य अन्यार्थप्रतिपादनपरत्वात्। श्रूयमाणेन हि पदसमुदायेन देवदत्तस्य पीनस्य रसायनाद्यभावे दिवाभोजननिषेध एव प्रतिपाद्यते न तु रात्रि

(१) प्रथमानुमानात्। (२) अनुमानान्तरम्। (३) शक्तिप्रतिपत्तेः। (४) वाचकशक्त्यन्यथानुपपत्त्या। (५) शब्दस्य। (६) "वचनस्य श्रुतस्यैव सोऽप्यर्थः कैश्चिदाश्रितः। तदर्थोऽपि श्रुतस्यार्थाः परिस्फुटा वाक्यान्तरस्य तु। न तावच्छ्रूयमाणस्य वचसाऽर्थोऽयमिष्यते। न ह्यनेकार्थता युक्ता वाक्ये वाचकता तथा। पदार्थाः स्वरूपेण वाक्यार्थो हि प्रतीयते। न रात्र्यादिपदार्थश्च दिवावाक्येन गम्यते। न दिवादिपदार्थानां संसर्गो रात्रिभोजनम्। न भेदो यत्र तद्वाक्यं तस्य स्यात् प्रतिपादकम्। अन्यायव्यापृतत्वाच्च न द्वितीयार्थकल्पना। तस्माद्वाक्यान्तरेणायं बुद्धिस्थेन प्रतीयते। प्रमाणं तस्य वक्तव्यं प्रत्यक्षादिषु यद्भवेत्। न ह्यनुच्चारितं वाक्यं प्रत्यक्षं तावदिष्यते। नानुमानं न चेदं हि दृष्टं सत सह क्वचित्। यदि त्वनुपपत्त्यापि सम्बन्धे लिङ्गतेष्यते। तदुच्चारणमात्रेण सर्ववाक्यमितिर्भवेत्।" श्रुतस्यैव शब्दस्य तत्प्रतिपादकत्वं केचित्कल्पयन्ति, अन्ये तु शब्दान्तरमेव तत्प्रतिपादकमिति, तत्राद्यं पक्षं निराकरोति न तावदिति। कारणमाह–न हीति। किञ्च यदि वाक्यं वाचकं स्यात् स्यादप्यनेकार्थता न तु वाक्यं वाचकमित्याह वाचकतेति। कथं तर्हि वाक्यार्थप्रतीतिरत आह–पदार्थैरिति। किमिति रात्रिभोजनं दिवावाक्यस्यार्थो न भवत्यत आह–न रात्रीति। न हि रात्र्यादिपदार्था दिवावाक्यपदैरभिधीयन्ते स संसर्गात्मकतया तद्वाक्यार्थो भवेदिति। यद्यपदार्थोऽपि रात्रिभोजनं दिवादिपदानां संसर्गो भेदो वा स्यात्ततोऽपि तस्यैव वाक्यस्यार्थः स्यात् न तु तदस्तीत्याह न भेदेति। यद्यपि चानेकार्थता, तथापि एकस्मिन् प्रयोगे व्यापृतस्य नार्थान्तरं संभवतीत्याह–अन्यार्थेति। तस्माद्वाक्यान्तरस्यैव कल्पितस्यायमर्थो न तु श्रुतस्येत्याह तस्मादिति। तस्य तु वाक्यस्य किं प्रमाणमिति विचारणीयमित्याह–तस्येति। यद्यपि तदर्थान्तरं तदा यदि वाक्यार्थत्वादागमिकं न निष्प्रमाणकं तथापि तस्य वाक्यस्य किं प्रमाणकमिति चिन्त्यमिति। अर्थापत्तिरेव प्रमाणमिति वक्तुं पूर्वेषां प्रमाणसम्भवं दर्शयितुमाह न हीति।'–मी० श्लो० अर्था०, न्यायर० पृ० ४६४–६५। (७) दिवा न भुङ्क्ते इति निषेधार्थप्रतिपादनपरत्वात्।

1 अतः' नास्ति आ०। 2–पैवाप्रतीयते–आ० ब०।

भोजननिषिद्धि, विधिप्रतिषेधयो परस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधतो मिथ संसर्गाभावात्। न चानन्वितस्य पदार्थसमुदायस्य वाक्यार्थता दृष्टेष्टा वा, प्रतीतिविरोधात्। नापि तथाविधे पदसमुदाये अभिधात्री तात्पर्यशक्तिर्वाऽस्तीति। अत अर्थापत्तित एव रात्रिभोजनलक्षणोऽर्थ प्रतीयते इति प्रमाणान्तर श्रुतार्थापत्ति सिद्धा। तदुक्तम्–

तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञाताद्दाहाद् दहनशक्तिता। वह्नेरनुमितात् सूर्ये यानात्तच्छक्तियोगिता ॥
गवयोपमिताया गोस्तज्ज्ञानग्राह्यशक्तिता। अभिधानप्रसिद्ध्यर्थमर्थापत्त्याऽवबोधितात् ॥
शब्द वाचकसामर्थ्यात् तन्नित्यत्वप्रमेयता। अभिधा नान्यथा सिद्धेरिति वाचकशक्तिता ॥
अर्थापत्त्यावगम्यैव तदनन्यत्व (दनन्य) गते पुन। अर्थापत्त्यन्तरेणैव शब्दनित्यत्वनिश्चय ॥
दर्शनस्य परार्थत्वादित्यस्मिन्नभिधास्यते।" [मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३–७]
"पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवच श्रुतौ। रात्रिभोजनविज्ञान श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ॥"
[मी० श्लो० अर्था० श्लो० ५१] इति।

अभावार्थापत्तेस्तु लक्षणम्–

"प्रमाणाभावनिर्णीतचैत्राभावविशेषितात्। गेहाच्चैत्रबहिर्भावसिद्धिया त्विह दर्शिता ॥
तामभावोत्थितामन्यामर्थापत्तिमुदाहरेत्।" [मी० श्लो० अर्था० श्लो० ८–९] इति।

(१) मा भूत्प्रसङ्ग को दोष इत्याह–आ० टि०। (२) संसर्गरहितस्य। (३) अन्यायप्रतिपादनतत्परे। (४) साक्षात् शक्ति। (५) रूपणा। (६) गमनशक्ति–आ० टि०। "ज्ञाताद्दाहाद्दहनशक्तता। वह्नेरनुमिता सूर्ये यानात्तच्छक्तियोग्यता ॥ –मी० श्लो०। स्या० र० प० २७८। उद्धृतायम्–तत्त्वस० प० ४५७। प्रमेयक० प १८८। सन्मति० टी० प० ५७९। (७) गवयोपमिता या गोस्तज्ज्ञानग्राह्यता मता –मी० श्लो०। ग्राह्यशक्तता –स्या० र० पृ० २७८। उद्धृतोऽयम्–प्रमेयक० पृ० १८८। सन्मति० टी पृ० ५७९। तुलना– गवयोपमिता या गोस्तज्ज्ञानग्राह्यशक्तता। उपमानस्वभूतसामर्थ्येन प्रतीयते ॥ –तत्त्वस० पृ० ४५९। (८) शब्दे बोधकसामर्थ्यात्तन्नित्यत्वप्रकल्पनम् –मी० श्लो०। (९) तस्य शब्दस्य नित्यत्वेन प्रमेयत्वं परिच्छेद्यत्वम्–आ० टि०। उद्धृतोऽयम्–प्रमेयक० पृ० १८८। सन्मति० टी० पृ० ५७९। स्या० र० पृ० २७८। (१०) 'अभिधा नान्यथा सिद्ध्यदिति वाचकशक्तताम्। अर्थापत्त्यावगम्यैव तदनन्यगते पुन ॥' –मी० श्लो०। अर्थापत्त्यावगम्यैव –तत्त्वसं० पृ० ४५९। वाचकशक्तता। अर्थापत्त्यावगम्यैव –स्या० र० पृ० २७८। प्रकृतपाठ–प्रमेयक० पृ० १८८। अभिधानमभिधा अर्थप्रतिपादनमिति यावत्। सा शब्दस्य अन्यथा–वाचकशक्त्या विना न सिद्ध्यतीत्येव बोधकशक्तताम् अवगम्य बुद्ध्या, तदनन्यगते तस्या बोधकशक्तेरन्या गतिर्नास्ति शब्दनित्यत्वमन्तरेणेति। पुनरर्थापत्त्यन्तरेणैव शब्दस्य नित्यत्वनिश्चय। –तत्त्वस० पृ० ४५९। (११) एकया अर्थापत्त्या वाचकशक्तिमवगम्य अन्यया शब्दस्य नित्यत्वं निश्चिनुयात् प्रमाता–आ० टि०। (१२) मीमांसासूत्र। (१३) शब्दार्थापत्तिरुच्यते –स्या० र० पृ० २७८। उद्धृतोऽयम्–तत्त्वसं० पृ० ४५७। प्रमेयक० पृ० १८८। सन्मति० टी० पृ० ५७९। (१४) वर्णिता –तत्त्वस० पृ० ४६०। उद्धृतोऽयम्–प्रमेयक० पृ० १८९। सन्मति० टी० पृ० ५७९। स्या० र० पृ० २७८। व्याख्या– प्रत्यक्षादे प्रमाणस्याभावेन निवृत्त्या निर्णीतो निश्चितो यश्चैत्राभाव तेन विशेषिताद् गृहात् इह गृहे चैत्रो नास्तीत्यत चैत्रस्य जीवन सति या बहिर्भावसिद्धि

1 तथाविधपद–श्र०। 2–शक्तता ब०। 3–त्यावबोधि–आ० ब०। 4–शक्तता ब०, श्र०। 5–श्रुते ब०।

जीवतो हि चैत्रस्य गृहेऽभावमवगम्य तदन्यथानुपपत्त्या बहिर्भावकल्पना अभावपूर्विका अर्थापत्तिः । अथ दृष्टेन अदृष्टसिद्धेः अनुमानमेवेयमित्युच्यते, तन्न, तत्सामग्र्यभावात् । पक्षधर्मतादिसामग्र्या हि यद्विज्ञानं जन्यते तदनुमानं प्रसिद्धम्, सा चेह नास्ति । तथाहि–बहिर्भावविशिष्टे चैत्रे चैत्रविशिष्टे वा बहिर्भावे अनुमेये कस्य हेतुत्वम्–किं गृहाभावविशिष्टस्य चैत्रस्य, चैत्राभावविशिष्टस्य वा गृहस्य, गृहे चैत्राभावस्य वा, गृहे चैत्रादर्शनस्य वा ? न तावन्नैतेषां मध्ये अन्यतमोऽपि हेतुर्घटते, पक्षधर्मत्वाभावात् । नह्येते चैत्रधर्मा तद्बहिर्भावधर्मा वा ।

किञ्च, प्रमेयानुप्रवेशप्रसङ्गात् नेयमनुमानम्; तथाहि–आगमावगतजीवनस्य

बहिश्चैत्रो विद्यत इत्येव निश्चयरूपा, इह भाष्ये वर्णिता शबरस्वामिना, तदन्यासामर्थापत्तीनामुपलक्षणायमुदाहृतमिति यावत् । यथा जीवति देवदत्ते गृहेऽदर्शनेन बहिर्भावस्य अदृष्टस्य कल्पनमिति। –तत्त्वसं० पं० पृ० ४६० ।

(१) पक्षधर्मतादिसामग्री । (२)"पक्षधर्माद्यनङ्गत्वाद भिन्नत्वाप्यनुमानत । बहिर्देशविशिष्टोऽर्थो देशो वा तद्विशेषित । प्रमेयो गृहाभाव पक्षधर्मस्त्वसौ कथम् ॥ तदभावविशिष्टं तु गेहं धर्मो न कस्यचित् । गृहाभावविशिष्टस्तु तदासौ न प्रतीयते ॥ गम्यते तु गृहं तत्र न च चैत्र प्रतीयते । न चात्रादर्शनं हेतुर्यथाऽभावेऽभिधास्यते ॥ तेन धर्मो यदृष्टत्वादिति हेतुन कल्प्यते । अदर्शनान्न भावे च प्रमेयस्यावधारित ॥ बहिर्भावमतिनासौ तेनादर्शनहेतुका । चैत्राभावस्य हेतुत्वं गृहेऽभावश्च मस्थित ॥ पक्षधर्मत्वं तावन्निराकरोति बहिरिति । गृहगतो ह्यभावो न देवदत्तस्य बहिर्देशस्य वा धर्म अभावविशिष्टं तु गृहं न कस्यचिद्धर्म इत्याह गृहाभावेति । असौ देवदत्तो बहिर्देशो वेति । कथमित्याह गम्यते इति । चैत्रग्रहणमुपलक्षणम् गृहमेव गम्यते न चैत्रो बहिर्देशो वा । न चानवगतस्य धर्मावगति सभवतीति । यदि तु चैत्रादर्शनं हेतुरित्युच्यते अत आह न चेति । यथा ह्यभावेऽनुमेये लिङ्गत्वमभावस्य न सभवति तथाऽत्रापि पक्षधर्मत्वाभावादेव । इतश्च नादर्शनस्य हेतुत्वमित्याह–अदर्शनादिति । अदर्शनादभावेऽवगते पश्चादुपजायमाना बहिर्भावमतिनादर्शननिमित्ता भवितुमर्हतीति नाभावस्य लिङ्गत्वं न च तस्य पक्षधर्मता इत्याह चैत्राभावस्येति ।'–मी० श्लो०, न्यायर० पृ० ४५४–५५ । तुलना–न्यायम० पृ० ३७ । (३) प्रथमहेतुद्वयापेक्षया–आ० टि० । (४) द्वितीयहेतुद्वयापेक्षया–आ० टि० (५) प्रमेयस्य साध्यस्य हेतुग्रहणकाल एव अनुप्रवेश ज्ञानम् । 'जीवतश्च गृहाभाव पक्षधर्मोऽत्र कल्प्यते । तत्सविशिर्बहिर्भाव न चाबुद्ध्वोपजायते ॥ अग्निमत्तानपेक्षा तु धूमवत्ता प्रतीयते । न तद्ग्रहणवेलायामग्न्यधीनं हि किंचन ॥ गृहाभावस्तु य शुद्धो विद्यमानत्ववर्जित । स मृतेष्वपि दृष्टत्वाद्बहिर्वृत्तेन साधक ॥ विद्यमानत्वसंसृष्टगृहाभावधियाऽन्यया । गेहादुत्कलितश्चैत्रो विद्यते बहिरेव हि ॥ गृहाभावत्वमात्रं तु यत्स्वतन्त्रं प्रतीयते । न तावता बहिर्भावश्चैत्रस्यवावधार्यते ॥ सिद्धे सद्भावविज्ञाने गेहाभावधियाऽत्र तु । गृहादुत्कलिता सत्ता बहिरेवावतिष्ठते ॥ तेनास्य निरपेक्षस्य व्यभिचारो मृतादिना । यस्य त्वव्यभिचारित्वं न ततोऽन्यत्प्रतीयते ॥ तस्मात् प्रत्यक्षतो गृहे चैत्राभावे ह्यभावत । ज्ञाते यत्सत्त्वविज्ञानं तदेवेदं बहि स्थितम् ॥ पक्षधर्मात्मलाभाय बहिर्भाव प्रवेशितः । तद्विशिष्टोऽनुमेय स्यात् पक्षधर्मा वयाग्निभि ॥ पक्षधर्माग्निविज्ञानं बहि सबोधतो यदि । तच्च तद्बोधतोऽवश्यमन्यो यावत्यता भवेत् । अन्यथानुपपत्तौ तु प्रमेयानुप्रवेशिता । तद्रूप्येणैव विनानाख दोष प्रतिभाति न ॥ यत बहिर्भावेन विशिष्टश्चैत्रोऽनुमातव्य स पक्षीकृतजीवच्चैत्रधर्मतया गृहाभावस्यात्मलाभाय तत्प्रतीतिवेलायामेवानुप्रवेशित इति । तदेवं सत्यपि यद्यनुमानत्वमिष्यते तत्स्फुटमितरेतराश्रयमित्याह–पक्षधर्मादीति ।

---

1 जीवतोऽस्य हि श्र०। 2 चैत्रस्य विशिष्टे बहिर्भावे श्र०। 3 'गृहे चैत्राभावस्य वा' नास्ति आ०।

चैत्रस्य गृहाभावेन बहिर्भावः कल्प्यते, अन्यथा मृतेन अनेकान्तः स्यात्। अभावश्च गृहीतः सन् बहिर्भावमवगमयति नागृहीतो धूमवत्। अभावग्रहणञ्च सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकाभावपूर्वकम्। इह च सदुपलम्भकमस्त्येव जीवनग्राह्यागमाख्यं प्रमाणम्, सति तस्मिन् कथमभावग्रहणं प्रवर्तेत इति ? प्रवर्तमानमेव एतत्सदुपलम्भकं प्रमाणं पृथग्विषयमवस्थापयति। जीवनं हि अस्तित्वम्, आगमात् सामान्यतो यत्तस्य प्रतिपन्नं तद् गृहेऽभावं परिच्छिन्दता प्रमाणेन स्वविषयादन्यत्र सङ्क्रोच्यते 'बहिरस्य भावः गृहे त्वभावः' इति। तेन जीवतो गृहेऽभावलक्षणसाधनप्रतिपत्तेः बहिर्भावलक्षणसाध्यप्रतिपत्तिपूर्वकत्वसिद्धेः सिद्धः प्रमेयानुप्रवेशः, अतः नेयमनुमानम्। नहि वह्न्याद्यनुमाने धूमादिलिङ्गग्रहणसमये अनुमेयप्रतिपत्तिः प्रतीता, धूमादिग्रहणोत्तरकालं तत्प्रतिपत्तिप्रतीतेः। ननु अर्थापत्तावपि प्रमेयानुप्रवेशो दोषः समान एव, सत्यमेव तत्, तथापि प्रमाणद्वयसमर्पितैकवस्तुविषयभावाभावसमर्थनार्थं प्रवर्तमाना अर्थापत्तिः परामृशत्येव प्रमेयद्वयम्, अन्यथा तत्संघटनायोगात्। अतश्च येयम् आगमादनियतदेशतया क्वचिदस्तीति मतिरभूत् सैवेयं गृहाभावे गृहीते 'बहिरस्ति' इति मतिः सम्वृत्ता। तदतो वैलक्षण्यात् नानुमानमर्थापत्तिः।

भावाभावग्रहणाभावाच्च। भावाभावौ हि न युगपत् गृहीतुं धूमवद् एकेन्द्रियप्रभ-

---

ननु अर्थापत्तावपि तुल्योऽयं दोषः तत्रापि हि गृहाभावमात्रं मरणेनाप्युपपन्नं न बहिर्भावं कल्पयति विद्यमानत्वमस्य तु कल्पयन् स त्वनवगतं बहिर्भावं न शक्यतेऽवगन्तुम् न चानवगतः कल्पको भवति तदवगमे च प्रमेयाभावः स्यादिति आह–अ यथेति। अन्यथानुपपत्तिरूपे प्रमाणान्तरे योऽयं विद्यमानत्वमस्पृष्टगृहाभावबुद्धावेव प्रमेयस्य बहिर्भावस्यानुप्रवेशः स न दोषः। कस्मात् ? तादृगूपेणव ज्ञानात्। दृष्टश्रुतमत्र हि एतत्प्रमाणं यत्पश्चात् यस्यास्त्यर्थान्तरे मिथः प्रतिघातेनासम्भवमागतोऽयं अर्थान्तरकल्पनया प्रतिघातं परिहृत्य सम्भवतीत्यत एव विलक्षणसामग्रीत्वेन प्रमाणान्तरत्वम् अनुपपत्तिरिति चावगतस्यार्थान्तरेण प्रतिघातस्योच्यते इति। –मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४५५–७७। शास्त्रदी० पृ० २९७। तुलना–न्यायम० पृ० ३७।

(१) चैत्रस्य गृहाभावेन यदि बहिर्भावः कल्प्यते। (२) जीवित्वग्राह्यागमाख्यं प्रमाणम्। (३) न हि निर्विषयं प्रमाणं भवति एवं च भावो गृहीतो नाभावस्तत्कथं स हेतुः भावस्याग्राह्यत्वात्–आ० टि०। (४) चैत्रस्य। (५) अभावप्रमाणेन। (६) गृहलक्षणात्। (७) बहिः। (८) वह्नि। (९) जीवति चैत्र इति आगमाख्यं प्रमाणम् गृहे च नास्तीत्यभावप्रमाणम्, तत्समर्थनाय बहिरस्तीत्यर्थापत्तिः प्रवर्तते अन्यथा प्रमाणान्यस्य प्रवर्तनं स्यात्–आ० टि०। आगमप्रमाणेन हि चैत्रस्य भावो विषयीकृतः अभावप्रमाणेन च तस्याभावः इति अतः चैत्रविषयकसद्भावाभावयोः अविरोधस्थापनाय अर्थापत्तिः प्रवर्तते सा च यदा गृहे नास्ति बहिरस्ति इति प्रमेयद्वयं परामृशति (१०) अर्थापत्तिं विना। (११) भावाभावयोः–आ० टि०। भावाभावयोः सङ्घटनस्य अविरोधस्य अयोगात् अभावापत्तेः। (१२) नयमनुमानमिति गतेन सम्बन्धः। (१३) गृहाभावबहिर्भावौ न च दृष्टौ नियोगतः। साहित्येन प्रमाणेन तयोरन्यत्र निश्चितः॥ –मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३१। तुलना–न्यायम० पृ० ३७।

---

1 सत्त्व आ० ब०। 2 जीवग्राह्यागम–आ०, ब०। 3 वर्त्तमा–श्र०। 4 बहिर्भावलक्ष्यसाध्य–ब०। 5 एवासाक्षमेतेन ब०। 6 योऽयम् श्र०। 7–ग्रहणाभावाभावाच्च श्र०।

वप्रत्यये प्रतिनिद्धतया बोद्धुं शक्यौ, गृहाभावस्य हि व्याप्यत्वे बहिः सद्भावो व्यापकः, स च प्रत्यक्षेण अर्वाग्दर्शिभिः साक्षात्कर्त्तुमशक्यः अनन्तदेशवृत्तित्वात्। ननु कश्चिद् द्वारि स्थितः कस्यचिद् देवदत्तादेः भावाभावौ गृह्णाति–'यदा एतस्य गृहेऽभावः तदा अन्यत्र सद्भावः' इत्येवं व्याप्तिग्रहणोत्तरकालं चैत्रादेर्निश्चितजीवनस्य गृहेऽभावाद् बहिः सद्भावो निश्चीयते, सत्यम्, तथाप्यनुमानादस्या वैलक्षण्यम्–तत्र हि सामान्येन अनियतदेशेन व्यापकेन सम्बन्धग्रहे सति उत्तरकाल पक्षधर्मतानिश्चयसमये व्यापकस्य नियतदेशतया प्रतिपत्तिः, अत्र तु वैपरीत्यम्। नहि गृहेऽभावात् नियतदेशतया चैत्रः प्रतीयते। यादृश एव हि व्याप्तिकाले तादृश एव प्रयोगकालेऽप्यनियतदेशोऽसौ प्रतीयते।

किञ्च, गृहद्वारवर्त्तिनो गृहेऽभावस्य बहिः सद्भावेन सम्बन्धग्रहे गृहे चैत्रसद्भावेन बहिस्तदभावसाधने कथं सम्बन्धग्रहः स्यात्? तदुक्तम्–

"नैवस्त्येव गृहद्वारवर्तिनः सङ्गतिग्रहः।
भावेनाभावसिद्धौ तु कथमेषं भविष्यति॥" [न्यायम० पृ० ३८]

न खलु गृहे चैत्रस्य सद्भावोऽन्यथानुपपत्त्या देशान्तरेषु तन्नास्तित्वावसाये गृहे तत्सद्भावस्यैव देशान्तरे तन्नास्तित्वेन अध्यक्षतः सम्बन्धग्रहो घटते, देशान्तराणामानन्त्यात्। कथमेवं धूमस्य अनग्निव्यतिरेकनिश्चयः इति चेत्? किं तेन गृहीतेन प्रयोजनम्? धूमज्वलनयोः अन्वयग्रहणसम्भवे व्यतिरेकग्रहणे तात्पर्याऽसम्भवात्। नहि भूयोदर्शनसुलभनियमज्ञानसम्पाद्यमानसाध्याधिगमनिर्वृत्तचेतसाम् अनग्निव्यतिरेकनिश्चयेन किञ्चित् प्रयोजनं साध्याधिगमस्य सम्पन्नत्वात्? इह पुनः अन्वयाधिगमसमय एव गम्यधर्मस्य

(१) गृहद्वारि स्थिता यस्तु बहिर्भावं प्रपन्नयत। यद्वकस्मिन्नप्यंशे न तत्रान्यत्र विद्यते॥ तत्राप्यविद्यमानत्व न सर्वत्र प्रतीयते। न चकस्मो नास्ति वाद् व्याप्तिर्हि नाभविष्यति। –मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३४–३५। (२) अनुमाने हि। (३) प्रयोगकाले। (४) अत्र। (५) पर्वताग्निस्थतया– आ० टि०। (६) अर्थापत्तौ। (७) अपि तु बहिः यत्र कुत्राप्यस्ति इत्यनियतरूपेण। (८) 'गृहद्वारवर्तिनः–न्यायम०। (९) 'भावेन भावसिद्धौ–न्यायम०। (१०) सम्बन्ध। (११) व्याप्यभूतस्य। (१२) व्यापकभूतेन। (१३) 'ननु चाग्न्याद्यभावेऽपि धूमादिव्यतिरेकिणाम्। तत्रागमनात् व्याप्त्या व्यतिरेको न सिध्यति। यस्य वस्त्वन्तराभावः प्रमेयस्तस्य दुष्यति। मम त्वदृष्टमात्रेण गमका सहचारिणः। यः खलु वस्त्वन्तरेषु विपक्षेषु लिङ्गस्याभावावधारणमनुमानाय प्रार्थयते तस्यैव दोषः। वयं तु द्वित्रिचतुरेषु पर्वताग्निसाहचर्यात् धूमाद्विपक्षान्तदर्शनमात्रेण सहचारिणमग्निमनुमिमाना न सर्वविपक्षेषु धूमाभावावधारणं प्रार्थयामहे। नापि सर्वधूमवतामग्न्यन्वयमिति। –मी० श्लो०, न्यायर० पृ० ४६०। (१४) अनग्निप्रदेशानामानन्त्यात्–आ० टि०। (१५) प्रतिपत्तॄणाम्। (१६) अर्थापत्तौ। (१७) बहिः सद्भावस्य–आ० टि०।

1 यदि तस्य ब०। 2 गृहे भावाभावात श्र०। 3–द्वारप्रवर्त्ति–ब०। 4–ग्रहो गृहे चैत्र ब०। 5 'गृहे' नास्ति आ०, श्र०। 6 उक्तञ्च ब०। 7 न वस्त्वेव आ०। 8–द्वारवर्तिनः श्र०। 9 कथमेव श्र०। 10–नियमज्ञान–श्र०। 11–निवृत्त–ब०। 12 अन्वयावगम–ब०, श्र०।

दुरधिगमत्वमुक्तम् अन्तर्देशवृत्तित्वात्। अथ अनुपलब्ध्या तन्निश्चयः, तन्न, गृह-व्यतिरिक्तसकलदेशवर्तिनः तदभावस्य नियतदेशया अनुपलब्ध्या निश्चेतुमशक्यत्वात्। [2]तेषु तेषु देशान्तरेषु गत्वा अनुपलब्ध्या तदभावः, इत्यप्यसुन्दरम्, यतः -

"गत्वा गत्वापि तान् देशान् नास्य जानासि नास्तिताम्।
कौशाम्ब्यास्त्वयि निष्क्रान्ते तत्प्रवेशोऽभिशङ्क्या॥" [न्यायमं० पृ० ३८]

तस्मादभूमिरियमर्वाग्दृशानाम्। अतो नियतदेशोपलभ्यमानपरिमितपरिमाण-पुरुषशरीरान्यथानुपपत्त्यैव तदितरसकलदेशनास्तित्वाऽवधारणं तस्यैवार्थापत्त्यैव तत्र तदभावनिश्चयः इति॥छ॥

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्-'दृष्टः श्रुतो वा' इत्यादि, तत्र दृष्टः श्रुतो वाऽर्थः स्वसाध्येन सम्बद्धः, असम्बद्धो वा तं कल्पयति? यदि असम्बद्धः, कथं तत्कल्पनाकारणम्? नहि यत्किञ्चिद् दृष्ट्वा यं कञ्चिदर्थं कल्पयितुं शक्यः अतिप्रसङ्गात्। अथ सम्बद्धः, तर्हि [3]अतो जायमाना

अर्थापत्तेः अनुमाने प्रमाणे अन्तर्भावसमर्थनम्-

(१) यत्र नोपलभ्यते तत्र नास्ति चैत्र -आ० टि०। (२) व्यतिरेकमुखेन सम्बन्धनिश्चयः। न चैवमिहास्त्यपि सम्बन्धोऽनुपलम्भितः। चैत्राभावस्य भावेन दुर्ज्ञत्वादुपपद्यते॥ साहित्य मितरस्यत्वात्प्रसिद्धं वह्निधूमयोः। व्यतिरेकस्य चादृष्टगमकत्वं प्रकल्प्यते॥ इह साहित्यमवगम्यमकस्य सह भाविनः। अनन्यगर्विभित्वान्न तावदुपपद्यते॥ -मी० श्लो० अर्था० श्लो० १-४३। (३) न चैत्रो विद्यमानो वा गम्यतेऽनुपलम्भितः। सा चाप्रयत्नसाध्यत्वान्नैवस्यस्यैव सिद्ध्यति॥ तत्रयाऽनुपलब्ध्याऽत्र वस्त्वभावः प्रतीयते। तद्गत्वाऽगमनात् सा हि दूरस्थेष्वस्ति सत्स्वपि॥ गत्वा गत्वा तु तान् देशान् यद्यर्थो नोपलभ्यते। ततोऽन्यकारणाभावादसन्नित्यवगम्यते॥ -मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३६-३८। (४) जानामि-न्यायम०। (५) नाभिशङ्क्या-न्यायम०। (६) अनुपलब्धिः। (७) चैत्रस्य। (८) बहिः। (९) चैत्राभावनिश्चयः। (१०) पृ० ५०५ पं० १८। (११) रात्रिभोजनादिना-आ० टि०। तुलना- एषा विचार्यमाणा तु भिद्यते नानुमानतः॥ प्रतिबन्धादृते वस्तु न वस्त्वन्तरबोधकम्। यत्किञ्चिद्दृश्यमालोक्य न च कश्चित्प्रतीयते॥ प्रतिबन्धोऽपि नाज्ञातः प्रयाति मतिहेतुताम्। न सद्योजातबालानां दृश्यते तथा धियः॥ न विनापात्मना यत्र सामान्यनिग्रहसम्भवः। तत्राप्यस्यैव सामान्यरूपेण तदुपग्रहः॥ -न्यायम० पृ० ४१। अर्थापत्तेरप्यनुमान एवान्तर्भावो विनाभावबलेनार्थप्रतिपत्तिसाधनत्वात्। अयं यथा नोपपद्यते इत्युक्ते सत्येवोपपद्यत इति लभ्यते। अयमेवाविनाभाव इति। -न्यायसा० पृ० २२। अथापत्त्युत्थापको र्थोऽन्यथानुपपद्यमानत्वेनानवगतः अवगतो वा? दृष्टार्थपरिकल्पनानिमित्तं स्यात्? -प्रमेयक० पृ० १९३। स्या० र० २८३। (१२) दृष्टात् श्रुताद्वार्थात्-आ० टि०। तुलना- शब्देनार्थान्यथान्यार्थापत्तिर्विरोध्यस्य श्रवणादनुमितानुमानम्। -प्रश० भा०, कन्द० पृ० २२३। प्रश० व्यो० पृ० ५९०। शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावाद् अनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः। -न्यायसू० २।२।२। प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य सम्बद्धस्य प्रतिपत्तिरनुमानं तथा चार्थापत्तिसम्भवाभावाः। वाक्यार्थसम्प्रत्ययेनानभिहितस्यार्थस्य प्रत्यनीकभावाद् ग्रहणमर्थापत्तिरनुमानमेव। -न्यायभा० २।२।२। कथमर्थापत्तिरनुमानेन सङ्गृह्यते? द्वयोरेकतरप्रतिषेधस्य द्वितीयाभ्यनुज्ञाविषयत्वात्। यत्र यत्र द्वयोर्वस्तुनोरेकतरद्वस्तु प्रतिषिध्यते तत्र तत्र द्वितीयाभ्यनुज्ञा दृष्टा यथा दिवा न भुङ्क्ते इत्यभिधानात् रात्रौ भुङ्क्ते इति गम्यते।'-न्यायवा० पृ० २७६। न्यायली० पृ० ५७।

1 नियतदेशतया ब० श्र०। 2 तेषु देशान्त-आ०, श्र०। 3-तमानो ब०-श्र०।

प्रतीतिः अनुमानमेव, तथाहि—दृष्टात् श्रुताद्वाऽर्थाद् अर्थान्तरे प्रतीतिः अनुमानमेव, अविनाभावबलेन उपजायमानत्वात्, यद् यद् अविनाभावबलेनोपजायते तत्तदनुमानमेव यथा धूमादग्निविज्ञानम्, अविनाभावबलेनोपजायते चार्थापत्त्यभिमता प्रतीतिरिति।

किञ्च, असौ[1] तत्सम्बद्धोऽपि तद्रूपतया ज्ञातः, अज्ञातो वा[2] तत्कल्पनानिमित्तं स्यात्? न तावदज्ञातः, बालादेरपि अतोऽदृष्टार्थकल्पनाप्रसङ्गात्। अथ ज्ञातः, तत्रापि किं साध्यप्रतिपत्तिकाले तत्सम्बद्धतया असौ ज्ञातः, पूर्वं वा? प्रथमपक्षे किं प्रमा[3]णान्तरात् तत्सम्बद्धतया तदाऽसौ ज्ञातः, ततः एव वा? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः, [4]तत्प्रतिपत्तिकाले तत्सम्बन्धग्राहिणः प्रमाणान्तरस्यासंभवात्, संभवे वा साध्यस्यापि अत[5] एव सिद्धेः किमर्थापत्त्या?

अस्तु वासौ, तथापि—अनुमानान्न भिद्यते, तथाहि—अर्थापत्तिः अनुमानमेव, प्रमाणान्तरावगतसाध्यसम्बन्धाद् हेतोरुपजायमानत्वात्, यद्यत्प्रमाणान्तरावगतसाध्यसम्बन्धाद् हेतोरुपजायते तत्तदनुमानमेव यथा धूमाद् वह्निविज्ञानम्, प्रमाणान्तरावगतसाध्यसम्बन्धाद्धेतोः उपजायते चार्थापत्त्यभिमतं ज्ञानमिति। अथ ततः एव साध्यसम्बद्धतया असौ ज्ञातः, तदा अन्योन्याश्रयः—सिद्धाया हि अर्थापत्तौ तदुत्थापकार्थस्य तत्सम्बद्धतया ज्ञप्तिसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अर्थापत्तिसिद्धिरिति। अथ पूर्वं तत्सम्बद्धतयाऽसौ ज्ञातः किं साध्यधर्मिण्येव, दृष्टान्तधर्मिणि वा? प्रथमविकल्पे अर्थापत्तेर्वैयर्थ्यम् तत्साध्यस्य प्रागेव प्रसिद्धत्वात्। दृष्टान्तधर्मिण्यप्यनभ्युपगमान्नासौ तत्सम्बद्धतया ज्ञातव्यः।

किञ्च, तत्रासौ साध्यसम्बद्धतया भूयोदर्शनात्, विपक्षेऽनुपलम्भात्, अर्थापत्त्य-

---

"न चार्थापत्तिरनुमानतो भिद्यते, लोके तदसङ्कीर्णोदाहरणाभावात् प्रकारान्तराभावाच्च। —न्यायकुसु० ३।१९। 'सिद्धः साध्याविनाभावो ह्यर्थापत्तेः प्रभावकः। सम्भवाश्च यो हेतुः सोऽपि लिङ्गान्न भिद्यते॥ दृष्टान्तनिरपेक्षत्वं लिङ्गस्यापि निवेदितम्। तन्न मानान्तरं लिङ्गादर्थापत्त्यान्वियन्नम्॥' —तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१७। प्रमेयक० पृ० १९३। सन्मति० टी० पृ० ५८५। जनतर्कवा० पृ० ७७। स्या० र० पृ० २८३। रत्नाकराव० २।१।

(१) दृष्टः श्रुतो वाऽर्थः—आ० टि०। (२) सम्बद्धरूपतया—आ० टि०। (३) तुलना—"अस्यान्यथानुपपद्यमानत्वागमः अर्थापत्तेरेव प्रमाणान्तराद्वा?"—प्रमेयक० पृ० १९३। स्या० र० पृ० ४८४। (४) साध्यप्रतिपत्तिकाले (५) सम्बन्धग्राहिणः प्रमाणान्तरात्। (६) पीनत्वग्राहकात्—आ० टि०। (७) मीमांसका हि अर्थापत्तौ सम्बन्धावगमं दृष्टान्ते न स्वीकुर्वन्ति अर्थापत्त्यनुमानयोर्भेदाभावप्रसङ्गात्। "अविनाभाविता चात्र तदैव परिकल्प्यते। न प्रागवगतेत्येवं सत्यप्येषा न कारणम्" (मी० श्लो०, अर्था० श्लो० ३०) इत्यभिधानात्। (८) दृष्टान्तधर्मिणि चेद् दृष्टः श्रुतो वार्थः पूर्वं प्रतिपन्नः तदा साध्यधर्मिणि किमायातम्—आ० टि०। (९) दृष्टान्तधर्मिणि। तुलना—'अथ प्रमाणान्तरात्तदवगमः, तत्किं भूयोदर्शनात् विपक्षेऽनुपलम्भो वा?'—प्रमेयक० पृ० १९४। स्या० र० पृ० २८४। (१०) विपक्षा हि अनग्निसाध्या अनन्ता एव—आ० टि०।

1–त्मप्रतीति–श्र०। 2–द्वह्निविज्ञानम् ब०। 3 वा कल्पना–आ०। 4 –सम्बद्धाद् ब०। 5–सम्बद्धाद्धे–आ०। 6 प्रागेव सिद्ध–श्र०। 7–सौ सम्बद्ध–ब०,–सौ साध्यस्य सम्बद्ध–श्र०।

न्तराद्वा प्रतीयेत ? न तावद् भूयोदर्शनात्, शक्तेरतीन्द्रियतया भूयोदर्शनाऽसंभवात्। नापि विपक्षेऽनुपलम्भात्, तस्यापि उपलब्धियोग्येष्वेवार्थेषु सम्बन्धप्रतिपत्तिहेतुत्वात्। नापि अर्थापत्त्यन्तरात्, अनवस्थाप्रसङ्गात्। कथं तर्हि साध्यसाधनयोः सम्बन्धप्रतिपत्तिरेतोऽपीति चेत् ? ऊहाख्यप्रमाणान्तरात्। अस्माकं तदभ्युपगमे को दोष इति चेत् ? प्रमाणसंख्याव्याघातः, तथा "प्रत्यक्षेण हि प्रतिपन्ने प्रतिबन्धे अनुमानं प्रवर्त्तते" [ ] इत्यादिग्रन्थविरोधश्च, सर्वत्र ऊहाख्यप्रमाणादेव सम्बन्धप्रतिपत्तिप्रसिद्धेः। न खलु तस्य कश्चिदगोचरोऽस्ति येन शक्तेरतीन्द्रियतया केनचिल्लिङ्गेन सह सम्बन्धाऽप्रतिपत्तेः अनुमानतोऽप्रतिपत्तिः स्यात्।

यदपि-'प्रत्यक्षप्रतिपन्नदाहात्यकार्यान्यथानुपपत्त्या' इत्यादि प्रत्यक्षपूर्विकार्थापत्तेर्लक्षणमुक्तम्, तत्र अनुपपत्तिस्वरूपं वक्तव्यम्-किं साध्येन विना स्फोटादेरभावः अनुपपत्तिः, प्रमाणविरोधो वा ? प्रथमपक्षे तेन विना नोपपद्यते इति व्यतिरेकभणितिः, व्यतिरेकश्च प्रतीयमानः 'तस्मिन् सति उपपद्यते' इत्यन्वयमाक्षिपति, अन्वयव्यतिरेकौ च लिङ्गस्यैव गमकस्य धर्माविति कथमर्थापत्तिरनुमानादतिरिच्येत ? प्रमाणविरोधोऽपि बाध्यबाधकभावाभावः। तथा च शुक्तिकायां रजततदभावग्राहिणोर्विज्ञानयोः बाध्यबाधकभावे सति रजतान्यथानुपपत्त्या अर्थान्तरकल्पनाप्रसङ्गः स्यात्, तल्लक्षणाया अनुपपत्तेस्तत्राप्यविशेषात्।

किञ्च, प्रमाणयोः परस्परप्रतिबन्धकत्वे सति अर्थापत्तिः प्रवर्त्तते, ते च वक्तव्ये। ननु किमत्र वक्तव्यं सुप्रसिद्धत्वात् ? तथाहि-'स्फोटस्वरूपं तावद् अध्यक्षं परिच्छिनत्ति', 'न च तस्य दृष्टं कारणं सम्भवति, कारणान्तरञ्च नोपलभ्यते, कारणाभावे च कार्याभावो दृष्टः, अतः कारणाभावाख्यलिङ्गप्रभवानुमानात् तस्याभावः प्राप्तः' इत्येवं प्रमाणद्वयविघटनायां तत्सङ्घटनात्मिका तयोर्विषयभेदं दर्शयन्ती अर्थापत्तिः प्रवर्त्तते। स्फोटज्ञानं हि स्फोटविषयम्, कारणाभावानुमानञ्च परिदृश्यमानकारणनिबन्धनकार्याभावविषयमिति, तदप्यसमीचीनम्, यतः कारणाभावोऽत्र कार्याभावनिश्चये लिङ्गम्, स च निश्चितः, अनिश्चितो वा तल्लिङ्गं स्यात् ? न तावदनिश्चितः, बाष्पादेरपि धूमादि-

(१) तुलना- भूयोदर्शनगम्या च व्याप्तिः -मी० श्लो० अनु० श्लो० १२। (२) पृ० ५०६ पं० ४। (३) दहनशक्त्या। (४) तुलना- तेन विना नोपपद्यते इति च व्यतिरेकभणितिरियम्, व्यतिरेकश्च प्रतीतः तस्मिन् सत्युपपद्यते इत्यन्वयमाक्षिपति अन्वयव्यतिरेकौ च गमकस्य लिङ्गस्य धर्म इति च कथमर्थापत्तिर्नानुमानम्। -न्यायम० पृ० ४१। (५) प्रमाणविरोधलक्षणायाः। (६) सद्विलम्बम्-आ० टि०। (७) शक्तिरूपम्-आ० टि०। (८) स्फोटस्य-आ० टि०। (९) स्फोटं प्रत्यक्षेण तावत्स्फोटसद्भाव आवेदित शक्तिरूपकारणाभावानुमानेन तु स्फोटाभावोऽनुमित इति स्फोटविषये प्रत्यक्षानुमाने विवदेते अनयोर्विषयभेदं प्रदर्शयन्ती अर्थापत्तिः सङ्घटनकारिणी भवति।

1 सम्बन्धं प्रति हेतु-आ०। 2 ऊहात् अस्मा-ब०। 3-कल्पनानुषङ्गात् ब०, श्र०। 4 प्रवर्तते च वक्त-ब०। 5 दृष्टकारणं श्र०। 6-निश्चयलिङ्गम् श्र०।

तया सन्दिग्धस्य लिङ्गताप्रसङ्गात् । अथ निश्चित, कुतस्तन्निश्चय ? कारणानुपलब्धेश्चेत्, सा किं दृश्यानुपलब्धि, अदृश्यानुपलब्धिर्वा ? यद्यदृश्यानुपलब्धि, कथमतोऽभावसिद्धि, परमाणुपिशाचादिना अनेकान्तात् ? अथ दृश्यानुपलब्धि, तर्हि अत कारणाभावसिद्धे कथमर्थापत्ते कारणसद्भावावेदिकाया प्रामाण्य स्यात् ? चक्रकप्रसङ्गाच्च न कारणाभावस्य लिङ्गता, तथाहि–कार्यकारणयो सम्बन्धग्रहणे सति कारणाभावादयमनुमान प्रवर्तते, सम्बन्धग्रहणञ्च कारणग्रहणे सति, कारणग्रहणञ्च अर्थापत्तित, अर्थापत्तिश्च कारणाभावानुमाने सति, तच्च सम्बन्धग्रहणे सति इति । न च अर्थापत्तित एव स्फोटादौ कारणसद्भावसिद्धि, अनुमानतोऽपि तत्सिद्धे । तथाहि–स्फोटादि कारणपूर्वकम्, कार्यत्वात्, यत् कार्यं तत् कारणपूर्वकम् यथा धूमादि, कार्यञ्चेद स्फोटादि, तस्मात् कारणपूर्वकमिति ।

एतेन अनुमानोपमानपूर्वकाऽर्थापत्तिद्वयमपि[1] प्रत्याख्यातम्[2], तस्यापि शक्तिविषयत्वेन प्रत्यक्षपूर्वकार्थापत्तिपक्षनिक्षिप्ताऽशेषदोषानुषङ्गात् ।

यापि शब्दनित्यत्वसिद्धौ अर्थापत्तिपूर्विकार्थापत्तिरुक्ता[3], साप्ययुक्ता, शब्दस्यानित्यत्वेऽपि वाचकत्वस्योपपत्ते[1], तदनित्यत्वञ्च अग्रे प्रसाधयिष्याम ।

यापि 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादि श्रुतार्थापत्तिरुक्ता[4], सोऽप्यनुमानमेव[2][5], कार्यत कारणप्रतिपत्ते । असति हि रसायनाद्युपयोगे पीनत्व स्वात्मनि अन्यत्र[6] च भोजनकार्यत्वेन अवगतम्, तच्च देवदत्ताख्ये धर्मिणि आप्तवाक्यात् कालविशेषे[7] भोजननिषेधेन निश्चीयमान प्रतिषिध्यमानकालव्यतिरिक्तकालेऽप्रतिषिद्धे[3] स्वोपपादकस्य[4][8] कारणस्य[9] सत्तामवगमयति[5] । नहि कारण विना कार्यस्योदयो घटते, अहेतुकत्वेन सदा सत्त्वस्य[10]

(१) पृ० ५०६ पं० ५,६ । (२) तुलना–"उपमानस्य तु स्मरणादभेद तत्पूर्विकार्थापत्तिरनुमानमेव, व्याप्ते पूर्व ग्रहणात् । तथा च सादृश्यावच्छिन्नो गोपिण्डो वाहादिसमर्थ गोपिण्डत्वात् पूर्वोपलब्धवविषगोपिण्डवत् । –प्रमा० श्लो० पृ० ५९० । (३) पृ० ५०७ पं० ९ । (४) पृ० ५०७ पं० ११ । (५) तुलना–"श्रुतार्थापत्तिरपि वराकी नानुमानाद् भिद्यते, वचनकदृशकल्पनाया अनुपपन्नत्वान्यस्य च कार्यलिङ्गस्य सत्त्वात । यथा गिरिधरक धराधिकरण धूममवलोक्य तत्कारणमनलमनुमिनोति भवान् एवमागमात्पीनत्वाख्य कार्यमवधाय तत्कारणमपि भोजनमनुमिनोतु कोऽत्र विरोध '–न्यायमं० पृ० ४५ । "क्षपाभोजनसम्बन्धी पुमानिष्ट प्रतीयते । दिवाभोजनवक्त्यपीनत्वेन तदन्यवत् ॥ भोजने सति पीनत्वमन्वयव्यतिरेकत । निश्चित तेन सम्बद्धाद्वस्तुनो वस्तुतो गति ॥"–तत्त्वसं० पृ० ४६५ । सन्मति० टी० पृ० ५८७ । स्या० र० पृ० ३०६ । "पीनो दिवा न भुङ्क्ते इति वाक्यश्रवणाद्रात्रिभोजनकल्पनाऽनुमितानुमानम्, लिङ्गभूतेन वाक्येन अनुमितात् पीनत्वात् तत्कारणस्य रात्रिभोजनस्य अनुमानात् ।"–प्रमा० क० पृ० २२३ । "देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते दिवाऽभोजित्वे सति पीनत्वादिति ।'–वशे० उप० ९।२।५ । (६) स्थूले पुरुषान्तरे । (७) दिवा । (८) पीनत्वोपपादकस्य–आ० टि० । (९) भोजनस्य । (१०) तुलना–"नित्य सत्त्वमसत्त्व हि हेतोरन्यानपेक्षणात् । अपेक्षातश्च भावाना कादाचित्कत्वसम्भव ॥'–प्रमाणवा० ३।३४ ।

1 वाचकस्योपपत्ते आ० । 2 योऽपि ब० । 3 प्रतिषेध्यमान–आ० । 4 स्वोत्पादकस्य ब०, श्र० । 5 कारणसत्तामव–ब० ।

असत्त्वस्य वा प्रसङ्गात्। प्रयोग –रात्रिभुक्तिमान् देवदत्त, रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीनत्वात्, यो यो रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीन स स रात्रिभुक्तिमान् यथा राक्षसेश्वर, रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीनश्च देवदत्त, तस्माद् रात्रिभुक्तिमानिति। ततो 'नहीदं वाक्यमेव तत्प्रतिपत्तिनिबन्धनम्' इत्याद्ययुक्तमुक्तम्, यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य पीनत्वलक्षणलिङ्गस्यैवातो वाक्यात् प्रतिपत्तेः, तत्प्रतिपन्नाच्च लिङ्गात् रात्रिभोजनप्रतिपत्तिसिद्धिरिति।

यापि अभावपूर्विकाऽर्थापत्ति सापि अनुमानमेव, जीवतश्चैत्रस्य गृहाभावेन लिङ्गेन बहिर्भावावगमात्। तथाहि–जीवतश्चैत्रस्य गृहेऽभाव बहिर्भावेन तद्वान्, जीवन्मनुष्यगृहाभाववत्त्वात्, पूर्वोपलब्धैवंविधगृहाभाववत्, यथा धूमोऽग्निमान् धूमत्वात् पूर्वोपलब्धधूमवत्। ततश्च गृहादीनां लिङ्गत्वनिराकरणं शब्दाडम्बरमात्रम् अस्मन्मताशाऽस्पर्शित्वात्।

यत्पुन प्रमेयानुप्रवेशो दूषणमुक्तम्; तदपि न युक्तम्, यत किं प्रमेयमत्राऽभिमतम्– किं सत्तामात्रम्, बहिर्देशविशेषितं वा सत्त्वम्? तत्र सत्तामात्रं तावद् आगमादेवाऽवगतमिति न प्रमाणान्तरप्रमेयतामवलम्बते। बहिर्देशविशेषितं तु सत्त्वं भवति प्रमेयम्, न च तस्य तदानीमनुप्रवेश। गृहे चैत्राभावग्राहकं हि प्रमाणं तत्रैव तत्सत्तां यावेदकप्रमाणमपाकरोति न पुन बहिस्तत्सदसत्त्वचिन्तां करोति।

"मृतस्य जीवतो दूरं तिष्ठत प्राङ्गणेऽपि वा।
गृहाभावपरिच्छेदे न विशेषोऽस्ति कश्चन॥" [न्यायम० पृ० ४३]

(१) पृ० ५०७ पं० १२। (२) रसायनाद्युपयोगाभावेत्यादि–आ० टि०। (३) वाक्यप्रतिपन्नात्। (४) तुलना– सापि अनुमानमेव व्याप्ते पूर्वमेव ग्रहणात्। तथाहि–देवदत्तो बहिर्देशसम्बन्धी जीवनसम्बन्धित्वे सति गृहेऽनुपलभ्यमानत्वात् विष्णुमित्रवत्। –प्रश० व्यो० पृ० ५९९। तदपि गृहामुक्तत्वदृष्ट्यादृष्टविनिश्चितम्। अनस्तत्र बहिर्भावो लिङ्गादेवावसीयते॥ यथा यो ह्यसदृष्टो नियत बहिरस्त्यसौ। गृहाङ्गणस्थितो दृष्ट पुमान् द्वारस्थितैरिव॥ विपरीतोऽपि भवत्यत्र सदनान्तर्गतो नर। अर्थापत्तिरियं तस्मादनुमानान्न भिद्यते॥ –तत्त्वसं० पृ० ४७० । प्रमेयक० पृ० २०३। सन्मति० टी० पृ० ५८६। स्या० र० पृ० ३०८। चैत्रस्य गृहाभावो धर्मी बहिर्भावेन तद्वानिति साध्यो धर्म जीवन्मनुष्यगृहाभाववत्त्वात् पूर्वोपलब्धैवंविधगृहाभाववत्। –न्यायम० पृ० ४३। 'तदप्यनुमानमेव, यत्र खलु सतोऽन्यत्र नास्ति तदन्यत्रास्ति, यत्र वाऽव्यापक एकत्रास्ति तदाऽन्यत्र नास्ति सोऽयं स्वशरीर एव व्याप्तिग्रह सुकर। तथा च सतो गृहाभावदर्शनेन लिङ्गेन बहिर्भावदर्शनमनुमानम्। –न्यायवा० ता० पृ० ४३८। सांख्यतत्त्वकौ० पृ० ४४। प्रश० कन्द० पृ० २२३। न्यायकुसु० ३।१९। प्रश० किरणा० पृ० ३२४। वर्धो० उप० १।२।५। (५) पृ० ५०९ पं० ८। (६) तुलना– किं प्रमेयमभिमतमत्र भवता किं सत्तामात्रमुत बहिर्देशविशेषितं सत्त्वम्। –न्यायम० पृ० ४३। स्या० र० पृ० ३०९। (७) गृह एव। (८) मृतस्य –न्यायम०। मृतस्य जीवतो वा दूरे प्राङ्गणेऽपि वा। तिष्ठतश्च नरस्य गृहाभावपरिच्छेदे विशेषाभावात्। –स्या० र० पृ० ३०९।

1–स्य प्रस–ब०। 2–वाक्यात्तत्प्रति–ब०। 3–प्रतिपत्तिरिति आ०। 4 मत्प्रमा–आ०। 5–णान्तरं प्रमे–ब०। 6–परिच्छेदेनवि–श्र०।

जीवनविशिष्टस्त्वसौ गृह्यमाणो लिङ्गतामेव प्रतिपद्यते व्यभिचाराभावात्। न च विशेषणग्रहणमेव प्रमेयग्रहणम्, यतो जीवनमन्यद् अन्यच्च बहिर्भावाख्यं प्रमेयमिति।

अथ मतम्–जीवनविशिष्टगृहाभावप्रतीतिरेव बहिर्भावप्रतीतिरिति, तदप्यविचारितरमणीयम्, यतो जीवनविशिष्टगृहाभावप्रतीतेर्बहिर्भावप्रतीतिर्भवति, न तु तत्प्रतीतिरेव बहिर्भावप्रतीतिः। न हि दहनाधिकरणधूमप्रतीतिरेव दहनप्रतीतिर्दृष्टा। अथ धूमादन्यो दहनः तेनात्र तत्प्रतीतिभेदो युक्तः, तदेतदन्यत्रापि समानम्–गृहाभाव-जीवनाभ्यां तद्बहिर्भावस्यापि अन्यत्वात्, तत्कथमत्रापि तत्प्रतीत्योरभेदः स्यात्? यथा च पर्वत-वह्न्योः सिद्धत्वात् सत्त्वमात्रं तत्र अपूर्वमनुमेयमेवमिष्टम्, एवमिहापि बहिर्देशमात्रम् अपूर्वमनुमेयमस्तु। यदि तु तदधिकं प्रमेयमिह नेष्यते, तदा गृहाभावजीवनयोः स्वप्रमाणाभ्यामवधारणाद् आनर्थक्यमेव अर्थापत्तेः। तस्मात् प्रमेयान्तरसद्भावात् तस्य चाऽननुप्रवेशान्न कश्चिद्दोषः। अर्थापत्तावपि च तुल्य एवायं दोषः, तत्रापि अर्थादर्थान्तरकल्पनाभ्युपगमात्। तस्य तस्मात् प्रतीतिरिति यत्र व्यवहारः तत्रावश्यं तत्प्रतीतौ तदनुप्रवेशदोषोऽनुपज्यते, स्वभावहेताविव तद्बुद्धिसिद्ध्या तत्सिद्धेः प्रमाणान्तरवैफल्यात्।

ननु चाभावो निश्चितो लिङ्गं भविष्यति, सत्त्वसत्त्वग्राहिणोश्च प्रमाणयोः विरोधे कथं तन्निश्चयः? अतो यावदागमस्य बहिर्भावविषयता न प्रतीयते तावन्न गृहेऽभावनिश्चय इति, तस्य निश्चये प्रमेयानुप्रवेशदोषानुषङ्गः, अर्थापत्तिस्तु प्रमाणद्वयविरोधे सत्येव

(१) गृहाभाव–आ० टि०। (२) तुलना–"जीवनविशिष्टगृहाभावप्रतीतेः बहिर्भावप्रतीतिः न तत्प्रतीतिरेव बहिर्भावप्रतीतिः। न हि दहनाधिकरणधूमप्रतीतिरेव दहनप्रतीतिः, किन्तु धूमादन्य एव दहनः, इहापि गृहाभावजीवनाभ्यामन्य एव बहिर्भावः, पर्वतहुतवहयोस्सिद्धत्वात् सत्त्वमात्रं तत्रापूर्वमनुमेयम्, एवमिहापि बहिर्देशयोगमात्रमपूर्वमनुमेयम्।"–न्यायमं० पृ० ४३। स्या० र० पृ० १०९। (३) जीवतो गृहाभावबहिर्भावयाः–आ० टि०। (४) 'पर्वतो वह्निमान्' इति रूपम्। (५) भावस्य जीवनस्य सिद्धत्वात्–आ० टि०। (६) गृहाभावग्राहकं हि अभावप्रमाणम्, जीवनग्राहकञ्च आगमप्रमाणमिति। (७) बहिः सद्भावः। (८) तुलना–"अर्थापत्तावपि च तुल्य एवायं दोषः तत्राप्यर्थादर्थान्तरकल्पनाभ्युपगमात्। दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पनेत्येव प्रयोगाभिधानात्। तस्य तस्मात्प्रतीतिरिति तत्र व्यवहारस्तत्रावाच्य(?) तत्प्रतीतौ तदनुप्रवेशो दोष एव। स्वभावहेताविव तद्बुद्धिसिद्ध्या तत्सिद्धेः प्रमाणान्तरवैफल्यादिति।"–न्यायमं० पृ० ४४। स्या० र० पृ० १०९। (९) तस्य साध्यस्य तस्मात् साधनात् प्रतीतिरिति व्यवहारस्तु अनुमाने इवार्थापत्तावप्यस्ति–आ० टि०। (१०) यथा स्वभावहेतौ शिंशपाबुद्ध्यैव वृक्षबुद्धौ जातायां प्रमाणान्तरेण न कार्यम्, तथात्रापि गृहाभावजीवनलिङ्गेन बहिर्भावस्यावगतत्वादर्थापत्त्या न कार्यम्–आ० टि०। (११) अपि तु सत्त्वासत्त्वाभाव–आ० टि०। (१२) य एव जीवतो गृहाभावनिश्चयः स एव बहिर्भावनिश्चयः इति, अतो गृहाभावाख्यो हेतुः प्रमेयं बहिर्भावाख्यमनुप्रविष्ट इति भावः–आ० टि०।

1–विशिष्टस्यासौ ब०। [illegible] विशेषणग्र–श्र०। 3 दहनाधिकरण–श्र०। 4 तेन तत्र–श्र०। [illegible] प्रतिपत्तिरिति ब०। 6–सिद्धि आ०, ब०।

प्रसज्यते इति कथं तदनुप्रवेशः ? तदसमीक्षिताभिधानम्, सदसत्त्वज्ञानयोः असमानविषयतया विरोधाऽसिद्धेः । आगमेन हि देशविशेषानवच्छिन्नस्य चैत्रस्य सत्ता प्रतिपाद्यते न गृहे बहिर्वा, प्रत्यक्षेण तु गृहावच्छिन्नस्य चैत्रस्याभाव इति । समानविषयत्वे तु तयोरन्यथासिद्धाऽध्यक्षबाध्यत्वेन आगमज्ञानस्य मिथ्याज्ञानस्यैव नाऽर्थान्तरकल्पनाकारणत्वम् ।

अथ मतम्–अनुमाने गमकविशेषणमन्यथानुपपन्नत्वं 'वह्निं विना धूमो नोपपद्यत' इति, अर्थापत्तौ तु विपर्ययः गमकं विना गम्यो नोपपद्यते । गम्यो हि बहिर्भावः, स जीवतो गृहाभावं विना नोपपद्यते, गृहान्निर्गतो जीवन् बहिरस्तीत्येव गम्यगमकयोरनुपपद्यमानत्वे विपर्ययात् प्रमाणान्तरमनुमानादर्थापत्तिरिति; तदप्यसङ्गतम्, 'साध्याविनाभाविनो लिङ्गात् लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानम्' इत्यनुमानलक्षणम् । तच्चार्थापत्तौ अस्त्येव । न हि तदुत्थापकार्थस्य साध्येन अविनाभावोऽसिद्धः, तत्र तैरसिद्धस्वभावप्रसङ्गात् । स चाविनाभावः अन्यथानुपपन्नत्वापरपर्यायः उभयनिष्ठत्वात् गमकविशेषणं वास्तु गम्यविशेषणं वा नैतावता अर्थापत्त्यनुमानयोर्भेदः, अन्यथा 'सूर्यस्य गमनशक्तिरस्ति गतिमत्त्वाऽन्यथानुपपत्तेः' इति पक्षधर्मत्वसहिताया अर्थापत्तेः 'वह्नेर्दाह-

(१) तुलना– तथाहि–सत्त्वमात्रं वा विरुध्यते चैत्रस्य गृहाभावेन गृहसत्त्वं वा तत्रास्य । न तावदत्र क्वचन सत्त्वस्यास्ति विरोधः गृहासत्त्वया समानविषयत्वाभावात् । गृहाभावावच्छिन्नाभावेन गृहसत्त्वं विरुद्धत्वात्प्रतिषिध्यते न तु सत्त्वमात्रम् तत्र तस्योदासीन्यात्, तस्माद् गृहाभावेन सिद्धेन सता बहिर्भावोऽनुमीयत इति युक्तम् । एतेन विरुद्धयोः प्रमाणयोरविरोधापादनं विषयव्यवस्थया अर्थापत्तिविषय इत्यस्त अवच्छिन्नानवच्छिन्नयोरविरोधात् । –न्यायवा० ता० पृ० ४३९ । साङ्ख्यतत्त्वकौ० पृ० ४४ । अनियम्यस्य नायुक्तिः नानियन्तोपपादकः । न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाप्यसौ समः ॥ –न्यायकुसु० ३।११ । (२) नियतान्यविषयत्वेनैव सिद्धमध्यक्षम्–आ० टि० । (३) अबलमागमज्ञानमनियतान्यविषयत्वात्–आ० टि० । (४) प्रभाकरस्य । 'यदि यद्वत् विना नोपपद्यते तदेव गमकं स्यात्, इह तु यन्नोपपद्यते तदेवावगम्यते । किं पुनः नोपपद्यते ? जीवतो गृहाभावदर्शनात् अन्यथाभावो नोपपद्यते । तत् किम् ? नानाभावस्य गम्यता । कस्य तर्हि ? भावस्य । न चासौ गृहाभावदर्शनेनोपपद्यते । नापि नोपपद्यते । न हि गृहाभावदर्शनेन विना बहिर्भाव उपपद्यते । –शाबरभा० बृह० १।१।५ । विना कल्पनयार्थेन दृष्टेनानुपपन्नताम् । नयता दृष्टमर्थं या साऽर्थापत्तिस्तु कल्पना ॥ अभावेन गृहे भावो बहिष्कल्पनया विना । नयताऽनुपपन्नत्वं कल्प्यमाना बहिर्यथा ॥ गम्यस्यानुपपन्नत्वमिह कल्पनया विना । मानान्तरविरोधेन सन्देहापत्तिलक्षणम् ॥ देशेन हि विना भावो न क्वचन दृश्यते । विना भावेन सिद्धोऽपि ते सन्देहमानयन्ति ॥ तत्सन्देहव्युदासाय कल्पना या प्रवर्तते । सन्देहापादकान्योन्यविरोधिनौ समता ॥ गमकस्यानुमाने तु विपर्यासत्वलक्षणम् । गम्यतेऽनुपपन्नत्वं विना गम्येन वस्तुना ॥ तस्मादयं विधिः भिन्न एव परस्परम् । अर्थापत्त्यनुमानाख्ये प्रमाणे इति निश्चितम् ॥ –प्रक० पं० पृ० १२८ । तुलना–न्यायम० पृ० ४५ । (५) तुलना–'एतदपि प्रत्यक्षप्रमाणोपाख्यानमात्रम् न तु सूक्ष्मविचारतो प्रत्यक्षम् गम्यं तावदगृहीते सति तदृते तदनुपपद्यमानत्वं कथमवधार्येत गृहीते तु गम्ये किं तदृतेऽनुपपद्यमानत्वग्रहणेन साध्यस्य सिद्धत्वात् –न्यायम० पृ० ४४ । (६) अर्थापत्त्युत्थापकार्थानि । (७) साध्य ।

1 तयोरन्यथा–ब० । 2–मानविषयत्वात् श्र० । 3 तच्चार्थापत्तौ ब० । 4 पक्षधर्मसहि–आ० ।

शक्तिरस्ति स्फोटान्यथानुपपत्तेः' इति तद्रहितार्थापत्तिः प्रमाणान्तरं स्यात्, तथा च प्रमाणसंख्याव्याघातः। नियमवतोऽर्थाद् अर्थान्तरप्रतिपत्तेरविशेषात्तयोरभेदे स्वसाध्याविनाभाविनोऽर्थाद् अर्थान्तरप्रतिपत्तेरप्यविशेषात् कथमनुमानादर्थापत्तेर्भेदः स्यात्?

असिद्धश्चात्र अविनाभावस्य गम्यविशेषणत्वम्; गृहे चैत्राभावे एव बहिस्तत्सद्भावगमके तस्यैव विशेषणत्वसम्भवात्। नहि तस्य तद्विशेषणत्वे कश्चिद्दोषः सम्भवति येन गम्यविशेषणता कल्प्येत। न च सर्वस्यामर्थापत्तौ गम्यविशेषणता अविनाभावस्य सम्भवति, प्रत्यक्षादिप्रभवाऽर्थापत्तौ गमकस्यैव स्फोटादेः अविनाभावविशेषणत्वसम्भवात्। न खलु तत्र गम्यायाः शक्तेः स्फोटं विनाऽनुपपत्तिः सम्भवति, तमन्तरेणापि अस्याः सद्भावाभ्युपगमात्।

यच्चान्यदुक्तम्–'पक्षधर्मतानिश्चयसमये साध्यस्य नियतदेशतया अप्रतीतेः अनुमानाद्वैलक्षण्यम्' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, गृहाभावाख्यधर्म्यवच्छेदेन बहिर्भावस्य प्रतीतेः, धर्मी एव हि देशशब्देन उच्यते, तदवच्छेदश्च अत्राप्यस्त्येवेति न ततस्तद्वैलक्षण्यम्।

यदपि 'सम्बन्धग्रहणाभावाच्च' इत्याद्युक्तम्, तदपि न, यतः 'सर्वत्र सम्बन्धग्रहणस्य ऊहाख्यप्रमाणप्रसादादेव प्रसिद्धेः' इत्युक्तम्। अतश्च 'देशान्तराणामानन्त्यान्न च नास्तित्वेन सम्बन्धग्रहः' इत्याद्ययुक्तम्, अनियतसाध्यसाधनव्यक्तिसम्बन्धग्रहणस्वभावत्वात्तस्य। कथमन्यथा धूमस्य अनग्निव्यतिरेकनिश्चयः तत्रापि अस्य दोषस्याऽविशेषात्? न च भूयोदर्शनावगम्यमानाऽन्वयमात्रेण गमकोऽसौ[16] युक्तः, अनिश्चितव्यतिरेकस्य साध्यनिश्चयाऽहेतुत्वात्। न च सत्तामात्रेणासौ तद्धेतुः, अन्वयवद् व्यतिरेकस्यापि निश्चितस्यैव अनुमानाङ्गतोपपत्तेः।

किञ्च, असर्वगतद्रव्यस्य चैत्रादेः नियतदेशवृत्तेः[18] तदन्यदेशे प्रतिनियते प्रत्यक्षतः,

(१) नाग्निवह्नौ स्फोटश्च करतलादौ इति न स्फोटस्य पक्षधर्मता–आ० टि०। (२) पक्षधर्मत्वसहिततद्रहितयोरर्थापत्त्योश्चेदभेदः, तर्हि अनुमानार्थापत्त्योरपि तथास्तु–आ० टि०। षडेव प्रमाणानीति प्रमाणसंख्याव्याघातः सप्तमस्य प्रसिद्धेः। (३) पक्षधर्मत्वसहित तद्रहितार्थापत्त्योः। (४) अर्थापत्तावपि। (५) गमकस्य विशेषणमविनाभावः–आ० टि०। (६) अविनाभावस्य। (७) गमकविशेषणत्व। (८) स्फोटादिकं विनापि। (९) शक्तेः। (१०) पृ० ५११ पं० ६। (११) अर्थापत्तौ। (१२) पृ० ५१० पं० १५। (१३) तर्कनिरूपणप्रसङ्गे पृ० ४२६। (१४) ऊहस्य। (१५) तुलना–"अनग्निव्यतिरेकनिश्चये च धूमस्य भवता का गतिः। या तत्र वार्त्ता सैवेहापि नो भविष्यति। न च भूयोदर्शनावगम्यमानान्वयमात्रकारणतया यस्य वस्त्वन्तराभावो गम्यस्तस्यैव दुष्यति। मम त्वदृष्टिमात्रेण गमकाः सहचारिणः॥ (मी० श्लो० अर्था० श्लो० ८०) इति कथञ्चिदनुचितम्, अनिश्चितव्यतिरेकस्य साध्यनिश्चयाभावात्। इति पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकोऽपि नागृहीतोऽनुमानाङ्गम्।–न्यायमं० पृ० ४५। (१६) धूमो हेतुः। (१७) तुलना– असर्वगतस्य द्रव्यस्य नियतदेशवृत्तित्वेन तन्निरूपणात्मनीत्वावधारणम्।"–न्यायमं० पृ० ४५। न्यायवा० ता० पृ० ४३८। मीमांसातत्त्वको० पृ० ४३। "दृष्टमतन्यथापर्व द्रव्यमेवास्ति तदन्यत्र नास्तीति यथा प्राचीप्रतीच्यादिष्वत्रानुपलभ्यमानं सविताऽन्यत्र न भवतीति दर्शनबलेनैवावधार्यते।"–प्रश० कन्द० पृ० २२३। (१८) परिमितवृत्तित्वादिति हेतौ।

1 पूर्वस्यामर्थाप–ब०। 2 प्रतीति आ०। 3 धर्मे बहिर्देशे–ब०। 4 तदप्ययुक्तम् यत श्र० ब०। 5 सम्बन्धग्रहणमिति–ब०। 6–सौ तदन्यदेशे प्रतिनियते च अनु–ब०।

[1]अप्रतिनियते चानुमानतोऽभावसिद्धेः कथमुक्तदोषानुषङ्गः ? तच्चानुमानम्–देशान्तराणि चैत्रशून्यानि चैत्राधिष्ठितदेशव्यतिरिक्तत्वात् तत्समीपदेशवत्। न च 'देशान्तराणि चैत्रयुक्तानि तत्समीपदेशव्यतिरिक्तत्वात् चैत्राधिष्ठितदेशवत्' इति प्रत्यनुमानोपहतमेतदित्यभिधातव्यम्, तत्पक्षस्य प्रत्यक्षादिबाधितत्वात्। तदेवमर्थापत्तेः अनुमानादर्थान्तरत्वाऽसिद्धेः सिद्धं परेषां प्रमाणसंख्याव्याघातः।

ननु भवतामप्येवं प्रमाणसंख्यानियमविरोधस्तुल्यः 'उपमानादेः प्रतिपादितप्रमाणप्रपञ्चस्य प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यामर्थान्तरत्वाऽविशेषात्' इत्याशङ्कापनोदार्थमाह–'सर्वस्य' इत्यादि। सर्वस्य अनन्तरोक्तस्य उपमानादिप्रमाणप्रपञ्चस्य परोक्षेऽन्तर्भावात् नाऽस्माकं कश्चिद्दोषः। कस्मात् तस्य तत्रान्तर्भाव इति चेत्? तल्लक्षणलक्षितत्वात्। यस्य यल्लक्षणलक्षितत्वं तस्य तत्रान्तर्भावः यथा रूपसुखादिसंवेदनस्य प्रत्यक्षे, परोक्षलक्षणलक्षितत्वञ्च उपमानादेरिति। यथैव हि रूपादिसंवेदनस्य सुखादिसंवेदनस्य च विषयभेदात् सामग्रीभेदाच्च अन्योन्यं वैलक्षण्येऽपि वैशद्यस्वरूपप्रत्यक्षलक्षणलक्षितत्वात् प्रत्यक्षत्वम्, तथा उपमानादेरपि अवैशद्यस्वभावपरोक्षलक्षणलक्षितत्वात् परोक्षत्वमिति।

नन्वेवमपि परोक्षस्य स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्काऽनुमानागमभेदेन परिगणितत्वात् कथमुपमानादेस्तत्रान्तर्भावः, तदन्तर्भावे वा परिगणनविरोधः ? इत्यसमीचीनम्, उपमानादेः प्रत्यभिज्ञानादिरूपतया तत्परिगणनाऽविरोधस्य सद्भावात्। दर्शनस्मरणकारणकं हि संकलनं प्रत्यभिज्ञानमुच्यते, इदमप्युपमानादिज्ञानं दर्शनस्मरणकारणकं सादृश्यादि-

(१) तुलना– 'देशान्तराणि चैत्रशून्यानि चैत्राधिष्ठितव्यतिरिक्तत्वात् तत्समीपदेशवदिति।' –न्यायम० पृ० ३८। (२) ननु देशान्तरं शून्यं चैत्रेण प्रतीयते। तद्देशव्यतिरिक्तत्वात् समीपस्थितदेशवत्। विरुद्धाव्यभिचारित्वं तदेव हि गम्यते। समीपदेशभिन्नत्वाच्चैत्राधिष्ठितदेशवत्। एतदुक्तं भवति–न तावद्देशान्तराणि चैत्रशून्यानि तत्संयुक्तदेशव्यतिरिक्तत्वादिति हेतुर्गमकः, सन्दिग्धत्वात् देशान्तराण्यपि तत्संयुक्तानि न वा यतो नावश्यं विचार्यते। कथं तथा तत्संयुक्तदेशाद् व्यतिरेकसिद्धिः। यदि परमेवमुच्यते–यमेवाधुना चैत्रोऽधिष्ठितोऽवरस्तस्मात् तद्व्यतिरिक्तत्वादिति एवं त्रिधत्वाप्रयोजको हेतुः, इतरथा हि शक्यते–चैत्रयुक्तं देशान्तरं तत्समीपव्यतिरिक्तदेशत्वात् तदधिष्ठितदेशवदिति। –मी० श्लो० अर्था० पार्थ० पृ० ४६१–६२। (३) प्रतिपक्षप्रयोगस्तु प्रत्यक्षादिविरुद्धत्वाद्धेत्वाभास एव। –न्यायमं० पृ० ४५। (४) मीमांसकानाम्। (५) जैनानामपि। (६) उपमानादयः परोक्षेऽन्तर्भवन्ति परोक्षलक्षणलक्षितत्वात्। तुलना– यत्र यल्लक्षणलक्षितं तत् तदन्तर्भूतमेव यथा वैशद्यलक्षणलक्षितं चक्षुरादिप्रत्यक्षम् अवैशद्यलक्षणलक्षितञ्च शब्दादीति।'–प्रमेयक० पृ० १९२। सन्मति० टी० पृ० ५९५। स्या० र० पृ० २८३। (७) रूपादि सुखादिलक्षण। (८) चक्षुरादि-मानसादिरूप। (९) लघीयस्त्रयस्य 'ज्ञानमाद्यं स्मृतिः' (का० १०) इति कारिकायाम्, परीक्षामु० ३।२। प्रमाणनय० ३।२। प्रमाणमी० १।२।२। इत्यादिषु च। (१०) तुलना–प्रमेयक० पृ० १९३। स्या० र० पृ० २८३।

1 अतिनियते आ०। 2–न्तरत्वासिद्धे ब०। 3 प्रमाणपञ्चकस्य ब०। 4 अन्योन्यवैल–आ० ब०। 5 सङ्कलनं ब०।

मङ्कलनस्वभावञ्च, अत कथ प्रत्यभिज्ञानात् व्यतिरिच्येत ? यद् दर्शनस्मरणकारणक सादृश्यादिसङ्कलनस्वभावञ्च तत् प्रत्यभिज्ञानमेव यथा प्रसिद्धप्रत्यभिज्ञानम्, तत्कारणक सादृश्यादिसङ्कलनस्वभावञ्चोपमानमिति ।

'तद्' इत्यादिना प्रकृतोपसहारमाह--यस्माद् उपमानादे परोक्षेऽन्तर्भाव तत् तस्मात् समञ्जसम् उपपन्नम् 'प्रत्यक्ष परोक्षञ्च इति एव द्वे एव प्रमाणे' इति । कुत एतत् ? इत्याह--'अन्यथा' इत्यादि । अन्यथा अन्येन प्रकारेण तेषा प्रमाणाना सङ्ख्याया अनवस्थानादिति ॥छ॥

मिथ्यायुक्तिपलालकूटनिचय प्रज्वाल्य नि शेषत,
सन्त्युक्तिमहाशुभि पुनरिय व्याख्या परोक्षे कृता ।
येनासौ निखिलप्रमाणकमलप्राज्यप्रबोधप्रद,
भास्वानेव जयत्यचिन्त्यमहिमा शास्ताऽकलङ्को जिन ॥छ॥

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे तृतीय परिच्छेद ॥छ॥



प्रमाणप्रवेशे चतुर्थ आगमपरिच्छेद ।

प्रत्यक्षेतररूपमानमखिल व्याख्याय साभासताम्,
तस्यै व्यापयितु कथञ्चिदधुना प्रारभ्यते प्रक्रम ।
मिथ्यैकान्तमहान्धकूपपतनव्यामुग्धबुद्धे स्फुटम्,
य सन्मार्गनिरूपणेऽत्र कुशल स्याद्वादभानो पर ॥ १ ॥

अथ प्रमाणाभासत्वेन प्रसिद्ध विज्ञान कथञ्चिदेव तदाभास न सर्वथेति प्रदर्शयन्नाह--

प्रत्यक्षाभ कथञ्चित् स्यात् प्रमाणं तैमिरादिकम् ।
यद्यथैवाऽविसंवादि प्रमाण तत्तथा मतम् ॥ २२ ॥

(१) उपमान प्रत्यभिज्ञानात्मकमेव दर्शनस्मरणकारणकत्वे सति सादृश्यादि[illegible]त्वात् । (२) स[illegible] जिनस्य द्रव्यकत्वप्रत्यभिज्ञानम् । (३) मानस (४) [illegible] । [illegible] ? प्रत्यक्षाभ प्रत्यक्षप्रमाणाभासमित्यर्थ । अक्षमिन्द्रियमिन्द्रिय प्रति [illegible] [illegible]भासत इन्द्रियाभासीति यावत् । कि विशिष्टम् ? तैमिरादि तिमिराद्य[illegible] [illegible] सापूर्वमणाद यथोक्तम् । तत् कि स्यात् ? प्रमाणं भवति । कथम् ? कथञ्चित् [illegible] द्रव्यापेक्षया वा न सर्वथा प्रमाणाभासमेव चन्द्रिकादावविरुद्ध एव ज्ञान [illegible] [illegible] सत्याविसंवादात् । अत्राविनाभाव दर्शयति यदित्यादि । यत्ज्ञानं यदा [illegible] अविसंवादि विसंवादे गृहीतार्थव्यभिचार तदविरुद्धविसंवादि, [illegible]

1--कारण सङ्कलन--आ०, ब० । [illegible] । सादृ--ब० । [illegible]
[illegible]वत्परोक्षमहि--ब० । 5 श्रीमत्प्रभा--ब० [illegible]

विवृतिः[1]—तिमिराद्युपप्लवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणं यथा तत्संख्यादौ विसंवादकत्वादप्रमाणम्, प्रमाणेतरव्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात्। नहि ज्ञानं यद्यप्यनुकरोति तत्र प्रमाणमेव समारोपव्यवच्छेदाकाङ्क्षणात्। कथमन्यथा दृष्टे प्रमाणान्तरवृत्तिः ? कृतस्य करणायोगात्, तदेकान्तहाने कथञ्चित्करणानिष्टेः। तदस्य विसंवादोऽपि अवस्तुनिर्भासात्, चन्द्रादिवस्तुनिर्भासानामविसंवादकत्वात्।

प्रकारेण प्रमाणं समभिष्टं परीक्षकैरिति। तथाहि–सर्व संशयादिकं प्रमाणाभासं स्वरूपापेक्षया द्रव्यापेक्षया वा प्रमाणं भवति तत्राविसंवादित्वात्, यत्राविसंवादि तत्तत्र प्रमाणं यथा रसे रसज्ञानम्, अविसंवादि च संशयादि स्वरूपे द्रव्यरूपादौ वा ततस्तत्र कथञ्चित्प्रमाणमिति। विसंवाद एव अप्रामाण्यनिबन्धनम् अविसंवादश्च प्रामाण्यनिबन्धनमिति न्यायस्य सकलवादिसम्मतत्वात् सर्वथा प्रमाणाभासस्य न्यायत्वात्। बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभञ्च ते (आप्तमी० श्लो० ८३) इति वचनात्। न हि ज्ञानं स्वरूपे विसंवादि तस्याहम्प्रत्ययसिद्धत्वात्। प्रसिद्धे च विषये प्रवर्तमानं कथमप्रमाणं स्यादिति। –लघी० ता० पृ० ४२। अस्याः कारिकायाः वह्निनाम्ना तिमिरादि प्रत्यक्षाभासमुक्तम् तस्य कथञ्चिदेव प्रत्यक्षाभासता दर्शयति। दिग्नागादेः प्रत्यक्षाभं स्वरूपप्रदर्शिका प्रत्यासत्तिरियम्– भ्रान्तिसंवृतिसज्ज्ञानमनुमानानुमानिकम्। स्मरणञ्चाभिलापश्च प्रत्यक्षाभं सतिमिरम्॥ अथ मरीचिकास्वपि जलादिकल्पनात् भ्रमज्ञानं प्रत्यक्षाभासम्। संवृतिसत्य हि स्वस्मिन् अर्थान्तरमारोप्य तत्स्वरूपकल्पनात् प्रत्यक्षाभासम्। अनुमानं तत्फलञ्च पूर्वानुभवकल्पनात् प्रत्यक्षम्। –प्रमाणसमु० वृ० १।८। त्रिविधं कल्पनाज्ञानमाश्रयोपप्लवोद्भवम्। अविकल्पमेकञ्च प्रत्यक्षाभं चतुर्विधम्॥ त्रिविधं कल्पनाज्ञानं प्रत्यक्षाभम्–मरीचिकायां जलाध्यवसायि भ्रान्तिज्ञानम्। संवृतौ विसंवादिव्यवसायमावृतज्ञानम्। पूर्वदृष्टकालकल्पनाप्रवृत्तं लिङ्गानुमेयादिज्ञानम्। अविकल्पकञ्चैकं प्रत्यक्षाभासम् कीदृशम् ? आश्रयस्य इन्द्रियस्य उपप्लवस्तिमिराद्युपघातः तस्मादुद्भवो यस्य तत्तथा। एवञ्च चतुर्विधं प्रत्यक्षाभासम्। न त्वविकल्पकं प्रत्यक्षम् ततस्त्रयमपीदं सविकल्पकत्वात् प्रत्यक्षाभासम्। तत्किम् ? भ्रान्तिज्ञानं मृगतृष्णिकायां जलावसायि। संवृतिमतो द्रव्यादिज्ञानम्। अनुमानं लिङ्गज्ञानम्, आनुमानिकं लिङ्गिज्ञानम्। स्मार्तम् स्मृतिः। आभिलापिकं शब्दविकल्पज्ञानम् आचार्यदिग्नागेनोक्तम्।'–प्रमाणवा० मनोरथ० २।२८८। तुलना– पीतशङ्खादिबुद्धीनां विज्ञानं तु न प्रमाणमेव तथार्थक्रियाव्याप्तेरभावात् संस्थानमात्रार्थक्रियाप्रसिद्धावप्येक ज्ञानं प्रमाणमनुमानम् ततोऽनुमानं संस्थाने संशये परत्रेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणञ्च।'–प्रमाणवार्तिकालं० प्रथमपरि०। (५) तुलना–'यथा यत्र विसंवादः तथा तत्र प्रत्यक्षम्। यथा यत्राविसंवादः तथा तत्र प्रमाणता॥ (पृ० ६५ B) तथा च सर्वं स्वभावे परभावे वा कथञ्चिदेव प्रमाणं न सर्वथा। –सिद्धिवि० टी० पृ० ८९ A। यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता। –तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७०। सिद्धिवि० टी० पृ० ६९ B। यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणतेत्यकलङ्कैरप्युक्तत्वात्। –अष्टसह० पृ० १६३। यद्यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम्। विसंवाद्यप्रमाणञ्च तदध्यक्षपरोक्षयोः॥'–सन्मति० टी० पृ० ५९८।

(१) तुलना– यनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदः तदपेक्षया प्रामाण्यमिति। तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः सङ्कीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या। प्रसिद्धानुपहतदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्या भूताद्याकारावभासनात्। तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात्। तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत्। –अष्टश० अष्टसह० पृ० २७७। 'अनुपप्लुतदृष्टीनां चन्द्रादिपरिवेदनम्। तत्संख्यादिषु संवादि न प्रत्यासन्नतादिषु॥ –तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७०। उद्धृतेयं समग्रा विवृतिः–सन्मति० टी० पृ० ५९५।

प्रत्यक्षाभम् इत्युपलक्षणम्, तेन परोक्षाभमपि यदेकान्तेन वादिना लोकाना

कारिकार्थ – या प्रसिद्ध **तत्कथञ्चित् स्याद्** भवेत् **प्रमाणम्** नैकान्तेन तदाभासम् इत्यभिप्रायः । किं तद् ? इत्याह–**तैमिरादिकमिति**।

तिमिरादागत तैमिरम् आदिर्यस्य आशुभ्रमणादिज्ञानस्य तत्तथोक्तम् । कुत एतद् ? इत्याह–**'यद्यथा'** इत्यादि । यतो यद्विज्ञानं येनैव प्रकारेण **अविसंवादि तद्** विज्ञान तेनैव प्रकारेण **प्रमाणमभिप्रेतम्** । तथा च "कल्पनापोढमभ्रान्तम्" [न्यायबि० १।४] इत्यत्र, "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यभिचारि" [न्यायसू० १।४] इत्यत्र, "सत्सम्प्रयोग" [जैमिनिसू० १।१।४] इत्यादौ च यदभ्रान्तादिग्रहण भ्रान्तनिवृत्त्यर्थं तद् यदि सर्वथा अप्रत्यक्षत्वात् तेनापसार्यते तदा प्रमाणविरोध । अथ च यच्चित्, तदा एकान्तहानिरित्युक्त भवति।

कारिका व्याचष्टे **'तिमिर'** इत्यादिना । **तिमिरादीना** कार्यभूत यद् **उपप्लव**

विवृतिव्याख्यानम् – **ज्ञान** द्विचन्द्रादिविषय तत् **चन्द्रादौ** आदिशब्देन धावल्यवर्तुलत्वादिपरिग्रह तत्र **प्रमाणम्** । कुत एतत् ? **अविसवादक** यत तत्राशे ।

अत्र दृष्टान्तमाह–**यथा** इत्यादि । **यथा** तत् तिमिराद्युपप्लवज्ञान **सख्यादौ** द्वित्वस्थिरत्वादौ **विसवादकत्वादप्रमाणम्** । यदि नाम तत्तथाविध किमेतावता प्रमाणेतररूप भविष्यति इत्याशङ्क्य आह–**'प्रमाण'** इत्यादि। **प्रमाणञ्च इतरच्च** अप्रमाण तयो **व्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात्** सवादविसवादलक्षणत्वात् । ननु कथ तदेव प्रमाणमितरच्च युक्त विरोधादिति चेत् ? अत्राह–**'नहि'** इत्यादि । हिर्यस्मात् न ज्ञान भयत्कल्पित निर्विकल्पकवेदन यदपि इत्यपिशब्दोऽभ्युपगमे, परमार्थत अर्थाकारताया ज्ञानेऽसभवात्, तदसभवश्च प्रपञ्चत प्रागेव तत्प्रतिषेधात् सिद्ध । अभ्यु-

(१) 'तिमिरमक्ष्णोर्विप्लव, इन्द्रियगतमिद विभ्रमकारणम । आशुभ्रमणमलातादे, मन्द हि भ्राम्यमाणेऽलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते, तदथमाशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम्, एतच्च विषयगत विभ्रमकारणम्। सक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणाम वातादिषु हि क्षोभ गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्तिरुत्पद्यते, एतच्चाध्यात्मगत विभ्रमकारणम् । सर्वैरेव च विभ्रमकारणै इन्द्रियविषयबाह्याध्यात्मिकाश्रयगतैरिन्द्रियमेव विकर्तव्यम् । अविकृते इन्द्रिये इन्द्रियभ्रान्त्ययोगात् । आदिग्रहणेन काचकामलादय इन्द्रियस्था गृह्यन्ते । आशुनयनानयनादयो विषयस्था । आशुनयनानयने हि कार्यमाणेऽलातादावग्नि वर्णदण्डाभासा भ्रान्तिर्भवति। हस्तियानादयो बाह्याश्रयस्था गाढमर्मप्रहारादय आध्यात्मिकाश्रयस्था विभ्रमहेतवो गृह्यन्ते ।"–न्यायबि० टी० पृ १६–१७। (२) 'प्रत्यक्षम्' इति शेष । (३) 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। –न्यायसू० १।१।४। (४) 'सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणा बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् । –जैमिनिसू० १।१।४। (५) आदिपदेन अव्यभिचारिसत्सम्प्रयोगजयो परिग्रह । (६) भ्रान्तम्–आ० टि०। (७) अभ्रान्तादिग्रहणेन । (८) अप्रत्यक्षत्वादेनापसार्यत इति सम्बन्ध । (९) सवादविसवादलक्षणत्वात्–आ० टि०। (१०) पृ० १६७।

1 यदेकान्तवादिनो ब०। 2 यदि ज्ञानं आ०। 3–ज्ञानं आ०। 4 एकान्त हानि ब०। 5 न तज्ज्ञानं ब०। 6–कसंवेदनम् ब०। 7 सिद्ध अतोऽभ्युप–ब०, श्र०।

पगम्याप्युच्यते–यथोक्तं ज्ञानं यदपि वस्त्वनुकरोति यदाकारं भवति तत्र वस्तुनि प्रमाणमेव, 'नहि' इत्यभिसम्बन्धः, किन्तु अप्रमाणमपि इत्येवकारार्थः । कुत एतद् ? इत्याह–'समारोप' इत्यादि । क्षणिकेऽक्षणिकज्ञानं समारोपः तस्य व्यवच्छेदो निराकरणं तस्य आकाङ्क्षणात् । तदनभ्युपगमे दूषणमाह–'कथम्' इत्यादि । कथमन्यथा तदाकाङ्क्षणाभावप्रकारेण दृष्टे दर्शनविषयीकृते क्षणभङ्गादौ प्रमाणान्तरस्य अनुमानस्य वृत्तिः ? न कथमपि इत्यर्थः । नहि समारोपव्यवच्छेदात् अन्यत्तस्य फलम् । अथ न समारोपनिषेधार्था तत्रास्य प्रवृत्तिः । किं तर्हि ? ग्रहणार्था, इत्यत्राह–'कृत' इत्यादि । कृतस्य अनुभवेन अनुभूतस्य क्षणभङ्गादेः अनुमानेन करणस्य ग्रहणस्य अयोगात्, अन्यथा अनवस्था स्यात्, तद्गृहीतेऽप्यस्मिन् अनुमानान्तरेण ग्रहणप्रसङ्गात् ।

अथ अर्थदर्शनेन नीलादिकमेव गृहीतं न क्षणभङ्गादिकं तेनायमदोषः, अत्राह–'तद्' इत्यादि । तदेकान्ततः कृतेर्नान्न "एकस्यार्थस्वभावस्य" [प्रमाणवा० ३।४२] इत्यादिवचनात् । यत्कृतं तत्कृतमेव तस्य हानेः हानिप्रसङ्गात् कथं प्रमाणान्तरवृत्तिः ? तद्धानिः कुतः ? इत्यत्राह–'कथञ्चिद्' इत्यादि । कथञ्चित् नीलादिरूपेण न क्षणभङ्गादिरूपेण यत् करणं वस्तुनो ग्रहणं तस्याऽनिष्टेः, अन्यथा गृहीतेतररूपता एकस्य स्यात् । उपसंहारव्याजेन दूषणान्तरमाह–'तद्' इत्यादि । यत एवं तत् तस्मात् अस्य अर्थाकारदर्शनस्य विसंवादोऽपि विप्रलम्भोऽपि न केवलं कथञ्चित् प्रामाण्यमेव । कुत एतत् ? इत्यत्राह–अवस्तुनिर्भासात् । अवस्तुनो भवन्मते बहिरन्तश्चाऽसत एव स्थूलाकारस्य निर्भासाद् अनुकरणाद् दर्शनं प्रमाणं न स्यादिति भावः । व्यवहारेण प्रामाण्येऽपि न सौगतस्य इष्टतत्त्वसिद्धिः । अथ निरन्वयविनश्वरान्तर्बहिर्वस्तुस्वरूपानुकरणेऽपि नीलादिसञ्चेतनादिवस्तुस्वरूपानुकरणात् तत्प्रामाण्यम्, इत्याह–'चन्द्रादि' इत्यादि । चन्द्रादि च तद् वस्तु च तस्य निर्भासानाम् उपप्लवज्ञानसम्बन्धिप्रतिभासानां प्रामाण्यं स्यात् 'प्रमाणम्' इत्येतदनुवर्त्तमानं लब्धभावप्रत्ययमिह सम्बध्यते । कुत एतद् ? इत्यत्राह–अविसंवादकत्वात् । न खलु चन्द्रादिविप्लवज्ञानं धावल्यवर्तुलत्वादौ विसंवदति इति । एवं तावत् यत् परेण प्रत्यक्षाभं तैमिरिकादीन्द्रियज्ञानमुक्तं तदपि कथञ्चित् प्रत्यक्षमिति व्यवस्थापितम् ।

(१) क्षणिकाकारस्य प्रत्यक्षात्प्रमाणं निर्विकल्पकम् यदि हि क्षणभङ्गादि निर्विकल्पकप्रत्यक्षेणैव गृहीतं स्यात्तर्हि तत्साधनार्थमनुमानं किमर्थं प्रयुज्यते इति हृदयम्–आ० टि० । (२) अनुमानस्य । (३) निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण । (४) यदि वस्तु तत्सर्वात्मना कृतं गृहीतं निर्विकल्पेन इत्येकान्तः कृतकान्तः । (५) एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम् । कोऽन्यो भागो न दृष्टः स्याद् यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥' –प्रमाणवा० । उद्धृतश्चायम्–न्यायम० पृ० ९३ । अभि० आलोक० पृ० १५२ । सिद्धिवि० टी० पृ० ७१ A । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४०५ । प्रमेयक० पृ० २३६ । सन्मति० टी० पृ० ५०७ । न्यायवि० वि० पृ० ४९६ B । स्या० र० पृ० ५३४ । शास्त्रवा० यशो० पृ० १५८ B । (६) अग्रहणेऽपि–आ० टि० ।

1 तथोक्तं श्र० । 2 इत्यत्राह श्र० ब० । 3 करणस्यायोगात ब० । 4 क्षणकान्त ब० । 5 भ च क्षण–श्र० । 6 विप्रलम्भोऽपि ...

साम्प्रतं कल्पनापदेन यत् परेण विकल्पज्ञानं तदाभासमुक्तं तदपि प्रत्यक्षं साधयन्नाह–

स्वसंवेद्यं विकल्पानां विशदार्थावभासनम् ।
संहृताशेषचिन्तायां सविकल्पावभासनात् ॥ २३ ॥

विवृति:–सर्वतः संहृत्य चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं संस्थानात्मकं स्थूलात्मकमेकं सूक्ष्मानेकस्वभावं पश्यति न पुनः असाधारणैकान्तं स्वलक्षणम्, प्रतिसंहारव्युत्थितचित्तस्य तथैवास्मरणात् । तस्मादविशदमेव अविकल्पकं प्रत्यक्षाभम् । न च विशदेतरविकल्पयोः विषयभेदैकान्तः प्रत्यासन्नेतरार्थप्रत्यक्षाणाम् एकार्थविषयत्तोपपत्तेः ।

स्वसंवेद्यं स्वसंवेदनाध्यक्षग्राह्यम् । केषाम् ? इत्याह–**विकल्पानाम्** । किं तद् ?

कारिकार्थ – इत्याह–**विशदार्थावभासनम्** । कुत एतत् ? इत्याह–'**संहृत**' इत्यादि । **संहृता अशेषाश्चिन्ता** यस्यामवस्थायां तस्यामपि **सविकल्पकस्यैव** ज्ञानस्य **अवभासनात्** । ततो यदुक्तं परेण–"*न विकल्पानुविद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासता ।*" [प्रमाणवा० २।२८३] इत्यादि, "*प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति ।*" [प्रमाणवा० २।१२३] इत्यादि च, तन्निरस्तम्; प्रत्यक्षबाधितत्वात् ।

---

(१)द्रष्टव्यम्–पृ० ५२१ टि० ४।(२) भवति । किम् ? स्वसंवेद्यम् स्वेन स्वसंवेदनात्मना संवेद्यं ग्राह्यम् स्वसंवेद्यं ज्ञानस्वरूपमित्यर्थः । वेद्यवेदकाकारद्वयाविरोधात् ज्ञानस्य अन्यथा अवस्तुत्वापत्तेः । किं विशिष्टम् ? विशदार्थावभासनम् अर्थस्य परमार्थसतोऽवभासनमवबोधनमर्थावभासनम् विशदं स्पष्टं तच्च तदर्थावभासनं च तत्तथोक्तम् । केषाम् ? विकल्पानाम्, घटोऽयं गौरयं शुक्लोऽयं गायकोऽयमित्यादिनिश्चयज्ञानानाम् । कुतः ? सविकल्पावभासनात् विकल्पो जात्याद्याकारावबोधः सह विकल्पेनेति सविकल्पस्तस्यावभासनादनुभवात् । क्व ? संहृताशेषचिन्तायाम्, संहृता नष्टा अशेषा स्मृत्यादिरूपा चिन्ता विकल्पा यस्यामवस्थायां सा तथोक्ता तस्याम् । चक्षुरादिबुद्धौ जात्याद्याकारविशेषस्य अवबोधनस्य अप्रतिहतत्वात्, ततो विकल्पज्ञानस्य प्रत्यक्षाभासत्वमयुक्तमित्यर्थः । –लघी० ता० पृ० ४३ । (३) धर्मकीर्तिनोक्तं यत्–शान्तचेतस्कतया चक्षुषा यद्रूपदर्शनं भवति तन्निर्विकल्पकम् । तस्मिंश्च रूपस्वलक्षणं क्षणिक-परमाण्वात्मकं प्रतिभासते । तथाहि– 'संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना । स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः ॥'–(प्रमाणवा० २।१२४) ग्रन्थकृता तत्प्रतिविहितम्–यतदवस्थायामपि सविकल्पकमेव ज्ञानं स्थिरस्थूलाद्यर्थग्राह्यनुभूयते । तुलना–'संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना । स्थितो पि चक्षुषा रूपं स्वच्छं स्पष्टं व्यवस्यति ।'–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८६ । (४) तुलना– न हि जातुचिदसहायमाकारं पश्यामो यथा व्यावर्ण्यते तथैवानिर्णयात्, नानावयवरूपाद्यात्मनो घटादेर्बहिः सम्प्रतिपत्तेः न परमाणुसंचयरूपस्य ।'–सिद्धिवि०, टी० पृ० ३६ B । (५) "न विकल्पानुबद्धस्यास्ति स्फुटार्थावभासिता । न विकल्पेनानुबद्धस्य संस्तुतस्य ज्ञानस्य स्फुटार्थावभासितास्ति ।'–प्रमाणवा० मनोरथ० २।२८३ । उद्धृतोऽयम्–तत्त्वोप० पृ० ३४ । सिद्धिवि० टी० पृ० २८ B, ९५ A । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२० । सन्मति० टी० पृ० ५०२ । न्यायवि० वि० पृ० ७७ A । 'न विकल्पानुबद्धस्य'–शास्त्रवा० यशो० पृ० १५७ B । 'निर्विकल्पानुबद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासने –न्यायवि० टी० टि० पृ० ३५ । (६) 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति ।

---

1 प्रतिसंहार व्यु–ई० वि० [illegible] पानु–श्र० । 3 'च' नास्ति ब० ।

इदमपर व्याख्यानम्–**स्वसंवेद्यं** स्वसंवेदनग्राह्यं यद्रूपम्। केषाम्? **विकल्पानाम्** अनुमानादिमानसज्ञानानाम्। तत्किम्? **विशदार्थावभासनम्** निर्विकल्पकमभ्रान्तम् इत्यर्थः। कदा? **संहृताशेषचिन्तायाम्**। केन रूपेण? 'स्वसंवेद्येन' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः। किं कृत्वा? **सविकल्पावभासनात्** तदवभासनमाश्रित्य इत्यर्थः। ततस्ते विकल्पाः कथञ्चित् प्रत्यक्षाभा इति भावः।

विवृतिव्याख्यानम्- कारिकां विवृण्वन्नाह–'सर्वतः' इत्यादि। सर्वतः सजातीयाद् विजातीयाच्च संहृत्य त्यक्त्वा। काम्? चिन्ताम् परामर्शबुद्धिम्। स्थितोऽपि प्रतिपत्ता। केन रूपेण? इत्याह–'स्तिमितेन' इत्यादि। स्तिमितः स्थिरीभूतः अपरिस्पन्दः अन्तरात्मा मनः तेन। स किं करोतीत्याह–'चक्षुषा' इत्यादि। चक्षुर्ग्रहणमुपलक्षणं श्रोत्रादेः, तेन रूपं पश्यति, रूपग्रहणमपि रसादीनामुपलक्षणम्। कथम्भूतम्? संस्थानात्मकं वर्तुलत्वादिधर्मस्वभावम्। पुनरपि कथम्भूतम्? स्थूलात्मकं स्थूलस्वभावमेकम्। पुनरपि किंविशिष्टम्? सूक्ष्मानेकस्वभावम्, सूक्ष्मोऽनेकः स्वभावो यस्य तत्तथोक्तम्। ननु संस्थानादिकं गुणत्वाद् द्रव्यस्य न रूपस्य, अस्य गुणत्वेन निर्गुणत्वात्, इत्यप्यनभीप्सिताभिधानम्, अनेकान्ते द्रव्यगुणयोरभेदार्पणया रूपस्यापि द्रव्यधर्माऽविरोधात्। ननु चक्षुषा रूपं दृश्यमानम् अन्योन्यविलक्षणानेकाक्षणपरमाणुस्वभावस्वलक्षणरूपमेव दृश्यते न तु स्थूलादिस्वरूपम्, इत्यत्राह–'न पुनः' इत्यादि। पुनरिति भावनायाम्, न स्वलक्षणं पश्यति, कथम्भूतम्? असाधारणम्, असाधारणं सजातीयविजातीयव्यावृत्तं एकोऽसहायः अन्तो धर्मो यस्य तत्तथोक्तम्। कुत एतत्? इत्याह–'प्रतिसंहार' इत्यादि। संहारः अशेषविकल्पाभावः, प्रतिसंहारः पुनर्विकल्पप्रवृत्तिः, तमाश्रित्य व्युत्थितं प्रतिबुद्धं चित्तं यस्य स तथोक्तः तस्य, तथैव असाधारणैकान्तप्रकारेण असरणात् स्मरणाभावात् स्वलक्षणस्य, अतो न तस्य कदाचिद् दर्शनम् स्थूलादिस्वभावस्यैव ॥ स्मरणात् सतो दर्शनमिति।

'तस्मात्' इत्यादिना उपसंहारमाह–यस्मान्निर्विकल्पकं ज्ञानं परस्य प्रत्यक्षत्वेनाऽभिप्रेतं न कदाचिद् विशदस्वरूपतया प्रतिभाति तस्माद् अविशदमेव अविकल्पकं प्रत्यक्षाभम्। ननु विशदेतरज्ञानानां विभिन्नप्रतिभासतया विभिन्नविषयत्वान्न 'स्थूलादि-

प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः ॥ यत्तत्प्रत्यक्षमिति प्रसिद्धं तत्कल्पनाया अपोढं द्रष्टव्यं कल्पनायैरहितमित्यर्थः। तच्चैतदीदृशं प्रत्यक्षेणैव स्वसंवेदनेनैव सिद्ध्यति। कल्पनारहितस्याप्यस्य रूपस्य संवेदनस्यापरोक्षत्वात्। यदि तु कल्पनास्वभावत्वमस्य स्यात्तथैव प्रकाशेत विकल्पस्यापरोक्षत्वात्। तथाहि–प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां प्राणिनां विकल्पो नामसंश्रयः शब्दसंसर्गवान्। स यदि स्यादुपलभ्य एव भवेत्।' –प्रमाणवा० मनोरथ० २।१२३। उद्धृतोऽयम्–अनेकान्तजय० पृ० २०७। न्यायवा० ता० पृ० १५४। सिद्धिवि० टी० प० १७ A, ३१ A। प्रमेयक० प० ३२। सन्मति० टी० पृ० ५०३। न्यायवि० वि० प० ४५ A, ८३ B, ४९५ A। स्या० र० पृ० ८९। शास्त्रवा० यशो० प० १५७ B

1 तेन किं श्र०। 2–स्वभावलक्षणरूपमेव श्र०। 3 असाधारणम्' नास्ति आ० ब०।
4–व्याहृत प एको–ब०। 5–[illegible] 6 [illegible]

स्वभावरूपं पश्यति' इत्यादि युक्तम्, येयोर्विभिन्नप्रतिभासत्वं तयोर्विभिन्नविषयत्वं यथा रूपरसज्ञानयोः, विभिन्नप्रतिभासत्वञ्च प्रत्यक्षेतरज्ञानयोरिति । तथा च, विशदस्वभावस्य अध्यक्षस्य स्वलक्षणविषयत्वं सिद्धम्, अविशदस्वभावस्य तु विकल्पस्य स्थूलादिविषयत्वम् इत्याशङ्क्याह–'**नच**' इत्यादि । **नच नैवं विशदेतरविकल्पयोः** अवग्रहादिस्मरणाद्योः **विषयभेदैकान्तः**, 'परमार्थवस्तुनि विशदविकल्पः प्रवर्त्तते, कल्पिते अविशदविकल्पः' इति, किन्तु विशदविकल्पविषय एव अविशदविकेल्पस्य विषयः । यच्च 'विभिन्नप्रतिभासत्वात्' इत्युक्तम्, तदप्यनैकान्तिकमित्युपदर्शयन्नाह–'**प्रत्यासन्न**' इत्यादि । **प्रत्यासन्नश्च इतरश्च** अप्रत्यासन्नः अर्थो येषां तानि च तानि **प्रत्यक्षाणि** तेषां विशदेतररूपप्रतिभासभेदसंभवेऽपि **एकार्थविषयतोपपत्तेः** । नहि दूरासन्नपुरुषाणां पादपादिप्रत्यक्षेषु प्रतिभासभेदोऽसिद्धः । नापि विषयाभेदे, पादपादेरेकस्यैव तद्विषयत्वात् ।

यदप्युच्यते–'प्रत्यक्षे न सन्ति कल्पना उपलब्धिलक्षणप्राप्तानामनुपलब्धेः, यद्यत्र उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तत्तत्र नास्ति यथा क्वचित् प्रदेशविशेषे घटः, नोपलभ्यन्ते च प्रत्यक्षे तथाविधाः सत्यः कल्पना इति । न च उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं तासामसिद्धम्, 'नहि इमाः कल्पना अप्रतिसंविदिता एव उदयन्ते व्ययन्ते च यतः सत्योऽप्यनुपलक्षिताः स्युः' इति, तद्दूषयन्नाह–

प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः सत्योऽपि कल्पनाः ।
प्रत्यक्षेषु न लक्ष्येरन् तत्स्वलक्षणभेदवत् ॥ २४ ॥

---

(१) प्रत्यक्षेतरज्ञाने विभिन्नविषये विभिन्नप्रतिभासत्वात् । (२) [अ]सिद्ध इत्यत्रापि योज्यम्–आ० टि० । (३) "यदाह–न चेमाः कल्पना अप्रतिसंविदिता एवोदयन्ते व्ययन्ते चेति । नापि तत्प्रतिपत्तौ लिङ्गानुसरणेन तदाकारसमारोपगमस्य शक्यते कल्पयितुम् –प्रमाणवा० स्वव० टी० १।५० । (४) "न लक्ष्येरन् विविच्येरन् । काः ? कल्पना विकल्पाः । केषु ? प्रत्यक्षेषु स्वसंवेदनादिषु । किं विशिष्टा अपि ? सत्योऽपि विद्यमाना अपि । पुनः कथम्भूताः ? प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः, उत्पत्तिः स्वरूपलाभः व्ययोऽभावप्रत्ययः, प्रतिसंविदितौ प्रतिप्राणि समुपलब्धौ उत्पत्तिव्ययौ यासां तास्तथोक्ताः । न खलु भाव विना उत्पादव्ययवत्त्वमनुभूयते, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । ननु सतां विकल्पानां प्रत्यक्षबुद्धाव नुपलक्षणे किं कारणमिति चेत्, प्रतिपत्तुरशक्तिरप्रणिधानञ्चेति ब्रूमः । अत्र निदर्शनमाह–तदित्यादि । तेषां विकल्पानां स्वलक्षणं स्वरूपं तस्य भेदः सजातीयविजातीयव्यावृत्तिः स इव तद्वत् । अयमर्थः–यथा प्रतीतोत्पादव्ययासु सत्यपि स्वलक्षणव्यावृत्तिः कल्पनासु न लक्ष्यते अनुमानत एव तत्सिद्धः तथा प्रत्यक्षेषु कल्पना अपि न लक्ष्यन्त इति । तर्हि कथमलक्षितानां तासां तत्रास्तित्वसिद्धिरिति चेत् ? न पुनस्तद्विषयस्मरणाद्यथानुपपत्त्या तत्सिद्धेः । संहृतसकलविकल्पावस्था हि अश्वं विकल्पयतो गोदर्शनावस्था तत्रापि गोदर्शनं निश्चयात्मकमेव पुनस्तद्विषयस्मरणाद्यथानुपपत्तेः ।'–लघी० ता० पृ० ४४ । तुलना–'न हि सन्ति बहुबहुविधप्रभेदाकृतयः स्वयमसंविदिता एवोदयन्ते अत्ययन्ते वा यतः सत्योऽप्यनुपलक्षिताः स्युः कल्पनावत् ।"–सिद्धिवि०, टी० पृ० ९८ A ।

1 नैव ब० । 2–विकल्पकस्य आ० । 3 'प्रत्यासन्नेत्यादि' नास्ति आ०, श्र० । 4 प्रत्यक्षेण सन्ति श्र०, ब० । 5 सतोऽप्यनु–आ० ।

विवृतिः–सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् तद्विशेषादर्शिनोऽनवधारणम् असमीक्षिताभिधानम्; सर्वथा तत्सादृश्याऽनिष्टेः । प्रतिसंहारैकान्तः सम्भवति न वेति चिन्त्यमेतत् । कथञ्च प्रत्यक्षचतुष्टयं सर्वथाऽविकल्पाः पुनर्विकल्पयन् ?

प्रतिप्राणि संविदितौ उत्पत्तिव्ययौ यासां ताः तथोक्ताः ताः तथाविधाः सत्योऽपि विद्यमाना अपि न केवलमसत्यः, प्रत्यक्षेषु, चतुर्विधस्यापि प्रत्यक्षस्य मध्यमित्यर्थः । कल्पना न लक्ष्येरन् ।

कारिकार्थः –

न च सतः प्रतिसंविन्नितविर्भावविनाशवतोऽनुपलक्षणं विरुद्धम्, इत्यस्यार्थस्य समर्थनार्थं तत्प्रसिद्धमेव निदर्शनं प्रदर्शयन्नाह–'तत्स्वलक्षणभेदवत्' इति । तासां कल्पनानां स्वलक्षणं स्वस्वरूपं तस्य भेदः सजातीयाद्विजातीयाच्च व्यावृत्तिः स इव तद्वदिति । एतदुक्तं भवति–यथा प्रतिसंविन्नितोत्पत्तिव्ययः सन्नपि कल्पनासु तद्भेदो न लक्ष्यते, अन्यथा क्षणक्षयानुमानमनर्थकं स्यात्, तथा प्रत्यक्षेषु कल्पनाः सत्योऽपि न लक्ष्यन्ते इति ।

तद्भेदानुपलक्षणे परकीयां युक्तिं सदूषणां 'सदृश' इत्यादिना प्रदर्श्य कारिकार्थं 'प्रतिसंहारैकान्त' इत्यादिना दर्शयति–सदृशस्य समानस्य अपरस्यापरस्य उत्पत्तिः तया विप्रलम्भः प्रतारणमेव वञ्चनो भ्रमः

विवृतिव्याख्यानम्–

तस्मात्तद्विशेषादर्शिनः न पृथक् सजातीयव्यावृत्तिलक्षणविशेषम् अलातचक्रवत् पश्यतीत्येवंशीलस्य सौगतस्य अनवधारणं यद् भेदानुपलक्षणम्, तदसमीक्षिताभिधानम्, कुत एतत् ? इत्यत्राह–'सर्वथा' इत्यादि । सर्वथा भेदाभेदोभयानुभयप्रकारेण तासां कल्पनानां सादृश्यस्य अनिष्टेः ततः तद्भेदोपलक्षणमेव स्यात् इत्यभिप्रायः । नचैतदस्ति, अतो यथा तद्भेदः सन्नपि नोपलक्ष्यते तथा प्रत्यक्षेषु सत्योऽपि कल्पना इति । ततः प्रतिसंहारैकान्तः प्रत्यक्षेषु सकलकल्पनाविरहैकान्तः 'सम्भवति न वा' इति चिन्त्यमेतत् पर्यालोच्यमेतत् 'न सम्भवति' इत्यर्थः । तत्स्वलक्षणभेदवत् तासां सतामनुपलक्षितानां सम्भवात् । ननु यद्यपि तासां तद्भेदो न लक्ष्यते तथापि अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासो विद्यमानो लक्ष्येत, न च उपलक्ष्यते । अतः अस्याऽनुपलक्षणात् अभावसिद्धेः सिद्धः प्रतिसंहारैकान्तः, इत्यत्राह–'कथञ्च' इत्यादि । कथञ्च न कथञ्चिदपि

(१) स्वहेतोरेव तथोत्पत्तेः क्षणस्थितिधर्माणां तत्स्वभावं पश्यन्नपि मन्दबुद्धिः सत्तोपलम्भेन सर्वदा तथाभावस्य शङ्कया सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा न व्यवस्यति ।'–प्रमाणवा० स्ववृ० १।३४ । 'तां पुनरनित्यतां पश्यन्नपि मन्दबुद्धिः नाध्यवस्यति सत्तोपलम्भेन सर्वदा तद्भावशङ्काविप्रलब्धः सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा ।–प्रमाणवार्तिकाल० लि० प० २३७ । (२) इन्द्रियमनःस्वसंवेदनयोगिलक्षणस्य । (३) क्षणभङ्गित्वम् स्वरूपभेदश्च । (४) उत्पाद(?)–आ० टि० । (५) भ्रमः । (६) कल्पनानाम् । (७) कल्पनाया लक्षणमिदम् तथाहि–"अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभास प्रतीतिः कल्पना" न्यायबि० पृ० १४ । (८) अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासस्य ।

1 सजातीयाच्च व्या–आ० । 2 तदुक्तं ब० । 3 तथा आ० । 4 तद् श्र० । 5 'सवपत्पादि' नास्ति श्र० । 6 सादृश्यानिष्ट ब० । 7 ततस्तत्स्वभवोप–आ० । 8 'पर्यालोच्यमेतत्' नास्ति आ० । 9 सत ब० । 10–सिद्ध प्रति–श्र० । 11 कथञ्चेदित्यादि ब० ।

प्रत्यक्षबुद्धयः, बहुवचनम् अशेषाध्यक्षबुद्धिसङ्ग्रहार्थम्, सर्वथा स्वरूपवद् बहिरपि अविकल्पाः, पुनरिति वितर्के। विकल्पेरन् बहिर्विकल्पात्मिका भवेयुः अनेकान्तप्रसङ्गादिति मन्यते। अथवा तद्बुद्धयः सर्वथाऽविकल्पाः सत्यः कथञ्च न पुनः पश्चाद् विकल्पेरन् विकल्पान् कुर्युः। न हि अविकल्पादनुभवाद् अर्थान्वि विकल्प सम्भवतीत्युक्तं सविकल्पसिद्धिप्रघट्टके। ततः स्थितमर्थमुपदर्शयन्नाह–

अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिः चिन्तयाभिनिबोधिकैः।
व्यवहाराऽविसंवादः तदाभासस्ततोऽन्यथा॥ २५॥

विवृतिः–प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानादिभिः अविसंवादसिद्धेः अर्थेषु तत्प्रामाण्यम्, अन्यथा तदाभासव्यवस्था। तथैव श्रुतज्ञानं तदाभासव्यवस्था।

अक्षाणां चक्षुरादीनां कार्यभूता **धीर्बुद्धिः** अवग्रहाद्यात्मिका मतिः सा च **स्मृतिश्च संज्ञा च** ताभिः, **चिन्तया** तर्केण, **आभिनिबोधिकैः** अनुमानैः व्यक्त्यपेक्षं बहुवचनम् ते समस्तैर्व्यस्तैश्च **व्यवहाराविसंवादः**, अतस्तेषां प्रामाण्यम्, **अन्यथा** एकान्तवादिपरिकल्पितप्रकारेण **तदाभासः** प्रमाणाभासः। नहि एकान्तवादिपरिकल्पितस्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्काऽप्रामाण्यप्रकारेण अविकल्पाक्षज्ञान-कार्यादिपरिगणितलिङ्गप्रभवानुमानप्रकारेण च प्रवृत्त्यादिव्यवहाराविसंवादो लोके प्रसिद्धः।

कारिकार्थ –

कारिकां विवृण्वन्नाह–'प्रत्यक्ष' इत्यादि। प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानादिभिः अविसंवादसिद्धेः कारणाद् अर्थेषु घटादिषु तेषां प्रत्यक्षादीनां प्रामाण्यम्, अन्यथा एकान्तवादिकल्पितप्रकारेण तदाभासव्यवस्था प्रामाण्याभासव्यवस्था। एतदेव शाब्दे श्रुतेऽतिदिशन्नाह–'तथैव' इत्यादि। स्मरणादिना अन्यस्य श्रुतस्य उक्तत्वात् शाब्दं श्रुतं श्रुतज्ञानशब्देनेह गृह्यते, तथैव व्यवहारसंवाद-विसंवादप्रकारेणैव श्रुतज्ञानं तदाभासश्च तयोर्व्यवस्था।

विवृतिव्याख्यानम्–

ननु श्रुतज्ञानं प्रमाणमेव न भवति तत्कथं तद्व्यवस्था इत्याशङ्क्याह–

प्रमाणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपान्तरादिषु।
अनाश्वासं न कुर्वीरन् क्वचित्तद्व्यभिचारतः॥ २६॥

(१) यथाहि अभिलापं अभिलप्यमानजातिगुणक्रियादिरहितात् क्षणिकार्थात् न शब्दसंसर्गी विकल्पो जायते तथैव निर्विकल्पानुभवादपि शब्दशून्यात् न शब्दात्मको विकल्पः समुत्पद्यते। (२)पृ० ५१। (३)"प्रमाणमित्यनुवर्तते। तेनाभिसम्बन्धाद् अक्षध्यादीनां प्रथमान्तत्वम् 'अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः' इति न्यायात् तत एव व्याख्यायते–अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिः चिन्तयाऽऽभिनिबोधकैश्च व्यवहारे हानोपादानरूपे अविसंवादादव्यभिचारः सकलव्यवहारिणां प्रतीतिसिद्धः ततस्तानि प्रमाणानि भवन्तीत्यर्थः।" –लघी० ता० पृ० ४५। (४)परोक्षस्य–आ० टि०। (५)परोक्षम–आ० टि०। (६) 'व्यवहाराविसंवाद

1 कथञ्च पुन आ०। 2 विकल्पेनैव विक–श्र०। 3–निबोधक ब०। 4 अभिनिबोधिक ब०, श्र०। 5 प्रथम आ०। 6–संवादप्रकारे–श्र०।

विवृतिः[1]–श्रुतज्ञानं वक्त्रभिप्रायादर्थान्तरेऽपि प्रमाणम्, कथमन्यथा द्वीप देशनदीपर्वतादिकम् अदृष्टस्वभावकार्यं दिग्विभागेन देशान्तरस्थं प्रतिपत्तुमर्हति निराशङ्कमविसंवादश्च ?

श्रुतं धर्मि, प्रमाणमिति साध्यो धर्मः 'अविसंवादसिद्धेः' इत्येतदनुवर्तमानं साधनं तेन 'अविसंवादकं श्रुतं प्रमाणं न सर्वम्' इत्युक्तं भवति ।

कारिकार्थ –

तन्निश्चयभूतं श्रुतं क्व प्रमाणमित्याह–अर्थेषु, न पुनः अभिप्रायमात्रे । किंविशिष्टेषु तेषु ? इत्याह–द्वीपान्तरादिषु सिद्धे शास्त्रान्तरे लोके वा प्रसिद्धम् । ननु अर्थाभावेऽपि शब्दानां प्रवृत्तिप्रतीतेः कथं तेषां तत्र प्रमाणमित्याह–'अनाश्वासम्' इत्यादि । अनाश्वासम् आश्वासाभावं न कुर्वीरन् क्वचिद् 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इत्यादौ तस्य श्रुतस्य व्यभिचारतो व्यभिचारमाश्रित्य, इन्द्रियज्ञानेऽपि क्वचित् तद्वाधापत्तेरित्यभिप्रायः ।

ननु श्रुतस्य अनुमानाद् व्यतिरेकाऽसिद्धितः तत्प्रामाण्यप्रसाधनादेव प्रमाणप्रसिद्धेः

श्रुतज्ञानमनुमानाद् तिरिक्तं प्रमाणमनभ्यु गच्छतो वैशेषिकस्य पूर्वपक्षः –

'प्रमाणं श्रुतमर्थेषु' इत्याद्ययुक्तम्, तथाहि–शब्दोऽनुमानान्न व्यतिरिच्यते तदभिन्नविषयत्वात् तदभिन्नसामग्रीसमधिगतत्वाच्च, यद् यत् तथाविधं तत्तदनुमानान्न व्यतिरिच्यते यथा कुतश्चिदनुमानाद् अनुमानान्तरम्, तथाविधश्चायं शब्द इति । न चास्य तदभिन्न-

इत्यनुवर्तते । आप्तवचनादिनिबन्धनं मतिपूर्वमथवाप्तवचनात् श्रुतं तच्च प्रमाणं सिद्धमेव । क्व सिद्धमिति चेत् ? व्यवहाराविसंवादादित्युच्यते प्रत्यक्षादिवत् । केषु ? अर्थेषु प्रमेयेषु । कीदृशु ? द्वीपान्तरादिषु प्रकृता जम्बूद्वीप तस्मादन्य धातकीखण्डादयो द्वीपान्तराणि तादीन्येषां कालस्वभावव्यवहितानां तेषु यथोक्ता तेषु देशकालाकारविप्रकृष्टविषयेषु । न हि श्रुतादर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानो रसायनादिक्रियायां विसंवादने ग्रहणादौ वा मन्त्रादिप्राप्तौ वा । ततोऽनाश्वासमविश्वासं न कुर्वीरन् परीक्षकाः । कुतः ? क्वचित् व्यभिचारतः । क्वचिदप्यतीर क्षीरादिप्रतिपादने तस्य श्रुतस्य व्यभिचारो विसंवादः तस्मात् । नहि क्वचिद्विसंवादादप्रामाण्यं ज्ञानस्य सर्वत्राप्रामाण्यं द्विचन्द्रादौ प्रत्यक्षादिष्वपि तथात्व प्रसङ्गात् सकलव्यवहारविलोपापत्तेः । –लघी० ता० पृ० ४६ ।

(१) तस्मात् अन्ये वार्तिकादौ नैयायिक मीमांसकादिभ्यः वा । (२) श्रुतमर्थे । (३) तुलना–एतत्सामान्यपशो कोऽन्य खलस्रो वक्तुमीहते । अदृष्टपूर्वमस्तीति तृणाग्रे करिणां शतम् ।'–प्रमाणवा० १।१६७ । प्रश० व्यो० पृ० ५८१ । 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च –परीक्षामु० ६।५३ । (४) क्वचिद् द्विचन्द्रादिज्ञाने चाक्षुषप्रत्यक्षस्य व्यभिचारोपलम्भात् एकचन्द्रविज्ञानेऽपि अविश्वासप्रसङ्गात् । (५) अनाश्वासापत्तेः । (६) शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात् । यथा प्रसिद्धसमयस्य असन्दिग्धलिङ्गदर्शनप्रसिद्धयनुस्मरणाभ्यामतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमानमेव शब्दादिभ्योऽपीति । श्रुतिस्मृति लक्षणोऽप्याम्नायो वक्तृप्रामाण्यापेक्षः –प्रश० भा० पृ० ५७६ । 'अन्तर्भावश्चानयोः समानविधित्वात् समानलक्षणयोगित्वाच्चेति हेतूपन्यासः –प्रश० व्यो० पृ० ५७७ । प्रसिद्ध समयो विना

1 च नास्ति ६० वि० ज० वि० । 2–भूत च आ० । 3 शास्त्रे लोके श्र० । 4 इत्यप्रचारस्य श्रुतस्य श्र० । 5 तस्य व्यभि–ब० । 6–माप्रति–श्र०, ब० ।

विषयत्वमसिद्धम्, शब्दानुमानयोरविशेषतः सामान्यगोचरचारित्वात्। सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वाच्च[1], न हि शब्दः असम्बद्धमर्थं प्रतिपादयति अतिप्रसङ्गात्, सम्बद्धञ्च तं प्रतिपादयन्नसौ तल्लिङ्गतां[2] नातिवर्त्तेत। नापि तदभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वमसिद्धम्, धूमादिवत् शब्दस्य अर्थप्रतीतौ सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वात्। अन्वयव्यतिरेकवत्त्वाच्च[3], यो हि शब्दो यत्रार्थे लोके दृश्यते स तस्य वाचकः यत्र[4] तु न दृश्यते न तस्य वाचकः। पक्षधर्मत्वोपेतत्वाच्च, तथाहि–विवक्षितः शब्दः अर्थवान् शब्दत्वात् पूर्वोपलब्धशब्दवत्, यथा अयं धूमोऽग्निमान् धूमत्वात् पूर्वोपलब्धधूमवत्। यथा च प्रत्यक्षतो धूमं दृष्ट्वा वह्निः प्रतीयते तथा शब्दं श्रुत्वा तदर्थोऽपि। दृष्टान्तनिरपेक्षत्वञ्च अभ्यस्तविषये द्वयोरप्यनयोरविशिष्टम्।

किञ्च शब्दो विवक्षायामेव प्रमाणं न बाह्ये व्यभिचारात्। न हि 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इत्यादि शब्दानां बाह्येऽर्थे प्रामाण्यमुपपद्यते प्रतीतिविरोधात्। तस्याञ्च एतस्य लिङ्गत्वैवेति ॥छ॥

भावो यस्य पुरुषस्य तस्य लिङ्गदर्शनप्रसिद्ध्यनुस्मरणाभ्यां लिङ्गदर्शनं यत्र धूमस्तत्राग्निरित्येवम्भूतायाः प्रसिद्धेरनुस्मरणञ्च ताभ्यां यथाऽतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमानं तथा शब्दादिभ्योऽपीति। तावद्धि शब्दो नार्थं प्रतिपादयति यावदयमस्याव्यभिचारीत्येव नावगम्यते, ज्ञाते त्वव्यभिचारे प्रतिपादयन् धूम इव लिङ्गं स्यात्।'–प्रश० कन्द० पृ० २१४। "अत्र हेतुमाह–समानविधित्वात्। समानप्रवृत्तिकारणत्वात् विजातीयलक्षणानाक्रान्तत्वादिति यावत्। अप्रतिबन्धकत्वे अप्रामाण्यमेव साक्षात्प्रतिबन्धकत्वे प्रत्यक्षान्तर्भावः, परम्पराप्रतिबन्धकत्वे चानुमान एवान्तर्भावः।'–प्रश० किर० पृ० ३०९।

(१) तुलना–'परोक्षविषयत्वं हि तुल्यं तावद् द्वयोरपि। सामान्यविषयत्वं च सम्बन्धापेक्षणाद् द्वयोः॥'–न्यायम० पृ० १५२। (२) "यद्यप्येते पदार्था मिथः संसर्गवन्तो वाक्यत्वादिति व्यधिकरणम्, पदार्थत्वादिति चानैकान्तिकम्, पदैः स्मारितार्थसंसर्गवन्तः तत्स्मारकत्वादित्यादौ साध्याभावः तथापि आकाङ्क्षादिमद्भिः पदैः स्मारितत्वात् गामभ्याजेति पदार्थवदिति स्यात्।'–प्रश० किर० पृ० ३०९। वैशे० उप० पृ० ३३१। "पदानि स्मारितार्थविशप्तिपूर्वकाणि योग्यतासत्तिमत्त्वे सति समुदायपरत्वात् गामभ्याजेति परत्वात् गामभ्याजेति पदकदम्बवदित्यनुमानादेव साध्यसिद्धिः।"–न्यायली० पृ० ५५। (३) तुलना–'अन्वयव्यतिरेकौ च भवतोऽत्रापि लिङ्गवत्। यो यत्र दृश्यते सन् स तस्यास्य वाचकः॥"–न्यायम० पृ० १५२। (४) लिङ्गशब्दयोः। (५) 'वचोभ्यां निखिलेभ्योऽपि विवक्षाऽनुमीयते। प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां तद्धेतुः सा हि निश्चिता ॥१५१५॥ विवक्षायाश्च गम्याया विस्पष्टैव निरूपिता। पुंसि धर्मिणि सा साध्या कार्येण वचसा यतः ॥१५२१॥ पादपार्थविवक्षावान् पुरुषोऽयं प्रतीयते। वृक्षशब्दप्रयोक्तृत्वात् पूर्वावस्थास्वहं यथा ॥१५२२॥'–तत्त्वसं० पृ० ४४१-४३। "प्रथमं शब्दादुच्चारिताद्वक्तुः वक्तुरादिमर्थविवक्षा गम्यते स्वसन्ताने शब्दोच्चारणस्य तदर्थविवक्षापूर्वकत्वोपलम्भात् तदर्थविवक्षया चार्थानुमानम्। अयञ्चात्र प्रयोगः–पुरुषो धर्मी वक्तुरादिमर्थविवक्षावान् गोशब्दोच्चारणवत्त्वात् अहमिवेति।"–प्रश० कन्द० पृ० २१५। (६) विवक्षायाम्। 'विवक्षाकाराधिगम लिङ्गत्वात्। यथाहि आकाराधिगमे सत्व शब्दोऽनुमानम्, विवक्षाकायस्तु विवक्षाधिगमेऽपि इति।'–प्रश० व्यो० पृ० ५७८।

1–हेतुत्वाद्धि ब०। 2 तत्र लिङ्गतां आ० श्र०। 3–व्यतिरेकत्वाच्च आ०, ब०। 4 यत्र तत्र श्र०।

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं श्रुतज्ञानस्य अनुमानाद्भिन्नार्थविषयत्वेन प्रामाण्यसमर्थनम्–

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्–'शब्दोऽनुमानान्न व्यतिरिच्यते' इत्यादि, तदसमीचीनम्, अभिन्नविषयत्वस्य अनयोरसिद्धेः । अर्थमात्रं हि शब्दस्य विषयः, अनुमानस्य तु साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी इति । किञ्च, अनयोर्विषयाभेदः सामान्यमात्रगोचरचारितया, तद्वन्मात्रविषयतया, सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुतया वा स्यात् ? प्रथमपक्षे किमिदं सामान्यं नाम–सकलव्यक्त्यनुस्यूतं नित्यैकत्वादिधर्मोपेतम्, अन्यव्यावृत्तिरूपं वा ? पक्षद्वयमप्येतदनुपपन्नम्, उभयरूपस्यापि सामान्यस्य सामान्यपरीक्षावसरे प्रतिक्षिप्तत्वात्, अन्यापोहमात्रविषयत्वस्य अनयोः प्रतिषेत्स्यमानत्वाच्च । नित्यादिस्वभावसामान्यविषयत्वे चानयोः मीमांसकमतानुप्रवेशः सौगतस्य स्यात्, स चानुपपन्नः, तद्विषयत्वस्याप्यग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् । अथ तद्वन्मात्रविषयतया तयोर्विषयाभेदोऽभिप्रेतः, नन्वेवं प्रत्यक्षस्यापि अनुमानत्वप्रसङ्गः तथा तदभेदस्यात्राप्यविशेषात्, सकलप्रमाणानां सामान्यविशेषात्मकार्थविषयत्वप्रतिपादनात् ।

एतेन सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुतयाप्यनुमानत्वं शब्दस्य प्रत्याख्यातम्, प्रत्यक्षस्यापि सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुतया अनुमानत्वानुषङ्गात् । तदपि हि स्वविषये सम्बद्धं सत् तत्प्रतिपत्तिहेतुः नान्यथाऽतिप्रसङ्गात् । अथ तत्र सम्बद्धस्यार्थे प्रतिपत्तिहेतुत्वाविशेषेऽपि सामग्रीभेदाद् अनुमानाद्भेदः, कथमेवं शब्दस्यापि अतो भेदो न स्यात् तदविशेषात् ? तन्न अभिन्नविषयत्वात् शब्दस्यानुमानत्वं युक्तम् ।

नापि अभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वात्, शब्दे तदसम्भवात् । पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयरूपा हि अनुमाने सामग्री, सा च शब्दे न सम्भवति । तथाहि–न तावत् शब्दस्य

(१) पृ० ५३० पं० ११ । तुलना– विषयोऽन्यस्तावद् दृष्टः शब्दलिङ्गयोः । सामान्यविषयत्वञ्च पदस्य स्थापयिष्यति । धर्मी धर्मविशिष्टश्च लिङ्गीत्येतच्च साधितम् । न तावन्नुमानं हि यावत्तद्विषयं न तत् ॥ –मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ५५-५६ । 'अर्थमात्रं हि शब्दस्य गोचरोऽनुमानस्य तु साध्यधर्मविशिष्टो धर्मीति ।'–स्या० र० पृ० ६२० । विषयस्तावद्भिन्न एव पदलिङ्गयोः । तद्वन्मात्रं पदस्यार्थ इति स्थापयिष्यते । अनुमानं तु वाक्यार्थविषयम् अत्राग्निरग्निमान् पर्वत इति प्रतिपत्तेः । –न्यायम० पृ० १५३ । (२) अनुमानशब्दयोः । तुलना– अपि चानयोर्गोचराभेदः सामान्यमात्रविषयतया तद्वन्मात्रगोचरतया वा भवेत् ? –स्या० र० पृ० ६२० । (४) पृ० २८५ पं० २८ । (५) शब्दानुमानयोः । (६) मीमांसकमतानुप्रवेशः (७) नित्यादिस्वभावसामान्यविषयत्वस्यापि । (८) सामान्यवद्विषयतया । (९) सामान्यवद्विषयत्वेन विषयाभेदस्य । (१०) स्वविषये । (११) प्रत्यक्षस्य । (१२) अनुमानात् । (१३) सामग्रीभेदस्य समानत्वात् । (१४) तुलना– तस्मादननुमानत्वं शब्दे प्रत्यक्षवद् भवेत् । त्रैरूप्यरहितत्वेन तादृग्विषयवर्जनात् ॥ –मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ९८ । स्या० र० पृ० ६२० । (१५) तुलना– अथ शब्दोऽर्थवत्त्वेन पक्षः कस्मान्न कल्प्यते । प्रतिज्ञार्थैकदेशो हि हेतुस्तत्र प्रसज्यते । पक्षधर्मविशेषे च सामान्ये हेतुरिष्यते । शब्दत्वं गमकं चात्र गोशब्दत्वं निपत्स्यते । व्यक्तिरेव विशिष्टास्तो हेतुश्चात्र प्रसज्यते ॥ –मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ६२-६४ । 'ननूक्तं

1 शब्दानुमा–ब० । 2–त्वस्यापि सामान्यपरी–ब० ।

भावात्। न खलु धूमेन अग्निर्जन्यते किन्तु गम्यते, शब्देन तु अर्थप्रतीतिर्जन्यते अतः अस्यामेव सिद्धासिद्धविकल्पावतारः। तत्र शब्दस्य धर्मित्वं घटते।

नाप्यर्थस्य, तेन सह शब्दस्य भवद्भिः सम्बन्धानभ्युपगमात्। न हि शब्दार्थयोस्तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिरूपो वा सम्बन्धः सौगतैरभ्युपगम्यते। "न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा" [ ] इत्यादिवचनविरोधानुषङ्गात्। न च अर्थेनाऽसम्बद्धोऽपि शब्दः तस्य धर्मः अतिप्रसङ्गात्। अथ अर्थप्रतीतिहेतुत्वात् तद्धर्मोऽसौ, न, इतरेतराश्रयानुषङ्गात्–पक्षधर्मत्वसिद्धौ हि शब्दस्य अर्थप्रतीतिहेतुत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च पक्षधर्मत्वसिद्धिरिति। तत्प्रतीतिहेतुत्वेन चास्य तद्धर्मत्वे चक्षुरादेरपि पक्षधर्मतासिद्धेः तैलभवापि प्रतीतिः आनुमानिक्येव स्यात्। तन्न पक्षधर्मत्वं शब्दे सम्भवति।

नाप्यन्वयव्यतिरेकौ, देशे काले च शब्दार्थयोरनुगमाभावात्। नहि यत्र देशे

(१) अर्थेन स्वलक्षणात्मकेन। (२) बौद्धैः। (३) उक्तञ्च–न ह्यर्थे शब्दाः तदात्मानो वा यतः तस्मिन् प्रतिभासमाने तेऽपि प्रतिभासेरन्नित्यादि। –न्यायप्र० वृ० पृ० ३५। 'यथाहि वह्नौ धूमो जन्यजनकसम्बन्धसम्बद्धः उत्तरभावेन भवति एवं नार्थे जन्यजनकसम्बन्धसम्बद्धाः शब्दाः उत्तरभावेन सन्ति। एतेन तदुत्पत्तिसम्बन्धः शब्दार्थयोर्नास्ति इत्यावेदितं। स एवात्मा येषां शब्दानां ते तदात्मानः अनेन तादात्म्यसम्बन्धोऽपि नास्तीत्याह तस्मिन्निति। अर्थे प्रतिभासमाने प्रत्यक्षेण परिच्छिद्यमाने प्रतिभासेरन् प्रतीयेरन् शब्दा इति। अयमभिप्रायः–द्विविधो हि सम्बन्धः सौगतानां तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिलक्षणश्च। तत्र तादात्म्यलक्षणो वृक्षत्वशिंशपात्वयोरिव तदुत्पत्तिलक्षणस्त्वग्निधूमयोरिव। शब्दार्थयोर्द्विविधोऽपि सम्बन्धोऽपि न घटते। तथाहि–न तावत्तादात्म्यलक्षणः। तादात्म्यं हि शब्दार्थयोः शब्दे वा स्यादर्थे वा न द्वयम्। तथा शब्दार्थयोस्तादात्म्ये क्षुरिकामोदकाग्निशब्दोच्चारणे मुखपाटनपूरणाग्निप्रसङ्गः न च दृश्यते। तदुत्पत्तिलक्षणोऽपि न घटते। यतः केयं तदुत्पत्तिर्नाम? किं शब्दादर्थोत्पत्तिरर्थाद्वा शब्दोत्पत्तिः? यदि शब्दादर्थोत्पत्तिः स्यात्तदा विश्वमदरिद्रं स्यात् हिरण्यादिशब्दोच्चारणादेव तदुत्पत्तेः। अथार्थाच्छब्दोत्पत्तिः तात्वादिकारणकलापात्तदुत्पत्तिदर्शनात्।'–न्यायप्र० वृ० पं० पृ० ७६। "उक्तञ्च धर्मकीर्तिना–न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा यतः तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेरन्। –अनेकान्तजय० पृ० ११९। उद्धृतमिदम्–अष्टसह० पृ० ११८। सिद्धिवि० टी० पृ० ७५ B। स्या० र० पृ० ६२१। षड्द० बृह० पृ० १९। न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा तथा सत्यव्युत्पन्नस्यापि व्युत्पन्नवद् व्यवहारः स्यादित्युक्तम्।"–न्यायवा० ता० पृ० १३३। (४) अर्थधर्मोऽपि शब्दः। (५) तुलना–'गमकत्वं च धर्मत्वं धर्मत्वाद् गमको यदि। स्यादन्योन्याश्रयत्वं हि तस्मादन्यापि कल्पना॥'–मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ७१। प्रतीतिजनकत्वेन तद्धर्मतायामुच्यमानायां पूर्ववदितरेतराश्रयत्वम्। पक्षधर्मत्वेन प्रतीतिः, प्रतीतौ च सत्यां पक्षधर्मनिरूपणम् इति। –न्यायमं० पृ० १५४। स्या० र० पृ० ६२१। (६) शब्दस्य। (७) चक्षुरादिजन्या। (८) तुलना–'अन्वयो न च शब्दस्य प्रमेयेण निरूप्यते॥ व्यापारेण हि सर्वेषामन्वेतृत्वं प्रतीयते। यत्र धूमोऽस्ति तत्राग्निरस्तित्वेनान्वयः स्फुटः। न त्वेवं यत्र शब्दोऽस्ति तत्रार्थोऽस्तीति निश्चयः। न तावत्तत्र शब्दो तत्वार्थो वावगम्यते।' –मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ८५, ८६। अन्वयव्यतिरेकावपि तस्य दुरुपपादौ देशे काले च शब्दार्थयोरनुगमाभावात्। नहि यत्र देशे शब्दः तत्रार्थः। यथोक्तं श्रोत्रिये–मुखे हि शब्दमुपलभामहे भूमावर्थमिति। –न्यायमं० पृ० १५५। स्या० र० पृ० ६१२।

1 सिद्धविक–आ०। 2–स्याद्धर्मोऽसौ आ०।

शब्दः तत्रार्थः "मुखे हि शब्द उपलभ्यते भूमावर्थः" [शाबरभा० १।१।५] इति भवद्भिरेवाभ्युपगमात्। नापि व्यवहारिणा तदन्वयाध्यवसायोऽस्ति, न खलु यत्र यत्र पिण्डखर्जूरादिशब्दं शृण्वन्ति तत्र पिण्डखर्जूराद्यर्थमित्थं व्यवहारिणः प्रतिपद्यन्ते। यत्र हि धूमस्तत्रावश्यं वह्निरस्तीत्येवं प्रसिद्धोऽन्वेता भवति धूमस्य, नत्वेवं देशकृतः शब्दस्य अर्थेनान्वयोऽस्ति। नापि कालकृतः, न हि यत्र काले शब्दः तत्र तदर्थोऽवश्य सम्भवति, रावणशङ्खचक्रवर्त्यादिशब्दा हि वर्तमानाः तदर्थस्तु भूतो भविष्यश्चेति कुतोऽर्थानामन्वयित्वम्? अन्वयाभावे च व्यतिरेकस्याप्यभावः तत्पूर्वकत्वात्तस्य।

यदप्युक्तम्–'यो हि शब्दो यत्रार्थे दृष्टः' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्, एवंविधाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां तद्वाचकत्वस्य अस्माभिरभीष्टत्वात्। न चैवंविधान्वयव्यतिरेकत्वमात्रेण अस्यानुमानत्वं नान्यम्, प्रत्यक्षस्यापि तत्प्रसङ्गात् तन्मात्रस्य तत्राप्यविशेषात्। यत्र हि घटसद्भावोऽस्ति तत्र तत् प्रत्यक्षं भवति, यत्र तु स नास्ति तत्र तन्न भवतीति।

यदपि–'सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वात्' इत्युक्तम्, तदप्यनुपपन्नम्, अननुमानेऽपि सशयोपमानादौ अस्य सद्भावेनाऽनैकान्तिकत्वात्, अननुमानत्वञ्च उपमानादेः प्रागेव प्रसाधितम्।

यच्चान्यदुक्तम्–'शब्दो विवक्षायामेव प्रमाणम्' इत्यादि, तदप्यनल्पतमोविलसितम्, तत्र तत्प्रामाण्यस्य '**वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान्**' [लघी० का० ६४] इत्यत्र प्रपञ्चतः प्रतिपेत्स्यमानत्वात्।

ततः शब्दो नानुमानं तद्विभिन्नविषयत्वात् तद्विभिन्नसामग्रीसम्बन्धित्वाच्च प्रत्यक्षवत्। इतोऽप्यननुमानमसौ पुम्भिर्यथेष्टं नियुज्यमानस्य अर्थप्रतीतिहेतुत्वात्, यत्पुनरनुमानं न तत्तथा यथा कृतकत्वादि, तथा च शब्दः, तस्मान्नानुमानमिति। न च साधनाऽव्यतिरेकोऽस्य दृष्टान्त इत्यभिधातव्यम्, तथा तैर्नियुज्यमानस्यास्य साध्यप्रतीत्यजनकत्वात्। न हि कृतकत्वं नित्यत्वसाध्येच्छया धूमत्वादिकं वा जलादिसाध्येच्छया नियुज्यमानं तत्प्रतीतिहेतुः, अन्यथा न कश्चिद् विरुद्धो हेतुः स्यात्। तथा,

(१) बौद्धादिभिः। (२) व्यतिरेकस्य। (३) पृ० ५३१ पं० ५। (४) जन। (५) शब्दस्य। (६) प्रत्यक्षेऽपि। तुलना–'अन्वयव्यतिरेकौ पर्याप्तौ प्रत्यक्षेऽपि, यथा यत्र घटस्तत्र घटज्ञानम् यत्र नास्ति तत्र तदभाव इति।' –न्यायवा० पृ० २६१। (७) पृ० ५३१ पं० ४। (८) तुलना–"यत्तावत्सम्बन्धापेक्षत्वादनुमानं शब्द इति, तन्न अनैकान्तात्। अनु (अननु) मानेऽपि स्मृत्यपेक्षित्वमस्ति, यथा सत्य यथा तर्के यथोपमान इति।" –न्यायवा० पृ० २६०। (९) सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वस्य। (१०) पृ० ४९५। (११) पृ० ५३२ पं० १०। (१२) विवक्षायाम्। (१३) तुलना–'एवंविधविषयभेदात् सामग्रीभेदाच्च प्रत्यक्षवदनुमानादन्यः शब्द इति सिद्धम्।' –न्यायम० पृ० १५५। (१४) तुलना–'सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य। जातिविशेषे चानियमात्। ऋष्यार्यम्लेच्छाना यथाकामं शब्दप्रयोगोऽर्थप्रत्यायनाय प्रवर्तते' –न्यायभा० २।१।५५ ५६। यथेष्टविनियोगेन प्रतीतिर्यापि शब्दतः। न धूमादितेति '–मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ९१। (१५) इतरशब्दहेतोः।

1 यत्र पिण्ड–ब०। 2–ति नापिवे–ब०। 3–भावे व्यति–ब०। 4 शब्दो भूष्टार्थे शब्द इत्यादि ब०।

शब्दो नानुमानम् आप्तोक्तत्वेनैवाऽव्यभिचारिज्ञानजनकत्वात्, यत् पुनरनुमानं न तत्तथा तज्जनकम् यथा कृतकत्वादि, तथा तज्जनकश्च शब्द इति। कृतकत्वादिसाधनस्य हि साध्येऽव्यभिचारिज्ञानजनने अविनाभाव एव निमित्तं नाप्तोक्तत्वमनाप्तोक्तत्वं वा शब्दस्य तु आप्तोक्तत्वमेवेति।

शब्दो विकल्पवासनामात्रजन्यत्वादर्थसम्पर्की अत एव च न तत्प्रामाण्यम् इति बौद्धस्य पूर्वपक्षः–

सत्यम्, अननुमानस्वभाव एवायं शब्दः अप्रमाणत्वात्, प्रमाणत्वे हि तस्य अनुमानेऽन्तर्भावप्रयासः फलवान्। न चास्यैतदस्ति, वस्तुनि सम्बन्धाऽसंभवात्। सम्बन्धो हि शब्दार्थयोर्भवन् तादात्म्यलक्षणः, तदुत्पत्तिस्वभावो वा भवेत्? न तावत् तादात्म्यलक्षणः, विभिन्नदेशतया तयोः प्रतीयमानत्वात्, मुखे हि शब्दः प्रतीयते भूमावर्थ इति। तत्तादात्म्ये च क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणप्रसङ्गः। नापि तदुत्पत्तिस्वभावः, 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इत्यादि शब्दानाम् अर्थाभावेऽप्युत्पत्तिप्रतीतेः, स्थानकरणप्रयत्नप्रभवत्वाच्च। अतोऽर्थाऽसंस्पर्शिनः शब्दा न बाह्यार्थप्रतीतिं जनयितुमलम् तत्कथं प्रामाण्यभाजो भवेयुः? ते हि विकल्पमात्राधीनजन्मानः स्वमहिम्ना तिरस्कृतबाह्यार्थान् प्रत्ययानुत्पादयन्ति यथा 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इति।

---

(१) तुलना– आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थे सम्प्रत्ययः। २।१।५२। स्वर्गः अप्सरसः उत्तराः कुरवः सप्त द्वीपाः समुद्रो लोकसन्निवेश इत्यप्रत्यक्षस्यार्थस्य न शब्दमात्रात् प्रत्ययः। किं तर्हि? आप्तैरयमुक्तः शब्दः इत्यतः सम्प्रत्ययः विपर्ययेण सम्प्रत्ययाभावात् नत्वेवमनुमानमिति।'–न्यायभा० न्यायवा०, २।१।५२। (२) नान्तरीयकताभावाच्छब्दानां वस्तुभिस्सह। नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्त्रभिप्रायसूचकाः॥ अधुना न बाह्येऽर्थेऽस्य प्रामाण्यमित्याह–अपि चेत्यादि। वस्तुभिः स्वलक्षणैः सह शब्दानां नान्तरीयकताया अविनाभावस्याभावात् तेभ्यः शब्देभ्यो नार्थसिद्धिः न बाह्यवस्तुनिश्चयः यस्मात् वक्त्रभिप्रायसूचकाः।–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।२१२। 'वचसां प्रतिबन्धो वा को बाह्येष्वपि वस्तुषु। प्रतिपाद्यतां तानि यतया स्यात्प्रमाणता॥ भिन्नाक्षग्रहणादिभ्यो नैकात्म्यं न तदुद्भवः। व्यभिचारान्न कार्यस्य युज्यते व्यभिचारिता॥ न हि वाच्यैः वस्तुभिः सह कश्चित्तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिलक्षणो वा प्रतिबन्धो वचसामस्ति यतः तानि वस्तूनि प्रतिपाद्यतामेषां वचसां प्रामाण्यं स्यात्। तत्र तावन्न तादात्म्यलक्षणप्रतिबन्धोऽस्ति भिन्नाक्षग्रहणादिभ्यो हेतुभ्यः। तत्र भिन्नाक्षग्रहणं भिन्नेन्द्रियेण ग्रहणम्। तथाहि–श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते अर्थस्तु चक्षुरादिना। आदिशब्देन बाह्येतरप्रतिभासकारणभेदो गृह्यते।'–तत्त्वसं० पृ० ४४०। न्यायप्र० वृ० पं० पृ० ७६। तुलना–'मुखे हि शब्दमुपलभामहे भूमावर्थमिति।–शाबरभा० १।१।५। (३) तुलना– पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः।–न्यायसू० २।१।५३। स्याच्चेदर्थेन सम्बन्धः क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणे स्याताम्।–शाबरभा० १।१।५। शास्त्रवा० श्लो० ६४५। अनेकान्तजय० पृ० ४२ A। न्यायकु० पृ० १४४ टि० ३। (४) विकल्पवासनोद्भूताः समारोपितगोचराः। जायन्ते बुद्धयस्तत्र केवलं नार्थगोचराः। अनादिः समानजातीयो यो विकल्पस्तेन आहिता या वासनाशक्तिस्ततः उद्भूताः उत्पन्नाः यथागमं समारोपिताः आकाशाद्याकाराः तद्गोचराः न त्वनिभासिन्य एव केवलं यताः तत्र बाह्यत्वेन कल्पितेषु आकाशादिषु जायन्ते। न तु ता बुद्धयोऽर्थगोचराः नाकाशादिस्वलक्षणविषयाः।–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२८८।

1 तथा तज्जनकश्च श्र०। 2 नाप्तोक्तत्वं वा श्र०। 3–यूथमास्ते ब०।

पुरुषदोषाणामेव महिमा न शब्दानाम्, इत्यप्ययुक्तम्, दोषवतोऽपि मूकादेः पुरुषस्य अनुच्चारितशब्दस्य ईदृशाऽसत्यप्रत्ययोत्पादनसामर्थ्याऽसम्भवात्, असत्यपि च पुरुषहृदयकालुष्ये आप्तप्रयुक्तानि अङ्गुल्यादिवाक्यानि तानुत्पादयन्त्येव। अतः शब्दानामेवैष स्वभावो न वक्तृदोषाणाम्। नैवाप्ताः ईदृशि वाक्यानि प्रयुञ्जते, प्रयुञ्जाना वा नाप्ताः स्युः, इत्यप्यसत्, एवमपि हि वक्तृदोषाणाम् अयथार्थज्ञानोदयकारणत्वासिद्धिः, व्यतिरेकासिद्धेः। यदि हि वक्तृदोषाभावे अमून्यपि वाक्यानि प्रयुज्येरन् न चायथार्थान् प्रत्ययान् कुर्युः, तदा अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वक्तृदोषजत्वं शाब्दज्ञानस्य स्यात्। आप्तैस्तु तेषामप्रयोगे 'किं शब्दाभावाद् अयथार्थज्ञानानुत्पत्तिः, आहोस्विद्दोषाभावात्' इति सन्दिग्धो व्यतिरेकः, शब्दे तु निश्चितः-सत्स्वपि दोषेषु शब्दानुच्चारणे मिथ्याज्ञानानुत्पत्तेः। न चाप्तत्वम् ईदृग्वाक्यप्रयोक्तृत्वेन विरुध्यते, तथाविधशब्दोच्चारणे सत्यपि आशयदोषाभावतोऽनाप्तत्वायोगात्। तथाहि-आप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थवाक्यं प्रयोक्तव्यं यथा 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इति। अतः शब्दस्यैवैष महिमा न वक्तृदोषाणाम्।

किञ्च, बाधकप्रत्ययोत्पत्तावपि शब्दो मिथ्याज्ञानं जनयत्येव नेन्द्रियवदुदास्ते, अतोऽर्थाऽसंस्पर्शिनः शब्दा विकल्पमात्राधीनजन्मानः सिद्धाः। तदुक्तम्-

"विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः।
तेषामन्योन्यसम्बन्धो नार्थान् शब्दाः स्पृशन्त्यमी॥" [ ] इति।

(१) तुलना-"इहापि पुरुषदोषाणामेव महिमा न शब्दानामिति चेत्, मैवम्, दोषवतोऽपि पुरुषस्य मूकादेरनुच्चारितशब्दस्येदृशविभ्रमोत्पादनपाटवाभावात्। असत्यपि च पुरुषहृदयकालुष्ये यथा प्रयुज्यमानानि अङ्गुल्यग्रादिवाक्यानि विभ्रममावहन्त्यतः शब्दानामेवैष स्वभावो न वक्तृदोषाणाम्।"-न्यायम० पृ० १५७। स्या० र० पृ० ७००। (२) बाह्यार्थशून्यान मिथ्याप्रत्ययान्। (३) तुलना-"न चाप्ता नेदृशानि वाक्यानि प्रयुञ्जते प्रयुञ्जाना वा नाप्ताः स्युरिति चेत्, एतदप्यसुन्दरम् एवमपि हि वक्तृदोषाणामयथार्थज्ञानोदयकारणत्वासिद्धिः व्यतिरेकासिद्धेः"-स्या० र० पृ० ७०१। (४) अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इत्यादिनेति। (५) तुलना-"उक्तञ्चतदुम्वेकेन-यदाप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थविषयं वाक्यं प्रयोक्तव्यं यथाऽङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति तत्राप्यव्यभिचारः स्फुट इति।"-चित्सु० पृ० २६५। (६) तुलना-"अपि च न चक्षुरादि बाधकज्ञानोदये सति न विरमति, विपरीतवेदनजननं शुक्तिकारजतादिबुद्धिषु विभ्रमस्यापायदर्शनात्। शब्दस्तु शतकृत्वोऽपि बाध्यमानो यथवोच्चरित नगाग्रशिखरे करेणुशतमास्ते इति तत्त्व तथाभूत भूयोऽपि विकल्पमयमर्थमुत्पादयत्येवेति विकल्पाधीनजन्मत्वाच्छब्दानामवस्तुविषयत्वमसंस्पर्शित्वं नामेति।"-न्यायम० पृ० १५८। (७) 'तेषामन्योन्यसम्बन्धो'-न्यायम० पृ० १५८। 'तेषामन्योन्यसम्बन्धो'-नयचक्रवृ० लि० पृ० १६७ A। 'तेषामन्योन्यसम्बन्धान्'-सिद्धिवि० टी० पृ० ३६५ B, ४८४ B। 'कार्यकारणता तथा नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि'-न्यायावता० टी० पृ० ४४। रत्नाकराव० पृ० ९। स्या० म० पृ० १७५। प्रकृतपाठः-स्या० र० पृ० ७०१। पूर्वार्द्धम्-अनेकान्तजय० पृ० ३७। अनेकान्तवाद० पृ० ४७। सिद्धिवि० टी० पृ० २६० B। शास्त्रवा० यशो० पृ० ४०२ A।

1 इत्यप्यु-आ०। 2 प्रत्यारकादे 3 नेदृशा-आ०। 4 वक्तृदोष-ब०। 5 चासत्यम् आ०।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्–'वस्तुनि सम्बन्धाभावात्' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, तत्र शब्दस्य तदभावाऽसम्भवात् । तथाहि–शब्दोऽर्थेन सम्बद्ध एव तं प्रकाशयति प्रतिनियतप्रत्ययहेतुत्वात् चक्षुर्वत् । शब्दप्रत्ययो वा सम्बद्धाभ्यां शब्दार्थाभ्यां जन्यते प्रतिनियतप्रत्ययत्वात् दण्डीत्यादिप्रत्ययवत् । ननु शब्दार्थयोस्तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणस्य सम्बन्धस्याऽपाकरणात् कथं सम्बद्धत्वम् ? इत्यप्यनुपपन्नम्, तदभावेऽप्यनयोः योग्यतालक्षणसम्बन्धसम्भवात् । तदभावे सोऽपि कथम् ? इत्यप्यसाम्प्रतम्, चक्षूरूपयोस्तदभावेऽपि तद्दर्शनात् । न खलु चक्षुषो घटादिरूपेण सह तादात्म्यं तदुत्पत्तिः संयोगो वा सौगतैरभ्युपगम्यते प्रतीतिविरोधानुषङ्गात्, अप्राप्यकारित्वाभिप्रायसङ्गाच्च । नाप्येवं तदभावे रूपप्रकाशनयोग्यतालक्षणसम्बन्धस्याप्यसम्भवः, श्रोत्रादिवत् तैरस्यापि तत्प्रकाशकत्वप्रसङ्गात् ।

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं शब्दस्य परमार्थतः सम्बद्धत्वस्य पृथक् प्रामाण्यस्य च समर्थनम्–

ननु योग्यतया शब्दस्य अर्थवाचकत्वे अर्थस्यापि शब्दवाचकत्वं किन्न स्यात् ? इत्यप्यसाम्प्रतम्, प्रतिनियतशक्तित्वाद् भावानाम् । योग्यता हि शब्दार्थयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्तिः, ज्ञानज्ञेययोर्ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिवत् । न च ज्ञानज्ञेययोः कार्यकारणभावात् तत्प्रतिनियमो न योग्यतातः इत्यभिधातव्यम्, तत्कार्यकारणभावस्य 'अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत् कारणं विदः' [लघी० का० ५४] इत्यत्र विस्तरतो निराकरिष्यमाणत्वात् । कथञ्चैवं चक्षूरूपयोः घटप्रदीपयोश्च प्रकाश्यप्रकाशकभावप्रतिनियमः स्यात् ? योग्यतातोऽन्यस्य कार्यकारणभावादिप्रतिनियमहेतोः तत्र तत्प्रतिनियमहेतोरसम्भवात् ।

ननु योग्यतावशात् शब्दो यद्यर्थं प्रतिपादयति तदा भूमध्यवर्तितोयस्यापि

(१) पृ० ५३६ पं० ६ । (२) वस्तुनि । (३) सम्बन्धाभाव । (४) अथ । (५) तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धाभाव–आ० टि० । तुलना– सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य । –न्यायसू० २।१।५५ । "न च वाच्यवाचकावलम्बनं सङ्केतज्ञानमेव । –प्रश० व्यो० पृ० ५८५ । तादृशो वाचकः शब्दः सङ्केतो यत्र वर्तते ।'–न्यायवि० का० ४३२ । अर्थे स्वभिन्धात्मनि वाच्यवाचकलक्षणे । अस्ति शब्दार्थयोर्योग्यता सम्प्रतीत्याश्रितस्ततः ॥ –तत्त्वार्थश्लो० श्लो० ६५२ । सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः । –परीक्षामु० ३।१०० । स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः इति । –प्रमाणनय० ४।११ । (६) शब्दार्थयोः । (७) योग्यतालक्षणोऽपि । (८) तादात्म्यतदुत्पत्त्य भावेऽपि । तुलना– 'नयनरूपयोः कथञ्चित्तदभावेऽपि तदुपलम्भात । –स्या० र० पृ० ७०२ । (९) चक्षूरूपयोः संयोगाभ्युपगमे । (१०) चक्षुष –आ० टि० । (११) तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावे–आ० टि० । (१२) चक्षुष –आ० टि० । (१३) रूपस्य–आ० टि० । (१४) तुलना– सहजा स्वाभाविकी योग्यता शब्दार्थयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्तिः ज्ञानज्ञेययोर्ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिवत् । –प्रमेयक० पृ० ४२८ । स्या० र० पृ० ७०२ । (१५) ज्ञाप्यज्ञापकप्रतिनियम । (१६) ज्ञानार्थयोः कार्यकारणभावस्य । (१७) चक्षूरूपयोः घटप्रदीपयोश्च । तुलना– इतरथा ज्ञानमेव प्रकाशकं ज्ञेयमेव च प्रकाश्यं न पुनर्ज्ञानमिति नियमस्याघटनात् । –स्या० र० पृ० ७०२ । (१८) प्रकाश्यप्रकाशकप्रतिनियम ।

1 इत्यनु–आ० । 2 चक्षुषा ब०, श्र० । 3–ङ्गात् ना–ब० । 4–स्य तत्प्रति–ब० । 5 यथार्थं ब० ।

प्रतिपादयेत् विशेषाभावात्, इत्यप्यपेशलम्, सङ्केतसचिवयोग्यतावशात्तस्य तत्प्रतिपादकत्वाभ्युपगमात्, भूभवनवर्द्धितोत्थित प्रति चास्य तथाविधत्वाभावान्न तत्प्रतिपादकत्वप्रसङ्ग । सङ्केतो हि 'इदमस्य वाच्यम् इदं वाचकम्' इत्येवंविधो वाच्यवाचकयोर्विनियोग, स यस्यास्ति तस्यैव शब्द स्वार्थं प्रतिपादयति नान्यस्य, अन्यथा धूमादिसाधनमप्यर्थं अग्न्यादिसाध्य गमयेदविशेषात्, अविनाभावो हि साधनस्य साध्यगमकत्वे अङ्गम्, स च सर्वदा सर्वं प्रत्यस्त्यस्ति । येनैव साध्यसाधनयोरविनाभावो गृहीत त प्रत्येव साधन साध्यस्य गमकमित्यभ्युपगमे येनैव शब्दार्थयो सङ्केतो गृहीत त प्रत्येव शब्दोऽर्थस्य वाचक इत्यभ्युपगम्यतामविशेषात् ।

ननु सङ्केत पुरुषेच्छाकृत, न च तदिच्छया वस्तुव्यवस्था युक्ता अतिप्रसङ्गात्, अतोऽर्थोऽपि वाचक शब्दस्तु वाच्य किं न स्यात् तदिच्छाया निरङ्कुशत्वात् ? इत्यप्यसुन्दरम्, तत्सङ्केतस्य सहजयोग्यतानिबन्धनत्वाद् धूमाग्निवत् । यथैव हि धूमाग्न्योर्नैसर्गिक एवाविनाभाव सम्बन्ध, तद्व्युत्पत्तये तु भूयोदर्शनादिनिमित्तमाश्रीयते, तथा शब्दार्थयो स्वाभाविक एव प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्त्यात्मा सम्बन्ध, तद्व्युत्पत्तये तु सङ्केत समाश्रीयते । सांसिद्धिकार्थशक्तिव्यतिक्रमे च चक्षुरूपादीनामपि प्रकाश्यप्रकाशनशक्तेर्व्यतिक्रम स्यात् । तथा च चक्षु प्रदीपादीना प्रकाश्यत्व घटादीना तु प्रकाशकत्व स्यात् । प्रतीतिविरोधोऽन्यत्रापि न काकैर्भक्षित ।

ननु शब्दस्य स्वाभाविकी शक्ति किमेकार्थप्रत्यायने, अनेकार्थप्रत्यायने वा ? यद्येकार्थप्रत्यायने, तदा सङ्केतशतैरपि ततोऽर्थान्तरे प्रतीतिर्न स्यात् धूमादनग्निप्रतीतिवत् ।

(१) शब्दस्य । (२) अयवाचकत्वस्वीकारात् । (३) तुलना–"क पुनरय समय ? अस्य शब्दस्येदमर्थजातमभिधेयमित्यभिधानाभिधेयनियमनियोग, तस्मिन्नुपयुक्ते शब्दादर्थसम्प्रत्ययो भवति ।–न्यायभा० २।१।५५। "अभिधानाभिधेयनियमनियोग समय उच्यते ।"–न्यायमं० पृ० २४१। "अस्यार्थस्याय वाचक इत्यथकथन समय"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३०। "इद पदममुमर्थ बोधयतु इति अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इति वेच्छा ।"–तत्त्वचि० शब्दपरि०। स्या० र० पृ० ७०२। (४) पुरुषस्य । (५) भूभवनसर्वद्धितोत्थितस्य । (६) पुरुषेण । (७) अतिप्रसङ्गमेव स्पष्टयति । (८) तुलना–"स हि पुरुषकृत सङ्केत न च पुरुषेच्छया वस्तुनियमोऽवकल्प्यते, तदिच्छाया अव्याहतप्रसरत्वात् । अर्थोऽपि किमिति वाचको न भवति । न चैवमस्ति, न हि दहनमनिच्छन्नपि पुरुषो धूमात्न तत्प्रत्येति जल वा तत इच्छन्नपि प्रतिपद्यते । तत्र यथा धूमाग्न्यो नैसर्गिक एवाविनाभावो नाम सम्बन्ध अस्त्येव । भूयोदर्शनादि निमित्तमाश्रीयते एव शब्दार्थयो सांसिद्धिक एव शक्त्यात्मा सम्बन्ध तद्व्युत्पत्तये तु वृद्धव्यवहारप्रसिद्धिसमाश्रयणम् ।'–न्यायमं० पृ० २४१। "सङ्केतस्य सहजयोग्यतानिबन्धनत्वात् । यथैव हि धूमपावकयो स्वाभाविक एवाविनाभाव "–स्या० र० पृ० ७०३। (९) अविनाभावग्रहणाय । (१०) आदिपदेन तर्को ग्राह्य । (११) शब्दार्थयोरपि वाच्यवाचकयोरन्ने । (१२) तुलना–' गिरामेकार्थनियमे न स्यादर्थान्तरे गति । अनेकार्थाभिसम्बन्धे विरुद्धव्यक्तिसम्भव ॥'–प्रमाणवा० ३।२२८।

1 प्रतिपादयतु ब० । 2–विधावाच्यवाच–आ० । 3 साध्यस[illegible]नं साध्यस्य ब० । 4–त्पत्तये स–आ०, ब० । 5–क्रमे चक्षू–य० । 6–प्रदीपानां आ० । 7 तया ब० ।

अथ अनेकार्थप्रत्यायने, तदा युगपत् ततोऽनेकार्थप्रतीतिप्रसङ्गात् प्रतिनियतेऽर्थे प्रवृत्तिर्न स्यात्, इत्यप्यचर्चिताभिधानम्, सर्वशब्दानां सर्वार्थेषु प्रत्यायनशक्तिसंभवात्। कथमन्यथा अनवगतसम्बन्धे शब्दे प्रयुक्ते सन्देहः स्यात्–'कमर्थं प्रतिपादयितुमनेन शब्दः प्रयुक्तः' इति। नचैवं सकलसर्वार्थप्रतिपत्तिप्रसक्तेः प्रतिनियतेऽर्थे ततः प्रवृत्तिर्न स्यादित्यभिधातव्यम्, प्रतिनियतसङ्केतवशात्तेषां प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वोपपत्तेः। एकस्यापि हि शब्दस्य देशादिभेदेन प्रतिनियतः संङ्केतोऽनुभूयते, यथा मालवकादौ कर्कटिकाशब्दस्य फलविशेषे, गुर्जरादौ तु योन्यामिति। दृश्यते च सर्वत्र रूपप्रकाशने योग्यस्यापि चक्षुषः प्रत्यासन्नतिमिरवशादसन्निहिते, दूरतिमिरवशाच्च सन्निहिते रूपे, विशिष्टाञ्जनादिवशात् अन्धकारान्तरितेऽपि ज्ञानजनकत्वम्, काचकामलादिवशाच्च निर्धक्षित रूपाभावेऽपीति। ततो यथा अनेकरूपप्रकाशनयोग्यस्यापि चक्षुषो दूरतिमिरादिप्रतिनियतसहकारिवशात् प्रतिनियतदूररूपादिज्ञानजनकत्वं तथा अनेकार्थप्रत्यायनयोग्यस्यापि शब्दस्य प्रतिनियतसङ्केतवशात् प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वमनिरुद्धम्।

अथ मतम्–चक्षुरादिवत् शब्दस्य अर्थे योग्यतालक्षणसम्बन्धसंभवे तद्वदेव अतः सङ्केतानपेक्षा अर्थप्रतीतिः स्यात्, तदप्यसङ्गतम्, तस्य ज्ञापकतया तत्सापेक्षस्यैव अर्थ-

(१) तुलना–'सर्वाकारपरिच्छेदयोग्यत्वे वाचकेऽपि वा। सर्वाकाराभिधानसमर्थे नियमः कृतः॥' –मी० श्लो० पृ० २०२। सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात् क्वचिद्देशे केनचिदर्थेन व्यवहारः। अत एव अनधिगतसम्बन्धे श्रुते सति सन्देहो भवति कमर्थं प्रत्याययितुमनेन शब्दः प्रयुक्तः स्यादिति। –न्यायमं० पृ० २४२। 'समयापेक्षणं चेह तत्क्षयोपशमं विना। तत्तत्त्वेन सतः योगिनां तु न विद्यते॥ सर्ववाचकभावत्वाच्छब्दानां चित्रशक्तितः। वाच्यस्य च तथान्यत्र नानास्य समयोऽपि हि॥' –शास्त्रवा० श्लो० ६६३-६४। 'तथा च सर्वे शब्दाः प्रायः सर्वार्थवाचकशक्तिमन्तः सर्वे चार्थाः सर्वशब्दवाच्यशक्तियुक्ता इति विचित्रक्षयोपशमादिसहकारियोगतः तथा तथा प्रवर्तन्ते इति न काचिद् बाधा' –अनेकान्तजय० पृ० ३६ A। सर्वस्य शब्दस्य सर्वार्थप्रतिपादनशक्तिवैचित्र्यसिद्धेः। पदार्थस्य च सर्वस्य सर्वशब्दवाच्यत्वशक्तिनानात्वात्। –अष्टसह० पृ० १४३। शब्दस्यानेकार्थप्रतिपादने नैसर्गिकशक्तिसद्भावेऽपि प्रतिनियतसङ्केतसामर्थ्यात् प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वोपपत्तेः। –स्या० र० पृ० ७०३। (२) शब्दात्। (३) शब्दानाम्। (४) तुलना– तथाहि–यवशब्दम् आर्या दीर्घशूके पदार्थे प्रयुञ्जते ते हि यवशब्देन दीर्घशूकं पदार्थं प्रतिपद्यन्ते म्लेच्छास्तु प्रियङ्गुं प्रतिपद्यन्ते। एवं पिलुशब्दमपि म्लेच्छा हस्तिनि प्रयुञ्जते आर्यास्तु वृक्षविशेषे। –न्यायवा० ता० पृ० ४२०। 'एकस्यापि हि शब्दस्य देशादिभेदेन प्रतिनियतः सङ्केतोऽनुभूयते यथा गुर्जरादौ चोरशब्दस्य तस्करे द्राविडादौ पुनरोदने इति। दृश्यते च सर्वत्र रूपप्रकाशने योग्यस्यापि चक्षुषः प्रत्यासन्नतिमिरवशादसन्निहिते दूरतिमिरसामर्थ्याच्च सन्निहिते रूपे विशिष्टाञ्जनादिवशादन्धकारान्तरितेऽपि ज्ञानजनकत्वम्, काचकामलादिदूषणवशाच्च विवक्षितरूपाभावेऽपीति। –स्या० र० पृ० ७०३। (५) 'एवं कर्कटीशब्दादयोऽपि तत्तद्देशापेक्षया योन्यादिवाचका ज्ञेयाः।' –स्या० म० पृ० १७८। (६) पीतरूपाभावेऽपि शङ्खे पीतज्ञानजनकत्वम्। (७) चक्षुर्वदेव। (८) शब्दात्। (९) शब्दस्य। तुलना– 'वाच्यवाचकलक्षणो हि शब्दार्थयोः प्रतिबन्धः तथाहि वाच्यस्वभावा अर्था वाचकस्वभावाश्च शब्दा इति तज्ज्ञस्तिवाद्यः। यत्त्वं

1 कथमर्थं श्र०। 2 मालवादौ व० श्र०। 3–शनयोग्य–श्र०। 4 अर्थस्य प्रती–श्र०।

प्रतीत्यङ्गतोपपत्तेः । यज्ज्ञापकं तत् ज्ञाप्ये प्रतिपन्नप्रतिबन्धमेव प्रतीतिमुत्पादयति यथा धूमादि, ज्ञापकश्च शब्द इति । चक्षुरादीनां तु कारकत्वात् युक्तं स्वार्थसम्बन्धग्रहणानपेक्षाणां तदुत्पादकत्वम् । स्वयं हि प्रतीयमानम् अप्रतीतार्थप्रतीतिहेतुर्ज्ञापकमुच्यते । तद्रूपता[1] च शब्दादेरेवास्ति न चक्षुरादेः, अतः स[2] एव प्रतिपन्नप्रतिबन्धः स्वार्थं गमयति । शक्तिस्तु स्वाभाविकी यथा रूपप्रकाशने चक्षुरादेः तथा अर्थप्रकाशने शब्दस्य ।

यदप्युक्तम्[3]–'अतोऽर्थासंस्पर्शिनः शब्दाः' इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, यतः[4] किमाप्तप्रणीतस्य शब्दस्य अर्थासंस्पर्शित्वं प्रसाध्यते, अनाप्तप्रणीतस्य, शब्दमात्रस्य वा ? तत्राद्यपक्षे प्रत्यक्षबाधा, आप्तप्रणीतात् 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इति वाक्यादतिरस्कृतबाह्यार्थप्रत्ययप्रतीतेः तेन[5] प्रवृत्तस्य तदर्थप्राप्तेः । अथाऽनाप्तप्रणीतस्य, तर्हि तस्यैव अर्थाऽसंस्पर्शित्वं युक्तं नान्यस्य, अन्यथा काचादिदोषोपदुष्टचक्षुःप्रभवप्रत्यक्षस्य अर्थासंस्पर्शित्वोपलम्भात् गुणवच्चक्षुःप्रभवप्रत्यक्षस्यापि तत्स्यात् ।

एतेन तृतीयविकल्पोऽपि प्रत्याख्यातः, आप्तानाप्तप्रणीतशब्दव्यतिरिक्तस्य शब्दमात्रस्याऽसंभवात् । ननु आप्तप्रणीताद् अङ्गुल्यादिवाक्याद् विपर्ययज्ञानोत्पत्तिप्रतीतेः शब्दस्यैव महिमा न वक्तृदोषाणाम्, इत्यप्यचर्चिताभिधानम्, आप्तैरेवंविधवाक्याऽप्रयोगात् ।

यत्तु–'आप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति' इत्याद्युक्तम्, तत्र निषेधपरत्वेनास्य यथार्थ-

कथन्न सङ्केतमन्तरेणव ततस्तदवगतिः ? उच्यते–तथाविधक्षयोपशमाभावात् । न हि रूपप्रकाशनस्वभावोऽपि दीपो मतिं चक्षुषि तत्प्रकाशयति, चक्षुःकल्पस्य क्षयोपशमः, स च सङ्केतनपश्चरणभावनादिजन्यस्तथोपलब्धः ।'–अनेकान्तजय० पृ० ३६ A । "शब्दस्य ज्ञापकत्वात् । ज्ञापकस्य धूमादेरेतद्रूपं यत्सम्बन्धग्रहणापेक्षं स्वज्ञाप्यज्ञापकत्वम् । तद्योग्यतादयस्तु प्रत्यक्षसामग्र्यन्तर्गतत्वान्न व्युत्पत्त्यपेक्षा भवन्ति । शक्तिस्तु नैसर्गिकी यथा रूपप्रकाशिनी दीपादेस्तथा शब्दस्यार्थप्रतिपादने ।"–न्यायम० पृ० २४१ । (१०) सङ्केतग्रहणसहितस्य ।

(१) ज्ञापकरूपता । (२) शब्दादिः । (३) पृ० ५३६ पं० १२ । (४) तुलना–'यत किमाप्तनिगदितशब्दस्यार्थासंस्पर्शित्वं '–स्या० र० पृ० ७०३ । (५) तुलना–'भवेदेतदेवं यदि न कश्चिदपि यथार्थं शब्दः प्रत्ययमुपजनयेत । अर्थासंस्पर्शित्वमेवास्य स्वभाव इत्यवगम्यते । भवति तु गुणवत्पुरुषभाषितान्नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति वाक्यादतिरस्कृतबाह्यार्थो यथार्थप्रत्ययः ततः प्रवृत्तस्य तदर्थप्राप्तेः ।'–न्यायम० पृ० १५८ । (६) आप्तोक्तशब्दात् । (७) शुक्ले शङ्खे पीताकारावभासिनः । (८) शुक्ले शङ्खे शुक्लत्वावभासकस्यापि । (९) अर्थासंस्पर्शित्वमतश्च मिथ्यात्वं स्यादिति भावः । (१०) अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इत्यादिवाक्यात् । (११) यत् तिरस्कृतबाह्यार्थप्रत्ययोत्पादकत्वम् । (१२) तुलना–'गुणवतामेवंविधवाक्योच्चारणव्यापाराभावात् ।'–न्यायमं० पृ० १५८ । "आप्तरेवंविधवाक्यस्याप्रयुक्तेः "–स्या० र० पृ० ७०४ । (१३) पृ० ५३७ पं० ११ । (१४) तुलना–'यत्तु आप्तोऽपि कश्चिदनुशास्ति मा भवाननृताय वाक्यं वादीः अङ्गुल्यग्रे करिघटाशतमास्ते' इति तत्र इतिकरणावच्छिन्नस्य दृष्टान्ततया शब्दपरत्वेनोपादानात् प्रतिषेधकवाक्यतया यथार्थत्वमेव । अर्थपरत्वे तु निषेधकवाक्यतैव न स्यादिति । तस्मादाप्तवाक्यानामयथार्थत्वाभावान्न स्वतोऽर्थासंस्पर्शित्वं शब्दानां पुरुषदोषानुषङ्गकृत एवायं विप्लवः ।–न्यायमं० पृ० १५८ । स्या० र० पृ० ७०४ । (१५) अङ्गुल्यादिवाक्यप्रयोगनिषेधकस्य आप्तोपदेशस्य ।

1 अतस्तदेव ब०, ब० । 2–ऽप्रतीते प्रवृत्तस्य आ० । 3–प्रवृत्ताव ब०, श्र० ।

तैव, वाक्यैकदेशस्यापि उदाहरणनिरूक्षायाम् इतिकरणावच्छिन्नस्य शब्दपरत्वेनोपादानात् प्रतिषेधैकवाक्यतया यथार्थतैव । अर्थपरत्वे निषेधेनैकवाक्यतैव न स्यात् । तस्माद् आप्तप्रणीतशब्दानामयथार्थत्वाभावान्न स्वतोऽर्थासंस्पर्शिनः शब्दाः, किन्तु पुरुषदोषवशात् ।

न चाप्तैरेवंविधवाक्याप्रयोगेऽपि सन्दिग्धो व्यतिरेकः 'किं शब्दाभावादयथार्थज्ञानानुत्पत्तिः, वक्तृदोषाभावाद्वा', इत्यप्यविचरितरमणीयम्, अनुच्चारितशब्दस्यापि कोपवतः पुरुषस्य हस्तसंज्ञादिना प्रतारकत्वप्रतीतेः । न च हस्तसंज्ञादिना शब्दानुमानं ततो वितथप्रत्ययः इत्यभिधातव्यम्, तथाप्रतीत्यभावात् । नद्यादिवाक्यादुत्पन्ने च कस्मिंश्चिद्विज्ञाने तरङ्गिणीतीरमनुसरन् अनासादितफलः पुरुषः पुरुषमेवाधिक्षिपति 'दुरात्मनाऽनेन विप्रलब्धोऽस्मि' इति, न शब्दम् । ननु पुरुषस्य गुणवतो दोषवतो वा शब्दोच्चारणमात्र एव व्यापारः, अर्थप्रतिपत्तिस्तु शब्दनिबन्धनैवेति तद्विपर्यये शब्दस्यैव व्यापारो न वक्तृदोषाणाम्, इत्यप्ययुक्तम् यतो गुणवद्वक्तृप्रणीतात् 'तरङ्गिणीतीरे फलानि सन्ति' इति वाक्यात् सत्यप्रत्ययोदयेऽप्येवं शब्दस्यैव व्यापारः स्यात् तद्वक्तुः तदुच्चारणमात्रे चरितार्थत्वात् । अतः कथमेकान्ततः शब्दस्याऽर्थासंस्पर्शित्वमेव स्वरूपं स्यात् ?

किञ्च, विपर्ययज्ञानोत्पत्तेर्यावद्भिः सह तद्भावभावित्वमवगम्यते तावतां तत्र व्यापारः, सा चात्र शब्दोच्चारणे सत्यपि अनाप्तयोगिता विना न दृष्टेति शब्दवत्तदाशयस्यापि तत्र व्यापारः ।

किञ्च, चक्षुरादिवदर्थप्रकाशकत्वमात्रं शब्दस्य स्वरूपं न पुनः यथार्थप्रकाशक-

(१) अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति वाक्यस्य एकदेशः अङ्गुल्यग्रे इत्यादिरूपः । (२) तुलना– अनुच्चरितशब्दोऽपि पुरुषो विप्रलम्भकः । हस्तसंज्ञाद्युपायेन जनयत्येव विप्लवम् ॥ –न्यायमं० पृ० १५८ । स्या० र० पृ० ७०४ । (३) तुलना– इत्थमप्रतीतेः । उत्पन्ने च कस्मिंश्चिद्वाक्याद्विज्ञाने तरङ्गिणीतीरमनुसरन्ननासादितफलः प्रवृत्तबाधकप्रत्ययः पुरुषमेवाधिक्षिपति धिग् हा तेन दुरात्मना विप्रलब्धोऽस्मि इति न शब्दम् पाप्तफलश्च पुंसामेव श्लाघते साधु साधुना तेनोपदिष्टमित्यतः पुरुषदोषान्वयानुविधानात्तत्प्रभावकृत एव आप्तेषु तूष्णीमासीनेषु विभ्रमानुत्पाद इति न सन्दिग्धो व्यतिरेकः । पुरुषदोषकृत एव शब्दाद्विप्लवो न स्वरूपनिबन्धनः । –न्यायमं० पृ० १५८ । स्या० र० पृ० ७०४ । (४) अयथाप्रतीतिविषयः । (५) तुलना– हन्त तर्हि वक्तरि गुणवति सति सरितस्तीरे फलानि सन्तीति सम्यक्प्रत्ययेऽपि शब्दस्यैव व्यापारात् पुरुषस्य उच्चारणमात्र चरितार्थत्वादेकान्ततः शब्दस्यार्थासंस्पर्शित्वमेव स्वभावः । –न्यायमं० पृ० १५६ । (६) कार्यकारणभावः । (७) विपर्ययज्ञानोत्पत्तिः । (८) अनाप्ताभिप्रायस्य । (९) विपर्ययज्ञानोत्पत्तौ व्यापारः । तुलना–स्या० र० पृ० ४०७ । (१०) तुलना– युक्तमुच्यते यत दीपवत् प्रकाशत्वमात्रमेव शब्दस्य स्वरूपं न यथार्थत्वमयाथार्थत्वं वा, विपरीतेऽप्यर्थे दीपस्य प्रकाशत्वानतिवृत्तेः । अयं तु विशेषः–प्रदीपे व्युत्पत्तिनिरपेक्षमेव प्रकाशकत्वं शब्दे व्युत्पत्त्यपेक्षमिति । प्रकाशात्मनस्तु शब्दस्य वक्तृगुणदोषाधीने यथार्थेतरत्वे । अत एव अङ्गुलिशिखराधिकरणकरेणुशतवचसि बाधितेऽपि पुनः पुनरुच्यमाने भवति विभ्रमः प्रकाशकत्वं तद्रूपानपायात् न स्वयं शब्दस्य दोषः । पदार्थानां तु संसर्गमसमीक्ष्य प्रजल्पन् । वक्तुरेव प्रमादोऽयं न शब्दोऽपराध्यति । –न्यायमं० पृ० १५९ । स्या० र० पृ० ७०४ ।

1–मेव रूप श्र० । 2 किञ्चक्षुरा–ब० । 3 शब्दस्वरूपं श्र० । 4 यथार्थप्रकाश–आ० ।

त्वमयथार्थप्रकाशकत्व वा, तस्य[1] गुणदोषनिबन्धनत्वात्। सति हि नैर्मल्यादिगुणे चक्षुर्यथावद्वस्तु प्रकाशयति काचादिदोषे तु सति अयथावत्, एव शब्दोऽपि वक्तृगुणदोषापेक्ष सत्येतररूप वस्तु प्रकाशयति। अत एव अङ्गुलिशिखराधिकरणकरेणुशतं[2]वचसि बाध्यमानेऽपि पुन पुनरुच्चार्यमाणे भवति भ्रान्ति प्रकाशकत्वस्य तत्स्वरूपस्य[3] बाधकशतोपनिपातेऽप्यनपायात्।

यच्चान्यदुक्तम्[4]–'नेन्द्रियवदुदास्ते' इति, तदप्युक्तिमात्रम्, बाधकप्रत्ययप्रवृत्तावपीन्द्रियस्य चन्द्रद्वयविषयमिथ्याज्ञानजनकत्वप्रतीते। न च तत्प्रवृत्तौ[5] तत्[6] तद्विषय[7] विज्ञान नोत्पादयतीत्यभिधातव्यम्, प्रतीतिनिरोधात्।

यदप्युक्तम्[8]–'विकल्पयोनय शब्दा' इत्यादि, तत् सविकल्पकसिद्धौ[9] कृतोत्तरत्वादुपेक्षते। तत प्रमाण शब्द अर्थोपलब्धिनिमित्तत्वात् प्रत्यक्षादिवत्, स्वपरपक्षसाधनदूषणसमर्थत्वाच्च सम्यग्ज्ञानवत्, तथा सकलतत्त्वविप्रतिपत्तिनिवृत्तिनिमित्तत्वात् योगिज्ञानवत्। न खलु देशकालस्वभावविप्रकृष्टाऽखिलार्थाना[10] शब्दादन्यतो विप्रतिपत्तिनिवृत्ति सभवति तदुपायान्तराऽसभवात्[11]। लिङ्ग तदुपायान्तर[12] सभवतीति चेत्, न, तदर्थेति[13]नद्धलिङ्गस्य कस्यचिदप्यप्रतिपत्ते। ततो योग्यतालक्षणसम्बन्धात् शब्दस्यैव तत्र[14] प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यमिति ॥ छ ॥

'शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धसमन्वान्नास्ति पुरुषकृत सङ्केत' इति मीमासकस्य पूर्वपक्ष

नन्वस्तु शब्दस्यार्थे सम्बन्ध, स तु अनित्य, नित्यो वा स्यात्? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्न, अनित्यस्य सम्बन्धस्य कर्तुमशक्यत्वात्। समयो हि क्रियमाण प्रतिपुरुषम्, प्रतिशब्दम्, प्रत्यर्थं सर्गादौ सकृदेव क्रियते प्रकारान्तरासभवात्। उक्तञ्च–

''समय प्रतिमर्त्यं वा प्रत्युच्चारणमेव वा।
क्रियेत जगदादौ वा सकृदकेन केनचित्[15] ॥''
[मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० १३]

प्रथमपक्षे पुरुषेण प्रतिपुरुष सम्बन्ध क्रियमाण किमेक क्रियते, अनेको वा?

(१) यथायथायथार्थप्रकाशकत्वस्य। (२) अङ्गुल्यग्रे हस्तिशतमास्ते इतिवचने। (३) शब्द स्वरूपस्य। (४) पृ० ५३७ प० १४। (५) बाधकप्रत्ययप्रवृत्तौ। (६) इन्द्रियम्–आ० टि०। (७) चन्द्रविषयम्–आ० टि०। (८) प० ५३७ प० १६। (९) पृ० ४७। (१०) मेरुपर्वतरामरावणापरमाण्वादीनाम्। (११) विप्रकृष्टार्थप्रतिपत्तिसाधनम्। (१२) देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थ–आ० टि०। (१३) विप्रकृष्टार्थे। (१४) एतावताऽत्र भङ्ग्या क्रम उक्त–आ० टि०। (१५) व्याख्या–इयमस्य सङ्गति समय, स प्रत्यर्थं प्रतिपुरुष वा क्रियेत प्रतिपुरुषमेव प्रत्युच्चारण प्रतिप्रयोग वा। अथवा जगदादौ जगत सृष्टिकाले केनचित् ईश्वरादिना धात्रा सङ्केत एकधैव हेल्या क्रियतेति त्रयो विकल्पा।'–तत्त्वस० प० पृ० ६२२। उद्धृतोयम्–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३०। तत्त्वस० प० ६२२। जनतर्कवा० पृ० ३१।

येनेर, कथं कृतेर्वे ? पूर्वमप्यस्य सद्भावतोऽकृतकत्वप्रसिद्धेः । नहि सतो वस्तुनः पुनःकरणं युक्तम्, अभिव्यक्तेरेवं तत्करणोपपत्तेः । अथाकृतः, कथमेकार्थमङ्गतिः ? यथा गोशब्दस्य सास्नादिमदर्थे केसरादिमत्यश्वाद्यर्थे ।

किञ्च, प्रतिपुरुषं सम्बन्धकरणं विधेयं स्यात्, यद्वा ? सकृत् , सकृत्करणे च अन्यव्यवस्थितानां कथं समयं विदध्यात् ? यत्र यत्र गत्वाऽसौ करोतीति चेत्, तर्हि पुरुषान्तराणामपि तत्करणानुपपत्तिः तेषामानन्त्यात् । अथैक एव सिद्धैः प्रतिपुरुषं समयं करोति, ते च पुनः समयान् अन्येषां करिष्यन्ति, तेऽप्यन्येषाम्, इत्येवं सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्त्स्यते, तन्न, तेषां प्रयोजनाभावतः सर्वत्र गमनानुपपत्तेः, अतो यत्रैव ते न गच्छन्ति तत्र व्यवहारो न प्राप्नोति । अथ सकृत् समयस्य करणम् , तर्हि सम्बन्धज्ञानेऽपि उत्पन्नानां समयस्य न प्राप्नोति, तस्य निमित्ताभावात् । न चैते सर्वे सम्भूय पर्यालोच्य वा एकमेव समयं कुर्वन्तीत्यभिधातव्यम्, परस्परानपेक्षाणां स्वातन्त्र्येण समयं कुर्वतां तथा तत्करणानुपपत्तेः ।

प्रतिशब्दमपि उच्चार्य समयं क्रियते, अनुच्चार्य वा ? न तावदनुच्चार्य, अस्य निराश्रयत्वप्रसङ्गात् । न च निराश्रयः सम्बन्धो युक्तः अतिप्रसङ्गात् । नापि उच्चार्य, पुरुषायुषेणापि तेषां सम्बन्धस्य कर्तुमशक्यत्वात् ।

किञ्च, प्रतिशब्दमुच्चार्य अभिनवः सम्बन्धो विधीयते, प्राक्तनो वा ? अभिनवस्य विधाने कथमस्य अर्थप्रत्यायनसामर्थ्यावगतिः ? तेनावगतौ च सम्बन्धकरणानुपपत्तिः । प्राक्तनस्य तु पूर्वमपि सत्त्वात् करणानुपपत्तिः । सतस्तस्य हि वस्तुनो ज्ञप्तिरेव अस्वरूपावगते न तूत्पत्तिः ।

नापि प्रत्यर्थं सम्बन्धः कर्तुं शक्यः, अर्थानामानन्त्यात् विप्रकृष्टत्वाच्च । सम्बन्धा

(१) प्रत्यक्षं चापि सम्बन्धो निर्वर्तकं यथा भवेत् । तत्रैवं कृतको न स्यात् भिन्नत्वेऽपि भवेत् ॥ एकस्य तावत्कृतत्वं न स्यात् स हि एकस्य बहुभिः क्रियां संभवनीयाह तदर्थं इति । –मी० श्लो० सम्ब० श्लो० १४ । एकस्याभिन्नकार्यत्वेनानुपपन्नत्वात्कृतको न स्यात् नित्य एव स्यादिति यावत् । –तत्त्वसं० प० पृ० ६२२ । (२) गमनैककार्यत्वाविनाभूतत्वात् तत्करणस्य तत्त्व क्रियमाणस्य विनाशिनि–आ० टि० । (३) सम्बन्धस्य । (४) पुरुषान्तरानागतात् । (५) यथाऽस्मिन्नेवास्तामितिगमात् एवं सर्वेषु दुर्गमेष्वपि । बहवः सम्बन्धारः कथं संगंस्यन्ते ? एको न शक्नुयात् । अतो नास्ति सम्बन्धस्य कर्ता । –शाबरभा० १।१।५ । (६) सङ्केतकरणानुपपत्तिः । (७) पुरुषान्तराणाम् । (८) समयम् । (९) अन्यपुरुषाणाम् । (१०) सङ्केतस्य एककरणासामर्थ्याम् । बहुभिः कृतसम्बन्धे न चैको समतो भवेत् । –मी० श्लो० पृ० ६४४ । (११) समुच्चयोऽपि नैतेषां व्यवहारेऽवगम्यते । –मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० १७ । (१२) पुरुषाणाम् । (१३) मिलित्वा सङ्केतकरणप्रयोजनाभावात् । (१४) सङ्केतस्य । (१५) प्रतिशब्दमनुच्चार्य उच्चार्य । (१६) तुलना– 'प्रत्युच्चारणं क्रियते एव नियतं नूतनो वा ? नवस्य तावदप्रमाणस्य कथमर्थप्रत्यायनसामर्थ्यमवगम्यते तदवगतौ वा किं तत्करणेन ? पूर्वकस्य तत्कृतत्वात् पुनः करणमनुपपन्नम् । एकस्य वस्तुनो ज्ञप्तिरसहाय्यवगते नोत्पत्तिः । –न्यायमं० पृ० २४२ । 'प्रत्युच्चारणनिर्वृत्तिर्न युक्ता यदनारतं । –तत्त्वसं० का० २२७४ । (१७) नूतनसङ्केतस्य । (१८) अभिनवसङ्केतस्य अर्थप्रत्यायनशक्तिपरिज्ञानाभावे । (१९) सङ्केतस्य । (२०) पुनः पुनः । (२१) विप्रकृष्टदेशार्थवित्वात् ।

1 इत श्र० । 2 केशरा–आ० । 3 करोतीति ते च आ० । 4–च्चार्य निरा–श्र० । 5 कारणानुप–आ० ।

यदपि सङ्केतसम्बन्धकरणमयुक्तम्, तत्राखिलवाच्यवाचकानां सङ्केतसम्भवाभावात्। शब्दार्थव्यवहारविरहितस्य कालस्य चाऽसम्भवात्। अतो नित्य एव शब्दार्थयोः सम्बन्धोऽभ्युपगन्तव्यः।

तत्प्रतीतिश्च प्रमाणत्रयसम्पाद्या, तथाहि—यदैकोऽन्यस्मै प्रतिपन्नसङ्केताय प्रतिपादयति 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' इति, तदा पार्श्वस्थोऽन्योऽव्युत्पन्नसङ्केतः शब्दार्थौ प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, श्रोतुश्च तद्विषयक्षेपणादिचेष्टोपलम्भादनुमानतो गवादिविषयां प्रतिपत्तिं प्रतिपद्यते, तत्प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या च शब्दस्यैव तत्र वाचिकां शक्तिं परिकल्पयतीति। उक्तञ्च—

"शब्दवृद्धाभिधेयानि प्रत्यक्षेणात्र पश्यति।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया॥
अन्यथानुपपत्त्या तु वेत्ति शक्तिं द्वयाश्रिताम्।" [मी०श्लो०सम्बन्धा०श्लो० ४१] इति।

---

(१) 'न हि सम्बन्धव्यतिरिक्तः कश्चित्कालोऽस्ति, यस्मिन्न कश्चिदपि शब्दः केनचिदप्यर्थेन सम्बद्ध आसीत्।'—शाबरभा० १।१।५। "सर्गादौ हि क्रिया नास्ति तादृक्कालो हि नेष्यते।"—मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० ४२। शास्त्रदी० पृ० ४१८। तत्त्वसं० पृ० ६२७। न्यायम० पृ० २४२। (२) "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः"—जैमिनिसू० १।१।५। "औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः। उत्पत्तिर्हि भाव उच्यते लक्षणया। अवियुक्तः शब्दार्थयोर्भावः सम्बन्धः।"—शाबरभा० १।१।५। 'अपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः"—शाबरभा० १।१।५। पृ० ४१। "अपौरुषेयसम्बन्धे शब्दे प्रामाण्यमृच्छति।"—प्रक० प० पृ० १६१। "नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः"—वाक्यप० १।२३। (३) प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तिरूपं प्रमाणत्रयम्। (४) शब्दं श्रावणप्रत्यक्षेण अर्थञ्च चाक्षुषप्रत्यक्षेण प्रतिपद्यते। (५) गवादिविषयाम्। (६) देवदत्तस्य श्रोतुः देवदत्त गामभ्याजेति वाक्यात् गोक्षेपणविषयिणी प्रतीतिर्जाता तद्वाक्यश्रवणानन्तरमेव गोक्षेपणचेष्टान्यथानुपपत्तेः। (७) देवदत्त गामभ्याजेति वाक्ये गवादिविषयकक्षेपणार्थवाचिका शक्तिरस्ति तदन्यथा तत्प्रतीत्यन्यथानुपपत्तेः। (८) गोविषयकक्षेपणार्थे। (९) 'शब्दवृद्धाभिधेयांश्च'—मी० श्लो०, प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२२८। न्यायमं० पृ० २४५। 'प्रत्यक्षेणैव'—स्या० र० पृ० ६७७। (१०) "अन्यथानुपपत्त्या च बुद्ध्येच्छक्तिं द्वयाश्रिताम्। अर्थापत्त्यावबुद्ध्यन्ते सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम्॥"—मी० श्लो० पृ० ६८०। प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२२८। 'वेत्ति शक्तिं द्वयाश्रिताम्'—न्यायमं० पृ० २४५। व्याख्या—'शब्दवृद्धाभिधेयानि' सम्बन्धप्रतिपत्तेर्न्यायं कुमारिलेन वर्णितः—यस्मात् प्रथमं तावत् प्रत्यक्षेण शब्दं वृद्धं च शब्दस्योच्चारयितारम् अभिधेयञ्च वाच्यं वस्तु पश्यति, ततः पश्चादनुमानेन चेष्टालक्षणेन लिङ्गेन श्रोतुः प्रतिपन्नत्वं पश्यति अवधारयतीत्यर्थः। करणं कारकं कृत्वा चेष्टाया अनुमानत्वमुक्तम्। ततश्च पश्चादर्थापत्त्या द्वयाश्रितां शब्दार्थाश्रितां शक्तिं वेत्ति। अर्थापत्त्या तु सामर्थ्यादवबुध्यन्त इत्यतोऽर्थापत्त्यावबुध्यन्त इत्युक्तम्।'—तत्त्वसं० पं० पृ० ७०६। "वृद्धानां स्वार्थे शब्दान् व्यवहरमाणानामुपशृण्वन्तो बालाः प्रत्यक्षमर्थं प्रतिपद्यमाना दृश्यन्ते।"—शाबरभा० १।१।५। पृ० ५६। 'किञ्चास्त्युपायो बालानाम्, नावश्यं सम्बन्धवचनवाक्येनैव वृद्धेभ्यो बालाः सम्बन्धं प्रतिपद्यन्ते किन्तु यदा वृद्धाः प्रसिद्धसम्बन्धाः स्वकार्यार्थेन व्यवहरन्ति तदा तदामुपशृण्वन्तो बालाः सम्बन्धं प्रतिपद्यन्ते। यदा हि केनचित् 'गामानय' इत्युक्तः कश्चित् सास्नादिमन्तमानयति तदा समीपस्थो बालोऽवगच्छति—अस्मादय

---

1 सङ्केतसम्भवाभावात् आ०, सङ्केतसम्भवात् ब०। 2–विकल्पस्य च का–आ०। 3 तद्विषयक्षेपणा–ब०। 4 प्रतिपत्त्युत्पादने ब०। 5 तु आ०, ब०।

रूप हि वस्तु यदि व्यक्त तदा सर्वदा व्यक्तमेव अभिन्नस्वभावत्वात्तस्य ।

किञ्च, सङ्केत पुरुषाश्रय, स च अतीन्द्रियार्थज्ञानविकलतया अन्यथापि वेदे सङ्केत कुर्यात् अतो मिथ्यात्वलक्षणमस्याऽप्रामाण्य स्यात् ।

किञ्च, नित्यसम्बन्धवशात् शब्द एकार्थनियत, अनेकार्थनियतो वा स्यात् ? एकार्थनियतश्चेत्, किमेकदेशेन, सर्वात्मना वा ? सर्वात्मनैकार्थनियमे अर्थान्तरे वेदात् प्रतिपत्तिर्न स्यात्, ततश्चास्याज्ञानलक्षणमप्रामाण्यम् । चोरशब्दो वा नित्यसम्बन्धात् तस्करे रूढ कथ दाक्षिण्यै ओदने प्रयुक्त तमभिदध्यात् । अथैकदेशेनासौ तन्नियत, स किमेकदेश अभिमतैकार्थनियत, अनभिमतैकार्थनियतो वा ? अनभिमतैकार्थनियमे मिथ्यात्वलक्षण वेदस्याऽप्रामाण्य स्यात् । अथाऽभिमतैकार्थनियत, किं पुरुषात्, स्वभावाद्वा ? प्रथमपक्षे अस्यापौरुषेयत्वसमर्थनप्रयासो व्यर्थ । पुरुषो हि रागाद्यन्ध-

(१) नित्यकरूपस्य सम्बन्धस्य । (२) तुलना–"अयज्ञापनहेतुर्हि सङ्केत पुरुषाश्रय । गिराम पौरुषेयत्वेऽप्यतो मिथ्यात्वसभव ॥ किं ह्यस्यापौरुषेयतया ? यतो हि समयादर्थप्रतिपत्ति, स पौरुषेय वितथार्थोऽपि स्यात्, शील साधन स्वर्गवचनम्, अन्यथा समयेन विपर्यासयेत् तेनायथार्थमपि प्रकाशनसभवात् ।'–प्रमाणवा० स्वव० १।२२८ । "सङ्केतमन्तरेणापौरुषेयादपि वाक्यादर्थप्रतीतेरभावात् । अर्थज्ञापनहेतुरिह सङ्केत स्वीकर्तव्य, स च पुरुषकृतत्वात्पुरुषाश्रय । अत सङ्केतस्य पुरुषाश्रयत्वात् गिराम पौरुषेयत्वेऽपि मिथ्यात्वस्य सम्भव । सङ्केतवशात् वाचोऽर्थ ब्रुवते । स च दोषाश्रयेण पुरुषेण क्रियत इति तासा न विसवादशङ्कानिरास पौरुषेयवाक्यवदिति व्यर्थमपौरुषेयत्वकल्पनम् ।"–प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२६ । "अर्थद्योतनहेतोश्च सङ्केतस्य नराश्रयात् । शक्ताविनरजन्यायामपि मिथ्यात्वसभव ॥"–तत्त्वस० पृ० ७१० । प्रमेयक० पृ० ४३० । (३) पुरुष । (४) वेदस्य । (५) तुलना–"किञ्च वाचा किमेकेनार्थेन सह वाच्यवाचकसम्बन्ध, अथानेक ? गिरामेकार्थनियमे न स्यादर्थान्तरे गति । अनेकार्थाभिसम्बन्धे विरुद्धव्यक्तिसभव ॥ गिरामेकस्मिन्नर्थे वाचकतया नियमे सति सङ्केतवशादन्यत्रार्थे न स्याद् गति, दृश्यते च विवक्षातोऽनेकार्थाभिधानम् । अनेकार्थैर्वाचकत्वाभिसम्बन्धे विरुद्धस्यार्थस्य व्यक्ते प्रतीते सभव स्यात् । अग्निष्टोम स्वर्गस्य साधनमिति विपर्ययोऽप्यवसीयेत । ततश्चाप्रवृत्तिरेव स्यात् स्वर्गार्थिन ।"–प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२८ । "सा शक्तिरेकार्थनियता वा भवेन्नानार्थनियता वा ।"–तत्त्वस० प० पृ० ७१० । प्रमेयक० पृ० ४३० । 'यदि पुन शब्दस्य वस्तुनि स्वत एव योग्यत्व को दोषो येन सङ्केतस्तत्रापेक्ष्यत ? इति चेदुच्यते–तत्सर्वविषय नियतविषय वा ? पूर्वविकल्पे ततो युगपत्सर्वार्थप्रतीतिप्रसङ्गात् तथा च न तत नियतविषयप्रवृत्त्यादिरिति व्यवहारविलोप । तत आह–न सर्वयोग्यता साध्वी सङ्केतान्नियमो यदि । द्वितीयविकल्पे दोषमाह –सम्बन्धनियमेऽन्यत्र सङ्केतेऽपि न वर्तताम् ॥"–न्यायवि० का० ४३१ । (६) वेदस्य । (७) 'चोरशब्दो (यथा) लोके भक्ष्यार्थ प्रतिपादयेत् । केषाञ्चिच्चोरमेवाहु तथैवान्येऽपि पदास्तथा ॥'–ज्ञानसि० पृ० ७५। "यथा चौरशब्दस्तस्करवचन ओदने दाक्षिणात्यै प्रयुज्यते ।"–न्यायम० पृ० २४२ । प्रमा० क० पृ० २१५ । (८) एकदेशार्थनियत । तुलना–"य एवार्थो वस्तुस्थित्या स्वर्गसाधन किन्तत्रैव समयकारेणाग्निहोत्रादिशब्दोऽभिव्यक्त किम्वाऽपरस्मिन्नपि स्वर्गसाधनविरुद्धे बुद्धिमान्द्यादिति सन्देह एव ।'–प्रमाणवा० स्वव० टी० १।२३० ।(१०) वेदस्य । तुलना– 'स इति शब्द सर्वस्मिन् वाचकत्वेनानियत नियम क्वचिदर्थे पुरुषात् पुरुषसङ्केतात् प्रतिपद्यते । स च पुरुषो विरुद्धेऽप्यर्थे सङ्केत कुर्यात् । तथा च न केवल विरुद्धव्यक्तिसभव । यापीयमपौरुषेयता वेदस्येष्टा तस्या व्यर्था स्यात् परिकल्पना । –प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३० । 'अथानेका

1 ततश्चाज्ञानल–आ० । 2 उदने आ० ।

स्यात्[1] प्रतिक्षिप्यते तस्माच्चेद् वेदैकदेशोऽर्थनियमं प्रतिपद्येत किमपौरुषेयत्वेन ? स्वभावाऽभिमतैकार्थनियमे[2] तु भावनाद्यर्थभेदानुपपत्तिः[3]। अनेकार्थनियतत्वे[4] तु वेदस्य सकलार्थसाधारणत्वात् कथमिष्टव्यक्तावेव समयकारः समयं कुर्यात् ?

"तेनाऽग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति श्रुतौ[5]।
खादेत् श्वमांसमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमा[6] ॥" [प्रमाणवा० ३।३१८]

तन्न स्वरूपतः सम्बन्धो नित्यः।

नापि सम्बन्धिनित्यत्वात्[7], यतः कोऽत्र नित्यः सम्बन्धी–शब्दः, अर्थः, द्वयं वा ? न तावच्छब्दः, तस्य[8]ाग्रेऽनित्यत्वप्रसाधनात्। नाप्यर्थः, घटादेस्तदर्थस्य[9] अनित्यतया प्रत्यक्षादितः प्रतीतेः। अथ सामान्यं तदर्थः[10], तच्च नित्यम्, अतस्तदाश्रितः[11] सम्बन्धोऽपि नित्य इत्युच्यते, तदसत्; सामान्यस्य तदर्थत्वानुपपत्तेः, तद्वानेव[12] शब्दार्थ इत्यग्रे समर्थयिष्यमाणत्वात्, परपरिकल्पितसामान्यस्य[13] निषिद्धत्वाच्च[14]। उभयपक्षोऽपि उभयपक्षनिक्षिप्तदोषानुषङ्गादयुक्तः।

पाभिधाय्यपि शब्दः पुरुषेण सङ्केतेनाभिमतार्थाभिधायित्वेन नियम्यते तदा–अपौरुषेयतायाश्च व्यर्था स्यात्परिकल्पना। वाच्यश्च हेतुभिन्नात्मा सम्बन्धस्य व्यवस्थिते ॥ –प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२९।

(१) तुलना– असंस्कार्यतया पुम्भिः सर्वथा स्यान्निरर्थता। संस्कारोपगमे मुख्यं गजस्नानमिदं भवेत् ॥ –प्रमाणवा० ३।२३०। प्रमेयक० पृ० ४३०। (२) तुलना– प्रकृत्यैव स्वभावेनैव वैदिकाः शब्दा नियता अभिमतेऽर्थे ततो न पुरुषसंस्कारकृतो दोष इति चेत् एवं सत्यर्थप्रकाशने नोपदेशमपेक्षेरन् अपेक्षन्ते च, स्वतस्तेभ्योऽर्थप्रतीतेरभावात्। यदि च ते स्वभावत एव प्रतिनियताः स्युः तदा यत्र क्वचिदर्थे एकदा समिताः पुनः कथञ्चित् ततोऽन्यथा सङ्केतेनार्थान्तरं न प्रकाशयेयुः प्रकाशयन्ति च तस्मान्न प्रकृत्यैवार्थनियता इति। स्वभावतश्चैकार्थनियमे योऽयं वैदिकेषु वाक्येषु व्याख्यातॄणां व्याख्याविकल्पश्च अपरापरव्याख्याभेदश्च न स्यात् एकार्थप्रतिनियमात् भवति च तस्मात् पौरुषेयवाक्यवन्नैकार्थनियता वैदिकाः शब्दा इति। –प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।२३०। (३) भावनाविधिनियोगरूपेण भाट्टवेदान्तिप्राभाकराणां मन्त्रार्थविषये व्याख्याभेदो न स्यादिति भावः। (४) तुलना– सर्वत्र योग्यस्यैकार्थयोगेन नियमः कुतः। –प्रमाणवा० ३।३२६। नानार्थयोजनेऽभिव्यक्तिभवत्यर्थस्य हि ध्वनेः। नाग्निहोत्रादयस्स्वर्गा सर्वे सर्वोपयोगिनः। तदिष्टविपरीतार्थद्योतनस्यापि सम्भवात्। नियमार्थसम्बन्धकल्पना वो निरर्थिका ॥' –तत्त्वसं० पृ० ७११। (५) 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' –मैत्र्यु० ६।३६। (६) व्याख्या– तेनेति अपरिज्ञातार्थत्वेन अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति श्रुतौ वेदवाक्ये खादेच्छ्वमांसमित्येष नार्थो विवक्षयाऽभिमतोऽयम् इत्यत्र का प्रमा ? नैव किञ्चित्प्रमाणम्।' –प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।३२०। 'अग्निं इन्धीति अग्निः श्वा तस्योत्रं मांसं जुहुयात् खादेत्। अथवा अगनि गच्छतीत्यग्निः श्वा हूयतेऽदन् यत्तत् होत्रं मांसम् अग्नेर्होत्रमित्यग्निहोत्रं श्वमांसं तज्जुहुयात् खादेत् स्वर्गकामः पुमान् द्विजः।' –प्रमेयरत्नमा० टि० पृ० १३४। उद्धृतोऽयम्–शास्त्रवा० श्लो० ६०५। न्यायम० पृ० ४०५। मदिमल्प० पृ० १९। (७) तुलना– सम्बन्धिनामनित्यत्वान्न सम्बन्धोऽस्ति नित्यता। –प्रमाणवा० ३।२३१। (८) शब्दस्य (९) सम्बन्धविषयभूतस्य अर्थस्य। (१०) शब्दार्थ–आ० टि०। (११) सामान्याश्रितः। (१२) सामान्यवानेव। (१३) मीमांसकनैयायिकादि। (१४) पृ० २८५।

---

1 नित्यसम्बन्धी आ०। 2–स्यात् उभ–ब०।

अस्तु वा कुतश्चिन्नित्य सम्बन्ध, तथाप्यसौ किमैन्द्रिय, अतीन्द्रिय, अनुमानगम्यो वा स्यात्[1]? नतावदैन्द्रिय, नित्यस्वभावस्य[3] क्वचिदपीन्द्रियेऽप्रतिभासमानत्वात्। अथातीन्द्रिय, कथमर्थप्रतिपत्त्यङ्गम् अज्ञातस्य ज्ञापकत्वविरोधात्? "नाज्ञात ज्ञापक नाम" [ ] इत्यभिधानात्। सन्निधिमात्रेण ज्ञापकत्वेऽतिप्रसङ्गात्। नाप्यनुमानगम्य, सम्बन्धस्याप्रत्यक्षत्वे तत्पूर्वकत्वेनात्राऽनुमानस्याऽप्रवृत्ते। न ह्यगृहीतप्रतिबन्ध किञ्चिल्लिङ्गमनुमानमाविर्भावयत्यतिप्रसङ्गात्। अथास्याप्रत्यक्षत्वेऽपि अनुमानात् प्रतिबन्धग्रहो भविष्यति, ननु किमत एवाऽनुमानात्, तदन्तराद्वा तद्ग्रह[11] स्यात्? यद्यत एव, अन्योन्याश्रय –सिद्धे हि अनुमाने तद्ग्रहसिद्धि, तत्सिद्धेश्चानुमानसिद्धिरिति। अनुमानान्तरात्[12]तत्सिद्धौ अनवस्था, तत्रापि[13] तद्ग्रहस्य अनुमानान्तरात् प्रसिद्धे। न चात्र किञ्चिल्लिङ्गमस्ति।

नित्यसम्बन्धस्य हि लिङ्गम्[15]–अर्थज्ञानम्, अर्थ, शब्दो वा? न तावदर्थज्ञानम्, सम्बन्धासिद्धौ तत्कार्यत्वेनास्याऽनिश्चयात्। नाप्यर्थ, तस्य तेन सम्बन्धासिद्धे, नहि सम्बन्धार्थयोस्तादात्म्य सभवति घटाद्यर्थवत् सम्बन्धस्यानित्यत्वप्रसङ्गात्। नापि तदुत्पत्ति सयोगादिर्वा, अनभ्युपगमात्। नापि शब्दो लिङ्गम्, अर्थपक्षोपक्षिप्तदोषानु-

(१) तुलना–'किन्त्वासौ सम्बन्ध ऐन्द्रिय अतीन्द्रिय अनुमानगम्यो वा स्यात्।'–प्रमेयक० पृ० ४३०। (२) तुलना–'न च नित्य सम्बन्ध शब्दार्थयो प्रमाणेनावसीयते, प्रत्यक्षेण तस्याननुभवात, तदभावे नानुमानेनापि, तस्य तत्पूर्वकत्वाभ्युपगमात्।'–सन्मति० टी० पृ० ४३६। (३) शब्दार्थसम्बन्धस्य। (४) तुलना–"नातीन्द्रिय सम्बन्ध, ततोऽतीन्द्रियात् सम्बन्धात् अर्थस्याप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। किं कारणम्? अप्रसिद्धस्य स्वेन रूपेण अनिश्चितस्य अज्ञापकत्वात्। न हि येन सह यस्य सम्बन्धो न गृह्यते तद्द्वारेण तस्य प्रतीतिर्युक्ता। अथाज्ञात एव सम्बन्धोऽर्थं ज्ञापयतीन्द्रियवदित्याह–सन्निधिमात्रेणत्यादि। सम्बन्धस्य सन्निधिमात्रेण सत्तामात्रेणार्थज्ञापनेऽभ्युपगम्यमाने शब्दार्थसम्बन्ध प्रत्यव्युत्पन्नानामपि अर्थस्याय वाचक इति प्रतिपत्ति स्यात्।–प्रमाणवा० स्ववृ० १।२३८। तत्त्वस० पृ० ७१२। प्रमेयक० पृ० ४३०। (५) उद्धृतमिदम्–प्रमेयक० पृ० १२४, २०६। (६) प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन। (७) शब्दार्थसम्बन्धे। (८) प्रतिबन्धोऽविनाभावसम्बन्ध। (९) शब्दार्थसम्बन्धस्य। (१०) अनुमानान्तरात्। (११) अविनाभावग्रह। (१२) अविनाभावग्रहणे। (१३) अनुमानान्तरेऽपि। (१४) शब्दार्थसम्बन्धाधिगमे। तुलना–'नानुमानात प्रतिपत्ति सम्बन्धस्य। कुत? लिङ्गाभावात्। नहि सम्बन्धसाधन किञ्चिल्लिङ्गमस्ति। अर्थप्रतीतिरपि न लिङ्ग दृष्टान्तासिद्ध। न हि क्वचिद दृष्टान्ते सम्बन्धकार्या अर्थप्रतीति प्रतिपन्ना। किं कारणम्? तत्रापि दृष्टान्तत्वेनोपनीते सम्बन्धस्यातीन्द्रियत्वेन कारणेन साधनापेक्षणात्। न चास्ति साधन तत्रापि दृष्टान्तासिद्ध।'–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३८। (१५) 'तस्य हि लिङ्ग ज्ञानमर्थ शब्दो वा?"–प्रमेयक० पृ० ४३०। (१६) प्रतिपन्ने हि सम्बन्ध तस्य कार्यमर्थज्ञान निश्चीयते स चाद्यापि न सिद्ध –आ० टि०। (१७) तुलना–'शब्दार्थौ लिङ्गमिति चेन्नाह–नहीत्यादि। न हि तत्र सम्बन्धविशेषे शब्दरूपमर्थो वा लिङ्गम। किं कारणम्? तयो शब्दार्थयो सर्वत्र योग्यत्वात्। सर्वस्य शब्दस्य सर्वस्मिन्नर्थे वाचकत्वेन योग्यत्वात सर्वस्य चार्थस्य सर्वस्मिन शब्दे वाच्यत्वेन योग्यत्वात्। अर्थविशेषप्रतीतेश्च कारणं सम्बन्धविशेष, तस्य च अर्थविशेषप्रतीतिसमाश्रयस्य सम्बन्धस्य अनियताभ्या शब्दार्थाभ्यामप्रत्यायनात्।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३८। (१८) सम्बन्धस्य। (१९) अर्थेन।

पक्षात् । ततो नित्यसम्बन्धस्य कुतश्चिदप्रसिद्धेः अनित्य एवाऽसौ अभ्युपगन्तव्यः ।

यदपि तदनित्यत्वे 'प्रतिपुरुषम्' इत्यादि दूषणमुक्तम्, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, अनादित्वात् शब्दव्यवहारस्य । नहि सर्वथा सतो जगतो निर्मूलनाशलक्षणो महाप्रलयः असतश्चात्मलाभलक्षणा सृष्टिः अस्माकं भवतां वा प्रसिद्धा येन अपूर्वसृष्टिप्रादुर्भावाश्रयणेन 'समयः प्रतिमर्त्यं वा' इत्याद्युक्तं शोभेत । नित्यत्वेऽपि च तत्सम्बन्धस्य अभिव्यक्तिरनित्याऽभ्युपगन्तव्या, अतस्तत्रापीदं दूषणं तुल्यम् । कथञ्चैवंवादिनोऽग्निधूमयोरपि सम्बन्धः सिद्ध्येत् तत्राप्युक्तविकल्पानां समानत्वात् । अथाग्निधूमत्वसामान्ययोर्नित्यस्वरूपयोः सम्बन्धित्वेन तत्सम्बन्धनित्यत्वसम्भवात् नोक्तविकल्पानां तत्रावकाशः, तदप्यपेशलम्, केवलसामान्ययोः सम्बन्धित्वस्य व्याप्तिविचारप्रघट्टके प्रतिषिद्धत्वात् । नित्यत्वञ्च सामान्यस्य प्रागेव प्रतिषिद्धम् । अतो यथा सादृश्यप्रधानतया सादृश्योपलक्षितानां साध्यसाधनव्यक्तिविशेषाणामनन्तानामपि व्याप्तिज्ञानेन श्रेणीकरणं तथा शब्दवाच्यवाचकव्यक्तिविशेषाणामपि । अतः "सम्बन्धस्त्रिप्रमाणकः" [मी० श्लो० पृ० ६८०] यत्तैर्योच्यते, तत्र 'शब्दवृद्धाभिधेयानि प्रत्यक्षेणात्र पश्यति' इति युक्तम् । श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया' इत्यप्युपपन्नम्, 'अन्यथानुपपत्त्या तु पश्यति शक्तिं द्वयाश्रिताम्' इत्येतदनुपपन्नम्, नित्यशक्तौ सम्बन्धाख्यायामन्यथानुपपत्तेरभावात् । वह्निधूमादिशक्तिवत् शब्दार्थाश्रितायाः शक्तेरनित्यत्वेऽपि श्रोतुरर्थप्रतिपत्त्युपपत्तेः ।

एतेनेदमपि निरस्तम्–

"नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः तत्राम्नाता महर्षिभिः ।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणाञ्च प्रणेतृभिः[16] ॥" [वाक्यप० १।२३] इति,

(१) पृ० ५४३ पं० १३। (२) जनानाम् । (३) मामासकानाम्–आ० टि० । 'तस्मादथवशेनात्र सम्बन्धकल्पना । समस्तान्वयजन्मा न सिद्धयत्यप्रमाणिका ।' –मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० ११३ । (४) अभिव्यक्तावपि । (५) शब्दार्थयोः नित्यसम्बन्धवादिनः । (६) अग्निधूमसम्बन्धः । (७) नाग्नित्वधूमत्वयोरविनाभावो गृह्यते किन्तु अग्नित्वविशिष्टाग्निना सह धूमत्वविशिष्टधूमस्याविनाभावः गृह्यते इति भावः । (८) पृ० ४२३ । (९) पृ० २८५ । (१०) साध्यसाधनव्यक्तीनामानन्त्येऽपि सादृश्याद् व्याप्तिज्ञानेन श्रेणीकृता एव वाच्यवाचकव्यक्तीनामपि सादृश्यवशात्तेन श्रेणीकरणम् अस्ति ह्यत्रापि सादृश्यम् घटशब्दवाच्यानां पृथुबुध्नोदराद्याकारत्वात् पूर्वोपलब्धघटान्तरवत् । –आ० टि० । (११) तुलना– अतएव च सम्बन्धस्त्रिप्रमाणक इति यत्त्वयोच्यते तदस्माभिर्न मृष्यते । शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यतीति सत्यं श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टयेत्येतदपि सत्यम् । अन्यथानुपपत्त्या तु पश्यति शक्तिं द्वयाश्रितामित्येतत्तु न सत्यम् अन्यथाप्युपपत्तेरित्युक्तत्वात् । –न्यायमं० पृ० २४५ । (१२) मीमांसकेन कुमारिलभट्टेन । (१३) ज्ञाप्यज्ञापकशक्ति–आ० टि० । (१४) यथाहि वह्निधूमयोः ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिरनित्याऽपि अनुमेयार्थप्रतिपत्तिप्रयोजिका तथैव शब्दार्थयोः वाच्यवाचकशक्तिरपि । (१५) सवृत्तिकानां (नां) म्–आ० टि० । अनुतन्त्रं वार्तिकम् –वाक्यप० पु० टी० । (१६) 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे । सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति । –पा० महाभा० पृ० ५५ । 'नित्य

1 भवतो वा श्र० । 2–वादिनो धूमाग्न्योरपि श्र० । 3–विद्ध यथा श्र० ।

सम्बन्धस्यानित्यत्वसमर्थनात्, शब्दस्य तदर्थस्य चोभयोः अनित्यतया समर्थयिष्यमाणत्वाच्च, सर्वथा नित्यस्य वस्तुनः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वाभावप्रतिपादनाच्च[1]। कथञ्चैवंवादिनः कार्येऽर्थे[3] चोदनायाः प्रामाण्यं स्यात् कार्यस्याऽनित्यत्वात्? ततः सिद्धः कथञ्चिदनित्ययोग्यतालक्षणसम्बन्धवशात् श्रुतस्यार्थप्रतिपादकत्वम्। अतः सूक्तम्-'संवादकं श्रुतं प्रमाणम्' इति ॥छ॥

'शब्दस्यान्यापोहमात्राभिधायकत्वम्' इति बौद्धस्य पूर्वपक्षः-

ननु श्रुतस्याविसंवादित्वमसिद्धम्, अर्थाभावेऽपि शब्दानामुपलम्भात्। ये एव हि शब्दाः सत्यर्थे दृष्टाः ते तदभावेऽपि दृश्यन्ते, अतः शब्दानां विधिद्वारेणाऽर्थाभिधायकत्वानुपपत्तेः अन्यापोहमात्राभिधायकत्वमेवोपपन्नम्। उक्तञ्च-"अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते"

शब्दः नित्योऽर्थः नित्यः सम्बन्धः इत्येषा शास्त्रव्यवस्था। तथाम्नाता महर्षिभिः सूत्रादीनां प्रणेतृभिः। व्याकरणे एव ये सूत्राणां प्रणेतारस्ते व्यपदिश्यन्ते। तत्र सूत्राणामारम्भादेव शब्दानां नित्यत्वमभिमतम्। न ह्यनित्यत्वे शब्दादीनां शास्त्रारम्भे किञ्चिदपि प्रयोजनमस्ति। व्यवहारमात्रं ह्येतदनर्थकं न महान्तः शिष्टाः समनुगन्तुमर्हन्तीति तस्मात् व्यवस्थितसाधुत्वेषु शब्देषु स्मृतिशास्त्रं प्रवृत्तमिति।"-वाक्यप० हरि० १।२३। उद्धृतोऽयम्-सिद्धिवि० टी० पृ० ५०५। प्रमेयक० पृ० ४२९।

(१) पृ० ३७२। (२) नित्यसम्बन्धवादिनः -आ० टि०। (३) आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् '-जैमिनिसू० १।२।१। "चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः।"-शाबरभा० १।१।२। (४) अग्निष्टोमादियज्ञरूपकर्मणः। (५) 'अतीताजातयोर्वापि न च स्यादनृतार्थता। वाचः कस्याश्चिदित्येषा बौद्धार्थविषया मता।'-प्रमाणवा० ३।२०७। (६) "विकल्पप्रतिबिम्बेषु तन्निष्ठेषु निबध्यते। ततोऽन्यापोहनिष्ठत्वादुक्तान्यापोहकृच्छ्रुतिः ॥ विकल्पानां प्रतिबिम्बेष्वाकारेषु तन्निष्ठेषु तदव्यभिचारिवस्तुत्वेन व्यवस्थाविषयतया तद्व्यवहारव्यवस्थितिषु सङ्केतकाले निबध्यते ततो विकल्पप्रतिबिम्बानां बाह्यव्यावृत्तात्मत्वेन व्यवहारविषयत्वात् अन्यापोहनिष्ठत्वात् कारणात् उक्ता श्रुतिरन्यापोहकृत्। अन्यव्यावृत्ताकारविकल्पजननात् अन्यव्यावृत्तेषु प्रवर्तनाच्च शब्दोऽन्यापोहकृदुक्तः। ननु शब्दे ज्ञाने ग्राह्यं बाह्यं तथैव प्रतीयते न ज्ञानाकारतया इत्याह-व्यतिरेकीव यज्ज्ञाने भात्यर्थप्रतिबिम्बकम्। शब्दात्तदपि नार्थात्मा भ्रान्तिः सा वासनोद्भवा ॥ यथा तैमिरिकदृष्टेषु केशेषु बाह्यभ्रम एव विकल्पाकारेऽपि ग्राह्यव्यवहारोऽविद्यावशादित्यर्थः।'-प्रमाणवा० मनोरथ० ३।१६४-६५। 'तत्र यत्तदारोपितं विकल्पधिया अर्थेष्वभिन्नं रूपं तदन्यव्यावृत्तपदार्थानुभवबलायातत्वात् स्वयञ्च अन्यव्यावृत्ततया प्रख्यानात् भ्रान्तैश्चान्यव्यावृत्तार्थेन सहैक्येनाध्यवसितत्वात् अन्यापोढपदार्थाधिगतिनिमित्तत्वाच्चान्यापोढ इत्युच्यते। तत्रापोहः शब्दार्थ इति प्रसिद्धम्।-तत्त्वसं० प० पृ० २७४। "अपोह्यो बाह्यतया आरोपित आकारोऽपोह्यते ननेति कृत्वा यद्वा अपोह्यतेऽस्मिन्नन्यदपि स्वलक्षणम् तस्मात् विकल्पानां स्वरूपेण बाह्यो ग्राह्योऽपि तु स्वाकारेण सहैकीकृत एव बाह्यो विषयः, स चासत्योऽपोह्यतेऽन्यदनेनेति अपोह उच्यते।'-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।४८। "ननु कोऽयमपोहो नाम? यथाध्यवसायं बाह्य एव घटादिरर्थोऽपोह इत्यभिधीयते अपोह्यतेऽस्मादन्यद्विजातीयमिति कृत्वा। यथाप्रतिभासं बुद्ध्याकारोऽपोहः अपोह्यते पृथक्क्रियतेऽस्मिन् बुद्ध्याकारे विजातीयमिति कृत्वा। यथातत्त्वं निवृत्तिमात्रं प्रसज्यरूपोऽपोहः अपोहनमपोह इति कृत्वा।"-तर्कभा० मो० पृ० २६। (७) उद्धृतोऽयम्-अष्टसह० पृ० १४०। स्याम० पृ० १८०। तुलना-'कथं स एव व्यवच्छेदः शब्दलिङ्गाभ्यां विधिना प्रतिपाद्यते न वस्तुरूपमिति गम्यते?'-

---

1 धापे ब०।

[क्षणभङ्गाध्याय (?)] इति । प्रयोगः–यद्यत्र प्रतिभाति तत्तस्य विषयः यथा अक्षजे संवेदने परिस्फुटप्रतिभासमानवपुरर्थात्मा नीलादिस्तद्विषयः, शब्दलिङ्गप्रभवे च प्रत्यये बहिरर्थतत्त्वरहितं स्वरूपमात्रमेव प्रतिभाति अतस्तदेव तस्य विषय इति । न च तत्प्रभवप्रत्यये बहिरर्थाऽसंस्पर्शिस्वरूपमात्रावभासित्वमसिद्धम्, शब्दलिङ्गयोर्बहिरर्थविषयत्वायोगतस्तत्सिद्धेः । तथाहि–शब्दस्य बहिरर्थो विषयो भवन् स्वलक्षणस्वभावो भवेत्, सामान्यस्वरूपो वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः, तत्र सङ्केताभावतः शब्दानां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । सङ्केतो हि संकेतव्यवहारकालानुयायिस्वरूपेऽर्थे विधीयते, न च स्वलक्षणस्य तथाविधं स्वरूपं सम्भवति देशकालाकारसङ्कुचितत्वेन अननुयायिस्वरूपत्वात् । यो संकेतव्यवहारकालाननुयायी न तत्र व्यवहारिभिः शब्दः संकेत्यते यथा उत्पन्नमात्रप्रध्वंसिनि क्वचिदर्थे, नान्वेति च निरंशक्षणिकं शाबलेयादिर्देशान्तरादाविति ।

किञ्च, 'अस्येदमभिधानम्' इति यस्मिन् ज्ञाने सम्बन्धः प्रतिभाति न तत्र ज्ञाने प्रतिनियतेन्द्रियविषययोः शब्दार्थस्वलक्षणयोः प्रतिभासः । न च तत्राप्रतिभासमानयोः

प्रमाणवा० स्ववृ० १।४४ । 'अन्यापोहविषया आचार्येण प्रोक्ता 'अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां प्रतिपाद्यते' इति ब्रुवता । –प्रमाणवा० मनोरथ० ३।१६३ ।

(१) शब्दलिङ्गप्रभवप्रत्यययोः बहिरर्थरहितं स्वरूपमात्रमेव विषयः तत्र स्वरूपमात्रस्यैव प्रतिभासनात् । उक्तं विषयात्मीया धीः सतीना न कश्चन । अन्तर्मात्रानिविष्टं तु बीजमेषा निबन्धनम् । तथाहि–अस्माभिरिष्यत एवायमन्तर्जल्पवासनाप्रबोधो निमित्तम् न तु विषयभूतः भ्रान्तत्वेन पूर्वस्य शब्दप्रत्ययस्य निर्विषयत्वात् । अन्तर्मात्रानिविष्टमिति विज्ञानसंनिविष्टं वासनेति यावत् । एतदेवागमेन सम्वादयन्नाह यस्य यस्येत्यादि–यस्य यस्य हि शब्दस्य यो यो विषय उच्यते । स स संविद्यते नैव वस्तूनां सा हि धर्मता ॥ –तत्त्वसं० पं० पृ० २७५ । (२) 'यत्र स्वलक्षणं जातिस्तद्योगो जातिमांस्तथा । बुद्ध्याकारो न शब्दार्थे घटामञ्चति तत्त्वतः ।'–तत्त्वसं० पृ० २७६ । (३) शब्दाः सङ्केतितं प्राहुः व्यवहाराय स स्मृतः । तदा स्वलक्षणं नास्ति सङ्केतस्तेन तत्र न ॥ –प्रमाणवा० ३।९१ । 'तदा व्यवहारकाले स्वलक्षणं नास्ति यत्र सङ्केतः कृतः । एकस्यापि स्वलक्षणस्य क्षणिकत्वात् कालान्तरे देशान्तरे चानुगमो नास्ति अक्षणिकत्वे वा सङ्केतज्ञानाभावादेव तद्विषयत्वस्य कालान्तरेऽनुगमो नास्ति किमुत नानादेशभिन्नेषु स्वलक्षणेषु, तेन कारणेन तत्र स्वलक्षणेषु सङ्केतो न क्रियते ।'–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० । तत्र स्वलक्षणं तावन्न शब्दैः प्रतिपाद्यते । सङ्केतव्यवहाराप्तकालव्याप्तिवियोगतः ॥ एतदुक्तं भवति–समयो हि व्यवहाराय क्रियते न व्यसनितया तेन यस्यैव सङ्केतव्यवहाराप्तकालव्यापकत्वमस्ति तत्रैव समयः व्यवहर्तृणा यक्तो नान्यत्र । न च स्वलक्षणस्य सङ्केतव्यवहाराप्तकालव्यापकत्वमस्ति । तस्मान्न तत्र समय इति । व्यक्त्यात्मानोनुयन्त्येते न परस्परमेकतः । देशकालक्रियाशक्तिप्रतिभासादिभेदतः ॥ तस्मात्सङ्केतदृष्टोऽर्थो व्यवहारे न दृश्यते । नचागृहीतसङ्केतो बोध्यतामेव ध्वनिः ॥' –तत्त्वसं० प० पृ० २७७ । (४) परमाण्वाकारतया एकक्षणस्थायितया निरंशतया च न देशकालाकारान्तरव्याप्ति स्वलक्षणस्यास्ति भावः । तस्य देशकालभेदेष्वनास्कन्दनात् तस्मिन् सङ्केतकालदृष्टस्य व्यवहारावस्थानास्ति देशकालान्तरेषु अनास्कन्दनात् अननुगमात् । न हि एकत्र दृष्टो भेदोऽन्यत्र संभवति । –प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।७४ । (५) स्वलक्षणं नास्ति सङ्केतः सङ्केतव्यवहारकालाननुयायित्वात् । (६) यो हि यत्र दृष्टो सोऽन्यत्र देशान्तरं याति सोऽन्यः क्षणिकत्वात्–आ० टि० । (७) श्रोत्रचक्षुषी ।

1–रहितस्वरूप–आ० । 2 तत्राद्य पक्षो–ब० । 3–विषयत्वेन ब० ।

स्तयो[1]स्तेन[2] सम्बन्धकरणं युक्तमतिप्रसङ्गात्। [3]यौ अस्येदमिति सम्बन्धकारिणि ज्ञाने न प्रतिभासेते न तयोस्तेन ज्ञानेन सम्बन्धकरणं यथा गोशब्दतदर्थयोः सम्बन्धज्ञानेऽप्रतिभासमानयोः अश्वशब्दतदर्थयोः न तेन[4] ज्ञानेन सम्बन्धकरणम्, न प्रतिभासेते च [5]स्वेन्द्रियज्ञान[1]प्रतिभासिनौ शब्दार्थस्वभावौ अस्येदमिति सम्बन्धकारिणि ज्ञाने इति। न चा[6]र्थेनाऽकृतसम्बन्धः शब्दस्तं प्रत्याययितुमीशः अतिप्रसङ्गादेव। [7]यो येन सहाऽकृतसम्बन्धो न स तमर्थं प्रत्याययति यथा अश्वेन सहाकृतसम्बन्धो गोशब्दः, अकृतसम्बन्धश्च स्वलक्षणेन सर्वः शब्द इति। स्वलक्षणविषयत्वे च शाब्दप्रत्ययस्य इन्द्रियप्रभवप्रत्ययवत् स्पष्टप्रतिभासप्रसङ्गः, न चैवम्, प्रतीतिविरोधात्। तदुक्तम्–

"[8]अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यमन्यच्छब्दस्य गोचरः।
शब्दात्प्रत्येति भि[9]न्नाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते[2][10]॥" [ ]
"[11]अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद् दाहं दग्धोऽभिमन्यते।
अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते॥" [वाक्यप० २।४२५] इति।

(१) शब्दार्थस्वलक्षणयोः–आ० टि०। (२) ज्ञानेन–आ० टि०। (३) शब्दार्थौ–आ० टि०। सम्बन्धग्राहिज्ञानेन न शब्दार्थस्वलक्षणयोः सम्बन्धग्रहणम् सम्बन्धग्राहिज्ञानेऽप्रतिभासमानत्वात्। (४) गोशब्दार्थसम्बन्धग्राहिणा। (५) चक्षुर्ज्ञानेऽर्थस्वलक्षणं श्रोत्रज्ञाने शब्दः प्रतिभाति–आ० टि०। (६) 'एतदुक्तं भवति–यद्यगृहीतसङ्केतमर्थं शब्दः प्रतिपादयेत्तदा गोशब्दोऽप्यश्वं प्रतिपादयेत् सङ्केतकरणानर्थक्यञ्च स्यात् तस्मादतिप्रसङ्गापत्तिर्बाधकम्।"–तत्त्वसं० प० पृ० २७७। (७) शब्दो न स्वलक्षणं प्रतिपादयति तस्मिन्नकृतसङ्केतत्वात्। "प्रयोगः–ये यत्र भावतः कृतसमया न भवन्ति न ते परमार्थतस्तमभिदधति यथा सास्नादिमति पिण्डेऽश्वशब्दोऽकृतसमयः न भवन्ति च भावतः कृतसमयाः सर्वस्मिन् वस्तुनि सर्वे ध्वनय इति व्यापकानुपलब्धेः कृतसमयत्वेनाभिधायकत्वस्य व्याप्तत्वात्।"–तत्त्वसं० प० पृ० २७६। (८) व्याख्या–"अन्यदेव रूपादिस्वलक्षणमिन्द्रियग्राह्यम् तस्मादन्यः शब्दस्य गोचरो विषय इति गृह्यताम्। शब्दात्प्रत्येति भिन्नाक्षः प्रध्वस्तनयनः न तु प्रत्यक्षं यथा भवति तथेक्षते। समानविषयत्वे भाक्षस्येवान्धस्यापि शब्दादपरोक्षैव प्रतिपत्तिः स्यात्। तथात्व इन्द्रियाग्निसम्बन्धादिव दाहशब्दादपि दाहार्थप्रतिपत्तिः स्यादित्याह–अन्यथैव –प्रश० व्यो० पृ० ५८४। "अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यं स्वलक्षणम् अन्यच्छब्दस्य गोचरः सामान्यलक्षणम् कुतः ? शब्दात्प्रत्येति भिन्नाक्षः अन्धोऽपि घटादि, न तु प्रत्यक्षमीक्षते चक्षुष्मानिव। एतदेव भावयति–अन्यथा स्पष्टानुभवेन दाहसम्बन्धात् इन्द्रियार्थयोगेन दाहं स्वगतं दग्धोऽभिमन्यते एव पुमांश्च जानाति, अन्यथा स्वस्पष्टाननुभवेन दाहशब्देन तं दाहार्थं सम्प्रतीयते श्राव्य।"–शास्त्रवा० टी० श्लो० ६६६–६७। (९) स्फाटितनेत्रः–आ० टि०। (१०) उद्धृतोऽयम्–अन्यच्छब्दस्य'–प्रश० व्यो० पृ० ५८४। न्यायमं० पृ० ३१। शास्त्रवा० श्लो० ६६६। अनेकान्तजय० पृ० ४५। प्रमेयक० पृ० ४४६। सन्मति० टी० पृ० २६०। धर्मसं० व० पृ० १४९। स्या० र० पृ० ७१०। (११) व्याख्या–"दाहार्थं प्रतीयते–यदि शब्देन यथावद्दाह्योऽर्थ प्रत्याय्येत तदा शब्दसन्निधापितोऽसौ तामर्थक्रियां कथन्न कुर्यात् यतश्चाग्निसम्बन्धाद्दग्धो दाहमन्यथानुभवति दाहशब्देन च दाहमन्यथाऽवगच्छतीति शब्दार्थयोर्नास्ति कश्चिद्वास्तवः समन्वय इति बोद्धव्यम्।'–वाक्यप० पु० टी०। उद्धृतोऽयम्–प्रश० व्यो० पृ० ५८४। न्यायमं० पृ० ३१। शास्त्रवा० श्लो० ६६७। अनेकान्तजय० पृ० ४५। पुलि० प० ४४ B। 'सम्प्रतीयते'–तत्त्वसं०

1 स्वेन्द्रियविज्ञान–श्र०। 2 ते ॥ इति। ब०।

नचैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति येन अस्पष्टं वस्तुगतमेव रूपं शाब्दप्रत्यये प्रतिभासेत, एकस्य द्वित्वविरोधात्। प्रयोगः–यत्कृते प्रत्यये यन्न प्रतिभासते न तत्तस्य विषयः यथा रूपप्रभवप्रत्यये रसः, न प्रतिभासते च शाब्दप्रत्यये स्वलक्षणमिति। वस्तुविषयत्वे च शब्दानां मतभेदेन अर्थभेदाभिधायित्वानुपपत्तिः। उक्तञ्च–

"परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना।
न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु॥" [प्रमाणवा० ३।२०६] इति।

तन्न स्वलक्षणस्वभावः शब्दस्य विषयो घटते।

नापि सामान्यरूपं, वास्तवस्य सामान्यस्यैवाऽसम्भवात्, तत्सम्भवश्च अश्वविषाणवदनर्थक्रियाकारित्वात् सुप्रसिद्धः। न खलु नित्यैकस्वभावस्य क्रमयौगपद्याभ्या-

पं० पृ० २८०। प्रमेयक० पृ० ४४७। सन्मति० टी० पृ० १७७, ३६०। स्या० र० पृ० ७१०। तुलना– (उष्णाग्निप्रतिपत्तिर्या) नामाग्निध्वनिभाविनी। विस्पष्टा (भासते नवा) तत्र्यैन्द्रियबुद्धिवत्॥ यथा ह्युष्णाद्यर्थविषयेन्द्रियबुद्धिः स्पष्टप्रतिभासा वेद्यते न तथाग्न्यादिशब्दभाविनी। न ह्युपहतनयनरसनघ्राणाद्यो मातुलिङ्गादिशब्दश्रवणात्तद्रूपरसाद्यनुभाविनो भवन्ति यथाऽनुपहतनयनाद्य इन्द्रियविषयानुभवन्त।"–तत्त्वसं०, प० पृ० २८०।

(१) न चैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति स्पष्टास्पष्टम्। येनास्पष्टं वस्तुगतमेव रूपं शब्दैरभिधीयते इति स्यात् एकस्य द्वित्वविरोधात्।"–तत्त्वसं० प० पृ० २८१। न हि स्पष्टास्पष्टे द्वे रूपे परस्परविरुद्धे एकस्य वस्तुनः स्तः यत एकेनेन्द्रियबुद्धौ प्रतिभासेत अन्येन विकल्पे। तथा सति वस्तुन एव भेदप्राप्तेः।–अपोहसि० पृ० ७। (२) स्वलक्षणं न शब्दप्रत्ययविषयः शब्दप्रत्ययेऽप्रतिभासमानत्वात्। न स तस्य च शब्दस्य यक्तो योगो न तत्कृते। प्रत्यये सति भात्यर्थो रूपबोधे यथा रसः॥ प्रयोगः–यो हि यत्कृते प्रत्यये न प्रतिभासते न स तस्यार्थः यथा रूपजनिते प्रत्यये रसः, न प्रतिभासते च शब्दे प्रत्यये स्वलक्षणमिति व्यापकानुपलब्धिः।'–तत्त्वसं० प० पृ० २८०। (३) "व्याख्या– परमार्थः स्वलक्षणम् तस्मिन् एकस्यानं (एकतानं) प्रवृत्तिर्येषां तद्भावस्तत्त्वं तस्मिन् सति शब्दानामनिबन्धना परमार्थनिबन्धनरहिता प्रवृत्तिर्न स्यात् दर्शनान्तरभिन्नेष्वर्थेषु सिद्धान्तभेदभिन्नेषु।–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।२०९। परमार्थैकतानत्वे परमार्थैकपरत्वे शब्दानामर्थेषु दर्शनान्तरभेदिषु प्रतिदर्शनभिन्नाभ्युपगमेषु नित्यत्वानित्यत्वत्रिगुणीमयत्वादिकल्पितभेदेषु अनिबन्धना परमार्थनिबन्धनरहिता प्रवृत्तिर्न स्यात्। न हि परस्परविरुद्धा बहवो धर्मा एकत्र सन्ति।'–प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२०६। (४) दर्शनान्तरभेदिषु–प्रमाणवा०। शास्त्रवा० श्लो० ६४७। अनेकान्तजय० पृ० ३५ A। प्रकृतपाठः–अष्टसह० पृ० १६८। सिद्धिवि० टी० पृ० २६८ A। तस्मात्प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु–स्या० र० पृ० ७१। (५) अपि प्रवर्तेत पुमान् विनायार्थक्रियाक्षमान्। तत्साधनायत्यर्थेषु संयोज्यन्तेऽभिधायकाः॥ तत्रानर्थक्रियायोग्या जातिः।–न खलु लोकोऽप्रवेक्षयन् शब्दानप्रयुञ्जानो वा दुःखितः स्यात्। व्यसनापन्न अयं किमिति चेत् सर्व एवायं आरम्भः फलार्थः। निष्फलारम्भस्य उपेक्षणीयत्वात्। तत्र क्वचिच्छब्दं नियुञ्जानः किञ्चित्फलमवन्ति युक्तः। तच्चेत् सर्वम् इष्टानिष्टप्राप्तिपरित्यागलक्षणम्। तेनायमिष्टानिष्टसाधनासाधनं कृत्वा तत्र प्रवर्तिं निवृत्तिं वा कुर्यात् कारयेद् वेति नियोगमर्हति यतः शब्दान् वा नियुञ्जीत अन्यथोपेक्षणीयत्वात्। तत्र जातिरनर्थक्रियायोग्या। नहि जातिर्वाहदोहादौ क्वचिदपि प्रत्युपस्थिता। न वा तादृशप्रकरणाभावे लोकव्यवहारेषु शब्दप्रयोगः।'–प्रमाणवा० स्ववृ० १।९५। (६) सामान्यस्य।

1 रूपप्रत्यये श्र०। 2 सामान्यस्वरूप श्र० ब०।

मर्थक्रियाकारित्व सभवतीत्युक्त सामान्यनिषेधावसरे[1] । तन्नार्थगोचरा शब्दा किन्तु अन्यापोहगोचरा ।

स चार्थपञ्चमाकार, तथाहि–न जातिव्यक्त्योस्तैद्गोचरत्व पूर्वोक्तदोषात् । नापि ज्ञानतदाकारयो, तयोरपि स्वेन रूपेण स्वलक्षणत्वात्, तस्य च सङ्केताविषयतया शब्दगोचरत्वानुपपत्ते, किन्तु स एव ज्ञानाकारो दृश्यविकल्पावेकीकृत्य बहीरूपतयाऽध्यस्तोऽर्थपञ्चमाकार अन्यापोह । बाह्यत्व हि तस्य अर्थाकार ।

अपोहश्च निषेध । स च द्विविध –पर्युदास, प्रसज्यश्च । पर्युदासोऽपि द्विविध - बुद्ध्यात्मा, अर्थात्मा च । तत्र बुद्ध्यात्मा, बुद्धिप्रतिभासोऽनुगतैकरूपत्वेन अर्थेष्वध्यवसित । अर्थात्मा अर्थस्वभावो विजातीयव्यावृत्तमर्थस्वलक्षणम् । तत्र बुद्ध्यात्मनो

(१) पृ० २८५ । (२) जातिव्यक्तिज्ञानतदाकारा एते सत्या, अर्थपञ्चमाकार अघत्व तु दृश्यस्य सत्यत्वात् विकल्पस्यासत्यत्वात–आ० टि० । (३) शब्दविषयत्वम । (४) ज्ञानरूपेण । (५) ज्ञानस्वलक्षणस्य । (६) "व्याख्यातार एव विवेचयन्ति न हि व्यवहर्त्तार । ते तु स्वालम्बनमेव अर्थक्रियायोग्य मन्यमाना दृश्यविकल्प्यावर्थावेकीकृत्य प्रवर्तन्त । ते हि यथावस्थित वस्तु व्यवस्थापयन्त एव विवेचयन्ति । अन्यो विकल्पबुद्धिप्रतिभास अन्यत्स्वलक्षणमिति, न व्यवहर्त्तार एव विवेचयन्ति । ते तु व्यवहर्त्तार स्वालम्बनमर्थाति विकल्पप्रतिभासमवाधक्रियायोग्य बाह्यस्वलक्षणरूप मन्यमाना । एतदेव स्पष्टयति–दृश्योऽथ स्वलक्षणम् विकल्प्यान्थ सामान्यप्रतिभास तावेकीकृत्य स्वलक्षणमेवद विकल्पबुद्धया विषयीक्रियते शब्देन चोद्यत इत्येवमभिमुख्यार्थक्रियाकारिण्यर्थे प्रवर्तन्त, तदभिप्रायवशाद् व्यवहर्तॄणामभिप्रायवशादेवमुच्यते विवक्षितु भावेषु विकल्पबुद्धिर्भवतीति । दृश्यविकल्प्यावेकीकृत्य प्रवृत्तेरिति वदता न स्वाकारे बाह्यारोप इत्युक्त भवति अन्यथा स्वाकार एव प्रवृत्तिप्रसगात मरीचिकाया जलारोपादिव । नापि बाह्ये स्वाकारारोप, आरोप्यमाणफलार्थित्वेनैव प्रवृत्तिप्रसगात् जलार्थिन इव जलभ्रान्तौ । अर्थानुभवे सति तत्सस्कारप्रबोधेन तदाकार उत्पद्यमानो विकल्प स्वाकार बाह्यमित्यध्यवस्यति न त्वभिन्न करोति । तेन विकल्पविषयस्य दृश्यात्मतयाध्यवसायाद् दृश्यविकल्प्ययोरेकीकरणमुच्यते ।'–प्रमाणवा० स्ववृ०, टी० १।७२ । (७) 'तथाहि द्विविधोऽपोह पर्युदासनिषेधत । द्विविध पर्युदासोऽपि बुद्ध्यात्मार्थात्मभेदत ॥ तत्र बुद्ध्यात्मा बुद्धिप्रतिभास, अर्थेष्वनुगतैकरूपत्वेनाध्यवसित । अर्थात्मा अर्थस्वभाव विजातीयव्यावृत्तमर्थस्वलक्षणमित्यर्थ ।'–तत्त्वस०, प० पृ० ३१६ । तुलना–"त्रिविधो हि वापोह –एकस्तावद् व्यावृत्त स्वलक्षणमेव अन्योऽपोह्यतेऽस्मिन्निति कृत्वा, यदधिकृत्याह–स्वभावपरभावाभ्या यस्माद् व्यावृत्तिभागिन इति व्यवच्छेदमात्र द्वितीय अन्यापोहनमन्यापोह इति कृत्वा, विकल्पबुद्धिप्रतिभासस्तु तृतीय अपोह्यतेऽनेनेति कृत्वा, अयञ्च शब्दस्य निर्बाधनतयाऽभ्युपगम्यते ।'–अनेकान्तजय० प० ३७A । (८) "तत्र बुद्ध्यात्मन स्वरूप दर्शयन्नाह–एकेत्यादि । एकप्रत्यवमर्शस्य य उक्ता हेतव पुरा । अभयादिसमा अर्था प्रकृत्यैवान्यभेदिन ॥ तानुपाश्रित्य यज्ज्ञाने भात्यर्थप्रतिबिम्बकम् । कल्पकेऽर्था मनाऽभावप्यर्था इत्येव निश्चितम ॥ यथा हरीतक्यादयो बहवोऽन्तरेणापि सामान्यमेक ज्वरादिशमनलक्षण कार्य कुर्वन्ति तथा शावलेयाद्योऽप्यर्था सत्यपि भेदे प्रकृत्या एकाकारप्रत्यवमर्शस्य हेतवो भविष्यन्तीत्यन्तरेणापि वस्तुभूत सामान्यमिति । अभयादिसमा इति–हरीतक्यादितुल्या एकार्थकारितया साम्यम । तानुपाश्रित्य इति–तानभयादिसमानर्थानाश्रित्य हेतूकृत्य तदनुभवबलेन यदुत्पन्न विकल्पक ज्ञान तत्र यदर्थाकारतयाऽर्थप्रतिबिम्बकमर्था

1 धापपञ्च–ब०, चापसच–श्र० । 2–भासानु–ब० । 3–स्त्वध्यवसित श्र० । 4 अयात्मा ब० ।

विशेषलक्षणम्–स्वभावतः परस्परविलक्षणानर्थानेकार्थकारितया समानहेतुत्वेनाश्रित्य यदेकप्रत्यवमर्शरूपमर्थप्रतिबिम्बस्वभावं ज्ञानमुत्पन्नं तस्य 'अपोह' इति संज्ञा। वस्तुभागच्छायो विकल्पेनोल्लिख्यमानो बाह्यत्वेनाऽभिमन्यमानो निरूपाकारः स्वाकारविपरीताकारो मूलकोऽपोहः 'अपोह्यते अनेन' इति, विकल्पान्तरवर्त्याकाराद् भेदेन स्वयं प्रतिभासमानत्वात्। 'अपोह्यते अन्यस्मात्' इत्यन्यापोहः, अयं हि मुख्यतयैव अन्यापोहशब्दाभिधेयः। त्रिभिस्तु कारणैः औपचारिकः–कारणे कार्यधर्मारोपात्, कार्ये कारणधर्मोपचाराद्वा, विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षणेन सहकत्वाध्यवसायाद्वा[1] कार्यं हि यथोक्तान्यापोहस्य अन्यव्यावृत्तवस्तुप्राप्तिः, अतस्तत्कारणतया कार्यधर्मोऽन्यव्यावृत्तिः तत्रोपचर्यते। कार्यं कारणधर्मो वा, कारणं हि एकप्रत्यवमर्शात्मनोऽन्यापोहस्य अन्यासंसृष्टं स्वलक्षणं तदनुभवेन तस्य जनितत्वात्, अस्ति च कारणभूते स्वलक्षणे अन्यव्यावृत्तिः अतस्तस्याः कार्यभूते प्रत्यवमर्शे उपचारः। विजातीयव्यावृत्तं यत्स्वलक्षणं तेन सह प्रत्यवमर्शप्रतिभासिनो रूपस्य एकत्वेनाध्यवसितत्वाद्वा अन्यापोहतेति प्ररूपितः पर्युदासरूपोऽपोहः।

प्रसज्यरूपस्तु 'गौरयम् अगौर्न भवति' इति व्यवच्छेदमात्रपर्यवसित इति। प्ररूपितप्रकारस्य अन्यापोहस्यैव वाचकः शब्दोऽभ्युपगन्तव्यः। वाच्यवाचकभावश्च

भासा भाति तादात्म्येन तत्रान्यापोह इत्येषा संज्ञा उक्तेति सम्बन्धः। कल्पक इति–विकल्पके सविकल्पे इति यावत्। एतच्च ज्ञाने इत्यनेन समानाधिकरणम्। अर्थात्मताभावेऽपि इति। बाह्यार्थात्मतायाः अभावेऽपि। निश्चितमिति अध्यवसितम्। –तत्त्वसं० प० पृ० ३१७।

(१) अश्वादिविकल्पान्यो गवादिविकल्प – आ० टि०। (२) 'अथ कथं तस्यापोह इत्येष व्यपदेश इत्याह–प्रतिभासान्तरादित्यादि। प्रतिभासान्तराद् भेदादन्यव्यावृत्तवस्तुनः। प्राप्तिहेतुतयाऽश्लिष्टवस्तुद्वारा गतेरपि॥ विजातीयपरावृत्तं तत्फलं यत्स्वलक्षणम्। तस्मिन्नध्यवसायाद्वा तादात्म्यस्य विप्लुतेः। तत्रान्यापोह इत्येषा संज्ञोक्ता सनिबन्धना। चतुर्भिर्निमित्तैरपोह इति तस्याख्या। विकल्पान्तरारोपितप्रतिभासान्तराद् भेदेन स्वयं प्रतिभासनात् मुख्यतः,अपोह्यत इत्यपोहः, अन्यस्मादपोहोऽन्यापोह इति व्युत्पत्तेः। उपचारात्तु त्रिभिः। १–कारणे कार्यधर्मारोपाद्वा यदाह अन्यव्यावृत्तवस्तुनः प्राप्तिहेतुतयेति। २–कार्ये वा कारणधर्मोपचारात् तद्दर्शयति–अश्लिष्टवस्तुद्वारा गतेरपीति। अश्लिष्टम् अन्यासम्बद्धम् अन्यतो व्यावृत्तमिति यावत् तदेव वस्तु द्वारमुपायः, तदनुभवबलेन तथाविधविकल्पोत्पत्तेः। ३–विजातीयापोहपदार्थेन सहैक्येन भ्रान्तैः प्रतिपत्तृभिरध्यवसितत्वाच्चेति चतुर्थं कारणम्। तद्दर्शयति–विजातीयेत्यादि। अस्येति। विकल्पबुद्ध्यारूढस्य अर्थप्रतिबिम्बस्य सनिबन्धनेति। सह निबन्धनेन प्रतिभासान्तराद् भेदादिनोक्तेन चतुर्विधेन वर्तत इति सनिबन्धना। –तत्त्वसं० प० पृ० ३१७। (३) अन्यापोहः कारणम् अन्यव्यावृत्तवस्तुप्राप्तिः कार्यम्–आ० टि०। (४) अपोहे कारणे–आ० टि०। (५) एतत्कार्यम्। (६) एतत्कारणम्–आ० टि०। (७) अन्यापोहस्य–आ० टि०। (८) अन्यापोहस्वरूप–आ० टि०। (९) प्रसज्यप्रतिषेधश्च गौरगौर्न भवत्ययम्। अतिविस्पष्ट एवायमन्यापोहोऽवगम्यते॥'–तत्त्वसं० पृ० ३१८। (१०) तत्रैव त्रिविधमपोहं प्रतिपाद्य प्रकृते शब्दापत्तं योजयन्नाह–तत्रार्थमित्यादि। तत्राद्य प्रथमं शब्दैरपोहः प्रतिपद्यते। बाह्यार्थाध्यवसायिन्या बुद्धेः शब्दात्समुद्भवात्॥ प्रथम इति यथोक्तार्थप्रतिबिम्बात्मा। तत्र कारणमाह–बाह्यार्थाध्य

1–नाध्यवसितत्वाद्वा आ०।

कार्यकारणभावान्नान्य , बुद्धिसम्बन्धिनो हि प्रतिबिम्बस्य शब्दजन्यत्वात् तेद्वाच्यत्व तज्जनकत्वाच्च शब्दस्य वाचकत्वमिति ॥ छ ॥

अपोहवादनिरसन पुरस्सरं शब्दस्य परमार्थसत्सामान्यविशेषात्मकार्थवाचकत्वसमर्थनम्–

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्–'अपोह शब्दलिङ्गाभ्याम्' इत्यादि, तदसमीचीनम्, यत प्रमाणत कुतश्चित्तत्सिद्धौ तस्य तद्विषयत्व युक्तम्, न चासौ कुतश्चित् प्रमाणात्प्रसिद्ध , तथाहि–अपोह प्रत्यक्षत सिद्धयेत्, अनुमानाद्वा ? न तावत्प्रत्यक्षत , स्वलक्षणविषयत्वात्तस्य । नाप्यनुमानत , तदविनाभाविलिङ्गाभावात् । नहि अमन्निवृत्त्या अगोनिवृत्त्या चाविनाभूत किञ्चिल्लिङ्गमस्ति । तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्ध-

वसायिन्या इत्यादि । यदेव हि शाब्दे ज्ञाने प्रतिभासते स एव शब्दार्थो युक्त । न चात्र प्रसज्यप्रतिषेधाध्यवसायोऽस्ति, न चापीन्द्रियज्ञानवत् स्वलक्षणप्रतिभास । किं तर्हि ? बाह्यार्थाध्यवसायिनी केवल शाब्दी बुद्धिरुपजायते । तेन तदेवार्थप्रतिबिम्बक शाब्दे ज्ञाने साक्षात्तदात्मतया प्रतिभासनाच्छब्दार्थो युक्तो नान्य इति भाव । एव तावत्प्रतिबिम्बलक्षणोऽपोह साक्षाच्छब्दैरुपजन्यमानत्वान्मुख्य शब्दार्थ इति दर्शितम । शेषयोरप्यपोहयो गौण शब्दार्थत्वमुपवर्ण्यमानमविरुद्धमेवेति दर्शयन्नाह–साक्षादाकार एतस्मिन्नेवञ्च प्रतिपादिते । प्रसज्यप्रतिषेधोऽपि सामर्थ्येन प्रतीयते ।। न तदात्मा परात्मेति सम्बन्धे सति वस्तुभि ॥ व्यावृत्तवस्त्वधिगमोऽप्यर्थादेव भवत्यत ।। तेनायमपि शब्दस्य स्वार्थ इत्युपचर्यते । ननु साक्षादय शाब्दो द्विविधोऽपोह उच्यते ॥ एवञ्चेति । अन्यत्वेन । कस्मात्पुन सामर्थ्येन प्रसज्यप्रतिषेध प्रतीयत इति दर्शयन्नाह–न तदात्मेति । तस्य गवादिप्रतिबिम्बस्यात्मा य परस्य अश्वादिप्रतिबिम्बस्यात्मा स्वभावो न भवतीति कृत्वा । एव प्रसज्यलक्षणापोहस्य नान्तरीयकतया प्रतीतेर्गौण शब्दार्थत्व प्रतिपाद्य स्वलक्षणस्यापि प्रतिपादयन्नाह–सम्बन्धे सतीत्यादि । तत्र सम्बन्ध शब्दस्य वस्तुभि पारम्पर्येण कार्यकारणभावलक्षण प्रतिबन्ध । प्रथम यथावस्थितवस्त्वनुभव ततो विवक्षा तत ताल्वादिपरिस्पन्द तत शब्द इत्येव परम्परया शब्दस्य वस्तुभि बाह्यैरर्थैरपि सम्बन्ध स्यात्तदा तस्मिन् सम्बन्धे सति विजातीयव्यावृत्तस्यापि वस्तुनोऽर्थापत्तितोऽधिगमो भवति । अतो द्विविधोऽपि प्रसज्यप्रतिषेध अन्यव्यावृत्तवस्त्वात्मा चापोह शब्दार्थ इत्युपचर्यते । अयमिति स्वलक्षणात्मा अपिशब्दात् प्रसज्यात्मा च ।"–तत्त्वसं०, प० पृ० ३१८–१९ ।

(१) ननु सौगतस्तादात्म्यतदुत्पत्तिरूप एव सम्बन्ध इष्यते तत्कथमत्र वाच्यवाचकभावोऽपीष्यते इत्याह–आ० टि० । "यश्चापि शब्दस्यार्थेन स वाच्यवाचकभावलक्षण सम्बन्ध प्रसिद्ध नासौ कार्यकारणभावाद्योऽन्यनिष्टत्व, अपि तु कार्यकारणभावात्मक एवेति दर्शयति–तद्रूपप्रतिबिम्बस्येत्यादि । तद्रूपप्रतिबिम्बस्य धियः शब्दाच्च जन्मनि । वाच्यवाचकभावोऽय जातो हेतुफलात्मक ॥ शब्द प्रतिबिम्बस्य जनकत्वाद्वाचक उच्यते, तच्च प्रतिबिम्ब शब्देन जन्यमानत्वाद्वाच्यम् । –तत्त्वसं० प० पृ० ३१८–१९ । (२) तेन शब्देन तत्प्रतिबिम्बस्य वाच्यत्वम्–आ० टि० । (३) पृ० ५५१ प० ९ । (४) अपोहस्य । (५) शब्दलिङ्गगोचरत्वम । (६) तुलना–'इन्द्रियैर्नाप्यगापोह प्रथम व्यवसीयते । नान्यत्र शब्दवृत्तिश्च किं दृष्ट्वा स प्रयुज्यताम् ॥७८॥ पूर्वोक्तेन प्रबन्धेन नानुमाप्यत्र विद्यते । सम्बन्धानुभयोऽप्यस्य तेन नैवोपपद्यते ॥७९॥ नागृहीतश्च गमक शब्दापोह कथञ्चन । प्रत्यक्ष न च तच्छब्दो न च स्तो लिङ्गवाचकौ ॥१०६॥ यत स्याद् ग्रहण तस्य, लिङ्गान्नीनाञ्च कल्पने । न व्यवस्यति वाच्यत्व विना प्रत्यक्षमूलत ॥१०७॥'–मी० श्लो० अपोह० ७८–७९,१०६ ७ । प्रमेयक० पृ० ४३५। प्रमेयर० ३।१०१। (७) अपोहाविनाभावि ।

1 चाविनाभूत व० ।

प्रकारेण हि भेदमते अविनाभावो व्यवस्थितः । न चान्यव्यावृत्तेः केनचित्सह तादात्म्यतदुत्पत्ती घटेते । तथाहि–अकृतकत्वव्यावृत्तिः कृतकत्वम्, तत् स्वलक्षणात्मकम्, नित्यव्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वात्मकं वा स्यात् ? न तावत्स्वलक्षणात्मकम्, अवस्तुरूपत्वात्, यदवस्तुरूपं न तत् स्वलक्षणात्मकं यथा खरविषाणम्, अवस्तुरूपञ्च अकृतकत्वव्यावृत्तिरूपतया कृतकत्वमिति । नापि नित्यव्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वात्मकम्, उभयोः नीरूपतया तादात्म्यसम्बन्धाभावात् । ययोः नीरूपत्वं न तयोस्तादात्म्यसम्बन्धः यथा खपुष्पवन्ध्यासुतयोः, नीरूपत्वञ्च अन्यव्यावृत्तिरूपयोः कृतकत्वानित्यत्वयोरिति । तन्नानयोस्तादात्म्यं घटते । नापि तदुत्पत्तिः, नीरूपत्वादेव । तथाहि–यन्नीरूपं तन्न कस्यचिज्जन्यं जनकं वा यथा खरविषाणम्, नीरूपञ्च साध्यसाधनत्वेनाऽभिप्रेतं प्रकृतमन्यापोहद्वयमिति ।

ननु चार्थाभावेऽपि अर्थाकारं यत् प्रतिबिम्बमुत्पन्नं तदेवान्यापोहः, स च स्वसंवेदनप्रत्यक्षत एव सिद्ध्यति, इत्यनर्थकं तत्रानुमानम्, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, ज्ञानेऽर्थाकारधारित्वस्य तन्निराकारत्वसिद्धौ[6] प्रतिषिद्धत्वात् ।

अस्तु वा तत्, तथापि–अत्र कस्य प्रतिबिम्बनम्–स्वलक्षणस्य, सामान्यस्य वा ? न तावत्स्वलक्षणस्य, तस्य व्यावृत्ताकारत्वात् । अनुगतैकरूपञ्च प्रतिबिम्बम् अन्यापोहोऽभिप्रेतः, अतः स्वलक्षणेनापि तथाविधेनैव भवितव्यम् । तथाहि–यस्य हि यदाकारं प्रतिबिम्बं तत् स्वयमपि तदाकारमेव यथा मुखचन्द्रादि, अनुगतैकाकारञ्च स्वलक्षणस्य ज्ञाने प्रतिबिम्बमिति । अथ सामान्यस्य ज्ञाने प्रतिबिम्बनमिष्यते, तदप्यसत्, तस्याऽसतः प्रतिबिम्बनानुपपत्तेः । यदसन्न तत् क्वचित् प्रतिबिम्बति यथा खपुष्पम्, असच्च भवन्मते सामान्यमिति । तत्र तत्प्रतिबिम्बाभ्युपगमे वा प्रतिबिम्बोदयात्प्राग् योन्यविविक्ततद्द्वयोपलम्भप्रसङ्गः । येन यत् प्रतिबिम्बति तद्द्वयं प्रतिबिम्बोदयात्प्राग् योन्यविविक्तमुपलभ्यते यथा मुखादर्शादि, प्रतिबिम्बति च ज्ञाने सामान्याकार इति ।

अथ यादृच्छिकेनार्थक्रियाकारितया स्वलक्षणमेवानुवृत्ताकारं मतं सामान्यम्, अतो नोक्तदोषावकाशः, तदयुक्तम्, एकार्थक्रियामकुर्वतस्तत्कारित्वाभावतः प्रतिबिम्बो-

(१) सौगतसिद्धान्तः । (२) अकृतकत्वव्यावृत्तिरूपं कृतकत्वं न स्वलक्षणात्मकम् अवस्तुरूपत्वात् । (३) अकृतकत्वव्यावृत्तिरूपकृतकत्व नित्यत्वव्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वयोश्च । (४) अन्यव्यावृत्तिरूपयोः कृतकत्वानित्यत्वयोः तादात्म्यं न भवति नीरूपत्वात् । (५) कृतकत्वमनित्यत्वञ्च–आ० टि० । (६) पृ० १६७ । (७) प्रतिबिम्बम् । (८) अनुगतरूपेण । (९) स्वलक्षणमनुगतैकाकारम् अनुगतैकाकाररूपेण प्रतिबिम्बितत्वात् । (१०) सामान्यस्य अन्यापोहात्मकत्वेन अर्थक्रियाकारित्वाभावेन असत्त्वम् । (११) न सामान्यं ज्ञाने प्रतिबिम्बति असत्त्वात् । (१२) बौद्धमते । (१३) ज्ञाने । (१४) सामान्ये । (१५) प्रतिबिम्बाधारस्य ज्ञानस्य प्रतिबिम्ब्यस्य च सामान्यस्य विविक्तं स्वरूपद्वयं प्रतिभासेत इति भावः । (१६) ज्ञानं सामान्यञ्च विभिन्नतया उपलभ्यताम् तत्र प्रतिबिम्ब्यमानत्वात् । (१७) प्रतिबिम्बाभावलक्षणो दोषः । (१८) सामान्यस्य ।

1–कः तयोः श्र० । 2 ननु चार्थाकारं आ० । 3 इत्यसमी–श्र० । 4 'तस्य' नास्ति आ० । 5–तत्र यस्य यस्य हि आ०, श्र० । 6–विविक्ततद्द्वय–ब० । 7–बिम्बते श्र० । 8–बिम्बते च श्र० ।

द्रूपाभावादुपलक्षणात्। अर्थक्रियायाश्च काचित्कत्वात् तदुदयोऽपि कदाचिदेव स्यात्।

किञ्च, यत्रार्थक्रियाकारित्वं स्वलक्षणे यथैकमभ्युपगम्यते तत्र बाह्यानुमानि-नयोपलभ्यमानप्रतिभासवशात् तत्र प्रतिभासत्वमस्तु किं प्रतिबिम्बाग्रहग्रहेण?

किञ्च, यदि स्वप्रतिबिम्बमात्राध्यवसायिन ज्ञानविकल्पस्य स्यात् तर्हि अतः कुतो बहिरर्थे प्रवृत्तिः स्यात्? स्वप्रतिभासेऽनर्थे अर्थाध्यवसायाच्चेत्, ननु कोऽयमर्थाध्यवसायो नाम–बाह्यस्यार्थस्य ग्रहणम्, करणम्, योजनम्, समारोपो वा? प्रथमपक्षे परमतसिद्धिः, शाब्दे ज्ञानेऽन्यथाऽतो बहिरर्थग्रहणानभ्युपगमात्। द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः, नहि बाह्यार्थकरणे ज्ञानानां सामर्थ्यम्, स्वसामग्रीतस्तेषामाविर्भावात्, अन्यथा अप्रतिहता सर्वस्य सर्वार्थसिद्धिः स्यात्।

अथ स्वाकारं विकल्पो बाह्येनार्थेन योजयति; तदसत्; तथाप्रतीतेरभावात्। नहि कस्यचित् प्रतीतिः 'योऽयमाकारो मदीयः स बाह्यार्थविशिष्टः' इति, बाह्यार्थेन सह स्वाकारस्य सम्बन्धाभावतो विशेषणविशेष्यभावानुपपत्तेः। न च परम्परया तदुत्पत्तिसम्बन्धोऽस्त्यस्तीत्यभिधानत्वम्, व्यावृत्ताकारार्थस्य अनुवृत्ताकारप्रतिबिम्बनहेतुत्वप्रतिषेधात्।

अथ बाह्यमर्थं विकल्पः स्वाकारे समारोपयति; तदप्यसाम्प्रतम्, समारोपो हि उभयग्रहणे सति स्यात्, असति वा? न तावत्सति, उभयग्रहणपुरस्सरत्वात्तस्य। यः समारोपः स उभयग्रहणपुरस्सरः यथा गोवाहीके समारोपः, समारोपश्च विकल्पाकारे बाह्यार्थस्येति। न चेदं निदर्शनं साध्यविकलम्, येनैव हि गौरनुभूतः वाहीकश्च, स

(१) 'तथापि विकल्पाद्बाह्यार्थेषु प्रवृत्तिरन्यथा न स्यात्।' –न्यायवा० पृ० ४८५। '[illegible] वस्तुनि प्रवृत्तत्वात् [illegible]।' –अनेकान्तजय० पृ० ३५ B। '[illegible] प्रतीत च [illegible] सर्वं प्रवर्तनम्। [illegible] ॥' –तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०। प्रमेयक० पृ० ४३१। स्याद्वादर० ४।११। (२) तुलना– [illegible] –अनेकान्तजय० पृ० ३५ B। [illegible] –न्यायवा० ता० पृ० ४८५। (३) [illegible]। (४) मर्यादान–आ० टि०। (५) [illegible]। (६) विकल्पाकारे–आ० टि०। (७) [illegible]। (८) [illegible] –आ० टि०। (९) [illegible] –आ० टि०। (१०) [illegible]। (११) [illegible]।

१ [illegible] ब०। २ [illegible] ब०, ब०। ३ 'समारोप' [illegible]

तद्धर्मान् बहुभारोद्वहनादीन् वाहीके निश्चित्य गोत्वमारोपयति 'गौर्वाहीकः[1]' इति। अथोभयग्रहणे सति आरोपः स्यात्, ननु[2] उभयोर्ग्रहणं विकल्पेन, निर्विकल्पेन वा स्यात्? न तावन्निर्विकल्पेन, अस्य[3] स्वलक्षणगोचरतया अन्यापोहस्वरूपविकल्पाकारे प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नापि विकल्पेन, अस्य[4] बाह्यार्थपरामर्शपराङ्मुखत्वात्[1], अतः कथमसौ[5] स्वाकारे बाह्यं तत्र[6] वा स्वाकारमारोपयेत्?

अस्तु वाऽस्योभयग्रहणम्, तथापि[7]–पूर्वं स्वप्रतिभासमनर्थमनुभूय पश्चादर्थमारोपयति, युगपदेव वा स्वप्रतिभासञ्चानुभवति[2] अर्थञ्च समारोपयति, किं वा यावदयोक्तं भवति–स्वाकारमनुभवतीति तावदेवोक्तं भवति अर्थमध्यवस्यतीति[8]? न तावत्स्वरूपानुभवः[3] पूर्वं पश्चादर्थसमारोपः, क्षणद्वयावस्थानविकलत्वाज्ज्ञानानाम्, अन्यथा क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गः[4]। अथ युगपदेव स्वप्रतिभासमनुभवति अर्थञ्च समारोपयति, तर्हि[9] ग्राह्यग्राहकाकारात्मके विकल्पस्वरूपे संवेद्यमाने स्वानुभवसमानकाल एवार्थः समारोप्यमाणो विकल्पस्वरूपाद् बहिरेवाऽवतिष्ठते तत्कथमात्मानमनर्थम्[10] अर्थमारोपयेदसौ? अथ स्वाकारानुभव एव अर्थसमारोपः, तदप्यसुन्दरम्, अनुभवितव्यविकल्पयितव्ययोर्भेदात्। शब्दसंसृष्टं हि स्वरूपं विकल्पयितव्यम्, अशब्दसंसृष्टं तु स्वसंवेदनेनानुभवितव्यम्, तत्कथमनयोरेकत्वम्?

एतेन 'हृदयविकल्प्यानेनीकृत्य बहीरूपतयाऽध्यस्तः' इत्यादि प्रत्युक्तम्[11], तदुक्ती-

(१) "जनिका नाम वाहीकास्तेषां वृत्तं सुनिश्चितम्।"–महाभार० कर्णपर्व अ० २०० । "गौर्वाहीक इति भाष्यायाम्। यथा गोरन्यस्य जाड्यादिगुणनिमित्तोऽर्थो वाहीकः।"–महाभा० प्र० १।१।१५। (२) तुलना– "न खलु विकल्पमेव दृश्यमित्यध्यवस्यति। विकल्प एवमिति चेत् न तत्र सामान्यावभासात् अन्यथा विकल्पत्वायोगात्। अन्य इति चेत् न आत्मवान्यापत्तेः तत्तथाध्यवसायनिमित्ताभावाच्च।"–अनेकान्तजय० प० ३५ B। "न च वाध्यवसायोऽपि दृश्यं स्पृशति जातुचित्। विकल्पस्यान्यथा सिद्धयेत् दृश्यस्पर्शित्वमञ्जसा।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०९। "तत्रैतस्य हि दर्शनमध्यवस्यति तत्पृष्ठजो व्यवसायो ज्ञानान्तरं वा।"–प्रमाणप० पृ० ५३। प्रमेयक० पृ० ३१। सन्मति० टी० पृ० ५००। स्या० र० पृ० ८२। (३) निर्विकल्पस्य। (४) अवस्तुविषयत्वात्–आ० टि०। (५) विकल्पः। (६) बाह्यार्थे। (७) तुलना– "न च स्वाकारमनर्थमर्थं आरोपयति। न तावदगृहीतं स्वाकारं गत्वा आरोपयितुमिति तद्ग्रहमपि नव्यम्। तत्किं गृहीत्वा आरोपयति, अथ यदेव गृह्णाति तदेवारोपयति। न तावत्पूर्वः पक्षः न हि विकल्पज्ञानं क्षणिकं क्रमवतो ग्रहणसमारोपौ कर्तुमर्हति। उत्तरस्मिंस्तु पक्षे विकल्पस्वसंवेदनप्रत्यक्षाद्विकल्पाकाराहङ्कारास्पदाद् अनहङ्कारास्पदं समारोप्यमाणो विकल्पो भासगोचरो न शक्योऽभिन्नः प्रतिपत्तुम्। नापि बाह्यस्वलक्षणत्वेन शक्यः प्रतिपत्तुं विकल्पेनानन स्वलक्षणस्य बाह्यस्याप्रतिभासनात्।"–न्यायवा० ता० पृ० ४८५। (८) स्वाकारानुभवनमेव अर्थाध्यवसाय इति भावः। (९) यदि यदेव विकल्पाकारं स्वप्रतिभासमनर्थमनुभवति तदेवार्थं समारोपयति, तदा विकल्पस्य स्वानुभवव्यापृतत्वात् अर्थो विकल्पाकारमलभमानः तत्स्वरूपाद् बहिरेवास्ते विकल्पो न सङ्क्रामति, तत्कथमात्मनि अनर्थभूते अर्थं विकल्पाकारं आरोपयतीति तात्पर्यम्।–आ० टि०। (१०) आत्मनि अनर्थे न्यर्थं। (११) पृ० ५५० प० ५।

1–परामर्शपराङ्मुखत्वात् श्र०। 2 पूर्वं प्रतिभासमानार्थमनु–श्र०। 3–भास वानुभ–ब०। 4–भंगभंगनाप्रसंग ब०।

करणञ्च किं तेनैव ज्ञानेन, ज्ञाना तरेण वा ? न तावत्तेनैव [illegible] पदैस्य प्रतीयते, तथा प्रतीत्यभावात, क्षणिकत्वाच्च । नापि ज्ञानान्तरेण, [illegible] अनेक वा ? यद्यनेकम्, कथमैक्यं प्रतिपद्येत ? स्वसंवेदनेन हि ज्ञानमेकम् [illegible] द्वयम् । एक तु यदि द्वय प्रत्येति, कथमैक्यम् ? अथैक्य मन्येत, कथं द्वय [illegible] ?

किञ्च, अयमपोहो भावे भावस्य प्रतीयते, केवलो वा ? [illegible] प्रतीति किं शब्दादेव, प्रमाणान्तराद्वा ? न तावत् शब्दादेव, [illegible] प्रवृत्त्यनभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वा किं भावौ प्रतीत्य अतोऽपि [illegible], [illegible] प्रतीत्य भावावेवेति ? तत्राद्यविकल्पे नान्यापोह शब्दार्थ, मुख्यतो भावस्यैव [illegible] प्रतीत्युत्तरकाल सामर्थ्यादेव वा अन्यव्यावृत्त प्रतीते । नीलञ्च [illegible] प्रतीत्यभ्युपगमे संवलन्ती तत्प्रतीति स्यात् । अतो नीलस्य [illegible] प्रत्यक्षादिव शब्दात्प्रतीतिरभ्युपगन्तव्या । द्वितीयविकल्पे तु प्रतीतिविरा[illegible] लोऽपोह प्रथम शब्दात् प्रतीयते पश्चाद् भावावेवेति कस्यचित्कल्पनेऽपि [illegible] । एतेन प्रमाणान्तरादपि तत्प्रतीति प्रत्याख्याता, ततोऽपि भावयो प्रतीतौ [illegible] विशेषात् । अस्तु वा कुतश्चिदस्य प्रतीति, तथापि–भावाभ्या भिन्नस्यास्य [illegible] कथमस्य भावसम्बन्धिता स्यात्, भावाभावयोस्तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणस[illegible] ।

'केवलोऽपोह प्रतीयते' इत्ययमपि पक्षोऽनेनैव प्रतिव्यूढ, [illegible] शब्दाल्लिङ्गाद्वा प्रतीयेत, तर्हि सर्वशब्दाना पर्यायता स्याद् अपो[illegible] शेषशब्दै प्रतिपादनात् । एवञ्च विशेषणविशेष्यभेद अतीना[illegible]

(१) तुलना– "नतन्‍ दृश्यविकल्प्यार्थैकीकरणेन भवत । एवप्रमा[illegible] द्वित ।"–न्यायप्रवा० ११।१० । भतीत [illegible] अभावसमारोपानर[illegible] ३२० । (२) तुलना–"यश्चायमन्यापोह अगौन भवतीति [illegible] इति ?"–न्यायवा० पृ० ३२९ । इति प्रसज्य –आ० टि० । (३) [illegible] प्रवृत्तौ । (४) शब्दार्थत्वात्–आ० टि० । (५) भावस्य प्रतिनियत[illegible] रमक भवत्येव । (६) सापेक्षत्वात्–आ० टि० । (७) [illegible] पुरुषस्य । (९) भावयो प्रतीति । (१०) अपोहस्य । (११) [illegible] सामान्यवचना विशेषवचनाश्च य । सर्वे भवेयु पर्याया यद्यपोहस्य [illegible] श्लो० ४२। न्यायम० पृ० ३०४। "अपि च ये विभिन्नसामान्यशब्दा [illegible] दयस्ते भवन्मतेनाभिप्रायेण पर्याया प्राप्नुवन्ति अर्थभेदाभावात [illegible] प्रमेयर० ३।१०१। (१३) तुलना–"अपोहमात्रवाच्यत्वं यदि [illegible] धाभिधायिषु ॥ विशेषणविशेष्यत्वसामानाधिकरण्ययो । न सिद्धि[illegible] –मी० श्लो० अपोह० श्लो० ११५–१६ । प्रमेयक० पृ० ४३६। [illegible] न वाऽपोहस्य विद्यते । व्यक्तेरव्यपदेश्यत्वात्तद्द्वारेणापि नास्त्यसौ [illegible]

1 प्रमित्यभा–ब० । 2 'क्षणिकत्वाच्च' नास्ति ब० । 3 [illegible] –आ० । [illegible] प्रतीतिरिति ब०, प्रतीतिरस्ति श्र० । 6–ति [illegible] 8 एवं विने–ब०, श्र० ।

लिङ्गभेदः एकद्वित्रिबहुवचनादिभेदश्च दुर्लभः । लिङ्गलिङ्गिभेदश्च दूरोत्सारित एव स्यात्, यदेव हि लिङ्गशब्दस्यान्यापोहमात्रं तदेव लिङ्गिशब्दस्यापि ।

अथापोह्यभेदेनाभ्युपगमान्नायं दोषः, तदयुक्तम्, तस्य भेदेनाऽसिद्धेः । तस्य हि भेदः अपोह्यभेदाद्, वासनाभेदात्, विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात्[1], विभिन्नकार्यकारित्वात्, आश्रयभेदात्, स्वरूपभेदाद्वा स्यात् ? न तावदपोह्यभेदात्, सर्वप्रमेयादिशब्दानाम् अपोह्यभेदाभावतः पर्यायताप्रसङ्गात् । न हि असतः सर्वराशेर्व्यतिरिक्तम्, अप्रमेयं वा किञ्चिदस्ति यदपोहेन सर्वादिः सिद्ध्येत । कथं वा सत्त्वकृतकत्वादिहेतोः सिद्धिः ? न हि असदकृतकं वा जगति किञ्चिदस्ति यदपोहेन सत्त्वादिसाधनं सिद्ध्येत् । अपोह्यभेदादपोहभेदे चान्योन्याश्रयः –सिद्धे ह्यपोह्यभेदे अपोहभेदसिद्धिः, तत्सिद्धौ चापोह्यभेदसिद्धिरिति । तन्नापोह्यभेदादपोहस्य भेदः । नापि वासनाभेदात्, तद्भेदस्याप्यनुपपत्तेः । अनुभवभेदनिबन्धनो हि वासनाभेदः, अपोहस्य चैकरूपत्वे अनुभवभेदो दुर्घटः । नापि विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वादपोहभेदः, अस्य कल्पितरूपतया सामग्रीविशेषतः प्रादुर्भावस्यैवाऽनुपपत्तेः । यत् कल्पितरूपं तन्न कुतश्चित्प्रादुर्भवति यथा तुरङ्गमोत्तमाङ्गे शृङ्गम्, कल्पितरूपश्च भवन्मते अपोह इति । ततस्तदुत्पत्तौ वा कल्पितरूपत्वव्याघातः । यत् कुतश्चिदुत्पद्यते तन्न कल्पितरूपं यथा स्वलक्षणम्, उत्पद्यते च सामग्रीविशेषतोऽपोह इति ।

(१) तुलना– "ननु भिन्नापोहानां प्रसङ्गोऽयं न युज्यते । सामान्यापोहवर्गस्य येऽत्र वस्तुमात्रं समं तव ॥ भिद्यन्ते मम वस्तुत्वात्सामान्यानि परस्परम् । असङ्कीर्णस्वभावानि न चैकत्वं विन्दते ॥ समुदायस्वरूपाणाम् अविकल्परहितात्मनाम् । अवस्तुत्वादपोहानां तव स्यात् भिन्नता कथम् ॥" –मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४३-४५ । (२) अपोह्यस्य । (३) तुलना–"अन्यापोहश्च शब्दार्थ इत्ययुक्तम्, अव्यापकत्वात् । यत्र द्वैराश्यं भवति तत्रेतरप्रतिषेधादितरः प्रतीयते यथा गौरिति पदे गौः प्रतीयमानः अगौः प्रतिषिध्यमानः । न पुनः सर्वपदे एतदस्ति न ह्यसर्वं नाम किञ्चिदस्ति यत्सर्वपदेन निवर्त्येत ।" –न्यायवा० पृ० ३२९ । "ननु चापोह्यभेदेन भेदोऽपोहस्य सत्स्यति । न विशेषः स्वतस्तस्य परतश्चोपचारिकः ॥ ४७ ॥ प्रमेयत्वाद्यपोह्यस्तु कृत एव तु ।" –मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४७, १४४ । प्रमेयक० पृ० ४३४ । प्रमेयर० ३।१०१ । (४) तुलना–"यद्यप्यन्येषु शब्देषु वस्तुनः स्यादपोह्यता । मच्छब्दस्य स्वभावास्यानाऽस्याह भिन्नमिष्यते ॥" –मी० श्लो० अपोह० श्लो० ९८ । (५) तुलना– "अपोह्यभेदकल्पिते च नाभावाऽभेदो भवेत् । तद्भेदोऽपोहभेदाच्चेत् प्राप्तमन्योन्यसंश्रयम् ॥ गोसामान्यं भिन्नत्वाद्गौरित्येष भिद्यते । अगौरित्यस्य च भेदेन गोसामान्यं च भिद्यते ॥" –मी० श्लो० अपोह० श्लो० ६५-६६ । न्यायमं० पृ० ३०४ । (६) तुलना– "नचापि वासनाभेदाद् भेदः सद्रूपतापि वा । अपोहानां प्रकल्प्येत न ह्यवस्तुनि वासना ॥ स्मृतिं मुक्त्वा नचास्त्यस्याः शक्तियोगः क्रियान्तरे । तस्मात्सामान्यबुद्धेः सार्थ्यं करोत्यवादृशीं मतिम् ॥ भवन्मते शब्दभेदोऽपि तन्निमित्तो न लभ्यते ।" –मी० श्लो० अपोह० श्लो० १००-२ । प्रमेयक० पृ० ४३९ । (७) वासनाभेदस्य । (८) अभावरूपतया तुच्छकस्वभावत्वे । (९) अपोहस्य । (१०) अपोहो न कुतश्चित्प्रादुर्भवति कल्पितरूपत्वात् । (११) भवन्मते । (१२) कारणसामग्रीतः अपोहोत्पत्तौ । (१३) अपोहो न कल्पितः कारणादुत्पद्यमानत्वात् ।

1 'विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात्' नास्ति श्र० । 2 –भेदे चापो–ब० श्र० । 3 तद्भेदस्याप्यनुभव –आ० । 4 –त्वादपोहभेदस्य कल्पि–ब० । 5 प्रादुर्भावानुप–श्र० ।

एतेन भिन्नकार्यकारित्वात्तद्भेदः प्रत्याख्यातः, अपरमार्थसतो विभिन्नकार्यकारित्वानुपपत्तेः खपुष्पवत्। तत्कारित्वे वाऽपरमार्थसत्त्वाऽसंभवात् स्वलक्षणवत्। कुतश्च कार्यकारणयोर्भेदः सिद्धो यतः तद्भेदादपोहस्य भेदः सिद्ध्येत्–अपोहभेदात्, स्वरूपतो वा ? अपोहभेदान्नेद्, अन्योन्याश्रय–सिद्धे हि कारणभेदे कार्यभेदे च तत्प्रभवतया तत्कारितया च अपोहभेदसिद्धिः, तत्सिद्धौ च कार्यकारणयोर्भेदसिद्धिरिति। स्वरूपतस्तद्भेदसिद्धौ च अपोहकल्पनाऽनर्थक्यम्।

अथाश्रयभेदादपोहभेदः, तन्न, अवस्तुरूपस्यास्य क्वचिदाश्रितत्वानुपपत्तेः। यदवस्तुरूपं न तत् क्वचिदाश्रितम् यथा गगननलिनम्, अवस्तुरूपश्चापोह इति। आश्रितत्वे वा निस्सौ प्रतिव्यक्ति भिन्नः, अभिन्नो वा स्यात् ? यदि भिन्नः, तदा द्रव्यगुणकर्मणां मध्ये अन्यतमरूपतैवास्याभ्युपगता स्यात्, प्रतिव्यक्त्यन्यस्य आश्रितत्वानुपपत्तेः। अथाभिन्नः, तदा सामान्यरूपतैव नामान्तरेणोक्ता स्यात् इत्युभयथाप्यन्यापोहरूपतानुपपत्तिः।

अथ स्वरूपभेदादपोहस्य भेदः, तन्न, अपरमार्थसत्त्वेऽस्य स्वरूपभेदानुपपत्तेः। यदपरमार्थसन्न तस्य स्वरूपभेदः यथा खपुष्पखरविषाणादेः, अपरमार्थसंश्चापोह इति। स्वरूपभेदे वाऽस्य स्वलक्षणवत् परमार्थसत्त्वप्रसङ्गः।

किञ्च, पर्युदासरूपः, प्रसज्यरूपो वाऽपोहः स्वरूपतो भिन्नः शब्दैरभिधीयेत ? यदि पर्युदासरूपः, तदास्य भावान्तररूपताभ्युपगन्तव्या। भावान्तरञ्च विशेषः, सामान्यम्, तदुपलक्षितो वा विशेषः, तत्समुदायो वा स्यात् इति पक्षचतुष्टयेऽपि विधिरेव शब्दार्थः स्यात् नाऽपोहः। अथ प्रसज्यरूपः, तदा निषेधमात्रमेव शब्दैरभिहितं स्यात्, तथायुक्त

(१) अपोहभेदः। (२) अर्थक्रियाकारित्वे। (३) कार्यभेदात्। (४) भिन्नकारणप्रभवतया। (५) भिन्नकार्यकारितया। (६) कार्यकारणयोः भेदसिद्धौ। (७) तुलना–"तेनवाधारभेदेनाप्यस्य भेदो न युज्यते। न हि सम्बन्धभेदेन भेदो वस्तुन्यपीष्यते। किमुतावस्तुसस्पृष्टमयतश्चानिर्वर्तितम्। अनवाप्तविशेषात्म मतिमप्यनिरूपितम्।"–मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४८–४९। (८) अपोहो न क्वचिदाश्रितः अवस्तुरूपत्वात्। (९) अपोहः। (१०) अपोहरूपस्य सामान्यस्य आश्रयभूतानि द्रव्यगुणकर्माण्येव भवितुमर्हन्ति, सामान्यस्य द्रव्यादित्रयवृत्तित्वात्। (११) अपोहस्य। (१२) अपोहस्य। (१३) नापोहस्य स्वरूपभेदः अपरमार्थसत्त्वात्। (१४) अपोहस्य। तुलना–"यद्वा भिद्यमानत्वाद्वस्त्वसाधारणावत्। अवस्तुत्वं त्वनानात्वात्"–मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४६। न्यायमं० पृ० ३०४। (१५) "किञ्चापोहाख्यं सामान्यं वाच्यत्वेनाभिधीयमानं पर्युदासलक्षणं वाभिधीयेत प्रसज्यलक्षणं वा ?"–प्रमेयक० पृ० ४३२। प्रमेयर० ३।१०१। (१६) यथा घटः पटात् स्वरूपतो भिन्नः सन् भावान्तरम्–आ० टि०। तुलना–'अगोनिवृत्तिः सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम्। गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोपोहगिरा स्फुटम्॥'–मी० श्लो० अपोह० श्लो० १। प्रमेयक० पृ० ४३२। (१७) तुलना–"नन्वन्यापोहकृच्छब्दो युष्मत्पक्षेऽनुवर्णितः। निषेधमात्रं नैवेह प्रतिभासेऽवगम्यते॥ किन्तु गौर्गवयो हस्ती वृक्ष इत्यादिशब्दतः। विधिरूपावसायेन मतिः शाब्दी प्रवर्तते॥" (पूर्वपक्ष)–तत्त्वसं० का० ९१०–११। प्रमेयक० पृ० ४३२।

1 घापर–ब०। 2 ...रू०। 3 वा श्र०। 4 घास्य ब०। 5–भिधीयते ब०, ज०।

तयाप्रतीत्यभावात् । परप्रतिपादनार्थो हि शब्दप्रयोगः, परश्च नीलार्थी न अनीलनिषेधमात्रं जिज्ञासते, अजिज्ञासितञ्च प्रतिपादयतः प्रतिपादकस्याऽप्रेक्षापूर्वकारित्वप्रसङ्गः ।

निषेधमात्राभिधायित्वे च नीलोत्पलशब्दयोः सामानाधिकरण्यञ्च प्राप्नोति, नीलशब्दो ह्यनीलव्यवच्छेदमात्रे चरितार्थः, उत्पलशब्दोऽपि अनुत्पलव्यवच्छेदमात्रे । न चैतौ व्यवच्छेदौ एकस्मिन् धर्मिणि सम्बद्धौ, भावाभावयोस्तादात्म्यादिसम्बन्धासम्भवात् । नापि तौ शब्दौ एकधर्मिविषयौ, घटपटशब्दयोरिवाऽनयोः एकधर्मिविषयत्वानभ्युपगमात् ।

किञ्च, नञेव पर्युदासवृत्तिः प्रसज्यवृत्तिर्वा भवति, गौरिति च नायं नञ्, अतः कथमगोपर्युदासेन गोशब्दवृत्तिः ? गौरयमिति विधिरूपेणैवास्य प्रवर्त्तमानत्वात् । ततः सामान्यविशेषयात्मा शब्दस्य विषयोऽभ्युपगन्तव्यः अलं प्रतीत्यपलापेन । तस्य च सङ्केतव्यवहारकालानुयायित्वप्रसिद्धेः नेत्थम्भूते स्वलक्षणे सङ्केतकरणवैफल्यम् । सौगतकल्पितस्य तु स्वलक्षणस्य सुगतमतपरीक्षायां प्रपञ्चतः प्रतिक्षिप्तत्वात् तत्र सङ्केतकरणं विफलमेव । अतो यत् 'सङ्केतव्यवहारकालाननुयायी' इत्यादि[11] सिद्धसाधनत्वादुपेक्षणीयम् ।

सम्बन्धश्च वाच्यवाचकयोः ऊहाख्यप्रमाणेन प्रतीयते, सर्वत्र सम्बन्धप्रतीतेस्तदधीनत्वात् । अतः 'अस्येदमभिधानमिति सम्बन्धकारिणि ज्ञाने प्रतिनियतेन्द्रियविषययोः शब्दार्थयोर्न प्रतिभासः' इत्याचार्ययुक्तमुक्तम्, सामान्यविशेषात्मनोरेव शब्दार्थयोः प्रतिनियतेन्द्रियविषयत्वोपपत्तेः, अतः कथं तयोः सङ्केतकारिणि ज्ञाने प्रतिभासाभावः ?

ननु नातीतानागतार्थशब्दानां 'नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति' इत्यादिशब्दानाञ्च अर्थाभावेऽपि प्रवृत्तिप्रतीतेः कथमर्थे प्रतिबन्धसिद्धिस्तेषाम् ? इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्,

(१) भिन्ननिमित्तयोः शब्दयोरेकस्मिन्नधिकरणे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम् –प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।६४ । तुलना– यस्य चापोहः शब्दार्थस्तेनानीलानुत्पलव्युदासौ कथं समानाधिकरणाविति वक्तव्यम् । यस्य पुनर्विधीयमानः शब्दार्थस्तस्य जातिगुणविशिष्टं नीलोत्पलशब्दाभ्यां द्रव्यमभिधीयते, जातिगुणौ द्रव्ये वर्तेते न पुनरनीलानुत्पलव्युदासौ तस्मात् समानाधिकरणार्थो नास्तीति ।' –न्यायवा० पृ० ३३१ । न्यायमं० पृ० ३०५ । सामानाधिकरण्यञ्च न भिन्नत्वादपोहयोः । अथानश्चनश्चैव न वृत्तिर्न्यायवत्ता तयोः ॥ न चासाधारणं वस्तु गम्यतेऽन्यच्च नास्ति ते । अगम्यमानमैकार्थ्यं शब्दयोः क्वानुगम्यते ॥ –मी० श्लो० अपोह० श्लो० ११८–१९ । अनेकान्तजय० पृ० ४० । प्रमेयक० पृ० ४३६ । (२) धर्मी भावात्मकः अभावात्मकौ च अनीलानुत्पलव्यवच्छेदौ । (३) नीलमुत्पलमिति शब्दौ । (४) सामानाधिकरण्यं हि भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः शब्दयोः एकस्मिन्नर्थे वृत्तिः –आ० टि० । (५) सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य । (६) सामान्यविशेषात्मकं अर्थे । (७) सौगतकल्पितस्य । (८) पृ० ३७९ । (९) क्षणिकस्वलक्षणे । (१०) सङ्केतकरणम् । (११) पृ० ५५२ पं० ९ । (१२) ऊहाख्यप्रमाणाधीनत्वात् । (१३) पृ० ५५३ पं० ४ । (१४) सङ्केतकारिणि । (१५) शब्दानाम् ।

1 जिज्ञासति ब० । 2–विषयो घट–आ० । 3–शब्दप्रवृत्ति ब० श्र० । 4–वाच्य वस–आ० । 5 तदधीन–श्र० । 6 प्रतिबन्धाभावात्–श्र० ।

यतो न वयं सर्वशब्दानामर्थनान्तरीयकत्वं प्रतिपन्नाः । किंतर्हि[1] सुनिश्चिताप्तप्रणेतृकाणामेव । न च केषाञ्चिच्छब्दानामर्थव्यभिचारित्वदर्शनात् सर्वेषां तद्व्यभिचारित्वं युक्तम्, मरीचिकायां जलाद्यवभासिनोऽध्यक्षस्य अप्रामाण्योपलम्भात् सत्यजलाद्यवभासिनोऽप्यस्याऽप्रामाण्यप्रसङ्गात् । मरीचिकायां जलाद्यवभासिन एवास्याऽप्रामाण्यं बाधकसद्भावान्नेतरस्य इत्यन्यत्रापि समानम् । तन्न प्रत्यक्षशब्दयोः परमार्थविषयत्वे कश्चिद्विशेषः ।

अतो निराकृतमेतत्–'य यदेवेन्द्रियग्राह्यम्' इत्यादि । नहि प्रतिभासभेदो विषयभेदं प्रसाधयति, अभिन्नेऽप्यर्थे स्वसामग्रीविशेषात्तद्भेदस्योपपद्यमानत्वात् दूरासन्नार्थोपनिबद्धदृष्टिप्रेक्षकजनवत् । यथैव हि दूरासन्नदेशादिसामग्रीविशेषवशात् पादपादेरभिन्नस्यापि विभिन्नप्रतिभासविषयत्वं तथा शाब्दप्रत्यक्षप्रत्यययोरभिन्नविषयत्वेऽपि शब्देन्द्रियादिसामग्रीभेदाद् अस्पष्टेतरप्रतिभासभेदो न विरोधमध्यास्ते । अत अन्धस्य चक्षुष्मतश्च अभिन्नेऽपि विषये सामग्रीभेदात् प्रतिभासभेदोपपत्तेः अयुक्तमुक्तम्–'शब्दात्प्रत्येति भिन्नाक्षो नतु प्रत्यक्षमीक्षते ।' इति ।

यच्चान्यदुक्तम्–'वाच्यवाचकभावश्च कार्यकारणभावान्नान्य' इत्यादि, तदप्यचारु, यतः सति बुद्धिसम्बन्धिनि प्रतिबिम्बे अस्य शब्दजन्यत्वात् तद्वाच्यत्वं स्यात् शब्दस्य च तज्जनकत्वाद् वाचकत्वम्, न च तदस्ति, प्रागेवास्य प्रपञ्चतः प्रतिषेधात् । यदि च कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभावः स्यात्, तदा श्रोत्रज्ञाने प्रतिभासमानोऽपि शब्दः

(१) जनाः । तुलना–'न हि वयं सर्वशब्दानां प्रामाण्यं प्रतिपद्येमहि किं तर्हि सुनिश्चिताप्तप्रणेतृकाणामेव । तत्र प्रामाण्यं प्रति प्रत्यक्षशब्दयोर्विशेषमुपलभामहे ।"–न्यायावता० टी० प० ६ । (२) अर्थाविनाभावित्वम् । (३) अनाप्तप्रणेतृकाणाम् । (४) अल्पज्ञानस्य । (५) तुलना–"न च ग्राहकप्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासभेदात् विषयस्वभावभेदाभावः, सद्देशार्थोपनिबद्धदर्शनप्रत्यासन्नेतरपुरुषज्ञानविषयवत् । यथा हि सकृदेकस्मिन्नर्थे पादपादौ उपनिबद्धदर्शनयोः प्रत्यासन्नविप्रकृष्टपुरुषयोर्ज्ञानाभ्यां विषयीकृते स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदान्न स्वभावभेदः पादपस्य तस्यैकत्वाव्यतिक्रमात्, तथैव ग्राहकयोः प्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासयोः भेदेऽपि स्पष्टमन्दतया न तद्विषयस्य भेदः स्वलक्षणस्यैकस्वभावत्वाभ्युपगमात् ।'–अष्टश०, अष्टसह० पृ० १२४ । 'करणभेदेन प्रतिपत्त्योर्भेदात् । अन्धस्य हि शब्दाद्रूपविषयं विज्ञानमुत्पद्यते न तु चाक्षुषमिति । यस्य चापरोक्षं चाक्षुषं विज्ञानमस्ति असावनन्धः ।–प्रश० व्यो० पृ० ५८६ । स्पष्टास्पष्टाकारतयाऽध्यप्रतिभासभेदश्च सामग्रीभेदान्न विरुध्यते दूरासन्नार्थोपनिबद्धेन्द्रियप्रतिभासवत् ।–प्रमेयक० प० ४४६ । सन्मति० टी० पृ० २५९ । स्या० र० प० ७१५ । (६) प्रतिभासभेदस्य । (७) पृ० ५५३ प० १० । (८) पृ० ५५६ प० १५ । (९) बुद्धिगतप्रतिबिम्बस्य । (१०) इयता कार्यं वाच्यं कारणं वाचकमिति सिद्धम्–आ० टि० । (११) बुद्धौ प्रतिबिम्बम् । (१२) शब्दं निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य कारणम्, 'नाकारणं विषयः' इत्यभ्युपगमात् । तुलना–'यतो यदि कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभावः स्यात् तदा श्रोत्रज्ञाने प्रतिभासमानः शब्दः स्वप्रतिभासस्य भवत्येव कारणमिति तस्याप्यसौ वाचकः स्यात् । यथा च विकल्पस्य शब्दः कारणम् एवं परम्परया स्वलक्षणमपि अतस्तदपि वाचकं स्यात्'–रत्नाकराव० ४।११ ।

1–ज्ञानप्रतिमा–श्र०, ब० ।

स्वप्रतिभासस्य भवत्येव कारणम् अतस्तस्याप्यसौ वाचकः स्यात्। यथा च विकल्पस्य शब्दः कारणम् एवं पारम्पर्येण स्वलक्षणमपि, अतस्तदपि वाचकं स्यात्। अतः प्रतिनियतवाच्यवाचकभावव्यवस्थाविलोपः स्यात्। ततो यद्यत्र यथा निर्बाधबोधे प्रतिभासते तत्तत्र तथैवाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा अन्तर्मुखमाकारात्मकतया, प्रतिभासते च अबाधे शाब्दे प्रत्यये सामान्यविशेषात्मकतया बहिर्घटादिकं वस्त्विति ॥छ॥

शब्दस्य सामान्यमात्रवाचकत्वमिति मीमांसकस्य पूर्वपक्षः – ननु सामान्यविशेषात्मकतया शाब्दप्रत्यये बहिर्घटादिवस्तुनः प्रतिभासमानत्वमसिद्धम्, शब्दानां सामान्यमात्रगोचरचारितया तत्प्रभवप्रत्ययस्य तन्मात्रविषयतया एवोपपत्तेः। सामान्यमात्रमेव हि शब्दानां गोचरः, तस्यैव क्वचित् प्रतिपन्नस्य एकरूपतया सर्वत्र सङ्केतविषय-

(१) स्वप्रतिभासस्य–आ० टि०। (२) कारणं यतो भवत्यनेन वाचकम्। (३) शब्दः स्वलक्षणाच्छब्दग्राहि निर्विकल्पकं तस्माच्च सविकल्पकम् अथवा स्वलक्षणान्निर्विकल्पकं तस्माच्च सविकल्पकमिति। (४) स्वलक्षणमपि कारणत्वाद्वाचकं स्यात्। (५) स्वलक्षणस्यापि वाचकत्वं प्रसक्तं। (६) शाब्दे बोधे सामान्यविशेषात्मकतयैव अर्थः प्रतिभाति तत्र तथैव निर्बाधबोधप्रतीतिविषयत्वात्। (७) तुलना– अनेकमेकञ्च पदस्य वाच्यम्'–वृहत्स्व० श्लो० ४४। 'अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम्।"–अयोगव्य० श्लो० १४। (८) आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात् –जैमिनिसू० १।३।३३।– तु शब्दः पक्षान्तरं व्यावर्तयति। आकृतिः शब्दार्थः –शाबरभा० १।३।३३। आकृतिशब्देन जातिरेवाभिप्रेता मीमांसकैः तथाहि–'जातिमेवाकृतिं प्राहुः व्यक्तिराक्रियते यया। सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम् ॥३॥ तन्निमित्तञ्च यत्किञ्चित्सामान्यं शब्दगोचरम् ॥४॥ सामान्यमाकृतिर्जातिः शक्तिर्वा साऽभिधीयताम् ॥१८॥ यद्यप्येव वस्त्वनेकाकारं तर्हि तादृगेव शब्दोऽभिमतः सामान्यमात्राभिधायी न स्यादत आह–न चेति। न च तत्तादृक् कश्चिच्छब्दः शक्नोति भाषितुम् ॥ ६२ ॥ सामान्यांशानपोद्धृत्य पदं सर्वं प्रवर्तते। –मी० श्लो० आकृति० श्लो० ३४, १८, ६२। 'पूर्वं सामान्यविज्ञानात् चित्रबुद्धेरनुद्भवात्। गामानयेति वाक्याच्च यथार्थैव परिग्रहात् ॥ गोशब्दोच्चारणे हि पूर्वमेवागृहीतासु व्यक्तिषु सामान्यं प्रतीयते तत्पूर्वकत्वाच्च पश्चाद् व्यक्तयः प्रतीयन्ते अतश्चाकृतिप्रत्ययस्य निमित्तान्तराभावाद् व्यक्तिप्रत्यये च पूर्वप्रतीतसामान्यनिमित्तत्वात् आकृतिः शब्दार्थ इति विज्ञायते। यदि च व्यक्तयोऽभिधेया भवेयुस्ततस्तासां चित्रखण्डमुण्डशबलादिरूपस्वरूपग्रहणाद्विचित्रा शब्दोच्चारणे बुद्धिः स्यात्। एकाकारा तु उत्पद्यते। तेनाप्याकृतिः शब्दार्थ इति निश्चीयते। गामानयेति चोदिते अर्थप्रकरणाभावे या काञ्चित् सामान्ययुक्तां व्यक्तिमानयति न सर्वां न विशिष्टाम्। यदि च व्यक्तेरभिधेयत्वं ततः सर्वासां युगपदभिहितत्वात् सर्वानयनं स्यात्। या वाऽभिधया सैवैका आनीयेत यतस्त्वविशेषेण जातिमात्रयुक्ता आनीयते तेनापि सामान्यस्य पदार्थत्वं विज्ञायते।'–तन्त्रवा० १।३।३३। 'आनन्त्यव्यभिचाराभ्यां शक्त्यनेकत्वबाधनं। सम्बन्धाग्रहणान्नाश्चित्रबुद्धेरभावतः ॥ अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेकरूपप्रतीतितः। आकृतेः प्रथमज्ञानात्तस्या एवाभिधेयता ॥ व्यक्त्याकृत्योरभेदाच्च व्यवहारोपयोगिता। लिङ्गसंख्याऽभिसम्बन्धः सामानाधिकरण्यधीः ॥ सर्वं समञ्जसं ह्येतदस्यानेकान्तवादिनः। –शास्त्रदी० १।३।३५। सम्बद्धा धर्मात्मतत्र भिद्यमाना यथास्थिषु। जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ॥'–वाक्यप० ३।३३। (९) शब्दप्रभव–आ० टि०। (१०) सामान्यस्य–आ० टि०। (११) व्यक्तिविषय। (१२) यावन्त्वनन्तास्वपि व्यक्तिषु।

1 शब्दप्रत्यय श्र० ब०। 2–विषयतया ब०। 3 तस्य प्रति–आ०। 4–एवोपपत्ते ब०।

तोपपत्तेः, न पुनर्विशेषाः[1] तेषामानन्त्यतः[2] कार्त्स्न्येनोपलब्धुमशक्यतया तद्विषय[3]तानुपपत्तेः। अथ यावतामुपलम्भः तावत्स्वेव सङ्केतक्रियोपगम्यते, तर्हि विशेषान्तरेषु सङ्केतासम्भवात् शाब्दव्यवहारानुपपत्तिः। न चायोगिनः प्रतिपत्तुः प्रत्येकमशेषविशेषोपलम्भः[4] सकृत् क्रमेण वा सम्भवति, अयोगित्व[5]विरोधानुषङ्गात्। योगिनस्तु विनोदापन्नत्वात् तदुपलम्भो[6] दूरोत्सारित एव। न चानुपलब्धेषु तेषु[7] 'इदमस्य वाचकम्, इदञ्च वाच्यम्' इत्यभिधानाभिधेयप्रतिपत्तिनियमलक्षणः सङ्केतः सम्भवति, तदसम्भवे[8] च शब्दश्रवणादर्थप्रतिपत्त्यनुपपत्तेः सिद्धः शाब्दव्यवहारोच्छेदः। ततस्तद्व्य[9]वहारमिच्छता सामान्यमात्रे सङ्केतोऽभ्युपगन्तव्यः अतस्तदेव[10] शब्दार्थः सिद्धः।

किञ्च, जातिमद्विशेषशब्दार्थवादिना किं जातिमभिधाय शब्दो व्यक्तिमभिधत्ते, अनभिधाय वा? न तावदभिधाय, जातिलक्षणविशेषणविशेषप्रतिपत्तावेव उपक्षीणशक्तिकत्वेनास्य विशेष्याप्रतिपादकत्वप्रसङ्गात्। उक्तञ्च[11]–

"विशेष्यं नाभिधा[12] गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे।" [ ] इति।

नाप्यनभिधाय, विशेषमात्रप्रतिपादकत्वेन जातिमद्वाचकत्वाभावानुषङ्गात्। न च सामान्यमात्रस्य अभिधानैरभिधाने विशेषाणामनभिधानात् प्रयोजनार्थिनः शब्दात्प्रवृत्तिर्न प्राप्नोति, प्रतिपन्नस्यापि तेन[13] तन्मात्रस्य[14] प्रयोजनाप्रसाधकत्वादित्यभिधातव्यम्, तत्प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या[15] विशेषाणामपि प्रतिपत्तिसम्भवात्। प्रथमतो हि शब्दात्सा-

---

(१) शब्दविषया इति सम्बन्धः। (२) "न ह्यनन्तासु व्यक्तिषु सम्बन्धः शक्यतेऽवगन्तुम्।"–शास्त्रदी० १।३।३५। (३) सङ्केत–आ० टि०। (४) अशेषव्यक्त्युपलम्भे हि सर्वज्ञत्वमेव स्यादिति भावः। (५) मीमांसको हि सर्वज्ञं न मनुते–आ० टि०। (६) तस्य व्यक्तीनामुपलम्भः। (७) विशेषेषु–आ० टि०। (८) अभिधानाभिधेयप्रतिपत्तिनियमलक्षणसङ्केताभाव–आ० टि०। (९) शाब्दव्यवहार–आ० टि०। (१०) सामान्यमेव–आ० टि०। (११) उद्धृतोऽयम्–प्रश० व्यो० पृ० १९१। काव्यप्र० पृ० ४४। मुक्तावं० दिन० पृ० ३७३। काव्यानु० पृ० २५। 'अभिधा पदशक्तिः, विशेष्यं न गच्छेत् न प्राप्नोति। कुत इत्याशङ्कायामाह–क्षीणेति। क्षीणशक्तिर्विशेषणे इत्यनन्तरं सन्धिना पूरणीयम्। तथा च यतो विशेषणं प्राप्य पदशक्तिः क्षीणशक्तिः क्षीणसामर्थ्या भवत्यतो विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् न प्राप्नुयादिति पर्यवसितार्थः।"–रामरु० पृ० ३७३। (१२) 'स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।"–काव्यप्र० पृ० ३९। (१३) शब्दात–आ० टि०। (१४) सामान्यमात्रस्य–आ० टि०। (१५) सामान्यप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या। 'न ह्यनभिधाय गोत्वमुपलक्षणं गोव्यक्तावेव प्रयोगव्यवस्था लभ्यते। तच्चेदभिहितं सिद्धमाकृतिशब्दार्थत्वमिति।'–तन्त्रवा० १।३।३३। "न ह्यनभिधाय जातिं तज्जातीयत्वेन रूपेण व्यक्तिरभिधातुं शक्यते। ततश्च विशिष्टाभिधानमेव वाचोयुक्त्यन्तरेणापन्नं न शुद्धाभिधानम्। विशिष्टाभिधाने च पूर्वतरं विशेषणमभिधातव्यम्। तदभिधानं च तत एव अत्यन्ताविनाभूतव्यक्तिप्रतिपत्तिसिद्धेः न तत्र अभिधानशक्तिकल्पनावसरः।"–शास्त्रदी० १।३।३५।

---

1 सह क्रमेण ब०। 2–व्यमभिधा–श्र०। 3 शब्दार्थः प्रसिद्धः श्र०। 4–लक्षणप्रतिप–ब०। –लक्षणविशेषणप्र–श्र०। 5–रभिधान

मान्यमात्र प्रतीयते, पश्चात्तदन्यथानुपपत्त्या पिण्डविशेषो लक्षणया प्रतीयते निराकारस्य सामान्यस्य अश्वनिपाणवदसम्भवात्। उक्तञ्च–

"शैलाभिधयाविनाभूतप्रतीतिलक्षणोच्यते।" [तन्त्रवा० १।४।२३] इति।

तैल्लक्षितगोपिण्डादिविशेषप्रतीत्य यथानुपपत्त्या तु वाहदोहादिप्रयोजनविशेषप्रतीति लक्षितलक्षणेति ॥छ॥

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–सामान्यमात्रमेव हि शब्दाना गोचर इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, सङ्केतानुसारेण शब्दस्य वाचकत्वोपपत्ते। सङ्केतश्चास्य सर्वत्रैव प्रतिपन्नो न पुन सामान्यमात्रे, प्रवृत्त्यागोचरतया वाहदोहाद्यर्थक्रियाकारित्वविकलतया च केवलेऽस्मिन् शाब्दव्यवहारासम्भवत सङ्केतप्रतिपत्तेर्निष्फलत्वात्। 'एवंविधाद्धि शब्दा देवविधोऽर्थ त्वया प्रतिपत्तव्य, एतज्जातीय के चार्थे शब्दोऽप्येतज्जातीयक प्रयोक्तव्य' इति सदृशपरिणामापन्नयोरेव वाच्यवाचकयो सङ्केतविज्ञा सङ्केत प्रतिपाद्यो माहित ।

तद्विरोधपुरस्सर शब्दस्य वस्तुभूतमान्यविशेषात्मकार्थ वाचकत्वसमर्थनम्–

यदपि 'विशेषाणामभिधेयत्वे आनन्त्यत कात्स्न्येनोपलब्धुमशक्यतया' इत्याद्युक्तम्, तदप्यसाम्प्रतम्, साध्यसाधनव्यक्तिवत् सदृशपरिणामापन्नाना वाच्यवाचकव्यक्तीनामानन्त्येऽपि ऊहज्ञानेन कात्स्न्येन प्रतिपत्तु शक्यत्वात्। एतच्च शब्दार्थयो

(१) आह च–तेन तत्राभिनव्यक्त क्रियासम्बन्धचोदना। जातिव्यक्त्योरभेदो वा वाक्यार्थेषु विवक्षित ।'–शास्त्रदी० १।३।३५। लक्षणाया स्वरूपम्–"मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया॥"–काव्यप्र० पृ० ४०। सा० द० २।९। वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तित । तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वया लक्षणोच्यते ॥–प्रक० वाक्यार्थ० पृ० १३। (२) अभिधयाविनाभूत प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते'–तन्त्रवा० १।४।२३। उद्धृतोऽयम्–अभिधयाविना –काव्यप्र० पृ० ५०। प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते–तैत्ति० पृ० २०४। पदार्थदी० पृ० ३१। (३) सामान्यलक्षित। (४) यत्र तु लक्ष्यार्थस्य परम्परासम्बन्धरूपा लक्षणा सा लक्षितलक्षणेत्युच्यते। यथा द्विरेफादिपदे रेफद्वयसम्बन्धो भ्रमरपदे ज्ञायते, भ्रमरपदस्य च सम्बन्धो भ्रमरे ज्ञायते तत्र सर्वत्र लक्षितलक्षणा। –मञ्जूषा० पृ० २८९। (५) पृ० ५६६ प० ७। (६) सामान्यवति विशेष– आ० टि०। (७) आनिमात्रे हि सङ्केतात् व्यक्तेर्भान सुदुष्करम्। –शब्दश० का० १९। (८) तुलना– तत्र जातिरनर्थक्रियायोग्या। नहि जातिर्वाहदोहादौ क्वचिदपि प्रत्युपस्थिता। न वा तादृगुपकरणाभावे लोकव्यवहारेषु शब्दप्रयोग। न जातिर्वाहदोहादिक कर्तु समर्था। ततश्च वाहदोहार्थिनो जातिचोदना निष्फलेति न तदर्थ शब्दप्रयोग। यापि स्वप्रतिपत्तिलक्षणाऽर्थक्रिया जातरुपवर्ण्यते न तस्यामपुरुष प्रवर्तते शब्दप्रयोगादेव तस्या सिद्धत्वात्। जातिमात्रप्रतिपत्त्यर्थ शब्दप्रयोगो भविष्यतीति चेन्न आह–नेत्यादि। तादृग्धर्मिणि वाहदोहादिप्रकरणे निष्फलस्य शब्दप्रयोगस्योपेक्षणीयत्वादिति युक्तत्वात्। जातौ च वाच्यायां सर्वथा सामान्यत्वात्र वाक्य न वाक्यार्थप्रतीति स्यात गोत्वस्य क्रियान्वैस्त्वयाभावात्। –प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ११९५। न खलु सर्वात्मना सामान्य वाच्य तत्प्रतिपत्तः अर्थक्रिया प्रत्यनुपयोगात्। न हि गोत्व वाहदोहाद्युपयुज्यते। –अष्टश०, अष्टसह० प० १३९। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०२। (९) पृ० ५६७ प० १।

1 लक्षणाया श्र०। 2 तदुक्तम् ब० श्र०। 3 प्रतिपन्ने न ब०।

निर्व्यसम्बन्धनिषेधे[1] अपोहप्रतिषेधे[2] च प्रपञ्चितमित्युपरम्यते । तथा च 'न चायोगिनः प्रतिपत्तुः प्रत्येकमशेषविशेषोपलम्भः सकृत् क्रमेण वा सम्भवति' इत्यादि[3] प्रत्युक्तम्, अयोगिनोपि अशेषविशेषाणामुक्तविधिनोपलम्भसम्भवप्रतिपादनात् ।

यदप्युक्तम्–'किं जातिमभिधाय शब्दो व्यक्तिमभिधत्ते' इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्, जातितद्वतोर्युगपदेव एकत्र ज्ञाने प्रतिभाससम्भवात् । नचैकज्ञानविषयत्वे विशेषणविशेष्यभावप्रतिनियमो न स्याद्, विपर्ययो वा स्यात् विशेषणस्यापि विशेष्यरूपतानुषङ्गादित्यभिधातव्यम्, दण्डपुरुषयोर्युगपदेकत्रापि ज्ञाने प्रतिभासमानयोः विशेषणविशेष्यभावप्रतिनियमप्रतीतेः । तत्प्रतिभासाविशेषेऽपि हि येन विशिष्टं यत् प्रतीयते तद्विशेषणम् इतरद् विशेष्यम् । न खलु दण्डादेः पुरुषे विशिष्टप्रतीतिजननादन्यद् विशेषणत्वं सम्भवति । यथा च चाक्षुषे ज्ञाने दण्डपुरुषयोः विशेषणविशेष्यभावापन्नयोर्युगपत्प्रतिभासमानत्वात् तत्प्रतिनियमाविरोधः तथा दण्डीतिशब्देऽपि । नह्यत्र दण्डमात्रं पुरुषमात्रं वा प्रतिभासते, विशेषणविशेष्यभावापन्नस्य युगपदुभयस्य प्रतिपादनात् । अतो दण्डिशब्दात् दण्डविशिष्टः पुरुषो यथा प्रतिभासते तथा गोशब्दात् गोत्वविशिष्टः पिण्ड इति प्रतिपत्तव्यम् । अथ गोशब्दश्रवणात् शाबलेयादिविशेषाऽप्रतीतेर्न विशेषः शब्दार्थः, तन्न, तद्विशेषाप्रतीतावपि सामान्ययुक्तः ककुदादिमान् विशेषो गोशब्दात् प्रतीयत एव शाबलेयादिविशेषास्तु नर्मुक्ताः शाबलेयादिशब्देभ्यः प्रतीयन्ते । नचैतावता सामान्यमेव शब्दार्थो युक्तः, प्रधानोपसर्जनभावेन उभयोः प्रतिभासनात् । 'गामानय' इत्यादि-

(१) पृ० ५५० पं० ११ । (२) पृ० ५६४ पं० १४ (३) पृ० ५६७ पं० ३ । (४) उक्तविधिना उक्तप्रमाणेन (ऊहाख्येन) –आ० टि० । (५) पृ० ५६७ पं० ९ । (६) तुलना–"प्रत्यक्षं तावद् द्वयोरपि विशेषणविशेष्ययोरिन्द्रियविषयत्वं सामान्ये हि संयुक्तसमवायादिन्द्रियं प्रवर्तमानं विशेषणवद्विशेष्यमपि विषयीकरोति । न हि सामान्यं प्रत्यक्षं विशेषोऽनुमेय इति व्यवहारः । एवं गुणत्वग्राहिणीन्द्रियं गुणिनोऽनुमेयत्वं स्यात्, नचैवमस्ति । तस्माद् विशेषपर्यन्तं प्रत्यक्षं तथा शब्दमपि नतु पर्यवसायं न तु सामान्यमात्रनिष्ठमिति युक्तम् यथा विध्यन्तपर्यन्तो वाक्यव्यापार इष्यते । तथैव व्यक्तिपर्यन्तः पदव्यापार इष्यताम् ।"–न्यायम० पृ० ३२४–२५ । (७) दण्ड एव विशेषणं पुरुष एव च विशेष्यमिति । (८) एकत्र ज्ञाने प्रतिभासमानेऽपि । (९) दण्डयुक्तोऽयमिति । (१०) शाब्दे ज्ञाने । (११) तुलना–"अथ गोशब्दश्रवणाच्छाबलेयादिविशेषाप्रतिपत्तेन विशेषः शब्दार्थः, सत्यम् किं तर्हि ? सामान्ययुक्तोऽयं प्रतीयते न शाबलेयादिविशेषः, स च शाबलेयादिशब्देभ्य एव प्रतीयत इति न चैतावता सामान्यमेव शब्दार्थः प्रधानोपसर्जनभावेनोभयोः प्रतिभासनात् । तथा गामानयेत्यादिचोदितः सामान्यवतोऽस्य आनयनादिक्रियया सम्बन्धात् ।'–प्रश० व्यो० पृ० १०२ । (१२) शाबलेयादिशब्दस्य विशेषस्य अप्रतिभासनेऽपि । (१३) गोत्वविशिष्टः । (१४) तुलना– व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः । गुणप्रधानभावस्यानियमेन पदार्थं वर्णिनि । यदा हि भेदविवक्षा विशेषावगतिश्च तदा व्यक्तिः प्रधानम् अङ्गं तु जात्याकृती यदा तु भेदोऽविवक्षितः सामान्यविवक्षा तदा जातिः प्रधानम् अङ्गं तु व्यक्त्याकृती । तदेतद् बहुलं प्रयोगेषु । आकृतेस्तु प्रधानभाव उत्प्रेक्षणीयः ।"–न्यायभा० २।२ ६७ । न्यायवा० पृ० ३२९ । न्यायम० पृ० ३२५ ।

1–मिरपुष्यते ब० । 2 युगपत्तदुभयस्य ब०, श्र० । 3 बगाबन–पृ० ।

प्रयोगेषु सामान्यतोऽर्थस्य आनयनादिक्रियाभिसम्बन्धप्रतीतेश्च तद्वानेव शब्दार्थः ।

यच्चान्यदुक्तम्-'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्' इत्यादि, तदप्यपेशलम्, 'विशेषणं प्राक् प्रतिपाद्य पुनर्विशेष्यं शब्दः प्रतिपादयति' इति विरम्य व्यापारानभ्युपगमात्, युगपदेवास्य विशेषणविशेष्यप्रतिपादनव्यापारप्रदर्शनात्। क्षीणशक्तित्वञ्चास्याऽनुपपन्नम्, शक्तेः कार्यानुमेयत्वात्, विशेषणविशेष्यप्रतिपत्तिलक्षणं हि कार्यमुपलभ्यमानं तत्कार्यं शक्तिमनुमापयति। भिन्नज्ञानालम्बनयोश्च विशेषणविशेष्यत्वे इदं चोद्यं स्यात्, न त्वेकज्ञानालम्बनयोः। भवतोऽपि चैतच्चोद्यं समानम्-उपलब्धस्य हि शब्दस्य अर्थप्रतिपादकत्वं स्यात्, अतः स्वात्मप्रतिपत्तावेवास्य क्षीणशक्तित्वात् सामान्यलक्षणाऽर्थप्रतिपादकत्वमपि न स्यादिति लाभमिच्छतो मूलोच्छेदः स्यात्।

अथ सामान्यप्रतिपत्तेर्दृष्टत्वान्न तत्रास्य[11] शक्तेः प्रक्षयः, तर्हि विशेषणविशेष्यप्रतिपत्तेरप्यतो[12] दृष्टत्वात् कथं तत्राप्यस्य[13] तत्प्रक्षयः[14] स्यात्।

यदप्यभिहितम्[16]-'तत्प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या' इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्, यतो यदि शब्दात्सामान्यमेव प्रतीयते तर्हि व्यक्तेः किमायातं येन तत्ता[17] लक्षयति ? अथ

(१) तुलना- अन्यथा तु प्रयोगेषु गां दहीत्येवमादिषु। तद्वतोऽर्थक्रियायोगात्तस्यैवाहुः पदार्थताम् ॥'-न्यायम० पृ० ३२३। (२) सामान्यविशेषवान्-आ० टि०। (३) पृ० ५६७ पं० १२। (४) तुलना- प्रथमं जातिमात्रमवधार्य तद्व्यवसानादनन्तरं विशेषमवबोधति, किं वाऽन्तर्भाविन्नविशेषामेव जातिम् ? नाद्यः पदबुद्धयो विरम्य व्यापाराभावात्।'-विस्तु० पृ० २६३। 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव इति वादिभिरेव।-सा० द० परि०५। (५) शब्दस्य। (६) शब्दस्य। तुलना- ननूक्तं क्षीणशक्तित्वाद्विशेषणानि विशेष्यं नाभिदध्यात् इति तावच्छक्तेः कार्यविषयत्वात्। कार्यञ्च विशेषणप्रतिपत्तिवत् विशेष्यप्रतिपत्तिलक्षणमुपलभ्यमानं शक्तिव्यवस्थापकम्। अथ कार्यस्य बाधाऽभावे यत्र स एव ब्रुवाणः स्वसंवेदनमपि बाधते विशेष्यप्रतिपत्तेः संवेदनात्। -प्रश० व्यो० पृ० १९२। (७) विशेषणविशेष्योभयप्रतिपत्तौ। (८) शब्दस्य। (९) मीमांसकस्यापि। तुलना- समानञ्चैतत् उपलभ्यमानस्य शब्दस्य अर्थप्रतिपादकत्वाभ्युपगमात् स्वात्मप्रतिपत्तौ च क्षीणत्वात् सामान्यप्रतिपादकत्वं न स्यात्।'-प्रश० व्यो० पृ० १९२। (१०) शब्दस्य। (११) सामान्यप्रतिपत्तौ शब्दस्य। (१२) शब्दात्। (१३) शब्दस्य। (१४) शक्तिप्रक्षयः। (१५) पृ० ५६७ पं० १६। (१६) तुलना- व्यक्तेरशक्यचोदनत्वात् लक्षितलक्षणया जातिरुच्यते इति चेत् अशब्दचोदिते सम्बन्धे सत्यपि कथं प्रवर्तेत ? न हि कश्चित् शब्दः छिन्धीत्युक्ते दण्डिनं छिनत्ति। लक्षितलक्षणत्यादि परः। सत्यं न सामान्यमर्थक्रियाकारि किन्तु व्यक्तिरेव, केवलं व्यक्तेरशक्यचोदनत्वात् कारणात् सामान्यं नियुक्तः शब्दः सामान्यं लक्षयति। तेन सामान्येन शब्दोपनीतेन सम्बन्धाद् व्यक्तिरपि लक्ष्यते इति। न हि गोशब्दादुच्चारितात् गोत्वं प्रतीयते अपि तु गौरेवावगम्यते। न नामैव तथाप्युच्यते। अशब्दचोदितेयादि। यदि नाम जातिव्यक्त्योः सम्बन्धः तथापि अशब्दचोदिते व्यक्तिविशेषे कथं प्रवर्तते ? नैव। दण्डदण्डिनोस्सत्यपि सम्बन्धे न हि कश्चित्प्रमाणपूर्वकारी दण्डं छिन्धि इत्युक्ते दण्डिनं छिनत्ति अशब्दचोदितत्वात्। तथा जातौ चोदितायां व्यक्तौ प्रवृत्तिर्न युक्तेत्यर्थः। -प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।९५। लक्षितलक्षणया वृत्तिरतादात्म्ये न भवेत् सम्बन्धान्तरासिद्धेः कार्मुकादिवत्। -अष्टश० अष्टसह० पृ० १३९। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०२। किञ्च यदि नाम शब्दाज्जातिः प्रतिपन्ना व्यक्तेः किमायातं यनासौ तां गमयति। -प्रमेयक० पृ० ४१२। (१७) सामान्यं तां व्यक्तिम्।

1 यच्चेदं तदप्य-आ०। 2 शब्दसामा-ब०।

व्यक्त्या सह तस्य[1] सम्बन्धसद्भावात् ततः[2] तत्प्रतीयमानं तां लक्षयति, कः पुनस्तस्या[3]स्तेन सम्बन्धो नाम–संयोगः, समवायः, तदुत्पत्तिः, तादात्म्यं वा ? न तावत्संयोगः, अद्रव्यत्वात्[4]। नापि समवायः, अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्[5]। तदुत्पत्तिरपि अत[6] एवानुपपन्ना। तादात्म्याभ्युपगमे तु सामान्यविशेषयोः तादात्म्यापन्नयोः एकस्मादेव गवादिशब्दात् विशेषणविशेष्यरूपतया प्रतीयमानयोः कथमेकस्यैव शब्दार्थत्वं वक्तुं युक्तम्, अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गात् ?

किञ्च, अनयोस्तल्लक्षणः[7] सम्बन्धः शब्दप्रयोगकाल एव प्रतिपन्नः, पूर्वं वा ? न तावत्तत्काल एव, व्यक्तेः शब्दोच्चारणकाले[8]ऽप्रतीतेः, प्रतीतौ वा किं लक्षणया ? तत्काले तत्प्रतीतिश्च[9] किं प्रत्यक्षतः, अनुमानात्, शब्दादेव वा स्यात् ? न तावत्प्रत्यक्षतः, देशकालस्वभावविप्रकृष्टाया व्यक्तेः इन्द्रियसम्बन्धाभावतस्तदुभय[10]प्रत्यक्षेण प्रत्येतुमशक्यत्वात्। नाप्यनुमानतः, तत्प्रतिबद्धलिङ्गाऽदर्शनात्। शब्दादेव तत्प्रतीतौ[11] तु सिद्धं व्यक्तेरपि शब्दार्थत्वम्[12]। अथ पूर्वं जातिव्यक्त्योस्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः प्रतिपन्नः, यदि नाम तत्र[13] तयोरसौ दृष्टो नैतावता सर्वत्र सर्वदा तयोस्तेन[14] भाव्यम्, अन्यथा पटस्य शुक्लरूपेण क्वचित् कदाचित्तादात्म्यदर्शनात् सर्वत्र सर्वदा तद्[15]भावः स्यात्।

अथ जातेरिदमेव स्वरूपं यद् व्यक्तिनिष्ठता, ननु किं सर्वसर्वगतायास्तस्यास्तद्रूपं[16] स्यात्, व्यक्तिसर्वगताया वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः, व्यक्त्यन्तराले[17] तदभाव[18]प्रसङ्गात् तत्र[19] तद्रूप[20]स्यासंभवात्। व्यक्तिसर्वगतायास्तु तस्या[21] तद्रूपोपगमे व्यक्तिवज्जातेरप्यनेकत्वप्रसिद्धेः उभयोरविशेषतः शब्दार्थत्वं स्यात्, न वा कस्यचित्। अस्तु वा अविचारितस्वरूपायास्तस्यास्तन्निष्ठ[22]स्वभावता, तथाप्येषा[23] 'सर्वत्र सर्वदा व्यक्तिनिष्ठा' इति प्रत्यक्षतः प्रतीयेत, अनुमानतो वा ? प्रत्यक्षतश्चेत्, किं युगपत्, क्रमेण वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः,

(१) सामान्यस्य। (२) शब्दात्। (३) व्यक्तेः। (४) द्रव्ययोरेव संयोगात्, संयोगस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात्। (५) न हि मीमांसकाः समवायं स्वीकुर्वन्ति। (६) अपसिद्धान्तप्रसङ्गादेव, नहि सामान्ययोः परस्परमुत्पाद्योत्पादकभावः। (७) सामान्यव्यक्त्योः। तुलना–"सम्बन्धस्तयोस्तदा प्रतीयते पूर्वं वा ?"–प्रमेयक० पृ० ४१२। (८) शब्दोच्चारणसमये। (९) तादात्म्यलक्षणसम्बन्धप्रतीतिः। (१०) इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न। (११) सामान्यव्यक्त्योस्तादात्म्यस्य प्रतीतौ। (१२) न हि व्यक्त्यनधिगतावपि तन्निष्ठः सम्बन्धो ग्रहीतुं शक्य इति। (१३) पूर्वम्। (१४) सम्बन्धेन। (१५) शुक्लतादात्म्यम्। (१६) जातेः यद् व्यक्तिनिष्ठताख्यं स्वरूपमुक्तं तस्य अभावप्रसङ्गात्। (१७) व्यक्त्यन्तराले। (१८) व्यक्तिनिष्ठताख्यस्य स्वरूपस्य असंभाव्यमानत्वात्। व्यक्त्यभावे हि न व्यक्तिनिष्ठताख्यं स्वरूपं सिद्ध्यति अतश्च स्वरूपाभावात् स्वरूपवतः सामान्यस्याप्यभावः। (१९) जातेः। (२०) व्यक्तिनिष्ठताख्यस्वरूपस्वीकारे। (२१) जातेः। (२२) व्यक्तिनिष्ठ। (२३) जाति–आ० टि०। तुलना–"किञ्च, सर्वदा जातिर्व्यक्तिनिष्ठेति प्रत्यक्षेण प्रतीयते अनुमानेन वा ?"–प्रमेयक० पृ० ४१२।

1–विपर्यास्ता–आ०। [illegible] तादात्म्यापन्नविशेषयोः श्र०। 3–तावता सर्वदा श्र०। 4 क्वचित्स्वता वा–आ०। 5 सर्वदा भावः ब०। 6 तदभावप्र–आ०, श्र०। 7–स्य संभवात् श्र०। 8–संभवन् आ०।

निखिलव्यक्तीनां युगपत्प्रतिपत्तौ जातेस्तन्निष्ठतया युगपत्प्रतिपत्त्यनुपपत्तेः । द्वितीयपक्षे तु निरवधेर्व्यक्तिपरम्परायाः युगसहस्रेणापि क्रमेण प्रतिपत्त्यभावतः तस्यास्तन्निष्ठतावसायसम्भवोऽतीव दुर्घटः । तन्न प्रत्यक्षतः तस्यास्तन्निष्ठताधिगमो युक्तः । नाप्यनुमानतः, प्रत्यक्षपूर्वकत्वेनास्य भवताऽभ्युपगमतस्तदभावे तस्यापि तत्राऽप्रवृत्तेः, तस्यास्तन्निष्ठतयाऽविनाभाविलिङ्गासम्भवाच्च । ततः शब्दस्य सामान्यवाचकत्वे व्यक्तिवाचकत्वानुपपत्तिरेव ।

किञ्च, सामान्ये सङ्केतितः शब्दः तदभिधत्ते, असङ्केतितो वा ? न तावदसङ्केतितः, अतिप्रसङ्गात् । अथ सङ्केतितः, किं प्रतिपन्ने सामान्ये तत्सङ्केतः स्यात्, अप्रतिपन्ने वा ? यद्यप्रतिपन्ने, अतिप्रसङ्गः । अथ प्रतिपन्ने, कुतस्तत्प्रतिपत्तिः ? न तावत् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्, नित्यादिस्वभावसामान्यग्राहकत्वेन अनयोः सामान्यपरीक्षावसरे प्रतिक्षिप्तत्वात् । शब्दैकप्रामाणसमधिगम्यत्वे तु अनवस्थेतरेतराश्रयदोषानुषङ्गः । तथाहि–यदि य एव शब्दः सामान्ये सङ्केत्यते तत एव तत्प्रतिपत्तिः, तदा इतरेतराश्रयः–प्रतिपन्ने हि सामान्ये तत्रास्य सङ्केतसिद्धिः, तत्सिद्धौ च ततः सामान्यप्रतिपत्तिरिति । शब्दान्तरात्तु तत्सिद्धौ अनवस्था, तस्यापि हि शब्दान्तरस्य प्रतिपन्ने सामान्ये सङ्केतो भविष्यति, तत्प्रतिपत्तिश्च अन्यस्मात् शब्दान्तरादिति । यदि च शब्दात्सामान्यमेव प्रतीयते, तदा शाब्दमप्रमाणमेव स्याद् गृहीतग्राहित्वात्, शब्दार्थयोः सम्बन्धग्राहिणैव हि प्रमाणेन सामान्यं गृहीतमिति ।

किञ्च, शब्दान्निर्विशिष्टं सामान्यं प्रतीयमानं पुरुषं प्रवर्त्तयति, विशिष्टं वा ? न तावन्निर्विशिष्टम्, अतिप्रसङ्गात् । अथ विशिष्टम्, किङ्कृतमस्य वैशिष्ट्यम्–विशिष्टव्यक्तितादात्म्यकृतम्, तत्रैव तत्प्रवृत्तिहेतुत्वकृतम्, अस्येदमिति प्रतीतिकृतं वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः, तस्य स्वकीयसकलव्यक्तिभिः सह तादात्म्यसद्भावतो विशिष्टव्यक्तावेव तादात्म्यानुपपत्तेः । अथ स्वकीयाखिलविशिष्टव्यक्तितादात्म्यकृतमेव अस्य वैशिष्ट्यमुच्यते, तन्न; तेन सर्वत्र तद्व्यक्तौ पुरुषस्य प्रवृत्तिप्रसङ्गात् प्रतिनियतद्व्यक्तौ प्रवृत्त्यभावः स्यात् । न च गोशब्दात् गोत्वमात्रप्रतीतौ क्वापि व्यक्तौ प्रवृत्तिरुपपद्यते, तस्याः सर्वथाऽप्रतिपन्नत्वात् । यस्मिन् प्रतीयमाने यत् सर्वथा न प्रतीयते न तत्प्रतीतितस्तत्र प्रवृत्तिः यथा जलप्रतीतितोऽनले, गोशब्दाद् गोत्वमात्रप्रतीतौ न प्रतीयन्ते च खण्डादयो व्यक्तिविशेषा इति ।

(१) अनन्तायाः । (२) ज्ञानं । (३) मीमांसकादिना । (४) प्रत्यक्षाभावे । (५) अनुमानस्यापि । (६) जातेर्व्यक्तिनिष्ठत्वबोधने । (७) जातेः । (८) प्रत्यक्षानुमानयोः । (९) पृ० २८५ । (१०) शब्दस्य । (११) सामान्यसिद्धौ । (१२) भूयोदर्शनादिना । (१३) यत्र हि शब्दार्थसम्बन्धग्रहणकाले सामान्यं गृहीतं तत्रैव शब्दोच्चारणकालेऽपि–आ० टि० । (१४) सामान्यस्य । (१५) विशिष्टव्यक्तावेव । (१६) सामान्यस्य । (१७) व्यक्तेः–आ० टि० । (१८) गोत्वसामान्यमात्रस्यैव प्रतिपन्नत्वात्–आ० टि० । (१९) शब्दात् गोत्वप्रतीतावपि न शावलेयादिषु प्रवृत्तिः तत्प्रतीतावपि तेषां सर्वथाऽप्रतिपन्नत्वात् ।

1–जाते सत व० । 2–तत्सिद्धौ आ० ।

अथ गोशब्दाद् गोत्वं प्रतीयमानं गोव्यक्तिसम्बद्धमेव प्रतीयते, कथमेव सामान्यमेव शब्दार्थः स्यात् ? विशेषणविशेष्यभावापन्नयोः सामान्यविशेषयोः ततः प्रतीतेः । ननु गोशब्दात्साक्षाद् गोत्वमेव प्रतीयते, व्यक्तिस्तु तदन्यथानुपपत्त्यैव प्रतीयते इति, तदप्यसुन्दरम्, एवं जातेरेव शब्दार्थत्वमायातं व्यक्तेस्तु प्रमाणान्तरगम्यता, तथा च शब्दस्य लक्षणया विशेषप्रतिपादकत्वं दुर्घटम् । अथ शब्दस्यैव अयमान्तरो व्यापारः यत् सामान्यं प्रतिपाद्य तत्प्रतिपत्तिसहकारी व्यक्तिमपि गमयति लक्षणयेति, तदसाम्प्रतम्, यतो यत्रैव सम्बन्धस्मरणसहकारी शब्दः प्रवर्त्तते स एव तस्यार्थो न पुनस्तदर्थाविनाभावित्वेन यद्यत्प्रमाणान्तरतः प्रतीयते तत्तत्सर्वं शब्दोदरे प्रक्षेप्तव्यम्, अन्यथा प्रत्यक्षसिद्धधूमान्यथानुपपत्त्या सिद्धो वह्निः प्रत्यक्षसिद्ध एव स्यात् । तन्न विशिष्टव्यक्तितादात्म्यकृतमस्य वैशिष्ट्यं घटते ।

नापि तेनैव तत्प्रवृत्तिहेतुत्वकृतम्, अन्योन्याश्रयानुषङ्गात् । तथाहि–सामान्यस्य विशिष्टत्वसिद्धौ सत्यां विशिष्टविशेषेष्वेव प्रवृत्तिहेतुत्वसिद्धिः, तस्याञ्च सत्यां सामान्यस्य विशिष्टत्वसिद्धिरिति ।

तृतीयपक्षे तु चक्रकमासज्यते–सिद्धे हि सामान्यस्य वैशिष्ट्ये विशिष्टविशेषेषु प्रतीतिहेतुत्वसिद्धिः, तस्यां सत्याम् 'अस्येदम्' इति प्रतीतिसिद्धिः, तस्याञ्च सत्यां तस्य वैशिष्ट्यसिद्धिरिति । ततः प्रमाणतो वस्तुव्यवस्थामिच्छता यद् यथा यत्र प्रतिभासते तत् तस्य सदृशेतररूपतया विषयोऽभ्युपगन्तव्यम् यथा चक्षुरादिप्रत्ययस्य नीलादिरूपतया प्रतिभासमानं रूपादि, सामान्यविशेषात्मकं प्रतिभासते च सामान्यविशेषात्मकं वस्तु, तस्मात्तदेव तच्छब्दानां विषयः, न पुनः सामान्यमात्रमिति ॥छ॥

एतेन विधिरेव वाक्यार्थ इति विधिवादिमतमप्यपास्तम् । ते हि ब्रुवते–विधिरेव वाक्यार्थः अप्रवृत्तप्रवर्त्तनस्वभावत्वात्तस्य । तदुक्तम्–"विधेर्लक्षणमेतावदप्रवृत्तप्रवर्त्तनम् ।" [ ] इति । तल्लक्षणे च विधौ वादिनां विप्रतिपत्तिः, तथाहि–वाक्यरूपः शब्द एव प्रवर्त्तकत्वाद्

विधिवादे विविधपक्षाः–

(१) शब्दात् । (२) अर्थापत्ति–आ० टि० । (३) शब्देन हि सामान्यं गृहीतं विशेषस्त्वर्थापत्त्या, किं लक्षणया ?–आ० टि० । (४) सामान्यप्रतिपत्ति । (५) सङ्केतस्मरण । (६) अर्थापत्तेरनुमानाद्वा । (७) सामान्यस्य । (८) अस्येदमिति प्रतीतिकृतं वा इति तृतीये विकल्पे । (९) विधेः । (१०) 'अनुष्ठेयं हि विषयं विधिः पुंसां प्रवर्त्तकः ।'–मी० श्लो० वाक्या० श्लो० २७४ । 'तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः ।'–अर्थस० पृ० २९ । 'प्रवर्त्तकचिकीर्षाया हेतुधीविषयो विधिः ।'–शब्दश० का० १०१ । 'या हि विध्यर्थेन लिङा लोटा कृत्यैर्वाऽपूर्वोपदेशः क्रियते स विधिः ।'–युक्तिदी० पृ० २० । (११) 'ननु चाहुर्विधेर्लक्षणमेतावदप्रवृत्तप्रवर्त्तनम् । अतिप्रसङ्गदोषेण नाज्ञातज्ञापनं विधिः ॥'–न्यायम० पृ० ३४० ।

1 प्रतीयत एव व्य–श्र० । 2–सहकारि व्य–ब०, श्र० । 3 तदप्यसा–श्र० ब० । 4 प्रतिक्षेप्तव्यम् ब०, श्र० । 5 तत्रैव प्रवृ–ब०, श्र० । 6–हेतुत्वसिद्धिरिति तृतीय–ब० । 7 तस्याञ्च सत्यां तत्रैव तस्य प्रवृत्तिहेतुत्वसिद्धिरिति आ० । 8–मतमपास्तम ब० । 9 विधिलक्ष–ब० ।

विधिरित्येके । तद्व्यापारो भावनाऽपरपर्यायो विधिरित्यन्ये । नियोगरित्यपरे । प्रैषादय इत्येके । तिरस्कृततदुपाधिप्रवर्त्तनामात्रम् इत्यन्ये । प्रवर्त्तकत्वात् फलमेव इत्यपरे । फलाभिलाप एव इत्येके । कर्मैव इत्यन्ये । आत्मनोऽप्राप्तक्रियासम्बन्धावगम इत्यपरे । श्रेयःसाधनताख्यधर्म इत्येके । उपदेश इत्यन्ये । कर्त्तव्यताप्रतिपत्तिरेव इत्यपरे । प्रतिभैव इत्येके । भक्तिरेव इत्यन्य । इच्छैव इत्यपरे । प्रयत्न एव इत्येके इति ।

तत्र शब्दविधिवादिनो ब्रुवते–अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवर्त्तकत्वमवधार्यते, तौ च अत्र यथासिद्धौ शब्दस्यैव प्रवर्त्तकत्वमवगमयतः, अतः स एव विधिः । अर्थस्य विधित्वे "क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनम्" [शाबरभा० १।१।२] इति विरुध्यते । प्रवर्त्तकार्थप्रतिपादनद्वारेण वचनस्य प्रवर्त्तकत्वे च औपचारिकं प्रवर्त्तकत्वमस्य स्यात्, मुख्यञ्च वस्तुवृत्त्या तत्र तत्प्रवर्त्तकत्वम् इत्यर्थनिरपेक्षमेवास्य तत्प्रतिपत्तव्यम् । व्यापारातिशयप्रवर्त्तकत्वपक्षेऽपि न शब्दस्य मुख्यप्रवर्त्तकत्वक्षतिः, व्यापारातिशयसमाश्रयणेनैव सर्वस्य साध्यवस्तुसम्पादकत्वात् । न खलु काष्ठादीनां ज्वालाद्यवान्तरव्यापारावलम्बनेऽपि पाके मुख्यं कारकत्वाभिधानं विरुध्यते । प्रवर्त्तकत्वञ्च यद्यपि सामान्येन शब्दस्योच्यते तथापि लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययानामेव तद् युक्तं शब्दान्तराणां प्रवृत्तिहेतुत्वाऽदृष्टेः ।

अत्राचे[11] शब्दस्य विधित्वमसहमाना 'प्रमाणत्वात्, अनियमात्प्रवृत्तेः, संविदाश्रयणात्' इत्यादियुक्तिविरोधं दर्शयन्ति । तथाहि–प्रमाणत्वं तावत् प्रवर्त्तकाऽर्थाऽवबोध

(१) भाट्टाः । (२) प्राभाकराः । (३) परित्यक्तपुरुषादिविषय–आ० टि० । (४) शब्दस्य । (५) शब्दे । (६) प्रवर्त्तकत्वम् । (७) शब्दस्य । (८) प्रवर्त्तकत्वम् । (९) पंचमो –आ० टि० । पञ्चमो लकार इत्यर्थः । (१०) लोट् सप्तमी–आ० टि० । सप्तमो लकार इत्यर्थः । (११) मण्डनमिश्राद्यः । (१२) प्रमाणत्वादनियमात्प्रवृत्तेः संविदाश्रयात् । समभिव्याहृते शब्दो न विधिः कार्यकल्पनात् ॥ –विधिवि० पृ० ५ । तत्र शब्दः स्वरूपेण वायुवच्चत्प्रवर्त्तकः । प्रमाणत्वं विहन्येत नियमाच्च प्रवर्त्तयेत् ॥ –न्यायसु० पृ० २६ । (१३) प्रमाणं हि शब्दः प्रतिज्ञायते, बोधकञ्च प्रमाणम्, तत्र प्रवृत्तिहेतुकञ्चनार्थातिशयमवगमयन् शब्दस्तोत्पादत्वेन प्रमाणतामश्नुते स्वयमेव तु प्रवृत्तः कारकस्तां प्रमाणतामपजह्यात् । न हि कारको हेतुः प्रमाणमपि तु ज्ञापकः ।–प्रमाणं हि शब्दः प्रतिज्ञायते बोधनात्मकपणोऽर्थो धर्म इति । बोधकञ्च प्रमाणम् अबाधितानधिगतासंदिग्धार्थप्रमाजनकम् । स्वयमेव तु प्रवृत्तप्रमाया कारकः तां प्रमाणतामपजह्यात् । ननु प्रमाया अपि प्रवृत्ते कारकः कस्मान्न प्रमाणमत आह–नहि कारको हेतुः प्रमाणम् । माभूद बीजादीनामङ्कुरादिकारकाणां प्रामाण्यम् । किं तर्हि प्रमाणमित्याह–अपि तु ज्ञापकः इन्द्रियादौ तथा भावात् । –विधिवि०,टी० पृ० ५ । अत एव शब्दोऽपि न स्वरूपमात्रेण प्रवर्त्तकः वाय्वादितुल्यत्वप्रसङ्गात् । यदि पवन इव पिशाच इव कुणप इव शब्दः प्रवर्त्तको भवेत् अनवगतशब्दार्थसम्बन्धोऽपि श्रवणपरवशः प्रवर्त्तेत न चैवमस्ति । तस्मात्प्रतीतिमुपजनयन् शब्दस्य प्रवर्त्तकत्वम् । न च नाम लिङादिरेव शब्दः प्रवर्त्तकाभिधानद्वारेण प्रवर्त्तको भवितुमर्हति । शब्दस्य च ज्ञापकत्वाच्चक्षुरादिकारकवैलक्षण्ये सत्यपि प्रतीतिजन्मनि कारणत्वमपरिहार्यम् । कारणं च कारकम् कारकञ्च न निर्व्यापारं स्वकार्यनिर्वृत्तिसमर्थमिति व्यापारस्तस्यावश्यम्भावी –न्यायम० पृ० ३४२ ।

1 प्रैषणादय श्र० । 2 इत्यपरे ब० । 3 इत्येके तत्र श्र० ब० । 4–मवधार्यते तौ श्र० । 5 क्रियायो प्र–ज० । 6–पक्षोपि ब० । 7 साध्यवस्तु–आ० । 8 लिङ्लोट स य–आ० ब० ।

स्य विना स्वतः प्रवृत्तिकारकत्वे अस्य दुर्घटं वाय्वादिवत्, कारकहेतोः प्रमाणत्वानुपपत्तेः, बोधकस्यैव तत्सम्भवात्। अथोच्यते–वाय्वादिजनितभूतप्रवृत्तिविलक्षणैवेयम् इच्छादिसमानरूपा चिद्रूपात्मप्रवृत्तिः विषयावबोधापेक्षिणी [1]लिङादिभिः क्रियते, तन्न, प्रवृत्तिकारकत्वा[(1)]भ्युपगमे [2]परकारकाणामिव प्रामाण्यानुपपत्तेः। बोधकत्व[(2)]मात्रेणापि प्रामाण्ये वर्तमानापदेशकालप्रवर्तकलेडादियुक्तेष्वपि [(4)]वाक्येषु [(5)]तत्प्रसङ्गात् 'तेन प्रवर्तकं वाक्यं शास्त्रेऽस्मिंश्चोदनोच्यते।" [मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० ३१] इत्यस्य विरोधः। तस्मात् साध्यस्वभावयागादिव्यापारलक्षणविषयावबोधकत्वेनैव लिङाद्यन्तस्य शब्दस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः न शब्दस्य स्वरूपेणैव विधित्वम्।

तथा, अनियमात्प्रवृत्तेः, शब्दस्य हि विषयावबोधनिरपेक्षस्य स्वरूपेणैव विधित्वे चेतनामनस्यापि पुरुषस्य अभिप्रायतिरस्कारेण मन्त्रादिजन्यविक्षोभस्येव विवशस्य बलात्कारेण शब्दात्प्रवृत्तिरुद्भवन्ती न वाय्वादिजनितप्रवृत्तिवैलक्षण्यमश्नुवीत। तथा चास्यां हठादेव भवन्त्या पुरुषस्वातन्त्र्याश्रितविहिताऽकरणापराधनिबन्धनप्रायश्चित्तप्रतिपादनस्य निर्विषयत्वप्रसक्तेः अयुक्तमुक्तम्–

'अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितञ्च समाचरन्।
प्रसजंश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥" [मनुस्मृ० ११।४४] इति।

(१) प्रवर्तकत्वादप्रामाण्यम्, बोधकत्वाच्च प्रामाण्यमिति–आ० टि०। (२) किन्तु विशिष्टबोधकत्वेनैव प्रामाण्यम्–आ० टि०। "विषयावबोधनाच्च दोष इति चेत्; तन्मात्रस्यान्यत्रापि तुल्यत्वात्; चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इत्यभ्युपगमानर्थक्यात्। निराकरोमि, नेति। कुतः? तन्मात्रस्य अन्यत्रापि वर्तमानापदेशेऽपि यत्र पचतीत्यादौ तुल्यत्वात्। न हि तत्र भावना नावगम्यते। अस्तु तुल्यता, का नो हानिरित्यत आह–चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इत्यभ्युपगमानर्थक्यात्। प्रवर्तकस्य चोदनात्वं प्रवृत्तिहेतुः चोदनार्थोऽभिप्रायमवगमयन् अनेन रूपेण प्रामाण्यमश्नुते न भावनामात्रावधारणेन तस्य अन्यत्रापि तुल्यत्वात्। तस्माद्येन रूपेण प्रामाण्यं न तेन चोदना येन चोदना न तेन प्रामाण्यं तस्य प्रवृत्तिं प्रति कारकत्वात्।'–विधिवि०, टी० पृ० ६। (३) वर्तमान–आ० टि०। (४) यत्र पचतीत्यादिषु। (५) प्रामाण्यप्राप्तेः। (६) अग्निहोत्रं जुहुयादित्यादि। (७) 'हठादेवास्य च नियोगतोऽवश्यं प्रवृत्तिः स्यात्, तथा च अकुर्वन् विहितं कर्मेति निर्विषयं स्यात्। न हि सन्ति [illegible] अनुष्ठानस्य [illegible] प्रवृत्तिं प्रति पुरुषस्य।"–विधिवि० पृ० ६। (८) [illegible] पूर्विकायां प्रवृत्तौ। (९) पुरुषस्वातन्त्र्य [illegible] विहितस्य [illegible] अकरणात् प्रायश्चित्तं भवत् यदा तु पुरुषस्य प्रवृत्तौ स्वातन्त्र्यमेव नास्ति तदा [illegible] प्रायश्चित्तभाक्त्वम्। (१०) व्याख्या–'प्रसजंश्चेन्द्रियार्थेषु [illegible] नित्यं यद्विहितं सन्ध्योपासनादि नैमित्तिकञ्च [illegible] तदकुर्वन् तथा प्रतिषिद्धं [illegible] अविहितनिषिद्ध [illegible] मनुष्यः प्रायश्चित्तं समर्हति।'–मनुस्मृ० मन्वर्थ० ११।४४।

1 लिङादि–आ०, ब०। 2 परकारणा–आ०, ब०। 3–कत्वमात्रादि–ब०। 4 लिङाद्यन्त–आ० ब०। 5–विक्षोभस्येव ब० श्र०। 6 हठादेव श्र०। 7 भवन्त्यां ब०, श्र०। 8–कत्वं प्रा–ब०। 9–त्यानि–श्र०।

तथा, 'सविज्ञाश्रयणात् शब्दः प्रवृत्तेः कारकः । नहि बीजादीनां संवेदनसापेक्षाणां स्वकार्यकर्तृत्वं दृष्टम्, ज्ञापकस्यैव धूमादेस्तदपेक्षाप्रतीतेः ।

किञ्च, अश्रुतफलेषु विश्वजिदादिषु वाक्येषु फलस्य स्वर्गादेः अधिकारिणश्च स्वर्गकामादेः अध्याहारः, अग्निष्टोमादिषु च स्वर्गकामादौ अन्यपदार्थोपसर्जनीभूतस्वर्गादिपदार्थानां फलत्वाध्यवसायः एवमाद्यर्थाभिसम्बन्धो व्यर्थः, वाय्वादिवत् फलादिसन्निधानपक्षस्यैव शब्दस्य प्रवृत्तिहेतुत्वप्रसङ्गात् । तन्न शब्दो विधिः ॥छ॥

शब्दव्यापारविधिवादिनस्तु ब्रुवते–लिङादि(लिङादि)शब्दश्रवणानन्तरं वृद्धव्यवहारे प्रवृत्त्याख्यकार्यदर्शनात् तत्कारणत्वेन कल्पितस्य शब्दव्यापारस्य मेन्त्रपठनादिवैलक्षण्येन प्रवृत्तिहेतो समभावान्न पूर्वोक्तदोषानुषङ्गः । तदुक्तम्–

'अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः ।'' [तन्त्रवा० २।१।१]

(१) ज्ञापकस्य स्वरूपमसत्त्वं चाविषयज्ञानमपेक्षते लिङादिस्वरूपञ्च प्रवर्तकं कारकमित्यनुपयुक्तस्वरूपमपि असत्त्वं चाविषयमविज्ञातमपि पुंसः प्रवर्तिप्रसङ्गः । –विधिवि० पृ० ७ । (२) स्वसंवेदनापेक्षा । (३) विश्वजिदादिष्वपि स्वर्गादिफलं न श्रुतौ कण्ठोक्तमस्ति तत्र सामान्यरूपेण स्वर्गरूपस्य फलस्य अध्याहारः क्रियते । तथा चोक्तं जैमिनीयन्यायमालायाम्–(४।३५) 'नवास्ति विश्वजिद्याग फलमस्त्युत नास्ति न । भाव्यापेक्षादिषि नास्ति फलं पुंसः प्रवृत्तये ।' द्रष्टव्यम्–शाबरभा० शास्त्रदी० ४।३।१०–१७। 'अपि चाश्रुतफलेषु फलाध्याहारः क्वचित्तु अनुपकारकल्पना श्रुतानामपि स्वर्गादीनां फलत्वाध्यवसाय इति सर्व एव महिमा विधेः । स शब्दस्य स्वभावस्त्वनुपपन्न–अपि चाश्रुतफलेषु पिण्डपितृयज्ञादिषु स्वर्गादिफलाध्याहारः क्वचित् अनुपकारकल्पना समिदादौ श्रुतानामपि पुरुषविशेषणतया स्वर्गादीनां फलत्वाध्यवसाय इति सर्व एव महिमा विधेः । स शब्दस्य स्वभावः विधिभावस्त्वनुपपन्नः ।'–विधिवि० टी० पृ० १४ । (४) अत्र हि श्रुतिवाक्यविषयः अधिकारी चोक्तो न तु फलम् तच्च स्वर्गकामादयधिकारिलक्षणपदार्थे स्वर्गकामोऽस्यास्ति समासे पूर्वपदतया उपसर्जनीभूतः स्वर्गः फलतयाऽध्यवसीयते–आ० टि० । (५) 'प्रवर्तकत्वमस्ति चेत्र तस्यापि पवनादिवन्निर्वर्तनस्यैवोपपत्तेः फलरूपं कारकं विना । तस्मात् विधिः शब्दस्तद्व्यापारो वा । नकतः प्रवर्तकत्वमस्ति चेत् लिङादेः स्वतः पुंसां प्रवर्तकाः न चैते निष्फले प्रवर्तयितुं पुरुषमीशते इति तदन्यथानुपपत्त्या फलकल्पनमिति चेत् । निराकरोति न । तस्यापि प्रवर्तकत्वस्य पवनादिवन्निर्वर्तनस्यैवोपपत्तेः । नहि यो यं प्रवर्तयति स सर्व फलमपेक्षते पवनादीनां प्रवर्तयतामपि तदनपेक्षत्वदर्शनादित्यर्थः ।–विधिवि० टी० पृ० १४ । (६) भट्टकुमारिलाभ्याम् । भावनैव हि वाक्यार्थः सर्वत्राख्यातवत्तया । अनेकगुणजात्यादिकारकार्थानुरञ्जिता ॥ एकैव तु बुद्धयामी गम्यते चित्ररूपया । –मी० श्लो० पृ० ९३९ । 'तत्रार्थात्मिकाया भावनाया लिङादिशब्दाना यः पुरुषं प्रति प्रयोजकव्यापारः सा द्वितीया शब्दधर्मोऽभिधात्मिका भावना विधिरित्युच्यते ।' –तन्त्रवा० २।१।१ । (७) यथा कश्चित् मन्त्रेण अभिचारिकादिना पारवश्यं नीतोऽनिच्छयापि प्रवर्तते –आ० टि० । (८) व्याख्या– 'कर्तृव्युत्पत्त्या करणव्युत्पत्त्या वा अभिधाशब्दस्य शब्दपरत्वमङ्गीकृत्य अभिधाया शब्दस्य आत्मना भावना व्यापारं प्रवर्तनासामान्यव्याप्तिभूतं लिङादयः प्रवर्तनासामान्यमभिदधाना निर्विशेषसामान्यायोगात् प्रयाणे च लोकदृष्टस्य विशेषस्य पुरुषधर्मत्वेन अपौरुषेये वेदेऽसम्भवात् प्रवर्तनासामान्यस्य च प्रयोक्तृप्रवर्तकव्यापारवर्तित्वदर्शनात् लिङादेरेव च वेदे प्रवर्तक

1 बीजानां आ० । 2–विश्वजित् फलस्य आ०, ब० । 3 मन्त्रपठनादि–आ०, मन्त्रपठनादि–ब० । 4–चाश्रुतार्थो–आ० ।

अभिधाया शब्दस्य लिङादेर्यासौ भावना पुरुषप्रवृत्त्युत्पत्तिं प्रति स्वकीयप्रयोजकव्यापारः तस्य अभिधायका लिङादयः । भाव्यनिष्ठश्च भावकव्यापारो भावना । शब्द-

---

त्वावधारणात् लक्षणया गमयन्तीत्यर्थः ।"–न्यायसु० पृ० ५५९ । जैमिनिन्या० पृ० ७५ । तन्त्ररह० पृ० ४७ । मानमेयो० पृ० २७२ । वैयाकरणभू० द० पृ० १५६ । मुक्ता० दिन० पृ० ५१५ । "अभिधीयत इति अभिधा प्रवर्तना कर्तव्यता वा सैव च पुरुषप्रवृत्तिं भावयतीति भावना तामाहुरिति । अथवा अभिधाया शब्दस्य भावना अभिधाभावना सैव प्रवर्तना यस्मात्तयैव शब्देन पुरुषः प्रवर्तयते तस्मिद्धये अभिधीयमाना शब्दव्यापारत्वेनोच्यते तामाहुरिति । अथवा इष्टसाधनताभिधानमभिधा सैव विधानं विधिरिति व्युत्पत्त्या विधिरित्युच्यते । सैव च भनिक्तत्त्वं प्रतिपद्यमानायाः पुरुषप्रवृत्तेः प्रयोजकस्य शब्दस्य व्यापारो भावना तामाहुः ।'–न्यायरत्नमा० पृ० ५३ । मीमांसान्याय० पृ० १८१ । उद्धृतोयम्–'शब्दात्मभावनामाहुः'–अष्टसह० पृ० १९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२ । विधिवि० पृ० १५ । न्यायम० पृ० ३४३ । बृहदा० भा० वा० टी० पृ० ५९० । 'अभिधा भावना'–न्यायकु० प्र० ५।१३ । मीमांसार्थप्र० पृ० ८ । मीमांसान्याय० पृ० १८१ । शास्त्रदी० २।१।१ । न्यायरत्नमा० पृ० ४७ । मीमांसाबाल० पृ० ७५ ।

(१) 'तेन भूतिषु कर्तृत्वं प्रतिपन्नस्य वस्तुनः । प्रयोजकक्रियामाहुर्भावनां भावनाविदः ॥'–तन्त्रवा० २।१।१ । "इह हि लिङादियुक्तेषु वाक्येषु द्वे भावने गम्यते । शब्दात्मिका च अर्थात्मिका च । तत्र लिङादीनां प्रयोजककर्तृत्वं पुरुषः प्रयोज्यः, तेन किमित्यपेक्षायां पुरुषप्रवर्तनमिति सम्बध्यते । अयं तु यागस्तत्र लिङादिविषया क्रियोच्यते प्रवर्तयतीति ततः किमित्यपेक्षितं पुरुषमित्येव सम्बध्यते । अथ केनेत्यपेक्षिते पूर्वसम्बन्धानुभवापेक्षेण विधिज्ञानेनेति सम्बध्यते । कथमिति प्राशस्त्यज्ञानानुग्राही तेनेति । कुत एतत् ? बुद्धिपूर्वकारिणो हि पुरुषा यावत् प्रशस्तोऽयमिति नावबुध्यन्ते तावन्न प्रवर्तन्ते तत्र विधिविभक्तिरवसीदति ता प्राशस्त्यज्ञानमुपलभ्नाति । तच्च पुरुषार्थात्मकं फलात् सर्वस्य स्वयमेवानुष्ठानं भवतीति प्रसिद्धत्वान्न वेदादुत्पद्यमानमपेक्ष्यते । साधननिर्वर्तव्यतयास्तु अप्रवृत्तपुरुषनियोगाच्छास्त्रमेव प्राशस्त्यप्रतिपादनायावाङ्क्ष्यते ।"–तन्त्रवा० १।२।१ । न्यायसु० पृ० ३२– । 'भाव्यभावनसमर्थो हि व्यापारो भावना ।'–भावनावि० पृ० ६ । "भाव्योत्पादानुकूलस्य व्यापारस्य भावनात्वप्रसिद्धेः ।–न्यायसु० पृ० ३१ । 'भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः ।'–अर्थसं० पृ० ११ । "भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापारविशेषः ।'–मीमांसान्याय० पृ० २ । "तत्र प्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारोऽभिधा, फलानुकूलो व्यापारो भावनेति विवेकः ।–मीमांसार्थप्र० पृ० ८ । "भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारो भावना । भाव्यं हि स्वर्गादिफलं साध्यमानत्वात् तन्निष्ठस्तदुत्पादकस्य पुरुषव्यापारो यस्य भावना व्यन्तेन भवतिनोच्यते । प्रकृत्यर्थस्य भवते कर्ता य स्वर्गादि स एव व्यन्तस्य कर्मतां प्रतिपद्यते । कर्ता स्वस्य प्रयोजकः पुरुषः णिजर्थाख्यः प्रयोजकव्यापारः पुरुषो हि भवन्तं स्वर्गादिमिव स्वव्यापारेण भावयति सम्पादयति, स तत्सम्पादको व्यापारो भावनेत्युच्यते ।'–न्यायम० पृ० ३३५ । भावनात्वं नाम भवितुः प्रयोजकव्यापारवत्त्वम् । तत्रार्थभावनायाः भवितुर्जायमानस्य स्वर्गादेः प्रयोजकव्यापारत्वात् लक्षणसङ्गतिः शब्दभावनायामपि पुरुषप्रवृत्तिरूपस्य भवितुः प्रयोजकव्यापारत्वाल्लक्षणसङ्गतिः'–मी० परि० पृ० २० । (२) तस्मादस्ति पुरुषप्रवृत्तिकर्मिका विधिज्ञानकरणिका अर्थवादोत्पादितविषयप्राशस्त्यज्ञाननिर्वर्तव्यतोपेता लिङादिव्यापारः प्रेरणात्मिका शब्दभावना अभिधानलक्षणोऽपि च देवदत्तादेरिव व्यापारः शब्दभावना ।'–भावनावि० टी० पृ० ९४ । 'तत्र पुरुषप्रयत्नानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दी भावना । सा च लिङ्श्रवणेऽयं मां प्रवर्तयति मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानिति नियमेन प्रतीतेः । यद्यस्माच्छब्दान्नियमेन प्रतीयते तत्तस्य वाच्यम् यथा

---

1 भावनि–ब० ।

भावनायाश्च भाव्या पुरुषप्रवृत्तिः, प्रवृत्तिमान् वा पुरुषः । [1]प्राशस्त्याभिधानञ्च विना विधिशक्तिनिमित्तत्वमुपगतापि [2]प्रवर्त्तनाया न समर्था भवति । न हि 'इमा गाः क्रीणीष्व' इति शतकृत्वोऽप्युक्तः कश्चित् क्रेतुं प्रवर्त्तते यावत् 'घटोध्नी सम्पन्नक्षीरा' इत्यादि [4]प्राशस्त्यैज्ञानं न प्रवर्त्तते । अतः अर्थवादोपजनितप्राशस्त्यज्ञानसचिवा शब्दभावना प्रवर्त्तनाङ्गम् । सा च [6]त्र्यंशपरिपूर्णा भवति–'किम्, केन, कथम्' इति । किं भावयेत् ? स्वर्गम् । केन ? [5]दर्शपौर्णमासाभ्याम् । [6]कथम् इति ? इतिकर्त्तव्यता दर्शयति प्रयाजादिव्यापाररूपाम् । सेयं त्र्यंशपरिपूर्णा शब्दभावना फलभावनायां पुरुष

गामानयत्यस्मिन् वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वम्, स च व्यापारविशेषो लौकिकवाक्ये पुरुषनिष्ठो भिन्नाय विशेषः वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावाल्लिङादिनिष्ठ एव । अत एव शाब्दी भावनेति व्यवह्रियते । –अर्थ स० प० ११–१३ । मीमांसान्याय० प० ३ १७८ । मीमांसान्यायप्र० पृ० ८ ।

(१) एतावता अर्थवादवाक्यानां माभूदप्रामाण्यमिति–आ० टि० । (२) प्रवर्त्तयन्ति धर्मस्य प्रवर्त्तन्ति प्रवर्त्तनाम् –विधिवि० प० २४३ । प्रवृत्तिहेतुभूतं प्रवर्त्तयितुर्धर्मं प्रवर्त्तना ।' –मीमांसाबाल० प० ७५ । मीमांसान्याय० प० १८० । (३) तुलना– लौकिकानि वाक्यानि भवन्तो विदाङ्कुर्वन्तु । तद्यथार्थं गौः क्रेतव्या देवदत्तीया । एषा हि बहुक्षीरा स्थप्रपत्या अनष्टप्रजा चेति ।' –शाबरभा० १।२।२० । (४) 'सा च भावनांशत्रयमपेक्षते साध्यं साधनमितिकर्त्तव्यतां च, किं भावयेत् केन भावयेत् कथं भावयेदिति । तत्र साध्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणांशत्रयोपेता आर्थीभावना साध्यत्वेनान्वेति एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः । सत्यामप्येकप्रत्ययगम्यत्वेऽपि अयोग्यत्वान्न साध्यत्वेनान्वयः । साधनाकाङ्क्षायां लिङादिज्ञानं करणत्वेनान्वेति, तस्य च करणत्वं न भावनोत्पादकत्वेन तत्पूर्वमपि तस्याः शब्दे सत्त्वात् किन्तु भावनाज्ञापकत्वेन शब्दभावनाभाव्यनिर्वर्तकत्वेन वा । इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षायाम् अर्थवादज्ञाप्यप्राशस्त्यमितिकर्त्तव्यतात्वेन अन्वेति ।' –अर्थस० प० १६–१८ । मीमांसान्याय० प० ३ । करणांशे विधिज्ञानं किमस्य परप्रवर्त्तनम् । इतिकर्त्तव्यता चात्र स्वप्रमादप्रशंसनम् ।' –बृहदा० भा० वा० प० ५९० । 'प्रवर्त्तनारूपलिङर्थायाश्च अभिधायामपि साध्यसाधनेतिकर्त्तव्यतारूपमंशत्रयमपेक्षितम् अन्यथा तस्य स्वरूपतः फलवद्वाक्यानामप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । तत्र लिङादिविधिज्ञानं करणत्वेनान्वेति याग इव अर्थभावनायाम् । प्रवृत्तिश्च साध्यत्वेन स्वर्ग इव अर्थभावनायाम् । अर्थवादजन्य प्राशस्त्यज्ञानमितिकर्त्तव्यतात्वेन प्रयाजाद्यङ्गजातमिव अर्थभावनायाम् । तदुक्तम्–लिङाभिधा सैव च शब्दभावना भाव्या च तस्याः पुरुषप्रवृत्तिः । सम्बन्धबोधः करणं तदीयं प्ररोचना चाङ्गतयोपयुज्यते । –मीमांसान्याय० प० ९१ । प्ररोच्यतेऽनयेति प्ररोचना प्राशस्त्यज्ञानं तच्चाङ्गं फलोपकारिप्रयाजादिवत् –मीमांसाबाल० पृ० ८१ । मीमांसापरि० प० १८ । "तत्र किं भावयेत् केन भावयेत्कथं भावयेदित्याकाङ्क्षायां स्वर्गं भावयेत् यागेन भावयेत् अग्न्यन्वाधानप्रयाजाद्यनुष्ठानाभिरुपकारं सम्पाद्य भावयेदित्येव भाव्यकरणेतिकर्त्तव्यतासमर्पणेन आकाङ्क्षापूरणात् प्रकरणाम्नातं सकलं शब्दसन्दर्भं भावनावाचिन आख्यातस्यैव प्रपञ्चः । सा चाख्यातस्थवर्त्तिनी सेयमर्थभावनेत्युच्यते । सा सर्वापि शब्दभावनया भाव्या विधायको लिङादि करणम् अर्थवादसम्पादिता स्तुतिरितिकर्त्तव्यता । सेयं शब्दभावना लिङादिभिरेव गम्यते । अर्थभावना सर्वैराख्यातप्रत्ययैर्गम्यत इत्युक्तम् –जैमिनिन्या० प० ७६ । (५) अमावस्यायां क्रियमाणो यागविशेषो दर्शः पौर्णमास्याञ्च विधीयमानं यागानुष्ठानं पौर्णमास इति । (६) यज्ञे कर्त्तव्यताविशेष–आ० टि० । 'आरादुपकारकरूपा प्रयाजादि –न्यायरत्नमा० प० १२० । (७) आर्थीभावनायाम् ।

1–प्रवर्त्तमानया व । 2–मान् पुरु–आ० । 3–त्वमुपाग–आ० । 4–घटोध्नि स–ब –घटादिस –श्र० । 5 प्रशस्तज्ञान श्र० । 6 तत श्र० । 7 कथमिति कथमिति यमुपदर्शकसज्यता श्र ।

प्रवर्त्तयति । यद्यपि चेच्छास्मृत्यादयः पुरुषप्रवृत्तिहेतवः तथापि न तेषां मुख्यः प्रवर्त्तनाव्यपदेशः, शब्दभावनायास्तु साध्यावगतिकारित्वेन मूलभूतत्वात् मुख्यः । 'शब्दभावना' इति शब्दशब्देन शब्दधर्मतया व्यपदेशात्, यथा ग्रामादिदाने राज्ञो दातृत्वव्यपदेशो मुख्यः लाकुटिकादीनां तु राजादेशानुसारेण प्रवृत्तानामौपचारिकः एवमत्रापि । तदुक्तम्–

"सैाध्यते हेतुर्व्यापारः कथ्यते शब्दभावना ।
शब्दधर्मतयाख्यात कैर्यससूचितस्थिति ॥" [　　　]

तथा च शब्दभावनासद्भावे किं प्रमाणमिति पर्यनुयोगोऽनुपपन्नः, यथैव हि अर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दस्य अभिधात्मको व्यापारः परिकल्प (कल्प्य) ते तथा प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या लिङादेः प्रवर्त्तनात्मकोऽपीति । तत्र 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यत्र द्वे भावने प्रतीयेते शब्दात्मिका पुरुषप्रेरणारूपा अर्थात्मिका च पुरुषव्यापाररूपा इति । तत्र लकारसामान्यस्यार्थः अर्थभावना । उक्तञ्च–

"ईय त्वन्यैव सर्वार्था सर्वाख्यातेषु गियते ।" [तन्त्रवा० २।१।१] इति ।

पुरुषव्यापारस्य हि सर्वत्रार्थे नियमानत्वात् सर्वार्था अर्थभावना, 'यजते,

(१) लाकुटिकप्राया –आ० टि० । द्वारपालसदृशा इत्यर्थः । (२) इच्छास्मृत्यादीनाम् । (३) प्रवर्तनाव्यपदेशः । (४) लकुट-दण्डधारिणाम् द्वारपालादीनाम् । (५) पुरुषरूपेण कार्येण तस्याः स्थितिः सूच्यते–आ० टि० । (६) आख्यातविभक्ति –आ० टि० । (७) "प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापारः आर्थीभावना । सा चाख्यातत्वांशेनोच्यते आख्यातसामान्यस्य व्यापारवाचित्वात् । साध्यत्रयमपेक्षते साध्यं साधनमितिकर्तव्यताञ्च किं भावयेत्केन भावयेत्कथं भावयेदिति । तत्र साकांक्षायां स्वर्गादिफलं साध्यत्वेनान्वेति, इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रयाजाद्यङ्गजातमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति ।"–अर्थसं० पृ० १९ २३ । "प्रवृत्तिरेवार्थभावनेव –मीमांसाप्र० पृ० ९ । 'स्वर्गेच्छाजनितो यागविषयो यः प्रयत्नः स भावना । स एव चाख्यातांशेनोच्यते । यजते इत्याख्यातश्रवणे यागे यतते इति प्रतीतेर्जायमानत्वात् अतश्च प्रयत्न एवार्थी भावना । यथाहुः–(न्यायसु० पृ० ५७९) प्रयत्नव्यतिरिक्तार्थीभावना तु न शक्यते । वक्तुमाख्यातवाच्येह प्रस्तुतेत्युपरम्यते ॥ –मीमांसान्या० पृ० १८५ ८७ । (८) आर्थीभावना । "अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ॥"–तन्त्रवा० २।१।१ । बृहती० भा० वा० टी० पृ० ५९० । शास्त्रदी० २।१।१। न्यायसु० प्र० ५।१३ । जैमिनिन्या० पृ० ७५ । मीमांसाबाल० पृ० ७५ । 'सर्वाख्यातस्य गोचरा'–मीमांसाप्र० पृ० ८ । प्रकृतपाठः –अष्टस० पृ० १९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२ । अर्थात्मा भावना त्वन्या सर्वत्राख्यातगोचरः ।'–तन्त्ररह० पृ० ४७ । मानमेयो० पृ० २७२ । 'सा चाख्यातस्य –व्याकरणभू० द० पृ० १५६ । मुक्ता० दिन० पृ० ५१५ । व्याख्या–"विधेयाया भावनायाः पुरुषार्थरूपफलान्यनिष्ठत्वसूचनाय इच्छायोनित्वं सूचयितुम् इच्छायाः अयमने णिजन्तात् यत इति न तु विवक्षायामेरजित्यच्प्रत्ययात्साम्येन अर्थिन पुरुषस्य अयशब्देन अभिधानात् भावनायाश्च पुरुषधर्मत्वात् धर्मधर्मिणोश्चात्यन्तं भेदाभावात् तादात्म्यं विवक्षित्वा अर्थात्मा चासौ भावना चेति विग्रहः कार्यः । अर्थात्मेति अर्थभावनापरिशिष्टत्वं शब्दभावनायाः सूचितम् ।"–न्यायसु० पृ० ५६० । (९) अनीनारो–आ० टि० । "यदा हि सर्वाख्यातानुवर्तिनी करोत्यर्थानुवाच्या पुरुषव्यापाररूपा भावनाऽवगता भवति, तदा तद्भिन्ना सामान्याख्यातव्यतिरिक्ता शब्दविशेषवाच्या विधिप्रतिषेधभूतभविष्यद्वर्तमानाद्यः प्रतीयन्ते । यथा च सर्वत्र सामान्यतः करा

1–धाने श्र० । 2 साध्यत्वहेतव्यापा–श्र० । 3–हेतुर्व्यापार आ० । 4 अभिधानात्मको ब० श्र० ।

अयजत, अयष्ट' इत्यादि सर्वाख्यातेषु च विद्यते । न हि तत्र पुम्प्रेरणारूपा शब्द-भावनाऽनुभूयते सिद्धस्य आत्मव्यापारस्य अर्थभावनापरपर्यायस्य अनुभवात् । लिङादि-विषये तु 'यजेत' इत्यादौ द्वयमनुभूयते–स्वार्थं लिप्समानो हि पुरुषः स्वव्यापारे याग-विधानलक्षणे प्रवर्तते इति अर्थभावना, तमयं लिङ् प्रवर्त्तयतीति शब्दभावना चेति ॥छ॥

तदेतद्भास्करादीनो मतमयुक्तम्, यतः शब्दस्य भावना, शब्द एव वा भावना शब्दभावना स्यात् ? प्रथमपक्षे शब्दस्य भावना प्रेरकत्वम्, तच्च प्रेषणाध्येषणरूपम्, तस्य चेतनात्मकपुरुषधर्मत्वात् कथं शब्देऽनुपचरितस्य सम्भवः ? तद्धर्माध्यासितपुरुष प्रयुक्ताद् वाक्यादेव हि शब्दे तत्सम्भाव्यते न मुख्यतः ।

किञ्च, प्रेर्यप्रेरकयोर्न निष्फला प्रवृत्तिः । किञ्चिद्धि स्वात्मनि परत्र वा अर्थानर्थप्राप्तिपरिहारादिप्रयोजनमभिसन्धाय कश्चित् प्रेरकः प्रेर्यश्च प्रसिद्धः । न चाचेतने शब्दे तदभिसन्धानं सम्भवति तत्कथं तस्य प्रेरकत्वम् ? मेघध्वनिप्रभञ्जनादेरिवार्थे अनभिप्रायस्यापि प्रेरकत्वे शब्दविधिवदनिषिद्धाऽशेषशब्दोपरि निपातः स्यात् ।

त्यर्थोऽवगम्यते । किं करोति ? पचति । किमकार्षीत् अपाक्षीत् । किं करिष्यति पक्ष्यति । किं कुर्यात् पचेत् । किञ्च कुर्यात् पचेदिति । –तन्त्रवा० २।१।१ ।

(१) आख्याते । (२) सिद्धकर्तृ क्रियावाचिन्याख्यातप्रत्यये सति । सामानाधिकरण्येन करोत्यर्थोऽवगम्यते ॥ तस्मात् धात्वर्थकर्तृव्यापारवचनानि करोत्यर्थवन्त्याख्यातानि । –तन्त्रवा० २।२।१ । (३) ननु तस्मात् न प्रयोगानिरूप्यत्वात् यथार्थानि पूर्वपक्षे । अप्रवृत्ते फलायोगात् रूपोक्तेर्व्याप्तिरिष्यते ॥ –विधिवि० पृ० १६ । असत्त्वादप्रवृत्तस्य नाभिधापि गरीयसी । बाधकस्य समानत्वात् परिशेषोऽपि दुर्लभः ॥' –न्यायकु० ५।१२ । (४) मन्त्रपुरस्सरा व्यापारणा प्रेषणम् निकृष्टविषयो नियोग इत्यर्थः । यत्पुनरभ्यर्हितं व्यापारयति तदध्येषणम् अभ्यर्हितविषयं प्रवर्त्तनमित्यर्थः । –शाबरभा० प्र० लं० का० प० २५७ । प्रवक्तृपुरुषापेक्षया ज्यायसा वक्त्रा प्रतिपाद्यमानं कार्यं प्रेषणमिति व्यपदिश्यते । समेन आमन्त्रणम् । हीनेनाध्येषणमिति । –प्रक० प० प० १८० । (५) न हि प्रेषणाध्येषणालक्षणा शब्दस्य व्यापारो निरूप्यते तस्य पुरुषधर्मत्वात् । न हि प्रेषणाध्येषणाभ्यनुज्ञालक्षण शब्दस्य प्रमाणो व्यापारो निरूप्यते । ननु शब्दोच्चारणानन्तरं तदवगमात् तनोक्तमिति कथं प्रेषणादिलक्षणः शब्दप्रयोगो न निरूप्यते इत्याह–तस्य पुरुषधर्मत्वात् । सत्यं शब्दविज्ञानानन्तरमुपलभ्यते । न त्वसौ शब्दस्य अभिप्रायधर्मत्वात् । प्रेषणादेः अचेतनत्वेन शब्दस्यासम्भवात् । –विधिवि०, टी० प० १६ । (६) शब्दस्य अचेतनत्वात् पुरुषाभिप्रायरूपा प्रेषणादयः उपचरिता एव सम्भाव्यन्ते न तु मुख्या इति । (७) प्रेषणाध्येषणादिधर्मात्मकपुरुष । (८) प्रेषणाध्येषणरूपम् । (९) न प्रवर्तनं पुरुषः प्रवर्तयतोऽपि शब्दस्यानतिरोधत्वात् । न हि सर्वस्मिन् प्रवर्तयितरि प्रवृत्तिः प्रेक्षावताम् अपि त्वनुविधेय । न चार्थानर्थप्राप्तिपरिहाराद्यनुविधानकारणं स्वाम्यादाविव शब्दे समस्ति । पश्चात्प्रवृत्तौ तद्व्ययम् । '–विधिवि० प० १८ । (१०) अर्थानर्थप्राप्तिपरिहारादिप्रयोजनानुसन्धानम् । (११) शब्दस्य । (१२) ' स्यादेतत् पवनादेरिव शब्दादि प्रेरयति परम् तद्वत्, [illegible] मन्यन्ते अप्रतीत[illegible]व्यापारस्यापि वाय्वादेरिव स्वभावेन प्रेरकत्वात् पूर्वोक्तदोषाभावाच्च । न [illegible] वायव [illegible] सत्यपि तद्व्यापारा भिधानमङ्गम् अनभिहितव्यापारस्य [illegible] वा [illegible] ।'–विधिवि० प० १८ । (१३) शब्दस्य । (१४

---

1 हि शब्दे न तत्स–

किञ्च, अस्या सद्भावे प्रमाणम् लिङादिश्रवणानन्तरभाविनी प्रवृत्ति, लिङादिशब्द एव वा ? न तावत्प्रवृत्ति, तस्यास्तन्निबन्धनत्वेन क्वचिदन्यत्राऽदृष्टत्वात्। यन्निबन्धना हि प्रवृत्तिर्लोके दृष्टा तदेव ता दृष्ट्वाऽनुमातु युक्तम्, न पुन अप्रतिपन्नपूर्व शब्दव्यापारविशेष अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गात्। नापि लिङादिशब्द एव तत्र प्रमाणम्, अगृहीतसम्बन्धस्य शब्दस्य अवाचकत्वात्। तदग्रहश्च तद्व्यापारविशेषलक्षणस्य सम्बन्धिनोऽनवधारणात् सिद्ध । नहि अनवधारिते सम्बन्धिनि सम्बन्धबोध सम्भवति, अतिप्रसङ्गात्।

किञ्च, शब्द स्वव्यापार विधिज्ञानसव्यपेक्षो जनयति, अनपेक्षो वा ? न तावदनपेक्ष, विधिज्ञानस्य पुरुषप्रेरणाया करणत्वाभ्युपगमात्। अथ शब्दो विधिज्ञान जनयित्वा तत्करणानुगृहीतस्तत्प्रेरणारूप स्वव्यापारमारभते, तदिदमलौकिकम्, न हि कस्यचिद्वस्तुन स्वज्ञानम् उत्पादहेतु लोके प्रतीतम्। यदि च शब्द स्वव्यापार करोति अभिधत्ते च, तदा उत्पाद्य पश्चात्तमभिधत्ते, युगपद्वा उत्पादयति अभिधत्ते च ? तत्र प्रथमपक्षोऽनुपपन्न, न खलु शब्द स्वव्यापारमुत्पाद्य पश्चात्तमभिदधातीति प्राज्ञैरादन्य प्रतिपद्यते। द्वितीयपक्षोऽप्यप्रातीतिक, नहि 'सकृदुच्चरित शब्द स्वव्यापारस्य कर्ता वक्ता च भवति' इति प्रामाणिक प्रतिपद्यते। सिद्धे हि वस्तुनि प्रतिबन्धावगमपूर्विका वचनस्य प्रवृत्ति प्रतीयते।

ननु लिङादिशब्दश्रवणानन्तर प्रवृत्त्याख्यकार्यस्य प्रदर्शिनोऽहमिति प्रतिपत्तिव प्रतीते कथ तत्र तत्कर्तृत्वाप्रतिपत्तिरिति चेत् ? तदयुक्तम्, यतो द्विविधा प्रवृत्ति प्रती-

(१) शब्दभावनाया। (२) प्रवर्ते। 'लिङादिशब्दानन्तरभाविना प्रवर्तितव प्रमाणमिति चेन्न तन्निबन्धनत्वेन प्रवृत्तेरन्यथादृष्टत्वात्। त (य) निबन्धना हि प्रवर्तिदृष्टा तदेव सा दृष्ट्वा शक्यमनुमानुम, न पुनरप्रतिपन्नपूर्वकरणभाव शब्दव्यापारविशेष।'–वाक्यप्रमा० पृ० १७। (३) शब्दभावना–आ० टि०। (४) शब्दभावनाया–आ० टि०। (५) 'लिङादिशब्द एव प्रमाणमिति माहसम्, अगृहीतसम्बन्धस्य शब्दस्यावाचकत्वात्। अनवधारिते हि सम्बन्धिनि सम्बन्धोऽवबुध्यते।' –प्रक० प० पृ० १७२। (६) सम्बन्धावधारणम्। (७) पुरुषप्रवृत्तिरूपम्। (८) "अथ मन शब्द विधिज्ञान जनयित्वा तत्करणानुगृहीत प्रेरणारूप स्वव्यापारमारभत इति न करणाभाव क्रियानिष्पत्तावेव करणत्वात तदिदमलौकिकम न हि कस्यचिद्वस्तुन स्वज्ञानमुत्पत्तौ प्रतीतम।'–प्रक० प० प० १७३। (९) विधिज्ञानरूपकरण। (१०) पुरुषप्रेरणा। (११) तस्मा- दन्यायो व्यापार क्रियते चाभिधीयते च स किं पूर्वमभिधीयते ततः क्रियते पूर्व वा क्रियते पश्चादभिधीयते युगपदेव वा अस्य करणाभिधाने इति। न तावत्पूर्वमभिधीयते अनुत्पन्नस्य अभिधानासम्भवात्, न ह्यजातं पुत्र...
नामधेयकरणम्, अर्थाभिस्पर्शी च शब्द स्यात। तत एव न युगपत्सम्भव अन्यत्र वा न...याबत् प्रयत्नगौरवप्रसङ्गाच्च। नापि कृत्वा अभिधानम विरम्य व्यापाराभावेन...'–न्यायमं० पृ० ३४५। (१२) वाच्यवाचकसम्बन्ध। (१३) शब्दे। (१४) प्रवृत्ति–आ० टि०।

1 अस्य सद्भा–ब०। 2–नुमान यु–ब०। 3 पुन प्रतिप–श्र०। 4–शब्दस्तत्र ब०। 5–शब्दोऽस्य... श्र०। 6 शब्दो व्यापा–श्र०। 7 कारणत्वा–ब०। 7 तत्कारणानु–ब०। 8–स्वरूपं ब०। 9 ... ब०। 10–स्वाप्रतीतिरि–श्र०।

यते–एका परवशस्य, अन्या तु प्रेक्षापूर्वकारिणः । तत्राद्यपक्षे हठाद् यागादिकर्मणि बौद्धादेरपि प्रवृत्तिः शब्देन क्रियताम् पुरुषस्तत्र न्यायाभावात् । न खलु बलवज्जलप्रभञ्जनप्रेरितस्य स्थानान्तराभावे हठात्प्रवृत्तिर्निर्दृष्टा 'अनिच्छन्नप्यहं प्रभञ्जनाग्निना प्रेरितः प्रवर्त्ते' इति प्रतीतेः । द्वितीयपक्षे तु 'येनाहं शब्देन प्रवर्त्तितः स किं प्रवर्त्तनायोग्यो न वा' इति यावन्न प्रेक्षापूर्वकारी विमृशति तावन्न प्रवृत्तिं निष्पादयति । नहि 'शब्देनाहं प्रवर्त्तितः' इति 'अवश्यं प्रवर्त्ते' इत्यसौ शब्दमात्रे समाश्वसिति तत्कारित्वविरोधानुषङ्गात् । अतोऽपौरुषेयात् काकवासितप्रायात् शब्दात् कथं कस्यचित् प्रवृत्तिः स्यात् ? पौरुषेयस्यैव शब्दस्य प्रवर्त्तनायोग्यत्वोपपत्तेः । तत्प्रणेतुः कुतश्चिदाप्ततामवसाय प्रेक्षापूर्वकारिणः सद्वैद्योपदेशादिव निःशङ्कं प्रवृत्तिसम्भवात् । तस्मादपौरुषेयत्वे शब्दस्य पुरुषप्रवृत्तेरनङ्गत्वान्न 'शब्दस्य भावना–प्रवर्त्तनत्व शब्दभावना' इति पक्षो घटते ।

अथ शब्द एव भावना, तदप्यसाम्प्रतम्, शब्दस्वरूपमात्रस्य भावनास्वभावत्वे घटादिशब्देष्वपि भावनाप्रसङ्गात् तन्मात्रस्य अन्यायविशिष्टत्वात् । तथा च "लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययप्रत्याख्या विधिः ।" [ ] इति वचो विरुध्यते । तदेव शब्दभावनास्वरूपस्य विचार्यमाणस्याऽव्यवस्थितेः कथं तया अर्थभावना भाव्येत ? यतो 'भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारो भावना' इति सुव्यवस्थितं स्यात् । द्वैविध्योपवर्णनञ्चास्या गगनपुष्पसौरभव्यावर्णनान्न विशिष्यते । तन्न भावनारूपोऽपि विधिर्घटते ॥ छ ॥

अपरे पुनः नियोग एव प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधिः इत्याचक्षते । तत्र चानेकधा

(१) प्रेक्षापूर्वकारी । (२) अन्यथा–शब्दमात्रे समाश्वासे प्रेक्षापूर्वकारित्वविरोधात् । (३) 'अथ मतम्–अभिधैव भावना विधिर्लिङादेरेव इति अत्राप्युक्तं–प्रवृत्तं सर्वतोऽर्थे वा प्रसङ्गात् कायतो गतं । अस्थानाभिधानहेतोरभावाच्चाभिधैव न ।। विधिरित्यनुपपन्नम् । अभिधा चेद्विधिः सर्वशब्दानां स्वार्थमभिधेयेषु तदभावः इति घटादिशब्देभ्योऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गः अस्याविशेषात् ।'–विधिवि० पृ० २१ । (४) शब्दस्वरूपमात्रस्य । (५) लिङ्लोट्तव्यपञ्चमलकाराणां विधिर्वाच्यः ।'–न्यायसू० पृ० ५६० । लिङ्कृत्तलोट्तव्यप्रत्ययमात्रगता शब्दभावना –जैमिनिया० पृ० ७५ । (६) शब्दभावनया । (७) तुलना– यत्तावदुक्तं शब्दव्यापारः शब्दभावनेति, तत्र शब्दात्तद्व्यापारोऽनर्थान्तरभूतोऽर्थान्तरभूतो वा ?–अष्टसह० पृ० ३१ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२ । या तु शब्दभावनेव लिङाद्येव इति कौमारिलकृतिः सा तु प्रतीतिविसंवादादिप्रतिहता । न हि विधिवाक्यश्रवणात् पुरुषो लिङादिस्वव्यापारमभिधत्ते अतो मया प्रवर्तितव्यमिति मन्यते '–न्यायमञ्जरी० पृ० ३९८ । सन्मतिटी० पृ० ४८ । तस्माल्लिङादिजन्यबोधविषयाऽभिधाया इष्टसाधनत्वादिज्ञाननिरपेक्षाया प्रवर्तकत्वं नियुक्तिकमेव । –वैयाकरणभू० द० पृ० १५७ । (८) प्रभाकरमतानुयायिनः । (९) तुलना– कोऽयं नियोगो नाम ? निःशेषो नियोगो यागादौ युक्तिः निरवशेषो योगः नियोगः । निरवशेषत्वम् अयोगस्य मनागप्यभावात् अवश्यकर्तव्यता हि नियोगः । नियोगप्रामाणिका हि नियोगप्रतिपत्तिमात्रतः प्रवर्तन्ते । –प्रमाणवार्तिकालं० पृ० १४ । 'नियुक्तोऽहमनेन वाक्येनेति निरवशेषो योगः नियोगः तत्र मनागप्ययोगाशङ्काया असम्भवाभावात् । –तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । अष्टसह० पृ० ५ । यदपि दर्शनम्–प्रमाणान्तरागोचरः शब्दमात्रालम्बनो नियुक्तोऽस्मीति प्रत्यात्मवेदनीयः सुखान्वितः अपगमष्टकालत्रयी

1 तत्र पौरु–ब० । –रूपापि ज० –रूपोऽविधि–ब० ।

विप्रतिपत्ति –केचित् लिङादिप्रत्ययार्थो नियोग इत्यातिष्ठन्ते ।

"प्रत्ययार्थो नियोगश्च यत शुद्ध प्रतीयते ।
कार्यरूपश्च तेनात्र शुद्ध कार्यमसौ मत ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० २९ ।]

इत्यभिधानात् । अन्ये तु प्रेरकत्वमेव नियोग इति ब्रुवते ।

"प्रेरणैव नियोगोऽत्र शुद्धा सर्वत्र गम्यते ।
नाप्रेरितो यत कश्चिन्नियुक्त सन् प्रपद्यत ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ २९ ।]

प्रेरणासहित कार्यं नियोग इति चापरे मन्यन्ते ।

"ममेद कार्यमित्येव ज्ञात पूर्वं यदा भवत् ।
स्वसिद्धौ प्रेरक तत्स्यादन्यथा तन्न सिद्ध्यति ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३० ।]

कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इति चान्ये ।

"प्रेर्यते पुरुषो नैव कार्येणेह विना क्वचित् ।
ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोग कार्यसङ्गता ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३०]

लिङादीनामर्थो विधिरिति ।"–विधिवि० पृ० ४८ ।

(१) तुलना–"केषाञ्चिल्लिङादिप्रत्ययार्थ शुद्धोऽन्यनिरपेक्ष कार्यरूपो नियोग ।"–अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । (२) "शब्दान्तराणि स्वार्थेषु व्युत्पद्यन्ते यथैव हि । आवापोद्वापभेदेन तथा कार्ये लिङादय ॥ लिङादियुक्तवाक्यश्रवण तद्भावभाविन्या प्रवृत्त्या विशिष्टकार्यावगमिमनुमाय वाक्यस्य तावद्धेतुतामध्यवस्यति । तत्रापि श्रूयमाण [illegible] शब्दांशनाभिहित इति विवेचन लिङाद्यावापेन कार्यावगमदर्शनात् तदुद्वापे चादर्शनात् [illegible] कार्यावगति कुर्वन्तीति शब्दान्तरवत् लिङादीना कार्यवाचकत्वव्युत्पत्तिसिद्धि [illegible] कार्यमेव हि सर्वत्र प्रवृत्तावेककारणम् । प्रवृत्त्यव्यभिचारित्वाल्लिङाद्यर्थोऽभिधीयते ॥ (पृ० १७०) [illegible] वाक्यार्थत्व च युज्यते । वाक्य तदेव हि प्राह नियोज्यविषयान्वितम् ॥"–प्रक० पं० पृ० १८८ । "अत [illegible] कार्यपरत्व एव प्रमाणम् । [illegible] मानान्तरागोचरत्वात् अपूर्वमिति, [illegible] पुरुष नियुञ्जानो नियोग इति गीयते ।"–[illegible] रह० पृ० ६६ । "लिङादिप्रत्ययगम्यमान [illegible] नियोग ।"–न्यायम० पृ० ३५५ । (३) नियोग –आ० टि० । [illegible] यत शुद्ध प्रतीयते । कार्यरूपश्च तेनात्र शुद्ध कार्यमसौ मत ॥ [illegible] । प्रत्ययार्थो न तद्युक्त धात्वर्थ [illegible] शुद्ध कार्यं नियोगता ॥"–अष्टसह० पृ० ६ । [illegible] पृ० २९ । (४) "प्रेरणा शुद्धा इति पक्षे प्रेरणाया [illegible] पृ० २६१ । "तत्र शुद्धा प्रेरणा नियोग नियोज्येन नियोक्तव्य [illegible] इत्ययमाद्यो बोध । ततो बोध्यम् । [illegible] पूर्वविषयो द्वितीय इत्यादि प्रयातु –आ० टि० [illegible]–अष्टसह०, तत्त्वार्थश्लो० । (६) कार्यं मा क्रिया [illegible] । अन्न स्नानपानादिस्तुति– –प्रक० पं० [illegible] यावन्न यानि मे तत्र प्रवर्तिरनवदम हि ॥" प्रमाणवा० [illegible]–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । (७) तुलना– [illegible] तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ ।

कार्यस्यैव उपचारात् प्रवर्त्तकत्वं नियोग इत्यपरे ।

> "प्रेरणाविषय कार्य न च तत्प्रेरक स्वत ।
> व्यापारस्तु प्रमाणस्य प्रमेय उपचर्यत ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३०]

कार्यप्रेरणयो सम्बन्धो नियोग इत्यन्ये ।

> "प्रेरणा हि विना कार्य प्रेरिका नैव कस्यचित् ।
> कार्य वा प्रेरणायोग नियोगैस्तेन सम्मत ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ०३०]

तत्समुदायो नियोग इत्येके ।

> "परस्पराविनाभूत द्वयमेतत् प्रतीयते ।
> नियोग समुदायोऽस्मात् कार्यप्रेरणयोर्मत ॥" [प्रमाणवार्तिकाल पृ० ३०]

तदुभयस्वभावविनिर्मुक्त परमात्मस्वभावो नियोग इति केचित् ।

> "सिद्धमेक यतो ब्रह्म गतमाम्नायत सदा ।
> सिद्धत्वेन न तत्कार्य प्रेरक कुत एव तत् ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३०]

यन्त्रारूढो नियोग इत्यपरे ।

> "कामी यत्रैव य कश्चिन्नियोगे सति तत्र स ।
> विषयारूढमात्मान मन्यमान प्रवर्त्तत ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३]

भोग्यरूपो नियोग इत्यपर ।

> "ममेद भोग्यमित्येव भोग्यरूप प्रतीयते । ममत्वेन च विज्ञान भावत्वेन व्यवस्थितम् ॥
> स्वामित्वनाभिमानो हि भोक्तुयत्र भवदयम् । भोग्य तदेव विज्ञेय तदेव स्वं निरूप्यत ॥
> साध्यरूपतया यत्र ममदमिति गम्यते । तत्प्रसाध्येन रूपेण भोग्य स्व व्यपदिश्यत ॥
> सिद्धरूप हि यद् भोग्य न नियोग स तावता । साध्यत्वेनह भोग्यस्य प्रेरकत्वान्नियोगता ॥"
> [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३० ।]

पुरुष एव नियोग इति चापर ।

> "ममेद कार्यमित्येव मन्यते पुरुष सदा ।
> पुस कार्यविशिष्टत्व नियोगोऽस्य च वाच्यता ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३० ।] इति ।

(१) प्रवर्त्तकत्वम्–आ० टि० । (२) कार्यप्रेरणयो योग –तत्त्वार्थश्लो० । (३) विनिर्मुक्तम्–आ० टि० । (४) नानम–आ० टि० । (५) ज्ञातम्–आ० टि० । (६) यन्त्रारूढो दृष्टान्ततया यत्र स यन्त्रारूढो विषयारूढत्वाभिमानो नियोग इत्यर्थ । यजेत स्वर्गकाम इत्यतो यागारूढत्वाभिमानवान् स्वर्गकाम इति बोध । –अष्टसह० यशो० पृ० ४६ B । (७) स्वस्वामिभावो नाम्ति –आ० टि० । स्व निरूप्यते –प्रमाणवार्तिकाल० । (८) नियोग स्यादबाधित –तत्त्वार्थश्लो० । कार्यस्य सिद्धौ जातायां तद्युक्त पुरुष स्मृत । सर्वत्माधिन इत्येव पुमान् वाक्यार्थ उच्यते ॥ –प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३० । अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २ ...

1 न तावत्प्रे–ब० मचतत्प्रे–श्र० । 2–विनिम ... ब० । 4 तदेव स्वं आ० । 5 निरुप्यते आ० ब । 6–ता ...

तदप्यविचारितरमणीयम्, यतो नियोज्यप्रेरणानिरपेक्षस्य[1] कार्यस्य नियोगरूपतोपगम्यते, तत्सापेक्षस्य वा ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः, तन्निरपेक्षस्य कार्यमात्रस्य अप्रवृत्तिहेतुतया नियोगत्वानुपपत्तेः । तत्सापेक्षस्य तु नियोगत्वे कथं कार्यस्यैव[2] नियोगरूपता ? त्रितयस्यापि प्रवृत्तिहेतुतया तद्रूपताप्रसङ्गात्[3] । 'प्रेरणा नियोगः' इत्यप्यनेनापास्तम्, नियोज्यादिनिरपेक्षायाः[4] प्रेरणायाः प्रलापमात्रतया नियोगरूपतानुपपत्तेः । प्रेरणासहितं कार्यं नियोगः, इत्यप्ययुक्तम्, नियोज्याभावे[5] नियोगस्यैवानुपपत्तेः । कार्यसहिता प्रेरणा नियोगः इत्यप्यनेनैव[6] निरस्तम् । कार्यस्यैवोपचारतः प्रवर्त्तकत्वं नियोगः, इत्यप्यसारम्, नियोज्यादिनिरपेक्षस्यास्य[7] प्रवर्त्तकत्वोपचारायोगात् । कार्यप्रेरणयोः सम्बन्धोऽपि[8] सम्बन्धिभ्योऽर्थान्तरभूतः सन्, अनर्थान्तरभूतो वा नियोगरूपतां प्रतिपद्यते ? न तावदर्थान्तरभूतः, तथाभूतस्य सम्बन्धस्यैवाऽसंभवतो नियोगरूपतानुपपत्तेः । सम्बन्ध्यात्मनोऽपि सम्बन्धस्य प्रेर्यमाणपुरुषनिरपेक्षस्य नियोगरूपतानुपपत्तिरेव । समुदायनियोगवादोऽप्यनेनैव प्रतिव्यूढः । कार्यप्रेरणादिनिर्मुक्तस्तु[9] नियोगो ब्रह्माद्वैतमवलम्बते, तच्च प्रागेव[10] कृतोत्तरम् । यत्पुनः 'स्वर्गकामः पुरुषोऽग्निहोत्रादिवाक्यनियोगे सति यागलक्षणं विषयमारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्त्तते' इति यन्त्रारूढनियोगाभिधानम्, तदप्यचारु[11], अपौरुषेयवाक्ये नियोक्तृत्वस्य निराकृतत्वान्निराकरिष्यमाणत्वाच्च ।

(१) नियोज्य प्रेरणाञ्चानपेक्षमाणस्य–आ० टि० । तुलना– 'प्रेरणारहितं कार्यं नियोज्येन विवर्जितम् । नियोगो नैव कस्यापि नियोग इति कीर्त्यते ॥ यतिनियोगशब्दस्य शुद्धं कार्यं यदा मतम् । तदा मात्रान्नियोगत्वं भवत्येन नियाम्यते ॥ युक्तास्तु पुरुषे कार्यं यत्र नैव प्रतीयते ॥ नियोगः स कथं नाम सिद्धान्तीनां विरोधवान् ॥ नियोजकस्य धर्मोऽयं नियोगो लोकसम्मतः । तदेव कार्यमिति चेत्, सिद्धस्याभास्य साध्यता ॥ साध्यत्वेन नियोगोऽयमिति चेद्व्यपदिश्यते । विषये तस्य तत्त्वेनोपचारात् प्रकीर्तनम् । असिद्धस्य च तस्यास्तु कथं प्रेरकरूपता ॥ साध्यत्वेनावबोधोऽस्य प्रेरकत्वं यदीष्यते । अप्रसिद्धस्य साध्यत्वं बाधं सिद्धात्मकस्य च ॥ परस्परविरुद्धत्वमेकस्य कथमिष्यते । साध्यरूपतया तस्य प्रतीतिः प्रेरिका यदि । नियोगत्वं प्रतीतेः स्यान्न नियोगस्य तत्त्वतः ॥"–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३२ ३३ । 'प्रेरणानियोज्यवर्जितस्य नियोगस्यासंभवात् । तस्मिन्नियागकरणे स्वकम्बलस्य कूर्दाल्किनिनामातरकरणमात्रं स्यात् ।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६५ । अष्टसह० पृ० ९ । (२) नियोज्यप्रेरणाकार्यरूपस्य–आ० टि० । (३) नियोगरूपता–आ० टि० । (४) "नियोज्यफलरहितायाः प्रेरणायाः प्रलापमात्रत्वात् ।'–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६५ । अष्टसह० पृ० १० । (५) "नियोज्यविरहे नियोगविरोधात् ।'–अष्टसह० पृ० १० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६६ । (६) अत्रापि नियोज्याभावात्–आ० टि० । (७) "नियोज्यादिनिरपेक्षस्य कार्यस्य प्रवर्तकत्वोपचारायोगात्, कदाचित् क्वचित् परमार्थतस्तस्य तथानुपलम्भात् ।'–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६६ । अष्टसह० पृ० १० । (८) "ततो भिन्नस्य सम्बन्धस्य सम्बन्धिनिरपेक्षस्य नियोगत्वाघटनात् । सम्बन्ध्यात्मनः सम्बन्धस्य नियोगत्वमित्यपि दुरन्वयम्, प्रेर्यमाणपुरुषनिरपेक्षयोः सम्बन्ध्यात्मनोरपि कार्यप्रेरणयोर्नियोगत्वानुपपत्तेः ।'–अष्टसह० पृ० १० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६६ । (९) सम्बन्धिभ्यो भिन्नस्य । (१०) पृ० १५० । (११) तुलना– 'यन्त्रारूढतया भोग्यभोक्त्रोः सम्बन्ध उच्यते । न सम्बन्धोऽस्ति भोग्यात्मा रूढश्च न नरस्तदा ॥ प्रतीतिकाले

1–क्ष निरपे–ब० । 2 नियोज्यनिर–आ० ।

मोग्यरूपस्तु नियोगः फलस्वभावविनिश्चितत्वेनैव नियतः । पुरुषस्वभावस्य तु नियोगस्य शाश्वतिकत्वप्रसङ्गः तस्य शाश्वतिकत्वात् ।

किञ्च, नियम्यते नियुज्यते इति नियोगः, किं वा नियुक्तिः, नियुज्यतेऽनेन इति वा ? तत्र प्रथमपक्षोऽनुपपन्नः, नियुक्तिक्रियायाः कर्मणः तस्य प्रमादादीनां यागादिकर्मणि नियोगे सम्भवाभावात् । नहि 'अद्य नियोगेन अहं नियुक्तः' इति तस्य नास्ति परामर्शः तस्य नियोक्तृतोऽवगमात्, स्वस्मात् तत्स्वरूपस्य अप्रतीतेः । मैत्रीभावनाभावात् नियोक्तृत्वे च प्रभुत्वदोषेणानुपपन्नः । नहि नियोक्तृत्वानवगमात् कश्चित् प्रवर्तते, तावत् तदनुविधानवतो न दर्शितम् । नियुक्तिर्नियोगः नियुज्यतेऽनेनेति वा' इत्यप्यनुपपन्नम्, भावकरणयोः केवलयोः कर्मासम्भवात्, तयोः साध्यसाधनभावकरणयोरसम्भवात् । न तत्र कर्तृनियोगः विद्यते । तस्य च नियोक्तृत्वं प्रागेव प्रतिषिद्धम् ।

किञ्च, असौ नियोगः शब्दव्यापाररूपः, पुरुषव्यापाररूपः, उभयरूपः, अनुभयरूपो वा ? प्रथमपक्षे शब्दभावनातोऽभिन्नत्वानुषङ्गः, शब्दव्यापारस्य शब्दभावनात्मकत्वात् । द्वितीयपक्षे तु अर्थभावनातोऽभिन्नत्वप्रसङ्गः पुरुषव्यापारस्य अर्थभावनात्मकत्वात् । उभयपक्षेऽपि उभयपक्षोक्तदोषानुषङ्गः ।

अनुभयपक्षेऽप्यसौ विषयस्वभावः, फलस्वभावः, निःस्वभावो वा स्यात् ? यदि विषयस्वभावः, तदाऽसौ यागादिविषयः "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" [ ] इत्यादि नियोक्तृवाक्यकाले अस्ति, न वा ? यदि नास्ति, तदा तत्स्वभावो नियोगोऽपि नास्तीति कथमसौ तदुत्पन्नः वाक्यार्थः स्यात् ? तत्सद्भावे वा अस्तित्वस्य वाक्यार्थत्वे

सर्वस्य नाम्न्येव नाशस्यापत्ता । तथा तदा स्यादवस्थ साध्य कार्य हानिः ॥'–प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ३४ । 'तदपि न परमार्थतोऽभिहितम्, पुरुषाभिप्रायमात्रस्य नियोगत्वकथनात्, तस्य च प्रतिपादोऽपि व्यपगतत्वात् ।'–अष्टसह० पृ० १० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६६ ।

(१) नियोगस्वरूपताया । (२) यद्यपि तदीयेन अभिप्रायेणोक्तानि वचनानि तदीयवचनानि तथैव अभिप्रायरहितस्यापि नियोगरूपता स्यादित्यत्र आह । (३) यागादिकर्मणि–आ० टि० । (४) तुलना–'अपि च नियोक्तृव्यापारात् नियोगो न नियोक्तुर्विना सम्भवः । न चास्य तथाविध प्रतीतेरसत्त्वाभ्युपगमात् ।'–विधिवि० पृ० ९० । (५) तुलना– 'तदेव च वाक्यार्थे अन्यथाभावो भ० –प्रमाणे किं नियोगः स्यात् प्रमेयमथवा पुनः । उभयेन विहीनो वा द्वयरूपोऽथवा पुनः ॥ शब्दव्यापाररूपो वा व्यापारः पुरुषस्य वा । द्वयव्यापाररूपो वा द्वयाव्यापार एव वा ।'–प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ३१ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२ । अष्टसह० पृ० १० । (६) तुलना– 'नियुक्तमात्रविषयनियोगरूपता यदीष्यते । धर्मो नियोगः सकलः न शब्दार्थोऽवतिष्ठते ॥ नियोक्तृधर्ममात्रं हि तथ्यानुष्ठेयता कृतः । सिद्धार्थे यदनुष्ठेयो नानुष्ठानविरतिर्भवेत् ॥'–प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ३६ । 'नापि विषयस्वभावो वा स्यात् फलस्वभावो वा निःस्वभावो वा ?'–अष्टसह० पृ० ८ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२ । (७) तुलना– 'विषय धर्मतायामपि विषयस्यासन्निधाने स्वरूपाभावात् कथं शब्दान्नो प्रवर्तनं शक्यम् ?'–प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ३७ । अष्टसह० पृ० ८ । (८) विषयस्वभाव । (९) भविष्यतो यागादेर्विषयस्य ।

1 नियोक्तृत्वानुपपत्तेः श्र० । 2–सद्यः आ० । 3–तिरोधा–श्र०, –ति इत्य–आ० । 4–पुरुषगत प्र–व० । 5 उभयपक्षोक्तानुषङ्ग व० श्र० ।

सौगतमतानुसरणप्रसङ्ग । अथ तत्काले सोऽस्ति, एवमपि न नियोगो वाक्यार्थ, तस्य यागादिनिष्पादनार्थत्वात् । न चानयोस्तादात्म्ये स्वात्मैव स्वात्मनो निष्पादको युक्तो विरोधात्, निष्पन्नस्य यागादे पुनरपि निष्पादनविरोधाच्च । अथ तस्य किञ्चिदनिष्पन्न रूपमस्ति तन्निष्पादनार्थो नियोग, तर्हि तत्स्वभावो नियोगोऽप्यनिष्पन्न इति कथ वाक्यार्थ ? कल्पनारूढस्य वाक्यार्थत्वे स एव सौगतमतानुप्रवेश । फलस्वभावो नियोग, इत्यप्ययुक्तम्, नहि स्वर्गादिफल नियोगो घटते फलान्तरपरिकल्पनप्रसङ्गात्, निष्फलस्य नियोगस्यानुपपत्ते । फलान्तरस्य च फलस्वभावनियोगवादिना नियोगत्वापत्तौ तदन्यफलकल्पने अनवस्थाप्रसङ्ग । फलस्य च वाक्यकालेऽसन्निहितत्वात् तत्स्वभावो नियोगोऽप्यसन्निहित एवेति कथ वाक्यार्थ ? बुद्ध्यारूढस्य वाक्यार्थत्वे परमतप्रवेशप्रसङ्ग । 'नि स्वभावो नियोग' इत्यप्यनेन प्रत्युक्तम्, नि स्वभावस्यास्य अन्यापोहत्वानतिक्रमात् ।

किञ्च, अय नियोग प्रवर्त्तकस्वभाव, अप्रवर्त्तकस्वभावो वा ? प्रथमपक्षे प्रभाकरवत् सौगतादीनामपि प्रवर्त्तक स्यात् तस्य सर्वथा प्रवर्त्तकस्वभावत्वात् । तेषां विपर्यासान्नप्रवर्तक इति चेत्, न, 'भवतामपि विपर्यासात् प्रवर्तक' इत्यपि वक्तु सुशकत्वात् । अथाप्रवर्त्तकस्वभावोऽसौ, तर्हि सिद्धस्तस्य प्रवृत्तिहेतुत्वाभाव, स च वाक्यार्थत्वाभाव साधयति । न च अग्निष्टोमादिवाक्ये विषयादिपदार्थवाचकपदव्यतिरेकेण विषयफलयो मध्यवर्त्तिन तटस्थस्य वा नियोगस्य वाचक किञ्चित्पदमस्ति, यत सोपि विषयान्वित पदार्थता प्रतिपद्येत । न चापदार्थो वाक्यार्थो भवितुमर्हति, अन्यो-

(१) वाक्यप्रयोगकाले । तुलना–"अथ तद्वाक्यकाले विद्यमानोऽसौ, तर्हि न नियोगो वाक्यार्थ, तस्य यागादिनिष्पादनार्थत्वात, निष्पन्नस्य च यागादे पुनर्निष्पादनायोगात् । –अष्टसह० पृ० ८ । (२) नियोगस्य । (३) विषयनियोगयो –आ० टि० । (४) यागादे । (५) तुलना–'द्वितीय पक्षेऽपि नासौ नियोग, फलस्य भाव (भावि) त्वेन नियोगत्वाघटनात, तदा असन्निधानाच्च । तस्य वाक्यार्थत्वे निरालम्बनशब्दवादाश्रयणात् कुत प्रभाकरमतसिद्धि ?"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२ । अष्टसह० पृ० ८ । (६) सुगतमत । (७) "स हि प्रवर्तकस्वभावो वा स्यादतत्स्वभावो वा ?'–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६४ । अष्टसह० पृ० ८ । (८) तुलना–"नियुक्तेन निवृत्तिश्चेत् (?) सर्वस्यास्त प्रसज्यते । तत्स्वभावतया शश्वद्‌गमनाभावो न कस्यचित् ॥ स्वभावोऽपि विपर्यासाद् यथा यदि गम्यते । विपर्यासा विपर्यासव्यवस्था क करिष्यति ॥'–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० १५१ । (९) नियोगस्य । (१०) सौगतादीनाम् । तुलना–'तेषां विपर्यासान्नप्रवर्तक इति चेत्, परेषामपि विपर्यासात् प्रवर्तकोऽस्तु । शक्यं हि वक्तुम्–प्राभाकरा विपर्यस्तत्वात् शब्दनियोगात् प्रवर्तन्ते नेतरे, तेषामविपर्यस्तत्वादिति । सौगतादयो विपर्यस्ता तन्मतस्य प्रमाणबाधितत्वात् न पुन प्राभाकरा इत्यपि पक्षपातमात्रम्, तन्मतस्यापि प्रमाणबाधितत्वाविशेषात् ।"–अष्टसह० पृ० ९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६४ । (११) प्रभाकराणामपि । (१२) तुलना–"पदार्थ एव वाक्यार्थो न च सोऽत्र प्रयोगोचर । तत्र पदार्थस्य पदार्थान्तरोपकल्पितं रूपस्य वाक्यार्थत्वाद्पदार्थत्वे तदनुपपत्ति ।'–विधिवि० पृ० ४९ ।

1–तानुसारेण प्र–आ० ब० । 2 थम कि–श्र० । 3 इत्यप्यनेन ब०, श्र० । 4 तथागता–श्र० । 5–स्वभावात् आ० । 6 इति वक्तु आ०, श्र० ।

न्यसापेक्षपदान्तरनिरपेक्षपदार्थसमुदायलक्षणत्वाद् वाक्यार्थस्य । तन्न नियोगोऽपि वाक्यार्थो घटते ॥छ॥

येऽपि प्रेषणाध्येषणाभ्यनुज्ञालक्षणं प्रयोक्तृधर्मं प्रवृत्तिहेतुत्वेन प्रसिद्धो विधिरित्योमनन्ति, तेऽप्यतत्त्वज्ञाः, पौरुषसम्भवश्चून्येषु वेदवाक्येषु पुरुषधर्मतया प्रसिद्धानां प्रेषणादीनाम् अत्यन्तासम्भवतो विधित्वकल्पनानुपपत्तेः । तत्र[३] तेषां कल्पने वा पौरुषेयत्वानुषङ्गाद् अपौरुषेयत्वकल्पनानुपपत्तिरिति एकं संधित्सोरन्यत् प्रच्यवते । असत्कारपूर्विका[४] हि व्यापारणा प्रेषणा उच्यते, सत्कारपूर्विका तु अध्येषणा, परेष्टस्य अप्रतिकूलवृत्तिरभ्यनुज्ञेति सर्वे एते प्रेषणादयः पुरुषगताशयविशेषस्वभावत्वाद् अपौरुषेयेषु वेदवाक्येषु न मनागपि सङ्गच्छन्ते इति ॥ छ ॥

अन्ये तु प्रैषादीनां प्रत्येकं व्यभिचारात् अनेकशक्तिकल्पनादोषाच्च सर्वत्राऽव्यभिचारिणः प्रवर्त्तनामात्रस्यैवास्य विधित्वमिति प्रतिपन्नाः, तेऽप्यसमीक्षिततत्त्वाः, निर्विशे-

(१) तत्र विधिः प्रेरणम् भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्त्तनम् । निमन्त्रणं नियोगकरणम्, आवश्यके प्रेरणत्वम् । आमन्त्रणं कामचारानुज्ञा । अधीष्टः सत्कारपूर्वको व्यापारः । –व्याकरणभू० पृ० १४२ । (२) नैयायिकाअपि । विधिर्विधायकः । यद् वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः, विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा । यथा अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यादि ।'–न्यायभा० २।१।६३ । 'यद्वाक्यं विधत्ते इदं कुर्यादिति स नियोगः । अनुज्ञा तु यत्कर्त्तारमनुजानाति तदनुज्ञावाक्यम् ।' –न्यायवा० पृ० २६९ । 'विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः । अभिधेयोऽनुमेया तु कर्तुरिष्टाभ्युपायता ॥ प्रवृत्त्यादौ इत्यादिपदात् निवृत्तिः, विषयसप्तमीयम् तेन प्रवृत्तिनिवृत्तिविषय आप्ताभिप्रायो लिङर्थ इत्यर्थः । प्रवर्तकमिष्टसाधनताज्ञानमेव लिङर्थस्त्वाप्ताभिप्रायो लाघवादिति भावः । –न्यायकुसु०, प्रका० ५।१५ । (३) 'अपौरुषेये प्रेषणादिर्धर्मो नावकल्पते । लोके हि प्रवीणः प्रेषणाध्येषणाभ्यनुज्ञालक्षणोऽभिप्रायातिशयः प्रयोक्तृधर्मो लिङर्थः, तस्यापौरुषेयेषु वेदवाक्येष्वसम्भवः । प्रतीतेः सम्भव इति चेत्, न, पौरुषेयत्वापत्तेः ।'–विधिवि० पृ० २३ । आज्ञादिस्तु न वेदार्थः पुरुषधर्मत्वेन युज्यते ।"–न्यायसु० पृ० ३७ । (४) केन । (५) पुरुषाभिप्रायरूपाणां प्रेषणादीनाम् ।(६) द्रष्टव्यम्–पृ० ५८० टि० ४ । (७) मीमांसकवैयाकरणादयः । एतच्चतुष्टयानुगतप्रवर्त्तनात्वेन वाच्यता लाघवात् । उक्तञ्च–अस्ति प्रवर्त्तनारूपमनुस्यूतं चतुर्ष्वपि । तत्रैव लिङ् विधातव्यः किं भेदस्य विवक्षया ॥ न्यायव्युत्पादनाय वा प्रपञ्चार्थमथापि वा । विध्यादीनामुपादानं चतुर्णामादितः कृतमिति । प्रवर्त्तनात्वञ्च प्रवृत्तिजनकज्ञानविषयतावच्छेदकत्वम् । तच्चेष्टसाधनत्वस्यास्ति इति तदेव विध्यर्थः । –व्याकरणभू० पृ० १४५ । 'तत्र च प्रैषादीनां विशेषाणां व्यभिचारित्वेन अवाच्यत्वात् सर्वानुयायिनः प्रवर्त्तनासामान्यस्य वाच्यत्वमवगतेः' –न्यायसु० पृ० ३० । 'तत्र आवापोद्वापाभ्यां प्रवर्त्तनायां विधिशक्तिमवधारयति । प्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारः प्रवर्त्तना स च व्यापारः प्रैषादिरूपो विविध इति प्रत्येकं व्यभिचारित्वादनियताभिधानेऽवाच्यत्वानुपपत्तेः प्रवर्त्तनासामान्यमेव विधिवाच्यार्थमिति कल्पयति ।'–मीमांसान्याय० पृ० १८० । (८) 'न च प्रवर्त्तनामात्रमविशेषमवक्तव्यम् । यदपि मतम्–अनेकसामर्थ्यपरिकल्पनादोषाद् व्यभिचाराच्च प्रैषादीनामवाच्यत्वादव्यभिचारात्प्रवर्त्तनामात्रं लोके लिङर्थः तस्य वेदेऽप्युपपत्तिरिति, इदमप्यचतुरस्रम् निर्विशेषसामान्यायोगात् अवस्तुत्वे व्यापारानुपपत्तेश्च । न तावत् प्रैषादयो विशेषाः सम्भविनः । नाप्यन्यो विशेषः कश्चिदुपलभ्यते । तदुपादाने वा सामान्यस्याभिधानमस्मिन्नवसरे व्यर्थम् । तदेतदपास्तसकलभेदं प्रवर्त्तनासामान्यं शशशृङ्गमिव समुन्मिषद् स्यात् । प्रवर्त्तना च प्रवर्त्तयितुर्व्यापारः स तमन्तरेण नातिविराजते पुरुषस्याभावात् तदन्यस्य च प्रवर्त्तकत्वनिषेधात् प्रवर्त्तयितुरभावः । –विधिवि० पृ० २५-२६ ।

1–लक्षणप्रयो–आ० । 2–प्रेषणादीनां श्र० ।

पस्य सामान्यस्यैवाऽसम्भवात्। यथैव हि गण्डादिविशेषशून्य गोत्वादि न सम्भवति, एव परित्यक्तप्रैषादिविशेष प्रवर्त्तनामात्रमपि। वेदस्य चाऽपौरुषेयत्वाभ्युपगमे पुरुषगताशयविशेषस्वभावाना प्रैषादिविशेषाणामसम्भवात् का प्रवर्त्तनामात्रस्य सभावनापि ?

यच्चोक्तम्–'प्रैषादीना व्यभिचारात्' इत्यादि, तदयुक्तम्, यथासभव यथास्वरूपञ्च प्रवर्त्तकत्वाभ्युपगमात्। यदा हि प्रेषणात् प्रवर्त्तते तदा तस्या प्रवर्तकत्वम्, यदा तु अध्येषणातस्तदा तस्या इति। नहि 'कदाचिद्दीर्घा शुक्लादिस्वरूपास्तन्तव पटस्य जनका कदाचित्तु ह्रस्वा रक्तादिस्वभावा वा' इत्येतावता तन्तुव्यतिरिक्तस्यान्यस्यैव कस्यचित्पटोत्पत्ति प्रति उपादानकारणत्व युक्त प्रतीतिविरोधात्॥ छ॥

अन्ये त्वाहु–फल प्रवर्त्तकम्, तद्व्यापार प्रवर्त्तना। सर्वोऽपि हि प्रेक्षापूर्वकारी फलोद्देशेन प्रवर्त्तते, अत फलस्य प्रवर्त्तकत्वम्। प्रीत्यात्मकता तस्य प्रवृत्तौ व्यापार स एव च प्रवर्त्तना विधिरिति, तदप्यसङ्गतम्, फलस्य प्रवृत्तिहेतुत्वानुपपत्ते। नहि अवगतमपि फलम् अर्थिता विना प्रवृत्तिहेतु। सर्वस्य सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। अर्थिता च न फलस्य व्यापार, किन्तु प्रतिपत्तुरिच्छारूपतया तद्धर्मत्वात्। अथ फलस्य प्रीत्यात्मकत्वमन्तरेण इच्छाया एवानुत्पत्ते तदुत्पादनद्वारेण फलधर्मस्य प्रीत्यात्मकत्वस्य प्रवृत्तिहेतुत्वम्, नन्वेवमपि प्रीत्यात्मकत्वस्य फले एवाऽवस्थानात् तेनैव आत्मन प्रवृत्ति स्यात् न कर्मणि। अतोऽर्थान्तरत्वात्तस्य। नह्यन्यदभिलषितम् अन्यत्र

(१) पृ० ५८८ प० १०। (२) प्रेषणाया विधित्वे अध्येषणाया विधित्व न स्यात् अध्येषणाया विधित्वे च प्रेषणाया विधित्वाभाव इति परस्पर व्यभिचार। प्रेषणादिषु प्रत्येक शक्तिकल्पने गौरवमिति भाव। (३) जयन्तभट्टप्रभृतय। 'फलस्यवव्यमाणस्य पश्यन प्रेरकता मत। तस्मात्पुस प्रवृत्ती प्रभवति न विधिर्नापि शब्दो लिङादि। व्यापारोप्येतदीयो न हि पटुरभिधा भावनानामधेया॥ न श्रेय साधनत्व विधिविषयगत नापि रागादिरेव। तेनाप्यत्कामयमान फलममलमति प्रस्क सूत्रकार॥ क्वचिदसाक्षात्पदोपात्त कश्चित्प्रकरणागतम्। क्वचिन्नालोचनालभ्य फल सर्वत्र गम्यते॥ तस्मात्फलस्य साध्यत्वात् सर्वत्र तदवर्जनात्। क्रियादीनाञ्च तादर्थ्यात् तस्य वाक्यार्थतेष्यते॥ प्राधान्ययोगादथवा फलस्य वाक्यार्थता तत्र सता हि यत्न। प्रयोजन सूत्रकृता तदेव प्रवर्तकत्वेन किलोपदिष्टम्॥"–न्यायम० पृ० ३६२–६५। (४) "यदि मन्यते फल प्रवर्तक तद्व्यापार प्रवर्तना फलार्थिन पुरुषस्य तत्साधने प्रवृत्ते अन्यथाऽभावात्। न कश्चिद्व्यापारविशेष प्रवर्तना अपि तु प्रवृत्तिसमर्थ व्यापारमात्र च प्रयोजकव्यापार, भिक्षा वासयति कारीषोऽग्निरध्यापयतीति दर्शनात्, तदसत्, अर्थिता व्यापृति पुसो नियमनिबन्धन। फलसाधनता कर्मनिश्चेया साध्यता कदा॥"–विधिवि० पृ० २६। (५) आत्मन – आ० टि०। (६) पुरुषधर्मत्वात्। "फलार्थिता चेत् प्रवृत्तिहेतु, सेच्छा तद्योगो वा इच्छासमवायो वा 'कृत्तद्धितसमासेषु सम्बन्धाभिधानं त्वतल्भ्याम्' इति वचनात् पुरुषधर्म इति न फल व्यापृति। –विधिवि० पृ० २७। (७) 'अथ तदिच्छोपहारमुखेन फलस्य प्रवृत्तिहेतुधर्म प्रीत्यात्मता फलव्यापार प्रवर्तना सापि तत्रैव न कर्मणि। फलव्यापाराच्च प्रवर्तमान सर्वत्र प्रवर्तेत नियमनिमित्ताभावात्। –विधिवि० पृ० २७। (८) इच्छोत्पादनमुखेन। (९) सूरि–आ० टि०। (१०) फले एव। (११) फलात्–आ० टि०। (१२) कर्मण–आ० टि० (१३) फलम्। (१४) कर्मणि यागादौ।

1 सामान्यस्यासम्भ–श्र०। 2–युक्तं यथास्व–व०।

प्रवृत्तिः अतिप्रसङ्गात्। अथाऽभिप्रेतफलसाधनत्वात् कर्मण्येव प्रवृत्तेर्नातिप्रसङ्गः, न खलु प्रेक्षापूर्वकारिणः उपायं परित्यज्य अनुपायेऽसाधने वा साध्ये प्रवर्त्तन्ते, कथमेवं फलस्य प्रवर्त्तकता तत्साधनस्यैव तत्प्रसङ्गात्।

ननु नियतकर्मसाध्यतायाः फलसमवेतायाः प्रवृत्तिहेतुत्वात् फलस्य प्रवर्त्तकत्वम्, नियते च उपायभूते कर्मणि प्रवृत्तिरविरुद्धा; ननु केयं तत्साध्यता फलस्य स्वरूपम्, शक्तिभेदो वा ? यदि स्वरूपम्, तदा तस्य सत्त्वाविशेषात् नियतकर्मणीव अर्थान्तरेऽपि प्रवृत्तिः स्यात्। नहि तृप्तिः भुज्यपेक्षयैव तृप्तिर्भवति नान्यपेक्षया इति, तृप्त्यर्थिना अन्नादावपि प्रवर्त्तितव्यम्। शक्तिभेदोऽपि फलस्य स्वसत्त्वकाले, अभावकाले वा स्यात् ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः, यतः प्रतिनियतादेव कर्मणः प्रतिनियतस्य फलस्योत्पत्त्यर्थं तच्छक्तिभेदः परिकल्प्यते। न चोत्पन्नस्य सम्बन्धिनी शक्तिः उत्पादनियमे समुपयुज्यते। न खलु उत्पन्नं शक्तिवशादुत्पद्यते विरोधात्। द्वितीयविकल्पोऽप्यसुन्दरः, नहि फलमविद्यमानं खपुष्पप्रख्यं साध्यताख्यशक्तिभेदाश्रयो भवितुमर्हति। तदाश्रयत्वे वा तस्याऽसत्त्वविरोधः, असतः सकलशक्तिविरहलक्षणत्वात्।

किञ्च, इदं फलं विद्यमानं सत् पुरुषं प्रेरयति, अविद्यमानं वा ? यदि विद्य-

(१) "तत्साधनत्वात् कर्मण्येव प्रवर्तते न सर्वत्र अत एव तर्हि तत्साधनत्वं प्रवृत्तिहेतुः कर्मणि न फलरूपम् तच्च कर्मसमवायीति कर्म प्रवर्तकं स्यात्। चोदयति–तत्साधनत्वात् कर्मण्येव प्रवर्तते सर्वत्र सर्वेषां फलसाधनत्वाभावात्। परिहरति–अत एव तत्साधनत्वे सति प्रवृत्तिभावादेव। भवतु तर्हि तत्साधनत्वं प्रवृत्तिहेतुः कर्मणि न फलरूपम्। भवतु को दोषः ? इत्यत आह–ततश्च कर्मसमवायि न फलसमवायीति कर्मैव प्रवर्तकं स्यात्।"–विधिवि०, टी० पृ० २७-२८। (२) फलसाधनभूतस्य यागस्यैव प्रवर्त्तकत्वं स्यात् यागस्य तत्साधनत्वे निश्चिते सत्येव प्रवृत्तिदर्शनात्। (३) एवं तर्हि तत्साध्यता प्रवृत्तिहेतुः सा च फलसमवायिनीति न दोषः तथाहि समभिलषितस्य तृप्त्यादेः कर्मविशेषणं साध्यत्वाख्यमेव प्रवर्तते। का पुनरियं साध्यता ? यदि रूपं फलस्य सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसङ्गः। एतदुक्तं भवति–फलसमवायिन्यपि साध्यता साधनाधीननिरूपणतया साधनमपि गोचरयति न पुनः साधनमपि तेनैव तस्मान्नियतं साधने एव प्रवर्तयति न तु सर्वत्रेति। तदेतद् दूषयति–का पुनरियं साध्यता ? यदि रूपं फलस्य तत्स्वरूपस्य साधनाधीननिरूपणत्वाभावात् न साधने प्रवर्त्तयेत् प्रवर्तयेद्वा सर्वत्रैव अन्यत्वाविशेषात्।–विधिवि० टी० पृ० २८। (४) ज्योतिष्टोमादियागजन्यता हि स्वर्गादिफलसमवायिनी अतः वस्तुतः यागसाध्यतायाः प्रवृत्तिहेतुत्वे फलस्यैव प्रवर्तकत्वं फलितमिति भावः। (५) नियतकर्मसाध्यता। (६) फलभूतस्वर्गस्वरूपस्य। (७) ज्योतिष्टोमादिवत्। (८) गोवधादौ–आ० टि०। (९) शक्तिविशेषः। (१०) "का पुनरियं शक्तिभेदः साध्यताभिधानः ? फलस्य भावसमये न तावत् तदपर्यालोचनप्रवृत्तिहेतुत्वाच्च। न खलूत्पन्नस्योत्पादं यद्योगिनो शक्तिरपेक्षते। नापि सिद्धे फले तत्साधने कश्चित्प्रवर्तते।"–विधिवि० पृ० २९। (११) उत्पन्नस्य उत्पत्तिविरोधात् अनुत्पन्नस्यैव हि समुत्पादो दृश्यते। (१२) अभावकालेऽप्यसतः कथं शक्तिमत् खपुष्पवत्–विधिवि० पृ० २९। (१३) साध्यतारूपशक्तिविशेषाधारत्वे। (१४) फलस्य। (१५) शक्त्याधारत्वे सत्त्वमेव स्यादिति भावः।

1–साध्यतया प्रवृत्ति–श्र०। 2 तच्छक्ति–श्र०। 3 नहि भु–श्र०। 4 स्वसत्ताकाले श्र०, ब०। 5 साध्यताशक्ति–श्र० ब०। 6 तदाश्रयसत्त्वे वा ब०। 7 ततः श्र०।

मानम्, किमर्थं प्रेरयति ? फलार्थी हि पुरुषः प्रवर्त्तते, तच्चेद् विद्यते, अलं प्रवृत्त्या। नहि लोके यस्य यन्नास्ति स तदर्थं पुनः प्रवर्त्तते इति प्रतीतम्, प्रवृत्त्यनुपरमप्रसङ्गात्। सतोऽपि फलस्य आत्मसम्बन्धिता कर्त्तुं प्रवर्त्तते, इत्यप्ययुक्तम्; यतः फलं सुखम्, दुःखाभावश्च, तदुभयमप्युपजायमानम् आत्मसम्बद्धमेवोपजायते। अथ स्वर्गकामः पुरुषः स्वर्गादेः फलस्य विद्यमानस्यैव आत्मसम्बद्धतां कर्त्तुं प्रवर्त्तते, नन्वेवं पुत्रकामेष्टौ का वार्त्ता ? नहि पुत्रादिफलस्य तदा विद्यमानता सम्भवति प्रतीतिविरोधात्।

किञ्च, इदं फलं सत्तामात्रेण प्रवृत्तिहेतुः, साध्यताविशिष्टं वा ? प्रथमपक्षे सिद्धेऽपि फले पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वं स्यात्, सत्तामात्रस्य तत्राप्यविशेषात्। न च सिद्धस्य सिद्धये प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्युक्ता तन्नुपरमप्रसङ्गात्। अथ साध्यतावच्छिन्नं फलं प्रवृत्ति-हेतुर्न केवलम्; तदप्यनुपपन्नम्, अनर्थिनोऽप्यर्थे प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। फलं हि साध्यतया विशिष्टं प्रतीयमानं यदि प्रतिपत्तारं प्रवर्त्तयति तत्र अनर्थिनमपि प्रवर्त्तयेत्तदविशेषात्। तत्र विद्यमानस्यास्य प्रेरकत्वं युक्तम्। नाप्यविद्यमानस्य, असतः कारकत्वानुपपत्तेः, 'असच्च प्रेरकञ्च' इति विप्रतिषेधात्॥ छ॥

येऽपि 'फलाभिलाष एव पुरुषगतः प्रेरकत्वाद् विधिः, अनर्थिनः प्रवृत्त्यप्रतीतेः, स हि सन्निधानमन्तरेणापि क्वचिदभिलषिते वस्तुनि अर्थिनं पुरुषं प्रवर्त्तयति' इत्याचक्षते, तेऽप्यसमीक्षिताभिधायिनः, अभिलाषस्य अव्यापकतया प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्तेः। तदव्यापकता च बालकप्रवृत्तौ तत्सम्भवात्सुप्रसिद्धा। तथाहि–कश्चिदाचार्यप्रेरितो बालकः कार्यं किमपि कुर्वन् केनचित् प्रयोजनं पृष्टः सन्नुत्तरमाह–'न वेद्मि करणे अस्य किमपि प्रयोजनम्, केवलमाचार्यप्रेरितः करोमि' इति। ततः फलाभिलाषमन्तरेणापि पुरुष-प्रवृत्तिप्रतीतेः अव्यापकः सर्वप्रवर्त्तनानां फलाभिलाषः॥ छ॥

अन्ये तु 'कर्मैव अभिमतार्थप्रसाधकत्वाद् विधिः' इति प्रतिपन्नाः, तन्मतमप्य-सङ्गतम्, कर्मणो विधिविषयतया विधिस्वभावत्वानुपपत्तेः। विधेर्विषयो हि कर्म

(१) फलं स्वर्गादि। (२) निष्पन्नेऽपि फले प्रवृत्तौ प्रवृत्त्यनुपरमः स्यात्। (३) पुत्रकामनया क्रियमाणे पुत्रेष्टियज्ञे न हि पुत्रः स्वर्गादिवत् विद्यमानोऽस्ति। (४) प्रवृत्त्यविरामप्रसङ्गात्। (५) अर्थितारहितम्–आ० टि०। (६) साध्यतावच्छिन्नात् फलात्। (७) अविद्यमानफलस्य। (८) असत्त्वात्। (९) प्रेरकत्वे सत्त्वमेव स्यादिति भावः। (१०) पुरुषनिष्ठः। (११) 'अस्तु तर्हि कर्म प्रवर्तकम्, अभिमतसाधनता तस्य प्रवर्तना प्रवृत्तिहेतुरूपत्वात्, न विषयत्वात्। तन्तद् दूषयति न तस्य विषयत्वात्, प्रवृत्तिकर्तुः प्रयोजकः प्रवर्तकः। सिद्धश्च स भवति। तर्हि सिद्धं चेत् कर्म प्रवर्ते प्राक् प्रवृत्तेः भावनाया विषयो न भाव्यम्। न जातु गगनमस्या भाव्यं भवितुमर्हति। विषयश्चेत् कर्म असिद्धत्वात् कथं प्रवर्तकमित्यर्थः।'–विधिवि०, टी० पृ० ३५। (१२) न हि घटस्य ज्ञानविषयत्वे ज्ञानस्वभावता युक्ता–आ० टि०।

1 अर्थिनोऽ–आ०। 2 अर्थिनमपि आ०। 3–येदविशे–श्र०, ब०। 4–मानस्य प्रेर–आ०। 5 विधिविष–श्र०, विधिविष–ब०।

लोके प्रसिद्धं न तत्स्वभावम्, अतोऽन्येनात्र प्रवर्त्तकेन हि भवितव्यम्। नहि स्वस्यैव स्वात्मसिद्ध्यर्थं प्रवर्त्तकत्वं युक्तं विरोधात्।

किञ्च, उत्पन्नं कर्म आत्मसिद्ध्यर्थं पुरुषं प्रवर्त्तयति, अनुत्पन्नं वा ? तत्र उत्पन्नस्य स्वरूपसिद्धेर्जातत्वात् पुरुषप्रेरणा व्यर्था। अनुत्पन्नस्य तु प्रेरकत्वानुपपत्तिः। सदेव हि किञ्चित् कस्यचित्प्रेरकं नासत् खरविषाणादिकम्, तथाविधस्य कारकत्वायोगात्। असता चानेन सह अपौरुषेयवचसः सम्बन्धासम्भवात् कथं तद् वेदवाक्यैः प्रतिपाद्येत यतः पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वात् तद् वाक्यार्थः स्यात्। अथ सामान्याकारेण सत् कर्म विशेषाकारसम्पादनाय पुरुषं प्रेरयति; तन्न; येनांशेन तत् सत् तेनांशेन पुरुषासाध्यम्, येन चांशेन साध्यं न तेन तद्वेदाभिधेयं सम्बन्धासम्भवात्। नहि सम्बन्धोऽभिधेयाभिधानानां नित्यत्वाभ्युपगमे अनित्ये कर्मविशेषे नित्यस्य सम्बन्धस्य सम्भावनापि सम्भवति। लक्षणया तत्प्रतिपत्तिः, इत्यप्ययुक्तम्; तस्याः स्वतन्त्रशब्दार्थनिरूपणावसरे निरस्तत्वात् ॥ छ ॥

अथ आत्मनोऽप्राप्तक्रियासम्बन्धप्रतिपत्तिः प्रवर्त्तकत्वाद् विधिः, 'तवेदं कर्म' इत्युक्ते हि क्रियासम्बन्धमात्मन्यवगम्य प्रवर्त्तमानाः प्रतीयन्ते लौकिका इति; तदप्ययुक्तम्; नहि क्रियासम्बन्धप्रतिपत्तिमात्रेण प्रवृत्तिर्लोके प्रतीयते, अपि तु तदनुरोधितया, अन्यथा सर्वस्यैव 'तवेदं कर्म' इति कर्मसम्बन्धप्रतिपत्तिमात्रेण प्रवृत्तिः प्रसज्येत,

(१) विधिस्वभावम्। (२) कर्मणि यागादौ। (३) अस्य प्रवृत्तिक्रियायाः कर्तृत्वरूपस्य प्रवर्त्तकत्वस्य असम्भवात्। (४) कर्मणा। (५) याग इति–आ० टि०। (६) शरीरादि –आ० टि०। (७) सामान्येन–आ० टि०। (८) विशेषरूपेण–आ० टि०। (९) वेदवाक्येनाभिधेयम्। (१०) शब्दार्थानाम्। (११) ननु विधिलिङादिवाक्यानाम्युपगमात् तदुच्चारणात् प्रागसिद्धत्वे सति अगृहीतसम्बन्धत्वेन वाच्यत्वायोगाल्लिङाद्युच्चारणात् प्रागेव सिद्धं तत्तत्त्वं न युक्तमित्याशङ्क्य शब्दश्रवणानन्तरभाविप्रवृत्तिहेतुप्रेषणाध्येषणादिव्यापारानुवृत्तप्रवर्त्तनासामान्याभिधानेन तद्विशेषाणां सामर्थ्यपोषणे पुरुषधर्मस्य प्रेषणादेरसम्भवात् तद्व्यतिरिक्तविध्याख्यस्य विशेषस्य परिशेषाल्लक्षणया गम्यमानस्य सम्बन्धग्रहणानपेक्षत्वेन प्राक् सिद्धत्वनपेक्षणादनिरुद्धा शब्दव्यापारतेति'–न्यायसु० पृ० ५५९ तथा पृ० ३०। मीमांसान्याय० पृ० १८०। (१२) विधिः। (१३) लक्षणायाः। (१४) सम्बन्धवत्। (१५) पृ० ५७०। (१६) यदपि समर्थनम्–अप्राप्तसम्बन्धया क्रियया आत्मनः सम्बन्धस्य प्रतीत्या प्रवर्त्तते यथाऽद्य तवेदं कर्मेति लोके। अतश्च अज्ञातज्ञापनमप्रवृत्तप्रवर्त्तनमुभयविधप्राप्तिप्रतिषेधेन अप्राप्तक्रियाननुसम्बन्धो विधिरिति विधिविवेकोद्गारः। –विधिवि० पृ० ४०। (१७) "नन्वसारम् यस्मात्–न प्रवृत्तियोगधियो लोकेऽभिप्रायवर्त्तनात्। यथा भवेत्तथा काम किं मुधैव प्रयस्यति॥ प्रतिपद्यन्ते नामायमात्मनः क्रियायोगं नञ्जानते च तथाभावे तथेति निश्चिन्वन्तु विपर्यये न तदेवमिति। प्रवर्त्तते तु कस्मात् ? शाके त्वद्य तवेदं कर्मेति वचनादधिगतवक्त्रभिप्रायो यो यदभिप्रायानुरोधी स प्रवर्त्तितुमर्हति अन्यथा सर्वस्य प्रवृत्तिः।'–विधिवि० पृ० ४१–४२। (१८) वाक्यप्रयोक्तृपुरुषस्य अभिप्रायानुरोधात् प्रवृत्तिर्भवति अतः अभिप्रायानुरोध एव विध्यर्थः स्यादिति भावः।

1–तत्रैव भवि–श्र० ब०। 2 सह पौरु–श्र०। 3 तवेदं कर्म श्र०। 4 तदविरोधितया ब०। 5 तवेदं कर्म श्र०।

अतस्तदनुरोधितापि प्रवर्त्तकत्वाद् विधिः प्रसज्येत । नापि सा न प्राप्नोति, स्वामिवाक्यवद् वेदवाक्ये तस्याः सद्भावाऽसम्भवात् । 'इदं कुरु' इति वाक्याद्धि स्वामिनोऽभिप्रायं निश्चित्य तदिच्छानतिक्रमेण तदनुरोधितया प्रवर्त्तते । न चैतद् वेदवाक्ये सम्भवति वक्तुरसत्त्वात् ॥ ७ ॥

[1]येऽपि स्वर्गादिफलसाधनत्वेन धात्वर्थं प्रतीत्य पुरुषार्थसाधनत्वादस्मिन् प्रवर्त्तामहे इति श्रेयःसाधनत्वाख्यधर्मान्तरम् प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधिः' इत्याचक्षते, तेऽप्यशास्त्रार्थविदः, श्रेयःसाधनतायाः विधित्वेन लोकेऽप्रसिद्धेः, [2]प्रेषादीनामेव तत्र तत्त्वेन प्रसिद्धेः । लिङादिशब्दवाच्यो हि विधिः । न च श्रेयःसाधनता तच्छब्दवाच्यतया लोके प्रसिद्धा, येनास्याः विधित्वं स्यात्, लोकानुसारेण च पदार्थव्यवस्था । "य एव लौकिकाः शब्दाः त एव वैदिकाः" [शाबरभा० १।३।३०] इत्यादिवचनात् ।

किञ्च, कस्येयं श्रेयःसाधनता–भावनायाः, धात्वर्थस्य वा ? न तावद् भावनायाः, तस्याः प्रागुक्तप्रकारेण असिद्धस्वरूपत्वात् । नापि धात्वर्थस्य, यागादेः पशुवधप्रधानस्य श्रेयःसाधनत्वानुपपत्तेः । न खलु हिंसा श्रेयःसाधनम्, ब्राह्मणवधादेरपि तत्प्रसङ्गात् । [3]विहितानुष्ठानत्वात्तत्साधनत्वे 'सधनं ब्राह्मणं हन्यात्' इत्यादेरपि

(१) प्रयोक्तृपुरुषाभावात् अभिप्रायानुरोधितायाः अभावात् । (२) मण्डनमिश्राद्यः । मण्डनमिश्रा हि 'इदं मच्छ्रेय:साधनम्' इत्यवगमस्यैव प्रवृत्तिहेतुता स्वीकुर्वन्ति, तथा चाहुस्ते–'पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात् क्रियास्वन्यः प्रवर्त्तकः । प्रवृत्तिहेतुं धर्मं च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम् ॥ प्रवृत्तिसमर्थो हि कश्चिद् भावातिशयो व्यापाराभिधानः प्रवर्तना । सा च क्रियाणामपरिज्ञातोपायतैव । न हि तथात्वमप्रतिपद्य तत्र प्रवर्तते कश्चित् । यत्प्रवर्तनादिभ्यः प्रवृत्तिः साऽपि कथंचिदिष्टाभ्युपायत्वमुपाश्रित्य अन्यथाऽसम्भवात् ।"–विधिवि० पृ० २४३ । 'तथा चोक्तम्–तथा धात्वर्थकार्यत्वं पदं सूत्रोपदर्शितं । भावनाया [illegible] पुरुषार्थो नाम्यतेति ॥ श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते (मी० श्लो० म० ४९ ।) इति च । तस्मादिष्टसाधनत्वं विधिः लिङाद्यभिधेयेति तदुक्तायाः भावनायाः फलमेव भाव्यं धात्वर्थस्य करणमिति (पृ० ४६) तेनाभिधाव्यापारप्रवर्तनाभिधानवत् प्रवर्तनारूपेण इष्टसाधनता शब्दाभिधत्ते न स्वरूपेणेति न ग्रन्थविरोधः । इत्थमेव भगवतो मण्डनमिश्रस्यापि "पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात् क्रियास्वन्यः प्रवर्तकः । प्रवृत्तिहेतुं धर्मं च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम् । एवञ्चारम्भ प्रवर्तनाप्रत्यय इत्यादि ग्रन्थोऽभिमतम् । तदत्र शब्दतत्त्वं प्रवर्तनारूपेष्टसाधनत्वाभिधानमत्र शब्दभावनेति गीयते ।'–न्यायरत्नमा० पृ० ४७, ५३–५४ । इष्टसाधनत्वमेव विधित्वम्" तत्त्वर० पृ० ४५ ।' तथा च प्रवर्तनत्वानुरोधात् विधेरपि इष्टसाधनत्वमिति भवाय "–मुक्ता० पृ० ५१६ । (३) ज्योतिष्टोमादियाग । (४) प्रेरः । (५) विधिवेदैः । (६) श्रेयःसाधनतारूपस्य इष्टसाधनतायाः । (७) उद्धृतमिदम्–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६४ । (८) तुलना– किञ्च, भावनागतं श्रेयःसाधनत्वं प्रवर्त्तकमिष्यते न, तच्च न पुरुषाभिधायि युक्तम् । भावनायाः [illegible] तदवगमसमये एतद्रूपाया स्वस्वभावो साध्यसाधनभावावगतिरिति ।"–न्यायमं० पृ० ३६१ । (९) श्रेयःसाधनत्वप्रसङ्गात् । (१०) यतो हि वेदे विहितोऽपि स श्रेयःसाधनमित्युक्तं स्यात् । तुलना–'विधिपूर्वकस्य पश्वालम्भनस्य विहितानुष्ठानत्वेन हिंसादेरन्यथाभावात् प्रसिद्धो हेतुरिति चेत्, [illegible] पूर्वकस्य साधनत्वस्य तादृशस्यानां विहितानुष्ठानत्वात् हिंसादुष्टं सा भवति [illegible] इति सर्वं [illegible]

[1]विहितानुष्ठानत्वात् श्रेयःसाधनत्वानुपपत्तेः । अप्रामाण्यञ्च ठकशास्त्रवद् वेदेऽप्यविशिष्टम्।

अन्ये तु 'उपदेशो विधिः' इत्यामनन्ति । उपदेशशब्देन[3] च विषयो लिङादि अभिधा चोच्यते । तत्र उपदिश्यते प्रत्याय्यते इत्युपदेशो विषयो यागादिः, उपदिश्यतेऽनेन इत्युपदेशो लिङादिः, उपदेशनमुपदेशः अभिधा उच्चारणमुच्यते, तदप्यसङ्गतम्, ठकोपदेशस्यापि विधित्वप्रसङ्गात् । भवत्परिकल्पितप्रक्रियायाः "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" [ ] इत्यादिवत् 'सघनं ब्राह्मणं हन्यात् भूतिकामः' इत्यादावपि तुल्यत्वात् ।

किञ्च, परानुग्रहप्रवृत्तस्य आप्तस्य वचनम् उपदेशः प्रसिद्धः । न च वेदे तथाविधः कश्चित् पुरुषोऽस्ति अपौरुषेयत्वाभावप्रसङ्गात्, तत्कथमस्य उपदेशतापि ? न खलु उपदेष्टृव्यतिरेकेण उपदेशः कदाचित्प्रतिपन्नः । गुरुवेदस्योपदेष्टृसद्भावे

(१) चौरशास्त्रविहितत्वात् । (२) 'उपदेश इति विशिष्टस्य शब्दस्योच्चारणम्' –शाबरभा० १।१।५। ननु चोदनाया प्रामाण्यं प्रतिज्ञातं कथमुपदेशस्य साध्यते ? अत आह–'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः ।' –मी० श्लो० सू० ५ श्लो० ११ । 'उपदेशो नियोज्यायव[?]मप्रस्थितचोदना । प्रथितो गुरुवचनो नित्यऽपि न न कल्प्यते ॥ यद्यप्याज्ञाऽध्ययना वेदेऽनुपपन्ना उपदेशस्तु युज्यते । सोऽपि तद्वदेव प्रेरणात्मकश्चतुर्थो लोके प्रतायते । तथाहि–आज्ञाऽध्ययनं हि नियोक्त्रर्थमनाहितनियोज्यफलं कर्म गोचरयतः । नियोज्यार्थं तूपदेशः । अनुज्ञा तु यद्यप्यत्र क्वचित् तथापि प्रवर्त्तपुरुषविषयत्वान्नोपदेशः । नियोज्यार्थकर्मगोचरमप्रवृत्तप्रवर्त्तनमुपदेशमाचक्षते धीराः । न हि ग्राममध्यास्व माणवकमध्यापय कुरु यथाभिमतमित्युपदेशं प्रतीति । नापि भक्ष्य नत (चर) उदरिते पथ्यमश्नीयादिति प्रतीति, भूयसा चण पौरुषेषु कामाप[?]द्वात्त्वाद्व्यापादिभिरनाकुलिता लोके प्रज्ञायते गोपालादिवत् सु च मार्गादि[?] परेषु अलसः पथा गच्छति । प्रदर्शनायञ्चैतत् अतोऽध्ययनाभिधोच्चारणादिज्ञानञ्च कर्मकर्तृकरणभावसाधनेन उपदेशशब्देन उच्यते । प्रपञ्चादिवत् तदपि हि यथाविवक्षितमर्थान्यो निर्दिश्यन्ते सिद्धान्तमुपक्रमते–उच्यते–उपदेशो नियोज्योपदेशस्तु युज्यते तस्य अपौरुषेयेऽपि सम्भवात् । न ह्यसौ नियोजकधर्मेति कथ्यते यत चेतनकर्तृकः स्यात् न चासौ न लौकिकः अप्रेरणात्मको वा यतोऽविधिः स्यादित्याह सोऽपि तद्वदेव आज्ञावदेव प्रेरणात्मकश्चतुर्थो लोके प्रतायते । एतदुक्तं भवति–आज्ञाध्ययनोपदेशाः कर्मणि प्रवृत्तिजननेन तद्गोचरयन्तो भवन्ति प्रेरणात्मतया समानाः । तेषामाज्ञाध्ययनाभ्यां गोचरीक्रियमाणं कर्म अनाहितनियोज्यप्रयोजनमाज्ञापयितुरध्ययमानस्य वा प्रयोजनायावकल्प्यते । उपदेशगोचरस्तु कर्म अनादृतोपदेशकप्रयोजनमुपदेष्टव्यार्थमेवेत्ययम् आज्ञाऽध्ययनाभ्यामुपदेशस्य भेदः प्रेरणात्मकत्वं चेति नियोज्यार्थं कर्म यस्योपदेशस्य न तु नियोक्त्रर्थं स तथोक्त इत्यक्षरयोजना । अप्रस्थितस्य अप्रवृत्तस्य पुंसः प्रस्थापना चोदना ननूपदेशो विधिः स चार्थभेदाभिधायकः, शब्द इति क्वचित्क्वचिदुच्चारणमाह शब्दस्योच्चारणमिति । क्वचिच्च विध्युद्देशनवाक्यत्वादिति । क्वचिद्वचनम् चोदनेति क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनमिति । क्वचित् ज्ञानं शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानमिति क्वचित्त्र शास्त्रं च अभिधा भावनामाहुरित्यभिधामिति । अत आह–प्रदर्शनार्थं चेदं विशिष्टः शब्दो विधिरिति । अतोऽध्ययनाभिधोच्चारणादिज्ञानं च कर्मकर्तृकरणभावसाधनेनोपदेशशब्देन यथायथमुच्यते –विधिवि०, टी० पृ० २३८–२४१ । (३) कर्मकरणभावसाधनेषु क्रमात् । (४) ठकशास्त्रीयवाक्येष्वपि (५) परानुग्रहप्रवृत्त । (६) अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादि विधिवाक्यस्य ।

1 च प्रविषयो ब० । 2–उच्चारमुच्यते श्र० ।

सत्येन 'भैक्ष चर, ध्यानाध्ययने कुरु, ज्वरितं ओषध पिबेत्, पथ्यमश्नीयात्' इत्याद्युपदेशस्य प्रतीते । न च शब्द एव उपदेष्टा इत्यभिधातव्यम्, अव्युत्पन्नस्याप्यतोऽर्थप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । अथ शब्दार्थसम्बन्धव्युत्पत्तिसव्यपेक्ष एवासौ तदेवमुपदिशति, ननु कुतस्तद्व्युत्पत्ति ? विशिष्टपुरुषाच्चेत्, स एव उपदेष्टाऽस्तु किमनया परम्परया ? प्रतिपेत्स्यते च अपौरुषेयत्वमस्य अग्रे इत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥ छ ॥

येपि विषयस्य यासौ कर्त्तव्यताप्रतीति सैव प्रवर्त्तकत्वाद्विधि इति प्रतिजानते, नहि 'इदं मे कर्त्तव्यम्' इत्यप्रतिपद्यमान कश्चित्प्रवर्त्तते इति, तेऽप्यसमीक्षितवचस, यत किं कर्त्तव्यताप्रतिपत्ति निर्विशिष्टा प्रवृत्तिहेतु, श्रेय साधनताविशिष्टा वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्त, सर्वस्य सर्वत्र कर्त्तव्यताप्रतिपत्तिमात्रेण प्रवृत्तिप्रसङ्गात्, तथा च ब्राह्मणादिवधकर्त्तव्यताप्रतिपत्तिमात्रेण भवतस्तद्वधादावपि प्रवृत्ति स्यात् । अथ श्रेय - साधनताविशिष्टा सा प्रवृत्तिहेतु, तर्हि श्रेय साधनतैव प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधि स्यान्न कर्त्तव्यता तस्यास्तामन्तरेणाऽप्रवर्त्तकत्वात् । नचैतदप्युपपन्नम्, श्रेय साधनताया विधित्वस्य प्रागेव प्रत्याख्यातत्वात् ॥ छ ॥

अपरेषा मत प्रतिभैव प्रवर्त्तकत्वाद् विधि । नहि प्रतिभाव्यतिरेकेण लिङा-

(१) "ननूक्तमुपदेश इति विशिष्टस्य शब्दस्योच्चारणम्, यद्येवमव्युत्पन्नस्यापि प्रवृत्तिप्रसङ्ग । उच्यते–विशिष्ट पुरुषार्थस्य शुद्धस्योपायमाह य । पुरुषार्थो यदा यत्र सो नरेणाभिकाङ्क्ष्यते ॥ पुरुषार्थस्योपायमनवगतमवगमयन्नुत्पादविशिष्ट शब्द उक्त, अन्यथा सर्व एव शब्द शब्दान्तराद भिन्न स्वार्थविज्ञापनमेव स्यात् । अतो नाऽविदितार्थस्य प्रवृत्ति ।'–विधिवि० पृ० २४० । (२) पुरुषार्थोपायताम । (३) वेदस्य । (४) तुलना–"ननु कर्त्तव्यमिति प्रतिपत्ते प्रवृत्ति । अत्र केचिदाम्नाय प्रति श्रद्धमानिन प्राहु–ननु कर्त्तव्यमिति प्रतिपत्तेः प्रवृत्ति । इदमाकूतम्–कार्यदर्शनोन्नेयप्रवृत्तय खल्वमी लिङाद्य । कार्यञ्च प्रवृत्तिलक्षण वृद्धानां लिङादिश्रवणसमनन्तरमुपलभ्यते । तच्च बुद्धिपूर्वक स्वतन्त्रप्रवृत्तित्वात् अस्मत्प्रवृत्तिवत । अनुमिता च बुद्धि अस्मत्प्रवृत्तिहेतुबुद्धिगोचरचारिणी प्रवृत्तिहेतुबुद्धित्वात् अस्मत्प्रवृत्तिहेतुबुद्धिवत । तस्याश्च विषय स्वममेव यमुक्तमीन्ध पिण्डिकरोग (डिण्डिकराग) परित्यज्य पर्यालोचयन्त शब्दव्यापारपुरुषार्थायतत्समीहिततत्साधनताव्युदासेन कर्त्तव्यतामेव प्रतिपद्यामहे । तथाहि–स्तनपानादावपि न जातु समीहितोपाय इत्येव प्रवृत्ता स्म किन्तु कर्त्तव्यमेतदिति लिङादिश्रवणानन्तरा प्रवृत्ति कर्त्तव्यताभिधानमेव लिङादीनामापादयति । तथा च विदितसङ्गतितया लिङाद्यो वेदेऽपि तामेवाभिदधते ।'–विधिवि० टी० पृ० २४४ । (५) तुलना– 'न चेप्सितोपायनामन्तरेण कर्त्तव्यमिति शतशोऽप्यभिधीयमान न प्रवृत्तये कल्प्यत इत्यत आह–कथं हि तथा प्रतिपद्यमानो न प्रवर्त्तेत ? शब्दस्तावत्कर्त्तव्यताया विदितसङ्गति तामवगमयति । तथा नैमित्तिकनिषेधाधिकारयो रसौ प्रतीयमाना न शक्या नेति वक्तुम ।'–विधिवि० टी० पृ० २४५ । (६) ब्राह्मणवधादिनिषिद्धे कर्मणि । (७) कर्त्तव्यताप्रतिपत्ति । (८) कर्तव्यताप्रतीते । (९) श्रेय साधनताम । (१०) श्रेय साधनताविशिष्टकर्त्तव्यताप्रतीतेर्विधित्वम । (११) वैयाकरणानाम् । "अभ्यासात्प्रतिभाहेतु शब्द सर्वोऽपर स्मृत । बालाना च तिरश्चा च यथार्थप्रतिपादने ॥११९॥ विच्छेदग्रहणेऽर्थाना प्रतिभाऽन्यैव जायते । वाक्यार्थ इति तामाहु [illegible] ॥१४५॥ इदं तदिति साऽन्येषामनाख्येया कथञ्चन ।

1–त ओषध आ० । [illegible] । 3–द प–श्र०, ब० । 4–कन सयश आ० ।
5–षामा विधि–ब०, श्र० ।

न्द्रियव्यापारोऽपि वह्निवत्सलिलसमीरणव्यापारेण पुरुषं प्रवर्त्तयति सर्वस्य प्रवृत्तिप्रसङ्गात्[1]। नापि विषयप्रतिपत्तिमात्रम्, अत एव। अतो या काचित् प्रवृत्तिः सा सर्वा प्रतिभासमानाकारनिर्णयरूपप्रतिभापूर्विकैव[2]। नहि[3] प्रतिभातेऽप्यर्थे यावत् सुखसाधनमिदमिति प्रतिभा नोत्पद्यते तावत् कश्चित् प्रवर्त्तते। अतः साधनविशेषे[4] पुरस्कृते[5] क्रियाविशेषपरिस्फुरणं प्रतिभा। उक्तञ्च–"*विशिष्टसाधनाव्यवच्छिन्नक्रियाप्रतीत्यनुकूला प्रज्ञा प्रतिभा*[6]" [विधिवि० पृ० २४६] इति, तदप्यसारम्, यतः [7]सिद्धे प्रतिभास्वरूपे निर्णयरूपता स्यात्। न च भवत्प्रतिपादितं प्रतिभायाः स्वरूपं युक्तम्। इन्द्रियादिबाह्यसामग्रीनिरपेक्षं हि मनोमात्रसामग्रीप्रभवम् अर्थतथाभावप्रकाशं ज्ञानं प्रतिभेति प्रसिद्धम्–'श्वो मे भ्राता आगन्ता' इत्यादिवत्, न पुनः प्रतिभासमानाकारनिर्णयरूपतामात्रम्, निर्विकल्पकप्रत्यक्षोत्तरकालभाविनः सविकल्पकप्रत्यक्षस्यापि तद्रूपतया प्रतिभात्वानुषङ्गात्, तथा च सविकल्पकप्रत्यक्षवार्त्तोच्छेदः स्यात्।

यदपि साधनविशेषे क्रियाविशेषपरिस्फुरणम्, तत्किं पूर्वोहितसंस्कारवशात्, प्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापारानुसारतः, चोदनातः, श्वो मे भ्रातेत्यादिवत् मनोमात्रतो वा स्यात्? तत्राऽऽद्यविकल्पोऽयुक्तः, अश्रुतचोदनावाक्यस्य यागादिसाधने क्रियाविशे-

प्रत्यात्मवृत्तिसिद्धा सा कर्त्रापि न निरूप्यते ॥१४६॥ उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता। सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते ॥१४७॥ साक्षाच्छब्देन जनितां भावनानुगमेन वा। इतिकर्त्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्तते ॥१४८॥ प्रमाणत्वेन तां लोकः सर्वः समनुपश्यति। समारम्भाः प्रतीयन्ते तिरश्चामपि तद्वशात् ॥१४९॥ –वाक्यप० २।१४६, १४७-४९।

(१) सर्वस्य श्रोतुः प्रवृत्तिप्रसङ्गादेव। (२) प्रतिभासमानाकारो यो निर्णयः तद्रूपा प्रतिभा –आ० टि०। (३) तुलना– न हीत्थमित्यमनेन कर्त्तव्यमित्यनुपजातप्रतिभाभेदः प्रवर्तते प्रत्यक्षाद्यवगतेऽप्यर्थे। तत्र हि प्रमाणकार्यसमाप्तिः। प्रतिभानवान् हि लोकः कर्त्तव्यतासु समीहते।' –विधिवि० पृ० २४७-४८। (४) यागादौ–आ० टि०। (५) साधनविशेषमुद्दिश्य कर्तुमध्यवसिते–आ० टि०। (६) व्याख्या– न हि ते प्रतिभादिव यं संविन्मनिश्चयात्मकं प्रतिभामाचक्ष्महे। संशयो हि सः। वयं तु साध्यसाधनतिकर्तव्यतावच्छिन्नायाः क्रियायाः प्रतिपत्त्यनुकूलां तत्प्रतिपत्त्या कार्येऽनुष्ठानलक्षणे कर्त्तव्ये सहकारिणीं कर्त्तव्यमिति प्रज्ञां प्रतिभामभ्युपेमहि।'–विधिवि० टी० पृ० २४७। 'नियतसाधनावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्त्यनुकूला प्रज्ञा प्रतिभा' –तत्त्वसं० पं० पृ० २८६। (७) तुलना– आम्नायविधातॄणामृषीणामतीतानागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिनिबद्धेषु ग्रन्थानिबद्धेषु च आत्ममनसोः संयोगात् धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभं यथार्थनिवेदनं ज्ञानमुत्पद्यते तदार्षमित्याचक्षते। तत्तु प्रस्तारेण देवर्षीणाम्। कदाचिदेव लौकिकानां यथा कन्यका ब्रवीति श्वो मे भ्रातागन्तेति हृदयं मे कथयतीति। –प्रश० भा० पृ० २५८। प्रमाणं प्रातिभं श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति दृश्यते। –न्यायम० पृ० १०६। 'प्रतिभा ऊहः तद्भवं प्रातिभम्'–योग० तत्त्ववै० ३।३३। प्रातिभं स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकं ज्ञानम्। –योगवा० ३।३३। तत्र दृष्टकारणं विना अकस्माद् व्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतसूक्ष्माद्यर्थस्फुरणसामर्थ्यं प्रतिभा।' –योगसं० पृ०५५। 'इन्द्रियलिङ्गाद्यभावे यदर्थप्रतिभानं सा प्रतिभा' –प्रश० कन्द० पृ०२५८। प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभाऽस्य धीः। –अलं० चि०पृ० २। (८) आलोचना ज्ञान–आ० टि०। (९) निर्णयरूपतया। (१०) अग्निहोत्रं जुहुयात् इत्यादि प्रवर्तकं हि वाक्यं चोदना।

1 क्रियाविशेषो न पुरुषं प्रवर्तयति सर्वस्य प्रवृत्तिप्रसङ्गात् परिस्फुरणं ब०। 2 सिद्धे प्र–श्र०।

पस्य स्वप्नेऽप्यस्फुरणात्। प्राक्तननिरस्तत्रये तु प्रतिभात्व विरुद्धेत, अन्यथा सत्कारान्वय ममुत्पन्नाना स्मृत्यादीनामपि प्रतिभात्वानुपङ्गात् तदेवैक प्रमाण स्यात् ॥७॥

केचिदं भक्तिरेव प्रवर्त्तकत्वाद् विधि इत्याचक्षते। न खलु श्रद्धापरपर्याया भक्ति विना परमात्मश्रवणानुमननध्यानादौ यागादौ वा प्रवृत्ति सम्भवति। तदुक्तम्–

"अनवच्छिन्नपूर्णत्वरपशों नो भक्तितो विना।" [　　　]

भक्त्यशानुप्रवेशेनैव च शास्त्रस्यापि राजशासनाद्भेद। तद्धि अन्तर्भक्तिशून्य राजभयाधीनामेव अन्त परिस्फुरणात्। उक्तञ्च–

"तथा शून्य भवत् पुसा शास्त्र शासनमात्रकृत्।
भक्त्यशेन च तद्भिन्न लोके राजानुशासनात् ॥" [　　　] इति।

तदप्यसम्यक्, यस्मादुत्पन्ना सती भक्ति प्रवृत्तिनिमित्त स्यात्, उत्पत्तिश्चास्या शब्दात्, निग्रहानुग्रहसमर्थपुरुषविशेषाद्वा? न तावच्छब्दादेव, "द्रष्टव्योऽरेयमात्मा" [बृहदा० ४।५।६] इत्यादिशब्दश्राविणोऽशेषस्यापि प्रतिपत्तु आत्मादौ भक्त्युत्पत्तिप्रसङ्गात् तद्दर्शनादौ प्रवृत्ति स्यात्। तच्छब्दश्रवणाविशेषेऽपि अशेषस्य तदनुत्पत्तौ नासौ तन्मात्रहेतुका। यदविशेषेऽपि यन्नोत्पद्यते न तत् तन्मात्रहेतुकम् यथा अविशिष्टेऽपि बीजे अनुत्पद्यमानोऽङ्कुर, नोत्पद्यते च अविशिष्टेऽपि शब्दे तच्छब्दश्राविणोऽशेषस्य आत्मादौ भक्तिरिति। अथ निग्रहानुग्रहसमर्थात् पुरुषविशेषादभिमत फल वाञ्छता सोत्पद्यते, युक्तमेतत्, तस्या एव भक्तिशब्दवाच्यत्वप्रसिद्धे। अपौरुषेयत्व तु वेदस्याऽयुक्तम्, तस्येत्थ पौरुषेयत्वप्रसिद्धे। अनवच्छिन्नपूर्णत्वधर्मोपेतस्य चात्मन ब्रह्माद्वैतप्रघट्टके प्रत्याख्यातत्वात्कथ तस्य चिरतन तथाविधपुरुषादन्यतो वा नरनिपातादिन भक्ति स्यात् ॥ ८ ॥

---

(१) आदिपदेन प्रत्यक्षव्यापार गन्धो ग्राह्यो। (२) यथा [क्रम] स्मृत्यनुमानागमानाम् –आ० टि०। (३) प्रतिभात्वम्। (४) "एव च सति लिङ्गा बोध्यमय परिगृहीत इति तेन, यत्र यदनुष्ठायामिति दर्शनागाधनभूतयागाद प्रवृत्त्यर्थस्य ननु व्यापारसाध्यता व्युत्पत्तिसिद्धा लिङ्गादयोऽभिधायिनि न किञ्चिदनुपपन्नम्।"–वेदार्थ० पृ० २२५। (५) "भक्तिस्तु निरतिशयानन्दप्रियानन्य प्रयोजनसकलेतरवैतृष्ण्यवज्ज्ञानविशेष एव।"–सवद० पृ० १४४। वेदाभ० पृ० १५७। (६) श्रवणमननम्। (७) श्रद्धया। (८) शास्त्रम्। (९) "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इद सर्व विदितम्।"–बृहदा० २।४।५, ४।५।६। (१०) आत्मश्रवणमनननिदिध्यासनम्। (११) भक्ति। (१२) शब्दश्रवणमात्रनिबन्धना। (१३) भक्ति न शब्दश्रवणमात्रहेतुका शब्दश्रवणेऽपि अनुत्पद्यमानत्वात्। (१४) समर्थपुरुषाराधनाया। (१५) यदि। वद ईश्वराराधनरूपा भक्ति विधीयते तदा धर्मेऽपि ईश्वरस्यैव प्रामाण्य स्यात् तदा च वेदस्य अपौरुषेयत्वव्याघात ईश्वरस्य निग्रहानुग्रहकरणवत् वेदकर्तृत्वमपि स्यादिति भाव। (१६) नित्यादिगुणस्य विशिष्टस्य ब्रह्मण। (१७) पृ० १५०–। (१८) चिरन्तनात्। (१९) ईश्वरात्। (२०) पदवाक्यार्थाद्वा।

१–स्वप्नेऽप्यस्फुरणात् ब०। २ केचित्तु भ–व०। ३ भक्ति सव म त–ब०। ४ प्रवृत्तिनिमि–ब०। ५ तत्तद्धप्र–ब०। ६–मनवर्त्त स०। ७ तस्ये तथ ब०। ८–स्वप्रसिद्धे आ०। ९–वादिपुरुषभक्ति भ०।

इच्छाप्रयत्नप्रभृतयोऽपि विधिप्रकाराः प्रागुक्तप्रकारेणैव प्रत्याख्येयाः, विषयफलादिनिरपेक्षाणां तेषामपि पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वाभावतो विधिरूपतानुपपत्तेः । तत्सापेक्षाणां तु प्रवृत्तिहेतुत्वे कथं तेषामेव विधित्वं स्यात् विषयादीनामपि तत्प्रसङ्गात् ? ततः परपरिकल्पितस्वरूपस्य विधेर्विचार्यमाणस्यानुपपत्तेः न तस्यापि शब्दार्थता घटते । अतस्तद्वानेव शब्दार्थोऽभ्युपगन्तव्यः । इति सूक्तम्–'**प्रमाणं श्रुतमर्थेषु**' इत्यादि ।

विवृतिव्याख्यानम्–

'श्रुतज्ञानम्' इत्यादिना कारिकां व्याचष्टे–**श्रुतज्ञानं** शब्दज्ञानं वक्त्रभिप्रायादर्थान्तरेऽपि बहिरर्थेऽपि न केवलं तदभिप्राय एव **प्रमाणम्** । तदनभ्युपगमे दूषणमाह–'**कथम्**' इत्यादि । **कथम्** ? न कथञ्चिद् अन्यथा बहिरर्थे तत्प्रामाण्याभावप्रकारेण प्रतिपत्तुमर्हति सौगतोऽन्यो वा । किमित्याह–**द्वीपदेशनदीपर्वतादिकम्** । कथम्भूतम् ? **अदृश्यमानकार्यम्**, अप्रत्यक्षाऽननुमेयस्वरूपमित्यर्थः । पुनरपि कथम्भूतम् ? **देशान्तरस्थम्** । केन प्रकारेण ? **दिग्विभागेन** । यथा दक्षिणदिग्विभागे सिंहलद्वीपः उत्तरदिग्विभागे हिमवानिति । तमित्थम्भूतमर्थं दिग्विभागेन कथं न प्रतिपत्तुमर्हति ? इत्याह–**निराकेरमविसंवादश्च** यथा भवति तथेति ।

ननु बाधाभावेऽपि श्रुते प्रायः प्रवृत्तिदर्शनात् क्वचिदप्यसौ प्रमाणमित्याशङ्क्याह–

प्रायः श्रुतेर्विसंवादात् प्रतियन्धमपश्यताम् ।
सर्वत्र चेदनाश्वासः सोऽक्षलिङ्गधिया समः ॥ ७७ ॥

विवृतिः–नहीन्द्रियज्ञानम् अभ्रान्तमव्यभिचारीति वा विशेषणमन्तरेण प्रमाणमतिप्रसङ्गात् । तथाविशेषणे श्रुतज्ञाने कोऽपरितोषः ? यथा कृत्तिकादेः शकटादिज्ञान

(१) अत सिद्धं न तार्किकरीत्या इष्टसाधनत्वे लिङ्गादार्थत्वमपि तु पूर्वोक्तरीत्या प्रवर्तकेच्छाया एव ।'–भाट्टरह० पृ० ८ । (२) तुलना– अपरे पुनर्लिङादिश्रवणे सति समुपजायमानमात्मनः अभिप्रायमुद्यमं नाम वाक्यार्थमाचक्षते तत्स्वरूपं तु न वयं जानीमः कोऽयमात्मस्पन्दो नाम बुद्धिर्वा स्यात् प्रयत्नो वा इच्छाप्रयत्नयोरन्यतरो वा । –न्यायम० पृ० ३६५ । (३) विषय अग्निष्टोमादियागः । (४) फलं स्वर्गादि । (५) इच्छाप्रयत्नादीनामपि । (६) विषयफलादिसापेक्षाणाम् । (७) इच्छाप्रयत्नादीनामेव । (८) विषयप्रसङ्गात् तच्च पूर्वं निराकृतमिति । (९) सामान्यविशेषात्मा एव । (१०) श्रुतिः आगमज्ञानम् । (११) चेत् यदि भवेत् । कः ? अनाश्वासः अविश्वासः । क्व ? सर्वत्र अविसंवादिन्यविसंवादिनि प्रामाण्ये । केषाम् ? प्रतिबन्धमपश्यतां शब्दार्थयोः सहजयोग्यतालक्षणं सम्बन्धमनीक्षमाणानां सौगतानाम् । कस्मात् ? विसंवादात् । कस्याः ? श्रुतेः आगमस्य । कथम् ? प्रायः क्वचित्कदाचिदित्यर्थः । तर्हि सोऽनाश्वासः समः समानः । कासाम् ? अक्षलिङ्गधियाम्, अक्षमिन्द्रियं लिङ्गं हेतुः ताभ्यां जनिता धियो ज्ञानानि तासामपि प्रसक्त इत्यर्थः क्वचित्कदाचिद्विसंवाददर्शनात् । –लघी० ता० पृ० ४७ । (१२) इन्द्रियज्ञानस्य लक्षणे 'अभ्रान्तम्' इति विशेषणं सौगतैः प्रयुज्यते– 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम् ।' [न्यायबि० १।४] इत्यभिधानात् । (१३) प्रत्यक्षलक्षणे 'अव्यभिचारि' इति विशेषणं नैयायिकापेक्षया ज्ञेयम् । 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।' [न्यायसू० १।१।४] इत्युक्तत्वात् । (१४) अभ्रान्तादिविशेषणविशिष्टे ।

1–तयो विधिप्रभृतयो वि–आ० । 2 तुलना–व०, श्र० । 3–ज्ञानं ... 'प्रभा–श्र० ।

स्वभावप्रतिबन्धमन्तरेण तथैव अदृष्टप्रतिबन्धार्थाभिधानं ज्ञानमविसंवादकम्। न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम। क्वचिद्व्यभिचारात् साकल्येनानाश्वासे वक्त्रभिप्रायेऽपि वाचः कथमनाश्वासो न स्यात् तत्रापि व्यभिचारसम्भवात् ? तथानिच्छतः श्रुतिकल्पनादुष्टादेः उच्चारणात्।

कारिकाव्याख्यानम्–

प्रायो बाहुल्येन **श्रुतेः** शब्दस्य तज्ज्ञानस्य वा **विसंवादात् सर्वत्र** सत्यश्रुतावपि चेद् यदि **अनाश्वासः**। केषाम् ? **अपश्यतां** सौगतानाम्। किम् ? इत्याह–**प्रतिबन्धम्**, सम्बन्धं सन्तमपि योग्यतारूपमविनाभावम्, [सः] सर्वत्रानाश्वासः **अक्षलिङ्गधियां समः** तासामपि प्रायो विसंवाददर्शनादित्यभिप्रायः।

विवृतिव्याख्यानम्–

व्यतिरेकमुखेन कारिकां व्याचष्टे 'नहि' इत्यादिना। **नहि** नैव **इन्द्रियज्ञानं प्रमाणम्**। केन विनेत्याह–**अभ्रान्तमव्यभिचारीति** वा विशेषणमन्तरेण, तद्विशेषणे सत्येव तत्प्रमाणमिति। कुत एतदित्याह–**अतिप्रसङ्गात्**, द्विचन्द्रादिज्ञानस्यापि प्रामाण्यप्रसङ्गात्। नहि निर्विशेषणस्य ज्ञानमात्रस्य प्रामाण्याभ्युपगमे द्विचन्द्रादिज्ञानस्य प्रामाण्यव्यवच्छेदः कर्तुं शक्यः। अथ तद्विशेषणे सत्येव तत्प्रमाणं तेनायमदोषः, अत्राह–'**तथा**' इत्यादि। **तथा** अभ्रान्ताऽव्यभिचारिप्रकारेण **विशेषणे** इन्द्रियज्ञानस्य अङ्गीक्रियमाणे **श्रुतज्ञाने कोऽपरितोषः** ? तस्यापि तद्विशेषणविशिष्टस्यैव प्रामाण्यमस्तु। ननु इन्द्रियज्ञानस्य अर्थकार्यत्वात् युक्तम् अभ्रान्तत्वमव्यभिचारित्वं वा न पुनः श्रुतज्ञानस्य विपर्ययात्, इत्यत्राह–'**यथा**' इत्यादि। **यथा** येन योग्यताप्रकारेण **कृत्तिकादेः** सकाशात् यत् शकटादिज्ञानं तत् **स्वभावप्रतिबन्धमन्तरेण**, स्वभावप्रतिबन्धशब्देन तादात्म्यप्रतिबन्धस्तदुत्पत्तिसम्बन्धश्च गृह्यते 'स्वो भावः कारणम्' इति व्युत्पत्तेः, तमन्तरेण **अविसंवादकं तथैव** तेनैव प्रकारेण **अदृष्टप्रतिबन्धार्थाभिधानज्ञानम्** अदृष्टः तादात्म्यादिप्रतिबन्धो यस्मिन् अर्था-

(१) तुलना–"स्वभावेऽध्यक्षतः सिद्धे यदि पर्यनुयुज्यते। तत्रोत्तरमिदं वाच्यं न दृष्टेऽनुपपन्नता।" –प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ६८। "न हि दृष्टेऽनुपपन्नता।"–धवला० टी० पृ० ३२०। (२) तुलना–"विवक्षाप्रभवं वाक्यं स्वार्थे न प्रतिबध्यते। यतः कथं तत्सूचितेन लिङ्गेन तत्त्वव्यवस्थितिः। वक्त्रभिप्रायमात्रं वाक्यं सूचयन्तीत्यविशेषणाभिधानं न पारम्पर्येणापि तत्त्वं प्रतिपद्येत। न च वक्त्रभिप्रायमव्यभिचारेण सूचयन्ति श्रुतिदुष्टान्यर्थतः एव प्रसिद्धेः।'–सिद्धिवि० पृ० २६४। (३) अभ्रान्तादिविशेषणसहितत्वे। (४) इन्द्रियज्ञानादिकम्। (५) अभ्रान्तादिविशेषणयुक्तस्यैव। (६) अर्थमन्तरेणापि अतीतानागतादौ शब्दप्रयोगदर्शनात्। (७) तुलना–'स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यर्थोऽर्थं गमयेत्। तदप्रतिबद्धस्य तदव्यभिचारनियमाभावात्।'–न्यायबि० पृ० ४०।

1–थभि–ज० वि०। 2–धानमवि–ई० वि०। 3 श्रुतकल्प–ई० वि०। 4–स्य ज्ञानस्य श्र०। 5 प्रतिसंबध आ०। 6–श्वास तासामपि श्र०। 7–रीतिविश–आ०। 8 इन्द्रियस्य श्र०। 9–शात शक–आ०। 10–दिप्रतिबन्ध–ब०। 11–वादकत्वं त–श्र०।

भिधानज्ञाने तत्तथोक्तम्, तदित्थम्भूतं ज्ञानमविसंवादकम्। कुत एतदित्याह–'नहि' इत्यादि। हिर्यस्मात् न दृष्टे ग्रहोपरागादौ श्रुताविसंवादकत्वे अनुपपन्नं नाम। इन्द्रियज्ञानाविसंवादकत्वेऽपि अनुपपन्नत्वप्रसङ्गात्। बहिरर्थे अस्य प्रायो व्यभिचारदर्शनात् सर्वत्रानाश्वासे च वक्त्रभिप्रायेऽपि प्रामाण्यन्न स्यादिति शङ्कयन्नाह–'क्वचिद्' इत्यादि। क्वचित् नियते विषये व्यभिचारात् साकल्येनाऽनाश्वासे श्रुतेरङ्गीक्रियमाणे वक्त्रभिप्रायेऽपि न केवलं बहिरर्थे वाचः कथमनाश्वासः साकल्येन न स्यात्? अपि तु स्यादेव। कुत एतदित्याह–'तत्रापि' इत्यादि। तत्रापि वक्त्रभिप्रायेऽपि व्यभिचारसम्भवात्। एतदेव दर्शयन्नाह–'तथा' इत्यादि। येन हि 'यां भवत प्रिया' इत्यादिप्रकारेण 'परं प्रहृत्य विश्रान्तः पुरुषो वीर्यवान्' इत्यादिप्रकारेण च श्रुतिदुष्ट कल्पनादुष्टश्लोकं तथा तेन प्रकारेण अनिच्छतः तथाभिप्रायरहितस्यापि श्रुतिकल्पनादुष्टादेः आदिशब्देन गोत्रस्खलनादिपरिग्रहः उच्चारणात् भाषणात्। किञ्च–

> आप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये।
> सत्येतरव्यवस्था का साधनेतरता कुतः ॥ २८ ॥

विवृति –नहि पुरुषार्थाभिसन्धयः सर्वेऽर्थान् व्यभिचरन्ति, अन्यथा वागर्थव्यभिचारैकान्तसम्भवात्। वाचोऽभिप्रायनिवेदे कुतस्तदनुमानम्? सुगतेतरयोः आप्तेतरव्यवस्था कुतश्चित् साधनासाधनाङ्गव्यवस्था वा स्वयमुपजीवन् "वक्तुरभिप्रेतं तु वाचः सूचयन्ति अविशेषेण नार्थतत्त्वमपि" [ ] इति कथमविक्लवः?

(१) श्रुतस्य। तुलना– अपि चान्यविवक्षायामन्यदर्शनात् विवक्षायामपि क्वचिद्व्यभिचारात् सर्वत्रानाश्वासात् न च विवक्षाविशेषसूचका अपि ते स्युः। –सन्मति० टी० पृ० २६६। (२) अन्यविवक्षायामन्यशब्दोच्चारणमपि प्रतीयते यथा देवदत्तविवक्षायां यज्ञदत्तोच्चारणं गोत्रस्खलनमनुभूयते। (३) श्रुतिदुष्टं श्रुतिकटु। श्रुतिकटु परुषवर्णरूपं दुष्टम्।"–काव्यप्र० पृ० २६७। 'यां भवत प्रिया' इत्यत्र शृङ्गाररसवर्णनावसरे निषिद्धस्य रेफस्य प्रयोगादेव श्रुतिकटुत्वं बोध्यम्। 'प्रिया' इत्यत्र रेफप्रयोगः स्पष्ट एव। (४) कल्पनादुष्टञ्च विरुद्धकल्पनायुक्तत्वात् अनुचितकल्पनाशालित्वाद्वा बोध्यम्। 'परं प्रहृत्य' इत्यत्र हि यदा वीर्यवान् पुरुषः परं प्रहृत्य प्रहारानन्तरं विश्रान्तः विशेषणं भाति क्लान्तश्च तदा तस्य वीर्यवत्त्वेन वर्णनमनुचितमेव। यदि हि प्रहारानन्तरं क्लान्तः कथं वीर्यवान्? क्लान्तत्ववीर्यवत्त्वयोर्विरोधात्। (५) अयमर्थः–आप्तोक्तबहिरर्थाविनिश्चये सुगतेतरवचनयोः सत्येतरव्यवस्था वा अर्थाविषयत्वाविशेषात्। हेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये साधनेतरता कुतः बहिरर्थानुपपत्त्याविशेषादिति। –लघी० ता० पृ० ४८। सत्येतरव्यवस्था हि बाह्यार्थप्राप्त्यप्राप्तिनिबन्धनैव तथा चोक्तम्–आप्तमीमांसायाम् (का० ८७) बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं बाह्यार्थे सति नासति। सत्यानृतव्यवस्थैवं युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु। तुलना– 'वाक्यानामविशेषेण वक्त्रभिप्रेतवाचिनाम्। सत्यानृतव्यवस्था न तत्र मिथ्यात्वदर्शनात् ॥ मिथ्यादर्शनज्ञानात् मिथ्यात्वं गिरां मतम्। –सिद्धिवि० पृ० ५०२। (६) तुलना– नान्तरीयकताभावाच्छब्दानां वस्तुभिः सह नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्त्रभिप्रायसूचकाः ॥ ३।२१२॥ वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते। प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्व

1–र्तं तत्तथा–ब० श्र०। 2–प्राय प्रामा–आ० श्र०। 3–शाह यत हि आ०। 4 स्वभावत ब०। 5–ण स्तु–ब०। 6 श्रुतविकल्पना–आ० श्र०। 7–दिपहपरिग्रह श्र०। 8 सर्वर्धान ज० वि०।

कारिकाव्याख्यानम्–

यो यस्याऽवञ्चकः स तस्य **आप्तः तदुक्तेः** तद्वचनात् **हेतुवादाच्च** लिङ्गादिवचनाच्च **बहिरर्थाविनिश्चये** अङ्गीक्रियमाणे **सत्यं** सुगतवचनम् **इतरद**सत्यं कपिलादिवचनम् तयोः **व्यवस्था का** ? न काचित्, सर्वमसत्यमेव स्यात्। अतः सुगतवचनादपि न क्वचित्प्रवृत्तिः स्यात्। तथा **साधनेतरता कुतः** ? पक्षादिवचनानि साधनम्, इतरत् तद्दूषणवचनं तयोर्भावस्तत्ता सापि कुतः ? नैव स्यात्। तथा च 'यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्' इत्यादेरसाधनाङ्गतया निग्रहस्थानता स्यादित्यभिप्रायः।

विवृतिव्याख्यानम्–

व्यतिरेकद्वारेण कारिकार्थमाह–'**नहि**' इत्यादिना। न खलु **पुरुषाभिसन्धयः** पुरुषाभिप्रायाः **सर्वे अर्थान् व्यभिचरन्ति**। कुत एतदित्याह–'**अन्यथा**' इत्यादि। **अन्यथा** तेषां तद्व्यभिचारप्रकारेण **वागर्थव्यभिचारैकान्तसम्भवात्**, वाचामर्थस्य बाह्यस्य अन्यस्य वा यो व्यभिचारैकान्तः तस्य सम्भवात्। **वाचोऽभिप्रायनिसर्गादे**ः सति कुतः न कुतश्चित् **तस्य अभिप्रायस्य अनुमानम्**। अथेदानीं परस्योन्मत्तचेष्टितं '**सुगत**' इत्यादिना दर्शयन्नाह–**सुगतस्य हि आप्तत्वव्यवस्था**

निबन्धनम् ॥ १।४ ॥ यद्यथा वाचकत्वेन वक्तृभिर्विनियम्यते। अनपेक्षितबाह्यार्थं तत्तथा वाचकं मतम् ॥१।६७॥"–प्रमाणवा०। "सामान्यशब्दा न बाह्यार्थप्रतिबन्धविवेकतः। गमयन्तीति च प्रोक्तं विवक्षासूचकास्त्वमी ॥"–तत्त्वसं० पृ० ७०२। "यथोक्तम्–वक्तुरभिप्रायं सूचयेयुः शब्दाः।"–तर्कभा० मो० पृ० ४।

(१) "आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। साक्षात्करणमर्थस्य आप्तिः तया प्रवर्तते इत्याप्तः।"–न्यायभा० १।१।७। "आप्तिः साक्षादर्थप्राप्तिः यथार्थोपलम्भः तया वर्तत इत्याप्तः साक्षात्कृतधर्मा यथार्थप्राप्त्या श्रुतार्थग्राही। आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः। क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात्। स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः। पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः।"–सांख्यका० माठर० पृ० १३। यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः, ततः परोऽनाप्तः। तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादः तदर्थज्ञानात्।"–अष्टश० अष्टसह० पृ० २३६। (२) "तत्र पक्षादिवचनानि साधनम्"–न्यायप्र० पृ० १। (३) "साधनदोषोद्भावनानि दूषणानि"–न्यायप्र० पृ० ८। (४) "तद्वत् प्रमाणं भगवान् यथाभिहितस्य सत्यचतुष्टयस्याविसंवादनात्तस्य च परत्राज्ञातस्य प्रकाशनाच्च।"–प्रमाणवा०, मनोरथ० १।९। 'तायित्वाच्च भगवतः सुगतस्य प्रामाण्यं तथाहि–"तायः स्वदृष्टमार्गोक्तिः वैफल्याद्वक्ति नानृतम्। दयालुत्वात् परार्थञ्च सर्वारम्भाभियोगतः। तस्मात्प्रमाणं तायो वा चतुःसत्यप्रकाशनम् ॥–दुःखहेतुनिवर्तकत्वेन स्वयं दृष्टस्य मार्गस्योक्तिर्देशना तायः कारणे कार्योपचारात्। तया हि सत्त्वान् तायते तद्योगात्तायित्वम्। स च वैफल्याद्वक्ति नानृतम्। आत्मसुखाद्यभिलापादिना कश्चिदसत्यं वदति अज्ञानाद्वा। प्रहीणात्मदर्शनस्य साक्षात्कृततत्त्वस्य तदुभयं नास्ति। विशेषतः सत्याभिधानहेतुरेव कृपास्तीत्याह–दयालुत्वाच्च परार्थञ्च सर्वस्य मार्गाभ्यासादरारम्भेऽभियोगतः परार्थमेवोद्दिश्य भगवानभिसम्बुद्धः कथन्तस्य मिथ्याभिधानेन सत्त्ववञ्चनाशङ्कापि। तस्मात्तायित्वात् प्रमाणं भगवान्। यथादृष्टार्थप्रवक्तृत्वं हि सर्वास्तित्वमेवेति प्रथमप्रमाणलक्षणयोगात् प्रामाण्यमनेनोक्तम्। द्वितीयलक्षणयोगमप्याह–तायो वा चतुःसत्यप्रकाशनम्। परत्राज्ञातस्य सत्यचतुष्टयस्य प्रकाशनं वा तायः तद्योगात् तायी प्रमाणं भगवानुक्तः।–प्रमाणवा०, मनोरथ० १।१४७-४८। 'ततः सुगतमेवाहुः सर्वज्ञं मतिशालिनः। प्रधानपुरुषार्थज्ञं तु चैवाहुर्विपश्चितम् ॥–तत्त्वसं० पृ० ८७८।

कुतश्चिद् अनुपदेशाऽलिङ्गानिमित्तादि[1]चतुरार्यसत्योपदेशात् कपिलादेस्तु अनाप्तत्वव्यवस्था निमित्ताग्निप्रधानादितत्त्वोपदेशात् स्वयम् आत्मना उपजीवन्, साधनासाधनाङ्गव्यवस्था वा[2], त्रिरूपहेतुवचनस्य हि स्वसाध्यसिद्ध्यङ्गव्यवस्था पक्षादिवचनस्य तु तदसिद्ध्यङ्गव्यवस्था ता वा उपजीवन् "वक्तुरभिप्रेतं तु वाचः सूचयन्ति अविशेषेण नार्थतत्त्वमपि" [ ] इति एवं ब्रुवाणो धर्मकीर्तिर्नाम कथमविक्लवः स्वस्थः ?

अत्राह सौगतः–वक्त्रभिप्रायेऽपि यदि वचनस्य प्रामाण्यं नास्ति, मा भूत्, किं नष्टं प्रमाणद्वयवादिनः ? व्यवहारिजनानुरोधादेव तत्र तस्य प्रामाण्याभ्युपगमादित्याशङ्क्याह–

[3]पुंसश्चित्राभिसन्धेश्चेद् वागर्थव्यभिचारिणी ।
[4]कार्यं दृष्टं विजातीयात् कथं कारणभेदि किम् ? ॥२९॥

विवृतिः–श्रुतेर्बहुलं बहिरर्थाविसंवादेऽपि तदर्थप्रतिबन्धासिद्धेः वक्त्रभिप्रायानुविधायिन्या सर्वत्र तदर्थानाश्वासः इति चेदुक्तमत्र–'तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां विनापि परोक्षार्थप्रतिपत्तेरविसंवादः' इति । अपि च वृक्षोऽयं शिंशपात्वात् अग्निरत्र धूमादिति वा कथमाश्वासः ? क्वचिल्लताचूतादेरुपलब्धेः शिंशपायाः स्वयमवृक्षत्वेऽप्यविरोधात्, काष्ठजन्मनो मण्यादिसामग्रीप्रभवस्य अशनिजन्मनः तदर्थान्तरजन्मनश्च साकल्येन अग्निस्वभावाविरोधे पुनः अग्निजन्मैव धूमः नार्थान्तरजन्मा इति कुतोऽयं नियमः ? यतः कार्यहेतोरव्यभिचारात् 'धूमादग्निरत्र' इत्याश्वासः । कस्यचिदन्यथानुपपत्त्या परोक्षार्थप्रतिपत्तौ श्रुतज्ञानस्य स्वयमदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्ते

(१) चत्वार्यार्यसत्यानि तद्यथा दुःखं समुदयो निरोधो मार्गश्चेति । –धर्मस० पृ० ५ । सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःखं समुदयस्तथा । निरोधो मार्ग एतानि यथाभिसमयं क्रमः ॥ –अभिध र्मको० ६।२ । (२) अथवा साध्यते येन परेषामप्रतीतोऽर्थ इति साधनं त्रिरूपहेतुवचनसमुदायः, तस्याङ्गं पक्षधर्मादिवचनं अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि '–वादन्याय० पृ० ६१ । (३) वक्त्रभिप्राय । (४) नरस्य । (५) तुलना– विचित्राभिसन्धितया व्यापारव्याहारादि साङ्कर्येण क्वचिद्व्यभिचारनिर्णये कथमवशिष्टे नानवनोऽपि विसंवादान्न वयं पुनराश्वासं लभेमहि । –अष्टश० अष्टसह० पृ० ७१ । यद्यपि वागाप्तवचनम् अथाव्यभिचारिणी बाह्यार्थाविसंवादिनी स्यात् । कस्मात् ? चित्राभिसन्धि चित्रं सत्यासत्यादिरूपो नानाभिसन्धिरभिप्रायो विवक्षा तस्मात् । कस्य ? पुंसो वक्तुः सरागा अपि वीतरागवच्चेष्टन्ते इति वचनात् । तर्हि विजातीयादपि कारणात् कार्यं दृष्टमविरुद्धं स्यात् । ततस्तत् कारणभेदि कारणं प्रतिनियतं स्वात्मलाभनिबन्धनं भिनत्ति विजातीयादग्निनिष्टो यथा नीलं किं शक्यं स्यात् ? न स्यादित्यर्थः । तस्य यतः कुतश्चिदुत्पत्तेरविरोधात् । न स्वभावनियतकारणजन्य कार्यं कारणभेदं गमयत्यत्रातो ।'–लघी० ता० पृ० ४९ । (६) तुलना–'न चैवं वादिनः किञ्चिदनुमानं नाम निरभिसन्धीनामपि बहुलं कार्यस्वभावानियमोपलम्भात् । सति काष्ठाग्निसामग्रीविशेषे क्वचिदुपलब्धस्य तद्भावे प्रायेणानुपलब्धस्य मण्यादिकारणकलापेऽपि सम्भवात् । यज्जातीयो यतः संप्रतिपन्नः तज्जातीयात्तादृगिति दुर्लभनियमतायां धूमधूमध्वजादीनामपि व्याप्यव्यापकभावं कथमिव निर्णीयेत वृक्षं शिंशपा वाऽग्निं लताचूतादिरपि क्वचिदेव दर्शनात् प्रेक्षावता किमिव निःशङ्कं चेतः स्यात् –अष्टश० अष्टसह० पृ० ७२ । सन्मति० टी० पृ० २६६ ।

1 अनुपदेशात् लिङ्गादि–ब० । 2 च ब० । 3–वस्था वा श्र० । 4 कार्यदृष्टं ई० वि० ।

क्वचिदविसंवादस्य अन्यथानुपपत्तेः सिद्धं प्रामाण्यमिति।

पुंसो यः चित्रोऽभिसन्धिः *'सरागा अपि वीतरागवच्चेष्टन्ते'*[1] [   ] इत्यभिधानात्, तस्मात् **वाक् चेद्** यदि **अर्थव्यभिचारिणी**

कारिकाव्याख्यानम्–

कार्यं दृष्टं विजातीयाद् अभिमतकारणजातिपरिहारेण जात्यन्तरादपि। ततः किं जातमित्यत्राह–**'शक्यम्'** इत्यादि। **शक्यं** शक्तं **कारणभेदि** कारणविशेषं गमयितुं **किम्**? नैव शक्तमित्यर्थः। कार्यग्रहणमुपलक्षणं स्वभावस्य, अतोऽनुमानस्याप्यभाव इत्यभिप्रायः।

विवृतिविवरणम्–

कारिकां विवृण्वन्नाह–'श्रुतेः' इत्यादि। **श्रुतेः** शब्दस्य **बहुलं** प्राचुर्येण **बहिरर्थाविसंवादेऽपि** न केवलं तदभावे, **तदर्थेन** बहिरर्थेन **प्रतिबन्धस्य** तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणस्य **असिद्धेः** कारणात्। कथंभूताया श्रुतेः इत्याह–**वक्त्रभिप्रायानुविधायिन्याः**। किं किमित्याह–**सर्वत्र तदर्थानाश्वासः** बहिरर्थानाश्वास इति एवं **चेत्** अत्राह–**'उक्तम्'** इत्यादि। अत्र पूर्वपक्षे उक्तमुत्तरम्। किं तदित्याह–**तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां विनापि परोक्षार्थप्रतिपत्तेः** कारणात् **अविसंवादः श्रुतेः इति** एतत्। **'अपि च'** इत्यादिना परपक्षेऽपि तद्दूषणं योजयति। **अपि च** लिङ्ग **'अयं दृश्यमानो भावः वृक्षः शिंशपात्वात्', 'अत्र पर्वते अग्निः धूमात्' इति वा** यदनुमानं तत्र **कथं नैव आश्वासः**? कुत एतदित्याह–**'क्वचिद्'** इत्यादि। **क्वचिद्** देशविशेषे **लताचूतादेः,** आदिशब्देन लतावह्न्यादिपरिग्रहः तस्या **उपलब्धेः** कार-

(१) तुलना– चैतसेभ्यः सम्यङ्मिथ्याप्रवृत्तयस्ते चानतीन्द्रियास्तत्प्रभवकायवाग्व्यवहारानुमेयाः स्युः व्यवहाराश्च प्रायेण बुद्धिपूर्वमन्यथापि कर्तुं शक्यन्ते पुरुषेच्छावृत्तित्वात्तेषां च चित्राभिसन्धित्वात्। तस्य लिङ्गमपश्यन् कथमविनिश्चिन्वन् प्रतिपद्येत? दुर्बोधत्वात्। प्राप्यगताद्यगुणदोषविनिश्चायकानां प्रमाणानाम् चैतसेभ्य इत्यादिना व्याचष्टे। चेतसि भवाः चैतसाः गुणदोषाः। चैतसेभ्यः गुणेभ्यः कृपावैराग्यबोधादिहेतुभ्यः सम्यक्प्रवृत्तयः यथार्थप्रवृत्तयः, चैतसेभ्यो दोषेभ्यः रागादिभ्यो मिथ्याप्रवृत्तयो विपरीतप्रवृत्तयो भवन्ति। ते चेति परेषां चैतसा गुणदोषाः चेतोधर्मत्वेनातीन्द्रियाः ततो न प्रत्यक्षगम्याः। किन्तु स्वस्माद् गुणदोषरूपात् प्रभव उत्पादो यस्य कायवाक्कर्मणः तेन कार्यलिङ्गेनानुमेयाः। तच्च नास्ति। यस्माद् व्यवहाराश्च कायवाक्कर्मलक्षणाः प्रायेण बाहुल्येन बुद्धिपूर्वमिति कृत्वा प्रतिसंख्यानमन्यथापि कर्तुं शक्यन्ते। तथाहि सरागा अपि वीतरागवदात्मानं दर्शयन्ति वीतरागाश्च सरागवत्। किं कारणम्? पुरुषेच्छावृत्तित्वात् व्यवहाराणां तेषां चेति पुंसां चित्राभिसन्धित्वात् चित्राभिप्रायत्वात् ततो यथेष्टं व्यवहाराः प्रवर्तन्त इति नास्ति गुणदोषप्रभवाणां व्यवहाराणां विवेकनिश्चयः। तदिति तस्मात्प्रमनुमाता पुमान् लिङ्गमपश्यन् लिङ्गव्यभिचारान्निश्चिन्वन् क्षीणदोषं कथमागमस्य कर्तारं प्रतिपद्येत नैवेति निगमनीयम्।'–प्रमाणवा० स्ववृ०, टी० १।२२२। 'यथा रक्तो चेष्टते तथा विरक्तोऽपि। एवं न वचनमात्रात्, नापि क्रियातः प्रतिपत्तिः अभिप्रायस्य दुर्बोधत्वात् व्यवहारसङ्करेण सर्वथा व्यभिचारात्। विरक्तो हि रक्तवच्चेष्टते रक्तोऽपि विरक्तवदित्यभिप्रायो दुर्बोधः'–प्रमाणवा० स्ववृ०, टी० १।१४। "क्षीणावरणं समधिगतलक्षणमपि ननु विचित्राभिसन्धिर्यथा दर्शयतीति विप्रलम्भकारी'–प्रमाणस० पृ० ११९। अष्टसह० पृ० ७१। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९। सूत्रकृतांगटी० प० ३८४। लघी० ता० पृ० ४९। (२) पृ० ४३५।

1–भावे तेन बहि–आ०, ब०। 2–न प्रति–ब०। 3 सर्वाधिपति–ब०।

णात्। तथा च शिंशपायाः स्वयम् आत्मना अवृक्षत्वेऽप्यविरोधात् कथमाश्वासः ? काष्ठजन्मनः पावकस्य मण्यादिसामग्रीप्रभवस्य तथाऽशनिजन्मनः तस्मादशनिभावात् काष्ठाद्यर्थं तदन्तरं तज्जन्मनश्च साकल्येन अनवयवेन अग्निस्वभावाविरोधे पुनः अङ्गीक्रियमाणे 'अग्निजन्मैव धूमो नार्थान्तरजन्मा' इति कुतोऽयं नियमः यतो नियमात् कार्यहेतोरव्यभिचारात् 'धूमादग्निरत्र' इत्यादौ आश्वासः स्यात्। अथ "सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति" [ ] इत्युच्यते। अत्राह-'कस्यचिद्' इत्यादि। कस्यचित् स्वभावकार्यविशेषस्य या अन्यथा साध्याभावप्रकारेण अनुपपत्तिः तया परोक्षार्थप्रतिपत्तौ अङ्गीक्रियमाणायां श्रुतस्य स्वयम् आत्मना अदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्तेः 'भादौ नोक्तपुंस्कं पुंवत्' [अनेकार्थ्या० ५।१।५३] इत्यतो नपुंसकत्याभावः। क्वचिद् द्वीपादौ च तस्यैव अविसंवादः तस्य अन्यथानुपपत्तेः सिद्धं प्रामाण्यमिति ॥ छ ॥

प्रमाणं साभासं विषयफलमस्याप्ति इह,
प्रमन्नैगम्भीरैः कतिपयपदैर्यैर्न गमितम्।
स जीयाद् दुस्तर्कप्रतिमिरस्वि न्यायजलधिः,
जगज्जन्तुस्वान्तप्रभवकुमुदे दुर्जिनपतिः ॥ छ ॥

इत्थं समस्तमतवादिकरीन्द्रदर्पमुन्मूलयन्नमलमानदृढप्रहारैः।
स्याद्वादकेसरसटाशततीव्रमूर्तिः पञ्चाननो भुवि जयत्यकलङ्कदेवः ॥ छ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः।

प्रथमं तत्प्रभृतप्रत्यक्षादिपरिच्छेदचतुष्टयं प्रमाणप्रवेशः परिच्छेदः समाप्तः ॥ छ ॥

ग्रन्थप्रमाणं ११३० ॥ छ ॥

(१) आदिपदेन तृण-अरणिनिमथनाद्यो ग्राह्या। (२) तुलना-'यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते इति चेत् सुलभं प्रस्तुतम्' -अष्टश०, अष्टसह० पृ० ७२। प्रमेयरत्नमा० ३।१०१। स्पी० ता० प० ४९। अथ सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरतीति न्यायात्' -सन्मति० टी० पृ० २६६। (३) अदृष्टे तादात्म्यतदुत्पत्ती यस्य तत् अदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्ति तस्य अगृहीतस्वभावकार्यादिरूपस्य श्रुतज्ञानस्य इत्यर्थः। अत्र अदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्तिशब्द श्रुतस्य विशेषणत्वात् नपुंसकलिङ्गोऽपि भादौ इत्यादि सूत्रानुसारेण भाषितपुंस्कं पुंवद् भवति इति पुल्लिङ्गे प्रयुक्तः नपुंसकलिङ्गे तु नुमागमे सति अदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्तिनः इति प्रयोगः स्यात् इति भावः। (४) धनस्य। (५) अस्मिन् ग्रन्थे। (६) प्रभाचन्द्रेण ग्रन्थकृता। (७) न्यायकुमुदचन्द्रः तत्कर्ता प्रभाचन्द्रश्च अनेन विशेषणेन सूचितः। (८) जिनः पतिर्यस्य।

1 अप्यभावे-आ०। 2 भादौ चोक्त-ब भादौ चोक्त-श्र०। 3 चतुर्थपरि-आ०। 4-प्रथमा-श्र०। 5-न प्रथम परिच्छेद ब०।

द्वितीये नयप्रवेशे

पञ्चमः नयपरिच्छेदः ।



त्रैलोक्योदरवर्तिवस्तुविषयज्ञानप्रभावोदयः,
दुष्प्रापोऽप्यकलङ्कदेवसरणिः[1] प्राप्तोऽत्र पुण्योदयात् ।
स्वभ्यस्तश्च विवेचितश्च शतशः सोऽनन्तवीर्योक्तितः,
भूयान्मे[2] नयनीतिदत्तमनसस्तद्बोधसिद्धिप्रदः ॥ छ ॥

अथ प्रमाणं परीक्ष्येदानीं नयपरीक्षार्थमुपक्रमते–

[3]भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः ।
ये [4]तेऽपेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नय[5]दुर्नयाः ॥३०॥

विवृतिः–द्रव्यपर्यायात्मकम्[6] उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं[7] सत् प्रमेयं वस्तु तत्त्वम्, तत्रैव

---

(१) अकलङ्कस्य सरणिः । (२) प्रभाचन्द्रस्य । (३) उद्धृतम्– तथा चाहाकलङ्कः–भेदाभेदा... धनोपक्षानपे '–आव० नि० मल्य० पृ० ३७० B । गुरुतत्त्ववि० पृ० १६ B । "लक्ष्यन्ते निश्चीयन्ते । के ? नयदुर्नयाः । नयाश्च दुर्नयाश्च नयाभासाश्च नयदुर्नयाः । काभ्याम् ? अपेक्षानपेक्षाभ्याम्, अपेक्षा प्रतिपक्षधर्माकाङ्क्षा अनपेक्षा ततोऽन्या सर्वथैकान्तः ताभ्याम् । किंविशिष्टाः ? ते ये भेदाभेदाभिसन्धयः भेदो विशेषः पर्यायः व्यतिरेकश्च अभेदः सामान्यमेकत्वं सादृश्यञ्च, भेदश्चाभेदश्च भेदाभेदौ तयोः भेदाभेदयोरभिसन्धयोऽभिप्रायाः श्रुतज्ञानिनो विकल्पा इत्यर्थः । कस्मिन् ? ज्ञेये प्रमेये जीवादौ । किंविशिष्टे ? भेदाभेदात्मके, भेदाभेदावात्मानौ स्वभावौ यस्य तत्तथोक्तम् तस्मिन् ।'–लघी० ता० पृ० ५० । (४) निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः सापेक्षत्वमुपेक्षा ।' –अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९० । (५) 'तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा । अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ।' –सन्मति० १।२१ । 'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ।''–आप्तमी० १०८ । नयाः सापेक्षा दुर्नया निरपेक्षा इत्यतोऽपि सिद्धा' –सिद्धिवि०, टी० पृ० ५३७ B । 'तथा चोक्तम्–अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः । नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः ॥'–अष्टश० अष्टसह० पृ० २९० । 'धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्नयानां प्रकारान्तरासम्भवाच्च, प्रमाणात्तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेः तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च ।–अष्टश० अष्टसह० पृ० २९० । 'सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः ।''–अन्ययोगव्य० श्लो० २८ । (६) तुलना–पात० महाभा० १।१।१। योगभा० ३।१३ । न्यायकु० पृ० ४०१ टि० ६ । (७) तुलना– उप्पन्ने वा विगए वा धुवे वा '–स्थानांग० स्था० १० । 'सद्द्रव्यं वा''–व्या० प्र० श० ८। ३०९ सत्पदद्वार । दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्ययधुवत्तसंजुत्तं । गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥ –पञ्चा० गा० १० । अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं । गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥ –प्रवचन० २।३ । "सद्द्रव्यलक्षणम्, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"–तत्त्वार्थसू०

। २ एष मु० लघी० । ३ तेऽपेक्षानपेक्षा–श्र०।

कथञ्चित् प्रमाणतदाभासयोर्भेदात्। नयो ज्ञातुरभिप्रायः। स द्रव्यार्थिकः पर्याया

५।२९, ३०। 'दव्वं पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि। उप्पायट्ठिइभंगा हंदि दवियलक्खणं एयं॥' -सन्मति० गा० १।१२। 'नान्योऽन्यवृत्तिभिन्नानामभावे स्यान्मतिभ्रमम्।' -मी० श्लो० पृ० ६१९। 'उत्पादस्थितिभिन्नानां स्वभावानुपलम्भता। तद्गुणाममनामर्थान्तरत्व तथा स्मृतम्॥' -सिद्धिवि० प० १६७।

(१) तुलना- नयाः प्रापकाः कारकाः साधकाः निर्वर्तकाः निर्भासकाः उपलम्भकाः व्यञ्जका इत्यनर्थान्तरम्। जीवादीन् पदार्थान् नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्तीति नयाः। -तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५। स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः॥ -आप्तमी० का० १०६। 'वस्तुन्यनेकान्तात्मनि अविरोधेन हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नयः।' -सर्वार्थसि० १।३३। ज्ञातॄणामभिसन्धयः खलु नयास्ते द्रव्यपर्यायतः। नया ज्ञातुर्मतं मतः। -सिद्धिवि० टी० प० ५१७ A, ५१८ A। 'प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपका नयाः।'-राजवा० १।३३। एगेण वत्थुणोऽणेगधम्मुणो जमवधारणेणेव। नयणं धम्मेण तओ होइ नओ सत्तहा सो य॥ -विशेषा० गा० २६७६। 'णयदि त्ति णओ भणिओ बहूहि गुणपज्जएहि जं दव्वं। परिणामखेत्तकालन्तरेसु अविणट्ठसब्भावं॥ -धवला टी० पृ० ११। "प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशवस्त्वध्यवसायो नयः -धवला टी० पृ० ८३। सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः-अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नयः। प्रभाचन्द्रभट्टारकैरप्यभाणि-प्रमाणव्यपाश्रयपरिणामविकल्पवशीकृतार्थविशेषप्ररूपणप्रवणः प्रणिधिर्यः स नय इति।'-धवला टी० वेदनाख०। 'नयन्ति अर्थान् प्रापयन्ति गमयन्तीति नयाः वस्तुनो नयात्मकस्य अन्यतमैकधर्मैकान्तपरिग्रहात्मका नया इति।'-नयचक्रवृ० पृ० ५२९ \। यथोक्तम्-द्रव्यस्यानेकात्मनोऽन्यतमैकात्मावधारणम् एकदेशनयनान्नयाः। -नयचक्रवृ० प० ६ B। 'नयन्तीति नयाः अनेकधर्मात्मकं वस्तु एकधर्मेण नित्यमेवाऽनित्यमेवेति वा निरूपयन्ति। -तत्त्वार्थहरि० १।६। तत्त्वार्थसिद्ध० १।६। 'स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः। (पृ० ११८) नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः।' -तत्त्वार्थश्लो० प० २६८। नयविव० श्लो० ४। अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः। -प्रमेयक० पृ० ६७६। जं णाणीण वियप्पं सुयभेयं वत्थुयंससंगहणं। तं इह णयं पउत्तं णाणी पुण तेहि णाणेहिं॥ '-नयचक्र गा० २। श्रुतविकल्पो वा ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः। नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्त्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्नोतीति वा नयः। -आलापप०। तद्द्वारायातः पुनरनेकधर्मनिष्ठार्थसमर्थनप्रवणः परामर्शः शेषधर्मस्वीकारतिरस्कारपरिहारद्वारेण वर्तमानो नयः। -न्यायावता० टी० प० ८२। वस्तुनोऽनन्तधर्मस्य प्रमाणं (ण) व्यञ्जितात्मनः। एकदेशस्य नेता यः स नयोऽनेकधा स्मृतः॥'-तत्त्वार्थसार पृ० १०६। नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशः तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः। -प्रमाणनय० ७।१। स्या० मं० पृ० ३१०। प्रमाणपरिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः एकदेशग्राहिणः तदितरांशाप्रतिक्षेपिणः अध्यवसायविशेषा नयाः। -जैनतर्कभा० पृ० २१। 'प्रकृतवस्त्वंशग्राही तदितरांशाप्रतिक्षेपी अध्यवसायविशेषो नयः। -नयरहस्य प० ७९। नयप्रदीप पृ० ९७ B। मलयगिर्याचार्यमतेन सर्वेऽपि नया मिथ्या एव, तथाहि- अनेकधर्मात्मकं वस्त्ववधारणपूर्वकमेकेन नित्यत्वाद्यन्यतमेन धर्मेण प्रतिपाद्यस्य बुद्धिं नीयते प्राप्यते येनाभिप्रायविशेषेण स ज्ञातुरभिप्रायविशेषो नयः।" इह हि यो नयो नयान्तरसापेक्षतया स्यात्पदलाञ्छितं वस्तु प्रतिपद्यते स परमार्थतः परिपूर्णं वस्तु गृह्णाति इति प्रमाण एवान्तर्भवति यस्तु नयवादान्तरनिरपेक्षतया स्वाभिमतेनैव धर्मेण अवधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छेत्तुमभिप्रैति स नयः वस्त्वेकदेशपरिग्राहकत्वात्। -आव० नि० मलय० पृ० ३६९ \। (२) तच्च सकलविधम्-तद्यथा द्रव्यास्तिकं मातृकापदास्तिकम् उत्पन्नास्तिकं पर्यायास्तिकमिति। -तत्त्वार्थाधि० भा० ५।३१। इत्थं द्रव्या

र्थिकश्च, द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवदिति वा द्रव्यम्, तदेव अर्थोऽस्ति यस्य सः द्रव्यार्थिकः सोऽभेदाश्रयः।

भेदो विशेषः, **अभेदः** सामान्यम्, तौ आत्मानौ यस्य तस्मिन् तदात्मके कथञ्चित्तत्स्वभावे वस्तुनि, न नैयायिकादिपरिकल्पिते, तस्य प्रागेवापास्तत्वात्। कथम्भूते तस्मिन्नित्याह–**ज्ञेये** प्रमाणपरिच्छेद्ये। एतच्च विशेषणमपि साधनं प्रत्येयम्। ततः 'सर्वं वस्तु भेदाभेदात्मकं ज्ञेयत्वात्' इति गम्यते, यथा 'सदनित्यम्' इत्युक्ते सत्त्वादिति। नचायमनैकान्तिको हेतुर्विरुद्धो वा, सर्वथा भेदे अभेदे वा प्रमाणपरिच्छेद्यत्वस्य विपयपरिच्छेदे प्रतिक्षिप्तत्वात्। तत्र **भेदाभेदाभिसन्धयः** सामान्यविशेषविषया पुंस्याभिप्राया ये ते **लक्ष्यन्ते** निश्चीयन्ते **नयाः दुर्नयाश्च**। काभ्यामित्याह–**अपेक्षाऽनपेक्षाभ्याम्**, अपेक्षया नया इतरया दुर्णया इति।

कारिकाव्याख्यानम्–

भिन्नमतिकत्वादास्तिकश्च द्रव्यनयः। उत्पन्नास्तिकः पर्यायास्तिकश्च पर्यायनयः। –तत्त्वार्थहरि० ५।३१। तत्त्वार्थसिद्ध० ५।३१। 'दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासिं।'–सन्मति० १।३। 'नयो द्विविधः द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। –सर्वार्थसि० १।६। द्वौ मूलभेदौ द्रव्यास्तिकः पर्यायास्तिक इति। अथवा द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकः।'–राजवा० १।३३। 'तत्र मूलनयौ द्रव्यपर्यायगोचरौ। मिथ्यात्वं निरपेक्षत्वं सम्यक्त्वं तद्विपर्ययः॥ –सिद्धिवि० टी० पृ० ५२१ A। 'दव्वट्ठियस्स सव्वं पज्जवनयस्स पज्जाओ।'–विशेषा० गा० ४३३१। तयो वा नयनागमागमा–द्रव्यार्थपर्यायार्थनयौ द्वौ समागतौ मूलभेदौ तत्प्रभेदा नयाः।'–नयचक्रवृ० पृ० ५२६ A। धवला टी०

कारिकां विवृण्वन्नाह–'द्रव्य' इत्यादि। अत्र वस्तुतत्त्वं धर्मि द्रव्यत्वादिविशेष-
विवृतिविवरणम्– विशिष्टमिति साध्यम्। तत्त्वग्रहणं किमर्थमिति चेत्? आश्रयासिद्धि-
निषेधार्थम्, तथाहि–न जीवादि भ्रान्तं नापि शून्यं कल्पितं वा किन्तु तत्त्वं परमार्थसत्। प्रमाणाधिनश्च जीवादिवस्तुनः परमार्थसत्त्वं प्रागेव इत्यलमतिप्रसङ्गेन। अस्त्वेवम्, तथापि एकानेकरूपं तद् भविष्यतीत्याह–'द्रव्य' इत्यादि। वक्ष्यमाण-लक्षणा द्रव्यपर्याया आत्मानो यस्य तत्तथोक्तम्। कुत एतदित्याह–उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तम्। उत्पादाद्यात्मकं यतः ततस्तथाविधं सत्। एवंविधमपि कुत इत्याह–'सत्' इति। सद् अर्थक्रियाकारि यतः। तत्कारित्वं कथं तस्येत्याह–'प्रमेयम्' इति। प्रमेयं यतो जीवादिवस्तु ततोऽर्थक्रियाकारि। नहि सांख्यपरिकल्पितस्य आत्मनः काञ्चि-दर्थक्रियामकुर्वतः प्रमेयत्वं घटते इत्युक्तं प्रागेव। नन्वेकस्मिन् वस्तुतत्त्वे प्रतीयमाने प्रतिभासभेदासम्भवात् कथं प्रतिपत्रभिप्रायाणां नयरूपतोपपद्यते इत्याशङ्क्याह–'तत्रैव' इत्यादि। तत्रैव अनन्तरोक्तस्वरूपे चन्द्रादिवस्तुनि कथञ्चित् सत्त्वधावल्यादिप्रकारेण यत् प्रमाणं यच्च कथञ्चिद् द्विन्यादिप्रकारेण तदाभासं[1] तयोर्भेदात् भेदप्रतीतेः[2]। एतच्च प्रागेव समर्थितत्वात् दृष्टान्ततयोपात्तम्। तस्मादेकस्मिन्नपि वस्तुनि प्रतिपत्ति-भेदसम्भवात् युक्तो विकलादेशविशेषमाश्रित्य ज्ञातुरभिप्रायो नयः। तस्य भेदमाह–'स' इत्यादिना। स नयो द्रव्यार्थिकः, पर्यायार्थिकश्च। तत्र प्रथमं व्याचष्टे–'द्रव्य' इति। 'द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवत्' इति वा द्रव्यम्, तदेवार्थः सोऽस्ति यस्य स द्रव्यार्थिकः। पुनः स इत्थम्भूत इत्याह–सोऽभेदाश्रयो यतः।

ननु सकलभावानां देशकालाकारैरत्यन्तभेदात् अभेदो नाम, अतः कथमसौ अभे-दाश्रयः स्यात्? इत्यारेकापनोदार्थमाह–

जीवाजीवप्रभेदा यदन्तर्लीनाः[4] तदस्ति सत्।
एकं यथा स्वनिर्भासिज्ञानम् जीवः स्वपर्ययैः ॥३१॥

(१) विषयपरिच्छेदे। (२) परमार्थसत्। (३) पृ० १९१। (४) अस्ति विद्यते प्रतीयते। तत्किम्? सत् सत्तासामान्यम्। किंविशिष्टम्? यदित्यादि यस्मिन्नन्तर्लीना अन्तर्भूताः। के? जीवाजीवप्रभेदाः जीवश्चेतनालक्षणः अजीवः पुनस्तद्विपरीतः पुद्गलादिः प्रभेदाश्च त्रसस्थावरादयोऽवान्तरविशेषाः जीवाजीवौ च प्रभेदाश्च ते तथोक्ताः। न खलु द्रव्यं पर्यायो वा सत्त्वव्यतिरिक्तमस्तीति किञ्चिद्वस्तु शक्यं स्ववचनविरोधादिप्रसङ्गात्। ननु एकस्य कथमनेकजीवादिभेदव्यापकत्वमिति चेदाह एकमित्यादि। यथा एकं ज्ञानं चित्रपटादिविषयं स्वनिर्भासि स्वे आत्मीया ज्ञानात्मानो निर्भासा नीलाद्याकारा विद्यन्ते अस्येति स्वनिर्भासि। यथा चैको जीव आत्मा स्वपर्ययैः स्वे चिद्रूपाः पर्यया रागादयः परिणामाः तैराक्रान्तः प्रतीतिपथारूढो न विरुध्यते तथा सत्त्वमपि जीवाद्यनेकभेदाक्रान्तं न विरुध्यते इत्यर्थः। –लघी० ता० पृ० ५२।

1 आत्मा यस्य आ० ब०। 2 तत्र ब०। 3–दद्रवति आ० ब०। 4–भेदाश्रितो यतः आ०।

विवृतिः–यथैव ज्ञानस्य आत्मनिर्भासभेदा नैकत्वं बाधन्ते जीवस्याजीवस्य वा कस्यचित् स्वगुणपर्यायाः तथैव सत्त्वस्य भेदाः जीवाजीवादयः। तदेवम्–

जीवश्च अजीवश्च तयो प्रभेदा अवान्तरविशेषा यदन्तर्लीना यस्य अन्तः प्रविष्टा तदस्ति विद्यते। किं तदित्याह–'सत्' इति। सत्तासामान्यम्। केन प्रकारेण 'एकम्' इत्यादि। स्वे आत्मीया न ज्ञानान्तरगता निर्भासा नीलाद्याकारा ते यस्य सन्ति तद् स्वनिर्भासिज्ञानम् एकं 'चित्रज्ञानम्' इत्यर्थः। यथा येन प्रतिभासादिप्रकारेण अस्ति तथा प्रकृतमपि, सौगतापेक्षया इदमुक्तम्। इतरापेक्षया तु 'जीवः स्वपर्ययैः' इत्याह। जीवग्रहणमुपलक्षणम् सकलाजीवतत्त्वस्य, तेन जीवादि स्वपर्ययैर्युक्तो यथा एकोऽस्ति तथा सदेकमिति सिद्धम्।

कारिकाव्याख्यानम्–

कारिकां विवृण्वन्नाह–'यथैव' इत्यादि। यथैव येनैव अशक्यविवेचनाऽभिन्नयोगक्षेमप्रकारेण ज्ञानस्य आत्मनः स्वरूपस्य ये निर्भासभेदा ग्राह्यादिनीलाद्याकारा ते नैकत्वं बाधन्ते, जीवस्य आत्मनः अजीवस्य वा घटादेः कस्यचित् सकलजनप्रसिद्धस्य न नैयायिकादिकल्पितस्य तस्य पूर्वं निरस्तत्वात्। स्वगुणपर्याया 'यथैव नैकत्वं बाधन्ते' इति सम्बन्धः। तथैव तेनैव प्रकारेण सत्त्वस्य सत्तासामान्यस्य भेदाः। के इत्याह–जीवाजीवादयः, नैकत्वं बाधन्ते। तस्मिन् सति किंजातमित्याह–'तदेवम्' इति। तस्मिन् सत्त्वे एवम् उक्तप्रकारेण जीवाजीवात्मके स्थिते सति–

विवृतिविवरणम्–

> शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहः तदभेदतः।
> भेदानां नासदात्मैकोऽप्यस्ति भेदो विरोधतः ॥३२॥

(१) अशक्यविवेचनं हि एकचित्रज्ञानस्य नीलाद्याकाराणां ज्ञानान्तरमनुपपन्नमेव। (२) "अलब्धधर्मानुवर्तियोगः। लब्धधर्मानुवृत्तिः क्षेमः।"–प्रमाणवा० स्वव० टी० १।२४। "योग अलब्धविषयस्य परिच्छेद्यलक्षणा प्राप्तिः, क्षेमः तदर्थक्रियानुष्ठानलक्षणं परिपालनम्।"–हेतुबि० टी० पृ० ५५। (३) 'अभिप्रैति विषयीकरोति। कः? संग्रहः संग्रहनयः। किम्? शुद्धं द्रव्यं सन्मात्रं समस्तावान्तरविशेषपरिहीणं तद्विषयभवात्, तद्विषयो हि नयः संग्रहः। स्वजात्यविरोधेन एकत्वमुपनीय समस्तग्रहणं संग्रह इति निर्वचनात्। कुतः? तदभेदतः तस्य सन्मात्रस्य शुद्धद्रव्यस्य अभेदात् सर्वेषु जीवाजीवेषु अव्यतिरेकात्। ननु प्रागभावादीनां सत्त्वव्यतिरेकात् कथं सन्मात्रमित्याह इत्याह–भेदानां जीवादीनां तद्विपक्षाणां मध्ये एकोऽपि [illegible] जीवादिपर्यायात्मा असदात्मा असत्स्वभावो नास्ति न विद्यते। विरोधतः–यद्यसदात्मा कथमस्ति? यद्यस्ति, कथमसदात्मा? इति वचनविरोधात् ... ततः प्रागभावादिरपि वा कथञ्चित् सदात्मक एवाभ्युपगन्तव्य ... इति। ...–न्यायवि० वि० पृ० ५२। (४) तुलना–'संगहियपिंडियत्थं संगहवयणं समासओ बिंति।'–अनुयोगद्वार० ४ द्वा०। आ० नि० गा० ७५६। विशेषा० गा० २६९९। ... सत्तासामान्यं संग्रहः। आह च "... ॥"–तत्त्वार्था

1 जीवादय ज० वि०। 2–सामान्यस्य भ०। 3 ... आ०। ... आ०। ...

विवृतिः–सर्वमेकं सदविशेषात् इति संग्रहः । सताञ्च स्वभावानां भावैकत्वाऽबाधनात् । नहि कश्चिद् असदात्मा भेदोऽस्ति निष्प्रतिषेधात् । नहि किञ्चिज्ज्ञानं सद्रूपं द्रव्यमनवबुध्य भेदं गृह्णाति नाम ।

शुद्धं द्रव्यं सत्तालक्षणम् **अभिप्रैति** विषयीकरोति न सतोऽपि आत्मादिविशेषान् । कोऽसौ इत्याह–**संग्रहः** संग्रहनयः । कुत एतदित्याह–

कारिकाव्याख्यानम्–

तद्भेदतः तस्य सत्त्वस्य सर्वविशेषेषु अविशेषतः । एतदपि कुत इत्याह–'**भेदानाम्**' इत्यादि । **भेदानां** जीवादिविशेषाणां मध्ये **असदात्मा** असत्स्वभावः एकोऽपि न केवलम् अनेको **नास्ति भेदो** विशेषः, किन्तु सदात्मैव '**अस्ति**' इति सम्बन्धः । कुतो नास्तीत्याह–**विरोधतः** । तथाहि–'यदि असन् कथमस्ति, अस्ति चेत् कथमसन्' इति । एतेन अभावचतुष्टयं चर्चितम्, तथाहि–यदि तत् अस्तीतिप्रत्ययवेद्यम् कथमसदात्मकम् ? स्वरूपेण तस्यापि सदात्मकत्वात् । अथाऽसदात्मकम्, न तर्हि तत्प्रत्ययवेद्यमिति कथं तदस्तित्वसिद्धिः ?

कारिकां विवृण्वन्नाह–'**सर्वम्**' इत्यादि । **सर्वं** चेतनाचेतनस्वभावं वस्तु **एकम्** अभिन्नं **सदविशेषात्** सत्ताऽविशेषमाश्रित्य **इति** एवं **संग्रहः** । सदविशेषेऽपि सत्त्वात् तद्वता भेदप्रसिद्धेः सर्वमेकम् इत्याद्ययुक्तमित्याशङ्क्याह–'**सताञ्च**' इत्यादि । सताञ्च विद्यमानानां पुनः **स्वभावानां** भावधर्माणाम् **भावैकत्वाबाधनात्** सत्त्वैकत्वानिराकरणात् । एतदेव समर्थयमानः प्राह–'**नहि**' इत्यादि । हि यस्मात् **न असदात्मा** असत्त्वस्वभावः **कश्चित्** द्रव्यादीनां मध्ये यतमो **भेदः** विशेषः **अस्ति** । कुत इत्याह–**निष्प्रतिषेधात्**, विरोधात् । इतश्च असदात्मा भेदो नास्तीति दर्शयन्नाह–'**नहि**' इत्यादि । **किञ्चित्** प्रत्यक्षमनुमानं वा **ज्ञानं सद्रूपं** सत्त्वस्वरूपम् **अनवबुध्य** अगृहीत्वा **भेदं** विशेषं **द्रव्यं** द्रव्यरूपम्, द्रव्यग्रहणमुपलक्षणं गुणादेः, तत्त्विमित्याह–'**नहि गृह्णाति नाम**' इति । ततो निराकृतमेतत् "न द्रव्यादि स्वतः सत्

वि० भा० १।३५ । तत्त्वार्थहरि० तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५ । स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपनीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात् संग्रहः ।'–सर्वार्थसि० १।३३ । राजवा० १।३३ । विधिव्यतिरिक्तप्रतिषेधानुपलम्भाद्विधिमात्रमेव तत्त्वमित्यध्यवसायः समस्तस्य ग्रहणात् संग्रहः । द्रव्यव्यतिरिक्तपर्यायानुपलम्भात् द्रव्यमेव तत्त्वमित्यध्यवसायो वा संग्रहः । –धवलाटी० पृ० ८४ । 'शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति सन्मात्रं संग्रहः परः । स चाशेषविशेषेषु सदौदासीन्यभागिह ॥ –तत्त्वार्थश्लो० पृ० ७० । नयविव० श्लो० ६७ । प्रमेयक० पृ० ६७७ । 'शुद्धं द्रव्यं समाश्रित्य संग्रहस्तदशुद्धितः –सन्मति० टी० पृ० २७२ ३११ । नयचक्र गा० ३४ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७।१३ । स्या० म० पृ० ३११ । जैनतर्कभा० पृ० २२ ।

(१) तुलना– यथा सर्वमेकं सदविशेषात् । –तत्त्वार्थभा० १।३५ । अह्व महासामन्नं संगहिय पिंडियत्थमियरं ति । सव्वविसेसाणन्नं सामन्नं संगहो भणिय ।'–विशेषा० गा० २७०१ । 'विश्वमेकं सदविशेषात् इति यथा । –प्रमाणनय० ७।१६ । (२) अभावचतुष्टयस्यापि । (३) अस्तीतिप्रत्ययग्राह्यम् । (४) अभावचतुष्टयसद्भावसिद्धिः ।

1 तस्य सर्व–आ० । 2 कथमसास्ति चेत आ० ब० । 3 द्रव्यस्वरूपम ब० श्र० ।

नाप्यसत् सत्तासम्बन्धात्सत्" [ ] इति, सद्रूपरहितस्य हि द्रव्यादेः तत्स्वभावशून्यस्य च सद्रूपस्य ग्रहणे सति एतत् स्यात्, न च तद्ग्रहणमस्ति, सर्वदा उभयोः उभयात्मनो वेदनादिति भावः। पूर्वेण परपक्षे विरोधोद्भावनम्, अनेन तु प्रतीतितो भेदस्य सदात्मकत्वसाधनमिति विभागः।

अत्राह सौगतः–'यदुक्तम्–यथैव ज्ञानस्य आत्मनिर्भासभेदाः नैकत्वं बाधन्ते' इति, तदप्ययुक्तम्, निरंशकज्ञानोपगमात्, सर्वोऽप्ययं विरुद्धधर्माध्यासी स्तम्भादिप्रतिभासो विभ्रमो मरीचिकाचक्रे जलवदिति कथं तन्निदर्शनेन अभिमततत्त्वसिद्धिः स्यात्? पुरुषाद्वैतवाद्यपि आह–निस्तरङ्गं पुरुषमात्रं तत्त्वम्, जीवाजीवप्रभेदः पुनः उपप्लवः, ततो 'जीवस्य अजीवस्य वा' इत्याद्यप्ययुक्तम्, इत्याशङ्क्याह–

प्रत्यक्षं बहिरन्तश्च भेदाज्ञानं सदात्मना।
द्रव्यं स्वलक्षणं शंसेद्भेदात् सामान्यलक्षणात् ॥३३॥

विवृतिः–स्वार्थभेदानवबोधेऽपि भ्रान्तं ज्ञानं सर्वं सद्रूपेण प्रत्यक्षं द्रव्यं स्वलक्षणं विद्यात्, अन्यथा भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात्।

कारिकाव्याख्यानम्–

प्रत्यक्षमुक्तलक्षणम्, कथम्भूतं तदित्याह–**भेदाज्ञानम्**, भेदस्य निरंशक्षणिकविभ्रमविचित्रविशेषस्य अज्ञानम् अग्रहणम् येन यस्मिन् वा तत्तथोक्तम्। क्वेत्याह–'**बहिरन्तश्च**' इति, बहिर्घटादौ अन्तः ज्ञानपुरुषस्वरूपे। नहि तत्तत्र निरंशक्षणिकादिरूपं परपरिकल्पितं विशेषं जातु प्रतिपद्यते विभ्रमाभावानुषङ्गात्। यदि तत्र भेदाज्ञानम्, केन तर्हि प्रकारेण प्रत्यक्षमित्याह–'**सदात्मना**' इति। सद्ग्रहणमुपलक्षणं तेन 'सच्चेतनीलाद्यात्मना' इति गृह्यते। तत्किं कुर्यादित्याह–'**द्रव्यम्**' इत्यादि। द्रव्यमनन्तरोक्तं स्वलक्षणं वस्तु **शंसेत्** स्तुयात् न परपरिकल्पितं परमाण्वादि। एवमपि पुरुषादिद्रव्यं स्वलक्षणं शंसेदित्याह–

---

(१) द्रव्यादिस्वभावरहितस्य। (२) सत्त्वद्रव्ययोः। (३) सत्त्वस्य द्रव्यादिविशेषणतया, द्रव्यस्य च सत्त्वविशेषणतया। (४) [illegible] इत्यादि विवृतिव्याख्यानम्। (५) 'नहि [illegible]' इत्यादिना। (६) [illegible]। (७) "शंसेत् स्तुयात् कथयेदित्यर्थः। किम्? प्रत्यक्षं [illegible] प्रत्यक्षम्। [illegible]? भेदाज्ञानम् [illegible] निरंशकत्वादि [illegible]। किं तत्? द्रव्यं [illegible] स्वलक्षणं वस्तुभूतं [illegible]। क्व? बहिःस्थघटादौ अन्तश्चेतने। केन? सदात्मना सद्रूपेण [illegible] प्रत्यक्षो ज्ञानं वा प्रत्यक्षं द्रव्यं [illegible]। कस्मात्? भेदात् [illegible]। किंविशिष्टात्? सामान्यलक्षणात्, सामान्यलक्षणात् [illegible]। [illegible] प्रत्यक्षमपि प्रमाणं [illegible]। [illegible] द्रव्यादिविषय [illegible] मिथ्या स्यात्?"–न्यायवि० वि० पृ० ५३। (८) प्रत्यक्षम् (९) बहिरन्तः। (१०) [illegible]। (११) [illegible]।

1–जीवाजीवप्रभेद भ०। 2–विभ्रमविचि–भ०। 3 ज्ञाने पुरु– ब०। 4–[illegible] ॥ ८ ॥ यदि भ०। 5–? द्रव्यमन–आ० भ०। 6–? [illegible] विने–आ०।

'भेदात्' इत्यादि। भेदात् विशेषात् सामान्यलक्षणं स्वरूपं यस्य, सामान्येन वा लक्ष्यते यः स तथोक्तः तस्मात् तमाश्रित्य इत्यर्थः। यथा च क्षणिकनिरंशपरमाण्वादिरूपं पुरुषाद्वैतरूपं वा तत्त्वं न व्यवतिष्ठते तथा प्रागेव प्रपञ्चेन प्रतिपादितम्। 'भेदान् सामान्यलक्षणान्' इति वा पाठः। तत्र तान् प्रत्यक्षं शंसेत् इत्यर्थः।

कारिकां विवृण्वन्नाह-'स्वार्थ' इत्यादि। भ्रान्तं विप्लुतं ज्ञानं सर्वं निरवशेषं लौकिकं शास्त्रीयञ्च, यदि वा सौगतकल्पितं पुरुषाद्वैतवादिकल्पितञ्च। कथम्भूतं प्रत्यक्षं विशदमभ्रान्तम्। येन रूपेणेत्याह-सद्रूपेण सदादिस्वभावेन। कस्मिन् सत्यपीत्याह-'स्वार्थ' इत्यादि। स्वश्च अर्थश्च तयोर्भेदो विवेकः अर्थस्य परमाणुलक्षणस्य परस्परम् स्वज्ञानस्य विलयाकारा[द्] भेदो नावबुध्यते सर्वं हि ज्ञानं नात्मानं विप्लुतं जानाति स्वस्य विप्लुताकारात् तस्य अनवबोधेऽपि। तर्हि कुर्यादित्याह-द्रव्यं स्वलक्षणं विधात्। ननु स्यादेतत् यदि तद्भेदानवबोधः स्यात् यावता स्वार्थयोः सद्रूपेणेव भेदरूपेणाप्यवबोधोऽस्तीत्याशङ्क्याह-'अन्यथा' इत्यादि। उक्तप्रकाराद् अन्येन प्रकारेण अन्यथा भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात् तद् तत्कुर्यात्' इति सम्बन्धः। तथाहि-यथा तत् प्रत्यक्षं सद्रूपेण तथा यदि स्वार्थभेदरूपेणापि, तर्हि स्थूलाकारो भ्रान्तिः कुतः ? ग्राह्यादिचेतनेतरादिभ्रान्तिर्वा ? नहि यथावद्रूपेण वस्तुनः प्रतिभासे सा युक्ता, कदाचिदपि तदनुपरतिप्रसङ्गात्। तथा तद्भेदानवबोधवत् सद्रूपेणापि यदि तदप्रत्यक्षम्, तदा कस्यचिदपि प्रतिभासाभावात् कुतो भ्रान्तिः ?

ननु प्रतिक्षणविलक्षणज्ञानादिक्षणव्यतिरिक्तस्य जीवादिद्रव्यस्यासम्भवात् कथं 'द्रव्यं शंसेत्' इत्युक्तं शोभेत इत्याशङ्क्याह-

सदसत्स्वार्थनिर्भासैः सहक्रमविवर्त्तिभिः।
दृश्यादृश्यैर्विभात्येकं भेदैः स्वयमभेदकैः ॥ ३४ ॥

(१) पृ० ३७५, १५०। (२) बहिरर्थ। (३) भ्रान्तम्। (४) स्वज्ञानस्य इत्यादि § एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः ब०, ज० प्रत्योः त्रुटितायां पू० प्रतौ च नास्ति। अर्थानुरोधात्तु स्वस्य विप्लुताकारात् इत्यंशस्य टिप्पण्यात्मक एव भाति। (५) स्वार्थभेदानवबोधे। (६) प्रत्यक्षम्। (७) स्वलक्षणं द्रव्यं शंसेत्। (८) द्रव्यम्। (९) स्थूलाकारा प्रतीतिः कथं भ्रान्तिरूपा स्यात् ? (१०) भ्रान्तिः। (११) यथावद्वस्तुप्रतिभास एव हि भ्रान्तिनिवर्तिकारणम्। यदि च यथावद्वस्तुग्रहणेऽपि भ्रान्तिर्न निवर्तेत तदा न कदापि तस्याः निवृत्तिः सम्भाव्येति भावः। (१२) स्वार्थभेदानवबोधवत्। (१३) द्रव्यम्। (१४) कस्यचिदपि पुरुषस्य सामान्यतो विशेषतो वा प्रतिभासाभावात् न भ्रान्तिः स्यात्, भ्रान्तेः सामान्यप्रतिभासनिबन्धनत्वादिति भावः। (१५) सौगत। (१६) अयमर्थः-यथा सदभिज्ञानगताकारः असद्भिरर्थाकारैः नीलादिभिः सहैव ज्ञानं विभाति तत्र न विरुध्यते तथा अर्थव्यञ्जनपर्यायैः सहक्रमविवर्तिभिः व्यञ्जनपर्यायैः सहैव द्रव्यमपि विभाति न विरुध्यते इति। दृश्याः स्थूला व्यञ्जनपर्यायाः अदृश्याः सूक्ष्माः केवलागमगम्याः अर्थपर्यायाः। -लघी० ता० पृ० ५५।

1 परमार्थोहि इप व । 2 भेदात् ब०। 3 च श्र०। 4 विप्लवं भा-आ०। 5-ल्पित कथ-श्र०। § एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति ब० श्र०। 6 द्रव्यस्वल-आ०। 7 विधादेतद्यदि आ०, श्र०। 8 तत्कु-ब०। 9 यथा आ०। 10-क्षणाना आ०। 11-दिलक्षण-श्र०।

विवृतिः–यथैकं क्षणिकं ज्ञानं सद्भिरसद्भिर्वा प्रतिभासभेदैः स्वयमभेदकैरिष्टं तथा एकं द्रव्यं सहक्रमभाविभिः स्वयमभेदकैः भेदैः दृश्यैरदृश्यैश्चानादिनिधनमवगन्तव्यम्। बहिरिव ज्ञानपरमाणुसञ्चये पुनः अन्योन्यानात्मकत्वे सर्वथाऽसद्क्रमव्यवस्थायाम् एकस्थूलनिर्भासनिरोधात्।

कारिकाव्याख्यानम्– सन्तश्च असन्तश्च ते च ते स्वस्य अर्थनिर्भासाश्च नीलस्थूलादिप्रतिभासास्तैः, कथम्भूतैः? स्वयम् आत्मना अभेदकैः, यथा एकं ज्ञानं निर्शेपेण देशकालनरान्तराबाधितरूपेण भाति भासते। कदा? सह एकस्मिन् काले तथा क्रमविवर्तिभिः तैः एकं विभाति। कथम्भूतैः इत्याह–दृश्यादृश्यैः। वर्त्तमानकालापेक्षया दृश्यैः अतीतकालापेक्षया चाऽदृश्यैः। यदि वा सद्भिः स्वनिर्भासैः सदादिभिः असद्भिः अर्थनिर्भासैः एकं यथा, तथा क्रमविवर्तिभिः सुखादिभिः एकं विभातीति ग्राह्यम्।

कारिकां व्याख्यातुमाह–'यथैकम्' इत्यादि। यथा येन प्रकारेण एकं क्षणिकं
विवृतिव्याख्यानम्– ज्ञानम्, उपलक्षणमेतत् तेन पुरुषस्यापि ग्रहणम्। सद्भिः विद्यमानैः असद्भिर्वाऽविद्यमानैर्वा। कैः? प्रतिभासभेदैः। कथम्भूतैः? स्वयमभेदकैः इष्टम् अङ्गीकृतम्, तथा एकं द्रव्यमभ्युपगन्तव्यम्। कैः? भेदैः विशेषैः। कथम्भूतैः? सहक्रमभाविभिः सहभाविभिः गुणैः क्रमभाविभिः पर्यायैः। पुनरपि किंविशिष्टैः? दृश्यैरदृश्यैश्च। अनेन एकत्वे प्रमाणान्तरवृत्तिं दर्शयति। कथम्भूतं तद्द्रव्यमित्याह–अनादिनिधनम्। प्रसाधितञ्च अनादिनिधनत्वं प्रागेवास्य इत्यलं पुनस्तत्प्रसाधनप्रयासेन। ननु ज्ञानमपि तैरेकं नेष्यते "किं स्यात्सा चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्यां मतावपि" [प्रमाणवा० २।२१०] इत्यभिधानात्। अत्राह–'बहिरिव' इत्यादि। यथा नहि परस्परासंसृष्टनिरंशक्षणिकपरमाणुसञ्चयः तथा तद्ग्राहिणामन्येषां वा ज्ञानपरमाणूनां सञ्चये अङ्गीक्रियमाणे, 'पुनः' इति पक्षान्तरसूचकः।

(१) योगाचार। (२) द्रष्टव्यम्–न्यायकुमु० पृ० १३० टि० ६। शास्त्रवा० यशो० प० ४९। व्याख्या–"ननु यदि सा चित्रता बुद्धौ एकस्यां स्यात तया च चित्रमेकं द्रव्यं व्यवस्थाप्यते तदा किं दूषणं स्यात्? आह–न स्यात्तस्यां मतावपि। न केवलं द्रव्ये तस्यां मतावपि एकस्यां न स्याच्चित्रता आकारानानात्वलक्षणत्वाद भेदस्य, नानात्वेऽपि चित्रता कथमनेकपुरुषप्रतीतिवत्। कथन्तर्हि प्रतीतिरित्याह–यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्। यदीदम् अताद्रूप्येऽपि ताद्रूप्यप्रथनम् अर्थानां भासमानानां नीलादीनां स्वयम् अपरप्रेरणया रोचते, तत्र तथाप्रतिभासे के वयमसहमाना अपि निषेद्धुम्, अवस्तु च प्रतिभासत इति यत्नमालोच्यम्।"–प्रमाणवा० मनोरथ० २।२१०। (३) सौगत। 'तस्मान्नार्थेषु न ज्ञाने स्थूलाभासस्तदात्मनः। एकत्र प्रतिषिद्धत्वात् बहुष्वपि न सम्भवः॥ तस्मान्नार्थेषु बाह्येषु न ज्ञाने तद्ग्राहके स्थूलाभासः स्थूल आकारः सङ्गच्छते। तदात्मनः स्थूलस्वरूपस्यैकत्रावयवे परमाणौ वा प्रतिषिद्धत्वात्। बहुष्वपि तेषु सम्भवो नास्ति मिलिता अपि हि त एव। ते च प्रत्येकं स्थौल्यविकला

1 भाति प्रतिभासते ब०, श्र०। 2 वाद–ब०। 3–स एकं–श्र०। 4 क्षणिकं क्षणिकज्ञानम् आ०। 5 एकत्वप्रमा–श्र०। [illegible]

अन्योन्यं परस्परम् अनात्मकत्वम् अस्वरूपत्वं तस्मिन् सति, सर्वथा सर्वेण साक्षात्स्वरूपप्रकारेण स्वरूपमिश्रणप्रकारेण वा असङ्क्रमेण असङ्करेण या व्यवस्था अवस्थितिः तस्यां सत्याम् एकस्थूलनिर्भासनिरोधात् कारणात् एव द्रव्यमभ्युपगन्तव्यम् । एतदुक्तं भवति-स्थूलप्रतिभासनिरुद्धा ज्ञानेतरपरमाणवः, तत्प्रतिभासोपगमे तद्विरोधः नीले पीतनिरोधवत् । तथाभ्युपगच्छतश्च अध्यक्षविरोधः निरंशादिरूपतया शतधा तस्य विचार्यतोऽपि स्थूलादिप्रतिभासानिवृत्तेः ।

एवं प्रतिभासबलेन स्वपरमतविधिप्रतिषेधौ अभिधाय साम्प्रतम् अर्थक्रियाकारित्वबलेन तौ प्रतिपादयितुकामः प्रथमं क्षणिकैकान्ते अर्थक्रियां निराकुर्वन्नाह-

लक्षणं क्षणिकैकान्ते नार्थस्याऽर्थक्रिया सति ।
कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणलक्षणम् ॥ ३९ ॥

विवृतिः-सह क्रमेण वा अर्थक्रियाम् अक्षणिकस्य निराचिकीर्षुः कथञ्चित् क्षणिके अर्थक्रियां साधयेत् अन्यथा तल्लक्षणं सत्त्वं ततो व्यावर्त्तेत । न च क्षणिकानामनिश्चयात्मना भावानां प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः सिद्ध्येत् विप्रकृष्टाऽर्थान्तरवत् । 'यस्मिन् सत्येव यद्भावः तत् तस्य कार्यम्' इति लक्षणं क्षणभङ्गे न सम्भवत्येव कार्यकारणयोः सहभावापत्तेः, अन्यथा क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गात् ।

लक्षणम् अर्थस्य परमार्थसतो वस्तुनः नार्थक्रिया अर्थस्य कार्यस्य क्रिया करणम् । क्व ? क्षणिकैकान्ते । कुत इत्याह-'सति' इत्यादि ।

कारिकाव्याख्यानम्- सति विद्यमाने कारणे हेतौ कार्यभावः कार्योत्पत्तिः चेद् यदि न कार्यकारणलक्षणं कार्यस्य कारणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं यल्लक्षणम् कारणस्य च तदुत्पत्तिनिमित्तत्वं यल्लक्षणं तन्न । पूर्वार्द्धगतेन 'न' इत्यनेन सम्बन्धः । क्षणिकैकान्तवादिना कारणाभाव एव कार्योत्पत्त्यभ्युपगमात् । इदमपरं व्याख्यानम्- स्वोत्पत्तिकालवत्

इति सर्वान्ता अपि तथा स्युः । तथा नीलाद्याकारेषु प्रत्यक्षं चित्रस्य स्थौल्यस्याभावात् समन्वयस्य भावः -प्रमाणवा० मनोरथ० २।२११ ।

(१) स्थूलैकप्रतिभासविरोध । (२) स्थूलप्रतिभासस्य असत्त्वं भ्रान्तत्वं वा स्वीकुर्वतः । (३) स्वमतविधिपरमतप्रतिषेधौ । (४) तुलना- कार्यकारणता नास्ति वस्तुनः सन्तति कुतः । निरन्वयात् कुतोऽन्यथा सामर्थ्यनिरोधवत् ॥ सति क्षणिके कारणे यदि कार्यं स्यात् क्षणिकमक्रमं जगदपि सन्तानि स्यात् । तस्मिन्नसति भवतः कुतः पुनः कारणान्तरोत्पत्तिनियमः ? सत्येव कारणे स्वसत्ताकालमेव कार्यं प्रसह्य जनयेत् । स्वरसत एव कार्योत्पत्तिकालनियमे स्वतन्त्रस्य कुत एव कार्यत्वम् ? नरन्तर्येऽपि सर्वत्र क्रमवन्नियमः सर्वत्र सर्वेषामविशेषे कुतः क्रमवन्नियमः ? द्रव्यस्य क्रमवन्नियमे न किञ्चिन्निप्रसज्यते । -सिद्धिवि० पृ० ३६३-६४ । (५) किं पुनरसौ कार्यकारणभावः अनुपलम्भसहायप्रत्यक्षनिबन्धनः ? इत्याह-सद्भावे भावः तदभावेऽभावश्चेति ?'-हेतुबि० टी० पृ० ६९ । (६) कार्यजनकत्वम् ।

1 व्यवस्थिति श्र० । 2 तदुक्तं श्र०, ब० । 3 -तथास्य आ० । 4 कारिकेयं मुद्रितलघीयस्त्रये नास्ति । 5 लक्षणभङ्गे न ज० वि० । 6 कारणम् आ० । 7 स्य तज्ज-आ० । 8 कारणभाव आ० ।

कार्योत्पत्तिकालेऽपि सति कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणयोः यल्लक्षण स्वरूप ग्रहण या अत्र प्रमाणभावात् 'घटते' इत्यध्याहार , किन्तु क्षणभङ्गाय दत्तो जलाञ्जलि'[1] स्यात् ।

येस्त्वाह—'नार्थक्रिया अर्थलक्षण विचारतस्तदयोगात । सा हि सती, असती वा तल्लक्षणम् ? न तावदसती, खरविषाणवत् तथाविधायास्तस्या तल्लक्षणत्वायोगात् । अथ सती, किं स्वत , परतो वा ? यदि स्वत , अर्थेन किमपराद्ध येनार्थस्य सत्त्व नेष्यते ? अथ परत , तदा अनवस्था' इति ।

त 'सह' इत्यादिना नित्यवादिना समान व्यवस्थाप्य 'यस्मिन्' इत्यादिना

विवृतिविवरणम्— कारिकार्थं प्रकटयति—सह युगपत क्रमेण वा परिपाट्या वा अर्थक्रिया अक्षणिकस्य नित्यस्य सम्बन्धिनी या ता निराचिकीर्षुः सौगत कथञ्चित् यौगपद्यप्रकारेण क्रमप्रकारेण वा प्रत्यक्षानुमानप्रकारेण वा क्षणिकेऽर्थे अर्थक्रिया साधयेत्, अन्यथा तदसाधनप्रकारेण तल्लक्षणम् अर्थक्रियालक्षण सत्त्व ततः क्षणिकात् नित्यादिव व्यावर्त्तेत । साध्यत एव तत्र सा इति चेत्, अत्राह—'नच' इत्यादि । नच नैव भावाना कार्यकारणभाव' सिद्ध्येत् । कथम्भूतानाम् ? क्षणिकानाम् । पुनरपि कथम्भूतानाम् ? अनिश्चयात्मनाम् न विद्यते निश्चयो निर्णयो यस्य स तथाविध आत्मा स्वभावो येषाम् । तद्‌ग्रह कथम्भूत इत्याह—'प्रत्यक्ष' इत्यादि । प्रत्यक्षानुपलम्भौ साधन यस्य, प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनत्वादेव च अनिश्चयात्मना तेषा तद्ग्रहो न युक्त । अत्र परप्रसिद्ध निदर्शनमाह—'विप्रकृष्ट' इत्यादि । पूर्वोत्तरकोटिविच्छिन्नादर्थाद् अन्य त्रिकालानुयायी अर्थ तदन्तरम् तस्य च ग्रहणोपायाभावाद् विप्रकृष्टत्वम्, विप्रकृष्टञ्च तद् अर्थान्तरञ्च तस्येव तद्वत् । एतदुक्त भवति—यथैतस्य कालत्रयानुयायिन कुतश्चित्प्रतिपत्तुमशक्ते न तत्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन कार्यकारणभाव सिद्ध्यति तथा प्रतिपरमाणुनियतेन ज्ञानेन क्षणिकभावानामप्रतिपत्ते न तत्साधनस्तद्‌ग्रह सिद्ध्येत् ।

(१) कार्योत्पत्तिकालेऽपि कारणसद्भावे तस्य द्विक्षणावस्थायित्व स्यादिति भाव । (२) यौग । तुलना—"अर्थक्रियाकारित्वेन सताम्युपगमे समानमेतत् दूषणम्—किं सतामर्थक्रियाकारित्वमुतासतामिति ? सतामर्थक्रियाकारित्वे सत्ताम्युपगमे तथा दुरुत्तरमितरेतराश्रयत्वम । तथा हि अर्थक्रियाजनकत्वे सत्त्वम सतश्चार्थक्रियाजनकत्वमित्यन्यतराप्रसिद्धावितराप्रसिद्धि । अथ अर्थक्रियामन्तरेण सतोऽर्थक्रियाजनकत्वम तत्राप्यय विकल्प इत्यनवस्था । असत एवार्थक्रियाजनकत्वे खरविषाणादिषु तथाभाव स्यात । अर्थक्रियायाश्चार्थक्रियान्तरेण सत्त्वेऽनवस्था । अथ स्वरूपेणेति चेत पदार्थेषु तथाभावप्रसङ्ग ।"—प्रश० व्यो० पृ० १२७ । प्रश० क० पृ० १२ । (३) असद्भूताया । (४) अर्थक्रियाया । (५) अर्थलक्षणत्वविरोधात् । (६) अर्थस्य । (७) प्रकृतार्थक्रियाया सत्त्वव्यवस्थापिका अपराऽर्थक्रिया तस्या अप्यपरा इत्यनवस्था । (८) क्षणिकेऽर्थे । (९) अर्थक्रिया । (१०) कार्यकारणभाव । (११) क्षणिकार्थानाम् । (१२) कार्यकारणभाव । (१३) त्रिकालानुयायिनोऽर्थस्य । (१४) नित्यऽर्थे । (१५) प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन । (१६) कार्यकारणभाव ।

1—यौगैक्ष—ब० श्र० । 2 अनवस्थितिरिति श्र० । 3 व्यावर्त्तते श्र० । 4 इत्यादि आ० । 5—कार्यभाव श्र० ।

साम्प्रतं तेषां तत्साधनं तद्भावमभ्युपगम्य तत्र दूषणमाह–'**यस्मिन्**' इत्यादि। **यस्मिन्** वस्तुनि **सत्येव** विद्यमान एव **यद्भावो** यस्य वस्तुनः भाव आत्मलाभः **तद्वस्तु तस्य पूर्वस्य कार्यम्**। '**यस्मिन् सत्येव**' इत्यनेन यन्निर्दिष्टं तद्, **इतरत् कारणम् इति** एवं लक्षणं कार्यकारणयोः **क्षणभङ्गे न सम्भवत्येव**। कुत एतत्? इत्याह– '**कार्ये**' इत्यादि। अत्रायमभिप्रायः–कारणसत्ताकाल एव कार्यस्य भावे '**यस्मिन् सत्येव**' इति घटते, परन्तु कार्यकारणयोः सहभावापत्तेः सन्तानोच्छेदः स्यादिति। ननु स्यादयं दोषः यदि यदैव कारणमुत्पद्यते तदैव स्वकार्यं कुर्यात्, यावता पूर्वमुत्पद्य पुनः कार्यकाले सत् कार्यमुत्पादयति, इत्यत्राह– '**अन्यथा**' इत्यादि। उक्तप्रकारादन्येन प्रकारेण **क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गात्**। क्षणभङ्गे कार्यकारणयोः '**लक्षणं न सम्भवत्येव**' इति सम्बन्धः।

ननु '**यस्मिन्**' इति सप्तमी कारणभावे कार्यभावं सूचयति, स च पूर्वमेव स्वसत्ताक्षणे कारणे सति उत्तरक्षणे कार्यभावो न निरुध्यते, यथा गोषु दुह्यमानासु गतः दुग्धासु आगत इति। समसमयभावित्वे चानयोः कार्यकारणभावविरोधात् सव्येतर-गोविषाणवत् इत्याशङ्कापनोदार्थमाह–

कार्योत्पत्तिर्विरुद्धा चेत् स्वयं कारणसत्तया।
युज्येत क्षणिकेऽर्थेऽर्थक्रियाऽसम्भवसाधनम्॥ ३६॥

विवृतिः–नहि कार्योत्पत्तिः कारणस्याभावं प्रतीक्षते यतः तदर्थक्रिया अक्षणिके निरुध्यते। निष्कारणस्य अन्यानपेक्षया देशकालस्वभावनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वथैव भावानुषङ्गात्। तदयं भावाऽभावयोः कार्यकारणतां लक्षयेत् सर्वथा भावस्यैव वा। स्वलक्षणस्य क्वचित् प्रत्यक्षानुपलम्भासिद्धेः कुतः कार्यव्यतिरेकोपलक्षणं कारणशक्तेः?

(१) क्षणिकानाम्। (२) प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनम्। (३) कार्यकारणभावम्। (४) तुलना–क्षणस्थायि कारणं स्वसत्तायां कार्यं कुर्वदभ्युपगच्छन् क्रमोत्पत्तिमपरुणद्धि सकलजगदेकक्षणवर्तित्वप्रसङ्गात्–अष्टश०अष्टसह०पृ०९१। सत्येव कारणे यदि कार्यं तदा त्रिभुवनमेकक्षणवर्ति स्यात् कारणक्षणकाल एव सर्वस्य उत्तरोत्तरक्षणसन्तानस्य भावात् ततः सन्तानाभावात्'–अष्टश०अष्टसह०पृ०१८७। (५) न हि गोदोहनकाले गमनकालश्चैव सम्भवति। (६) कारणकार्ययोः। (७) चेत् यदि विरुद्धा विप्रतिषिद्धा स्यात् का? कार्योत्पत्तिः कार्यस्यात्मपरिणामस्योत्पत्तिः स्वरूपलाभः। कया? स्वयं कारणसत्तया स्वयं कारणं विवक्षितकार्यजनकं द्रव्यस्वरूपमुपादानं तस्य सत्तया सद्भावेन। तर्हि युज्येत, युक्तं स्यात्। किम्? अर्थक्रियासम्भवसाधनम् अर्थस्य अभिमतप्रयोजनस्य क्रिया निष्पत्तिः तदसम्भवसाधनं नित्यं क्रमयौगपद्यविरहादित्यनुमानम्। क्व? अर्थे। किंविशिष्टे? क्षणिके निरन्वयक्षणनश्वरे। स्वमनीषिकावचनम्। न च सा विरुद्धा कार्यकाले सत एव कारणत्वात् अन्यथा कार्यस्य आकस्मिकत्वप्रसङ्गात्–लघी० ता० पृ० ५६। तुलना–'कार्योत्पत्तिर्विरुध्येत न च कारणसत्तया। यस्मिन् सत्येव यद्भावः तत्तस्य कार्यमितरत्कारणमिति क्षणिकत्वे न सम्भवत्येव सहोत्पत्तिप्रसङ्गात् कुतः सन्तानवृत्तिः।'–सिद्धिवि० पृ० १६० ३२६।

1 सद्भावः आ०। 2 इत्येवंलक्षणं आ०। 3 सम्भवत्येव ब०। 4 –मलक्षण– श्र०। 5 –त्यत्रेति आ०। 6 स्वतो सत्ता–श्र०। 7 –क्षणकाय–आ०। 8 कार्यस्योत्प–ई० वि०। 9 कारणसिद्ध ई० वि०।

कार्यस्य उत्पत्तिः आत्मलाभः **विरुद्धा चेत्** यदि **स्वयम्** आत्मना, कया ? **कारणसत्तया** । एतदुक्तं भवति–यदि कारणसत्तया

कारिकाव्याख्यानम्–

कार्योत्पत्तिर्निरुध्यते तदा युक्तमेतत् पूर्वमेव तदभावे तद्भाव इति । तत्र चेन्न दूषणमाह–'**युज्येत**' इत्यादि । **युज्येत** उपपद्येत **अर्थक्रियाऽसंभवसाधनम्** । क्व ? **अर्थे** । कथम्भूते ? **क्षणिके** 'विनष्टे कारणे तदसंभवात्' इति मन्यते । यदि वा, तया **तदुत्पत्तिर्विरुद्धा** यदि तदा **युज्येत अर्थे** क्षणिके **अर्थक्रियाऽसंभवसाधनम्**, न च तया सा विरुद्धेति प्रतिपादयिष्यते ।

व्यतिरेकमुखेन कारिकां विवृण्वन्नाह–'**नहि**' इत्यादि । हिर्यस्मात् **न कार्यस्य उत्पत्तिः कारणस्य अभावं प्रतीक्षते** यावत् कारणं निर्मूलं नश्यति

विवृतिव्याख्यानम्–

तावत् स्वयं नोपपद्यते इति । यतः तदपेक्षणात् तदर्थक्रिया क्रमयौगपद्यार्थक्रिया अक्षणिकत्वे अपि निरुध्येत । 'यतः' इति च आक्षेपे, नैव निरुध्यते । कुत एतदित्याह–'**निष्कारणस्य**' इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यम्–विनष्टे कारणे यदा कार्यं जायते तदा तन्निष्कारणं भवति, तस्य च अन्यस्य देशादे अनपेक्षा अपेक्षाऽभावः तया **देशकालस्वभावनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वथैव भावानुषङ्गात्** कारणात् 'नहि तदभावं सा प्रतीक्षते' इति सम्बन्धः । तथा तस्यास्तदपेक्षणे दूषणान्तरमाह–'**तदयम्**' इत्यादि । तत् तस्मात् तदपेक्षणात् अयं सौगतः कार्यस्य यो भावः आत्मलाभः यश्च कारणस्य अभावः तयोः यथासंख्येन **कार्यकारणतां लक्षयेत्** । यद्धि कार्यम् आत्मलाभे अपेक्षते तत् कारणम्, अपेक्ष्यते च तेन तल्लाभे तदभावः इति मन्यते ।

इदमपरं व्याख्यानम्–यदा कारणात् कार्यं किन्तु कारणात् तदभावः ततश्च कार्यं तत्राह–'तत्' इत्यादि । तत् तस्मान्न्यायात् अयं भावाभावयोः कारणतन्निवृत्त्योः कार्यकारणतां भावस्य कारणताम् अभावस्य कार्यतां लक्षयेत् । कार्यशब्दस्य परप्रयोगप्रसङ्गेऽपि अल्पाच्तरत्वात् पूर्वनिपातः । अथ मतम्–न अभावः प्रख्योपाख्याविहीनत्वात् कस्यचित् कारणं कार्यं च, इत्यत्राह–**सर्वथा भावस्यैव** वा सतः किं वा

(१) कारणसद्भावे । (२) कार्यसम्भवः । (३) अर्थक्रियाऽसम्भवात् । (४) कार्योत्पत्तिविरुद्धे उपादानकारणसत्तया । (५) कार्योत्पत्तिः । (६) कारणाभावापेक्षणे । (७) कर्म । (८) कर्तृ । (९) कार्येण । (१०) आत्मलाभे । (११) कारणाभावः । (१२) कार्येण आत्मलाभे अपेक्ष्यमाणत्वात् कारणाभाव एव कारणं स्यादिति भावः । (१३) कारणाभावः (१४) "अल्पाच्तरम्"–जैनेन्द्रव्या० १।३।१००।– द्वन्द्वे अ (समासे) अल्पाच्तरमेवं पूर्वं प्रयुज्यते । –शाकटायन० १।३।११४। (१५) प्रख्यायते इति प्रख्या विकल्पः उपाख्यायते इति उपाख्या श्रुतिः ताभ्यां विकल्पशब्दाभ्यां रहितत्वात् ।

1–सत्तायां श्र० । 2–निरुध्यते आ० । 3–कार्ये विरुद्धयते आ० । 4 अपदेशादे ब० श्र० । 5 यदि का–श्र० । 6 अल्पाच्तरत्वात् आ०, अल्पस्वरत्वात् ब० । 7 तत्र भाव–आ० ।

२८

'कार्यकारणतां लक्षयेत्' इति सम्बन्धः । कारणवत् कार्यस्याप्यसत्त्वाऽसम्भवात् अतः सांख्यमतप्रसङ्गः सौगतस्य इत्यभिप्रायः । ननु मा भूत् क्षणिके प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः, कार्यव्यतिरेकसाधनस्तु इन्द्रियशक्तिवत्स्यात्, इत्यत्राह[2]-'स्वलक्षणस्य' इत्यादि । स्वलक्षणस्य परपरिकल्पितपरमाणुलक्षणस्य क्वचिद् अन्तर्बहिर्वा प्रत्यक्षानुपलम्भासिद्धेः, प्रत्यक्षपूर्वकोऽनुपलम्भः प्रत्यक्षानुपलम्भः तस्य असिद्धेः कारणात्, कुतः कार्यस्य व्यतिरेकेणोपलक्षणं[3] कारणशक्तेः ? न कुतश्चित् । एतदुक्तं भवति-यदा तस्यैव तद्रूपं कार्यं पुनः क्वचित् प्रत्यक्षं सत् पुनः इतरकारणसद्भावेऽपि नोपलभ्यते तदा युक्तं तेनोपलक्षणं तच्छक्तेः, न चैवमस्तीति ।

ननु यदुक्तम्[4]-'बहिरिव ज्ञानपरमाणुसञ्चय' इत्यादि, 'नहि कार्योत्पत्ति' इत्यादि च, तदयुक्तम्, यथाप्रतिभासं चित्रैकज्ञानोपगमात् । 'चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः' [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० ३९५ ।] इत्यादिवचनात् । तथा कार्यस्य देशवत् कालेऽपि असत एव कारणादेः अभ्युपगमात् कथं यथा जाग्रद्विज्ञानात् प्रबोधः[5] भाविमरणादेर्वा अरिष्टादिकम् इत्याशङ्क्य आह-

यथैकं[6] भिन्नदेशार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा सकृत् ।
तथैकं भिन्नकालार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा क्रमात् ॥३७॥

---

(१) कार्यव्यतिरेकेण कारणव्यतिरेको ज्ञायते, क्षणिके च न कार्यव्यतिरेकः अतः क्षणिकेऽर्थे कार्यकारणभावः साधनीयः यथा हि-रूपज्ञानोत्पत्त्यभावेन रूपज्ञानजननशक्त्यभावः व्याप्तः चक्षुषि अविकले सति न रूपज्ञानोत्पत्त्यभावः अतस्तत्र रूपज्ञानजननशक्तिः व्यवस्थाप्यते । नहि चक्षुषि रूपज्ञानजननशक्तिव्यवस्थापनं प्रत्यक्षानुपलम्भौ प्रभवतः, शक्तेरतीन्द्रियत्वात् प्रत्यक्षानुपलम्भाऽगोचरत्वात् । तथैव क्षणिकेऽर्थे प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावो मा भूत् कार्यव्यतिरेकेणानुमीयमानस्तु सिद्ध्यत्येव इत्यभिप्रायः । (२) क्षणिकस्य । (३) कार्यव्यतिरेकेण । (४) अनुमानम् । (५) कार्योत्पादनशक्तेः । (६) प्रज्ञाकरगुप्तः । (७) पृ० ६१३ ६१६ । (८) चित्रप्रतिभासापि बुद्धिरेकैव बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् । शक्यविवेचनं चित्रमनेकम् अशक्यविवेचनाश्च बुद्धिनीलादयः । -प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३९५ । उद्धृतमिदम्-प्रमेयक० पृ० ९५ । न्यायकुमु० पृ० १३० । सन्मति० टी० पृ० २४१ । न्यायवि० वि० पृ० १०१ A । प्रज्ञाकरगुप्तेनाप्युक्तम्-चित्रप्रतिभासा -सिद्धिवि० टी० पृ० ५५ A । (९) यथाहि कार्यस्य देशेऽविद्यमानमपि कारणं कार्योत्पादकम् तथा कार्यकालेऽविद्यमानमपि कार्योत्पादकं भवतु । (१०) यदि कार्यकालेऽविद्यमानादपि कारणात् कार्योत्पत्तिः न स्वीक्रियते तदा । (११) प्रज्ञाकरगुप्तो हि प्रमाणवार्तिकालङ्कारकारः स च भाविनं भूतञ्चार्थं कारणमाचष्टे, तथाहि-

अविद्यमानस्य करणमिति कोऽर्थः ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता । तदेतदानन्तर्यमुभयापेक्षयापि समानम् । यथैव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयापि । न चानन्तर्यमेव निबन्धनम् व्यवहितस्यापि कारणत्वात् । गाढसुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात् । जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम् ॥ तस्मादन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं निबन्धनम् । कार्यकारणभावस्य तद् भाविन्यपि विद्यते ॥ मृत्युर्न भविष्यन् भवेन्नैवम्भूतमरिष्टमिति । -प्रमाणवार्तिकाल० पृ० १७६ । (१२) यथा येनाविरोधः

1-घनवस्तु श्र० । 2-त्राह स्वलक्षणस्य पर-आ० । 3-रेकेणोप-आ० । 4 तदुक्तम आ० । 5 प्रबोधोदयो भा-ब० । 6 तथैव आ० ।

विवृतिः–यथा क्षणिकं स्वलक्षणं नानादिग्देशभावीनि कार्याणि स्थानसङ्करव्यतिकरव्यतिरेकेण करोति तत्करणैकस्वभावत्वात्। नहि सामग्रीभेदात् कार्यभेदेपि तत्कारणस्वभावभेदः, तथैकमक्षणिकं यद्यदा उत्पित्सु कार्यं तत्तदैव करोति तत्करणैकस्वभावत्वात्। सर्वदा कार्यकालानतिक्रमेण करणसामर्थ्यात् तदात्मकमेकमेव इत्यविरुद्धम्। यथा विज्ञानं स्वनिर्भासभेदान् गुणी गुणान् अवयवी अवयवान् व्याप्नोति सकृदपि तदात्मकत्वात्, तथैव द्रव्यं स्वपर्यायभेदान् स्वयमभेदकत्वात्तेषां स्वभावानामिति। एवम्–

यथा येन योग्यताप्रकारेण एकं निरंशं क्षणिकं वस्तु **भिन्नो देशो येषामर्थानाम्,** देशग्रहणमुपलक्षणं तेन प्रज्ञाकरगुप्तापेक्षया भिन्नकालग्रहणम्, तान् **कुर्यात् सकृद्** एकदैव। तथाहि–प्रदीपक्षणः प्रमातरि स्वज्ञानं स्थोल्या तैलशोषं वर्तीननदाहञ्च उपरि कज्जलम् इत्यादि भिन्नदेशं सकृदेवाऽनेकं कार्यं कुर्याद् एवमन्यदपि चिन्त्यम्। तथा यदैव जाग्रद्विज्ञानं स्वापानन्तरं व्यापारादिकार्यं कुर्यात् तदैव कालान्तरभाविस्वकालनियतं प्रबोधम्, यदेव च भाविराज्यादिकं स्वकालनियतं दर्शनं कुर्यात् तदैव चिरातीतकालं हस्तरेखादिकम्, **तथैकं** नित्यं **भिन्नकालार्थान्।** कुतः? **क्रमात्,** क्रममाश्रित्य। एकदैकं कृत्वा पुनरन्यं कुर्यात् तत्कालेऽपि तेद्भावात्। तथा चेदमयुक्तम्–"नाऽक्रमात् क्रमिणो भावा"

कारिकाव्याख्यानम्–

प्रकरणैक सौगताभिमतं क्षणिकस्वलक्षणं सकृदेकक्षणं भिन्नदेशार्थान् भिन्नो विप्रकृष्टो देशो येषां ते भिन्नदेशाः ते च तेऽर्थाश्च कार्याणि तान्, स्वसन्तानवर्तिनमुपादानत्वेन सन्तानान्तरवर्तिनञ्च निमित्तत्वेन जनयतीत्यर्थः। यथा वा एकं ज्ञानं भिन्नदेशार्थान् विप्रकृष्टनीलाद्याकारान् व्याप्नोति न विरुध्यते तथा एकमभिन्नद्रव्यं क्रमात् कालभेदेन भिन्नकालार्थान् भिन्नः पूर्वापरभूतः कालो येषां ते च तेऽर्थाश्च कार्याणि तान् कुर्यात्, पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिरूपेण परिणमत इत्यर्थः। तानेव व्याप्नोति वा तादात्म्यमनुभवति वा, न विरुध्यते। –लघी० ता० पृ० ५६। 'तथवोक्तं भट्टाकलङ्कदेवैः– यथैकं भिन्नदेशा ।"–सत्यशासनप० प० १५ B।

(१) सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः सङ्करः। (२) परस्परविषयगमनं व्यतिकरः। (३) प्रदीपविषयकं ज्ञानम्। (४) तैलपात्रे। (५) दशा वर्तिका तस्या आननं मुखम् अग्रभागः तस्य दाहम्। (६) न हि स्वापानन्तरभाविव्यापारादीनां प्रबोधस्य च जाग्रद्विज्ञानं विभिन्नकालवर्ति सत् समुत्पादकं घटते तस्य एकक्षणमात्रवृत्तित्वादित्याशयेनाह–यदेवेति। (७) स्वाविषयकं दर्शनं प्रत्यक्षम्। (८) अन्यपदार्थोत्पादकालेऽपि। (९) नित्यस्य सद्भावात्। (१०) "नाक्रमात्क्रमिणो भावो नाप्यपेक्षाऽविशेषिणः। क्रमाद् भवन्ती धीः कायात् क्रमं तस्यापि शंसति॥ नाऽक्रमात् क्रमिणः कायस्य भावः, क्रमरहितत्वात् कारणस्य तन्निष्पाद्यानि कार्याणि सकृज्जायेरन्। क्रमवतः सहकारिणोऽपेक्ष्य क्रमाज्जनयतीति चेत्, नाप्यविशेषिणः स्थिरैकरूपस्य परैरनाधेयविशेषस्य परेषां सहकारिणामपेक्षाऽस्ति। तस्मात् क्रमाद् भवन्ती धीः कायात् क्रमं तस्यापि कायस्य शंसति। –प्रमाणवा० मनोरथ० १।४५। उद्धृतोऽयम्–"नाक्रमात् क्रमिणो भावाः धीश्चेयं क्रमं –सिद्धिवि० टी० पृ० १६१ A, १९७A। धीर्ज्ञायते '–सन्मति० टी० पृ० ३३६। प्रथमपाठः–प्रमेयक० पृ० ३२५।

1 कारण–ज०वि०। 2–स्वात् स्वभा–ज०वि०। 3 पूर्व आ०। 4–यथा श्र०। 5नियतदर्शनं श्र०।

[प्रमाणवा० १।४५] इत्यादि । **यथा चैकं** ज्ञानं क्षणिकं **भिन्नदेशार्थान्** नानादेशनीलाद्याकारान् **व्याप्नोति** तदात्मकं भवति । **वा**शब्दः पक्षान्तरसूचकः, **सकृद्** एकदा तथा एकमात्मतत्त्वं **भिन्नकालार्थान्** सुखादीन् **व्याप्नोति चाक्रमात् ।**

विवृतिविवरणम्– कारिकां विवृण्वन्नाह–'यथा' इत्यादि । **यथा** येन प्रकारेण **स्वलक्षणम्,** कथम्भूतम् ? **क्षणिकम् करोति कार्याणि** । कथम्भूतानि ? **नानादिग्देशभावीनि,** दिग्ग्रहणमुपलक्षणं तेन नानाकालभावीन्यपि गृह्यन्ते । कथं करोति ? **स्थानसङ्करव्यतिकरव्यतिरेकेण** । कुत एतदित्याह–**तत्करणैकस्वभावत्वात्** । तदेव समर्थयते 'नहि' इत्यादिना । **हि**र्यस्मात् **न सामग्रीभेदात् कार्यभेदेऽपि कारणस्वभावभेदः,** तथा एकमक्षणिकं कारणं **यद् यदा उत्पित्सु कार्यं तत् तदैव करोति** । कुत एतदित्याह–**तत्करणैकस्वभावत्वात्** । ननु क्रमभावीन्यनेककार्याणि कुर्वत् कथं तदेकम् तावद्धा भेदप्रसङ्गात् ? इति चेदत्राह–'**सर्वदा**' इत्यादि । **सर्वदा** सर्वकालं **कार्यकालानतिक्रमेण करणसामर्थ्यात्** कारणात् **तदात्मकं** तत्करणसामर्थ्यात्मकम् **एकमेवेत्यनिरुद्धम्** । अस्यैव समर्थनार्थमाह–'यथा' इत्यादि । **यथा सौगतस्य विज्ञानं स्वनिर्भासभेदान्** आत्मनीलाद्याकारविशेषान्, नैयायिकस्य **गुणी गुणान्, अवयवी अवयवान् व्याप्नोति** कथञ्चित्तदात्मको भवति । कथं ? **सकृदपि,** न केवलमसकृत् । ननु ज्ञानतन्निर्भासयोः गुणगुणिनोः अवयवावयविनोश्च अत्यन्तभेदान्न युक्तमेतदित्यत्राह–**तदात्मकत्वात्,** ज्ञानादेः स्वनिर्भासभेदगुणावयवात्मकत्वात् । अन्यथा घटपटवत् तज्ज्ञानवच्च गुणगुण्यादिभावः चित्रज्ञानरूपता च न स्यादित्युक्तं निरस्तं प्राक् । **तथैव द्रव्यं** जीवादि **स्वपर्यायभेदान् व्याप्नोति** । स्वग्रहणात्–

'सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ।

चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥' [प्रमाणवा० ३।१८१]

---

(१) प्रतिनियतदेशत्वमेव । (२) चित्रज्ञानम् । (३) आत्मत्वेन गुणी अवयवी च ग्राह्यौ । (४) घटपटज्ञानवत् । (५) व्याख्या– सर्वस्योभयरूपत्वम्–उभयग्रहणमनेकस्योपलक्षणार्थम् तस्मिन् सति तद्विशेषस्य उष्ट्र उष्ट्र एव न दधि दधि दध्येव नोष्ट्र इत्येवं लक्षणस्य निराकृते, दधि खाद इति चोदितः पुरुषः किमुष्ट्रं खादितुं नाभिधावति ? उष्ट्रोऽपि ह्यभिमतः द्रव्यत्वाद्यव्यतिरेकात् स्याद्दधि नापि स एवैकः उष्ट्र उष्ट्र एव इत्येकान्तवादः यतो नायोऽपि दध्यादिक (त) स्यादुष्ट्रः । तथा दध्यपि स्यादुष्ट्रः उष्ट्राभिमत द्रव्यत्वेन दध्नस्तादात्म्यनाभिसम्बन्धात् । नापि तन्नैवेति दध्येव दधि यतोऽन्यदपि उष्ट्रादिक (त) स्याद्दधि । एतेन सर्वस्योभयरूपत्वं व्याख्यातम् । –प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।१८३ । मनोरथ० ३।१८३ । उद्धृतोऽयम्–अनेकान्तजय० पृ० १८ । चोदितो –अनेका० प्र० प० ७ । अष्टसह० पृ० ९२ । सन्मति० टी० पृ० २४२ । न्यायवि० वि० पृ० ९२ A । निराकृतेः । प्ररितो दधि –स्या० र० प० ८३७ ।

1 ज्ञानक्षणिक आ० । 2 सङ्करव्यतिरेकेण श्र० । 3 तावद्धा आ० । 4 कार्यकार–आ० । 5–त्मकमेवेत्य–आ०, ब० ।

इत्येतन्निरस्तम्, दध्यादेः उष्ट्रादिस्वरूपभूतपर्यायत्वासंभवात् । कुतस्तत् तान् व्याप्नोतीति चेदाह–'स्वयम्' इत्यादि । स्वयं स्वरूपेण अभेदकत्वात्तेषाम् । इतिशब्दः द्रव्यसिद्धिप्रघट्टकपरिसमाप्तौ । तदेवं सिद्धे परापरद्रव्ये परापरसंग्रहः प्रवर्तते । तत्र परसंग्रहं प्रदर्शयितुमाह–

संग्रहः सर्वभेदैक्यमभिप्रैति सदात्मना ।
ब्रह्मवादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृतेः ॥३८॥

विवृतिः–नहि कश्चिदसदात्मा भेदोऽस्ति विरोधात् । यद् यदात्मकं तत् तदेव, यथा स्वनिर्भासभेदात्मकं ज्ञानम्, तस्मात् सदात्मनो भेदाः सन्मात्रमेव नान्यदिति संग्रहः । तत्प्राधान्यात् न तु भेदप्रतिक्षेपात् । स्वपर्यायभेदानपेक्षया तत्प्रतिरूपकस्तु ब्रह्मवादवत् । 1

संग्रहः संग्रहनयः **सर्वेषां भेदानां** जीवादिविशेषाणाम् **ऐक्यमभिप्रैति**

कारिकाव्याख्यानम्– केन रूपेण ? इत्याह–**सदात्मना** । ब्रह्मवादेऽपि सदात्मना तेषां संग्रहः संभवति इति सोऽपि संग्रहनयः स्यादित्याशंकापनोदार्थमाह–

ब्रह्मवादस्तदाभासः इति । कुत एतत् ? इत्याह–'**स्वार्थ**' इत्यादि । **स्वार्थः** सन्मात्रं तस्य **भेदो** जीवादिः तस्य **निराकृतेः** असौ तदाभासः संग्रहाभासः, 1
तन्निराकृतौ सन्मात्रस्यापि निराकृतिसिद्धेः । न खलु निराश्रयं सामान्यं नाम अश्वविषाणादेरपि तत्त्वप्रसङ्गात् ।

व्यतिरेकद्वारेण कारिकां विवृण्वन्नाह–'नहि' इत्यादि । हिर्यस्मात् न कश्चित्

विवृतिविवरणम्– चेतन इतरो वा भेदो विशेषः असदात्मा अस्ति, कुत एतत् इत्याह–**विरोधात्** । असदात्मनोऽस्तित्वविरोधश्च प्रागेव समर्थितः । ननु- 2

(१) तुलना–"सुगतोऽपि मृगो जातः मृगोऽपि सुगतः स्मृतः । तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते ॥ तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः । चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ॥ –न्यायवि० का० ३७३–७४ । अनेकान्तजय० पृ० २८१ । "न ह्यस्माभिर्दध्युष्ट्रयोरेकं नियतसामान्यं वस्तुत्वादिकं व्यक्त्यभेदेन व्यवस्थितं तथाभूतप्रतिभासाभावादभ्युपगम्यते । यादृग्भूतं तु प्रतिव्यक्ति भिन्नं 'समानाः' इति प्रत्ययविषयभूतमभ्युपगम्यते तथाभूतस्य तस्य शब्देनाभिधाने किमित्यन्यत्र प्रतिपत्ता खादनाय धावेत यद्युन्मत्तो न स्यात् । –सन्मति० टी० पृ० २४२ । (२) पर्यायाणाम् । (३) तुलना–'निराकृतविशेषस्तु सत्ताद्वैतपरायणः । तदाभासः समाख्यातः सद्भिर्दृष्टेष्टबाधनात् ॥' –तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७० A । नयविव० श्लो० ६८ । प्रमेयक० पृ० ६७७ । न्यायावता० टी० पृ० ८५ । प्रमाणनय० ७।१५, २१ । जैनतर्कभा० पृ० २४ । (४) स्वस्य सत्ताख्यस्य अर्थो विषयः सन्मात्रं तस्य भेदा जीवादिविशेषाः तेषां निराकृते प्रतिपादनात् । न खलु सर्वथा सत्त्वे भेदानामवकाशोऽस्ति । भेदरहितं च तत्त्वं सामान्यं नाम निराश्रयत्वात् अर्थक्रियाविरहाच्च ।' –लघी० ता० पृ० ५८ । (५) सत्त्वप्राधान्यात् । (६) संग्रहाभासत्वम् । (७) सामान्यत्वप्रसङ्गात् ।

1 तस्मात्सदात्मनो इ० वि० ।

भवत्वेतम्, तथापि भेदेभ्यो भिन्नं सत्त्वम् इत्यत्राह–यद् यदेत्यादि। यद् द्रव्यादि यदात्मकं यत् सत्त्वमात्मा यस्य तद् यदात्मकम् तद् द्रव्यादि तदेव भवति सद्रूपमेव भवति, यथा स्वनिर्भासभेदात्मकं संशयेतरविपर्यासेतरविशेषात्मकं ज्ञानं संशयादिरूपमेव भवति। यत एवं तस्मात् सदात्मनो भेदाः सन्मात्रमेव नान्यत् भावाद्भिन्नं प्रागभावादि इति एवं संग्रहः। कुतः स इत्याह–तत्प्राधान्यात्, सन्मात्रप्राधान्यात् ननु न पुनः भेदप्रतिक्षेपात्। कुत एतदित्याह–स्वपर्यायभेदानपेक्षया, यतः तत्प्रतिरूपकं च संग्रहाभासत्वम्। किंवदित्याह–ब्रह्मवादवत् इति।

अधुना नैगमतदाभासप्ररूपणार्थमाह–

अन्योन्यगुणभूतैकभेदाभेदप्ररूपणात्।
नैगमोऽर्थान्तरत्वोक्तौ नैगमाभास इष्यते ॥३९॥

विवृतिः–स्वलक्षणभेदाभेदयोः अन्यतरस्य प्ररूपणायाम् इतरो गुणः स्यात् इति नैगमः। यथा जीवस्वरूपनिरूपणायां गुणाः सुखदुःखादयः, तत्प्ररूपणायां

(१) इष्यते मन्यते स्याद्वादिभिः। कः ? नैगमः निगमो मुख्यगौणकल्पना, तत्र भवो नैगम इति। कुतः ? अन्योन्येत्यादि। गुणभावम् अप्रधानभूतः एकश्च प्रधानभूतः, अन्योन्यं परस्परं गुणभूतश्चैकश्च तौ च तौ भेदाभेदौ च तयोः प्ररूपणात् ग्रहणात्। तथाहि गुणगुणिनामवयवावयविनां क्रियाकारकाणां जातितद्वतां च कयाचिद् भेदं गुणीकृत्य अभेदं प्ररूपयति अभेदं वा गुणीकृत्य भेदं प्ररूपयति। नैगमनयस्यैवंविधत्वात् प्रमाणं तु भेदाभेदयोरनेकान्तग्रहणात्। ननु गुणगुण्यादीनामत्यन्तभेद एवेति चेदत्राह–अर्थेत्यादि। अर्थान्तरत्वं गुणगुण्यादीनामत्यन्तभेदः। तस्योक्तौ प्ररूपणायां नैगमाभास इष्यते तस्य प्रमाणबाधितत्वात्।'–लघी० ता० पृ० ५७। तुलना– णेगेहिं माणेहिं मिणइत्ति णेगमस्स य निरुत्ती। सेसाणंपि नयाणं लक्खणमिणमो सुणह वोच्छं॥ –अनुयोगद्वार० ४ द्वा०। आव० नि० गा० ७७५। विशेषा० गा० २६८२। निगमेषु येऽभिहिताः शब्दास्तेषामर्थः शब्दार्थपरिज्ञानं च देशसमग्रग्राही नैगमः। 'आह च–नैगमशब्दार्थानामेकानेकार्थनयगमापेक्षः। देशसमग्रग्राही व्यवहारी नैगमो ज्ञेयः। –तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५। तत्त्वार्थहरि०, त० सिद्ध० १।३५। अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। –सर्वार्थसि० १।३३। राजवा० १।३३। यदस्ति न तद् द्वयमतिलङ्घ्य वर्तते इति नैकगमो नैगमः संग्रहासंग्रहस्वरूपद्रव्यार्थिको नैगमः इति यावत्। –धवलाटी० पृ० ८४। जयध० अ० पृ० २७। 'तत्र संकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः। यद्वा नैकगमो योऽत्र स सतां नैगमो मतः। धर्मयोः धर्मिणोर्वापि विवक्षा धर्मधर्मिणोः। प्रधानोपसर्जनभावेन नवविधो नैगमः। –तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६९। नयविव० ३३-३७। प्रमेयक० पृ० ६७६। सन्मति० टी० पृ० ३१०। नयचक्र गा० ३३। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। 'नैकमानैः महासत्तासामान्यविशेषविशेषविज्ञानैः मिमीते मिनोति वा नैकमः। निगमेषु वा अर्थबोधेषु कुशलो भवो वा नैगमः। अथवा नैके गमाः पन्थानो यस्य स नैकगमः। –स्थानाङ्गसू० टी० पृ० ३७१। 'धर्मयोः धर्मिणोः धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः –प्रमाणनय० ७।७। स्या० र० पृ० ३११। जैनतर्कभा० पृ० २१। (२) तुलना– जं सामन्नविसेसे परोप्परं वत्थुओ य सो भिन्नो। मन्नइ अच्चन्तमओ मिच्छद्दिट्ठी कणादो व॥ –विशेषा० गा० २६९०। तयोरत्यन्तभेदोक्तिरन्योन्यं स्वाश्रयादपि। ज्ञेयो व्यञ्जनपर्यायनैगमाभो विशेषतः॥ –तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७०। नयविव० ६३। प्रमेयक० पृ० ६७७। न्यायावता० पृ० ८२। प्रमाणनय० ७।११। जैनतर्कभा० पृ० २४।

1–कं द्रव्या–आ०। 2 तवेयमेव ब०। 3 एव आ०। 4 सदात्मानो आ० ब०। 5–न्तरतोक्तौ ज० वि० –न्तरत्वोक्तो आ०।

च आत्मा । तदर्थान्तरताभिसन्धिः नैगमाभासः । कथम् ? गुणगुणिनाम् अवयवावयविनाम् क्रियाकारकाणां जातितद्वतां च मिथोऽर्थान्तरत्वे सर्वथा वृत्तिविरोधात् । एकमनेकत्र वर्त्तमानं प्रत्येकं सर्वात्मना यदि स्यात् तदा एकमित्येव न स्यात् । यदि पुनः एकदेशेन वर्त्तेत तदेकदेशेष्वपि तथा प्रसङ्गात् क्व किं वर्त्तेत ?

कारिकाव्याख्यानम्– नैगमः नैगमनय इष्यते । कुत इत्याह–'अन्योन्य' इत्यादि । प्रमाणतो हि द्रव्यपर्यायाणां कथञ्चिद्भेदे अभेदे च व्यवस्थिते सति अन्योन्यं परस्परं गुणभूतं अप्रधानभूतं भेदस्य अभेदः, तस्य च भेदः, एकः प्रधानभूतो भेदस्य अभेदः तस्य च भेदः तयोः प्ररूपणात् । अर्थान्तरत्वोक्तौ भेदाभेदयोः एकान्तेन नानात्वोक्तौ सत्यां नैगमाभास इष्यते ।

विवृतिविवरणम्– कारिकां विवृण्वन्नाह–'स्वलक्षण' इत्यादि । स्वलक्षणं पर्यायात्मकं द्रव्यं तदात्मकाः पर्यायाश्च, तस्य यौ भेदाभेदौ तयोर्मध्ये अन्यतरस्य भेदस्य अभेदस्य वा प्ररूपणायां क्रियमाणायाम् इतरः भेदप्ररूपणायाम् अभेदः तत्प्ररूपणायां वा भेदः गुणः स्यात् इति एवंविधो नैगमो नयः । अत्रार्थे सुस्पष्टप्रतीत्यर्थं 'यथा' इत्याद्युदाहरणमाह–यथा येन अनादिनिधनचैतन्यप्रकारेण जीवस्य यत् स्वरूपं गुणपर्यायव्यापकत्वं तस्य निरूपणायां क्रियमाणायां गुणाः अप्रधानभूताः, के ? सुखदुःखादयः । ननु 'सुखादयः' इत्येवास्तु किं दुःखग्रहणेन ? इति चेत्; न, अन्योन्यं जीवाद् भेदप्रतिपत्त्यर्थत्वात् तदुभयग्रहणस्य । तत्प्ररूपणायाञ्च सुखदुःखादिप्ररूपणायाञ्च आत्मा जीवस्वभावो 'गुण' इति सम्बन्धः । नन्वेवं व्याख्यानं कस्मान्न भवति–जीवस्वरूपस्य जीवसत्ताया निरूपणायां गुणाः सुखदुःखादयः, तेषां सत्तैव गुण इति, तत्प्ररूपणायाञ्च सुखादिसत्ताप्ररूपणायाञ्च आत्मा जीवो गुण इति चेत् ? सङ्ग्रहर्जुसूत्राभ्यामस्य भेदाभावप्रसङ्गादिति सूक्तम् ।

जीवसुखादीनामन्योन्यमत्यन्तभेदप्ररूपणायां तु तदाभासम् इत्याह–'तत्' इत्यादि । तेषां जीवसुखादीनां प्रक्रमाद् एकान्तेन अर्थान्तरताभिसन्धिः नैगमाभासः । 'कथम्'

(१) तुलना–'वर्तमानं कथमेकमनेकेषु वृत्तिविरोधात् । –युक्त्यनुशा० श्लो० ५५। 'एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद्बहूनि वा। भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते ॥'–आप्तमी० का० ६२ । अष्टश०, अष्टसह० पृ० २१४ । तस्य तेषु सर्वात्मनाऽन्यथा वा सम्बन्धो बाधकं प्रमाणम् । –वादन्यायटी० पृ० ३० । "यदा सर्वात्मना वृत्तावनेकत्वं प्रसज्यते । एकदेशेन वानिष्टा नैका वा न क्वचिच्च सा ॥" –तत्त्वसं० पृ० २०३ । 'सति सर्वेषु कार्येषु समवायेन वर्तते । अंशा अपि तु वर्तन्ते न न सुरस्य [illegible] ॥ सर्वात्मना चेद् सकल [illegible] ॥ –बोधिचर्याव० प० ४९५। (२) अभेदस्य । (३) अभेदस्य (४) अभेदप्रतिपादन । (५) अप्रधानभूत । (६) सुखदुःखादयः । (७) नैगमस्य । (८) सत्ताप्राधान्येन सङ्ग्रहाभासप्रसङ्गात्, सुखादिपर्यायप्राधान्ये तु ऋजुसूत्राभासप्रसङ्गात् इति ।

1–प्रत्ययपर्यायि–ई० वि० । 2–भवा भेदाय आ० । 3–भावाभिसन्धि आ० । 4 जीवस्य स्वभावो ब०, प० । 5 जीवो गुण ब० । 6–रूपणायां–प०, ब० । 7–षां जीवानां प्र–आ० ।

इति प्रश्ने उत्तरमाह–**गुणगुणिनाम् अवयवावयविनां क्रियाकारकाणां जातितद्वताञ्च मिथः** परस्परमर्थान्तरत्वे अङ्गीक्रियमाणे, किम् इत्याह–'**सर्वथा**' इत्यादि। सर्वेण वक्ष्यमाणप्रकारेण **सर्वथा वृत्ते** गुणादीनां गुण्यादौ वर्त्तनस्य **विरोधात्** '**नैगमाभासः**' इति सम्बन्धः। तद्विरोधं दर्शयितुमाह–'**एकम्**' इत्यादि। **एकम्** अवयव्यादिकम्। **अनेकत्र** देशकालाकारभिन्ने अवयवादौ **वर्त्तमानम्** एकमेकं प्रति **प्रत्येकं सर्वात्मना** साकल्येन **यदि स्याद्** भवेत् वर्त्तमानं तदवयव्यादिकम् '**एकम्**' इत्येवं **न स्यात्**, अपि तु यावन्तोऽवयवादयः तावन्त एव अवयव्यादयः स्युः। नहि एकस्य निरंशस्य क्रियातो भिन्नस्य परमाणुवद् युगपद् देशादिभिन्नेष्वाधारेषु वर्त्तनं युक्तम्। परस्य पक्षान्तरमाशङ्क्य दूषयन्नाह–'**यदि पुनः**' इत्यादि। पुनरिति पक्षान्तरसूचकः, एकमनेकत्र प्रत्येकं **यद्येकदेशेन वर्त्तेत** तर्हि तस्य अनेकदेशाः कल्पनीयाः तेषु चास्य वृत्तिः कल्पनीया, अन्यथा कथं ते[3] 'तस्य' इति व्यपदिश्यन्ते? तत्कल्पने च दूषणमाह–'**तद्**' इत्यादि। '**ते च ते एकदेशाश्च तेष्वपि तथैव** सर्वात्मनैकदेशप्रकारेणैव **प्रसङ्गाद्** दोषादनवस्था स्यात् इत्यभिप्रायः। तथा च क्व अवयवादौ किम् अवयव्यादि वर्त्तेत? निराकृता च अवयवादौ अवयव्यादेर्वृत्तिः विषयपरिच्छेदे प्रपञ्चत इत्यलमतिविस्तरेण।

एवं गुणगुण्यादीनां भेदैकान्तं निराकृत्य सत्तातद्वतोः तं निराकर्तुमाह–

स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत् सत्तया किं सदात्मनाम्।
असदात्मसु नैषा स्यात् सर्वथातिप्रसङ्गतः॥ ४०॥

विवृतिः–यथा सदर्थान्तराणि स्वतः सन्ति तथैव द्रव्यगुणकर्माण्येव सन्तु किं तत्र सत्तासमवायेन? स्वतः सतां तद्वैयर्थ्यात् असतां चाऽतिप्रसङ्गात्। तदेवम् अवा-

(१) अवयविनिष्ठा क्रिया एका निरंशापि सती भिन्नदेशेषु अवयवेषु वर्त्तनादिः, न तु क्रियातो भिन्नोऽन्यः कश्चिन्निरंशोऽत्र भिन्नेष्वाधारेषु वर्त्तते इति भावः। (२) अनेकदेशेषु। (३) अनेकदेशाः। (४) अवयविनः। (५) पृ० २२४। (६) भेदैकान्तम्। (७) यौगमते भावानां स्वतः सदात्मना सत्तासमवायः असदात्मना वेति विकल्पद्वयं मनसिकृत्य प्रथमपक्षे दूषणमाह–स्वतः स्वरूपेण अर्थाः पदार्थाः सन्तु। किंवत्? सत्तावत् यथा सत्तान्तराद्विनाऽपि सत्ता परसामान्यं स्वत एवास्ति तथा द्रव्यादीन्यपि स्वत एव सन्तु विद्यन्ताम्। तथा च स्वतः सदात्मनां सत्तया किं साध्यं न किमपीत्यर्थः। विनापि तथा तेषां सत्त्वात्। द्वितीयविकल्पं दूषयति–सर्वथा असदात्मसु द्रव्यादिष्वपि परा सत्ता न स्यात् न वर्त्तेत अतिप्रसङ्गात् खरविषाणादावपि सर्वथाऽसति सत्तासमवायप्रसङ्गात्।'–लघी० ता० पृ० ५९। तुलना–"सत्ताजोगाऽसओ सओ व सत्त हवेज्ज दव्वस्स। असओ न खपुप्फस्स व सओ व किं सत्तया कज्जं॥"–विशेषा० गा० २६९४। "स्वरूपेणासतः सत्त्वसमवाये च खाम्बुजम्। स स्यात्किन्न विशेषस्याभावात्तस्य ततोऽञ्जसा॥ स्वरूपेण सतः सत्त्वसमवायेऽपि सर्वदा। सामान्यादौ भवेत्सत्त्वसमवायोऽविशेषतः॥"–आप्तप० का० ६९,७। उद्धतेयं कारिका–सूत्रकृतांग टी० पृ० २२७।

1 गुणादीनां गणादौ आ॰ ब०। 2 यदि पुनरित्यादि इति पाठ आ॰ लिखितोऽपि निष्कासित। 3 कथं तस्य श्र॰। 4 ते च ते तदेकदे–श्र० ब०। 5 इत्यलमिति–ब०। 6 निराकुर्वन्नाह–श्र०।

न्तरजातिष्वपि योज्यम्। गोत्वादेः सर्वगतत्वे तत्प्रत्ययसाङ्कर्यम्, अन्यथा निष्क्रियस्य अर्थोत्पित्सुदेशमव्याप्नुवतः अनंशस्य अनेकत्र कादाचित्कवर्त्तनमयुक्तम्। गुणगुण्यादीनाम् अन्योन्यात्मकत्वे न किञ्चिद्विरुद्धमित्यल प्रसङ्गेन। 'गुणाना वृत्त चलं सत्त्वरजस्तमसा सुखदुःख(खा) ज्ञानादिक चैतन्य पुरुषस्य स्वरूपमचलम्' इत्येतदपि वाङ्मात्र, तदर्थान्तरत्वाऽसिद्धेः। अतिप्रसङ्गश्चैव तदभेदे विरोधाभावात्। गुणाना द्रव्यादस्यात्मकत्वे पुंसामेव तदात्मकत्व युक्त कृत गुणकल्पनया।

कारिकाविवरणम्— स्वत' आत्मनैव **अर्था** द्रव्यादय **सन्तु** विद्यमाना भवन्तु **सत्तावत्** सत्ता पर सामान्य सैव तद्वत्। सत्ताग्रहणमुपलक्षण तेन अर्थान्तरसामान्य-समवाय-विशेषवत् इति च द्रष्टव्यम्। कुत एतदित्याह—**सत्तया** इत्यादि। इदमत्र तात्पर्यम्—स्वत सन्तोऽर्था सत्तासमवायात् तद्वन्त, अन्यथाभूता वा स्यु ? प्रथमपक्षे सत् सत्त्वम् आत्मा 'येषा तेषा **सदात्मनामर्थाना किम् ?** न किञ्चित् **सत्तया** 'क्रियते' इत्यध्याहार। नहि तेषा तया स्वरूपसत्त्व क्रियते, स्वत एवार्थं सम्भवात्, सतश्च करणायोगात्, अन्यथा अनवस्था स्यात्। नापि सदभिधानादि, स्वरूपसत्त्वादेव अस्यापि सम्भवात्। अथ स्वतोऽसन्त तत्समवायात् तद्वन्त अत्राह—**'असद्'** इत्यादि। **असन्** अविद्यमान **आत्मा** येषा तेषु **नैषा** परपरिकल्पिता सत्ता **स्यात्।** कुत ? **अतिप्रसङ्गतः** खरविषाणादावपि अस्या प्रसङ्गात्। प्रतिव्यूढश्च प्रपञ्चत सत्तात सत्त्वमर्थाना पदार्थपरीक्षावसरे इति कृतमतिविस्तरेण।

कारिका व्याख्यातुमाह—**'यथा'** इत्यादि। **यथा** येन अनवस्थादिदोषभय-

विवृतिव्याख्यानम्— प्रकारेण **सन्ति** च तानि **अर्थान्तराणि** च सामान्यादीनि **स्वत** आत्मनैव न सत्तासमवायात् सन्ति सत्तावन्ति **तथैव** तेनैव

(१) "चलञ्च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम्-प्रदीपावयवानामिव बुद्ध्यवयवाना गुणाना वृत्त क्रिया चञ्चला प्रतिक्षणमन्यान्या च भवति, न तु निर्व्यापारा गुणास्तिष्ठन्ति "-योगभा०, योगवा० २।१५। 'सांख्यपक्ष पुनर्वस्तु त्रिगुण चलञ्च गुणवृत्तमिति'-योगभा० ४।१५। "गुणवृत्त चल नित्यम् "-योगवा० ३।९। (२) "चैतन्य पुरुषस्य स्वरूपम्"-योगभा० पृ० ३७। (३) अर्थान्तरसामान्य प्रभवत्पृथिवीत्वादिकम्। (४) सत्तात्मनाम्। (५) सत्तया। (६) स्वरूपसत्त्वस्य। (७) सता हि करणे कारणव्यापारानुपरमप्रसङ्गादनवस्था। (८) स्वत सतामपि पदार्थानां सत्तया सन्ति इति शब्दप्रयोग सदिति ज्ञानं वा क्रियते, अत आह नापीत्यादि। (९) सदिति शब्दप्रयोगस्य सदिति प्रत्ययस्य वा। (१०) सत्तासमवायात्। (११) सत्तायाः। (१२) पृ० ५८५- । (१३) "सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्त्व-सम्प्रति सामान्यादीनां साधर्म्यमाह सामान्यादीनामिति। स्वात्मैव सत्त्वं स्वरूप सामान्यादीनां तदेव तेषां सत्त्वं न सत्तायोग सत्त्वम्। एतेन सामान्यादीनां त्रयाणां सामान्यरहितत्वं साधर्म्यमुक्तमित्यर्थं। कस्मादेतत् ? अनवस्थाप्रसङ्गात्। सामान्ये सामान्यं नास्ति ...

1 तेषां सत्ता-आ० ब०। 2 सत्तासत्ता-ब०। 3-मो न ब०। 4-भावात् इति अस्य आ०। 5 अतिप्रसंगः ब०। 6-न सत्ता-ब०।

प्रकारेण द्रव्यगुणकर्माण्येव न खरविषाणादीनि स्वतः सन्तु किं तत्र तेषु द्रव्यादिषु सत्तासमवायेन ? पुन एतदेवाह–'स्वत' इत्यादि। स्वतो हि सतां द्रव्यादीनां सत्तासमवायात् सत्त्वं स्यात्, असतां वा ? तत्राद्य पक्षोऽनुपपन्न, स्वतः सतां तद्वैयर्थ्यात् सत्तासमवायवैयर्थ्यात्। स्वतोऽसताञ्च अतिप्रसङ्गात् खपुष्पादौ तत्समवायात्सत्त्वप्रसङ्गात्। एतदेव दूषणमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह–'तदेवम्' इत्यादि। तद् अनन्तरोक्तं दूषणम् एवम् उक्तविधिना योज्यम्। क्व ? अवान्तरजातिष्वपि द्रव्यत्वादिसामान्येष्वपि। तथाहि–यथा सद्द्रव्यं सन् गुणः सत् कर्म स्वत तथा स्वतो द्रव्यं द्रव्यं गुणो गुणः कर्म कर्म खण्डादिर्गौः कर्कादिरश्व, किं तत्र द्रव्यत्वादिसमवायेन ? स्वतो द्रव्यगुणकर्मणां तद्वैयर्थ्यात्, अद्रव्यगुणकर्मणाञ्चातिप्रसङ्गात्। नहि तथाऽपरिणतमन्यसम्बन्धात् तथा भवति आकाशकुशेशयस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्। अत्र दूषणान्तरं दर्शयन्नाह–'गोत्वादे' इत्यादि। अत्र आदिशब्देन अश्वत्वादिपरिग्रह, सर्वगतत्वे अङ्गीक्रियमाणे तत्प्रत्ययसाङ्कर्यम् गोत्वादिप्रत्ययसाङ्कर्यम् खण्डादिवत् कर्कादावपि गोप्रत्ययः स्यात्। उपलक्षणमेतत् तेन अभिधानव्यवहारसाङ्कर्यं गृह्यते। तत्साङ्कर्ये च अवान्तरजातित्वं सर्वं अतिदुर्नयम्। निराकृता च विशेषतो नित्या सर्वगता जाति सामान्यपरीक्षावसरे इत्यलमिह विस्तरेण। अथ असर्वगतत्वपक्षे जातेर्दूषणमुपदर्शयन्नाह–'अन्यथा' इत्यादि। अन्यथा अन्येन असर्वगतत्वप्रकारेण 'निष्क्रियस्य गोत्वादे, अर्थ उत्पित्सु' यस्मिन् देशे तमप्राप्नुवत 'इन्द्रातो विशेषणविशेष्यभाव' इति अर्थस्य विशेषणत्वमिति न उत्पित्सुशब्दस्य पूर्वनिपात। अनंशस्य निरवयवस्य अनेकत्र स्वाधारे कादाचित्कं वर्त्तनमयुक्तम्। स्वमते लेपाभाव दर्शयितुमाह–गुणगुण्यादीनामन्योन्यात्मकत्वे न किञ्चिद्विरुद्धमिति। एतच्च अनेकान्तसिद्धिप्रघट्टके सप्रपञ्चं प्रपञ्चितम् इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

प्रसङ्गात्। विशेषेष्वपि सामान्यसम्भावे सामान्यस्यापि सम्भवात् निर्णयाय विशेषानुसरणेऽप्यनवस्थैव। समवायेऽपि सत्ताभ्युपगमे तदन्यस्य समवायाभ्युपगमादनिष्टापत्तिरेव दूषणम्'–प्रश० भा० कन्द० पृ० १९। 'सत्त्व हि अनवस्थादिबाधकोपपत्त'–प्रश० व्यो० पृ० १४२। व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व सङ्करोऽथानवस्थिति। रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रह॥–प्रश० किर० पृ० ३३।

(१) सत्तासमवायात्। (२) द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वसमवायवैयर्थ्यात्। (३) 'न हि स्वतोऽसतां भूतस्तयोरेव समवायभाव'।–आप्तप० का० ७२। (४) सत्तासमवायात्सत्त्वप्रसङ्गात्। (५) कर्कादिष्वपि गौर्गौरिति शब्दप्रयोगः गौरिति ज्ञानं वा स्यात्। (६) गोत्वस्य। (७) दुर्नयम् यतो हि गोत्वं गोवत् सर्वत्र अश्वादौ स्यात् तथा च तत् महासामान्यमेव स्यात् त्ववान्तरसामान्यमिति भाव। (८) पृ० २५८–। (९) तुलना–'न तत्र देशान्तरे वस्तुप्रादुर्भावे कथम् ते। दृश्यन्ते वृत्तिभाजो वा तस्मिन्निति न गम्यते॥ न हि तेन सहोत्पन्ना नित्यत्वाच्चाप्यवस्थिता। तत्र प्रागविभुत्वेन नचायात्यन्यतोऽक्रिया॥'–तत्त्वसं० का० ८०६–७।

1–ह स्वता हि आ०। 2–ज्ञातिरि–आ० श्र०। 3 इत्यादि–ब०। 4–णाऽन्यातिप्र–श्र०। 5 गोत्वप्रत्यय श्र०। 6–न असत्व–ब० श्र०। 7 निष्क्रियस्य ब०, आ०। 8–ष्यस्यभाव श्र०। 9–चित्कवर्तन–ब०।

अपरमपि नैगमाभासं दर्शयितुमाह–'**गुणानाम्**' इत्यादि । **गुणानां सत्त्वरजस्तमसां वृत्तं वर्त्तनं चलम्** अनिर्भावतिरोभाववत् । एतदेव 'सुख' इत्यादिना व्याचष्टे-सत्त्वस्य हि सुखादिलक्षणं वृत्तम्, रजसो दुःखादिलक्षणम्, तमसोऽज्ञानादिकमिति । पुरुषस्य किं स्वरूपमित्याह–'**चैतन्यम्**' इत्यादि । **चैतन्यं दर्शनं पुरुषस्य स्वम्** आत्मीयमसाधारणं **रूपम्** । "*न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः*" [सांख्यका० ३] इत्यभिधानात् । कथम्भूतम् ? **अचलम्**, आविर्भावतिरोभावविकलम् । **इतिशब्दः** परपक्षसमाप्त्यर्थः । अत्र दूषणमाह–'**एतदपि**' इत्यादि । **एतदपि** सांख्यमतमपि न केवलं वैशेषिकमतं तादृगेव नैगमाभास एव । कुत एतदित्याह–'**तद्**' इत्यादि । **तयोः** सुखादिवृत्तपुरुषयोः **अर्थान्तरताम्** च (तावत्) स्त्वन्तरत्वं तस्य **असिद्धेः** अनिश्चयात् । अत्रैव दोषान्तरमाह–**अतिप्रसङ्गश्चैवमिति** । सुखादिवृत्तपुरुषयोः परमार्थतोऽभेदेऽपि प्रतीयमाने एवं परैः स्वमतदुराग्रहाभिनिवेशप्रकारेण भेदे अभ्युपगम्यमाने अतिप्रसङ्गः स्यात् 'एकमेव न किञ्चित् स्यात्' इति भावः । च शब्दः पूर्वदोषसमुच्चये । ननु तयोर्भेदविरोधात् सिद्धैव तदर्थान्तरता इत्याह–'**तदभेद**' इत्यादि । **तयोः** पुरुषवृत्तयोरभेदे एकत्वे सति **विरोधाभावात्** सहानवस्थानलक्षणस्य परस्परपरिहारस्थितिस्वरूपस्य प्रमाणबाधारूपस्य वा विरोधस्याभावात् इति भावः । अथ मतम् अचलपुरुषस्वरूपे चलवृत्तानुप्रवेशे द्वयोश्चलत्वमचलत्वं वा रूपं स्यात् अतो विरोधः इत्यत्राह–'**गुणानाम्**' इत्यादि । **गुणानां** सत्त्वरजस्तमोलक्षणानां दृश्यादृश्यात्मकत्वे व्यक्तापेक्षया दृश्यात्मकत्वे प्रधानापेक्षया अदृश्यात्मकत्वे अङ्गीक्रियमाणे **पुंसामेव तदात्मकत्वं** दृश्यादृश्यात्मकत्वं **युक्तम्** उपपन्नम् । प्रसाधितञ्च सुखादिचित्स्वात्मकत्वमात्मनः प्रागेव प्रबन्धेन इत्यलमतिप्रसङ्गेन । ततः किं जातम् ? इत्याह–'**कृतम्**' इत्यादि । **कृत**

(१) 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः अत्राय समासः प्रीतिश्चाप्रीतिश्च विषादश्च ते आत्मा स्वरूपं येषां गुणानां ते भवन्ति प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः । तेषां लक्षणमुच्यते तत्र प्रीत्यात्मकं सत्त्वम् । आत्मशब्दः स्वभावे वर्तते । कस्मात् ? सुखलक्षणत्वात् । यो हि कश्चित् क्वचित् प्रीतिं लभते तत्र आर्जवमार्दवसत्यशौचह्रीबुद्धिक्षमानुकम्पाज्ञानादि च, तत्सत्त्वं प्रत्येतव्यम् । अप्रीत्यात्मकं रजः । कस्मात् ? दुःखलक्षणत्वात् । यो हि कश्चित् कदाचित् क्वचित् अप्रीतिमुपलभते तत्र द्वेषद्रोहमत्सरनिन्दास्तम्भोत्कण्ठानिकृतिवञ्चनाबन्धच्छेदनानि च, तद्रजः प्रत्येतव्यम् । विषादात्मकं तमः । कस्मात् ? मोहलक्षणत्वात् । यो हि कश्चित् कदाचित् क्वचित् मोहमुपलभते तत्र अज्ञानमदालस्यभयदैन्याकर्मण्यतानास्तिक्यविषादस्वप्नादि च, तत्तमः प्रत्येतव्यम् ।''–सांख्यका० माठर०, जयम०,का० १२। सांख्यसूत्रवि० पृ० १०६ । (२) कापिल । (३) सुखादि-पुरुषयोः । (४) सुखादि । (५) 'द्विविधो हि पदार्थानां विरोधः, अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावाद्विरोधगतिः शीतोष्णस्पर्शवत् । परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया वा भाववत् ।' –न्यायबि० पृ० ९७–९८ । (६) पृ० १९१ ।

1–चष्टे सत्त्वस्य दर्शनं पुरुषस्य आ० । 2–दिवृत्तपुरुषयोः पर–आ० । 3–तावदर्थान्तरत्वस्य–ब० । 4 तदभेदेविरो–श्र०, ब० । 5–प्रवेशद्वयो–आ० । 6–आह दृश्याद्–श्र० । 7–दन्यदर्शता–आ० । 8–स्वरूपं युक्तं आ० ।

पर्याप्तं गुणकल्पनया प्रधानकल्पनया, तस्य तदात्मकत्वान्नित्यमभिप्रायः । निरस्तञ्च प्रधानप्रपञ्चतः प्रकृतिपरीक्षाप्रघट्टके[3] इत्युपरम्यते ।

अधुना प्रमाणाभावात् तदाभासता तयोर्दर्शयितुमाह–

प्रामाण्यं व्यवहाराद्धि स न स्यात् तत्त्वतस्तयोः ।
मिथ्यैकान्ते विशेषो वा कः स्वपक्षविपक्षयोः ॥ ४१ ॥

विवृतिः–शुद्धमशुद्धं वा द्रव्यं पर्यायं समस्तं व्यस्तं वा व्यवस्थापयता तत्साधनं प्रमाणं मृग्यम् अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । तत्प्रामाण्यञ्च व्यवहारेणैव । स च संग्रहभेदाश्रयो मिथ्यैव । ततः सप्र (स प्र) तिपक्षं कथमतिशयीत सत्येतरस्वरूपवत् ? मिथ्यैकान्ताविशेषेऽपि तद्व्यवस्थापनमयुक्तम्, तदुभयोपलम्भेरवितथात्मकत्वात्, अन्यथा स्वमतान्तरवत् तद्विसंवादान्न किञ्चित् प्रमाणम् । नैगमेऽपि 'चलं गुणवृत्तं नित्यं चैतन्यम्' इति व्यवहारासिद्धेः स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । नहि

"गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायैव (येव) सुतुच्छकम् ॥" [ ]

(१) पुरुषस्य । (२) मुख्यात्मकत्वात् । (३) पृ० २५४ । (४) संग्रहाभासनैगमाभासयोः । (५) व्याख्या– प्रमाणं स्वेष्टानिष्टसाधनदूषणनिबन्धनं प्रयत्नमन्यद्वा सर्वैरभ्युपगन्तव्यम् अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । तच्च व्यवहारात् । विधिपूर्वकमवहरणं विभजनं भेदकल्पनं व्यवहारस्तस्मात् तन्नान्यस्येत्यर्थः । स च तत्त्वतः परमार्थतो न स्यात् । क्व ? तयोः संग्रहाभासनैगमाभासयोः । न खलु निरपेक्षे भावैकान्ते प्रमाणाभिमतव्यवहारोऽस्ति निरंशत्वात भेदकान्ते वा प्रमाणफलव्यवहारोऽस्ति सम्बन्धाभावात् । औपचारिकः प्रमाणफलव्यवहारस्तत्रास्तीति चेदत्राह–मिथ्येत्यादि । मिथ्यैकान्ते प्रमाणफलव्यवहारस्यावास्तवत्वात् अङ्गीक्रियमाणे विशेषः भेदोऽपि कः ? न कोपीत्यर्थः । कयोः ? स्वपक्षविपक्षयोः स्वपक्षो ब्रह्मवादः भेदवादो वा, विपक्षः क्षणिकवादो ब्रह्मवादो वा तयोः सङ्करप्रसङ्गादित्यर्थः । ततः कथञ्चिद् व्यवहारोऽपि वास्तवोऽङ्गीकर्तव्यः । –लघी० ता० पृ० ६० । तुलना– प्रामाण्यं व्यवहारेण । –प्रमाणवा० १।७ । (६) उक्तार्थे शास्त्रं प्रमाणयति–तथा चेति । परमं पारमार्थिकं नित्यमिति यावत् । मायेव लौकिकमायावत् क्षणभङ्गुरम् अत सुतुच्छकम् अत्यन्ततुच्छमल्पसारं स्थिरताभावादिति । अत्र सुशब्देन परिणामितया गुणानामपि तुच्छत्वं सूचितं गुणा एव परिणामितया कूटस्थनित्यापेक्षया तुच्छाः गुणकार्यं दृश्यमानं गुणापेक्षयापि तुच्छम् अतः सुतुच्छमिति । –योगवा० पृ० ४१४ । 'परमं रूपं मूलरूपमव्यक्तावस्था न दृष्टिपथमृच्छति गच्छति व्यक्तं दृष्टिपथं प्राप्तं यद् गुणरूपं तद् मायेव सुतुच्छकं मायया प्रदर्शितः प्रपञ्चः यथा तुच्छो तथेति ॥ –योगसू० भास्व० पृ० ४१४ । शास्त्रिय निम्नग्रन्थेषु समवतारोऽस्ति– तथा च शास्त्रानुशासनम्–गुणानां । –योगभा० ४।१३ । षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः–गुणानां । –योगभा० तत्त्ववै० ४।१३ । योग० भास्वती, पात० रह० ४।१३ । भगवान् वार्षगण्य –गुणानां । –ब्रां० भा० भामती पृ० ३५२ । नयचक्रवृ० पृ० ४३ A । तत्त्वोपप्लव० पृ० ८० । सांख्यतत्त्वा० पृ० ६ । गुणानां सुमहद्रूपम् । –प्रमाणवार्तिकाल० परि० ४ पृ० ३३ । सिद्धिवि० टी० पृ० ७४ B । अष्टसह० पृ० १४४ । ' दृष्टिपथप्राप्तं तु मायावत् सुतुच्छकम् –जयमं० पृ० ६३ ।

1 गुणपरिक–श्र० । 2–भागवतो श्र० । 3 प्रमाण स० । 4–व्य बप–ई०वि० । 5–स्तं व्य–ज० वि० । 6 बलं ई०वि० ।

इति प्रमाणमस्ति समवायेन स्वावयवेषु अवयवी वर्तेत । 'शृङ्गे गौः शाखायां वृक्षः' इति लोकव्यवहारमतिवर्तेत विपर्ययात् । स्वयमज्ञस्वभावात्मा ज्ञानसमवाये कथमिव ज्ञः स्यात् ? नहि तथाऽपरिणतस्य तत्त्वम्, समवायस्यापि ज्ञत्वप्रसङ्गात् । न वै ज्ञानसमवायोऽस्ति समवायस्येति चेत्; कथं स्वस्वभावरहितः सोऽस्ति वर्तेत वा समवायान्तराभावात् तदनवस्थानुषङ्गात् ।

प्रामाण्य व्यवहारात् व्यवहारमाश्रित्य, हिः अवधारणार्थे । व्यवहारादेव न ज्ञानाद्यद्वैताद्याश्रित्येत्यर्थः । तत एव तदस्तु को दोष इति

कारिकाव्याख्यानम्–

चेदत्राह–'**स**' इत्यादि । **स** व्यवहारो **न स्यात् तत्त्वतः** परमार्थतः **तयोः** संग्रहनैगमाभासयोः । ननु यदि तयोर्व्यवहारो वास्तवो नास्ति, मा भूत् अवास्तवस्तु भविष्यति इत्यत्राह–'**मिथ्यैकान्त**' इत्यादि । अयमभिप्रायः–यत्र व्यवहारो मिथ्या तत्र तदाश्रितं प्रमाणमप्येकान्तेन मिथ्या, तस्मिन् **मिथ्यैकान्ते** अङ्गीक्रियमाणे **विशेषो** भेदः **कः** न कश्चित् । कयोः ? **स्वपक्षविपक्षयोः** । ततः उभयोः सिद्धिरसिद्धिर्वा स्यादिति भावः । **वा**शब्दः अपिशब्दार्थे ।

कारिकां व्याख्यातुमाह–'**शुद्धम्**' इत्यादि । शुद्धं द्रव्यं पर्यायरहितं ब्रह्मादि, शुद्धः

विवृतिव्याख्यानम्–

पर्याय द्रव्यरहितः क्षणिकनिरंशपरमाणुरूपः । अशुद्धं द्रव्यं सपर्यायम् । अशुद्धः पर्यायः सद्रव्यः । अस्यानन्तरस्य विशेषणमाह–'**व्यस्तम्**' इत्यादि । व्यस्तम् अन्योन्यनिरपेक्षम्, अनेन नैयायिकमतं दर्शितम् । **समस्तम्** अन्योन्यात्मकम्, अनेनापि साङ्ख्यदर्शनं प्रकाशितम्, विकारविकारिणोः साङ्ख्यैस्तादात्म्याभ्युपगमात् । '**व्यवस्थापयता**' इत्येतत् प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तत्साधनं तयोः शुद्धाशुद्धव्यस्तसमस्तद्रव्यपर्याययोः साधनं **मृग्यम्** अन्वेष्यम् । नच नयात्किञ्चिद् भवितुमर्हति किन्तु प्रमाणम्, प्रत्यक्षादिवस्तुव्यवस्थायामन्यस्याऽनधिकारात् । अन्यथा प्रमाणान्वेषणाभावप्रकारेण तद्व्यवस्थापने अतिप्रसङ्गात् सर्वत्र सर्वस्य सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्गात् । ननु संग्रहनैगमाभासप्ररूपणप्रस्तावे किमर्थमप्रस्तुत 'शुद्धं पर्यायम्' इत्येतत् प्रस्तूयते इति च न वाच्यम्, दृष्टान्तार्थत्वात् । यथैव शुद्धं पर्यायं व्यवस्थापयता सौगतेन प्रमाणं मृग्यम् तथा अन्यैरपि अन्येन व्यवस्थापयता तन्मृग्यमिति । यदि वा, उत्तरत्र ऋजुसूत्राभासे इदमवश्यं वक्तव्यम्, तन्निर्देशोऽयम् । मृग्यत एव तर्हि

(१) तुलना– यदस्त्यनुपलब्धं ... स्वयं कृता । शृङ्गे गवादि भेदः स्यात् शृङ्गे गौरित्यलौकिकम् । प्रमाणवा० २।१५० । 'वृक्षे शाखा शिलाश्चाग इत्यपा लौकिकी मतिः । निम्न ... ॥ तो पुनस्त्वाविति ... ।'–तत्त्वसं० पृ० २६७ । (२) शुद्धद्रव्यं । (३) ब्रह्माद्वैतादिवादिना । (४) प्रमाणम् ।

1–न वर्तेत ई० वि० । 2 प्रमाणं ब०, श्र० । 3–देवमाना–आ० । 4 सामान्यता–ब० । 5 तत्र श्र० । 6 यथा तयोः ब० । 7 अवास्तवस्तु आ०, अवास्तवस्तु श्र० । 8 प्रमाणमिर्मेका–आ० । 9 द्रव्यपर्याय–श्र० । 10 ...आ० । 11 तर्हि बोध्यम् ब० ।

प्रमाणमिति चेदत्राह–'तद्' इत्यादि । तस्य तद्व्यवहारापन्नस्य **प्रामाण्यञ्च व्यवहारेणैव** न परपरिकल्पितपरमार्थप्रकारेण तत्र तत्सिद्धेः । **स च** व्यवहारः **संग्रहे मिथ्यैव** लेशतोऽपि सत्यो न भवति इति एवकारार्थः । कुत एतदित्याह–**भेदाश्रयो यतः ।** भवत्वेवम्, को दोषः ? इति चेदत्राह–'**ततः**' इत्यादि । तस्मात् मिथ्यारूपात् प्रमाणादिव्यवहारात् **संग्रहः प्रतिपक्षं** भेदैकान्तं **कथमतिशयीत** ? न कथञ्चित् । तत्रापि मिथ्याप्रमाणादिव्यवहारभावात् "*प्रामाण्यं व्यवहारेण*" [प्रमाणवा० १।७] इत्यादिवचनात् । ननु अभेदात्मकः संग्रहः भेदात्मकश्च प्रतिपक्षः, तत्कथं स तं नातिशेते ? इत्यत्राह–'सत्य' इत्यादि । सत्यम् अवितथम् **इतरद्** वितथम् ते च ते स्वरूपे च ते यस्य स तथा तद्वत् । क्रियाविशेषणमेतत्–सत्यस्वरूपवद् यथा भवति तथा संग्रहोऽतिशयीत, इतरस्वरूपवत् यथा भवति तथा प्रतिपक्षमिति, प्रतिपक्षवत् संग्रहोऽपि मिथ्यैव स्यात् इत्यर्थः । ततः को दोष इत्यत्राह–'**मिथ्या**' इत्यादि । **मिथ्यैकान्तस्य** संग्रहप्रतिपक्षयोः **योऽविशेषः** तस्मिन्नपि न केवलं विशेषे **तस्य** संग्रहस्य **व्यवस्थापनमयुक्तम् ।** उपसंहारमाह–'तद्' इत्यादि । यत एवं **तत्** तस्मात् **उभयोपलब्धेः** संग्रहेतरयोः उपलब्धेः **अवितथात्मकत्वात्** सत्यस्वभावत्वात् '**स कथं प्रतिपक्षमतिशयीत**' इति सम्बन्धः । तस्याऽवितथात्मकत्वे दूषणमाह–'**अन्यथा**' इत्यादि । **अन्यथा** अवितथात्मकत्वाभावप्रकारेण **स्वप्नान्तरवत्** स्वप्नभेदवत् **तस्याः विसंवादात् न किञ्चित् प्रमाणम् ।**

एवं संग्रहाभासे प्रमाणाभावं प्रदर्श्य इदानीं नैगमाभासे तं दर्शयन्नाह–'**नैगमेऽपि**' इत्यादि । न केवलं संग्रहे अपि तु **नैगमेऽपि** न किञ्चित् प्रमाणम् । एतदेवाह–'**चलम्**' इत्यादि । **चलम्** आविर्भावतिरोभाववत् । किं तदित्याह–'**गुण**' इत्यादि । **गुणानां** सत्त्वादीनां **वृत्तं** महदादिरूपेण परिणमनं **नित्यं चैतन्यम्** इति एष स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । कुतः ? **व्यवहारासिद्धेः** । एतदेव दर्शयन्नाह–'**नहि**' इत्यादि । हि यस्मात् न **गुणानां** सत्त्वरजस्तमसां **परमं** प्रधानलक्षणं **रूपं न दृष्टिपथमृच्छति, यत्तु** रूपं महदादि **दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्** इति न **प्रमाणमस्ति** प्रत्यक्षादेरत्राऽनवतारादिति ।

सांख्यनैगमाभासे प्रमाणाभावं प्रदर्श्य अधुना नैयायिकनैगमाभासे तं दर्शयन्नाह–

(१) व्यवहारो हि भेदमाश्रित्य प्रवर्तते अतः अभेदग्राहिसंग्रहनयदृष्ट्या मिथ्यैव । (२) उद्धृतोऽयम्–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७३ । सिद्धिवि० टी० पृ० १८ A, २३२ B, २९४ B, ३०५ B, ३२४, ५२० [illegible] । प्रमेयक० पृ० २१७, ३८३ । सन्मति० टी० पृ० १११, ४९७ । न्यायवि० वि० पृ० ३८ B । शास्त्रवा० यशो० पृ० १५८ B । (३) नयाभासे । (४) प्रमाणाभावम् ।

1–माण्य व्यव–आ० । 2–स्व तद्विष–श्र० । 3 यो वि–ब० आ० । 4 तस्य व्यव–आ० । 5 संग्रहेतरोपल–ब० श्र० । 6 सत्त्वस्व–श्र० । 7 नित्यचैतन्यं श्र०, नित्यचेतना–ब० । 8 स मायेव ब० । 9 इत्यत्र प्र–ब० ।

'समवायेन' इत्यादि। समवायेन सम्बन्धेन स्वावयवेषु अवयवी वर्त्तेत [ति] 'नहि प्रमाणमस्ति' इति सम्बन्धः। ननु 'शृङ्गे गौः शाखायां वृक्षः' इति प्रतीतिः तत्र प्रमाणमस्तीति चेदत्राह-'शृङ्गे' इत्यादि। शृङ्गे गौः शाखायां वृक्ष इति एवं यत् प्रमाणं तत् लोकव्यवहारमतिवर्त्तेत तत्र तथाप्रतीतेरभावात्। कुत एतदित्याह-विपर्ययात्, 'गवि शृङ्गं वृक्षे शाखा' इति लोकव्यवहारे प्रतीतिसद्भावात्। अत्रैव दूषणान्तरमाह-'स्वयम्' इत्यादि। स्वयम् आत्मना अज्ञस्वभावः अचेतनः सन् आत्मा ज्ञानसमवाये सति कथमिव ज्ञः स्यात् चेतनो भवेत्? नहि तथा ज्ञत्वप्रकारेण अपरिणतस्य तत्र ज्ञत्वं युक्तम्। कुत एतत्? समवायस्यापि ज्ञत्वप्रसङ्गात्। 'ननु' इत्यादिना परमतमाशङ्कते-ननु नैव ज्ञानेन समवायस्य समवायोऽस्ति तत्कथमस्य ज्ञत्वप्रसङ्ग इति चेत् तत्राह-'कथम्' इत्यादि। कथं केन प्रकारेण समवायोऽस्ति? न केनचिद्, व्यवस्थापकप्रमाणानां समवायपरीक्षायां प्रपञ्चतः प्रतिषिद्धत्वात्। इतश्च नास्त्यसौ स्वभावरहितो यतः। तस्य हि स्वभावोऽयुतसिद्धसम्बन्धत्वम्, तच्च तत्रैव विस्तरतो निषिद्धम्। कथं च समवायिष्ववर्त्तमानस्य अश्वविषाणस्येव अस्य अयुतसिद्धसम्बन्धत्वं युक्तम्? अथ वर्त्तत एवासौ तत्र, अत्राह-'वर्त्तेत वा' इत्यादि। अत्रास्य ज्ञत्वलक्षणं दूषणमुक्तमिति मत्वा दूषणान्तरमाह-वर्त्तेत वा कथं समवायान्तराभावात् एकत्वात्तस्य। विशेषणीभावाद् वर्त्तते इति चेदत्राह 'तद्' इत्यादि। समवायस्य तदन्तरकल्पने या अनवस्था तस्य अनुषङ्गात् कथमसौ क्वापि वर्त्तेत? अयमभिप्रायः-अनवस्थाभयात् समवायस्य समवायान्तरं परेण न कल्प्यते, सा च विशेषणीभावकल्पनेऽप्यविशिष्टा सम्बन्धान्तरकल्पनस्य अत्राप्यविशेषात्। नहि असम्बद्धो विशेषणीभावः समवायस्य समवायिषु वृत्तिहेतुः इत्युक्तं समवायनिषेधप्रघट्टके।

इदानीं व्यवहारनयं दर्शयितुमाह-

व्यवहारानुसारी नयः स्याद् दुर्नयोऽन्यथा।
बहिरर्थोऽस्ति विज्ञप्तिमात्रं शून्यमितीदृशः॥४२॥

(१) लोकव्यवहारे। (२) समवायस्य। (३) पृ० २०७। (४) अयुत[illegible] भूतानां यः सम्बन्धः इहप्रत्ययहेतुः स समवायः। (प्रश० भा० पृ० १४) [illegible] (६) समवायपरीक्षायाम् (पृ० २९७)। (६) समवायस्य। (७) समवायिषु। (८) [illegible] (९) तत्त्वं भावेन-वैशे० सू० ७।२।२८। 'तस्माद् भाववत्सर्वत्र [illegible] २२९। (१०) पृ० ३०३। (११) व्याख्या-'स्याद् भवेत्। [illegible] बहिरर्थोऽस्तीतीदृशः। इत्यादिना प्रमाणमस्ति साधनाभावोऽस्तीति [illegible] सर्वित्र श्री हेतुरूपमावान्तिकव्यवस्था व्यवहार तस्यावियथा[illegible]

१ वर्त्तेत नहि ब०, वर्त्तेत नहि ब०। २-शाखयेति-ब०, [illegible] ४ चेदत्राह ब०। ५-समवायस्य तत्रेव आ०। ६-वासौ तत्र [illegible] ७ समवायान्तराद् एकत्वाभावात् एकत्वात्तस्य ब०। ८ [illegible] ११-मात्रशून्य-मु० मपी०।

विवृति –प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यं व्यवहारापेक्षम्। स पुनः अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकः। कथम्? उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं सत्, गुणपर्ययवद्द्रव्यम्, जीवश्चैतन्यस्वभाव इति। श्रुते प्रमाणान्तराबाधनं पूर्वापराविरोधश्च अविसंवादः। तदपेक्षोऽयं नयः, ततोऽन्यथा दुर्नयः। कथम्? बहिरपि स्वलक्षणमर्थक्रियासमर्थं सद् अङ्गीकृत्य तत्प्रतिक्षेपेण विज्ञप्तिमात्रमन्तस्तत्त्वम् इति प्रत्यवस्थाप्य तदपि सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष्यमाणं न परीक्षाक्षममिति स्वभावनैरात्म्यमसाध्यसाधनमाकुलं प्रलपन् क्वचिद् व्यवतिष्ठेत स्वपरविसंवादव्यसनीयेन प्रत्यक्षादिविरोधात्। तदन्यतमस्याभिमतत्वात् पुनरलं शेषप्रलापेन।

हेतुफलभावादिव्यवस्था व्यवहारः तदविसंवादी नयः स्यात्। अन्यथा तद्विसंवादप्रकारेण दुर्नयः नयाभासः स्यात्। अत्रोदाहरणमाह–'बहिः' इत्यादि। 'बहिरर्थोऽस्ति' इति नयस्य उदाहरणम्, शेषं दुर्नयस्य। बहिरर्थग्रहणमुपलक्षणं तेन प्रमाणमस्ति कार्यकारणभा-

कारिकाव्याख्यानम्–

व्यवहारस्य हि सुनयत्वे तदाश्रया हेतुफलभावादिसिद्धिः स्यात्, अन्यथा व्यवहारविसंवादी दुर्नयः स्यात्। कीदृशः? विज्ञप्तिमात्रम् विज्ञप्तिविज्ञानमेव तत्त्वं नान्यत्। शून्यम् समस्तज्ञानज्ञेयोपप्लव एव तत्त्वमितीदृशः। इतिशब्दः प्रकारवाची समानमेव तत्त्वं विभ्रम एव तत्त्वमित्यादिप्रकारान् सूचयति। –लघी० ता० प० ६१। तुलना– वच्चइ विणिच्छिअत्थं ववहारो सव्वदव्वेसु। –अनुयोगद्वार० ४ द्वा०। आव० नि० गा० ७५६। विशेषा० गा० २७०८। लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः। आह च–लोकोपचारनियतं व्यवहारं विस्तृतं विद्यात्। –तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५। तत्त्वार्थ० हरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। 'संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः। –सर्वार्थसि० १।३३। राजवा० १।३३। 'व्यवहारपरतन्त्रो व्यवहारनय इत्ययम्। –धवलाटी०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१। नयविव० ७४। प्रमेयक० पृ०६७७। सन्मति० टी० प० ३१०। नयचक्र गा० ३५। तत्त्वार्थसार प०१०७। प्रमाणनय० ७।२३। स्या० म० पृ० ३११। जैनतर्कभा० प० २२। (१२) कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक्। प्रमाणबाधितोऽन्यस्तु तदाभासोऽवसीयताम्॥ –तत्त्वार्थश्लो० प० २७१। नयविव० ७६। प्रमेयक० पृ०६७८। न्यायावता० टी० प० ८६। प्रमाणनय० ७।२५, २६। जैनतर्कभा० प० २४।

(१) तुलना– त्रय पर्यायाः अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात् –राजवा० पृ० १७। (२) द्रष्टव्यम्– प० ६०५ टि० ७। (३) तुलना– गुणाणमासओ दव्वं एगदव्वस्सिया गुणा। लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे॥'–उत्तरा० २८।६। दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं। गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू॥ –पञ्चास्ति० गा० १०। गुणपर्ययवद् द्रव्यम् –तत्त्वार्थसू० ५।३८। 'तं परियाणहि दव्वु तुहुं जं गुणपज्जयजुत्तु। सहभुव जाणहि ताहं गुण कमभुव पज्जउ वुत्तु॥ –परमात्मप्र० गा० ५७। न्यायवि० श्लो० १११। (४) तुलना– उवओगलक्खणे जीवे। –भगवतीसू० २।१०। उत्तरा० २८।१०। उपयोगो लक्षणम् –तत्त्वार्थसू० २।८। (५) 'अर्थक्रियासमर्थं यत्तदत्र परमार्थसत्। –प्रमाणवा० २।३। (६) विज्ञप्तिमात्रमेवेदमसदर्थावभासनम्। यथा तैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादिदर्शनम्॥ –विंशतिकाविज्ञप्ति० श्लो० १। (७) तुलना– अपि च बाह्यार्थविज्ञानशून्यवादत्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्वं प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमाः प्रजा इति। –ब्रं० भा० २।२।३२।

1 पूर्वापरविरोधश्च विसंवादः ई० वि०। 2 तदपेक्षः–ज० वि०। 3–रलं प्र–ई० वि०।

यान्निरस्त इत्यादि सर्वो नय संगृहीत । **'विज्ञप्तिमात्रं** तत्त्वम, **शून्य** तत्त्वम्' **इतीदृशो** दुर्नय स्यात् ।

कारिका विवृण्वन्नाह–**'प्रत्यक्षस्यापि'** इत्यादि । न केवलमनुमानादे अपि तु

विवृतिव्याख्यानम्–

प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्य व्यवहारापेक्षम् । अत *"प्रमाणम-विसंवादिज्ञानम् इत्यादि व्यवहारेण, अज्ञातार्थप्रकाशो वा इत्यतस्तु परमार्थेन प्रमाणम्"* [ ] इत्ययुक्तम, व्यवहारव्यतिरिक्तस्य परमार्थस्याऽसंभवात् । कुत एतदित्याह–**'स'** इत्यादि । योऽसौ प्रामाण्येन अपेक्ष्यते **स पुनः** व्यवहार **अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकः**, तद्व्यतिरिक्तस्तु अन्यो न कश्चित्संभवति य परमार्थ स्यादित्यभिप्राय । अर्थाभिधानयोरर्थत्वेऽपि अत्र अर्थशब्देन विज्ञानात् तद्विषयो गृह्यते तदन्यतमापाये व्यवहारानुपपत्ते । स्वप्नेनाऽविशेषचोदनाया कृतो नानाविज्ञानसन्तानव्यवस्था विभ्रमव्यवस्था अन्या वा स्यात् इत्युक्त बाह्यार्थसिद्धिप्रस्तावे । **'कथम्'** इति परप्रश्न । कथ केन प्रकारेण अर्थात्मनो व्यवहारस्य स्वरूप स्थितमिति ? उत्तरमाह–**'उत्पाद'** इत्यादि । उत्पादविगमध्रौव्याणि **लक्षण** स्वरूप यस्य तत्तथोक्तम । किं तदित्याह–**'सद्'** विद्यमान घटादि प्रमेयम् । प्रसाधितञ्च उत्पादविनाशात्मकत्वमर्थाना साङ्ख्य प्रति प्रकृतिपरीक्षायाम् । कथ बौद्ध प्रति ध्रौव्य सिद्धमित्याह–**'गुण'** इत्यादि । सहभुवो **गुणाः** सुखज्ञानवीर्यादय, क्रमभुव **पर्यायाः** सुखदु खादय, तद्वद्द्रव्यम् । इदञ्च प्रमेयसाधन सौगत प्रत्येव व्याख्येयम्–सहभाविनानाधर्मात्मक चित्तसन्तानस्य चेदङ्गीक्रियते, क्रमभाव्यनेकधर्मात्मकमप्यङ्गीकर्त्तव्यम । नो चेत्, युगपदपि तत्तथा नाङ्गीकर्त्तव्यमविशेषात् । नैयायिक प्रति पुनरेवम्–इच्छादिगुणसमवायित्व चेत् कस्यचिदिष्यतेऽप-

(१) तुलना– तता यदुक्त प्रमाणमविसंवादिज्ञानमित्यादि व्यवहारेण प्रमाणलक्षणमुक्तम अज्ञातार्थप्रकाशो वा इति परमार्थेन, प्रमाणान्तरेणाज्ञातस्य अद्वयप्रतिभासस्य आत्मसंवेदनस्य एवमभिधानात् ।"–सिद्धिवि० टी० पृ० ९ B । "सांव्यवहारिकस्येद प्रमाणस्य लक्षण प्रमाणमविसंवादिज्ञानमिति ।'–तत्त्वसं० प० पृ० ७७४ । (२) प्रमाणविषय अभिधानप्रत्ययविषयो वा । (३) अर्थाभिधानप्रत्ययेषु एकस्याप्यभावे । (४) योगाचारा माध्यमिकाश्च अर्थं स्वप्नवत् मिथ्यारूप वासनाकल्पित मन्यन्ते तथा चोक्तम्– फेनपिण्डोपम रूप वेदना बुद्बुदोपमा । मरीचिसदृशी सज्ञा सस्कारा कदलीनिभा । मायोपमञ्च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना ।'–मा० वृ० पृ० ४१ । मायास्वप्नेन्द्रजालसदृशा द्रष्टव्या '–नैरात्म्यप० प० २८ । न्यायकुम० पृ० १३२ टि० ४ । तत्र प्रयाह–स्वप्नेनाविशेषत्यादि । (५) पृ० ११९ । (६) पृ० ३५४ । (७) तुलना–'अन्वयिनो गुणा, व्यतिरेकिण पर्याया –सर्वार्थसि० ५।३८ । गुणपर्ययवद्द्रव्य ते सहक्रमवृत्तय ।'–न्यायवि० श्लो० ११५ टि० पृ० १६१ । 'सहभुवो हि गुणा –धवलाटी० प० १७४ । (८) चित्त नानाधर्मात्मकम । (९) आत्मन ।

1–दि सर्वो आ०, श्र० । 2 स हि इ–श्र० । 3–हारार्थाभि–आ० । 4 तद्विषयो न श्र० । 5 स्वप्नेनविशेषचोद–श्र० स्वप्नेनाविशेषनोद–आ० । 6 कुता नानाविज्ञा–आ० । 7–वस्थामव्यवस्था अन्या श्र० । 8 सहभुवो गु–ब० । 9 प्रसाधन ब० । 10–ष्यते परा–ब० ।

रापरपर्यायात्मकत्वमेष्टव्यम् । नो चेत्, तत्सामग्रीयित्वञ्च स्यात् । ततो यत एव गुणपर्यायवद्द्रव्यं तत एव उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं सदिति । कैस्तत्प्रतिपद्यते ? इति चेदत्राह–'जीव' इति । जीव आत्मा उत्पादादिरूपं सत् घटादिप्रमेयं 'प्रतिपद्यते' इत्यध्याहारः । तस्य अनादिनिधनस्वभावतया तत्प्रतिपत्तौ सामर्थ्यसम्भवात् । प्रमाधिश्चात्मा तत्त्वान्तरम् अनादिनिधनस्वभावश्च चार्वाकमतपरीक्षायां सन्ताननिषेधावसरे च । ननु यदि सत्तामात्रेण असौ तत्प्रतिपद्यते तदाऽतिप्रसङ्गः । अथ प्रत्यक्षादिना, तत्र[ऽ]शक्तिरिति चेदत्राह–"'चैतन्यस्वभाव' इति[1]। चैतन्यस्वभावः स्वपरग्रहणस्वरूप इति हेतोः प्रत्यक्षादिपर्यायपरिणतः सन् तत्प्रतिपद्यते । तथा च उत्पादाद्यात्मकार्थलक्षणोऽर्थात्मको व्यवहारः सिद्धः, तत्प्रतिपत्तिलक्षणः प्रत्ययात्मकः, तत्प्ररूपकशब्दलक्षणः शब्दात्मक इति ।

अथ शब्दात्मके व्यवहारे को विसंवादः ? इत्याह–'श्रुतेः' इत्यादि । श्रुतेः अभिधानस्य प्रमाणान्तरेण प्रत्यक्षादिनाऽबाधनम् अविसंवादः । कथमत्यन्तपरोक्षेऽर्थे तदविसंवादः प्रमाणान्तराबाधनस्य अन्यस्य वा ग्रहीतुमशक्यत्वादित्यत्राह–'पूर्व' इत्यादि । पूर्वं पूर्ववाक्यं यच्च अपरं तयोरविरोधश्च अविसंवादः, न केवलं प्रमाणान्तराबाधनमेव, अस्ति चायं स्याद्वादलाञ्छितागमस्य । अतो "न हिंस्यात् सर्व (सर्वा) भूतानि" [ ] "यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा" [मनुस्मृ० ५।३९] इत्यागमस्य

"गङ्गाद्वारे कुशावर्ते बिल्वके नीलपर्वते ।
स्नात्वा कनखले तीर्थे सम्भवेन्न पुनर्भवः ॥" [ ]
"दुष्टमन्तर्गतं [14]चित्तं तीर्थस्नानान्न शुद्ध्यति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि[2] ॥" [जाबाल० ४।५४ ।]

इत्याद्यागमस्य च नाविसंवादः पूर्वापरविरोधसद्भावात् इत्युक्तं भवति ।

एवं व्यवहारं प्रदर्श्य तदाश्रयं नयं प्रदर्शयन्नाह–'तदपेक्ष' इत्यादि । तस्मिन्

(१) पृ० ३४३ । (२) प० ९ । (३) आत्मा । (४) उत्पादादिस्वरूपं प्रमेयम् । (५) सुषुप्ताद्यवस्थास्वपि प्रमेयबोधप्रसङ्गः । (६) यदि प्रत्यक्षादिद्वारेण जानाति तदा स्वयमात्मनः प्रमेयबोधशक्तिः प्राप्ता अत आह चैतन्यस्वभाव इति । मुद्रितायां पु० प्रत्यक्षादावपि तदाऽशक्तिः इत्येव पाठः । (७) आत्मा । (८) प्रमेयम् । (९) श्रुतेरविसंवादः । (१०) अयमित्यादिस्थितिरूपस्य वाऽविसंवादस्य । (११) 'यज्ञस्य (ज्ञश्च) भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ।' इत्युत्तरार्धम् । उद्धृतोऽयम्–यश० उ० पृ० ९१, ३५७ । (१२) उद्धृतश्चायम्–प्रमाणवार्तिकाल० परि० ४ पृ० १४० । चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न–जाबाल० । (१३) 'न हिंस्यात्' इत्यहिंसाविधानं यज्ञे पशुवधेन विरुध्यते गङ्गाद्वारादितीर्थस्नानविधानञ्च 'तीर्थस्नानान्न शुद्ध्यति' इति तीर्थस्नानस्य निरर्थकत्वप्रतिपादनेन विरुध्यते ।

1–कामित्व स्यात श्र० –कायित्व तत्स्यात ब० । 2–पर्यायव–ब० । 3 अत एव श्र० ब० । 4 कस्तत्प्र–आ० । 5 घटा–आ० । 6–पद्यते आ० । 7–भाव चार्वा–आ० । 8 ननु च यदि श्र० । सन्तानमात्रेण श्र० । 10 चैतन्यस्वभाव इति' नास्ति आ० । 11–ति चैतन्यस्य स्वभाव इति चैतन्यस्वभाव स्वपर–श्र० । 12 मत प्र–आ०, श्र० । 13 प्रकाश आ० । 14 चित्तं श्र० । 15 पूर्वापरविरोधाद ब० श्र० ।

व्यवहारे अपेक्षा यस्यासौ तदपेक्षोऽयं लोकसिद्धो व्यवहाराख्यो नयः । ततोऽन्यथा तदपेक्षाभावप्रकारेण दुर्नयः । ननु तदपेक्ष एव दुर्नयः अप्रमाणभूतस्य व्यवहारस्यावलम्बनात्, न ततोऽन्यो[3] निरंशक्षणिकपरमार्थाश्रयणात् । एतदेवाह–'कथम्' इति । न कथञ्चित् 'ततोऽन्यथा दुर्नयः' इति सम्बन्धः । अत्रोत्तरमाह–'बहिरपि' इत्यादि । न केवलमन्तः किन्तु बहिरपि स्वलक्षणं क्षणिकनिरंशपरमाणुलक्षणम् अर्थक्रियासमर्थं यत् तत् भेदं विद्यमानम् अङ्गीकृत्य पुनः तस्य स्वलक्षणस्य प्रतिक्षेपेण निरासेन 'विज्ञप्तिमात्रमन्तस्तत्त्वं नात्मादिकम्' इति एवं प्रत्यवस्थाप्य पुनरनवस्थाप्य तदपि विज्ञप्तिमात्रमपि सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष्यमाणं पर्यालोच्यमानं नित्यादिवत् परीक्षां क्षमते इति एवं स्वभावनैरात्म्यं निःस्वभावत्वम्, कथम्भूतम्[?] असाध्यसाधनं साध्यसाधनविकलम् आकुलं यथा भवति तथा प्रलपन् सौगतो न क्वचिद् अन्तर्बहिः सकलशून्यतायां वा व्यवतिष्ठते यतः 'तदपेक्ष एव दुर्नयः' इत्युक्तं शोभेत । ननु किमुच्यते स्वभावनैरात्म्यमसाध्यसाधनम् यावत्तत्र साधनं विचार एव इति चेदत्राह–'स्वपर' इत्यादि । स्वः सौगतः परो नैयायिकादिः तयोः विसंवाद॰ तत्त्वाप्रतिपत्तिः व्यसनं समासक्तिः तां[?] तें[?] अधिकृत्य कृतेन पुनः पश्चाद् अलं पर्याप्तं शेषप्रलापेन असम्बद्धाभिधानेन । कुत एतदित्यत्राह प्रत्यक्षादिविरोधात्, प्रत्यक्षमादिर्यस्य अनुमान-लोकप्रसिद्ध्यादेः तत्तथोक्तं तेन तस्य वा विरोधात् । अथ प्रत्यक्षादेरनभ्युपगमान्न दोषोऽयमत्राह–'तद्' इत्यादि । तेषां प्रत्यक्षादीनां मध्ये अन्यतमस्य अभिमतत्वाद् अङ्गीकृतत्वात् सौगतैः, कुतोऽन्यथा तेषां स्वपराभिमतसाधनदूषणमित्यभिप्रायः ?

एवं व्यवहारनयं साभासं प्रतिपाद्य इदानीं ऋजुसूत्रनयं साभासं दर्शयन्नाह–

ऋजुसूत्रस्य पर्यायः प्रधानं चित्रसंविदः ।
चेतनाणुसमूहत्वात् स्याद्भेदानुपलक्षणम् ॥ ४३ ॥

---

(१)सौगत । (२) प्रमाणाप्रसिद्धकल्पितलोकव्यवहारापेक्षी । (३)अस्मदभिमत प्रमाणसिद्धक्षणिकार्थाश्री । (४) विसंवादव्यसने । (५)प्रत्यक्षाद्यस्वीकारे । (६)सौगतानाम् । (७) व्याख्या–'ऋजु वर्तमानपर्यायलक्षणं प्रगुणं सूत्रयति निष्पयतीति ऋजुसूत्रस्य प्रधानं विषयः स्याद् भवेत् । कः ? पर्यायः वर्तमानविवर्तः । अतीतस्य विनष्टत्वेन भविष्यतश्चासिद्धत्वेन व्यवहारानुपयोगात् व्यवहारविसंवादित्व इति वचनात् । ननु चित्रज्ञानमेकमनेकाकारं व्यवहारोपयोगि स्यादिति चेदत्राह–चित्रेत्यादि, चित्रा संवित् ज्ञानं तस्याः चेतनाणुसमूहत्वात्, चेतना ज्ञानं तस्याणवः अंशाः अविभागप्रतिच्छेदास्तेषां समूहः समुदायः तत्त्वात् । चित्रसंवित् ऋजुसूत्रनयस्य विषयः । न खलु समुदायः नीलपीतादिनानाक्षणः प्रतिनियतव्यवहारोपयोगीति । नन्वेवं तत्र भेदः किमिति नोपलक्ष्यते इति चेदत्राह–भेदानुपलक्षणादिति । सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भादित्यध्याहारः । ततो भेदस्य नानात्वस्यानुपलक्षणमलक्षणं सदृशापराप

1 प्रत्य तदपे–श्र० । 2 तदपेक्षणं च दु–ब०, तदपेक्ष एव दु–आ० । 3–मथवत श्र० । 4 [illegible] वि–आ० । 5–स्ताथां सम–ब० । 6–असिद्धसाधन ब० । 7 यावतातत्र ब०, श्र० । 8–तासि न आ० । 9 तस्य वाविरो–ब०, तस्य विरो–आ० । 10 प्रतिपाद्येदानीं ऋजुसूत्रस्य नयस्य तदभि–आ०, ब० ।

विवृतिः–यथा बहिः परमाणवः सन्निविष्टाः स्थवीयांसमेवैकमाकारमभूतं दर्शयन्ति तथैव संवित्परमाणवोऽपि । तदेकमनेकरूपं तत्त्वमक्रमम्, यत् सक्रमं साधयेत् भेदस्य अभेदविरोधात् । क्वचिन्नानात्वमेव अन्यथा न स्यात् । सापेक्षो नयः । निरपेक्षो दुर्नयः । प्रतिभासभेदात् स्वभावभेदं व्यवस्थापयन् तदभेदादभेदं प्रतिपत्तुमर्हत्येव विशेषाभावात् । तदन्यतराभावे अर्थस्यानुपलब्धेः ।

ऋजुसूत्रस्य नयस्य तदभिप्रायवतो वा पर्यायः प्रभेदः प्रधानम्, प्रधान-

कारिकार्थः– शब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वात् द्रव्यं तस्य अप्रधानम् । ननु तस्यापि चित्रैका संविदस्ति तत्कथं पर्यायः प्रधानमित्याह–चित्रसंविदः

चेतनाणुसमूहत्वात् 'नैका चित्रा संविदस्ति' इति भावः । अथ मतम्–पर्यायत्वेऽस्यास्तैर्थ्येऽयोपलक्षणं स्यादतः प्रतिसमयभेदानुमानमनर्थकमित्यत्राह–'स्यात्' इत्यादि । स्याद् भवेद् भेदस्य नानात्वस्य अनुपलक्षणम् अनिश्चयनं सन्तानापरापरो-त्पत्तिविप्रलम्भात् मायागोलकवदिति ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'यथा' इत्यादि । यथा येन दूरस्थितविरलकेशनिदर्शनप्रद-

विवृतिव्याख्यानम्– र्शनप्रकारेण बहिः परमाणवः जडपरमाणवः सन्निविष्टाः रचनाविशेषेण व्यवस्थिताः स्थवीयांसमेव न सूक्ष्मम्, एकमेव नानेकम् आकारम्

रोत्पत्त्या विप्रलब्धबुद्धिः स्यादिति व्याख्यायते । अयमर्थः–यथाऽयोगोलकादौ पर्यायभेदो विद्यमानोऽपि विप्रलब्धबुद्धिना न निश्चीयते तथा चित्रसंविद्यपि तद्भेदो वसन्नपि नोपलभ्यत इति । अथवा स्यात् कथञ्चित् द्रव्याविनाभाविपर्यायः ऋजुसूत्रस्य प्रधानम् सर्वथा द्रव्यनिरपेक्षस्य पर्यायस्यावस्तुत्वात् । निरन्वयस्य क्षणिकत्वात्तु ऋजुसूत्राभास इति व्याख्येयम् । –लघी० ता० पृ० ६२। तुलना– 'पच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणअव्वो । –अनुयोगद्वार० ४ द्वा० । आव० नि० गा० ७५७ । विशेषा० गा० २७१८ । सतां साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्रः ।–आह च–साम्प्रतविषयग्राहकमृजुसूत्रनयं समासतो विद्यात् । –तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५ । तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५ । ऋजुं प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयत इति ऋजुसूत्रः । –सर्वार्थसि० १।३३ । धवला टी० पृ० ८६ । सूत्रपातवद् ऋजुसूत्रः । –राजवा० १।३३ । ऋजु प्रगुणं सूत्रयति नयत इति ऋजुसूत्रः । सूत्रपातवद् ऋजुसूत्र इति । –नयचक्रवृ० प० ३५४ B । ऋजुसूत्रं क्षणध्वंसि वस्तुसत्सूत्रयेदृजु । प्राधान्येन गुणीभावाद् द्रव्यस्यानर्पणात् सतः । –तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१ । नयवि० ७७ । प्रमेयक० पृ० ६७८ । सन्मति० टी० पृ० ३११ । नयचक्रगा० ८ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७।२८ । स्या०म० पृ० ३१२ । जैनतर्कभा० पृ० २२ ।

(१) परि भेदमेति गच्छतीति पर्यायः । –धवलाटी० पृ० ८४ । (२) चित्रसंविदः । (३) भेदरूपेण । (४) तुलना– समानज्वालासम्भूतया दीपेन विभ्रमः । नरन्तर्यस्थितानेकसूक्ष्मवित्तौ तथैकधा ॥ यथा हि दीपादौ नैरन्तर्येण सदृशापरापरोत्पत्त्यायाससम्भवात् सत्यपि भेदे एकत्वविभ्रमो भवति तथा नैरन्तर्येणानेकसूक्ष्मतरपदार्थसंवेदनतोऽप्येकत्वविभ्रमः । –तत्त्वसं० प० पृ० १९७ । यत्पुनरत्रोक्तं प्रज्ञाकरगुप्तेन–अतथाविधयाऽन्यथाविषयविपर्यासिद्धिः दूरस्थितविरलकेशेषु अतदाकारमसु तथाविधायास्तस्या दर्शनात् । –सिद्धिवि० टी० प० १०० B ।

१–मित्याह ब० ज० । २ संवेदन श्र० । ३–गोलक–आ० –गोलकवत्–श्र० । ४–निदर्शन प्रकारेण घनपरमाणव आ० । ५ स्थवीयांसमेव ब० श्र० ।

अभूतम् असन्त दर्शयन्ति, तथैव तेनैव प्रकारेण सनित्परमाणवोऽपि, नहि परमाणुवत् सनित्परमाणूनामपि स्वरूपेणाप्रतिभासनादिति भाव । उपसंहारमाह–'तद्' इत्यादि । यत एव तत् तस्मात् नैकम् अभिन्न तत्त्वम् अनेकरूपम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? अक्रमम् अक्षणिकम् 'युक्तम्' इत्यध्याहार । यत् तथाविध तत्त्व सक्रम साधयेत् जैन । कुत एतदित्याह–'भेदस्य' इत्यादि । भेदस्य अनेकत्वस्य अभेदविरोधात् एकत्वविरोधात् । क्वचिद् अन्तर्बहिर्वा नानात्वमेव अनेकत्वमेव, अन्यथा भेदस्य अभेदविरोधाभाव-प्रकारेण न स्यात् । एव ऋजुसूत्रस्य सामान्येन स्वरूप प्रदर्श्य अधुना तद्गत प्रदर्श-यन्नाह–'सापेक्ष' इत्यादि । स्वविषयादन्यत्र या अपेक्षा तया सह वर्तमान ऋजुसूत्र-नय, निरपेक्षो दुर्नय. । कुत एतदित्याह–'प्रतिभासभेद' इत्यादि । प्रतिभास-भेदात् स्वभावभेद वस्तुस्वरूपनानात्व व्यवस्थापयन् नयो वान्यो वा तदभेदाद् तस्य प्रतिभासस्य अभेदात अभेद भावस्य प्रतिपत्तुमर्हत्येव । ननु तत्प्रतिभासयो सत्य-तरत्वकृतो विशेषोऽस्ति ततो न भेदप्रतिभासादपि अभेदप्रतिभासादपि तत्त्वसिद्धिरि-त्यत्राह–'विशेषाभावात्' इति । द्वयोरपि प्रतिभासयो सत्येतरलक्षणविशेषस्य भेदस्य अभावात, 'उभयोरपि सत्यत्वात्' इत्यर्थ । तदन्यतरप्रतिभासप्रतीत्यपह्नवे दूषणमाह-'तद' इत्यादि । तयो[1] भेदाभेदप्रतिभासयोर्मध्ये अन्यतरस्य अपाये अङ्गीक्रियमाणे[1] अर्थस्य वस्तुनोऽन्यतरप्रतिभासविकलस्य अनुपलब्धेः उपलम्भाभावात् सर्वत्र उभया-त्मकस्य वोपलब्धे न प्रतिपत्तुमर्हत्येव ।

अधुना शब्दसमभिरूढेत्थम्भूतनयान् कथयन्नाह–

कालकारकलिङ्गानां भेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत् ।
अभिरूढस्तु पर्यायैः इत्थम्भूतः क्रियाश्रयः ॥४४॥

(१) भेदाभेदप्रतिभासयो । (२) "शब्दो नाम नय स्यात । किं विशिष्ट ? [illegible] प्रमयस्य भेद नानात्व करोतीत्यभिप्रतीत्यर्थभेदकृत् । कस्मात ? भेदाद् विशेषात् । केषाम् ? [illegible] ङ्गानाम्, उपलक्षणमेतत तेन सख्यासाधनोपग्रहादीत्यर्थ । तु पुन अभिरूढ [illegible] पर्यायभेदै । अर्थभेदकृत यथा इन्दनादिन्द्र शकनात शक्र पूर्दारणात् पुरन्दर [illegible] धर्मभेदाभावे इन्द्रादिशब्द प्रयोक्तु नयस्य अन्यथाऽतिप्रसङ्गात । अभि स्वाभाविक [illegible] रूढ इति निरुक्ते । पुनरित्थम्भूतो नाम नय क्रियाश्रय विवक्षितक्रियाप्रधान [illegible] यदवन्दति तदेवेन्द्र नाभिषवो न पूजक इति अन्यथापि तद्भावे क्रिया [illegible] –लघी० स्वो० वृ० ६३ । तुलना– "शब्दो लिङ्गादिभेदेन वस्तुभेद समीहते । [illegible] म्भूत क्रियाश्रय ॥ –प्रमाणसं० पृ० १२६ । (३) तुलना–"[illegible] सद्दो ।" अनुयोगद्वार० ४ द्वा० । आव० नि० गा० ७५७ । [illegible] मियान सद्द । आह च–क्रियाकारकभेदेन त्रिविधपदं तु शब्दनाम [illegible] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५ । "लिङ्गसख्यासाधन[illegible]

1 'एकत्वविरोधात्' नास्ति आ० । 2 नानात्वमेव [illegible] 4–मे अन्यतरस्य अर्थस्य ब० । 5–शोनन्तरप्रतिभासविकल्प[illegible]

विवृति'–कालभेदाचावद् अभूत भवति भविष्यति इति । कारकभेदात् करोति क्रियते इत्यादि । लिङ्गभेदात् देवदत्तो देवदत्ता इति । तथा पर्यायभेदात् इन्द्र शक्र' पुरन्दर इति । तथैतौ शब्दसमभिरूढौ । क्रियाश्रय एवम्भूत । कुर्वत एव कारकत्वम् । यदा न करोति तदा कर्तृत्वस्यायोगात्¹ । तत्कथ पुन' शब्दज्ञान विवक्षाव्यतिरिक्त वस्तु प्रत्येति ? कथ च न ? तदप्रतिबन्धात्, 'नहि बुद्धेरकारण विषय.' इत्येतत् प्रतिव्यूढ विज्ञानस्य अनागतविषयत्वनिर्णयेन ।

सर्वार्थसि० १।३३। शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्यायतीति शब्द ।'–राजवा० १।३३। 'शब्दपृष्ठतोऽर्थग्रहण प्रवण शब्दनय लिङ्गसंख्याकारकपुरुषोपग्रहव्यभिचारनिवृत्तिपरत्वात् । –धवलाटी० पृ०८६। 'काला दिभेदतोऽर्थस्य भेद य प्रतिपादयत । सोऽत्र शब्दनयः शब्दप्रधानत्वादुदाहृत । –तत्त्वार्थश्लो०पृ०२७२। नयविव० ८४। प्रमेयक० पृ०६७८। सन्मति० टी० पृ० ३१२। नयचक्र गा० ४०। तत्त्वार्थसार प० १०७। कालादिभेदेन ध्वनरर्थभेद प्रतिपद्यमान शब्द । यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादि । –प्रमाणनय० ७।३२ ३३। स्या० म० प० ३१३। जैनतर्कभा० प० २२।

(१) तुलना–'वत्थूओ संकमण होइ अवत्थूनए समभिरूढ । –अनुयोगद्वा०४ द्वा० । आव० नि० गा० ७५८। सत्स्वर्थेष्वसंक्रम समभिरूढ । –तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५। तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। "ज ज सण्णं भासइ त त चिय समभिरोहए जम्हा । सण्णतरत्थविमुहो तओ तओ समभिरूढोत्ति ॥ –विशेषा० गा० २७२७। नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढ । अथवा यो यत्राभिरूढ स तत्र समेत्याभिमुख्येनारोहणात् समभिरूढ । –राजवा० १।३३। धवलाटी० पृ० ८९। समभिरूढ एव सत्त्वकीभावेन आभिमुख्य एक एव रूपादिरर्थ एवेति या नानाना (?) समभिरूढ । नयचक्रवृ० प० ४८३। B पर्यायशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात् । नय समभिरूढ स्यात् पूर्ववच्चास्य निश्चय । –तत्त्वार्थ श्लो० पृ० २७३। नयविव० ९२। प्रमेयक० पृ०६८०। सन्मति० टी० प० ३१८। नयचक्रगा०४१। तत्त्वार्थसार प० १०७। प्रमाणनय० ७।३६। स्या० म० प० ३१४। जैनतर्कभा० प० २२। (२) तुलना– वजण अत्थतदुभय एवभूओ विससेइ। '–अनुयोगद्वा० ४ द्वा०। आव० नि० गा० ७५८। व्यञ्जनार्थयोरेवम्भूत ।'–तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५। तत्त्वार्थहरि० तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययतीति इत्येवम्भूत । अथवा येनात्मना येन ज्ञानेन भूत परिणत तेनैवाध्यवसाययति । –सर्वार्थसि० १।३३। राजवा० १।३३। वजणमत्थेणत्थ च वजणेणोभय विसेसेइ । जह घटसद्द चेट्ठावया तहा त पि तेणेव । –विशेषा० गा० २७४३। "एव भेदे भवनादेवम्भूत । न पदाना समासो स्ति भिन्नकालवर्तिना भिन्नार्थवर्तिनाञ्चैकत्वविरोधात् । न परस्परव्यपेक्षाप्यस्ति वर्णार्थसंख्याकालादिभिर्भिन्नाना पदाना भिन्नपदापेक्षायोगात् ततो न वाक्यमप्यस्तीति सिद्धम् । तत पदमेकमेकार्थस्य वाचकमित्यध्यवसाय एवम्भूतनय । –धवलाटी० पृ० ९०। एव भवनादेवम्भूत अस्मिन्नये न पदाना समासोऽस्ति स्वरूपत कालभेदेन च भिन्नानामेकत्वविरोधात् । न पदानामेककालवृत्ति समास क्रमोत्पन्नानां क्षणक्षयिणा तदनुपपत्त । नैकार्थे वृत्ति समास भिन्नपदानामेकार्थे वृत्त्यनुपपत्ते । न वर्णसमासोऽप्यस्ति तत्रापि पदसमासोक्तदोषप्रसङ्गात् । तत एक एव वर्ण एकार्थवाचक इति पदगतवर्णमात्रार्थ एकार्थ इत्येवम्भूताभिप्रायवान् एवम्भूतनय । –जयध० प० २९। तत्क्रियापरिणामोऽयमर्थस्तथैवेति विनिश्चयात् । एवम्भूतेन नीयते क्रियान्तरपराङ्मुख । –तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७४। नयविव० ९४। प्रमेयक० पृ०६८०। सन्मति० टी० पृ० ३१४। नयचक्र गा० ४३। तत्त्वार्थसार प० १०७। प्रमाणनय० ७।४०। स्या० म० पृ० ३१५। जैनतर्कभा० पृ० २३।

---

1 कर्तृत्वायोगात्–न्यायकु० ।

कालादीनां भेदात् शब्दः शब्दनयः **अर्थस्य** जीवादेः **भेदं** करोति प्रतिपादयति इति **तद्भेदकृत्। अभिरूढनयः** पुनः **पर्यायैः** पर्यायशब्दैः

कारिकार्थः –

अर्थभेदकृत्। **इत्थम्भूतः** क्रियाशब्दभेदात् अर्थभेदकृत् इति।

कारिकां विवृण्वन्नाह 'काल' इत्यादि। **तावच्छब्दः** नयवाची, **कालभेदात्** कालविशेषाद् अर्थभेदस्तावदुदाह्रियते–**अभूत्** अतीतकालसम्बन्ध्यनुभवादिपर्यायात्मना जीवोऽपि, **भवति** वर्त्तमानकालसम्बन्धिस्मरणादिपर्यायरूपेण जायते। हेतुहेतुमद्भावश्चात्र द्रष्टव्यः–यस्माद् भवति तस्माद् अभूत्, परिणाम्युपादानकारणमन्तरेण 'भवति' इत्यस्यायोगात्। **भविष्यति** अनागतपर्यायस्वभावेन उत्पत्स्यते, अत्रापि यस्माद् भवति तस्माद् भविष्यति अन्यथाभवतोऽभावे कार्याभावादिति मन्यते। इतिशब्दः कालभेदाद् भावभेदप्रक्रमसमाप्त्यर्थः। कारकभेदादर्थभेदमुदाहर्तुमाह–'**कारक**' इत्यादि। कारकाणां कर्त्रादीनां **भेदात्** 'शब्दोऽर्थभेदकृत्' इति सम्बन्धः। अत्रोदाहरणम् '**करोति**' इत्यादि। यदा हि देवदत्तः स्वतन्त्रो नियमितो घटादिकार्ये तदा '**करोति घटं देवदत्तः**' इति भवति। यदा तु स एव अन्योपकार्यत्वेन निरूप्यते तदा' **क्रियते देवदत्तः**' इति। आदिशब्दात् 'देवदत्ते निधेहि, देवदत्तादपर' इत्यादि षट्कारकीपरिग्रहः। तथा **लिङ्गभेदात् शब्दोऽर्थभेदकृत् यथा 'देवदत्तो देवदत्ता'** इति।

यथा शब्दः कालादिभेदाद् अर्थभेदकृत् तथा अभिरूढः पर्यायभेदात् '**इन्द्रः, शक्रः, पुरन्दरः**' इति। तथा प्रागुक्तप्रकारेणैव एतौ अनन्तरोक्तौ शब्दसमभिरूढौ कथितौ।

इत्थम्भूतः कीदृशः ? इत्याह **क्रियाश्रयः एवम्भूतः** इति। ननु च इत्थम्भूतस्वरूपप्ररूपणे प्रस्तुते एवम्भूताभिधानं किं केन सङ्गतम् ? इत्यसत्, यस्मात् इत्थम्भूतस्यैव इदम् 'एवम्भूत' इति नामान्तरम्। कस्मादसौ क्रियाश्रय इत्याह **कुर्वत एव कारकत्वं यतः** इति। एतदपि कुतः इत्याह '**यदा**' इत्यादि। **यदा** यस्मिन् काले **न करोति** कार्यम् इन्दनादि शचीपतिः **तदा कर्तृत्वायोगात् न** इन्द्रादिव्यपदेशः **स्यात्**। अत्राह सौगतः–नयोऽप्येते नया शब्दतोऽर्थं प्रतिपद्यन्ते अतः कालादिभेदादर्थभेदं प्रतिपद्यमानं तत् **शब्दज्ञानम् कथं पुनर्विवक्षाव्यतिरिक्तं वस्तु** स्वलक्षणं **प्रत्येति** ? तमाचार्यः पृच्छति, **कथञ्च न** '**प्रत्येति**' इति सम्बन्धः। स उत्तरमाह **तदप्रतिबन्धात्** तेन वस्तुनाऽप्रतिबन्धात्, तदात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्धाभावात् शब्दज्ञानस्य इति सम्बन्धः। तेनाभावेऽपि तत् तत्प्रत्येति इति चेदत्राह–'**नहि**' इत्यादि। **नहि** नैव **वुद्धेः** शब्दज-

(१) सौगत। (२) तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धाभावेऽपि। (३) शब्दज्ञानम्।

1 क्रमभावी का–ब०। 2–सम्बन्ध्यनुभ–आ०। 3–दि भव–आ०। 4–वतो भाव ब०, श्र०। 5 इति यथा च आदिशब्दात आ० ब०। 6–णवानन्तरो–श्र०। 7–श्रय इत्येवम्भू–आ०। 8–पणप्रस्तु–श्र०। 9–माह तेन वस्तुना आ०। 10 तच्छब्द–श्र०। 11–वि तत्प्र–आ०।

नितायाः यद्कारणं स्वलक्षणरूपं वस्तु तत्तस्याः विषयः। 'नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणम्, नाकारणं विषयः' [ ] इत्यभिधानात्। इति शब्द पूर्वपक्षपरिसमाप्तौ। अत्र दूषणमाह- 'एतद्' इत्यादि। एतत् परोक्तं प्रतिव्यूढम् निरस्तम्। केन इत्याह-विज्ञानस्य अनागतविषयत्वनिर्णयेन, प्रतिपादितश्चास्य अनागतविषयत्वनिर्णयः 'भविष्यत् प्रतिपद्येत' [लघी० का० १४] इत्यादिना।

ननु शब्दाः सङ्केतितमेवार्थं प्राहुः नान्यम् अतिप्रसङ्गात्। सङ्केतश्च न अविपर्यीकृतानां शब्दार्थानां युक्तः, तन्निर्विषयताप्राप्तेः। तद्विषयीकरणञ्च नाध्यक्षेण, शब्दाध्यक्षस्य अभिधेये तदध्यक्षस्य चाऽभिधाने अप्रवृत्तेः। नापि स्मृत्या, तस्या निर्विषयत्वात् इत्याशङ्क्याह-

अक्षबुद्धिरतीतार्थं वेत्ति चेन्न कुतः स्मृतिः।
प्रतिभासभिदेकार्थे दूरासन्नाक्षबुद्धिवत् ॥ ४७ ॥

विवृतिः-क्षणिकाक्षज्ञानज्ञेययोः कार्यकारणत्वनियमे निर्विषयं प्रत्यक्षं तत्कारणस्य अतीतस्य तदनात्मकत्वात्। प्रागभावप्रध्वंसाभावयोः समनन्तरेतरविनाशयोश्च अभावाऽविशेषात्, तदुत्पत्तिसारूप्ययोः असम्भवात् व्यभिचाराच्च किं कस्य ज्ञानमित्युक्तम्। यदि पुनः अतीतमर्थं प्रत्यक्षं कथञ्चिद्वेत्ति, स्मृतिः कथं न सविषया? साक्षादतदुत्पत्तेरताद्रूप्याच्च इति वैयात्यम्, व्यवहितोत्पत्तावपि तद्रूपानुकृतेर्दर्शनात् दृष्टार्थस्मरणात्। प्रत्यक्षस्मृत्योः प्रतिभासभेदात् नैकार्थत्वमनैकान्तिकम्, दूरासन्नैकार्थप्रत्यक्षयोः भिन्नप्रतिभासयोरपि तदेकार्थविषयत्वात्।

(१) बुद्धे। (२) उद्धृतमिदम्-आप्तप० प० ४२। सिद्धिवि० टी० पृ० ३०६ A। सन्मति० टी० प० ५१०। स्या० र० प० १०८८। षड्द० बृह० पृ० ३७। प्रमाणमी० प० ३४। न्यायवा० यशो० प० १५१ A। नाकारणं विषयः-अनेकान्तजय० पृ० २०७। धर्मसं० पृ० १७६ B। बोधिचर्या० प० ३९८। तत्त्वार्थश्लो० प० २१९। प्रमेयक० प० ३५५ ५०२। स्या० र० प० ७६९। न्यायवि० वि० प० १९ B। स्या० म० पृ०२०६। (३) श्रावणप्रत्यक्षस्य। (४) अभिधेयार्थग्राहिचाक्षुषादिप्रत्यक्षस्य। (५) 'अक्षजनिता बुद्धिर्ज्ञानमतीतार्थं स्वकारणभूतं शब्दवाच्यं च वेत्ति' वेत्ति जानाति। सौगते मते हि विषयस्य ज्ञानकारणत्वात् कारणं च कार्यात् पूर्वक्षणवर्तीत्यभ्युपगमे। तदा कुतः कारणात् स्मृतिरपि अतीतार्थं न वेत्ति अपि तु वेत्त्येवेत्यर्थः। ननु एवं स्मृतेः कथं प्रामाण्यं गृहीतग्राहित्वादित्याशङ्क्याह-प्रतीत्यादि। एकोऽभिन्नोऽतीतत्वाविशेषात् साधारणोऽर्थो विषयः प्रत्यक्षस्मरणयोस्तस्मिन्नपि स्मृतिः प्रमाणमिति नाशङ्क्यम्। कुतः? प्रतिभासभिदा प्रतिभासस्य अतीताकारपरामर्शस्य भिदा भेदस्तया। प्रत्यक्षेण हि इदमिति यदनुभूयते तदेव कालान्तरे पुनस्तदित्यतीताकारतया स्मृत्या विषयीक्रियते इति। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह-दूरेत्यादि। दूरश्चासावासन्नश्च दूरासन्नस्तस्मिन्नर्थे पादपादौ अक्षबुद्धिवत्। यथा प्रत्यक्षज्ञानानां स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदात् प्रामाण्यं तथा स्मृतेरपीत्यर्थः। -लघी० ता० पृ० ६५। (६) तुलना-'वागप्यविदामक्षगोचरत्वेऽपि युज्यते। प्रतिभासभिदा दूरासन्नार्थाक्षज्ञानवत्' -सिद्धिवि० टी० प० ४७० A।

1 कारणमित्यभि-श्र०। 2-नस्यागत-श्र०। 3 चाभि-ब०, श्र०।

दूराक्षार्थज्ञानं भ्रान्तेरप्रत्यक्षम्, प्रमाणान्तरं स्यात्। नहि ततोऽर्थं परिच्छिद्य प्रवृत्तौ [1]विसंवादैकान्तः तदप्रमाणं यतः स्यात्। तदयं शब्दार्थौ स्मृत्या [2]संकलय्य सङ्केते पुनः शब्दप्रतिपत्तौ तदर्थं प्रत्येति स्मृतिप्रत्यभिज्ञानादेरपि परमार्थविषयत्वात्। तदर्थाभावेऽपि प्रत्यक्षवत् शब्दार्थज्ञानं वस्तुन्यपि सङ्केतसंभवात्।

अक्षाणां चक्षुरादीनां कार्यभूता बुद्धिः अतीतार्थं वेत्ति विषयीकरोति चेद् यदि न कुतः कारणात् स्मृतिः अतीतार्थं वेत्ति? किन्तु वेत्ति एव। अथैवं सति अक्षबुद्धिस्मृत्योरभिन्नः प्रतिभासः स्यात् अभिन्नविषयत्वात् [3]नीलाक्षबुद्धिद्वयवद् इत्युच्यते, तत्राह–'प्रतिभास' इत्यादि। अक्षबुद्धिस्मृत्योः एकार्थे एकार्थत्वे सत्यपि भावप्रधानोऽयं निर्देशः। स्मृतिः प्रतिभासभिदा अस्पष्टप्रतिभासात् इतरप्रतिभासविशेष(षे)णार्थं 'वेत्ति' इति सम्बन्धः। अत्र दृष्टान्तमाह–'दूरासन्न' इत्यादि। सुप्रसिद्धो हि दूरासन्नाक्षबुद्धीनां विषयाभेदेऽपि स्पष्टेतररूपः प्रतिभासभेदः पादपस्यैकस्यैव तथाप्रतिभासनात्।

कारिकाव्याख्यानम्–

कारिकां व्याख्यातुमाह–'क्षणिक' इत्यादि। क्षणिकौ च तौ अक्षज्ञानज्ञेयौ च तयोर्यथाक्रमं कार्यकारणत्वनियमे अभ्युपगम्यमाने निर्विषयं निरालम्बनं प्रत्यक्षं स्यात्। कुत एतदित्याह–'तद्' इत्यादि। तस्य प्रत्यक्षस्य कारणं यद्वस्तु तस्य। कथम्भूतस्य? अतीतस्य, तदनात्मकत्वात्। स प्रत्यक्षविषयोऽनात्मा स्व(त्माऽस्य) भावो यस्य तत्तथोक्तं तस्य भावात्। प्रत्यक्षकाले हि सर्वात्मना अर्थे विनष्टस्य स्वरूपाभावतो न तद्विषयत्वं घटते। स्वकाले सत्त्वात् तद्विषयत्वम्, कुतः स्मृतेर्निर्विषयत्वम्? तदर्थस्यापि स्वकाले सत्त्वाविशेषात्। एतत्तु अक्षज्ञानं प्रति अतीतस्य कारणत्वमभ्युपगम्य दूषणमुक्तम्। इदानीं तदनभ्युपगम्य तद्दर्शयन्नाह–'प्रागभाव' इत्यादि। तस्माद् विषयाभिमताद् उत्पत्तिसारूप्ये तदुत्पत्तिसारूप्ये, "का भीतिः (भीभिः)" [जैनेन्द्रव्या० १।३।३२] इत्यत्र 'का' इति योगविभागात् समासविधिः। अथवा, तदिति निपातः 'तस्माद्' इत्यस्यार्थे वर्त्तते। तयोरसंभवात्

विवृतिव्याख्यानम्–

(१) प्रत्यक्षबुद्धितो भिन्नरूपेण। (२) पादपलक्षणविषयस्य एकत्वेऽपि। (३) स्पष्टाऽस्पष्टरूपेण। (४) अर्थस्य। (५) प्रत्यक्षविषयत्वम्। (६) प्रत्यक्षबुद्धिविषयत्वं। (७) स्मृतिविषयभूतस्य अतीतार्थस्यापि। (८) त्रुटितायां पू० प्रतौ 'भीभिः' इति पाठः प्रतिभाति। 'का भीभिः' ॥१।३।३२॥ कान्तस्य (पञ्चम्यन्तस्य) सुबन्तस्य भीवाचिभिः सुबन्तैः सह षसः (तत्पुरुषसमासः) भवति। वृकेभ्यो भीः वृकभीः वृकभयम् वृकभीतः। केति विभागेन परेभ्यस्त्रायन्ते परत्रा इत्यपि। –जैनेन्द्रम०। (९) योगविभागे सति 'का भीभिः' इति सूत्रस्य अयमर्थः स्यात्–यथा कान्तस्य भयवाचिभिः शब्दैः समासो भवति तथा कान्तस्य अपरैरपि शब्दैः समासः स्यात्। (१०) तत्पुरुषसमासः। 'षः' इति समासस्य संज्ञा जैनेन्द्रव्याकरणे।

1 विसंवाद्यते सदप्र–ज० वि०। 2 संकलय्य ई० वि०। 3–प्रवृत्ती ई० वि०। 4 नीलाक्षबु–आ०। 5–स्योरेकार्थत्वे श्र०। 6–सम्बन्ध श्र०। 7–यो नात्मा श्र०, ब०। 8 एतच्चाक्ष–श्र०। 9 प्रतीतस्य श्र०।

कारणात्, किं प्रत्यक्षमन्यद्वा कस्य प्रत्यक्षाभिमतस्य अन्यस्य वा विषयस्य ज्ञानं 'ग्राहकम्' इत्यध्याहारः, 'सम्बन्धि वा'। कुत एतदित्याह–'प्राग्' इत्यादि। उत्पत्तेः पूर्वमभावः प्रागभावः, स्वभावलाभस्य स्वरूपप्रच्युतिः प्रध्वंसाभावः, तयोरभावाविशेषात् अभावत्वाऽभेदात्। अयमभिप्रायः–यदा सति कारणे कार्यं न भवति असति च भवति तदा तद् आत्मनः कारणाभिमतस्याऽभावं कारणं सूचयति। तथा चाऽनादिभूततत्प्रागभावकालेऽपि तदभावस्याविशेषात् कार्योत्पत्तिः स्यात्। अथ कारणप्रध्वंसाभाव एव कार्योत्पादको न तत्प्रागभावः, अत्राह–'समनन्तर' इत्यादि। कार्योत्पत्तेः प्रागनन्तरं जातः कारणप्रध्वंसः समनन्तरः, इतरः अनाद्यतीतकाले चिरजातः तयोः विनाशयोरविशेषात्। अयमभिप्रायः–यदि अभावत्वाविशेषेऽपि प्रध्वंसाभाव एव कार्योत्पादको न प्रागभावः तर्हि अनाद्यनन्तातीतानागताः प्रध्वंसाभावाः कार्योत्पादकाः स्युः तथा च कार्यस्य अनाद्यनन्तताप्रसक्तिः। अथ कारणप्रध्वंस एव कार्योत्पादको नेतरः, न प्रध्वंसस्यैव कारणत्वाभ्युपगमे अस्य परिहारस्याऽनुपपत्तेः। न च प्रागनन्तर एव प्रध्वंसः तज्जनको नान्य इत्यभिधातव्यम्, देशकालयोरनभ्युपगमे अस्यापि परिहारस्य दुर्घटत्वात्। आनन्तर्यं हि देशकालकृता प्रत्यासत्तिरिति। इतश्च किं कस्य ज्ञानमिति दर्शयन्नाह–'व्यभिचाराच्च कारणात् किं कस्य ज्ञानमिति'? एतच्च ज्ञानस्य निराकारत्वसिद्धौ[13] प्रपञ्चितमिति नेहोच्यते।

ननु नैव प्रत्यक्षस्य अन्यस्य वा अतीतोऽन्यो वा भावितो विषयोऽस्ति भिन्नो यस्तूच्यते स व्यवहारेण इत्याशङ्क्याह–'यदि पुनः' इत्यादि। यदि पुनः अतीतमर्थं प्रत्यक्षं कथञ्चिद् व्यवहारेण अन्येन वा प्रकारेण वेत्ति विषयीकरोति तर्हि स्मृतिः कथं न सन्निधात् 'अतीतमर्थम्' इति सम्बन्धः। परे प्राह–'साक्षात्' इत्यादि। साक्षात् अव्यवधानेन अतदुत्पत्तेः अतीतार्थादुत्पत्त्यभावात् स्मृतेः अताद्रूप्यत्वाच्च अतीतार्थेन सारूप्यासम्भवात् नासौ[18] ([10]त[17]) सन्निधात् इति सम्बन्धः। अत्रोत्तरम् 'इति' आदि। इति एवं वैयात्यं नियातस्य दुर्विदग्धस्य भावो वैयात्यं परस्य। कुत

(१) इत्यध्याहार इति योज्यम्। (२) कारणम्। (३) स्वस्य। (४) कारणरूपम्। (५) कारणप्रागभावकाले कारणासन्निधानावस्थायामित्यर्थः। (६) कारणाभावस्य। (७) कारणप्रागभावः। (८) अव्यवहितपूर्वक्षणे जातः। (९) अभावरूपेण सदाभावात्। (१०) अनाद्यनन्तातीतानागतप्रध्वंसाः। (११) कार्योत्पादकाः। (१२) बौद्धमते हि कारणकार्याभिमतक्षणयोः एकस्याभावात् एककालाभावाच्च न देशकालकृतमानन्तर्यं सम्भवति। तन्मते हि कारणाभिमतस्य अयो देशः कालश्च कार्याभिमतस्य चान्यः देशकालयोरपि क्षणिकत्वात्। न च तैः आकाशं कालो वा वस्तुभूतः स्वीक्रियते, छिद्रस्य आकाशत्वात् पूर्वापरादिबुद्धेरेव च कालव्यपदेशार्हत्वात्। (१३) पृ० १६९। (१४) परसाधन। (१५) बौद्ध। (१६) स्मृतिः। (१७) अतीतार्थम्। (१८) बौद्धस्य।

1–प्रत्यक्षस्याभि–श्र०। 2 ससम्बन्धि श्र०। 3–भावलब्धा–आ०। 4 अभावत्वाविशेषात् आ०। 5 तथाचानादिभूत–आ०। 6 चिरात्जात श्र०। 7 अनाद्यनन्तानामसा–आ०। 8–स्वते। 9 भवतो आ०। 10 तत्सेवि–ब०।

एतदित्याह–'व्यवहित' इत्यादि। व्यवहितोऽन्तरितो योऽर्थोऽनुभवेन तस्मात् परम्परयोत्पत्तिः स्मृतेः तस्यामपि तस्य व्यवहितस्य यद्रूपं तस्य अनुकृतेर्दर्शनात्। अत्र दृष्टान्तमाह–'दृष्टार्थ' इत्यादि। जाग्रद्दशायां यो दृष्टोऽर्थः स दृष्टः, तस्य स्वप्नः तत्रेव तद्वदिति।

स्यान्मतम्–प्रत्यक्षस्मरणे नैकार्थे भिन्नप्रतिभासत्वात् रूपादिज्ञानवदित्यत्राह–'प्रत्यक्ष' इत्यादि। प्रत्यक्षशब्दस्य अभ्यर्हितत्वात् पूर्वनिपातः। प्रत्यक्षस्मृत्योः प्रतिभासभेदात् हेतोः एकार्थत्वम् इति यत् परस्याभिमतं तदनैकान्तिकम्–अनैकान्तिकहेतुविषयत्वादुपचारेण अनैकान्तिकम्। एतदेव 'दूरासन्न' इत्यादिना समर्थयते–दूरासन्ने च ते एकार्थग्रन्थे च तयोः। कथम्भूतयोः? भिन्नप्रतिभासयोरपि तदेकार्थविषयत्वात् दूरासन्नैकार्थविषयत्वात्। ननु दूराणामक्षाणाम् अर्थज्ञानमप्रत्यक्षं प्रत्यक्षं भवति। कुतः? भ्रान्तेः अस्पष्टस्य दर्शने स्पष्टस्य प्राप्तेः इति चेत्। अत्रोत्तरमाह 'प्रमाण' इत्यादि। प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् अन्यत् प्रमाणं तज्ज्ञानं स्यात् अस्पष्टत्वाऽलिङ्गजत्वाभ्यां प्रमाणद्वयानन्तर्भूतत्वात्। ननु विसंवादात्तत् प्रमाणमेव न भवति तत्कथं तदन्तरम्? इति चेदत्राह 'नहि' इत्यादि। नहि नैव तेन दूरार्थाकारज्ञानेन अर्थं वृक्षादि परिच्छिद्य प्रवृत्तौ क्रियमाणायां विसंवादैकान्तः, अस्पष्टाकारतया विसंवादेऽपि वृक्षाद्याकारतया तदभावात् तदप्रमाणं तद्दूरार्थज्ञानम् एकान्तेनाप्रमाणं यतः स्यात्।

प्रकृतार्थोपसंहारमाह–'तद्' इत्यादि। यस्माद् उक्तप्रकारेण प्रत्यक्षवत् स्मृतेर्वस्तुविषयत्वं सिद्धम् तत् तस्माद् अयं सौगतो व्यवहारी यौ शब्दार्थौ पूर्वदर्शनेन विषयीकृतौ स्मृत्या करणभूतया सङ्कलय्य प्रत्यभिज्ञाय सङ्केते 'एवंविधोऽर्थः एवंविधशब्दवाच्यः' इति समये सति पुनः पश्चाद् व्यवहारकाले शब्दप्रतिपत्तौ सत्याम् अर्थं सम्प्रत्येति विषयीकरोति। 'स्मृत्या सङ्कलय्य' इत्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम्। ननु स्मृत्यादेरवस्तुविषयत्वाद् अवस्तुनि सङ्केतः तत्प्रतिपत्तिश्च, इत्यत्राह–'स्मृति' इत्यादि। आदिशब्देन तर्कादिपरिग्रहः, तस्यापि न केवलं प्रत्यक्षस्य परमार्थविषयत्वात्। ननु परमार्थविषयत्वे शब्दानां न क्वचित् तदभावे तज्ज्ञानं स्यादित्यत्राह–'तद्' इत्यादि। तस्य शब्दस्य अर्थः तदर्थः तस्य अभावेऽपि न केवलं भाव एव शब्दार्थज्ञानं शब्दस्य कार्यभूतमर्थज्ञानं 'जगत्प्रपञ्चस्य प्रकृतिः कारणम्, ईश्वरः कारणं, ब्रह्म कारणम्' इत्यादि। अत्र दृष्टान्तमाह–'प्रत्यक्षवत्' इति। यथा प्रत्यक्षं द्विचन्द्राद्यर्थाभावेऽपि भवति तथा तदपीति। कुत एतदिति चेदत्राह–'वस्तुन्यपि' इत्यादि। अपि शब्दाद् अवस्तुन्यपि सङ्केतसम्भवात्।

(१) बौद्धस्य। (२) बौद्ध। (३) दूराक्षार्थज्ञानम्। (४) प्रत्यक्षानुमानलक्षण। (५) प्रमाणान्तरम्। (६) विसंवादाभावात्। (७) अर्थाभावे, अतीतानागतादिकालवर्तित्यर्थे। (८) शब्दज्ञानम्। (९) शब्दज्ञानमपि।

1 प्राप्तिरिति श्र०। 2 च ब०। 3 अथ प्रत्येति श्र०। 4–दित्याह ब०। 5 तदपि कुत श्र०।

ननु यदि अर्थाभावेऽपि तज्ज्ञानं स्यात् तर्हि सर्वमेव शाब्दज्ञानमप्रमाणं स्यात्। प्रयोगः–विवादास्पदीभूतं शब्दार्थज्ञानमप्रमाणं तत्त्वात् प्रसिद्धतज्ज्ञानवत् इत्याशङ्क्याह–

अक्षशब्दार्थविज्ञानमविसंवादनं समम्।
अस्पष्टं शब्दविज्ञानं प्रमाणमनुमानवत् ॥ ८६ ॥

विवृतिः–तदुत्पत्तिसारूप्यादिलक्षणव्यभिचारेऽपि आत्मना यदर्थपरिच्छेदलक्षणं ज्ञानं तत्तस्येति सम्बन्धात्। वागर्थज्ञानस्यापि स्वयमविसंवादात् प्रामाण्यं समक्षवत्। विवक्षाव्यतिरेकेण वाग् अर्थज्ञानं वस्तुतत्त्वं प्रत्याययति अनुमानवत् सम्बन्धनियमाभावात्। वाच्यवाचकलक्षणस्यापि सम्बन्धस्य बहिरर्थप्रतिपत्तिहेतुतोपलब्धेः।

कारिकार्थः–**अक्षाणि च शब्दाश्च** तेषाम् **अर्थज्ञानं समम्।** केन इत्याह **अविसंवादेन**, अविसंवादेन यथा अक्षज्ञानमविसंवादकं तथा शब्दार्थज्ञानमपि। अयमभिप्रायः–यथा अक्षज्ञानस्य कस्यचिद्विसंवादिनो दर्शनेऽपि न 'सर्वमक्षज्ञानमप्रमाणं तत्त्वात् द्विचन्द्रादिज्ञानवत्' इत्यभिधातुं शक्यम्, तथा शब्दार्थज्ञानमपि। तर्हि प्रत्यक्षात् कोऽस्य विशेषः ? इति चेदाह–**अस्पष्टमविशदं शब्दविज्ञानम्**, अक्षज्ञानं तु स्पष्टम् इत्यनयोर्विशेषः। तर्हि तत्प्रमाणं किमिवेति चेदाह–**प्रमाणं** शब्दज्ञानम् **अनुमानवत्।** अत्रापि '**अविसंवादात्**' इति सम्बन्धनीयम्।

विवृतिव्याख्यानम्–ननु चाक्षज्ञानस्य अर्थोत्पत्तिसारूप्यसम्भवात् युक्तमविसंवादकत्वं न शब्दज्ञानस्य तद्विपर्ययात् अतः '**अक्ष**' इत्याद्ययुक्तम्, इत्याशङ्क्य दूषणपुरःसरं[6] कारिकां विवृण्वन्नाह–'**तदुत्पत्ति**' इत्यादि। **तस्माद् अर्थाद् उत्पत्तिश्च सारूप्यञ्च आदिर्यस्य** तदध्यवसायस्य स तथोक्तः, स एव लक्षणं प्रामाण्यस्य अविसंवादस्य वा तस्य **व्यभिचारेऽपि** तदुत्पत्तेः चक्षुरादिना, सारूप्यस्य

---

(१) शब्दज्ञानम्। (२) शब्दज्ञानत्वात्। (३) खरविषाणादिशब्दजज्ञानवत्। (४) 'समं समानं प्रमाणं भवति। किम् ? अक्षशब्दार्थविज्ञानम्, अक्षमिन्द्रियं शब्दाः वर्णपदवाक्यात्मको ध्वनिः ताभ्यां जनितमर्थस्य सामान्यविशेषात्मकवस्तुनो विशिष्टं सन्यासनिविष्टं ज्ञानमवबोधनम्। कुतः ? अविसंवादात् अर्थक्रियायामव्यभिचारात्। यथाऽक्षजनितमर्थज्ञानमविसंवादात् प्रमाणं तथा शब्दजनितमपि। ननु अक्षज्ञानं प्रमाणं स्पष्टत्वात् न शाब्दमस्पष्टत्वादित्याशङ्क्याह–अस्पष्टमिति। अस्पष्टमविशदमपि शब्दजनितं ज्ञानं प्रमाणमभ्युपगन्तव्यमविसंवादकत्वात्। न हि स्पष्टत्वमस्पष्टत्वं वा प्रामाण्येतरनिबन्धनं तयोः संवादेतरनिबन्धनत्वात्। किंवत् ? अनुमानवत् –लघी० ता० पृ० ६६। (५) तुलना– तत्सारूप्यतदुत्पत्ती यदि संवेद्यलक्षणम्। संवेद्यं स्यात्समानार्थं विज्ञानं समनन्तरम् ॥ –प्रमाणवा० ३।३२३। अष्टसह० पृ० २४०। प्रमाणमीमां० ४।४७। (६) चक्षुरादिभ्यः घटज्ञानमुत्पद्यते न च तत् चक्षुरादिग्राहकं भवति।

1–ज्ञानं न प्र–आ०। 2 प्रकृतं ज्ञानवत् ब०। 3 अक्षात् ज्ञा–ई० वि०। 4–ण ध्य–ई० वि०। 5 सत्यपि ज० वि०। 6–पुरस्सरा का–ब०–पुरस्सरं का–आ०। § एतदन्तर्गतपाठो नास्ति आ०।

कालादिलक्षणं न्यक्षेणान्यत्रेक्ष्यं परीक्षितम् ।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थनिष्ठितम् ॥४७॥

विवृतिः–न ह्येकान्ते वर्त्तनालक्षणं कालस्य सम्भवति, भूतभविष्यद्वर्त्तमानप्रभेदो यतः स्यात्, तदर्थक्रियानुपपत्तेः । न च द्रव्यं शक्तिः तदुभयं चेति कारकलक्षणं शक्तिशक्तिमतोर्व्यतिरेकैकान्ते सम्बन्धासिद्धेः अनवस्थानुषङ्गात् । तदव्यतिरेकैकान्ते 'शक्तिः शक्तिमत्' इति रिक्ता वाचोयुक्तिः । तन्नैकान्ते षट्कारकी व्यवतिष्ठते । कुतः पुनः स्त्यायत्यस्या गर्भ इति स्त्री, प्रसूते सान् पर्यायान् इति पुमान् तदुभयाप्रत्यये नपुंसकम्' इति शब्दार्थप्रत्ययानामन्यतमस्यापि लिङ्गव्यवस्था ? तथा एकस्यार्थस्य 'इन्दनादिन्द्रः, शकनात् शक्रः, पुरदारयतीति पुरन्दरः' इति पर्यायभेदाद् भिन्नार्थता तद्वाचिनां शब्दानां न समवत्येव व्यतिरेकेतरैकान्तयोः तत्र विरोधात् । तत एव क्रियाकारकयोः तत्रासम्भवो निर्ज्ञेयः । तदनेकान्तसिद्धिः विधिप्रतिषेधाभ्यां तदर्थाभिधानात् । नाभानैकान्तः, कुत तदभिधानलिङ्गाद्यसम्भवोपालम्भः स्याद्वादमनुवर्त्तेत ?

काल आदिर्यस्य कारकादेः स तथोक्तः तस्य लक्षणं स्वरूपं प्रमाणं वा कारिकाविवरणम्– अन्यत्र तत्त्वार्थभाष्यादौ परीक्षितं विचारितम् ईक्ष्यम् अन्वेष्यम् न्यक्षेण आत्मना, 'निश्चितं पूर्वं प्रमाणेन व्यवस्थापितोऽक्षो

(१) ईक्ष्यमवलोकनीयम् । किम् ? कालादिलक्षणम् काल आदिर्येषां कारकलिङ्गसंख्यासाधनोपग्रहादीनां ते कालादयः तेषां लक्षणमसाधारणं स्वरूपम् । किं विशिष्टम् ? परीक्षितं विचारितं स्वामिसमन्तभद्राद्यैः सूरिभिः । कथम् ? न्यक्षेण विस्तरेण । क्व ? अन्यत्र तत्त्वार्थमहाभाष्यादौ । किंविशिष्टम् ? द्रव्यपर्या.... । द्रव्यं पूर्वापरपरिणामव्यापकमूर्ध्वतासामान्यम् पर्यायाः एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः सामान्यं सदृशपरिणामलक्षणं तिर्यक्सामान्यम् विशेषोऽर्थान्तरगतो व्यतिरेकः द्रव्यं च पर्यायाश्च सामान्यञ्च विशेषश्च द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषाः ते आत्मा स्वभावो यस्यासौ तथोक्तः । ... वासौ अर्थश्च तस्मिन्निष्ठितं नियतं तदात्मकमिति यावत् । एवंविधस्यार्थस्य अर्थक्रियासम्भवात् निरपेक्षैकान्ते तद्विरोधात् । –लघी० ता० प० ६७। (२) वर्तनालक्षणो कालो '–उत्तरा० २८।१०। 'कालस्य वट्टणा से' –प्रवचनसा० २।४२ । ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधअट्ठफासो य । अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालोत्ति । –पञ्चा० गा० २४ । द्रव्यसं० गा० २१ । वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य । –तत्त्वार्थसू० ५।२२। (३) शक्तिकारकवादिनः भर्तृहरिप्रभृतयः, तथाहि– 'स्वाश्रये समवेतानां तद्वदेवाश्रयान्तरे । क्रियाणामभिनिष्पत्तौ सामर्थ्यं साधनं विदुः ॥ क्रियानिवृत्तौ द्रव्यस्य शक्तिः साधनं साध्यतञ्जेन क्रियति भाष्यकारप्रभृतयो विदुः ।' –वाक्यप० तृ० का० पृ० १७३ । (४) तुलना– न च द्रव्यमात्रं कारकं न च क्रियामात्रम् कारकशब्दो हि क्रियासाधने क्रियाविशेषयुक्ते प्रवर्तते । –न्यायवा० पृ० ६ । धात्वर्थेन प्रकारो यः सुबर्थः सोऽत्र कारकम् –शब्दश० का० ६७ । (५) 'संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्ततः । अधिकरणसाधना लोके स्त्री स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति । कर्तृसाधनश्च पुमान् सूते पुमानिति । संस्त्यानविवक्षायां स्त्री, प्रसवविवक्षायां पुमान्, उभयविवक्षायां नपुंसकमिति । –पात० महा० ४।१।३ ।

1–निश्चितम ज० वि० । 2 चेति ई० वि० । 3 शक्तिशक्ति–ई० वि० । 4 तदुभयाभावे नपुं–ई० वि० । 5–कान्तयोः ज० वि० । 6 अवेक्ष्यम आ० ।

न्यैक्ष ' इति व्युत्पत्ते । **न्यक्षेण** विस्तरेण इति वा । कथम्भूत तत् तेनेऽयम इत्याह– '**द्रव्य**' इत्यादि । **द्रव्यम्** ऊर्ध्वतासामान्य तस्य सहक्रमभुवो विवर्त्ता **पर्यायाः**, सदृशपरिणाम **सामान्यम्**, विसदृशपरिणामो **विशेषः** ते एव **आत्मा** यस्यार्थस्य तत्र **निष्ठितम्** तदात्मकमिति यावत् । ततो निराकृतमेतत्–"*कालाद स्वयमभेदात् कथ तद्भेदात् कश्चिदर्थभेदेऽस्तु*" [　　] इति । सहकार्युपात्तनमन्तानवद् अन्योन्य कालादीनाम् अन्यथाभावविवर्त्तोविरोधात् । यदि वा (था), अन्यार्थपरिणति कालापेक्षा कालपरिणतिस्तु स्वरूपापेक्षा, यथा घटादिप्रकाश प्रदीपनिबन्धन प्रदीपप्रकाशस्तु स्वनिबन्धन इति, अत अनवस्थाऽन्योन्याश्रयासभव । अथवा, तदर्थेन लिङ्गभूतेन निष्ठा स्वरूपव्यवस्थितिर्ज्ञाता अस्येति तन्निष्ठित तल्लक्षणम् तत्प्रमाणकम् इत्यर्थ । तथाहि–अय तदर्थ अस्मात् पूर्व पश्चात् अनेन सह वा भवतीति प्रतीति तदर्थव्यतिरिक्तार्थपूर्विका, पूर्वापरादिप्रतीतित्वात्, अय तदर्थोऽस्मात्पूर्वदेश अयमपरो देश इत्यादिप्रतीतिवत् । यश्चासौ तत्कारण स काल इति । एव कारकादावपि योज्यम् । तथाहि–'करोति क्रियते' इत्यादिप्रतीति विभिन्नशक्तिकार्थनिबन्धना, विलक्षणप्रतीतित्वात्, जलानलप्रतीतिवत् । तथा, 'देवदत्तो देवदत्ता' इत्यादिप्रतीति विभिन्नस्वरूपार्थनिबन्धना, विशिष्टप्रतीतित्वात्, घटपटप्रतीतिवत् ।

कारिका व्यतिरेकमुखेन व्याचष्टे–'**नह्येकान्त**' इत्यादिना । हिर्यस्मात् न क्षणिकाद्येकान्ते वर्त्तनो स्वय त्रिकालगोचरे पर्याये वर्त्तमानान् भावान् प्रति प्रयोजकत्व **लक्षण कालस्य सभवति यतो** लक्षणात् **भूतभविष्यद्वर्त्तमानप्रभेदः** कालादे **स्यात्** । 'यत.' इति आक्षेपे वा, यत' तत्प्रभेद **स्यात्**, नैव स्यात् । कुत एतदित्याह–'**तदर्थ**' इत्यादि । या भूताद्यर्थस्य **क्रिया** निष्पत्ति **तस्या अनुपपत्ते**' '**एकान्ते**' इति सम्बन्ध' । यथा च एकान्ते कालस्य अतीताद्यर्थक्रियानुपपत्ति तथा कालपरीक्षावसरे निक्षेपतश्चिन्तितम् ।

विवृतिव्याख्यानम्–

एव कालस्य एकान्ते लक्षण वर्त्तमानान भावान् प्रति प्रयोजकत्व निराकृत्य कारकस्य तन्निराकुर्वन्नाह–'**नच**' इत्यादि । **नच** नापि **कारकलक्षणम्** । किंतदित्याह– '**द्रव्य शक्तिः तदुभय वा**' इत्येतत्, '**एकान्ते तदर्थक्रियानुपपत्ते**'' इत्येतदत्रापि

(१) पूर्वापरादिप्रतीतिकारणम् । (२) 'सवभावाना वर्तना कालाश्रया वृत्ति । वर्तना उत्पत्ति स्थितिरथ गति प्रथमसमयाश्रय यथ ।"–तत्त्वार्थभा० ५।२२ । 'वृतणिजन्तात्कर्मणि भावे वा युटि स्त्रीलिङ्गे वर्तनेति । वर्त्यते वर्तनमात्र वा वर्तनेति ।। धर्मादीना द्रव्याणा स्वपर्यायनिर्वृत्ति प्रति स्वात्मनैव वर्तमानाना बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात् तत्प्रवर्तनोपलक्षित काल इति कृत्वा वर्तना कालस्योपकार । –सर्वार्थसि० ५।२२ । प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिवर्तना ।'–राजवा० ५।२२ । (३) पृ० २२५ ।

1–न्य इति आ० । 2–तिर्ज्ञाता आ०, ब० । 3 भवतीति विभिन्नस्वरूपार्थव्यतिरिक्तार्थपूर्विका 4–कायनि–आ० । 5 इत्यादि न हि आ० । 6 लक्षणं निराकृत्य ब०, भ० । 7 च भ० ।

सम्बन्धनीयम् । दूषणान्तरमाह–'शक्ति' इत्यादि । शक्तिशक्तिमतोः व्यतिरेकैकान्ते अङ्गीक्रियमाणे सम्बन्धासिद्धिः सह्यविन्ध्यवत् । अत्र तदेकान्तेऽपि राजपुरुषवद् उपकार्योपकारकभावात् सम्बन्धसिद्धिरिष्यते, अत्राह–अनवस्थानुषङ्गात् इति । अत्रायमभिप्रायः–यथा राजपुरुषयोरन्योन्यमुपकार्योपकारकभावः तथा चेत् शक्तितद्वतो-स्तद्भावः तदा तत्र प्रत्येकम् अपरा शक्तिः कल्पनीया तत्राप्येवं चोद्यमित्यनवस्था । एतेन अनयोः समवायः विशेषणीभावः अन्यो वा भिन्नः सम्बन्धः चिन्तितः । तयोरभेदैकान्तं दूषयन्नाह–'तदव्यतिरेकैकान्ते' इत्यादि । तयोः शक्तिशक्तिमतोः अव्यतिरेकैकान्ते अभेदैकान्ते अङ्गीक्रियमाणे 'शक्तिः शक्तिमत्' इति अन्यथा परस्य वाचोयुक्तिः वचनोपपत्तिः सा रिक्ता निरर्थिका । तस्मिन् सति शक्तिरेव स्यात्, न च सा परस्य निराधारा युक्ता द्रव्यादिकल्पनावैफल्यप्रसङ्गात् । शक्तिमदेव वा स्यात्, तत्रापि शक्त्यभावेऽनुपपन्नम् । न च द्रव्यादिकमेव शक्तिरित्यभिधातव्यम्, शक्तिपरीक्षायां तस्याः ततो व्यतिरिक्ताया प्रसाधितत्वात् ।

प्रकृतमुपसंहरन्नाह–'तद्' इत्यादि । यतो भेदाभेदैकान्ते शक्तिशक्तिमद्भावो नोपपद्यते 'तत्' तस्मात् नैकान्ते पक्षेऽपरेऽकी कर्त्रादीनां षण्णां कारकाणां समाहारो व्यवतिष्ठते, कारकाभावे तत्समाहाराभावात् इत्यभिप्रायः । तथा अन्यच्च यत्प्राप्तं तद्दर्शयन्नाह–'कुतः' इत्यादिना । कुतः ? न कुतश्चित् । पुनः इति दूषणान्तरसूचनार्थः । लिङ्गव्यवस्था लिङ्गानां स्त्रीत्वादीनां स्थितिः । कस्य सा न ? इत्यत्राह–अन्यतमस्यापि । केषामन्यतमस्य ? इत्याह–शब्दार्थप्रत्ययानाम् । वैयाकरणैर्यथासमयं तेषामेव त्रयाणां लिङ्गव्यवस्थोपगमात् । ननु यदि कारकव्यवस्था नास्ति किमायातं लिङ्गव्यवस्थाया येन सापि न स्यात् ? इत्याह–'स्त्यायति' इत्यादि । स्त्यायति सङ्घातीभवति अस्यां गर्भः इति स्त्री । प्रसूते जनयति स्वान् आत्मीयान् पर्यायान् इति पुमान् । तदुभयारूपे स्त्यानप्रसवनोभयाभावे नपुंसकमिति । एवं या व्यवस्था, सा कुतः ? लिङ्गव्यवस्थायाः कारकनिबन्धनत्वेन तदभावेऽभावादिति मन्यते । अत्रैव एकान्ते

(१) उपकार्योपकारकभावः । (२) शक्तितद्वतोः । (३) शक्तिः । (४) मीमांसकादेः । (५) शक्तिमदपि । (६) पृ० १६० । (७) शक्तः । (८) द्रव्यादेः । (९) 'नित्याः षट्शक्तयोऽन्येषां भत्राभेदसमन्विताः । क्रियाप्रसिद्ध्यर्थेषु जातिवत्सम्प्रवस्थिताः ॥ –वाक्यप० साधनसमु० श्लो० ३५ । (१०) तुलना– संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ इति परिभाषितं भाष्ये लिङ्गमुक्तं तथा चाह–संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्रट् स्त्री सूतेस्सप्प्रसवे पुमानिति । स्त्यानं संहननं प्रसवः उपचयो रूपादीनां सत्त्वादिगुणानाम् । स्त्यायति संहननमापद्यतेऽस्यां गर्भ इत्यधिकरणे स्त्री । सूतेर्धातोर्भावे प्रसवे उपचये डुम्सुन् प्रत्ययः परतस्सकारस्य षकारादेशे कृते पुमानिति । यदाह–सात्रिति सकारस्य पकारादेश इत्यर्थः । अनेन च प्रकारेण विषये सूत्रार्थे वृत्तिं सूचयति । उभयधर्मसाम्यस्था स्थितिर्नपुंसकपर्यादुक्तं भवति । –वाक्यप० लिङ्गसमु० पृ० ४३६ ।

1–सिद्ध आ० । 2–सिद्धिरिति इष्य–ब० । ३एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० । 3 कारणानां श्र० ।

दूषणान्तरमाह–'तथा' इत्यादिना । तथा तेन कारकाभावप्रकारेण एकस्य अभिन्नस्य अर्थस्य सुरपतिलक्षणस्य 'इन्दनाद् इन्द्रः' 'शकनात् शक्रः' 'पुरन्दारयति इति पुरन्दरः'[1] इत्येवं पर्यायभेदात् इन्दनादिपरिणामभेदात् । अथवा, इन्द्रादिशब्दपर्यायभेदात् सकाशात् तद्भेदमाश्रित्य यासौ परेणाभ्युपगता । का ? इत्याह–भिन्नार्थता नानार्थता । केषाम् ? इत्याह–तद्वाचिनाम् एकार्थवाचिनां शब्दानाम् इन्द्राद्यभिधानानाम् । सा किम् ? इत्याह–न संभवत्येव, मनागपि तत्सम्भवो नास्ति इत्येवकारार्थः । कुत एतत् ? इत्याह–'व्यतिरेक' इत्यादि । यः सुरपतिलक्षण एकार्थः यश्च शक्रनादिः तयोः परस्परं व्यतिरेकैकान्तः भेदैकान्तः यश्च इतरैकान्तः अभेदैकान्तः तयोः तत्रैकान्ते विरोधात् । व्यतिरेकैकान्ते हि सम्बन्धासिद्धेरनवस्थानुषङ्गाच्च विरोधः सिद्धः । इतरैकान्ते च इन्दनादेः एकत्वसिद्धेः स सिद्ध इति । ननु न द्रव्यं नापि शक्तिस्तदुभयं वा कारकलक्षणम्, किन्तु 'क्रियाविष्टं द्रव्यं कारकम्, इति चेदत्राह–'तत एव' इत्यादि । 'तत एव' अनन्तरोक्तविरोधादेव क्रियाकारकयोः क्रिया अधिश्रयणादिलक्षणा, कारकं कर्त्रादि, तयोः तत्र मिथ्यैकान्ते असम्भवो विज्ञेयः ।

उपसंहारमाह–'तद्' इत्यादि । यस्माद् एकान्ते कालकारकलक्षणं नोपपद्यते तत् तस्माद् अनेकान्तसिद्धिः तत्रैव अस्योपपत्तेः । काभ्यां तत्सिद्धिः ? इत्याह–विधिप्रतिषेधाभ्याम्, स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षसदसत्त्वाभ्याम् । समर्थितञ्चैतद् अनेकान्तसिद्ध्यवसरे इत्यलमतिप्रसङ्गेन । ननु एकान्तव्यतिरिक्तस्य शब्दार्थस्यासम्भवात् सर्वत्र लिङ्गाद्यसम्भवो भवतः स्यादिति चेदत्राह–'तद्' इत्यादि । तस्य अनेकान्तरूपस्य अर्थस्य अभिधानात् प्रतिपादनात् । अत्रापि "विधिप्रतिषेधाभ्याम्' इति सम्बन्धनीयम् । कुतः ? न कुतश्चित् तदभिधानलिङ्गाद्यसम्भवोपालम्भः, तस्य अनेकान्तार्थस्य अभिधानं प्रतिपादकं वचनं तस्य लिङ्गादिः, आदिशब्दात् वचनादिपरिग्रहः तस्याऽसम्भवः, स एव उपालम्भः कुतः न कुतश्चित् स्याद्वादम् अनेकान्तवादम् अनुवर्तेत यायात् । ननु सर्वथा भावानामभावात् तदर्थाभिधानमसिद्धम् इत्यत्राह–नाभावैकान्तः शून्यतैकान्तः । यथा चासौ नास्ति तथा विषयपरिच्छेदे व्यासतश्चिन्तितम् ।

यतश्च अनेकान्ते तदुपालम्भाभावः अतः–

(१) असम्भवात् । (२) विरोधः । (३) 'क्रियाविष्टं द्रव्यं कारकमिति प्रसिद्धं ।'–युक्त्यनु० टी० पृ० २८ । (४) पृ० ३६६ । (५) पृ० ११९ ।

1 तदभेद माश्रित्य श्र०, ब० । 2–गता केषाम आ०,–गता केत्याह भिन्नार्थता केषाम् ब० । 3 सम्भव मनाग–आ० । 4–दित्याह श्र० । 5–स्परं व्यति–श्र० । 6 विरोधसिद्ध आ०, विरोधसिद्धि श्र० । 7–द्धे सि–श्र० । 8 क्रियाविशिष्ट श्र० । 9–श्रयणा–ब० । 10 एकान्ते कारक–आ० । 11–रिक्तशब्दा–आ० । 12 तस्याकान्त–आ० । 13 तत्रापि आ० । 14 विधिनिषेधा–आ० । 15–सम्भवस्यानेका–श्र० । 16–कान्ते न तदु–आ० । 17 'अत' नास्ति श्र० ।

एकस्यानेकसामग्रीसन्निपातात् प्रतिक्षणम् ।
षट्कारकी प्रकल्पेत तथा कालादिभेदतः ॥ ४८ ॥

विवृतिः–प्रतिक्षणं प्रत्यर्थं च नानासामग्रीसन्निपातात् षट्कारकीसंभवेऽपि यथैकं स्वलक्षणं स्वभावकार्यभेदानां तदभेदकत्वात् तथा कालादिभेदेऽपि । तत्प्रतिक्षेपो दुर्नयः तदपेक्षो नयः, स्वार्थप्राधान्येऽपि तद्गुणत्वात् । तदुभयात्मार्थज्ञानं प्रमाणम् ।

कारिकाव्याख्यानम्–

एकस्य वस्तुनः, अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः ततोऽनेकस्यापि **प्रकल्पेत** । का ? इत्याह–**षट्कारकी** । कुत इत्याह–**अनेकसामग्रीसन्निपातात्** **अनेका** नाना या **सामग्री** अनेककार्योत्पादककारणसमग्रता तस्याः **सन्निपातात्** । कथं प्रकल्पेत इत्याह–**प्रतिक्षणम्**, क्षणं क्षणं प्रति **प्रतिक्षणं** यथा भवति तथा प्रकल्पेत । तथाहि–यदैव चक्रादिसन्निधानात् घटस्य करणाद् देवदत्त

---

(१) 'प्रकल्पेत घटेत । का ? षट्कारकी षण्णां कारकाणां समाहारः षट्कारकी । कस्य ? एकस्यापि जीवादिवस्तुनः अपिशब्दस्याध्याहारात् । कथम् ? प्रतिक्षणम् क्षणः समयः क्षणं क्षणं प्रति प्रतिक्षणम् । कस्मात् ? अनेकसामग्रीसन्निपातात् अनेका बहिरङ्गाऽन्तरङ्गा सामग्री कारणकलापः तस्याः सन्निपातः सन्निधिस्तस्मात् । तथाहि–यदैव चक्रादिसन्निधानात् घटस्य कर्ता देवदत्तः तदैव स्वप्रक्षकजनसन्निधानात् स एव दृश्यते इति कर्म । प्रयोजनापेक्षया देवदत्तेन कारयतीति करणम् । दीयमानद्रव्यापेक्षया देवदत्ताय ददातीति सम्प्रदानम् । अपायापेक्षया देवदत्तादपैतीति अपादानम् । तत्र स्वद्रव्यापेक्षया देवदत्ते कुण्डलमित्यधिकरणमित्यविरोधात्तथाप्रतीतेः । न हि प्रतीयमाने विरोधो नाम । तथा युगपदिव कालादिभेदेन कालदेशाकाराणां भेदे क्रमेण तेनापि षट्कारकी प्रकल्पेत । तथाहि अकरोद्देवदत्तः करोति करिष्यतीति प्रतीतिबलायातत्वात् । अथवा तथा एकस्य षट्कारकीप्रकल्पनवत् कालाद्यपि प्रकल्पेत । कुतः ? भेदतः कथञ्चिदन्यस्य भेदात् । सर्वथाऽभिन्ने सकलकारकादिभेदानुपपत्तेः ।" –लघी० ता० पृ० ६८ । (२) तुलना– "एवमेते शब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः परस्परापेक्षाः सम्यक् । अन्योन्यमनपेक्षास्तु मिथ्येति प्रतिपत्तव्यम् ।" –प्रमेयक० पृ० ६८० । "अथभेदं विना शब्दानामेव नानात्वैकान्तस्तदाभासः ।" –प्रमेयर० ६।७४ । "एवं शब्दादयोऽपि सर्वथा शब्दार्थभिन्नमर्थ समर्थयन्तो दुर्नयाः ।" –न्यायावता० टी० पृ० ९० । "तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः । यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकालाः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति भिन्नकालशब्दत्वात्तादृक्सिद्धान्यशब्दवदित्यादिरिति ।" –प्रमाणनय० ७।३४, ३५ । जैनतर्कभा० पृ० २४ । "पर्यायनानात्वमन्तरेणापि इन्द्रादिभेदकथनं तदाभासः ।" –प्रमेयर० ६।७४ । "पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभास इति । यथा इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव भिन्नशब्दत्वात् करिकुरङ्गतुरङ्गमशब्दवदित्यादिरिति ।" –प्रमाणनय० ७।३८, ३९ । जैनतर्कभा० पृ० २४ । "क्रियानिरपेक्षत्वेन क्रियावाचकेषु काल्पनिको व्यवहारस्तदाभास इति ।" –प्रमेयर० ६।७४ । "क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंस्तु तदाभासः । यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात् पटादिवदित्यादिरिति ।" –प्रमाणनय० ७।४२, ४३ । जैनतर्कभा० पृ० २४ ।

---

1 प्रकल्प्येत श्र० ब० । 2 यथकस्व–ज० वि० । 3–र्थं ज्ञानं ज० वि० । 4 प्रकल्प्येत श्र०, ब० । 5 प्रकल्प्येत ब०, श्र० । 6 प्रतिक्षणं क्षणं प्रति आ० ब० । 7 प्रतिक्षणं नास्ति आ० । 8 प्रकल्प्येत श्र० ब० ।

कर्त्ता तस्यैव प्रत्यक्षदेशादिसामग्रीसन्निधानात् स एव कर्म, अन्यकर्मापेक्षया करणम्, तस्मै दीयमानद्रव्याद्यपेक्षया सम्प्रदानम्, तस्माद् आकृष्यमाणभावापेक्षया अपादानम्, तत्र स्थाप्यमानार्थापेक्षया अधिकरणमिति। **तथा** तेन प्रकारेण **कालादिभेदतः** काल आदिर्यस्य देशादेः स यथोक्तः तद्भेदतः '**एकस्य षट्कारकी प्रकल्पेत**' इति सम्बन्धः। तद्यथा आसीद् देवदत्तः कर्त्रादिस्वभावो भवति भविष्यति वा। एवमन्यत्रापि योज्यम्।

कारिकार्थं दर्शयन् अत्र सुनयदुर्नयभेदं दर्शयति–'**प्रतिक्षणम्**' इत्यादिना।

विवृतिव्याख्यानम्– क्षणं क्षणं प्रति प्रतिक्षणम्, अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थञ्च **नानासामग्रीसन्निपातात् षट्कारकीसंभवेऽपि तत्प्रतिक्षेपः** तस्याः षट्कारक्याः प्रतिक्षेपो निरासः **दुर्नयः**। कथं तत्संभवः ? इत्यत्राह–**यथैकं स्वलक्षणम्**, यथा एकं स्वलक्षणं व्यवस्थितं तथा यैया भवति तथा तत्संभवेऽपि इति। नन्वेकस्य स्वलक्षणस्य अनेकस्य स्वभावस्य कार्यस्य च संभवे तद्वदन्यत्रापि तत्संभवः स्यात्, न चासावस्ति, तत्संभवे तस्यावश्यं भेदात् इत्यत्राह–'**स्वभाव**' इत्यादि। स्वभावभेदानां कार्यभेदानाञ्च **तदभेदकत्वात्** स्वलक्षणाभेदकत्वात्। न खलु सजातीयेतरकार्यभेदे तत्कारणस्वभावभेदे वा स्वलक्षणस्य भेदोऽस्ति। एवं कालादिभेदे षट्कारकीसंभवेऽपि तन्निरासो दुर्नय इति दर्शयन्नाह–'**तथा**' इत्यादि। यथा सामग्रीभेदे एकस्य षट्कारकीसम्भवेऽपि तन्निरासो दुर्नयः, **तथा कालादिभेदेऽपि** '**षट्कारकीसंभवेऽपि**' इति सम्बन्धः। अत्रापि '**स्वभाव**' इत्यादि अपेक्ष्यम्। कस्तर्हि नयः ? इत्यत्राह–'**तदपेक्षो नयः**' इति। तस्याः षट्कारक्याम् अपेक्षा यस्य असौ नयः। कुतः स नयः ? इत्यत्राह–'**स्वार्थ**' इत्यादि। स्वः विषयीक्रियमाणो योऽर्थः तस्य प्राधान्येऽपि **तद्गुणत्वाद्** अविवक्षितधर्माणामप्रतिक्षेपेण गुणीभूतत्वात्। यदि एवंविधो नयो भवति, प्रमाणं तर्हि कीदृशम् ? इत्याह–'**तद्**' इत्यादि। **तद्** अगुणीभूतविवक्षिताविवक्षितधर्मोभयम् **आत्मा** यस्य **अर्थस्य** तस्य **ज्ञानं प्रमाणम्**। अनेन "प्रमाणनयैरधिगमः" [तत्त्वार्थसू० १।६] इत्येतत् संगृहीतम्।

ननु नयः सर्वोऽपि मानसो विकल्पः, विकल्पश्च निर्विषय एव तत्त्वान् प्रधानादिविकल्पवत्, तत्कथं तेन कस्यचिदधिगमः स्यात् ? इत्याशङ्क्य 'विकल्पत्वात्' इत्यस्य हेतोः तर्कादिना अनैकान्तिकत्वं दर्शयन्नाह–

(१) सामग्र्यादिषु। (२) एवम्। (३) येन प्रकारेण। (४) कालादिभेदेऽप्यनेककमवस्थ। (५) अनेकस्वभावकार्यसम्भव। (६) अनेकस्वभावकार्यसंभव। (७) सम्भव। (८) षट्कारकीनिरास। (९) विकल्पत्वात्। (१०) नयेन।

1–द्यापेक्षया ब०। 2 तत्सभवत आ०। 3 प्रत्यक्षेण ब० श्र०। 4 इति प्रतिक्षणम् ब०। 5 तावत् निरा–श्र०। 6 यथा तथा भवति श्र०। 7 अनेक स्वभा–आ०, ब०। 8 तत्कारण–आ०। 9 तदित्यादि श्र०। 10 तद्गुणी–ब०। 11 श्र०। 12 संगृहीतम् ब०।

व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैकत्र दृष्टिः,
साकल्येनैष तर्कोऽनधिगतविषयः तत्कृतार्थैकदेशे।
प्रामाण्ये चानुमायाः स्मरणमधिगतार्थाविसंवादि सत्यम्,
सज्ञानञ्च प्रमाणं समधिगतिरतः सप्तधार्थैर्नयोघैः ॥४९॥

कारिकाव्याख्यानम्– **व्याप्तिम्** अविनाभावं **हेतोः** लिङ्गस्य **साध्येन** लिङ्गिना सह **स्फुटयति** प्रकाशयति न, काऽसौ ? **दृष्टिः** दर्शनम् एकत्र एकस्मिन् देशे, उपलक्षणमेतत् तेन 'एकदा चैकया दृष्टिः' इति गृह्यते। सकलदृष्टिरेव स्फुटयति, तत्र च अनुमानमनर्थकमित्यभिप्रायः। केन विना इत्याह–**विना चिन्तया**, तया सहिता तु स्फुटयति। अतः सा प्रमाणान्तरं स्यादिति भावः। कथं तया विना सौ तां न स्फुटयति इत्याह–**साकल्येन** सामस्त्येन। देशतस्तु यदि स्फुटयति तदा स्फुटयतु, किन्तु तथाऽनुमानानुदयः। कस्तर्हि साकल्येन तां स्फुटयति ? इत्याह–'**एषः**' इत्यादि। **एषः** प्रतिप्राणिस्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रसिद्धः **तर्कः** मानसोऽस्पष्टविकल्पः। कथम्भूतः ? इत्याह–**अनधिगतविषयः** अनधिगतः प्रमाणान्तरेणाऽपरिच्छिन्नः विषयो यस्य स तथोक्तः। स किम् ? इत्याह–**सज्ञानमेव**, चशब्दः एवकारार्थे, अत एव **प्रमाणम्**। यथा चासौ साकल्येन व्याप्तिप्रकाशकः अनधिगतविषयः सज्ञानञ्च

(१) "न स्फुटयति न प्रकाशयति। का ? एकत्र दृष्टिः एकस्मिन् महानसादौ साध्यसाधनयोर्दर्शनं प्रत्यक्षमित्यर्थः। काम् ? व्याप्तिमविनाभावम्। कस्य ? हेतोः साधनस्य धूमादेः। केन सह ? साध्येन अग्न्यादिना सह। केन ? साकल्येन सकलानां देशकालान्तरितसाध्यसाधनव्यक्तीनां भावः साकल्यं तेन। कथम् ? चिन्तया विना ऊहप्रमाणाभावे इत्यर्थः। न हि दृष्टान्तधर्मिणि साध्यसाधनसम्बन्धदर्शनेन साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्तौ समर्थमनुमानानर्थक्यप्रसङ्गात् तद्दृष्टेरभिन्नत्वापत्तेश्च। तर्हि किं प्रमाणं तां स्फुटयतीति चेदुच्यते ? एष तर्कः स साकल्येन साध्यसाधनयोः व्याप्तिं स्फुटयति ज्ञानं स एव च सकलानुमानप्रसिद्धात्मक इत्युच्यते। ननु गृहीतग्राहित्वादस्याप्रामाण्यमित्याशङ्क्याह–अनधिगतविषयः। किंविशिष्टः ? सज्ञानं सम्यग्ज्ञानमयं प्रमाणं भवतीति। तथा स्मरणं स्मृतिश्च प्रमाणम्। किं विशिष्टम् ? अधिगतार्थाविसंवादि, अधिगतः प्रत्यक्षेणानुभूतोऽर्थो विषयस्तत्र अविसंवादि विसंवादरहितमिति। एतच्च सत्यमिति। कस्मिन् सति ? प्रामाण्ये प्रमाणत्वे सति। कस्याः ? अनुमायाः अनुमानस्य। क्व ? तत्कृतार्थैकदेशे तेन तर्केण कृतो निश्चितः अर्थोऽविनाभावस्तस्यैकदेशे साध्ये तत्रानुमानप्रामाण्यस्य स्मृतिप्रामाण्याविनाभावित्वादित्यर्थः। अथवा सज्ञानञ्च प्रत्यभिज्ञानञ्च प्रमाणमविसंवादाविशेषात्। न केवलमेतत् परोक्षमेव विकल्पात्मकं प्रमाणमपि तु सर्वं प्रत्यक्षमपि विकल्पात्मकं प्रमाणं तस्यैव व्यवहारोपयोगित्वात् निर्विकल्पकस्य क्वचिदप्यनुपयोगात्। अतः कारणात् तदन्वितैः विकल्पात्मकैरेव नयौघैः समधिगतिः सम्यगधिगमो जीवादितत्त्वनिर्णयो भवति। किंभूतैः ? सप्तधार्थैः सप्तधा नैगमादिसप्तप्रकाराः अर्था येषां तैरिति।" –लघी० ता० पृ० ७०। (२) सकलदृष्टौ सकलनासाम्। (३) दृष्टिः। (४) चिन्तया। (५) दृष्टिः। (६) व्याप्तिम्। (७) एकदेशेन व्याप्तिग्रहणे सति। (८) व्याप्तिम्। (९) तर्कः।

1 ०कानसा–ज० वि०। 2–र्थाविस–मु० लघी०। 3–षोऽय आ०। 4 च वृत्तिः आ०। 5 विना तामसौ न आ०।

भवति तथा व्याप्तिज्ञानपरीक्षायां प्रपञ्चतः प्ररूपितमित्यलमतिप्रसङ्गेन । ततः सिद्धम्-नयस्य निर्विषयत्वे साध्ये 'विकल्पत्वात्' इत्यस्य हेतोः तर्केण अनैकान्तिकत्वम् । तथा स्मरणेन च, इत्याह-'**स्मरणम्**' इत्यादि । **स्मरणं सर्वं संज्ञानं 'प्रमाणम्'** इति सम्बन्धः । कथम्भूतम् ? इत्याह-**अधिगतार्थाविसंवादि,** स्वयं स्मरणेन अधिगतो योऽर्थः तदविसंवादि, यदि वा, प्रमाणान्तरेण **अधिगतार्थाविसंवादि** । कस्मिन् सति ? इत्याह-**प्रामाण्ये** सति । कस्याः ? **अनुमायाः** । क ? इत्याह-'**तत्कृत**' इत्यादि । तेन तर्केण **कृतो** निश्चितोऽर्थः अविनाभावलक्षणः तस्य आधारभूते एकदेशेऽपि साध्यस्वरूपे, च शब्दो भिन्नप्रक्रम अपिशब्दार्थः । ततः किं जातम् ? इत्याह-'**समधिगतिः**' इत्यादि । **अतः** अस्मात् नयानां निर्विषयत्वप्रसाधकहेतोः तर्कस्मृत्यनुमानज्ञाने व्यभिचारित्वलक्षणात् न्यायात् **समधिगतिः** जीवाद्यर्थानां **सप्तधान्यैः नयौघैः** ।

तेषां[1] तेषां समधिगतौ सत्यां यज्जातं तद्दर्शयति-

सर्वज्ञाय निरस्तबाधकधिये स्याद्वादिने ते नमः-
स्तात्प्रत्यक्षमलक्षयन् स्वमतमभ्यस्याप्यनेकान्तभाक् ।
तत्त्वं शक्यपरीक्षणं सकलविन्नैकान्तवादी ततः,
प्रेक्षावानकलङ्क याति शरणं त्वामेव वीरं जिनम् ॥ ५० ॥

---

(१) पृ० ४२१ । (२) अनैकान्तिकत्वम् । (३) नयैः । (४) जीवाद्यर्थानाम् । (५) 'न स्यात् सकलवित् [illegible] न भवेत् । कः ? एकान्तवादी सुगतादिः । किं कुर्वन् ? अभ्यस्यन् जानन् । किम् ? तत्त्वम् किंविशिष्टम् ? अनेकान्तभाक् अनेकान्तं द्रव्यपर्यायात्मतां भजमानम् [illegible] इत्यनेकान्तभाक् । पुनः कथम्भूतम् ? शक्यपरीक्षणं शक्यपरीक्षणं [illegible] यस्य [illegible] गोचरमपीत्यर्थः । कथम् ? प्रत्यक्षम् किं कृत्वा ? अभ्यस्य भावयित्वा । किम् ? स्वमतम् [illegible] । ततः कारणात्, भो अकलङ्क ज्ञानावरणादिकलङ्करहित, नमस्स्तात् । कस्मै ? तुभ्यम् । कथम्भूताय ? सर्वज्ञाय पुनः किंविशिष्टाय ? निरस्तसकल-[illegible] बाधकं [illegible] यस्याः सा निरस्तबाधका तादृशी धीर्यस्य तथाभूताय । पुनः किम्भूताय ? स्याद्वादिने । न केवलमहमेव ते नमस्करोमि किन्तु प्रेक्षावान् परीक्षकः सर्वोऽपि त्वामेव शरणं याति प्रतिपद्यते [illegible] एव वचनात् । किम्भूतम् ? वीरं [illegible] वर्धमानम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? जिनम् [illegible] दुस्तरं जयतीति जिनस्तम्' -सर्वा० ता० पृ० ७२ । (६) [illegible] 'जयतीति जिन' इति [illegible] । (७) [illegible] 'द्रव्याश्रयोऽसि [illegible] (अर्द्ध [illegible] पृ० २५७) [illegible] ।

1-[illegible]-आ० । 2 [illegible] प० । 3-[illegible] इत्यादि श्र० । 4-[illegible] इ० वि० ।

ततः तस्याः समधिगते सकाशात् **एकान्तवादी** सुगतादिः **सकलवित्** सर्वज्ञो **नेति** 'ज्ञायते' इत्यध्याहारः । किं कुर्वन् ? **अलक्षयन्,**

कारिकार्थ – अनिश्चिन्वन् । किम् इत्याह–**तत्त्वं** जीवादि । कथम्भूतम् ? इत्याह–**अनेकान्तभाक्** अनेकान्तात्मकम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? इत्याह–**शक्यपरीक्षणम्,** अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । **शक्यं परीक्षणं** संशयादिव्यवच्छेदेन स्वरूपनिवेचनं यस्य तत् तथोक्तम् । तदपि पृथग्जनलक्ष्यमपि इत्यर्थः । पुनरपि कथम्भूतम् ? **प्रत्यक्षम्,** प्रत्यक्षग्राह्यमपि, अत्रापि अपिशब्दो द्रष्टव्यः । किं कुर्वन्नलक्षयन् ? इत्याह–**अभ्यस्य,** किम् इत्याह– **स्वमनम्,** एकान्तम्, अथवा सुष्ठु अमतमज्ञानं क्षणिकनिरंशतत्त्वम् । अनेन जीवादितत्त्वालक्षणे कारणमुक्तम् । ननु तल्लक्षणे किं प्रयोजनम् ? इति चेदत्राह–**प्रेक्षावान्** इत्यादि । अत्रापि '**ततः**' इत्येतदपेक्ष्यम्, ततोऽयमर्थः सिद्धः–**ततः** तज्ज्ञानात् **प्रेक्षावान्** परीक्षको लोकः **अकलङ्कः** निर्दोषः अतत्त्वाभ्यासरहितः । **त्वामेव याति शरणम्** । किंविशिष्टं त्वाम् ? **वीरम्,** वीरनामानम् अर्हन्तं तीर्थकरदेवम् । यदि वा, विशिष्टाम् अन्यजनासाधारणाम् ईम् अन्तरङ्गबहिरङ्गलक्षणां श्रियं रातीति **वीरः** तीर्थकरसमुदायः तम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? **जिनम्,** संसारसमुद्रावर्तपरिभ्रमणकर्मशत्रोन्मूलनम् । न केवलं स्वामुक्तविशेषणं शरणमेव यात्यत्र प्रेक्षावान् जनः, किन्तु नमस्करोति च । केन विशेषणेन ? इत्याह–**सर्वज्ञाय** सकलविदे । कथम्भूताय ? इत्याह–**निरस्तबाधकधिये,** निरस्ता बाधकानाम् एकान्तवादिनां धीर्येन । यदि वा, **निरस्तं बाधकं** यस्याः सा तथाविधा धीर्यस्य, **निरस्ता वा बाधिका धीर्यस्य** तस्मै । पुनरपि कथम्भूताय ? **स्याद्वादिने ते** तुभ्यं **नमः स्तात्** नमस्कारोऽस्तु इति । 'अकलङ्काय वीराय जिनाय' इति विभक्तिपरिणामेन उत्तरपदत्रयं योज्यमिति ।

स्याद्वादोऽम्बरवेरशेषविषयप्रद्योतिनो देशतः,
तद्रूपप्रतिरूपणाय गदिता सैषेव ते सन्नया ।
किं भास्वान्निखिलप्रकाशनपटुर्बालाभमप्युद्भवे,
शक्तो द्योतयितुं विनोन्नततरैर्निर्मूल्य बाढं तमः ? ॥ छ ॥

[1]इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे पञ्चमः परिच्छेदः[2] ॥ छ ॥



एवं प्रेरितः प्रत्यक्षादिपरिच्छेदपञ्चमो नयप्रवेशो द्वितीयपरिच्छेदः समाप्तः ।



1–च्छेदे स्व–आ । 2–पेक्षम आ० । 3 ततोप्यथ आ० । 4 तत ज्ञानात आ० । 5–कोऽकलश्र० । 6 स्वां वीरनामानं आ० । 7–मतीय–श्र० ब० । 8–मुदाय श्र० । 9–दिने तुभ्यं आ० । 10 उत्तरपदत्रय आ० । 11 इति श्रीमत्प्रभाचन्द्रदेववि–ब० । 12–व समाप्त ब । 13 एकान्त–ब० ।

तृतीये प्रवचनप्रवेशे

षष्ठः प्रवचनपरिच्छेदः ।



महार्हस्वच्छजलं सुरत्ननिचयं सज्ज्ञानवीचीचयं,
युक्त्यावर्त्तहतप्रदूरकुमतप्रौढोरुनक्रक्रमम् ।
स्फाराऽगाधगभीरमूर्तिरसमध्यानो जनानन्दनः,
स्याद्वादाम्भोधिरेष वाञ्छितफलं स्यात् सम्यगासेवितः ॥ १ ॥

अथ प्रमाणनयस्वरूपं निरूप्य इदानीं प्रमाणविशेषस्य आगमस्य स्वरूपं पृथक् निरूपयितुमुपक्रमते, तत्र अनेकधा विप्रतिपत्तिसद्भावात् । तदादौ च शास्त्रस्य मध्यमङ्गलभूतम् इष्टदेवताविशेषगुणस्तोत्रमाह–

प्रणिपत्य महावीरं स्याद्वादेक्षणसप्तकम् ।
प्रमाणनयनिक्षेपानभिधास्ये यथागमम् ॥ ५१ ॥

प्रणिपत्य नत्वा । कम् ? **वीरम्** अन्तिमतीर्थङ्करं तीर्थङ्करसमुदायं वा । किंविशिष्टम् ? **स्याद्वादेक्षणसप्तकं** । स्यादस्तीत्यादिसप्तभङ्गमयो

कारिका २ –

वादः **स्याद्वादः ईक्षणसप्तकं** यस्य स तथोक्तः तम् । ननु स्याद्वादस्य ईक्षणव्यपदेशः मुख्यतः, उपचारतो वा स्यात् ? न तावत् प्रथमः पक्षः, चक्षुष्येव मुख्यतः तद्व्यपदेशप्रसिद्धेः । द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः, यतो रूपादिप्रतिपत्तेः हेतुभूतं चक्षुः ईक्षणं लोके प्रसिद्धम् । न च भगवतः तत्प्रतिपत्तौ स्याद्वादो हेतुभूतः, तत्कथमस्य उपचारतोऽपि ईक्षणव्यपदेशः ? अथ अपरमनेनार्थं बोधयतीति तत्प्रतिपत्तेर्हेतुभूतत्वात् तद्व्यपदेशः, तर्हि परस्यैव तदीक्षणसप्तकं न भगवतः, अन्यदीयात्ततो अन्यस्य प्रतिपत्तेरयोगात्, तदसमीचीनम्, अन्यथा व्याख्यानात् । **स्याद्वाद** एव **ईक्षणसप्तकं** यस्माद् भव्यानां स तथोक्तस्तम् । यदि वा, ईक्षणसप्तकमिव **ईक्षण-**

(१) स्यादस्तीत्यादिसप्तभङ्गमयो वादः स्याद्वादः ईक्षणानां सप्तकम् ईक्षणसप्तकम् स्याद्वाद एव ईक्षणसप्तकं यस्माद्भव्यानां भवत्यसौ तथोक्तस्तम् । न खलु निरवधारं प्रभावना प्रणामार्होऽन्यत्र सद्भावात् । –लघी० ता० पृ० ७४ । (२) ईक्षणव्यपदेशः । (३) रूपादिप्रतीतौ । (४) स्याद्वादस्य । (५) स्याद्वादेन । (६) भगवान् । (७) ईक्षणव्यपदेशः । (८) स्याद्वादः ।

1–वक्ष्यमः श्र० । 2 तदा सेवित ब०, श्र० । 3 वारं आ० । 4 अन्तिमतीर्थङ्करसमुदायं वा आ० । 5–अथ रमनेना–आ०, अथ परमतेना–ब० ।

सप्तकं स्याद्वादः तत् सप्तकं यस्यासौ स तथोक्तः तमिति । किं पुनः तैस्त्रयैर्न्नै स्याद्वादस्य साधर्म्यं येनैवमुच्यते इति चेत्, उपदेशानपेक्षाऽन्यानन्तरम् । यथैव हि ईक्षणात् परोपदेशलिङ्गान्वयव्यतिरेकनिरपेक्षं रूपादिज्ञानं जायते तथा स्याद्वादाद् भगवतः केवलज्ञानमिति । तमित्थम्भूतम् इष्टदेवताविशेषं **प्रणिपत्य** वक्ष्यमाणलक्षण लक्षितान् **प्रमाणनयनिक्षेपान् अभिधास्ये।** कथम् ? **यथागमम्,** आगमानतिक्रमेण । अनेन तत्र आत्मनः स्वातन्त्र्यं परिहृतम् ।

तत्र प्रमाणादीनां समासतो लक्षणं प्रतिपादयन्नाह–

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः उपायो न्यास इष्यते ।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥५२॥

विवृतिः–ज्ञानं प्रमाणं कारणस्याप्यचेतनस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् असन्निकृष्टेन्द्रियार्थवत् । नियमोऽयमुपन्यासः असन्निकृष्टस्य तदकारणत्वादिति, नैतत्सारम्, अर्थस्य तदकारणत्वात् तस्येन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात् अर्थस्य विषयत्वात् । न हि तत्परिच्छेद्योऽर्थः तत्कारणतामात्मसात्कुर्यात् प्रदीपस्येव घटादिः ।

ज्ञानमेव प्रमाणमेव इत्यवधारणं सर्वत्र द्रष्टव्यम् । कस्य तत् ।

कारिकार्थ – इत्याह–**आत्मादेः** । आदिशब्देन पुद्गलादिपरिग्रहः । ननु ज्ञानाधेयो तादात्म्यादिसम्बन्धासम्भवात् कथं तत्तस्य इत्युच्यते इति चेत्, न, तदभावेऽपि विषयविषयिभावलक्षणसम्बन्धसम्भवात् । तदभावे सोऽपि

(१) लक्षणसप्तकेन । (२) प्रत्यक्षतः । (३) इष्यते अभ्युपगम्यते सकलविप्रतिपत्तीनां प्रागेव निरस्तत्वात् । किम् ? प्रमाणम् । किंविशिष्टम् ? ज्ञानं जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञप्तिमात्रं वा ज्ञानमित्युच्यते द्रव्यपर्याययोः भेदाभेदविवक्षायां कर्त्रादिसाधनोपपत्तेः । कस्य ? आत्मादेः आत्मा स्वरूपमादिर्यस्य बाह्यार्थस्य स आत्मादिः तस्य स्वार्थस्य ग्राहकमित्यर्थः । अथवा आत्मा चिद्द्रव्यमादिर्यस्य आवरणानां क्षयोपशमः क्षयश्चान्तरङ्गं बहिरङ्गं पुनरिन्द्रियानिन्द्रियं गृह्यते तस्मादुपजायमानमित्यध्याहारः । तथा इष्यते । कः ? नयः । किं रूपः ? अभिप्रायः विवक्षा । कस्य ? ज्ञातुः श्रुतज्ञानिनः । तथा इष्यते । कः ? न्यासो निक्षेपः । किंविशिष्टः ? उपायः अधिगमहेतुः नामादिरूपः । अर्थस्य स्वतः सिद्धत्वात् किमेतैः प्रमाणादिभिरित्याशङ्क्याह–युक्तितोऽर्थपरिग्रहः । युक्त्या प्रमाणनयनिक्षेपरेवार्थस्य जीवादेः परिग्रहः प्रमितिरित्यर्थः इति । –लघी० ता० पृ० ७९ । तुलना–'ज्ञानं प्रमाणमित्याहुर्नयो ज्ञातुर्मतं मतः । –सिद्धिवि० टी० पृ० ५१८ A । प्रमाणसं० पृ० १२७ । उद्धृतमिदम्–'ज्ञानं प्रमाणमित्याहुः' –धवलाटी० पृ० १७ । (४) तुलना–'ज्ञातॄणामभिसन्धयः खलु नयास्ते द्रव्यपर्यायतः तत्र द्रव्यमतं तदव्ययपदं भेदात्मकाः पर्ययाः ।' –सिद्धिवि० टी० ५१७ A । (५) तुलना–'ज्ञानं प्रमाणं नाज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादि' –प्रमाणवा० मनोरथ० पृ० ३ । लघी० टि० पृ० १३२ । ज्ञानमेवेत्यवधारणात् सन्निकर्षादिर्व्यवच्छिन्नो भवति । –सिद्धिवि० टी० पृ० ५१८ A । (६) तुलना–'नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ।' –परीक्षामु० २।६ । प्रमाणमी० १।१।२५ । (७) ज्ञानम् । (८) अर्थस्य । (९) तादात्म्यादिसम्बन्धाभावे । (१०) विषयविषयिभावोऽपि ।

1–स्तमिति ब० । 2–केन स्याता–आ० । 3 अनेन आत्म–ब० । 4 उच्यते ज० वि० । 5–ध्यतेति ब० ।

कथम् ? इत्यपि वार्त्तम्, तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावेऽपि प्रदीपार्थयोः प्रकाश्यप्रकाशकभाववत् ज्ञानार्थयोः विषयविषयिभावस्य समर्थितत्वात्। ननु च आत्मादेरभावान्न किञ्चित्तस्य ज्ञानम् ? इत्यपि श्रद्धामात्रम्, तस्य[1] विषयपरिच्छेदे[2] प्रबन्धेन प्रसाधितत्वात्। यदि वा, **आत्मा** स्वरूपम्, **आदि**शब्देन अर्थपरिग्रहः, तेन स्वार्थयोः इत्ययमर्थः सिद्धो भवति। प्रसाधितञ्च स्वपरव्यवसायात्मकत्वं ज्ञानस्य प्रपञ्चतः स्वसंवेदनसिद्धौ[3] इत्यलं पुनस्तत्प्रसाधनप्रयासेन। अथ को निक्षेपः ? इत्याह–'**उपाय**' इत्यादि। **उपायः** कारणम् आत्मादिज्ञानस्य नामादिः **न्यासो** निक्षेपः **इष्यते**। **नयो ज्ञातुरभिप्रायः**, प्रमाणविषयीकृतेऽर्थे एकांशविषयो **ज्ञातुः** प्रमातुर**भिप्रायः**। किं फलमेतेषां स्वरूपव्यावर्णने ? इत्याह–**युक्तितः** प्रमाणादिलक्षणाया **अर्थस्य परिग्रहः** स्वीकारः। उपलक्षणमेतत् तेन अनर्थपरिहारोऽपि गृह्यते।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'**ज्ञानं प्रमाणम्**' इत्यादि। **प्रमाणं धर्मि ज्ञान**मिति साध्यम्,

विवृति-व्याख्यानम्– 'प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः' इति हेतुरत्र द्रष्टव्यः। ननु सन्निकर्षादिना अयं हेतुर्व्यभिचारी, तस्याऽज्ञानरूपस्यापि अव्यपदेश्याव्यभिचारिव्यवसायात्मकज्ञानजनकत्वेन प्रमाणत्वसंभवात् इत्यत्राह–'**कारणस्यापि**' इत्यादि। **कारणस्यापि** यथोक्तज्ञानजनकस्यापि सन्निकर्षादेरचेतनस्य सतः **प्रामाण्यमनुपपन्नम्**। अत्र दृष्टान्तमाह–**असन्निकृष्टेन्द्रियार्थवत्**। सन्निकर्षः सन्निकृष्टः तच्च इन्द्रियञ्च अर्थश्च सन्निकृष्टेन्द्रियार्थौ, विवक्षितेभ्यस्तेभ्यः अन्ये **असन्निकृष्टेन्द्रियार्थाः** तेषामिव **तद्वत्**। यद्वा, **असन्निकृष्टौ** च तौ **इन्द्रियार्थौ** च तयोरिव **तद्वत्**। यद्वा, प्रयोगः–विवादगोचरापन्नं सन्निकर्षादि अप्रमाणम् अचेतनत्वात् अविवक्षितसन्निकर्षादिवत्। यथा च अचेतनस्य सन्निकर्षादेः प्रामाण्यन्नोपपद्यते तथा प्रत्यक्षपरिच्छेदे[4] प्रपञ्चतः प्रतिपादितम्।

अत्राह परः–'**विषम**' इत्यादि। **विषमः** दार्ष्टान्तिकेन समानो न भवति **उपन्यासो** दृष्टान्तरूपः। तदेव वैषम्यं दर्शयति–'**असन्निकृष्टस्य**' इत्यादिना। **असन्निकृष्टस्य** इन्द्रियार्थलक्षणस्य वस्तुनः **तदकारणत्वात्** विवक्षितज्ञानाहेतुत्वात्। एतदुक्तं भवति–यदि नैयायिकादिः चेतनत्वेन क्वचित् प्रामाण्यमभ्युपगच्छति तर्हि दृष्टान्ते चैतन्याभावे यथा प्रामाण्याभावः तथा दार्ष्टान्तिकेऽपि स्यात्, यावता ज्ञानकारणत्वेन तदभ्युपगतम्। तत्कारणत्वञ्च दृष्टान्ते यद्यपि नास्ति तथापि दार्ष्टान्तिके अस्ति इति

(१) आत्मा०। (२) पृ० ३४३। (३) पृ० १७६। (४) तुलना– 'एत्थ किमट्ठं णयपरूवणमिदि ? प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते। युक्तं चायुक्तवद् भाति तस्यायुक्तञ्च युक्तवत्॥"– धवलाटी० पृ० १६। (५) तुलना–"सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः। –प्रमाणप० पृ० ५१। प्रमेयक० पृ० ७। स्या० र० पृ० ४१। प्रमेयर० १।१। प्रमाणमी० पृ० २। (६) तुलना–' न ह्यचेतनोऽर्थः स्वप्रमितौ करणं घटादिवत्।'–प्रमाणप० पृ० ५१। (७) पृ० २९। (८) प्रामाण्यं स्वीकृतं न चेतनत्वेन नाप्यचेतनत्वेनेति भावः।

1–चोनामय ब०। 2–ज्ञानकस्यापि आ०।

सिद्धमस्य प्रामाण्यमिति । अत्र दूषणमाह–'**नैतत्सारम्**' इत्यादि । एतत् ज्ञानकारणत्वेन प्रमाणत्वं **न सारम्** । कुत एतदित्याह–'**अर्थस्य**' इत्यादि । **अर्थस्य** ज्ञानविषयस्य घटादेः **तदकारणत्वात्** स्वग्राहिज्ञानाजनकत्वात् । एतदपि कुत इत्याह–'**तस्य**' इत्यादि । **तस्य** घटादिज्ञानस्य **इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात्** । अर्थनिमित्तत्वं कुतो नेति चेदत्राह–**अर्थस्य विषयत्वात्** परिच्छेद्यत्वात् । ननु 'विषयश्च स्यात् कारणञ्च' इति कोऽनयोर्विरोध ? इत्यत्राह–'**नहि**' इत्यादि । **हि**र्यस्मात् **न तस्य** ज्ञानस्य **परिच्छेद्योऽर्थः तत्कारणताम्** ज्ञानहेतुताम् **आत्मसात्कुर्यात्** । अत्र परप्रसिद्धं दृष्टान्तमाह–**प्रदीपस्येव घटादिरिति**। अत्रायमभिप्रायः–यथा प्रदीपप्रकाश्यो घटादिः न प्रदीपकारणतामात्मसात्करोति तथापि प्रदीपेन प्रकाश्यते तथा ज्ञानप्रकाश्योऽप्यसौ तत्कारणतामनात्मसात्कुर्वन्नपि तेन प्रकाश्य इति। अनेन परैः परिकल्पित "*नाकारणं विषयः*" [ ] इति नियमो निरस्तः, प्रदीपं प्रत्यकारणस्यापि घटादेः तत्प्रकाशनविषयत्वोपलब्धेः ।

किञ्च, 'नाकारणं विषयः' इत्यभ्युपगच्छता किं कारणमेव विषय इत्यभिप्रेतम्, कारणं विषय एव इति वा ? प्रथमपक्षे विज्ञानस्वरूपसंवेदनानुपपत्तिः । नहि स्वरूपं स्वस्यैव कारणम्, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । द्वितीयपक्षे तु चक्षुरादेरपि विषयत्वप्रसक्तिः कारणत्वाविशेषात् । किञ्च, अर्थस्य ज्ञानं प्रति कारणत्वे सिद्धे अयं नियमः परिकल्प्येत, असिद्धे वा ? न तावदसिद्धे, अतिप्रसङ्गात् । अथ सिद्धे, कुतस्तत्सिद्धिः – तत एव ज्ञानात्, अन्यतो वा ? न तावत् तत एव, यतः –

अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः ।
अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत् ॥ ५३ ॥

(१) घटादिविषयस्य । (२) घटादेः । (३) ज्ञानं प्रति हेतुताम् । (४) ज्ञानेन प्रकाश्यो भवतु । (५) सौगतैः । (६) कारणीभावो हि विषयीभाव उच्यतेऽस्माभिः सम्वायः । तथाहि–रूपादिविषयश्च क्षुषा विज्ञानोत्पत्तौ सहकारिता प्रतिपद्यमानो विषयीभवतीत्युच्यते । द्विविधश्च सहकारार्थः परस्परोपकारको वा यथा एकार्थक्रिया वा यथाभिमतमात्रेण रूपं गृह्णते । उभयथापि विज्ञानस्य कारणविशेष एव विषय उच्यते ।'–तत्त्वसं० प० पृ० ६८३ । (७) तुलना– तथाहि–किं कारणं विषय एव उत कारणमेव विषयः ? प्रथमपक्षे रूपादिसंविदा चक्षुराद्यपि विषयो भवेत्, द्वितीयपक्षे भविष्यति रोहिण्युदये कृत्तिकोदयस्यातीतसमयस्यामिव इत्यस्यानुमानस्य भावी रोहिण्युदयोऽकारणत्वाद्विषयो न स्यात्'–सन्मति० टी० प० ५१० । (८) विज्ञानस्वरूपसंवेदनं हि तदा स्याद् यदि विज्ञानस्य स्वरूपं स्वसंवेदनं प्रति कारणं स्यात् । न चैतदस्ति । (९) विद्यात् जानीयात् । किम् ? ज्ञानम् । कथम् ? अयमर्थ इति । पुनः विद्यात् काम् ? उत्पत्तिम् अहमस्मादुत्पन्नमिति स्वजन्म । कस्मात् ? अर्थात् घटादेः सकाशात् । इतरथा प्रमेयं प्रतीतिसिद्धमेव अन्यथा यद्यर्थात् स्वोत्पत्तिं ज्ञानं विद्यात् तदा वादिप्रतिवादिनोर्विवादो ज्ञानमर्थादुत्पन्नं न वेति विप्रतिपत्तिः किंवत् ? कुलालादिघटादिवत् यथा कुलालादेः सकाशाद् घटादेर्जन्मनि प्रतीतिसिद्धे कस्यापि न विवादोऽस्ति तथाऽर्थात् ज्ञानजन्मन्यपि विवादो मा भूत् अस्ति चायं विवादः स्याद्वादिनां ज्ञानजन्मनि । –लघी० ता० प० ७६ ।

1–स्याप्रामा–श्र० । 2 न दोष–आ० श्र० । 3 कारणहेतव विषय श्र० । 4 परिकल्पेत आ०, ब० ।

विवृतिः-अर्थं परिच्छिन्दद्विज्ञानम् आत्मनः कारणान्तरमपरं सूचयत्येव। नहि ततः स्वभावलाभं प्रति व्याप्रियमाणस्य तत्परिच्छित्तिः अनुत्पन्नत्वात्। उत्पन्नस्यापि न कारणे व्यापारः करणादिवत्। यदि कारणकार्यभावम् आत्मार्थयोर्विज्ञानं परिच्छिन्द्यात् न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति कर्तृकरणकर्मसु।

घटाद्यर्थग्राहकं हि **ज्ञानं** 'देशकालाकारविशिष्टो घटाद्यर्थोऽयम्' इत्यनेनोल्लेखेन **अर्थमेव विद्यात्, न उत्पत्तिम्** आत्मलाभम**र्थतो** विद्यात्। अथ तत्[१] तत[२] तौ वेत्ति इत्युच्यते, अत्राह-'**अन्यथा**' इत्यादि। **अन्यथा** अन्येन तत्परिज्ञानप्रकारेण **न विवादः स्यात्**। यस्य यस्मादुत्पत्तिः प्रत्यक्षतः प्रतीयते न तस्य तदुत्पत्तौ कस्यचिद् विवादः यथा कुलालाद् घटस्य, विवादश्च ज्ञानस्य अर्थादुत्पत्तौ, तस्मात् सा[३] तस्य[४] प्रत्यक्षतो न प्रतीयत इति।

कारिकार्थ –

अथ[६] प्रमाणान्तरात्तस्य अर्थकार्यता प्रतीयते-ननु तत्किं प्रत्यक्षरूपम्, अनुमानरूपं वा स्यात्? यदि प्रत्यक्षरूपम्, तत्किं ज्ञानविषयम्, अर्थविषयम्, उभयविषयं वा स्यात्? तत्राद्यविकल्पद्वये तयो[७] कार्यकारणभावप्रतीतिरनुपपन्ना, एकैकविषयज्ञानग्राह्यत्वात्, ययो एकैकविषयज्ञानग्राह्यत्वं न तयो कार्यकारणभावप्रतीतिः यथा रूपरसयो धूमपावकयोर्वा, एकैकविषयज्ञानग्राह्यत्वञ्च अर्थज्ञानयोरिति। अथ उभयविषयप्रत्यक्षात् तत्प्रतीतिः, तन्न, तथाविधप्रत्यक्षस्य अस्मादृशामसम्भवात्।

किञ्च, तदुभयविषयं प्रत्यक्षं ताभ्यामुत्पन्नं सत् तयो कार्यकारणभावं प्रत्येति, अनुत्पन्नं वा? न तावदनुत्पन्नम्, आद्यज्ञानस्यापि अर्थादनुत्पन्नस्य अर्थग्राहकत्वप्रसङ्गात्। अथ उत्पन्नम्, तर्हि तस्यापि तदुत्पत्तिः अपरस्मात् तत उत्पन्नाज्ज्ञानात् प्रत्येतव्या तस्याप्यन्यस्मादित्यनवस्था। आद्यात् द्वितीयस्य, द्वितीयाच्चाद्यस्य तत्प्रतीतौ अन्योन्याश्रयः। तन्न प्रत्यक्षरूपात्प्रमाणान्तरात् ज्ञानस्य अर्थकार्यतासिद्धिः। नापि अर्थान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वलक्षणानुमानरूपात्, तस्य अनन्तरकारिकाया निराकरिष्यमाणत्वात्।

कारिकां विवृण्वन्नाह-'**अर्थम्**' इत्यादि। **अर्थं** घटादिकं **परिच्छिन्दद् विज्ञानम् आत्मनः** स्वस्य **कारणान्तरमपरं** परपरिकल्पितार्थलक्षणकारणाद् अपरमेव चक्षुरादिलक्षणं कारणान्तरं **सूचयति**। कुत एतदित्याह-

विवृतिव्याख्यानम्-

(१) ज्ञानम्। (२) अर्थान्। (३) उत्पत्तिम्। (४) उत्पत्तिः। (५) ज्ञानस्य। (६) तुलना-'किञ्चार्थकार्यतया ज्ञानं प्रत्यक्षतः प्रतीयते प्रमाणान्तराद्वा? प्रत्यक्षतश्चेत्, किं तत एव प्रत्यक्षान्तराद्वा? अथ प्रमाणान्तरात्तस्यार्थकार्यता प्रतीयते, तत्किं ज्ञानविषयमर्थविषयमुभयविषयं वा स्यात?"-प्रमेयक० पृ० २३२। (७) ज्ञानार्थयो। (८) ज्ञानार्थोभयग्राहि। (९) उभयाभ्यां ज्ञानार्थाभ्याम्। (१०) ताभ्यामर्थज्ञानाभ्यामुत्पत्तिः। (११) उभयात। (१२) तदुत्पत्तिप्रतीतौ।

1 विद्यात अथ श्र०। 2-स्यात्तस्य श्र०। 3-पावकयोर्वा आ०। 4-सम्भवात श्र०। 5-वात्तदुभय-ब०। 6-ज्ज्ञात्तस्यापि श्र०।

'नहि' इत्यादि। न हि[1]यस्मात् ततोऽर्थात् स्वभावलाभं प्रति व्याप्रियमाणस्य[2] स्वरूपलाभम[3]येमानस्य तत्परिच्छित्तिः अर्थपरिच्छित्तिः। कुत इत्याह–अनुत्पन्नत्वात्। यदनुत्पन्नं सद् यदा यतः आत्मलाभं लभते न तत्तस्य परिच्छेदकम् यथा अलब्धात्मलाभावस्थायां पितुः पुत्रः, अनुत्पन्नं सदर्थादात्मलाभं लभते च उत्पत्तिक्षणे ज्ञानमिति। अथ उत्पन्नस्य सतो ज्ञानस्य अर्थग्रहणे व्यापारो भविष्यति इत्युच्यते, अत्राह–'उत्पन्नस्यापि' इत्यादि। न केवलमनुत्पन्नस्य अपि तु उत्पन्नस्यापि ज्ञानस्य कारणे स्वजनके न व्यापारः तद्ग्रहणलक्षणः। अत्र दृष्टान्तमाह–करणादिवत्। करणं चक्षुरादि आदिर्यस्य अदृष्टादेः तत्रैव तद्वदिति। प्रयोगः–अर्थो न ज्ञानकारणम्, तेन परिच्छिद्यमानत्वात्, यत्तु तत्कारणं न तत्तेन परिच्छिद्यते यथा चक्षुरादि, परिच्छिद्यते च ज्ञानेनार्थः, अतस्तत्कारणत्वं भवतीति। न च आलोकेन अनेकान्तः, तत्र ज्ञानकारणत्वस्य निराकरिष्यमाणत्वात्। तर्हि पुत्रेण अनेकान्तः, पितुरुत्पादकस्याप्यस्य[4] तत्परिच्छेदकत्वात्, इत्यप्यसत्, पुत्रशरीरस्यैव[5] ततः[6] उत्पत्तेः, न च[7] तत् तत्परिच्छेदकं[8] किन्तु ज्ञानम्, तच्च ततो नोत्पद्यते चक्षुरादिव्यापारयोत्पत्तेः। कथमेव पूर्वप्रयोगे[9] तस्य[10] दृष्टान्ततोपपद्यते ? इत्यप्यचोद्यम्, शरीरतः[11] तद्विशिष्टज्ञानतो वाऽ[12]लब्धात्मलाभस्य परिच्छेदकत्वाभावमात्रापेक्षया तस्य[13] तदुपपत्तेः[14] समयात्।

ननु च अर्थकार्यतया ज्ञानं स्वयमेव आत्मानं प्रतिपद्यते, अतः तद्बाधितकर्मनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टः 'परिच्छिद्यमानत्वात्' इति हेतुः, इत्यत्राह–'यदि' इत्यादि। यदि कारणकार्यभावम् आत्मार्थयोः, आत्मनः कार्यभावम् अर्थस्य कारणभावं[15] विज्ञानं कर्तृ परिच्छिन्द्यात्, तदा न कश्चिद्विप्रतिपत्तुमर्हति। क ? इत्याह–कर्तृकरणकर्मसु। अर्थः[16] कर्ता, चक्षुरादि करणम्, ज्ञानं कर्म, तेषु इति। यत्र कारणकार्यभावो निर्बाधात् सविदि प्रतिभासते न तत्र कर्त्रादित्रये कश्चिद् विप्रतिपद्यते यथा कुलालघटयोः, विप्रतिपद्यते च अर्थज्ञानयोः कर्त्रादौ जैनादिरिति।

'ननु सर्वत्र अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यः कार्यकारणभावः, तौ चात्रापि विद्येते–अर्थे

(१) ज्ञानं नार्थस्य परिच्छेदकम् अनुत्पन्नं सत् अर्थात् लब्धात्मलाभत्वात्। (२) उत्पत्तिक्षणे। (३) पुत्रस्य। (४) पितृपरिच्छेदकत्वात्। (५) पितुः। (६) पुत्रशरीरम्। (७) पितृपरिच्छेदकम्। (८) ज्ञानम्। (९) पितुः। (१०) ज्ञानस्य। (११) यदनुत्पन्नं सदित्यादिप्रयोगे। (१२) पुत्रस्य। (१३) शरीररूपेण। (१४) शरीरविशिष्टज्ञानरूपेण वाऽनुत्पन्नस्य। (१५) पुत्रस्य। (१६) दृष्टान्ततोपपत्तेः यथा हि शरीररूपेण विशिष्टज्ञानात्मकतया वाऽनिष्पन्नः पुत्रः न पितृपरिच्छेदकः तथैव ज्ञानमनुत्पन्नं सदर्थस्य परिच्छेदकम्। (१७) स्वसंवेदनप्रत्यक्षबाधितसाध्यप्रयोगानन्तरम्। (१८) स्वस्य–ज्ञानस्य। (१९) ज्ञानस्योत्पादकत्वादर्थः कर्ता। (२०) अर्थाज्जायमानत्वात् ज्ञानं कर्म।

1 न हि यस्मान् आ० ब०। 2–स्वरूपला–ब०। 3 यत्त ब०। 4 सदर्थात्मलाभं आ०, श्र०। 5–त्तिलक्षण श्र०। 6 परिज्ञानस्य ब०। 7–कवलनव्यापा–श्र०। 8 च तत्परि–श्र०, ब०। 9 अतस्तद्बाधि–आ०। 10–नन्तरप्रयु–आ०, ब०। 11 परिच्छेद्य–ब०।

सत्येव ज्ञानस्योत्पत्तेः तदभावे चाऽनुत्पत्तेः । प्रयोगः–यद् यस्यान्वयव्यतिरेकावनुकरोति तत्तस्य कार्यम् यथा अग्नेर्धूमः, अन्वयव्यतिरेकावनुकरोति च ज्ञानमर्थस्य' इत्याशङ्काह–

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत् कारणं विदः ।
संशयादिविदुत्पादः कौतस्कुत इतीक्ष्यताम् ॥ ५४ ॥

विवृतिः–बुद्धेरेव व्यभिचारो नार्थस्य कथमव्यभिचारिणोऽर्थस्य अन्वयव्यतिरेकाननुकुर्वती व्यभिचरेन्नाम ? ततः संशयादिज्ञानमहेतुकं स्यात् । तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभादिहेतुत्वे कमर्थमर्थः पुष्णाति इति मृग्यम् । सत्यज्ञानेऽपि तिमिराद्यभावस्य इन्द्रियमनोगतस्य कारणत्वात् । ततः सुभाषितम्–'इन्द्रियमनसी कारणं विज्ञानस्य अर्थो विषयः' इति ।

अर्थसद्भावे भावोऽन्वयः तदभावेऽभावो व्यतिरेकः ताभ्यामर्थश्चेद् यदि कारणं विदो ज्ञानस्य । अत्र दूषणमाह–'संशय' इत्यादि । संशयः आदिर्यस्याः सा चासौ वित् च तस्य उत्पाद आत्मलाभः कौतस्कुत इत्येवमीक्ष्यतां पर्यालोच्यताम् ।

कारिकार्थ –

कारिकां व्याख्यातुमाह–'बुद्धेः' इत्यादि । बुद्धेरेव व्यभिचारः अन्यदेशादिविशिष्टस्यार्थस्य अन्यदेशादिना ग्रहणलक्षणो नार्थस्य, 'व्यभिचारः' इति सम्बन्धः । स हि यथार्थामयथार्थां वा अन्वयव्यतिरेकाननु-

विवृतिव्याख्यानम्–

(१) ज्ञानमर्थकार्यम् अर्थान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । (२) 'चेद्यदि कारणं कथ्यते । कः ? अर्थो विषयः । कस्याः ? विदो ज्ञानस्य । काभ्याम् ? अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् सति भवनमन्वयः असत्यभवनं व्यतिरेकः ताभ्याम् । तथाहि–ज्ञानमर्थकारणकं तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादिति । तदा कौतस्कुतः स्यात्, कुतस्कुत आगतः कौतस्कुतः । कः ? संशयादिविदुत्पादः संशयविपर्यासज्ञानोत्पत्तिः । इत्येवमीक्ष्यतां तद्वादिभिः स्वमनसि पर्यालोच्यताम् अर्थाभावेऽपि संशयाद्युत्पत्तेः । न हि स्थाणुपुरुषात्मकः केशोण्डुकस्वभावो वार्थस्तज्ज्ञानोत्पत्तौ व्याप्रियते, ततो नागासिद्धमर्थान्वयव्यतिरेकानुविधानं ज्ञानस्येति ।' –लघी० ता० पृ० ७६ । (३) अत्रार्थं पूर्वपक्षः– अर्थस्य च ज्ञानजनकत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगम्यते । यदा हि देवदत्तार्थी कश्चिद् व्रजति तद्गृहम् । तत्रासन्निहितं चैनं गत्वापि न स पश्यति ॥ क्षणान्तरे स आयान्तं देवदत्तं निरीक्षते । तत्र तत्संनिधानेन तथात्वं वेत्ति तद्धियः ॥ अनागते देवदत्ते न देवदत्तज्ञानमुदपादि तस्मिन्नागते तदुत्पन्नमिति तद्भावभावित्वात्तज्जन्यत्वं तस्यावसीयते ।"–न्यायम० पृ० ५४४ । (४) 'तिमिरमक्ष्णोर्विप्लवः, इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम् । आशुभ्रमणमलातादेः, मन्दं हि भ्राम्यमाणेऽलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते तदर्थमाशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम् । एतच्च विषयगतं विभ्रमकारणम् । नावा गमनं नौयानम् । गच्छन्त्या नावि स्थितस्य गच्छद्वृक्षादिभ्रान्तिरुत्पद्यते इति यानग्रहणम् । एतच्च बाह्याश्रयस्थितं विभ्रमकारणम् । संक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणाम् । वातादिषु हि क्षोभं गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्तिरुत्पद्यते । एतच्चाध्यात्मगतं विभ्रमकारणम् ।'–न्यायवि० टी० पृ० १६ । (५) उद्धृतमिदम्–'इन्द्रियमनसी विज्ञानकारणमिति वचनात् ।'–न्यायवि० वि० पृ० ३२ A । 'तस्मादिन्द्रियमनसी विज्ञानस्य कारणं नार्थोऽपीत्यकलङ्कैरपि' –तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३३० ।

1–रिपितुम्या–आ० । 2 ङ्मियमस अ० वि० । 3 वित् आ० । 4–शिष्टस्यान्यदे–ब० ।

कार्येन् बुद्धिं जनयत्येव । "सर्वं सालम्बनं ज्ञानम्" [ ] इत्यभ्युपगमात् । केशोण्डुकादिज्ञानस्यापि अक्षिपक्ष्मादिनिबन्धनत्वादिति । पूर्वार्द्धं व्याख्यातम् । उत्तरमुत्तरार्द्धं व्याचक्षाण आह–'कथम्' इत्यादि । कथं केन प्रकारेण अव्यभिचारिणोऽर्थस्य अन्वयव्यतिरेकावनुकुर्वती बुद्धिः अर्थं व्यभिचरेन्नाम ? नैव व्यभिचरेत् । यथैव हि व्यवस्थितोऽर्थः तथैव गृह्णीयात्, तत आत्मलाभलक्षणत्वाद् व्यभिचारस्य । व्यभिचरति च । अतो यथा अयदेशादिसंस्पृष्टस्य धर्मस्यासत एव ग्रहणं तथा धर्मिणोऽप्यसत एव ग्रहणमभ्युपगन्तुं विपरीतख्याति(ते)रन्तु श्रेयान्, असत्ख्यातेरपि प्रसङ्गात् इत्यभिप्रायः । एतदेव दर्शयन्नाह–'ततः' इत्यादि । ततः तस्माद् बुद्धेर्व्यभिचारात् संशयादिज्ञानमहेतुकम्, अर्थलक्षणकारणशून्यं स्यात् धर्मवत् धर्मिणोऽपि असत एव प्रतिभाससंभवात् । दृश्यते हि तावद् अक्षिपक्ष्माद्यपायेऽपि तैमिरिकस्य केशोण्डुकादिज्ञानम् ।

ननु केशोण्डुकादिज्ञानं भ्रान्तत्वाद् अर्थापायेऽपि उत्पद्यते, नान्यद् विपर्ययात् । नैकान्यस्य व्यभिचारे अन्यस्य व्यभिचारः अतिप्रसङ्गात्, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, परनिरपेक्षतया हि स्वपरप्रकाशात्मकत्वं ज्ञानस्य स्वरूपं न पुनः सत्यत्वमसत्यत्वं वा । तत्र च यथा सत्याभिमतं ज्ञानं स्वपरप्रकाशात्मकं तथा केशोण्डुकादिज्ञानमपि । एतावांस्तु विशेषः–किञ्चित् सत्परं प्रकाशयति संवादसंभवात्, किञ्चित्तु असद् विसंवादात् । न चैतावता ज्ञात्वस्वरूपेण अनयोरन्यतरस्य व्यभिचाराभावो वा, अन्यथा 'प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दः कृतकत्वाद् घटादिवत्' इत्यादेरपि अप्रयत्नानन्तरीयके विद्युद्वनकुसुमा

(१) यथा चिरकालीनाध्ययनादिखिन्नस्याखिलस्य नीललोहितादिगुणविशिष्टं केशोण्डुकाख्यं किञ्चिन्नयनाग्रे परिस्फुरति अथवा करसमृदितलोचनरश्मिषु यत् केशपिण्डावस्था स केशोण्डुकः । –न्यायबि० टी० पृ० ९९ । केशोण्डुका नाम पक्षिणः केशमूला युत्पादयन्ति –निक्षासमु० प० ७० । "तैमिरिकाणामिव केशोण्डुकाद्याभासं विनाप्यसत्त्वादिति । –मध्यान्तवि० पृ० १५ । केशोण्डुकं यथा मिथ्या गृह्णन्ति तैमिरिकाः । –लङ्कावतार० प० २७४ । (२) तुलना– कामलाद्युपहतचक्षुषो हि न केशोण्डुकज्ञानस्य कारणत्वेन व्याप्रियते–तत्र हि केशोण्डुकस्य व्यापारो नयनपक्ष्मादेर्वा कामलादेर्वा गत्यन्तराभावात् ? न तावदाद्यविकल्पः, न खलु तत्रार्थं केशोण्डुकलक्षणोऽर्थः सत्येव भवति भ्रमाभावप्रसङ्गात् । नयनपक्ष्मादिकारणत्वे तस्यैव प्रतिभासप्रसङ्गात् गगनतलावलम्बितया पुरःस्थतया केशोण्डुकाकारतया च प्रतिभासो न स्यात् । न ह्यन्यदन्यथा प्रत्येतुं शक्यम् । अथ नयनकेशा एव तत्र तथाऽसन्तोऽपि प्रतिभासन्ते तर्हि तद्रहितस्य कामलिनोऽपि तत्प्रतिभासाभावः ।'–प्रमेयक० पृ० २३३ । (३) स्वपरग्रहणलक्षणं हि ज्ञानम् तत्र च यथा सत्याभिमतं ज्ञानं स्वपरग्राहकं तथा केशोण्डुकादिज्ञानमपि । एतावांस्तु विशेषः किञ्चित्सत्परं गृह्णाति संवादसद्भावात् किञ्चिदसद्विसंवादात् । –प्रमेयक० पृ० २३५ । (४) सत्यज्ञानम् । (५) असत्यज्ञानम् । (६) सत्परत्व-असत्परत्वग्रहणमात्रेण । (७) सत्यासत्यज्ञानयोः ।

1–यत् ब० । 2 ज्ञानम्' नास्ति श्र० । 3 इत्युप–ब० । 4–पक्ष्मादि–श्र० । 5–सम्बन्धस्य श्र० । 6 दृश्यते हि लोचनपक्ष्माद्यपायेऽपि ब० । 7 नचान्यस्यस्य व्यभिचारोऽपि–ब० । 8 स्वरूपपरप्रका–श्र० । 9 विसंवादसंभवात् ब० ।

दिभिर्व्यभिचारो न स्यात्, ताल्वादिदण्डादिजनितात् शब्दघटादेः तद्विपरीतस्य विद्युदादे-रन्यत्वात्। न चान्यस्य व्यभिचारे अन्यस्य व्यभिचारोऽतिप्रसङ्गात्। तथाप्यत्र व्यभिचारे प्रकृतेऽपि सोऽस्तु विशेषाभावात्।

'तिमिर' इत्यादिना परमतमाशङ्कते–तिमिरादीनां द्वन्द्वः, पुनः [illegible] बहुव्रीहिः। आदिशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तेन एकेन आदिशब्देन [illegible] सकलेन्द्रियदोषपरिग्रहः, अन्येन द्रुतभ्रमणादिपरिग्रहः, इतरेण [illegible] अपरेण क्रोधाद्युपयोगग्रहणम्। तद्धेतुत्वे अङ्गीक्रियमाणे कथमर्थः [illegible] पुष्णाति इति एव मृग्यं न कश्चिदित्यर्थः। कुत एतदित्याह–'सत्यज्ञाने' [illegible] न केवलमसत्यज्ञाने अपि तु सत्यज्ञानेऽपि तिमिराद्यभावस्य, [illegible] मनोगतस्य। इन्द्रियगतस्य तिमिराद्यभावस्य, मनोगतस्य [illegible] यमनोगतस्य आशुभ्रमणाद्यभावस्य कारणत्वात् इन्द्रियादि [illegible] इति स यते, भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य। यथा च [illegible] अमतोऽकारणस्य अर्थस्य ग्राहकं तथा सत् सत्यज्ञान [illegible] माह–'तत' इत्यादि। यस्मादुक्तप्रकारेण अर्थस्य [illegible] सुभाषितम्–इन्द्रियमनसी कारणं विज्ञानस्य [illegible]

ननु च इन्द्रियार्थयोः मतोरपि [illegible] मत्येव मन्यते तयैव तेन साधकतमत्वोपपत्तेः [illegible] पत्तेरर्थमाह–

सन्निधेरिन्द्रियार्थानाम [illegible] नोः।
कार्यकारणयोश्चापि बुद्धि [illegible] नी ॥ ५५ ॥

विवृतिः–सन्निकर्षादयः [illegible] प्रागनुपलम्भात्, अन्यथा [illegible] ? अतः [illegible] इन्द्रियार्थानां

(१) तिमिर। (२) [illegible]। (३) [illegible]। (४) [illegible]। (५) तिमि आदिरहितम्। (६) [illegible]। (७) [illegible]। (८) [illegible] (विपरीतज्ञानम्) व्यभिचा [illegible] न हि तस्यं [illegible] तदविषयभूतस्य स्थाणुपुरुषलक्ष [illegible]"–प्रमेयक० पृ० २३४। (९) [illegible]। (१०) मनिक [illegible]। (११) पुरो। (१२) "अव्यवसायिना निश्चायिका। का? बुद्धिज्ञानमेव। कस्य? सन्निधेरपि [illegible] इन्द्रियार्थानाम्, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि [illegible] न तयोः सन्निकर्षः तु अन्वयव्यतिरेकयोश्च सन्निकर्षस्य भावाभावयोः च। [illegible] कार्यकारणयोः इत्यादि तयोरेव बुद्धिरव्यवसायिनी। [illegible] प्रमेयत्वात्।"–लघी० ता० पृ० ७७।

1 म हिन्निर्वाह–आ०, ब०। 2 सन्निधेऽपायसा–ब०। 3 यथपात–ब०। 4–पशा बुद्धे–ब० [illegible]
[illegible] इत्येवम् ई० वि०।

कारणानामतीन्द्रियाणां सन्निकर्षो दुरवबोधः । कथं तस्य विज्ञानोत्पत्तावङ्गीकरणमिति चिन्त्यम् ? प्राग्विज्ञानोत्पत्तेः अर्थमनवबुद्ध्यमानाः कारणमकारणं वा कथं ब्रूयुः ? उत्पन्नं हि विज्ञानमर्थस्य परिच्छेदकं न तत्कारणतया । आलोकोऽपि न कारणं परिच्छेद्यत्वादर्थवत् ।

कारिकार्थः – **कार्यकारणयोश्चापि** इत्यपिशब्दः **सन्निधेः** इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः, ततोऽयमर्थो जायते–न केवलमर्थस्य किन्तु सन्निधेरपि सन्निकर्षस्यापि बुद्धिरध्यवसायिनी । केषां तस्य इत्याह–**इन्द्रियार्थानाम्** । तथा **अन्वयव्यतिरेकयोः** सन्निधेर्भावाभावयोः बुद्धिः अध्यवसायिनी । न केवलमनयोः अपितु **कार्यकारणयोश्च**, कार्यं सन्निकर्षः कारणम् इन्द्रियादि । यदि वा, कार्यं ज्ञानम्, कारणं सन्निकर्षः तयोश्च **बुद्धिरध्यवसायिनी** । एतदुक्तं भवति–सन्निकर्षादिसद्भावेऽपि यावद् बुद्धिर्नोत्पद्यते तावत्तस्य तदन्वयव्यतिरेकयोः तत्कार्यकारणभावस्य अन्यस्य वा न व्यवस्था, बुद्धिकल्पनावैफल्यप्रसङ्गात् । उत्पन्नायां तु तस्याम् अन्यापेक्षामन्तरेणैव तदव्यवस्थेति, अतः सैव साधकतमत्वात् प्रमाणं न सन्निकर्षादि ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'सन्निकर्ष' इत्यादि । सन्निकर्ष आदिर्येषाम् अन्वयव्यतिरेकादीनां ते तथोक्ताः, विवृतिव्याख्यानम्– कारणान्तरात् इन्द्रियमनोलक्षणाद् उत्पन्नया बुद्ध्या अध्यवसीयन्ते । न च नैव तैः सन्निकर्षादिभिर्बुद्धिः अध्यवसीयते । कुत एतदित्याह–'प्राग्' इत्यादि । प्राक् बुद्ध्युत्पादात् पूर्वम् अनध्यवसायात् सन्निकर्षादीनां बुद्धिविषयव्यवसायरहितत्वात् । तदनभ्युपगमे दूषणमाह–'अन्यथा' इत्यादि । अन्यथा अन्येन प्रागध्यवसायप्रकारेण **कैमर्थक्यात् बुद्धेः अन्वेषणम्** । बुद्धेरिव अन्यस्यापि सन्निकर्षादिभ्य एव सिद्धेः । न चैवम्, अतो बुद्धेरेव सर्वत्र साधकतमत्वात्प्रामाण्यमित्यभिप्रायः । यत्पुनरेतत्–"आत्मा मनसा युज्यते,

(१) तुलना– आलोकेनापि जन्यत्वे नालम्बनतया भिदा (विद) । किन्त्विन्द्रियबलाधानमात्रत्वेनानुमन्यते ॥'–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१८। नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् । तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च ।'–परीक्षामु० २।६, ७ । 'नार्थालोकौ कारणम् अव्यतिरेकात् ।–प्रमाणमी० १।१।२५ । (२) सन्निकर्षस्य । (३) सन्निकर्षस्य । (४) सन्निकर्षबुद्ध्योरन्वयव्यतिरेकयोः । (५) इन्द्रियसन्निकर्षयोः सन्निकर्षज्ञानयोर्वा कार्यकारणभावस्य । (६) बुद्धौ । (७) बुद्धि । (८) यदि बुद्ध्युत्पादमन्तरेणापि सन्निकर्षादि अर्थपरिच्छेदकं स्यात्तदा । (९) तच्चेदं प्रत्यक्षं चतुष्टयत्रयद्वयसन्निकर्षात् प्रवर्तते । तत्र बाह्ये रूपादौ विषये चतुष्टयसन्निकर्षाज्ज्ञानमुत्पद्यते आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति । सुखादौ तु त्रयसन्निकर्षाज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्र चक्षुरादिव्यापाराभावात् । आत्मनि तु योगिनो द्वयोरात्ममनसोरेव संयोगाज्ज्ञानमुपजायते तृतीयस्य ग्राह्यस्य ग्राहकस्य तत्राभावात् ।–यायमं पृ० ७४ । उद्धृतमिदम्–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० १४० ।

1 दुरवबोधः प्राग्विज्ञानोत्पत्तेरर्थमनवबुद्ध्यमाना कारणमकारणं वा कथं ब्रूयुः । कथं तस्य विज्ञानोत्पत्तावङ्गीकरणमिति चिन्त्यम् । प्राग्विज्ञानोत्पत्तेरर्थमनवबुद्ध्यमाना कारणमकारणं वा कथं ब्रूयुः ? उत्पन्नं ज० वि० । 2 तत्कारणतया ई० वि० । 3–रध्यवसा– श्र० । 4 अन्वय– श्र० । ० काय आ०, श्र० । तावन्न तस्य श्र० । 7 अन्यपि आ० ।

मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन" [न्यायभा० पृ०७४] इति तत्राह–'आत्मन' (त्ममन) इत्यादि। आत्मनो मनसा मनस इन्द्रियै इन्द्रियाणामर्थेन। कथम्भूतानाम् ? अतीन्द्रियाणाम् इन्द्रियातिक्रान्तानां य सन्निकर्षः स दुरवबोधः ज्ञातुमशक्य। अतः कथं केन प्रकारेण तस्य सन्निकर्षस्य विज्ञानोत्पत्तौ अङ्गीकरणम् ? इति एव चिन्त्यम्। यत्कुतश्चिज्ज्ञातुं न शक्यते न तत् ज्ञानोत्पत्तौ कारणत्वेन प्रेक्षावता अङ्गीकर्तव्यम् यथा खरविषाणम्, कुतश्चिदपि प्रमाणात् ज्ञातुं न शक्यते च सन्निकर्षादिरिति। यथा चासौ कुतश्चिदपि प्रमाणात् ज्ञातुमशक्य तथा प्रत्यक्षपरिच्छेदे[2] प्रपञ्चत प्रतिपादितम्। नैरकल्पितश्च[3] आत्मा मन इन्द्रियमर्थश्च निरंशादिरूपो यथा नोपपद्यते तथा विषयपरिच्छेदे सप्रपञ्च प्रपञ्चितम्। अत कस्य केन सन्निकर्ष स्यात् ?

एवम् 'सञयादिविदुत्पादः' इत्यादिना अर्थव्यतिरेके ज्ञानव्यतिरेकाभाव प्रतिपाद्य साम्प्रतम् अर्थान्वयग्रहणाभाव दर्शयितुमाह–'प्राग्' इत्यादि। प्राक् पूर्वं विज्ञानोत्पत्तेः अर्थमनवबुध्यमाना नैयायिकादय कारणमकारणमेव वार्थं विज्ञानोत्पत्तेः कथम् न कथञ्चिद् ब्रूयु। एतदुक्त भवति–यथा अग्निदर्शनानन्तरं धूमदर्शन तथा यदि अर्थदर्शनानन्तरं ज्ञानदर्शनं स्यात् तदा स्यादर्थकार्यं तत्, न चैवमस्ति। ननु तदुत्पत्ते पूर्वं ग्राहकाभावात्र तत्र कारणाकारणविभागप्रतिपत्ति तदुत्पत्तौ तु भविष्यति, इत्यत्राह–'उत्पन्नम्' इत्यादि। उत्पन्न लब्धात्मलाभं हि स्फुट विज्ञानम् अर्थस्य परिच्छेदक न तत्कारणतायाः। अधुना आलोकस्य ज्ञानकारणता निराकुर्वन्नाह–'आलोकोऽपि' इत्यादि। न केवलम् अर्थादि, किन्तु आलोकोऽपि न कारणम् 'विज्ञानोत्पत्ते' इति सम्बन्ध। कुत एतदित्याह–परिच्छेद्यत्वात्। अत्र प्रसाधित दृष्टान्तमाह–'अर्थवत्' इति। अर्थ इव अर्थवत्।

ननु यद्यालोक तदुत्पत्ते कारण न स्यात्तर्हि तदभावेऽपि रूपज्ञानोत्पत्ति कुतो न स्यादित्याशङ्क्याह–

तमो निरोधि वीक्षन्ते तमसा नावृत परम्।
कुड्यादिक न कुड्यादितिरोहितमिवेक्षकाः ॥५६॥

(१) सन्निकर्षादि न ज्ञानोत्पत्तिकारण कुतश्चिदपि प्रमाणाज्ज्ञातुमशक्यत्वात्। (२) पृ० २०। (३) नैयायिककल्पित। (४) ज्ञानम्। (५) अर्थे। (६) ग्राहकभूतज्ञानस्योत्पत्तौ। (७) आलोककारणतावादी बौद्ध, तथा च तद्ग्रन्थ–"यथा इन्द्रियालोकमनस्कारा आत्मेन्द्रियमनस्कारा वा रूपज्ञानमेव जनयन्ति"–प्रमाणवा० स्ववृ० १।७५। (८) आलोकाभावेऽपि। (९) 'वीक्षन्ते विशेषेण नीलादिरूपतया पश्यन्ति। के ? ईक्षका चक्षुष्मन्तो जना। किम् ? तमो अन्धकार पुद्गलपर्यायम्। किंविशिष्टम् ? निरोधि प्रमेयान्तरनिरोधायकम्। पुनन वीक्षन्ते। किम् ? पर घटादिकम्। कथम्भूतम् ? आवृतम् आच्छादितम्। केन ? तमसा। तत यथमालोको ज्ञानकारण तदभावेऽपि तदुत्पत्तेरिति। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह–इव यथा कुड्यादिकमीक्षन्ते ईक्षका कुड्यादिनिरोहित पुनर्घटादिक नेक्षन्ते तथा तमो वीक्षन्ते तावत तु पर नेक्षन्ते इति।'–लघी० ता० पृ० ७७। उद्धृतोऽयम्–सिद्धिवि० टी० पृ० १८७ B। तमोनिरोधे घटादिक।"–सन्मति० टी० पृ० ५४४।

1 एतस्य ब०। 2 य कुत–ब०। 3–विदुत्पा–श्र०,ब०। 4 प्राक्साधि–आ०। 5 बौध्यमा

विवृतिः–नहि तमः चक्षुर्ज्ञानप्रतिषेधकं तमोविज्ञानाभावप्रसङ्गात्। अन्यत्र विज्ञानाभावहेतुरिति चेत्, आलोकोऽपि तमोविज्ञानाभावहेतुत्वात् तमोवदभावहेतुः स्यात्। अर्वाग्भागदर्शिनः परभागपरिच्छेदाभावात् तस्यापि ज्ञाननिरोधित्वं स्यात्तमोवत्। प्रत्यर्थमावरणविच्छेदापेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात्। नावरणं तिमिरादि परिच्छेद्यत्वादर्थवत्।

कारिकायां –

तमः अन्धकारं वीक्षन्ते विशेषेण अबाध्यमानतया प्रस्फुटरूपतया वा ईक्षन्ते पश्यन्ति जनाः। कथम्भूतं तत्? इत्याह–**निरोधि** प्रच्छादकम्। तथा च आलोकाभावेऽप्युपजायमानं तज्ज्ञानं कथं तत्कार्यं स्यात्? यदभावेऽपि यदुपजायते न तत् तत्कार्यम् यथा चक्षुषोऽभावेऽप्युपजायमानं रसज्ञानं न तत्कार्यम्, आलोकाभावेऽप्युपजायते च अन्धकाररूपादिज्ञानमिति। अथ मतम्–आलोकस्य तज्ज्ञानाहेतुत्वे तमसि स्थितानां घटादीनां ग्रहणं स्यात्, तदयुक्तम्, तस्य तन्निरोधित्वात्। एतदेवाह–'**तमसा**' इत्यादि। **तमसा** अन्धकारेण **आवृतं** प्रच्छादितं **परं** घटादिकं **न ईक्ष्यते**। अत्र दृष्टान्तमाह–'**कुड्यादिकम्**' इत्यादि। इव शब्दः यथार्थः। यथा कुड्यादिकं नेक्षन्ते **ईक्षकाः**। कथम्भूतम्? **कुड्यादितिरोहितं** परेण कुड्यादिना व्यवहितं तथा प्रकृतमिति।

ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण नास्ति तमाख्यं द्रव्यान्तरमिति ज्ञानिकनायस्य तन्नाभावरूप एव तम इति भागस्य च पूर्वपक्षः –

ननु ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण अपरस्य तमसोऽसम्भवात् कस्य तन्निरोधित्वं स्यात्? नहि असत् कस्यचिन्निरोधकं नाम अश्वविषाणादेरपि तत्प्रसङ्गात्? न च तदनुत्पत्तिव्यतिरेकेण अन्यस्यास्य असम्भवोऽसिद्धः, सालोकेऽपि गर्भगृहादिप्रदेशे बहिर्देशादागतस्य प्रतिपत्तुः असत्यप्यन्धकारे ज्ञानानुत्पत्तौ तमःप्रतीत्युपलब्धेः। द्रव्यान्तरत्वे चास्य चक्षुषः तत्प्रकाशने आलोकानपेक्षा न स्यात्। आलोकमेव हि

(१) तमोज्ञानम्। (२) आलोककार्यम्। (३) तमोज्ञानं नालोककार्यम् आलोकाभावेऽप्युपजायमानत्वात्। (४) तमसः। (५) नालोकनाय। (६) "यः पुनर्निशि नीलिमेवावलोक्यते नासौ तमसः। कस्य तर्हि? न कस्यचित्। कथं पुनर्गुणो न कस्यचित्? सत्यम्, गुण एवायमप्रसिद्धः। ननु प्रतीतिबलात् सिद्ध एव। सिद्ध्यद्यदि प्रसिद्धिरेव सिद्ध्येत् सा तु कारणाभावान्न सिद्धा। ननु चक्षुरेव कारणम् न आलोकोपकारानपेक्षस्य चक्षुषोऽप्रकाशकत्वात्, तेन अप्रतीतावेवायं प्रतीतिभ्रमो भवतां नाम। अत एव दिवानुपलम्भः अन्यथा सौरीभिः भाभिरनुगृहीतं चक्षुः स्फुटतरं व्योम्नि नीलिमानं प्रकाशयेत्। तमसो निष्प्रत्यनवकल्पे रूपवत्त्वेन हि तमो द्रव्यं स्यात् तत्त्वानवकल्पे रूपवत्त्वाभावे भवेत्। न च द्रव्याणि सन्ति सन्ति चेद्दिवाप्यारभेरन्। अन्धानामिव नीलिमाभिमानो तमस एवेत्युक्तम्।"–प्रक० प० प० १४३। 'तमो नाम द्रव्यान्तरं न भवति, अन्धानामिव केवलं नीलिमाभिमानः।'–तत्त्वरह० प० २१। (७) घटादितिरोधायकत्वम्। (८) ज्ञानानुत्पत्ति। (९) तमसः। (१०) तमसः। (११) तमःप्रकाशने।

1–ज्ञाने प्रति–ब० वि०। 2 ज्ञानविरो–ई० वि०। 3 विनयावाध्य–श्र०। 4 न तत्का–ब०। 5–न्ते कुड्यादि–श्र०। 6–तिपरेण ब०।

चक्षु आलोकनिरपेक्ष प्रकाशयति न द्रव्यान्तरम्। ननु तमसो[1] [ऽ]द्रव्यान्तरत्वे छायायाश्छत्रादेरर्थान्तरभूताया प्रतीतिर्न स्यात्। अस्ति चास्या[2] तथाभूताया[3] प्रतीति ततो बीजादङ्कुरवत् ततोऽसौ[4] द्रव्यान्तर सिद्धा। तथाभूता चासौ[5] सिद्धन्ती तमसो द्रव्यान्तरत्व साधयतीति, तन्समीचीनम्, आलोकाभावरूपतया अस्या द्रव्यान्तरत्वाभभवेऽपि विभ्रमवशात् तत्र तत्प्रतीतेरुपपत्ते । तथाहि[1]–येन येन प्रदेशान्तरेण छत्राद्यावारकद्रव्यप्रतिरुद्ध तेजो न सयुज्यते तत्र तत्र छाया प्रतीयते, प्रतिबन्धकस्य आतपत्रादेरपाये तु स्वरूपेण आलोक प्रतीयते, इत्यालोकाभाव एव छाया। द्रव्यान्तरत्वे तु तस्यास्तदपायेऽपि आलोकेन महावस्थिताया प्रतीति स्यात्। न हि जातु किञ्चिद्द्रव्य द्रव्यान्तरेण महानवस्थायि प्रतीतम्।

एतेन 'छाया द्रव्यान्तर देशाद्देशान्तरप्राप्तिमत्त्वेन क्रियावत्त्वात्' इत्येतत् प्रत्याख्यातम्, तथाहि–येन[2] यत्र आतपत्राद्यावारकद्रव्येण तेजस सन्निकर्ष प्रतिषिध्यते

(१) त्रुटिताया पू० प्रतौ 'तमसोऽद्रव्या–' अयमेव पाठो भाति। (२) छायाया। (३) छत्राद् भिन्नाया। (४) छत्रात्। (५) छाया। (६) छाया। (७) 'यच्चेदमुच्यते छायेव तम सा चलत्वा चलत्वमहत्त्वामहत्त्वदूरत्वासन्नत्वादिगुणयोगिनी वस्तुभूतेति, तदिदमप्यसारम्, अनवक्लृप्तेरेव। यच्च लाचलत्वादिकमुपन्यस्त तदपि स्थूलदर्शितया। तथाहि–आलोकेऽपवारिते छायाप्युपपद्यते। ततोऽपवारितालोकभूभागाभिप्रायव्यतिरेकिणी न रूपान्तरवच्छाया दृश्यते। तेन मन्यामहे ह्यपवारितालोकभूभागादिकमेव छायेति।'–प्रक० प० प०१४४। 'अपवारितालोक केवल भूभागादिकमेव छाया।"–तत्त्वरह० पृ० २१। "आलोकज्ञानाभाव इति प्राभाकरवर्त्तिन।"–सवद० प० २२९। (८) छायायाम्। (९) छत्राद्यर्थान्तरत्वप्रतीते। (१०) "द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तम।"–वैशे० सू० ५।२।१९। 'उद्भूतरूपवद्यावत्तेज ससर्गाभावस्तम।"–वैशे० उप० ५।२।२०। (११) छत्राद्यपायेऽपि। (१२) 'तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च।"–वैशे० सू० ५।२।२०। 'द्रव्य छाया गतिमत्त्वादिति हेतु साध्यना विशिष्ट साध्य तावदेतत्–किं पुरुषवच्छायापि गच्छति, आहोस्वित् आवारकद्रव्ये सर्पति आवरण सन्तानात्सन्निधिसन्तानोऽयं तेजसो गृह्यते इति? सर्पता खलु द्रव्येण यस्तेजोभाग आव्रियते तस्य तस्या सन्निधिरेवावच्छिन्नो गृह्यते इति।'–न्यायभा० १।२।८। "आवारके द्रव्ये प्रसर्पति तेजसोऽसन्निधिविशिष्ट द्रव्य यदुपलभ्यते तत्तु छायेत्युच्यते।'–न्यायवा० १।२।८। 'भासामभावरूपत्वाच्छायाया।"–प्रश० व्यो० पृ० ४६। "न तावच्छाया सामान्यविशेषसमवायान्तर्भूता, अनित्यत्वात्तस्या। नापि कर्म, सयोगविभागासमवायिकारणत्वाभावात्। न गुणो द्रव्यासमवायात्। न मनआत्मकालगुण, तद्गुणानामप्रत्यक्षत्वात्। नाप्यात्मगुण बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्। नापि नभोनभस्वतो, तद्गुणानामचाक्षुषत्वात्। नापि तेजस, तद्विरोधित्वात् तत्सहचरितगुणान्तरानुपलब्धेश्च। अत एव न पृथिवीपाथसामपि। अपि च तद्गुणश्चाक्षुषो नालोकमन्तरेण दर्शनयोग्य, छाया तु तमन्तरेण गृह्यते तस्मिस्तु सति न गृह्यते इति दुर्घटम्। नापि द्रव्यम्, तद्धि पृथिव्यादीनामन्यतममेव भवेन्नवमं वा द्रव्यम्। न तावदन्यतमम्, तद्गुणानामनुपलब्धे। नाप्यतद्रूपवर्णितं युज्यते। तस्याद्रव्यस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्ते, अस्पर्शवत्त्वादनारम्भकत्वेनानेकद्रव्यत्वाभावात्। तस्मादभाव एव छाया न तु सतीति सिद्धम्।'–न्यायवा० ता० पृ० ३४५। प्रश० किर० पृ० १९। श्रीधरस्तु आरोपितरूपविशेषात्मक तम स्वीकरोति। "तस्माद्रूपविशेषोऽयमत्यन्त तेजोऽभाव सति सर्वत समारोपितस्तम इति प्रतीयते। स्थिता चोक्ता नयरागादरस्य नीलिमावभास इति

1 ति तदद्रव्या–प०। 2 हि येन प्रदे–ब०। 3 प्रतिषेध्यते आ०।

तत्र तत्र अन्याऽन्या छायोपलभ्यते, न पुनः पूर्वदेशोपलब्धा अन्यत्र देशे, इति आवारकद्रव्यगतं कर्म तत्राध्यारोप्य प्रतिपत्ता 'छाया गच्छति' इति प्रतिपद्यते, यथा अश्वाद्यारूढः स्वगतं कर्म वृक्षेऽध्यारोप्य 'वृक्ष आगच्छति' इति। देशान्तरप्राप्तिश्चास्याः देशान्तरेण संयोगः, समवायो वा? यदि संयोगः, अन्योन्याश्रयः–तद्द्रव्यत्वसिद्धौ हि संयोगसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तद्द्रव्यत्वसिद्धिरिति। अथ समवायः, तदप्यनुपपन्नम्, एकत्र समवेतस्य द्रव्यस्य अन्यत्र समवायाऽसंभवादिति।

तमश्छायया पुद्गलद्रव्यत्वसिद्धिः –

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण नापरं तमः' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, प्रतीतिविरोधात्। सुप्रसिद्धा हि आलोकतमसोः स्वस्वरूपेण अन्योन्यविलक्षणयोः प्रतिप्राणि प्रत्यक्षतो विलक्षणा प्रतीतिः। न च विषयवैलक्षण्यव्यतिरेकेण प्रतीतेर्वैलक्षण्यं युक्तम्, पुरुषाद्वैतसिद्धिप्रसङ्गतो भेदव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेः। ततः निच्छता प्रतीतिवैलक्षण्यं विषयवैलक्षण्यपूर्वकं प्रतिपत्तव्यम्। प्रयोगः–तत्प्रतीतिवैलक्षण्यं विषयवैलक्षण्यपूर्वकं तत्त्वात् घटपटादिप्रतीतिवैलक्षण्यवत्। भावाभावरूपविषयवैलक्षण्यपूर्वकत्वेन आलोकतमःप्रतीतेरिष्टत्वात् सिद्धसाध्यता, इत्यप्यविचारितरमणीयम्, तमसो रूपादिमत्त्वेन आलोकवद् अभावरूपत्वानुपपत्तेः। तद्रूपत्वे वा रूपादिमत्त्वविरोधात्। 'योऽभावो नासौ रूपादिमान् यथा घटाद्यभावः, आलोकाभावरूपतयेष्टञ्च तमः' इति। न चास्य रूपादिमत्त्वमसिद्धम्, आलोकवत् [13]तत्रापि तत्सद्भावप्रतीतेः। यथैव हि आलोके भासुरं रूपम्

श्यामम्। यत्र तु नियतदेशाधिकरणो भासामभावस्तत्र तद्देशसमारोपितं नीलिम्नि छायेत्यवगमः। अत एव दीर्घा ह्रस्वा महती अल्पीयसी छायेत्यभिमानः तद्देशव्यापिनि नीलिम्नि प्रतीतेः।'–प्रश० कन्द० पृ० ९। तथाहि–यत्र यत्र वारकद्रव्येण तेजसः सन्निधिर्निषिध्यते तत्र तत्र छायेति व्यवहारः। वारकद्रव्यगतां क्रियाम् आलोकाभावे समारोप्य प्रतिपद्यते छाया गच्छतीति अन्यथा वारकद्रव्यगतक्रियापेक्षत्वं न स्यात्। –प्रश० व्यो० पृ० ४७। यत्तु तेजःप्रतिरोधि द्रव्यं तद्यथा यथा सञ्चरति तथा तथाऽऽलोकः प्रतिमुच्यते प्रतिरुध्यते चेति चलतीव छाया प्रतिभाति अन्यथा शरीरेऽपि चलति स्थितिमति छायाऽपि चलेन्न हेत्वभावात्।'–प्रश० क० पृ० १४४।

(१) तमोऽभावः। (२) प्रतिपद्यते इति शेषः। (३) छायायाः। (४) 'यच्चेदं देशान्तरप्राप्तिमत्त्वं तत्किं देशान्तरेण संयोगः तस्यापि साध्यत्वात्। तथाहि–द्रव्यत्वसिद्धौ संयोगः सिद्ध्यति, संयोगात् द्रव्यत्वमिति इतरेतराश्रयत्वं स्यात्। –प्रश० व्यो० पृ० ४७। (५) 'अथ देशान्तरप्राप्तिः समवायः सोऽप्यसिद्धः। न ह्येकत्र समवेतं अन्यत्र समवैति। छाया त्वेकत्र सम्बद्धोपलब्धा पुनर्देशान्तरेऽप्युपलभ्यते। न च क्रियावत्त्वं देशान्तरसमवायात् सिद्ध्यति तस्याप्ययुतसिद्धेष्वेव भावादिति।'–प्रश० व्यो० पृ० ४७। (६) पृ० ६६६ पं० १६। (७) तुलना– अत एव नालोकज्ञानाभावः, अभावस्य प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वनियमेन मानसत्वप्रसङ्गात्। –सर्वद० पृ० २३०। न चाप्रतीतावेव प्रतीतिभ्रमः तमोव्यवहारस्य तत्प्रतीतिमन्तरेणानुपपत्तेः।'–चित्सु० पृ० २९। (८) आलोकतमसोः। (९) नैयायिकवादिवाक्य। (१०) कृष्णरूपनीलस्पर्शचलनादिक्रियावत्त्वेन। (११) अभावरूपत्वे वा। (१२) तमो न रूपादिमत् अभावरूपत्वात्। (१३) तमस्यपि।

1–सो स्वरू–आ०। 2 पुरुषाद्वैत–ब०। 3 भासुररूप ब०।

उष्णस्पर्शश्च लोके प्रसिद्धः तथा छायादितमसि कृष्णं रूपं शीतस्पर्श इति । ततो द्रव्यं तमः गुणवत्त्वात्, यद् यद् गुणवत् तत्तद् द्रव्यम् यथा आलोकादि, गुणवच्च तम इति । न केवलं छायादेर्लोक[1] एव गुणवत्त्वं प्रसिद्धम्, अपि तु वैद्यकशास्त्रेऽपि । तदुक्तम्–

"आतपः कटुको रूक्षः छाया मधुरशीतला ।
कषायमधुरा ज्योत्स्ना सर्वव्याधिहर (कर) तमः ॥" [राजनि०]

(१) जैना हि तमः पुद्गलद्रव्यात्मकं स्वीकुर्वन्ति, तथाहि–'गोयमा दिया सुभा पोग्गला सुभे पोग्गलपरिणामे, रत्तिं असुभा पोग्गला असुभे पोग्गलपरिणामे ।"–भगवतीसू० ५ । ९ । २२४ । "सद्दंधयारउज्जोओ पहा छायातवे इ वा । वण्णरसगंधफासा पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥"–उत्तरा० २८।१२ । नवतत्त्व० गा० ९ । "शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ।"–तत्त्वार्थसू० ५।२४। "सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाण भेद तम छाया । उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ।"–द्रव्यसं० गा० १६ । वैयाकरणास्तमः अणुरूपं स्वीकुर्वन्ति–'अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तयः । छायातपतमःशब्दभावेन परिणामिनः ।"–वाक्यप० १।१११ । अन्यान्यपि तमसो द्रव्यरूपतामुररीकुर्वन्ति मतान्तराणि– 'तमोदर्शनं तु भूच्छायादर्शनम् । कस्मात्पुनर्द्रव्यादीनां तमः ? ननु द्रव्यमेव कालिमगुणशालित्वात् स्पन्दवत्त्वाच्च । तथाहि–कालिमवास्य रूपमुपलभ्यते अप्तेजसोरिव श्वेतिमा । एवं संख्यापरिमाणं तच्चतुर्विधं पृथिव्याद्यणूनामिव तमोऽणूनामप्यनुमानात् पृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्काराश्च । पञ्चविधमपि कर्म अध्यक्षमीक्षते । यथाहात्र भवान् वार्तिककारः–ननु नाभावमात्रस्य तमस्त्वं वृद्धसम्मतम् । छायायाः कार्ष्ण्यमित्येवं पुराणे भूगुणश्रुतेः ॥ भूगुणस्य कार्ष्ण्यस्य छायाया द्रव्यान्तरश्रुतेरित्यर्थः । दूरासन्नप्रदीपादिमहदल्पचलाचला । देहानुवर्तिनी छाया न वस्तुत्वाद्विना भवेत् ॥ इति । न च पृथिव्यादीनामन्यतमम् तस्मात्प्रत्यक्षसिद्धमसति बाधके द्रव्यान्तरमेकादशं तमो नवगुणं चेति सिद्धम् । नादृष्टौ दर्शनं छाया न चाऽभावोऽस्मृतौ गतेः । रूपाद्युपायसम्भावान्न द्रव्यं द्रव्यान्तरानुगम् ।'–विधिवि० टी० पृ० ७६–७९ । 'किमिदं तमो नाम ? द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भाभावस्तम इति काश्यपीयाः, तथा तु नीलबुद्धिर्निनिमित्ता स्यात् अभावस्य नीलिमाभावात् । न चागतो नीलिम्नि किञ्चिद् ग्राहकं स्मारकं वाऽस्ति । आलोकादर्शनमात्रेण तु तद्भ्रमो भवस्तच्छूयमानेऽपि स्यात् अतो द्रव्यान्तरमिदं वायुवन्नीलिमगुणम् वायुस्वरूपं स्पर्शवान् इदञ्चाऽस्पर्शं रूपवदित्ययमात्राविशेषः । अथवा य एते पार्थिवास्त्रसरेणवो वातायनविवरेषु दृश्यमानाः सर्वतो भ्रमन्ति तेषां ये नीलगुणकाः तद्गतमिदं नीलरूपं गृह्यमाणं गुणान्तराणां द्रव्यान्तराणाञ्च तदन्तरालस्य च अग्रहणाद् व्याप्तमिव महाण्डवच्चकास्ति । नीलरूपग्रहणे चालोकापेक्षा नास्तीति दर्शनबलादभ्युपगम्यते ।'–मी० श्लो० न्यायर० पृ० ७४० । "तमालश्यामलज्ञाने निर्बाधे जाग्रति स्फुटे । द्रव्यान्तरं तमः कस्मादकस्मादपलप्यते ॥"–चित्सु० पृ० २८ । "अस्पर्शवत्त्वे सति रूपवत्तमः । तच्च नेत्रेन्द्रियमात्रग्राह्यमालोकाभावप्रभावाय कृष्णरूपम् । कलायकोमलच्छायं दर्शनीयं भृशं दृशाम् । तमः कृष्णं विजानीयादागमप्रतिपादितम् ॥ गुणकर्मादिसम्भावादस्तीति प्रतिभासतः । प्रतियोग्यस्मृतेश्चैव भावरूपं ध्रुवं तमः ।–मानमेयो० पृ० १५९ । (२) 'आतपः कटुको रूक्षः स्वेदमूर्च्छातृषावहः । दाहवैवर्ण्यजननो नेत्ररोगप्रकोपनः ॥ छाया दाहश्रमस्वेदहरा मधुरशीतला । ज्योत्स्ना कषायमधुरा दाहासृक्पित्तनाशिनी । तमो भयावहं नित्यं दृष्टितेजोविरोधनम् ।'–राजव० ५।२२ । 'आतपः त्रिदोषशमनी ज्योत्स्ना सर्वव्याधिकरं तमः '–राजनिघ० । उद्धृतञ्चेदम्–'आतपः कटुको रूक्षः छाया मधुरशीतला ।' –प्रश०व्यो० पृ० ४६ । स्या० र० पृ० ८५५ । 'छाया मधुरशीतला'–सन्मति० टी० पृ० ६७२ ।

1 छायादौ लोक आ० ।

अथ मतम्–औपचारिकस्तत्र माधुर्यादिगुणो मुख्ये बाधकसद्भावात्। तथाहि–रसनेन्द्रियव्यापाराद् यथा क्षीरादिषु माधुर्यप्रतिपत्तिः न तथा छायायाम्। तस्मात् 'मधुरादिद्रव्यनिषेवणाद् यौ गुणदोषौ दृष्टौ छायानिषेवणादपि तावेव' इति वैद्यकशास्त्रतात्पर्यम्, अतोऽसिद्धं गुणवत्त्वं छायादेः, इत्यप्यनल्पतमोविलसितम्, तत्रास्य अबाधबोधाधिरूढप्रतिभासतया औपचारिकत्वानुपपत्तेः। यद्यत्र अबाधबोधाधिरूढतया प्रतिभासते न तत्त्रौपचारिकम् यथा तेजसि भासुरत्वादि, अबाधबोधाधिरूढतया प्रतिभासते च छायान्धकारे शीतलत्वादिगुणसद्भाव इति। तथाविधस्याप्यस्य अत्रौपचारिकत्वे ज्योत्स्नाऽऽतपयोरपि मुख्यतो गुणसिद्धिर्मा भूत्, पटुत्वादिगुणानां तत्राप्यौपचारिकत्वप्रसङ्गात्, प्रागुक्तवैद्यकप्रक्रियाया तत्रापि कल्पयितुं सुशकत्वात्। ततः प्रतीतिं प्रमाणयता ज्योत्स्नादिवत् छायान्धकारेऽपि अनुपचरितगुणसद्भावसिद्धिरभ्युपगन्तव्या, इति सिद्धमस्य गुणवत्त्वाद् द्रव्यत्वम्।

यदप्युक्तम्–'असत्यपि अन्धकारे गर्भगृहादौ ज्ञानानुत्पत्तौ तमः प्रतीयते' इत्यादि, तत्रापि सर्वथा ज्ञानानुत्पत्तिस्तत्प्रतीतिहेतुः, तदन्तर्वर्तिपदार्थेषु वा? प्रथमपक्षे स्ववचनविरोधः 'माता मे वन्ध्या' इत्यादिवत्। न खलु सर्वथा ज्ञानानुत्पत्तिं वदतः तमःप्रतीतिरविरुद्धा, तत्प्रतीतौ वा सर्वथा ज्ञानानुत्पत्तिरिति। द्वितीयपक्षे तु प्रचुरतरालोकोपहतदृष्टिः प्रतिपत्ता तत्रस्थानर्थान् यथावत्प्रतिपत्तुमसमर्थः जलरूपतया मरीचिकाचक्रमिव आलोकमेव तमोरूपतया प्रतिपद्यते। न च मिथ्यातमःप्रतिभासेन अमिथ्यातमःप्रतिभासस्य साम्यमापादयितुं युक्तम्, सत्यजलादिप्रतिभासस्यापि असत्यजलादिप्रतिभासेन साम्यापादनप्रसङ्गतो वस्तुव्यवस्थाभावप्रसङ्गात्।

(१) यच्चन्द्रमागमात माधुर्य शैत्य वा छायायां तदप्युपचारात्। य हि मधुरद्रव्यस्य शीत द्रव्यस्य वा गुणाः ते छायासेवनाद भवन्तीति तत्कार्यकतत्वेन तथोक्त। –प्रश० व्यो० पृ० ४७। (२) छायादौ। (३) छायादौ माधुर्यादि। तुलना–'छायापि शिशिरत्वादाप्यायकत्वाज्जलवातादिवत्।' –तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ३६३। सत्यायश्चाछायामुपचारप्रवृत्तः न चेयमत्रास्ति। –स्या० र० पृ० ८५६। (४) छायादौ माधुर्यादि नौपचारिकम् अबाधबोधाधिरूढप्रतिभासत्वात्। (५) अबाधितप्रतिभासविषयत्वे हि। (६) माधुर्यादि। (७) छायादौ। (८) तुलना–'तत्तत्रस्यापि समानम्। –सन्मति० टी० पृ० ६७२। स्या० र० पृ० ८५६। (९) तुलना–न च तमसः पौद्गलिकत्वमसिद्धम् चाक्षुषत्वादन्यथानुपपत्तेः प्रदीपालोकवत्। रूपवत्त्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते शीतस्पर्शप्रत्ययजनकत्वात्।' –स्या० मं० का० ५। 'तमः स्पर्शवत् रूपवत्त्वात् पृथिवीवत्। न च रूपवत्त्वमसिद्धम्, अन्धकारः कृष्णोऽयमिति कृष्णाकारप्रतिभासात्। –रत्नाकराव० पृ० ६९। (१०) तमःप्रतीतिकारणम्। (११) तुलना–'किं पुनरन्धकारावस्थायां ज्ञानं नास्ति? तथा चेत् कथमन्धकारप्रतीतिः तदन्तरेणापि प्रतीतौ न क्वापि ज्ञानकल्पनानर्थक्यम्। प्रतीयते ज्ञानं नास्तीति च स्ववचनविरोधः प्रतीतेरेव ज्ञानत्वात्। –प्रमेयक० पृ० २३८। (१२) तमःप्रतीतौ। (१३) अविरुद्धा इति नेयः। (१४) अन्धकारान्तर्वर्तिपदार्थान्।

1 गुणत्वाद् ब०।

किञ्च, ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण अपरस्य तमसोऽनभ्युपगमे विशिष्टज्ञानोत्पत्तिव्यतिरेकेण अन्यस्य आलोकस्यापि अभ्युपगमो मा भूत्। असत्यपि हि आलोके बहलान्धकारनिशीथिनीसमये नक्तञ्चराणाम् अञ्जनाभिसंस्कृतचक्षुषाञ्च प्रस्फुटज्ञानोत्पत्तौ सप्रकाशमेव वस्तु प्रकाशते। लोकप्रतीतिबाधा उभयत्र तुल्या। यथैव हि 'मध्याह्ने अतितीव्रालोके बहिर्गन्तुमसमर्था' इति लौकिकी प्रतीतिः तथा 'बहलान्धकारायां रात्रौ बहिर्गन्तुमशक्ता' इत्यपि। ततो निर्बाधबोधाधिरूढप्रतिभासत्वेन आलोकद्रव्यस्य वास्तवत्वाभ्युपगमे तमोद्रव्यस्यापि तदभ्युपगन्तव्यं विशेषाभावात्।

तथा, द्रव्यं छायान्धकारं घटाद्यावारकत्वात् काण्डपटादिवत्। गतिमत्त्वाच्चासौ बाणादिवत् द्रव्यम्। न च गतिमत्त्वमसिद्धम्, 'वेगेन छाया गच्छति' 'शनैश्छाया गच्छति' इति प्रतिप्राणि प्रसिद्धप्रतीतितः तस्याः तत्प्रसिद्धेः। अनुमानाच्च, तथाहि–गतिमती छाया देशाद्देशान्तरप्राप्तिमत्त्वात् बाणादिवत्।

यदप्यभिहितम्–'देशान्तरप्राप्तिः देशान्तरेण संयोगः समवायो वा' इत्यादि, तत्र देशान्तरेण अस्याः प्राप्तिः सम्बन्धोऽभिप्रेतः, स च संयोग एव पर्यवस्यति। न चैवमन्योन्याश्रयत्वम्, अतश्छायाया द्रव्यत्वाऽप्रसाधनात्। देशान्तरप्राप्तितो हि तस्या गतिमत्त्वं प्रसाध्यते, तस्माच्च द्रव्यत्वमिति। नैव चक्रकप्रसक्तिरित्यभिधातव्यम्, तत्प्राप्तेः प्रत्यक्षत एव प्रसिद्धस्वरूपत्वात्। यदि हि द्रव्यत्वसिद्ध्या तत्प्राप्तिः प्रसाध्येत ततश्च गतिमत्त्वं तदा स्याच्चक्रकम्। कथमन्यथा 'गतिमान् आदित्यो देशान्तरप्राप्तिमत्त्वात्' इत्यादावपि इतरेतराश्रयादिदोषानुषङ्गो न स्यात् ?

(१) यद्यसमागेवस्याप्यभावः स्यात् विशिष्टज्ञानव्यतिरेकेणान्यस्य अस्याप्यप्रतीतेः। तद्व्यवहारस्तु लोके विशिष्टज्ञानोत्पत्तिमात्रे।' –प्रमेयक० पृ० २३८। (२) पुरुषाणाम्। (३) तुलना– 'तमस्तावत्पुद्गलपरिणामः दृष्टिप्रतिबन्धकारित्वात् कुड्यादिवत्, आवारकत्वात् पटादिवत्।"–तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ३६३। "तमो भावरूपं घटाद्यावारकत्वात् काण्डपटादिवत्। नचास्य घटाद्यावारकत्वमसिद्धम्, विषयाभिमुखप्रवर्तमाननयनव्यापारनिरोधित्वात्तद्वदेवेत्यतस्तत्सिद्धेः।"–स्या० र० पृ० ८५१। (४)' छाया द्रव्यं क्रियावत्त्वात् कुम्भवत्।'–स्या० र० पृ० ८५३। (५) छायायाः। (६) गतिमत्त्व। (७) "अनुमानादवसेयमपि तथाहि–गतिमती छाया देशाद्देशान्तरप्राप्तिमत्त्वाद् भवदादिवदिति।" –स्या० र० पृ० ८५३। (८) पृ० ६६८ पं० ३। (९) "यतोऽत्र छायाया देशान्तरेण प्राप्तिः संयोगोऽभिधीयते। न च वाऽस्यनरेतराश्रयादभावेन तदनुसन्धानं युक्तावकाशम्। न हि देशान्तरप्राप्तिमत्त्वाद् द्रव्यत्वं प्रसाधयितुमुद्यता स्मः किन्तु गतिमत्त्वं तस्मात्तु द्रव्यत्वमिति।'–स्या० र० पृ० ८५४। (१०) सम्बन्धः। (११) देशान्तरप्राप्तिरूपसंयोगात्। (१२) गतिमत्त्वाच्च। (१३) 'न चैवमपि महत्तरे चक्रकसङ्कटे यूयं पतिताः। तथाहि–देशान्तरसंयोगात् क्रियावत्त्वम्, क्रियावत्त्वाद् द्रव्यत्वम्, द्रव्यत्वाद् देशान्तरसंयोगवत्त्वमिति, उत्स्वप्नायितमेतत् देशान्तरप्राप्तेः प्रत्यक्ष एव छायायाः प्रसिद्धस्वरूपत्वात्। यदि हि द्रव्यत्वसिद्ध्या देशान्तरप्राप्तिः प्रसाध्येत तदा स्यात्तद्दूषणम्। प्रत्यक्षेणैव सिद्धेन देशान्तरप्राप्तिमत्त्वेन सिद्धात् क्रियावत्त्वात्सिद्धं छायाया द्रव्यत्वम्।'–स्या० र० पृ० ८५५। (१४) देशान्तरप्राप्ति।

1–नाविसरक्र–ब०। 2 ' 3 द्रव्यमिति ब०। 4 प्रसाध्यते आ०।

यच्चान्यदुक्तम्[1]–'आवारकद्रव्यगत कर्म छायायामध्यारोप्य 'छाया गच्छति' इति प्रतिपद्यते' इत्यादि, तदप्यपेशलम्, छायाया अमत्त्वे तत्र आवारकद्रव्यगतायाः गतेरध्यारोपानुपपत्तेः। सत्येव हि वृक्षादौ अश्वारूढः पुरुषः स्वगतं कर्म तत्र अध्यारोपयति नासति इति, अतः तदध्यारोपान्यथानुपपत्तेः छायाया वास्तवं सत्त्वं सिद्धम्। प्रयोगः– छाया परमार्थसती अध्यारोप्यमाणगतित्वात्, यद् अध्यारोप्यमाणगति तत् परमार्थसत् यथा वृक्षादि, अध्यारोप्यमाणगतिश्च छाया इति। तन्न ज्ञानानुत्पत्तिमात्रं तमः।

ननु सिद्धस्यापि द्रव्यान्तरभूतस्य तमसः चक्षुर्ज्ञानप्रतिबन्धकत्वादयुक्तमुक्तम्–

विवृतिव्याख्यानम्— 'तमो निरोधि वीक्षन्ते' इत्यादि, तदसाम्प्रतम्, यतः तत् किं स्वात्मनि तत्प्रतिबन्धकम्, अन्यत्र वा? तत्राद्यपक्षे–'नहि' इत्यादिना दूषणमाह–नहि नैव तमः चक्षुर्ज्ञानप्रतिषेधकं 'स्वात्मनि' इत्यध्याहारः। कुत एतदित्याह। तमोविज्ञानाभावप्रसङ्गात्, अस्ति च तज्ज्ञानम्, अतो न तत् तत्प्रतिषेधकम्। प्रयोगः–यद् यज्ज्ञानस्य विषयो न तत् स्वात्मनि तज्ज्ञानस्य प्रतिषेधकम् यथा काण्डपटादि, चक्षुर्ज्ञानस्य विषयश्च तम इति। अथ अन्यत्र घटादौ न स्वात्मनि, तत् तद्विज्ञानाभावहेतुरिति चेत्; तर्हि आलोकोऽपि तमोविज्ञानाभावहेतुत्वात् तमोवदभावहेतुः स्यात्। चक्षुर्विज्ञानस्य अभावः अनुत्पत्तिः उत्पन्नस्य वा प्रध्वंसः, तस्य हेतुः कारणं स्याद् भवेत्। तथा च 'तैजसं चक्षुः रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वाद् आलोकवत्'' इत्यत्र प्रयोगे साधनविकलो दृष्टान्तः। अथ आलोकः तमोविज्ञानाभावहेतुः स्वरूपे घटादिविषयज्ञानहेतुश्चेष्यते, तर्हि तमोऽपि घटादिविषयज्ञानाऽहेतुः स्वविषयविज्ञानहेतुश्चेष्यतामविशेषात्। अथ आलोके सत्येव केषाञ्चिद् रूपज्ञानोत्पत्तेः तदभावे चानुत्पत्तेः असौ तद्धेतुः, नहि तमसोऽप्यभावे केषाञ्चित्तज्ज्ञानानुत्पत्तेः तस्मिन् सत्येव

(१) पृ० ६६८ पं० २। (२) छायायाम्। (३) वृक्षादौ। (४) आवारकद्रव्यगतगत्यारोपान्यथानुपपत्तेः। (५) 'भावरूपा छाया अध्यारोप्यमाणगतित्वात् वृक्षवत्। –स्या० र० पृ० ८५४। (६) तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणं प्रकाशविरोधि। –सर्वार्थसि०, राजवा० तत्त्वार्थभा० व्या० ५।२४। (७) तमः। (८) ज्ञानप्रतिबन्धकम्। (९) स्वात्मनि ज्ञानप्रतिषेधकम्। (१०) तमो न स्वचाक्षुषज्ञानप्रतिरोधकम् चाक्षुषज्ञानविषयत्वात्। (११) तमः। (१२) तुलना– प्रदीपस्य च घटरूपव्यवधायकतमोनाशकत्वे तैजसं चक्षुः रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवदिति साधनविकलत्वात् दृष्टान्तस्य निरस्तं द्रष्टव्यम्। –प्रमेयक० टी० पृ० ५४४। (१३) न्यायकु० पृ० ७६ टि० ९। (१४) आलोको हि न तमसा रूपस्य प्रकाशकः अतः स रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् इति साधनशून्यः। (१५) स्वस्य आलोकस्य रूपम् भासुराख्यम्। (१६) तमोविषयक। (१७) अस्मदादीनाम्। (१८) आलोके। (१९) रूपज्ञानहेतुः। (२०) तमोज्ञान। (२१) तमसि।

1 असत्यत्वे ब०। 2–च कर्म आ० ब०। 3–ज्ञानप्रति–श्र०। 4 आलोकेऽपि श्र०। 5 तमोज्ञाना–आ०। 6 घटादिज्ञानाहेतुः आ० ब०। 7 केषाञ्चिज्ज्ञा–आ० ब०।

उत्पत्ते॰ तदपि तद्धेतु स्यात्। तथा च 'रूपादीनां मध्ये रूपादीनां प्रकाशकत्वात्' इत्यय हेतु तमसाऽनैकान्तिक , तस्याऽतैजसत्वेऽपि रूपप्रकाशकत्वात्।

पुनरपि तमसे तज्ज्ञानप्रतिषेधकत्वे दूषणमाह–'**अर्वाग्भागदर्शिनः**' इत्यादि। **अर्वाग्भाग पश्यतीत्येव शीलस्य तद्दर्शिनः परभागपरिच्छेदाभावात् तस्यापि** अर्वाग्भागस्यापि न केवल तमस एवं **ज्ञाननिरोधित्व स्यात्**, प्रक्रमात् 'चक्षुर्ज्ञाननिरोधित्व स्यात्' इति मन्यते। अत्र दृष्टान्तमाह–**तमोवत्** । **तमस इव** तद्वदिति। तथा च तद्वद् अर्वाग्भागस्याप्यदर्शनप्रसङ्गाद् असर्वदर्शिनोऽन्धतैव स्यात्। यच्चक्षुर्ज्ञाननिरोधि न तत् तज्ज्ञानग्राह्यम् यथा तम , चक्षुर्ज्ञाननिरोधी च अर्वाग्भाग इति।

ननु मा भूत् तम आवरण तिमिरादि तु भविष्यति इत्यत्राह–'**प्रत्यर्थम्**' इत्यादि। अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम्, **आवरणस्य** ज्ञानावरणीयकर्मणो यो **विच्छेद** अभाव **तदपेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात्** अर्थग्राहकत्वात् कारणात् **नावरण** ज्ञानस्य प्रच्छादकम्। किम्? इत्याह–**तिमिरादि**। आदिशब्देन कामलादिपरिग्रह । ज्ञानावरणीय कर्मैव हि नियमेन तत्प्रच्छादकम्, तस्मिन् सति ज्ञानस्य अर्थपरिच्छेदकत्वाभावात्, न तिमिरादि तस्मिन् सत्यपि सत्यस्वप्ने रूपदर्शनसद्भावात्। इतश्च न तदावरणमित्याह–**परिच्छेद्यत्वात्** । अत्र निदर्शनमाह–'**अर्थवत्**' इति। प्रयोग – यत्परिच्छेद्य न तद् आवरणम् यथा अर्थ , परिच्छेद्यश्च तिमिरादि इति। ननु तिमिरादीनामनावरणत्वे *"यद्विज्ञान स्वविषये विपर्यस्त तत्सावरणम् यथा चक्षुर्विज्ञान द्विचन्द्रादिगोचरम्, तथाविधश्च मिथ्यादृशा ज्ञानम्"* [ ] इत्याचार्यीय वच स्वाभ्युपगमविरुद्ध स्यादिति चेत्, न, अन्यथाभिप्रायात्। तमस्तिमिरादि वा अदृष्टकारणनिरपेक्षमावरण न भवति, तत्सापेक्ष तु भवत्येव इत्ययमाचार्यस्याभिप्राय ।

ननु च आत्मनो ज्ञानस्वभावतया सर्वत्र सर्वदा सर्वथा सर्वार्थग्रहणस्वभावत्वेन अशेषज्ञत्वप्रसङ्गात किञ्चिदावरणकल्पनया इत्याशङ्कापनोदार्थमाह–

मलविद्धमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारत. ।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथाऽनेकप्रकारतः ॥ ५७ ॥

---

(१) तमोऽपि। (२) रूपज्ञानहेतु। (३) स्वगतरूपज्ञान। (४) चक्षुर्ज्ञाना। (५) परभागवत, तमोवत्। (६) अर्वाग्भागो न चक्षुरिन्द्रियग्राह्य चक्षुर्ज्ञाननिरोधित्वात्। (७) ज्ञानप्रच्छादकम्। (८) ज्ञानावरणकर्मोदय एव। (९) तिमिरादि नावरण परिच्छेद्यत्वात्। (१०) ज्ञानावरणकर्मोदय अदृष्टरूप ग्राह्य। (११) "तथा स्यात्। का? मलविद्धमणिव्यक्ति मले कालिमरसादिभि विद्ध स चासौ मणिश्च पद्मरागादि तस्य व्यक्ति तत्र प्रादुर्भाव। कथम्? अनेकप्रकारत बहव प्रकारा विनाशाविनाशदूरस्वल्पप्रकाशप्रकाशनविशेषा तानाश्रित्य। तथा स्यात्। का?

1 तथा रूपा–अ०। 2–त रूपज्ञान–ब०। 3 अवाग्भाग–ब०। 4 एव विज्ञान–ब०। 5–निरोधी–आ०। 6 तद्ज्ञानग्राह्यं ब०। 7 चक्षुर्ज्ञानं ब० अ०। 8 सर्वदा सर्वथा–ब०। 9 सर्वथा सर्वार्थ–ब०।

विवृतिः–यथास्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः। "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषयः" [ ] इति बालिशगीतम्, तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनम् आवरणविच्छेदात्, तदविच्छेदात् आलोके सत्यपि संशयादिज्ञानसंभवात्। काचाद्युपहतेन्द्रियाणां शङ्खादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेः। मुमूर्षूणां यथासंभवम् अर्थे सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात् नार्थादयः कारणं ज्ञानस्य इति स्थितम्।

कारिकार्थः– **मलैर्विद्धः**[1] सम्बद्धो यो **मणिः** तस्य **व्यक्तिः** आविर्भावो **यथा** येन निःश्रेसोपयोगप्रकारेण[2] **अनेकप्रकारतः** विशेषेतरप्रकारम् एकदेशसाकल्यप्रकारं निकटदूरदेशवर्तिस्वप्रकाश्यप्रकाशनप्रकारम्। अन्यं वा विषयापहारादिलक्षणमाश्रित्य, **तथा** तेन प्रकारेण **कर्मभिः** ज्ञानावरणीयादिभिः **विद्धस्य**[3] प्रच्छादितस्य **आत्मनो** जीवस्य **विज्ञप्तिः** अर्थप्रकाशकत्वलक्षणा **अनेकप्रकारतः** इन्द्रियाऽनिन्द्रियाऽतीन्द्रियप्रकारम् सकलविकलसन्निकृष्टविप्रकृष्टार्थप्रकाशनप्रकारम् स्वपररूपोद्योतनप्रकारम् प्रत्यक्षेतरत्वप्रकारं वा आश्रित्य भवति। ननु पूर्वोत्तरज्ञानक्षणव्यतिरिक्तः, कायाकारपरिणतभूतचतुष्टयव्यतिरिक्तो वा न कश्चिदात्माऽस्ति तत्कस्य अनेकप्रकारतो विज्ञप्तिः स्यादिति सौगत-चार्वाकौ, तौ च प्रतिपादितविस्मरणशीलौ, सन्ताननिषेधावसरे हि पूर्वोत्तरज्ञानक्षणव्यतिरिक्तः अनादिनिधनः प्रतिपादितः प्रमाता, चार्वाकमतपरीक्षायाञ्च[4] कायाकारपरिणतभूतचतुष्टयव्यतिरिक्त इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'यथास्वम्' इत्यादि। यस्य ज्ञानस्य यद् आवारकं

विवृतिव्याख्यानम्– स्वम् आत्मीयं कर्म तस्यानतिक्रमेण **यथास्वम्**[5]। **कर्मक्षयोपशमा**–पेक्षेते इत्येवं शीले **तदपेक्षिणी करणमनसी** इन्द्रियानिन्द्रिये **निमित्तं विज्ञानस्य, न बहिरर्थादयः**, एतच्चानन्तरमेव प्रपञ्चितम्। दृष्टे च करणमनसी स्वावरणरजोनीहारादिक्षयोपशमापेक्षिणी पादपादिविज्ञानस्य निमित्तम्।

कर्मविद्धात्मविज्ञप्ति कर्माणि ज्ञानावरणादीनि तैराविद्धः सम्बद्धः स चासावात्मा च तस्य विज्ञप्तिरर्थपरिच्छित्तिः। कथम् ? अनेकप्रकारतः अनेके नानारूपाः प्रत्यक्षेतरदूरासन्नादिप्रतिभासनविशेषाः क्षयोपशमविशेषाश्च तानाश्रित्यैव। तदावरणविशेषनिरासे तु सकलार्थविज्ञप्तिरात्मन उपपद्यते एव ज्ञानस्वभावत्वात्तस्येति।'–लघी० स्वो० प० ७८। उद्धृतोऽयम्–सिद्धिवि० टी० १९३ A। आव० नि० मलय० प० १७। नन्दि० मलय० पृ० ६६। इष्टोप० टी० प० ३०। कर्मप्र० टी० पृ० ८। तुलना–'मलावृतमणेर्व्यक्तिर्यथाऽनेकविधेक्ष्यते। कर्मावृतात्मनस्तद्वद्योग्यता विविधा न किम्।'–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९१।

(१) द्रष्टव्यम्–पृ० ६४० टि० २। (२) सौगतचार्वाकौ। (३) प० ९। (४) प० ३४३।

1–स्वकर्म–ज० वि०। 2 विषमोपयोग–व० विश्लेषोपयोग–श्र०। 3 विरुद्धस्य आ०। 4–विषयप्रका–श्र०। 5 यथावारकं आ०। 6–म तच्चा–आ।

दृष्टेन च अदृष्टसिद्धिः । 'नाननुकृत' इत्यादिना परमतमाशङ्कते–कार्येण अननुकृता- न्वयव्यतिरेकौ यस्य तत् तथाविधं न कारणम् अपि तु अनुकृतान्वयव्यतिरेकमेव कारणम् । यच्च अकारणं तन्न विषयो ज्ञानस्य, इति शब्दः परमतपरिसमाप्तौ । अत्र दूषणमाह–'बालिशगीतम्' इत्यादि । बालिशस्य अविवेकिनो गीतं भाषितम् । कुत इत्याह–तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनम् आवरणविच्छेदात्, नालोकात् इत्यभिप्रायः । तथा तदविच्छेदात् तस्य आवरणस्य विच्छेदाभावात् हेतोः आलोके सत्यपि संशयादिज्ञानसंभवात् । इतश्च नालोकात् तद्दर्शनम् इत्याह–'काच' इत्यादि । काचः चक्षुषो व्याधिविशेषः आदिर्यस्य तिमिरादेः स तथोक्तः तेन उपहतानि इन्द्रियाणि येषां तेषां शुद्धे शङ्खादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेः 'सत्यपि आलोके बालिशगीतम्' इति सम्बन्धः । तथा मुमूर्षूणां प्राणिनां यथासंभवं संभवान्तरतिक्रमेण अर्थे सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात् कारणात् न अर्थादयः आदिशब्देन आलोकादिपरिग्रहः, कारणं विज्ञानस्य इति स्थितम् । पूर्वं नैयायिकमपेक्ष्योक्तम्, इदं सौगतमिति प्रविभागः ।

अत्रैव दूषणान्तरमाह–

न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह ।
प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम् ॥५८॥

(१) सौगतमतम् । (२) पृ० ६६१ । (३) इहज्ञाने । प्रामाण्यं प्रति प्रमाणत्वमुद्दिश्य । हेतुतां निमित्तभावं न भजन्ति । कुत इत्याह–तज्जन्म तस्मादर्थाज्जन्म उत्पत्तिः, तस्य करणग्रामेण व्यभिचारात् । न च ताद्रूप्यं तस्यार्थस्य रूपमिव रूपमाकारो यस्य तत्तद्रूपं तस्य भावस्ताद्रूप्यम्, तस्य समानार्थसमनन्तरज्ञानेन व्यभिचारात् । नापि तद्व्यवसितिः तत्रार्थे व्यवसितिर्व्यवसायो निश्चयः, तस्य द्विचन्द्राध्यवसायेन व्यभिचारात् । कथम् ? प्रत्येकम् एकमेकं प्रतिनियामकमित्यर्थः । सह मिलित्वा वा तानि प्रामाण्यहेतुतां न भजन्ति । तत्त्रितयस्यापि शुक्ले शङ्खे पीताकारज्ञानजनकेन समनन्तरप्रत्ययेन व्यभिचारात् ।"–लघी० ता० पृ० ७९ । तज्जन्मादित्रयस्य प्रामाण्यहेतुतानिरूपका बौद्धग्रन्थाः–"विषयाकारमेवास्य प्रमाणं तेन मीयते ।"–प्रमाणसमु० १।१० । 'तस्माच्चक्षुश्च रूपञ्च प्रतीत्योदेति नेत्रधीः ।' ३।१९० । भिन्नकाल कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः । हेतुत्वमेव युक्तिज्ञाः ज्ञानाकारार्पणक्षमम् ॥ कार्यं ह्यनेकहेतुत्वेऽप्यनुकुर्वदुदेति यत् । तत्तेनाप्यत्र तद्रूपं गृहीतमिति चोच्यते ॥ (३।२४७।४८ ।) अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम् । तस्मात्प्रमेयाधिगतेः साधनं मेयरूपता ॥ –प्रमाणवा० ३।३०५ । "तदाकारं हि संवेदनमर्थं व्यवस्थापयति नीलमिति पीतमिति ।"–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० २ । 'किमथ तर्हि सारूप्यमिष्यते प्रमाणम् ? क्रियाकर्मव्यवस्थायास्तल्लोके स्यान्निबन्धनम् सारूप्यतान्यथा न भवति नीलस्य कर्मणः संवित्तिः पीतस्य वेति क्रियाकर्मप्रतिनियमार्थमिष्यते ।–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ११९ । अनुकूलविषयोपादित एव अध्यवसायः तथाहि– अविकल्पमपि प्रमाणं विषयोत्पत्तिनिमित्तम् । निश्चयव्यवहाराङ्गं तद्द्वारेण भवत्यतः ।'–तत्त्वसं० का० १३०६ ।

1–सिद्ध श्र० । 2–श्रो विज्ञानस्य श्र० ब० । 3 सत्यालोके ब० । 4 मुमुक्षूणां ब० । 5 प्रतिभाग आ० ।

निवृतिः-नार्थं कारणं विज्ञानस्य कार्यकालमप्राप्य निवृत्तेः अतीततमवत्। न ज्ञानं तत्कार्यं तदभाव एव भावात् तद्भावे चाभावात् भविष्यत्तमवत्। नार्थसारूप्यभृत् विज्ञानम् अमूर्त्तत्वात्। मूर्त्ता एव हि दर्पणादयः मूर्त्तमुखादिप्रतिबिम्बधारिणो दृष्टाः, नामूर्त्तं मूर्त्तप्रतिबिम्बभृत्, अमूर्त्तं च ज्ञानं मूर्त्तिधर्माभावात्। नहि ज्ञाने अर्थोऽस्ति तदात्मको वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेत शब्दवत्। ततः तदध्यवसायो न स्यात्। कथमेतदविद्यमानं त्रितयं ज्ञानप्रामाण्यं प्रति उपकारकं स्यात् लक्षणत्वेन ?

तस्माद् अर्थात् जन्म तज्जन्म न ज्ञानस्य प्रामाण्यं प्रति हेतुतां भजन्ती(ती)ह लोके, न ताद्रूप्यं तस्य अर्थस्य रूपमिव रूपं यस्य तस्य

कारिकायां –

भावः ताद्रूप्यं न तत्प्रति तां 'भजति' इति सम्बन्धः। न तद्व्यवसितिः तस्य अर्थस्य व्यवसितिः निर्णीतिः न तत्प्रति तां भजतीति, सह युगपत् प्रत्येकं वा एकमेकं वा एकमेकं प्रति प्रत्येकम्, 'वा' इति समुच्चये। तत्र न तावत् प्रत्येकम्,

(१) तुलना- कार्यकालमप्राप्नुवतः कारणत्वानुपपत्तेश्चिरतरातीतवत्। -अष्टश०, अष्टसह० पृ० ८९। (२) तुलना- यथैवार्थविषयेऽभिधानं नास्ति तथार्थज्ञाने विषयोऽपि नैवास्ति ततस्तत्र प्रतिभासमानेऽपि न प्रतिभासेत। -अष्टश० अष्टसह० पृ० ११८। (३) श्रु० पु० प्रतौ 'भजतीह' इत्येव पाठः। तज्जन्म इति कर्त्रनुरोधात् भजतीति पाठ एव समुचितः। (४) प्रामाण्यं प्रति। (५) हेतुताम्। (६) तज्जन्मादयः प्रत्येकं प्रामाण्यं प्रति हेतुतां न भजन्ति। तुलना- तदर्थवेदनं केन? तादूप्यात् व्यभिचारि तत्। तद्रूपसारूप्यं व्यभिचारि द्विचन्द्रशङ्खपीतादिज्ञानाद्याकारस्य अर्थमन्तरेणापि भावात्। यच्चार्थसारूप्यमनुभवनिबन्धनमुक्तं तदप्यसम्भवि इति दर्शयन्नाह-सारूप्यमिति तत्केन स्थूलाभासस्य तेन च ॥३२१॥ तत्रार्थरूपता तस्य सत्याप्यव्यभिचारिणी। तत्संवेदनभावस्य न समर्था प्रसाधने ॥३२२॥ तस्मात् यज्ज्ञानस्य नार्थरूपताऽस्ति। सत्या वार्थरूपताया अव्यभिचारिणी सा द्विचन्द्रज्ञानादिषु। ततश्च तत्संवेदनभावस्य अर्थसंवेदनत्वस्य प्रसाधनेऽपि साऽर्थरूपता न समर्था। न केवलादर्थसारूप्यादर्थसंवेदनत्वं यत व्यभिचारः स्यात्। किं तर्हि? सारूप्यतदुत्पत्तिभ्यां ते च द्विचन्द्रज्ञानादीनां न स्तः अर्थस्याभावात् तदुत्पत्तेरयोगात्। एतदेवाह-तत्सारूप्यतदुत्पत्ती यदि संवेद्यलक्षणम्। संवेद्यं स्यात् समानार्थं विज्ञानं समनन्तरम् ॥३२३॥ तत्र ग्राह्येण सारूप्यं तस्मादुत्पत्तिः स्वसंवेद्यस्य लक्षणं यदि सम्मतम् तदपि समनन्तरं ज्ञानमन्तरज्ञानेन समानार्थं समानग्राह्यं संवेद्यं स्यात् तत्सारूप्यतदुत्पत्त्योः सम्भवात्। -प्रमाणवा० मनोरथ० २।३२०-२३। किञ्च यदाकारं यतश्च संवेदनमुत्पद्यते यदि तदालम्बनं तर्हि घटग्राहिक्षणिकानां पूर्वपूर्वमालम्बनमुत्तरोत्तरस्य स्यात् उत्पादकत्वात् सरूपत्वाच्च। -बृहती० पृ० ७९। तत्पुनः तज्जन्मसारूप्याभ्यां लक्षणं समानार्थसमनन्तरसन्तानेषु सम्भवात् व्यभिचरति तदध्यवसायहेतुत्वञ्च।'-सिद्धिवि० टी० पृ० ५६६। न केवलं विषयबलाद् दृष्टेरुत्पत्तिरपि तु चक्षुरादिशक्तेश्च। विषयाकारानुकरणाद्दर्शनस्य तत्र विषयः प्रतिभासते न पुनः करणम् तदाकारानुकरणादिति चेत्तर्हि सर्वथा करणमनुकर्तुमर्हति न चाथ विशेषाभावात् दर्शनस्य तज्जन्मरूपाविशेषेऽपि तदध्यवसायानियमाद् वस्तुविषयसर्वात्मना यथारम् वर्णादिवत् उपादानेऽप्यध्यवसायप्रसङ्गात्। -अष्टश० अष्टसह० पृ० ११८। प्रमेयक० पृ० १०८। सन्मति० टी० पृ० ५१०। प्रमेयर० २।९। 'अपि च व्यस्ते

1-कारिणो ई० वि०। 2-मूत्तमूत्तप्र-ज० वि०। 3 अर्थस्य नास्ति आ०। 4 भजन्तीति श्र०। 5 भजन्तीति श्र०। 6 'एकमेकं' वा नास्ति ब०, श्र०।

तज्जन्म मनःकरणग्रामेण व्यभिचारात्, ताद्रूप्यस्य समानार्थसमनन्तरज्ञानेन, तदध्यवसिते द्विचन्द्राध्यवसायेन। नापि सह, शुक्ले शङ्खे पीतभ्रान्तिकारणेन पीतज्ञानेन अनेकान्तात्।

एतत्त्रितयमप्यनन्तदोषेण दूषयन् कारिकां व्याचष्टे 'नार्थः' इत्यादिना। सौगतस्य नार्थः कारणं विज्ञानस्य। कुतः इत्याह–'कार्यकालम्' इत्यादि।

विवृतिव्याख्यानम्–

कार्यस्य स्वज्ञानस्य कालमप्राप्य निवृत्तेः विनाशात्। अत्र दृष्टान्तमाह–'अतीततमवत्' इति। प्रयोगः–अनन्तरातीतोऽर्थः न ज्ञानकारणम्, तत्काले सर्वथाऽविद्यमानत्वात्, यस्य तत्काले सर्वथाऽविद्यमानत्वं नासौ तत्कारणम् यथा अतीततमोऽर्थः, तत्काले सर्वथाऽविद्यमानश्च अनन्तरातीतोऽर्थः इति। एतेन भाविनोऽप्यर्थस्य तत्कारणत्वं प्रत्याख्यातम्। यथा च अर्थो न तज्ज्ञानकारणं तथा न तज्ज्ञानं तत्कार्यम्। कुत एतदित्याह–'तद्' इत्यादि। तस्य परपरिकल्पितस्य अर्थस्य अभावे एव भावात् उत्पत्तेः तज्ज्ञानस्य तद्भावे च अभावाद् अनुत्पत्तेः, अन्यथा संतानोच्छेदः स्यात्। अत्र दृष्टान्तमाह–'भविष्यत्तमवत्' इति। निषिद्धा च अर्थकार्यता ज्ञानस्य प्रपञ्चतः प्राग् इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन।

सारूप्यनिषेधार्थमाह–'नार्थः' इत्यादि। विज्ञानं न अर्थसारूप्यभृत्। कुतः? अमूर्त्तत्वात्। ननु अमूर्त्तञ्च स्यात् तद्रूपं च, को विरोधः? इति चेदत्राह–'मूर्त्ता एव' इत्यादि। मूर्त्ता एव हि यस्मात् दर्पणादयो मूर्त्तमुखादिप्रतिबिम्बधारिणो दृष्टाः। अमूर्त्तमपि किञ्चित् दृष्टम् इति चेदत्राह–'नाऽमूर्त्तं मूर्त्तप्रतिबिम्बभृद् दृष्टमिति। प्रयोगः–ज्ञानं नार्थप्रतिबिम्बभृत्, अमूर्त्तत्वात्, यत् पुनरर्थप्रतिबिम्बभृत् तन्नामूर्त्तम् यथा दर्पणादि, अमूर्त्तञ्च ज्ञानमिति। कुतोऽस्य अमूर्त्तत्वं सिद्धमिति चेत्? मूर्तिधर्माभावात्। तद्धर्मा हि रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वे सति अचेतनत्वम्, न च ज्ञाने तदस्ति। निराकृतश्चास्य व्याप्तत सारूप्य तन्निराकरणसिद्धिप्रसङ्गे इति कृतं प्रयासेन।

समस्ते वा ग्रहणकारणे स्याताम्? यदि व्यस्ते, तदा कपालाद्यक्षणो घटान्त्यक्षणस्य जलचन्द्रो वा नभश्चन्द्रस्य ग्राहकः प्राप्नोति तदुत्पत्तेस्तदाकारत्वाच्च। अथ समस्ते, तर्हि घटोत्तरक्षणः पूर्वघटक्षणस्य ग्राहकः प्रसजति। ज्ञानरूपत्वे सत्येतत् ग्रहणकारणमिति चेत्; तर्हि समानजातीयज्ञानस्य समनन्तरपूर्वज्ञानग्राहकत्वं प्रसज्येत। –प्रमाणमी० पृ० २०। प्रमाणनय० ४।४७। रत्नाकरा० ४।४७।

(१) तज्जन्मादयः सह मिलित्वापि प्रामाण्यं प्रति हेतुतां न भजन्ति। (२) तज्जन्मादित्रयम्। (३) यदि कारणभूतस्य अर्थस्य नाश एव कार्यभूतज्ञानं समुत्पद्यते तदा कार्यकारणयोः समकालत्वाभावात् तथा कारणभूतस्यार्थस्यापि स्वकारणकाले तस्यापि स्वकारणकाले इत्येवं सकलकारणक्षणानामेकक्षणवृत्तिता द्वितीये च क्षणे नाश इति सन्तानोच्छेदप्रसङ्ग इति भावः। तुलना–"स एव कारणं यदि कार्यक्षणमसम्प्राप्य निवर्तेत ... भावात् ...। –अष्टश०, अष्टसह० पृ० १८७। (४) मूर्तिधर्मो हि। (५) पृ० १६७।

[1] एव तदुत्पत्ते श्र०। [2] सन्तानोच्छे–ब०। [3] मूर्तधर्मा–ब०। [4]–कारसिद्धि–श्रा०।

तद्व्यवसितिं निराकुर्वन्नाह–'नहि' इत्यादि। हि यस्मात् न ज्ञाने अधिकरणभूते अर्थो घटादि अस्ति, किन्तु बहि सोऽस्ति, तदात्मको वा ज्ञानस्वभावो वा 'अर्थः' इति सम्बन्ध, सारूप्यनिषेधात्, अन्यत्र तत्प्रतिभासनात् इति मन्यते। येन तत्र सत्त्वेन तदात्मकत्वेन वा तस्मिन् विज्ञाने प्रतिभासमाने प्रतिभासेत, 'अर्थ' इति घटना। क इव सः तत्र नास्ति तदात्मको वा न इति चेदत्राह–शब्दवत्, शब्द इव तद्वदिति। ततः किं जातम्? इत्याह–'तत्' इत्यादि। यतो ज्ञानस्वरूपे प्रतिभासमानेऽपि तदाधेय तदात्मकतया शब्दार्थयो प्रतिभासो नास्ति ततः तस्यार्थस्य अध्यवसायो न स्यात्। अध्यवसायो हि अभिलापवती प्रतीति, न चासौ तयोरननुभवे घटते अतिप्रसङ्गात्। विस्तरतश्च अविकल्पकात् तदध्यवसायप्रतिषेध सविकल्पकसिद्धौ प्ररूपित इत्युपरम्यते। अत सिद्धं फलं 'कथम्' इत्यादिना दर्शयन्नाह–एतत् परेणोक्तमनियमात् त्रितय तदुत्पत्तिसारूप्याध्यवसायलक्षण ज्ञानप्रामाण्य प्रति कथमुपकारकम्? न कथञ्चित्। केन रूपेण उपकारक नैतत् स्यात्? इत्याह–लक्षणत्वेन। असम्भविलक्षणमेतत् इत्यभिप्राय।

ननु ज्ञानस्य तदुत्पत्तिनियमासम्भवे कथमर्थग्राहकत्वमतिप्रसङ्गादित्यारेकायामाह–

स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा।
तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः ॥५९॥

विवृति –अर्थज्ञानयोः स्वकारणादात्मलाभमासादयतोरेव परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावः नाऽलब्धात्मनो कर्तृकर्मत्वभाववत्। ततः तदुत्पत्तिमन्तरेणापि ग्राह्यग्राहकभावसिद्धिः स्वभावतः स्यात्, अन्यथा व्यवस्थाभावप्रसङ्गात्।

स्वेन आत्मीयेन हेतुना जनितोऽप्यर्थः घटादिः परिच्छेद्यः स्वतः

कारिकार्थ – स्वरूपेण तज्ज्ञानभावतयैवार्थस्य स्वहेतोरुत्पत्तेः। नहि ज्ञानेन अर्थस्वस्वभावो जन्यते, अन्योन्याश्रयानुपङ्गात्–सिद्धे हि ज्ञाने तथाविधार्थ-

(१) बहिर्देशे भूतलादौ अर्थस्य प्रतिभासनात्। (२) ज्ञाने। (३) ज्ञानात्मकत्वेन वा हेतुना। (४) अर्थ। (५) ज्ञान। (६) ज्ञानात्मक। (७) विकल्प। (८) तुलना–पृ० ४६ टि० २। (९) ज्ञानी प्रतीति। (१०) शब्दार्थयो। (११) पृ० ४८। (१२) यथा स्यात। क? घटादि। किं विशिष्ट स्यात? परिच्छेद्यो ज्ञेय। कथम? स्वत स्वभावादेव न ज्ञानादुत्पत्त्यादे। किम्भूतोऽपि स्वहेतुजनितोऽपि स्वस्य हेतुसामग्री तेन जनितोऽपि निष्पादितोऽपि। तथा ज्ञान परिच्छेदात्मकमर्थग्रहणात्मक स्यात। कुत? स्वभावादेव नार्थादुत्पत्त्यादे। किंविशिष्टमपि? स्वहेतूत्थमपि स्वस्य हेतुरन्तरङ्ग आवरणक्षयोपशमलक्षण बहिरङ्ग पुनरिन्द्रियानिन्द्रियरूप तस्मादुत्था उत्पत्तिर्यस्य तत्तथोक्त तादृशमपीत्यर्थः। –लघी० ता० पृ० ८०। उद्धतेय कारिका निम्नग्रन्थेषु–सिद्धि० टी० पृ० १० B। न्यायवि० वि० पृ० ३२ A। (१३) परिच्छेद्यस्वभावेन। (१४) अर्थस्य।

1–दिनादर्णयतो ज्ञान–ज०। 2–यो हि न आ०। 3 योपि अभिलापवतीति न आ०। 4–लाप प्रतीति ब०। 5 अप्रसि–श्र०। 6 असम्भवति लक्ष–श्र०। 7–हेतुत्वं ज० वि०। 8–ध्यात्मकत्व ई० वि०। 9 जनितोपि घटा–ब०। 10 अर्थस्वभावो आ० अर्थ स्वत स्वभावो ब०।

सिद्धि, तत्सिद्धौ च ज्ञानसिद्धिरिति। यथा येन योग्यताप्रकारेण **तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं** करणमनोलक्षणस्वकारणप्रभव **परिच्छेदात्मकम्** अर्थग्रहणस्वभाव **स्वतो** न अर्थात्तत्त्वादे।

कारिका व्याख्यातुमाह–'अर्थज्ञानयो' इत्यादि। स्वकारणात् न परस्परत आत्मलाभमासादयतोरेव यथासङ्ख्येन परिच्छेद्यपरिच्छेदकभाव[1], न अलब्धात्मनोः सर्वथा नित्ययो क्षणिकयोर्वा। अत्र दृष्टान्तमाह–'कर्तृकर्मस्वभाववत्' इति। यथा स्वकारणाद् आत्मलाभमासादयतोरेव अनयो कर्तृकर्मस्वभाव[2] नैकान्तेन मतो नाप्यसतो, तथा प्रकृतोऽपि इति। उपसंहारार्थमाह–'ततः' इत्यादि। यत स्वकारणादुत्पन्नयो तयो तथाभाव सिद्ध ततः तस्मात् अर्थाद् उत्पत्तिमन्तरेणापि अर्थज्ञानयो[3] ग्राह्यग्राहकभावसिद्धिः स्यात्। कुत ? स्वभावतः स्वयोग्यतायाः। अन्यथा अन्येन प्रकारेण व्यवस्थाभावप्रसङ्गात्।

विवृतिव्याख्यानम्–

ननु सिद्धेऽपि स्वरूपतस्तद्भावे[4] तत्फल वक्तव्यम्, तच्च 'अधिगतिमात्रम्' इत्येके, 'स्वरूपस्यैव अधिगति' इत्यन्ये[5], 'अर्थस्यैव' इत्यपरे इत्याशङ्क्याह–

व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्।
ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते ॥ ६० ॥

विवृति[1]–अनिर्णीतिफलस्य नाधिगमोऽस्ति विचार्यमाणायोगात्। अनिसंवादकत्वञ्च निर्णयायत्तं तदभावेऽभावात्तद्भावे च भावात्। व्यवसायफल ज्ञान मुख्य प्रमाणमिति व्यवस्थितम्। स्वतोऽव्यवसायस्य विकल्पोत्पादन प्रत्यनङ्गत्वात्। तदुत्पत्ति प्रत्यङ्गत्वे अभिलापसंसर्गयोग्यता न प्रतिषेध्या, अन्यथा

(१) ज्ञानार्थयो। 'ज्ञान घट जानाति इत्यत्र ज्ञानस्य कर्तृता घटस्य च कर्मत्वमिति। (२) ग्राह्यग्राहकभावोऽपि। (३) ज्ञानार्थयो। (४) तत्तत्स्वभाव। (५) ग्राह्यग्राहकभावे। (६) बौद्धाचार्या। 'उभयत्र तदेव ज्ञान फलमधिगमरूपत्वात्।–न्यायप्र० पृ० ७। "तदेव च प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाणफलमर्थप्रतीतिरूपत्वात्।'–न्यायबि० पृ० २५। तत्त्वस० का० १३४३। (७) 'स्वसंवित्ति फलञ्चास्य।"–प्रमाणस० १।१०। 'फल स्ववित्।'–प्रमाणवा० ३।३६६। (८) नैयायिकाद्य। 'प्रमितिर्द्रव्यादिविषय ज्ञानम्।'–प्रश० भा० पृ० १८७। (९) "मतमिष्ट ज्ञातञ्च। किम् ? ज्ञानम्। किं स्वरूपम् ? व्यवसायात्मक विषयस्य जात्याद्याकारस्य अवसायो निश्चिय स एवात्मा स्वरूप यस्य तत्तथोक्तम्। अनेन प्रत्यक्ष कल्पनापोढमित्येतन्निरस्तम्। पुन किंविशिष्टम् ? आत्मार्थग्राहकम् आत्मस्वरूपमर्थो बाह्यो घटादिस्तौ गृह्णाति निर्णयतीत्यात्मार्थग्राहकम् अनेन ज्ञानमयग्राहकमेव न स्वरूपग्राहकम् स्वग्राहकमेव नार्थग्राहकमित्येकान्तद्वय निराकृतम्। तेन कारणेन अश्नुते भजति किम् ? ग्रहण ज्ञा कर्तृ। किं नाम ? निर्णय स्वार्थव्यवसायस्तद्रूपमित्यर्थ। किं कर्मतापन्नम् ? प्रामाण्यम् प्रमाणभावम्। किंविशिष्टम् ? मुख्यमनुपचरितम् ज्ञानकारणत्वादुपचारेणैव इन्द्रियलिङ्गादे प्रमाणत्वात्।"–लघी० ता० पृ० ८१।

1 स्वस्य हेतुरर्थ श्र०। 2 'इति नास्ति श्र०। 3 मुख्यप्रामा–ज० वि०। 1–फलस्यानिर्ग– ई० वि०। 5 स्वतोऽव्यवसा–ई० वि०।

निर्विकल्पोत्पत्त्यभावप्रसङ्गात् । सति मुख्ये निर्णयात्मके ज्ञाने सकलव्यवहारनियामके कथमसंवेद्यमकिञ्चित्करमनुपायमनुपेयं ब्रुवाणः स्वस्थः ?

कारिकार्थः –

व्यवसायः स्वार्थनिश्चयः **आत्मा** स्वभावो यस्य तत् तदात्मकम् व्यवसायफलात्मकमित्यर्थः । अनेन 'निर्विकल्पकं निर्विकल्पकाऽधिगतिमात्रफलप्रसाधकं प्रमाणम्' इति प्रत्याख्यातम् । तथाविधफलात्मकञ्च प्रमाणं किम् ? इत्याह–**ज्ञानम्** । अनेनापि 'चक्षुरादिकमज्ञानं प्रमाणम्' इति प्रतिव्यूढम्, तस्य तदात्मकत्वविरोधात् । प्रसाधितञ्च प्रपञ्चतः प्रमाणात् स्वपरव्यवसायात्मकं फलं कथञ्चिदभिन्नम् **'पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम्'** [लघी० का० ७] इत्यत्र । पुनरपि कथम्भूतं तत् ? इत्याह–**आत्मार्थग्राहकम्**, स्वपररूपवेदकम् । **मतम्** स्वसंवेदनाध्यक्षेण ज्ञातम् । समर्थितञ्च व्यासतो ज्ञानस्य आत्मग्राहकत्वं स्वसंवेदनसिद्धौ, अर्थग्राहकत्वञ्च बाह्यार्थसिद्धौ इत्यलमतिविस्तरेण । ततः किं सिद्धम् ? इत्याह–**'ग्रहणम्'** इत्यादि । येन कारणेन **व्यवसायात्मकं ज्ञानम् आत्मार्थग्राहकं** तेन कारणेन **ग्रहणं** स्वार्थाधिगतिः **निर्णयो मुख्यमनुपचरितं प्रामाण्यमश्नुते,** न निर्विकल्पकं चक्षुरादि वा ।

कारिकां व्यतिरेकमुखेन व्याख्यातुमाह–**'अनिर्णीतिफलस्य'** इत्यादि । अनि-

विवृतिव्याख्यानम्–

र्णीतिफलस्य निश्चयफलरहितस्य अविकल्पकस्य इत्यर्थः । **नाधिगमोऽस्ति** नानुभवोऽस्ति, कुत एतदित्याह–**विचार्यमाणायोगात्**, यस्य विचार्यमाणस्यायोगो न तस्यानुभवो यथा अद्वैतशून्यादितत्त्वस्य, विचार्यमाणस्यायोगश्च निर्विकल्पकदर्शनस्य इति । यथा चास्य विचार्यमाणस्याऽयोगः तथा सविकल्पकसिद्धौ प्रपञ्चतः प्रतिपादितम् । अथ अविकल्पकस्य अविसंवादकत्वात् प्रामाण्यमाचर्यते, अत्राह–**'अविसंवाद'** इत्यादि । **अविसंवादकत्वं** गृहीतार्थतथाभावः **तदायत्तं निर्णयायत्तम्** । कुत एतदित्याह–**'तद्'** इत्यादि । **तस्य निर्णयस्य अभावे** क्षणक्षयादिदर्शने मरीचिकादिदर्शने वा संशयकारिणि **अभावाद् अविसंवादकत्वस्य**, तद्भावे च निर्णयसद्भावे च भावाद् अविसंवादकत्वस्य इति । व्यवसायफलं ज्ञानं मुख्यं प्रमाणम् इति एवं व्यवस्थितमित्युपसंहारः ।

मा भून्निर्विकल्पकं स्वयमव्यवसायात्मकत्वात् तत्फलं तज्जनकत्वात्तु स्यात् इति

(१) चक्षुरादेः । (२) व्यवसायफलात्मकत्वं । (३) पृ० २०९ । (४) पृ० १७६–। (५) पृ० ११९–। (६) पृ० ४७ । (७) प्रमाणफलम् । (८) व्यवसायात्मकविकल्पोत्पादकत्वात् । तथाहि– 'तस्मादध्यवसायं कुर्वदेव प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति अकृते त्वध्यवसाये नीलबोधरूपत्वेनाव्यवस्थापितं भवति विज्ञानम् । –न्यायबि० टी० पृ० २७ । तत्त्वसं० का० १३०६ । तुलना–'अन्यथोऽस्य प्रत्यक्षस्याध्यवसायहेतुवासनाविनिरूपितार्थाभिधान सौगतस्य तत्राभिलापाभावात् । –अष्टश० अष्टसह० पृ० ११८ ।

1–निर्णय ब० । 2–फलसाध–ब० श्र० । 3–वस्थापि–ब० । 4–येन यद्ग्रहणं ब० । 5–क्षयादिदर्शने वा संशय–ब० । 6 'निर्णयसद्भावे च' नास्ति ब० ।

चेदाह–'स्वत' इत्यादि। स्वतोऽव्यवसायस्य स्वयं निर्विकल्पकस्य विकल्पोत्पादनं प्रत्यनङ्गत्वात्। एतच्च सविकल्पकसिद्धौ सप्रपञ्चं प्रपञ्चितमिति नेहोच्यते। तदङ्गत्वे वा दूषणमाह–'तत्' इत्यादि। तस्य विकल्पस्य उत्पत्तिं प्रत्यङ्गत्वे स्वतोऽव्यवसायस्य अभिलापसंसर्गयोग्यता न प्रतिषेध्या। अभिलप्यतेऽनेन अभिलप्यत इति वा अभिलापः शब्दजाती, तयोः संसर्गो वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धः तस्मै योग्यं तस्य भावस्तत्ता न प्रतिषेध्या। यथैव हि विकल्पस्य अर्थाकारलेशदर्शनात् दर्शनस्य तदाकारताऽनुमीयते तथा तस्य अभिलापसंसर्गयोग्यतादर्शनात् दर्शनस्यापि सोऽनुमीयतामविशेषात्। दर्शनेऽसंभविनी तस्य तद्योग्यता भवति नार्थाकार इति किंकृतोऽयं विभागः? तन्निषेधे 'अन्यथा' इत्यादिना दूषणमाह। अन्यथा तद्योग्यतानिषेधप्रकारेण विकल्पोत्पत्त्यभावप्रसङ्गात्, सा 'न निषेध्या' इति सम्बन्धः। ननु विकल्पवासनात एव विकल्पोत्पत्तिः, दर्शनं तु केवलं तत्प्रबोधकम् ततोऽयमदोषः, इत्यत्राह–'सति' इत्यादि। सति विद्यमाने मुख्ये स्वपरव्यवस्थायाम् अन्यनिरपेक्षे निर्णयात्मके ज्ञाने। पुनरपि कथम्भूते इत्याह–'सकल' इत्यादि। अर्थानुभवसंस्कारसम्भवो स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानप्रवृत्तिलक्षणः सकलो व्यवहारः तन्नियामके ब्रुवाणः सौगतः कथं स्वस्थः? किं ब्रुवाण इत्याह–ज्ञानम्। कथम्भूतम्? अकिञ्चित्करं निर्विकल्पकं असंवेद्यं 'न संवेद्यते' इत्यसंवेद्यम्, न विद्यते वा संवेद्यं ग्राह्यं यस्य, अत एव अनुपायमनुपेयमिति।

---

(१) पृ० ४७। (२) बौद्धा हि प्रत्यक्षं निर्विकल्पकात्मकमुररीकुर्वन्ति अतस्तत्र शब्दसंसर्गयोग्यता प्रत्यक्षस्य निषिध्यते। तथा चोक्तम्–'अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना, तया रहितम्।'–न्यायबि० पृ० १३। (३) नीलमिदमित्याकारकविकल्पस्य। (४) नीलाकारतादर्शनात्। (५) निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य। (६) नीलाकारता। (७) निर्विकल्पकं नीलाकारं ततः उत्पन्ने विकल्पे नीलाकारत्वाऽन्यथानुपपत्तेः। (८) विकल्पस्य। (९) अभिलापसंसर्गयोग्यता। निर्विकल्पके अभिलापसंसर्गयोग्यताऽस्ति ततः उत्पन्ने विकल्पे अभिलापसंसर्गयोग्यताऽन्यथानुपपत्तेः। (१०) विकल्पस्य। (११) अभिलापसंसर्गयोग्यता। (१२) यदि दर्शनेऽसंभविनी अभिलापसंसर्गयोग्यता विकल्पे घटेत तर्हि दर्शनेऽसम्भवन्नपि नीलाकारः विकल्पे स्यात्, तथा च नीलविकल्पस्य साक्षान्नीलस्वलक्षणविषयताप्राप्तेः 'विकल्पोऽवस्तुनिर्भासः' इति सिद्धान्तविरोध इति भावः। (१३) तुलना–'यथैव हि वर्णादावभिलापाभावे तथा प्रत्यक्षेऽपि तस्य अभिलापकल्पनातो पोढत्वात् अनभिलापात्मकार्यसामर्थ्येनोत्पत्तेः। प्रत्यक्षस्य तदभावेऽप्यध्यवसायकल्पनाया प्रत्यक्षं विनाऽध्यवस्यतः स्वलक्षणं स्वयमभिलापशून्यमपि। प्रत्यक्षमध्यवसायस्य हेतुर्न पुनः स्यादिति कथं सुनिरूपिताभिधानम्? यदि पुनरविकल्पकादपि प्रत्यक्षाद्विकल्पात्मनोऽध्यवसायस्योत्पत्तिः प्रदीपादेः कज्जलादिवत् विजातीयादपि कारणात् कार्यस्योत्पत्तिदर्शनादिति मतम्, तदा तादृशोऽर्थाद्विकल्पात्मकः प्रत्यक्षस्योत्पत्तिरस्तु तत एव तद्वदिति। जातिद्रव्यगुणक्रियापरिभाषाकल्पनारहितादर्थात् कथं जात्यादिकल्पनात्मकं प्रत्यक्षं स्यादिति चेत्, प्रत्यक्षात्तद्रहिताद्विकल्पः कथं जात्यादिकल्पनात्मकः स्यादिति समः पर्यनुयोगः।'–अष्टश०, अष्टसह० पृ० ११८। (१४) विकल्पवासना।

1 तच्च श्र०। 2–स्यात्तयो श्र०। 3–श विक–श्र०। 4–नादर्शनस्य श्र०। 5 तथा सत्यभि–श्र०। 6 विकल्पोत्प–श्र०। 7 अनुमेयमिति ब०।

एवं सामान्येन व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं व्यवस्थाप्य, अधुना तद्भेदं दर्शयन्नाह–

तत्प्रत्यक्षं परोक्षञ्च द्विधैवात्रान्यसंविदाम् ।
अन्तर्भावान्न युज्यन्ते नियमाः परकल्पिताः ॥७१॥

विवृतिः–इन्द्रियार्थज्ञानं स्पष्टं हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशिकं प्रत्यक्षम् अवग्रहेहावायधारणात्मकम् । अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम् । अतीन्द्रियप्रत्यक्षं व्यवसायात्मकं स्फुटतरमवितथमतीन्द्रियमव्यवधानं लोकोत्तरं पारमार्थविषयम् । तदस्ति सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् । श्रुतं परोक्षं सकलप्रमाणप्रमेयतत्त्वस्वरूपाभिधायि बाधारहितं प्रमाणम् । अत्र अर्थापत्त्यनुमानोपमानादीन्यन्तर्भवन्ति । परपरिकल्पितप्रमाणान्तर्भावनिराकरणमन्यत्रोक्तमिति नेहोच्यते ।

यद्व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं प्रतिपादितं तत् द्विधैव, नैकविधं नापि त्र्यादिविधम् इत्येवकारार्थः । कथं तद् द्विधैव ? इत्याह–प्रत्यक्षं परोक्षञ्च ।
कारिकायाः– इति शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः, इति एवम्, न प्रत्यक्षानुमानप्रकारेण । ननु अनुमानोपमानादेः ततोऽर्थान्तरत्वात् कथं 'द्विधैव' इति नियमः स्यात् ? इत्याह–'अत्र' इत्यादि । अत्र प्रत्यक्षपरोक्षयोः अन्यासां समीचीनसंविदाम् अन्तर्भावात् द्विधैव इति । अन्तर्भावश्च परोक्षपरिच्छेदे चिन्तितः । अतश्च न युज्यन्ते नियमाः परैः सौगतादिभिः कल्पिताः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'इन्द्रिय' इत्यादि । इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां कार्यभूतम्
विवृतिव्याख्यानम्– अर्थस्य घटादेः ग्राहकं न मरीचिकातोयादेः, ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।

(१) यत्सम्यग्ज्ञानात्मकं प्रमाणं तत् द्विधैव द्विप्रकारमेव । तावेव प्रकारावाह–प्रत्यक्षं परोक्षं चेति । ननु अनुमानादिप्रमाणभेदस्यापि सम्भवात् इत्याह–अत्रेत्यादि । न युज्यन्ते न समर्थाः । के ? नियमाः त्रित्वादिसंख्याप्रतिनियमाः । किंविशिष्टाः ? परपरिकल्पिताः परैः सौगतादिभिः कल्पिताः रचिताः । कुतः न युज्यन्ते ? अन्तर्भावात् संग्रहात् । कासाम् ? अन्यसंविदाम् अनुमानादिज्ञानानाम् । क्व ? अत्रैव प्रत्यक्षपरोक्षसंग्रह एव ।'–लघी० ता० पृ० ८१ । (२) तुलना–"ज्ञाननिबन्धना तु सिद्धिरनुष्ठानम् हेयस्य हानमनुष्ठानमुपादेयस्य चोपादानम् । ततो हेयोपादेययोः हानोपादानलक्षणा तु सिद्धिरित्युच्यते ।"–न्यायबि० टी० पृ० ८ । हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।–परीक्षामु० १।२ । प्रमाणनय० १।३ । (३) सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम् । तुलना–लघी० टि० पृ० १३२ पं० १० । (४) "लक्षणं सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरम् । अक्रमं करणातीतमकलङ्क महीयसाम् ॥"–न्यायवि० का० १६८ । प्रमाणसं० का० ९ । तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १६२ पं० २५ । न्यायकुमु० पृ०२५ टि० २ । (५) तुलना–"अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् ।"–सिद्धिवि० टी० पृ० ४२१ B । अष्टश० अष्टसह० पृ० ४४ । आप्तप० पृ० ५६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५ । प्रमाणनि० पृ० २९ । प्रमाणमी० पृ० १४ । षड्द० बृह० पृ० ५३ ।

1–न्नु युज्य– वि० । 2 द्विविधम् ब० । 3–चीनविदाम ब० । 4 ज्ञानं कर्तृ प्रत्यक्षम ब० ।

किंविशिष्टम् ? **स्पष्टम्** विशदम्। निर्विकल्पक[1] परोक्ष[2] ज्ञानान्तरप्रत्यक्ष[3] वा तथा[4] स्यात् इत्यत्राह–'**हित**' इत्यादि। हितं सुखं तत्साधनञ्च **अहितं** दुःखं तत्कारणञ्च तयोः **प्राप्तिपरिहारौ** तत्र **समर्थं** योग्यम्। न च निर्विकल्पकादे[6] तत्र[5] सामर्थ्यम् अर्थमात्रग्रहणेऽप्यर्थे[6] सामर्थ्यासंभवात् इत्युक्तम्[7] सविकल्पकादिसिद्धिप्रघट्टके। ननु सविकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना अर्थस्य गृहीतत्वात् तत्र[8] प्रमाणान्तराप्रवृत्तिः स्यात् इत्यत्राह–**प्रादेशिकम्**। सर्वमस्मदादिप्रत्यक्षं प्रदेशे एव नियतम्। द्विचन्द्रादिदर्शनेऽपि तमिरिकज्ञानेन गगनाद्यदर्शनवत्, नीलादिदर्शनेऽपि क्षणपरिणामादर्शनवद्वा। साम्प्रतमिन्द्रियज्ञानस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षं दर्शयन्नाह–'**इन्द्रिय**' इत्यादि। इन्द्रियाणां कार्यम् आत्मनः सविदः स्वरूपस्य ज्ञानं स्पष्टं हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशिकं प्रत्यक्षम् इति। तदुभयमपि किं भेदम् ? इत्याह–**अवग्रहेहावायधारणात्मकम्**। व्याख्याता अवग्रहादयः प्रत्यक्षपरिच्छेदे[9], ते आत्मा यस्य तत् तदात्मकम्।

इदानीम् '**अनिन्द्रिय**' इत्यादिनाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षं दर्शयति–अनिन्द्रियस्य मनसः कार्यं ज्ञानम् **अनिन्द्रियप्रत्यक्षम्**[10]। ननु च इन्द्रियज्ञानमपि अनिन्द्रियस्य भवत्येव कार्यं तत्कथमयं प्रविभागः इति चेत् ? प्रधानेतरभावात्। इन्द्रियज्ञाने हि इन्द्रियाणां प्रधानभावः, अत्र[11] तु अनिन्द्रियस्यैव[12] इति युक्तः प्रविभागः। किं रूपं तद् ? इत्याह–**स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम्**। ननु स्मृत्यादीनां परोक्षतया पूर्वं[13] प्रतिपादितत्वात् कथमत्र प्रत्यक्षतया प्रतिपादनं युक्तं पूर्वापरविरोधप्रसङ्गात्, इत्यप्यचर्चिताभिधानम्, यतोंऽशे तेषां स्पष्टत्वं तत्रैव प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनात्। स्वरूपे एव हि [14]तेषां स्पष्टत्वम् अतस्तत्रैव प्रत्यक्षत्वम् 'आत्मज्ञानम्' इत्यभिसम्बन्धात्। बहिरर्थे स्वार्थे[15] अस्पष्टत्वात् परोक्षता इति न कश्चिद्दोषः। अत्रापि '**हित**' इत्यादि, '**प्रादेशिकम्**' इति च सम्बध्यते। स्मृत्यादिग्रहणमुपलक्षणं तेन 'सुखाद्यात्मकम्' इत्यपि गृह्यते।

अधुना अतीन्द्रियप्रत्यक्षप्ररूपणार्थम् '**अतीन्द्रिय**' इत्याद्याह। इन्द्रियेभ्योऽतिक्रान्तम् **अतीन्द्रियं प्रत्यक्षम्**, कथम्भूतम् ? **व्यवसायात्मकम्**, अनेन सांख्यसौत्रान्तिककल्पितं निर्विकल्पकं निरस्तम्। **स्फुटतरम्**, अस्मदादिप्रत्यक्षात् समस्ते स्वगोचरे अतिशयेन विशदम्। **अवितथम्**, अभ्रान्तम्। अनेन "*भिक्षवोऽहमपि मायो-*

(१) सौगताभिमतम्। (२) मीमांसकाद्यभिमतम्। (३) नैयायिकाभिमतम्। (४) प्रत्यक्षम् अर्थग्राहकं वा। (५) हितप्राप्तौ अहितपरिहारे वा। (६) निर्विकल्पादेः। (७) पृ० ४७। (८) अर्थे। (९) पृ० ११६। (१०) तुलना–इन्द्रियव्यापारादनिन्द्रियबलाधानादुपजातमिन्द्रियप्रत्यक्षम् अनिन्द्रियादेव विशुद्धिसव्यपेक्षादुपजायमानमनिन्द्रियप्रत्यक्षम्। –प्रमेयर० २।४। प्रमाणमी० पृ० १६। (११) अनिन्द्रियप्रत्यक्षे। (१२) अनिन्द्रियस्यैव इत्यवधारणं द्रष्टव्यम्। (१३) पृ० ४०३। (१४) स्मृत्यादीनाम्। (१५) स्वरूप एव। (१६) स्मृत्यादेः।

1–स्वात्प्रमा–ब०। 2 ज्ञानं स्व–आ०। 3 अवग्रहेहादयः ब०। 4 इदानीमनिन्द्रियप्रत्यक्षं दर्श–ब०। 5 प्रतिभागः ब०। 6 प्राधान्येतर–ब०। 7–प्रत्यक्षप्रति–आ०। 8 परोक्षत्वमिति ब०।

पम स्वप्नोपमं[1]" [ ] इति प्रत्याख्यातम्। तस्य इन्द्रियातिक्रान्तत्वं समर्थयमान 'अतीन्द्रियम्' इत्याह। अतीन्द्रियम् इन्द्रियव्यापाराजन्यम्, कुतः? अव्यवधानम् देशादिव्यवधानरहितं यतः, यत् स्वगोचरे देशादिव्यवधानरहितं न तद् इन्द्रियव्यापारजन्यम् यथा सत्यस्वप्नज्ञानम्, स्वगोचरे देशादिव्यवधानरहितञ्च अतीन्द्रियप्रत्यक्षमिति। तथा च "[2]ईश्वरज्ञानम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं प्रत्यक्षत्वे सति ज्ञानत्वात् इतरज्ञानवत्" [ ] इति निरस्तम्। त[3]ज्ज्ञानस्य इन्द्रियप्रभवत्वे प्रत्यक्षपरिच्छेदे[4] असर्वविषयत्वप्रतिपादनात्। **लोकोत्तरसकललोकोत्कृष्टमात्मार्थविषयम्**, 'आत्मविषयम्' इत्यनेन असंवेदितमीश्वराध्यक्षं निराकृतम्। तस्य आत्माऽगोचरत्वे अर्थगोचरत्वानुपपत्तिप्रतिपादनात्। 'अर्थविषयम्' इत्यनेन तु "नान्योऽनुभाव्यो[5]

(१) तुलना– मायास्वप्नोपमं जगत्' 'मायास्वप्नोपमं लोकम्– लङ्कावतार० पृ० १२९, १३४। 'मायास्वप्नोपमं सर्वं संस्कारं सर्वदेहिनाम्।'–नरात्म्य० पृ० २१। न हि तथागता कस्यचिदप्यात्मनः स्वभावस्यास्तित्वं प्रज्ञपयन्ति। यथोक्तं भगवत्याम्–बुद्धोऽप्यायुष्मन् सुभूते मायोपमः स्वप्नोपमः, बुद्धधर्मा अप्यायुष्मन् सुभूते मायोपमाः स्वप्नोपमा इति। तथा–धर्मस्वभावः शून्यविविक्तो बोधिस्वभावः शून्यविविक्तो। यो हि चरन्तः पि शून्यस्वभावो जानन्ता न तु बालजनस्य इति। यथोक्तं भगवता–शून्याः सर्वधर्मा निःस्वभावयोगेन। निर्निमित्ताः सर्वधर्मा निर्निमित्ततामुपादाय यथोक्तं सूत्रे–मायोपमं जगदिदं भवता नटरङ्गस्वप्नसदृशं विहितम्। नात्मा न सत्त्वं न च जीवगतो धर्मा मरीचिदकचन्द्रसमाः। –माध्यमिकवृ० पृ० ४४२-४५। 'तस्मान्मायास्वप्नादिस्वभावाः सर्वधर्मा इति निश्चितमेतत्। स्यादेतत्–यदि सर्वव्यापिनी मायोपमस्वभावता बुद्धोऽपि तर्हि मायोपमः स्वप्नोपमः स्यात्। उक्तञ्चैतत् भगवत्याम्–एवमुक्ते सुभूतिस्तान् देवपुत्रानेतदवोचत–मायोपमास्ते देवपुत्राः सत्त्वाः स्वप्नोपमास्ते देवपुत्राः सत्त्वा इति हि माया च सत्त्वाश्चाद्वयमेतदद्वैधीकारम्। सर्वधर्मा अपि देवपुत्रा मायोपमाः स्वप्नोपमाः। स्रोतआपन्नोऽपि मायोपमः स्वप्नोपमः स्रोतआपत्तिफलमपि मायोपमं स्वप्नोपमम्। एवं सकृदागाम्यपि सकृदागामिफलमपि। अनागाम्यपि अनागामिफलमपि। अर्हन्नपि अर्हत्त्वमपि मायोपमं स्वप्नोपमम्। सम्यक्संबुद्धोऽपि मायोपमः स्वप्नोपमः। सम्यक्संबुद्धत्वमपि मायोपमं स्वप्नोपमं यावन्निर्वाणमपि मायोपमं स्वप्नोपमम्। स चेन्निर्वाणादपि कश्चिद्धर्मो विशिष्टतरः स्यात्तमप्यहं मायोपमं स्वप्नोपमं वदामि। –बोधिचर्या० पृ० ३७९। आर्यललितविस्तरेऽप्युक्तम् (पृ० २०९।११) संस्कार प्रज्ञा अविद्या भिन्नमूलाः ... निरोधधर्मकाः। ... मायोपमाः फेनपिण्डवत् असारदुर्बलाः॥ संस्कार निराहशून्यका ... निरीक्षते। मायोपमचित्तमोहना बाल उल्लापनरिक्तमुष्टिवत्॥' –बोधिचर्या० पृ० ५१२। 'मायास्वप्नमरीचिबिम्बसदृशा प्रोद्भासप्रतिश्रुत्कोपमा। विज्ञातव्य चन्द्रबिम्ब सदृशा निर्माणतुल्याः पुनः॥ –महायानसू० पृ० ६२। उद्धृतमिदम्–स० मति० टी० पृ० ३७१, ३७७। शास्त्रवा० यशो० पृ० २१५ A। (२) तुलना–'स्वयंप्रभुरलङ्घनार्हं स्वार्थालोकपरिस्फुटमवभासते सत्यस्वाकारम्।'–प्रमाणमी० पृ० ११। प्रमाणमी० टि० पृ० १७२ पं० २३। (३) ईश्वरज्ञानस्य। (४) पृ० १०८। (५) नान्योऽनुभाव्यस्तेनास्ति तस्य नानुभवोऽपरः। तस्यापि तुल्यचोद्यत्वात् स्वयं सैव प्रकाशते॥ यथा च स्वरूपादन्यो बुद्ध्या अनुभाव्यो नास्ति तथा तस्य ज्ञानस्य चापरोऽनुभवो नास्ति। तस्य ज्ञानग्रहणस्यापि तुल्यचोद्यत्वात्, स ह्यन्यत्वनिबन्धनो ग्राह्यग्राहकभावः तच्चानुपपन्नमिति युक्तम्। तस्मात् ज्ञानमपरोक्षतया उत्पन्नं स्वयं प्रकाशते नान्येन प्रकाश्यते। –प्रमाणवा०

इत्याह ब०। 1 इन्द्रियजातं ब०।

बुद्ध्यास्ति" [प्रमाणवा० २।३२७] इत्येतन्निरस्तम् । तदविषयत्वे बुद्धेः बुद्धिरूपत्वस्यैवानुपपत्तेः स्वपरव्यवसायस्वभावत्वात्तस्याः । प्रसाधितश्च बाह्योऽर्थः प्रपञ्चतो बाह्यार्थसिद्ध्यवसरे³ । ननु वन्ध्यासुतसौभाग्यव्यावर्णनप्रायमेतत् अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य सद्भावावेदकप्रमाणाभावतः खपुष्पवदसत्त्वात्; इत्याशङ्क्याह–'तदस्ति' इत्यादि । तद् अतीन्द्रियप्रत्यक्षम् अस्ति सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् इति । समर्थितश्चास्य सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्व प्रबन्धेन सर्वज्ञसिद्धिप्रघट्टके⁴ इत्यलं पुनस्तत्समर्थनप्रयासेन ।

परोक्षमिदानीं व्याचष्टे 'श्रुतम्' इत्यादिना । श्रुतम् अविसंवादकम् तत्प्रमाणम् । किं सर्वम् ? न, बाधारहितम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? इत्याह–'सकल' इत्यादि । सकल यत् प्रमाण यच्च प्रमेय तयोः इयत्तास्वरूपाभिधायि, अनेन च प्रत्यक्षाऽनुमेयाऽत्यन्तपरोक्षलक्षणे स्थानत्रयेऽप्यर्थे प्रामाण्य दर्शयति । तथा च निराकृतमेतत्–"तृतीयस्थानसङ्क्रान्तौ न्याय्य (न्याय्य) शास्त्रपरिग्रहः ।" [प्रमाणवा० ४।५१] इति । नहि प्रमाणानां सापत्न्यन्यायोऽस्ति येन एकविषये द्वितीयस्याप्रवृत्तिः स्यात् । अथ मतम्–अर्थापत्त्यादेः प्रमाणान्तरत्वप्रसिद्धेः कथं प्रत्यक्षपरोक्षरूपतया प्रमाणद्वित्वसिद्धिः, यतो 'द्विधैव' इति नियमः सुघटः स्यात् ? इत्यत्राह–'अत्र' इत्यादि । अत्र परोक्षे अर्थापत्त्यनुमानोपमानादीनि, आदिशब्देन अनिर्दिष्टमन्यदपि प्रमाणं गृह्यते, अन्तर्भवन्ति । तेन तदन्तर्भावश्च परोक्षपरिच्छेदे प्रपञ्चितः । नन्वेवं सौगतादीनामपि स्वोपकल्पितप्रमाणसंख्यायाम् इतरप्रमाणानामन्तर्भावो भविष्यति, इत्यत्राह–'परैः' इत्यादि । परैः सौगतादिभिः परिकल्पितस्य प्रमाणान्तर्भावस्य निराकरणम् अन्यत्र परोक्षपरिच्छेदे उक्तमिति नेह प्रघट्टके पुनरुच्यते ।

मनोरथ० २।३२७ । उद्धृतोऽयम्–प्रश० व्यो० पृ० ५२५ । अष्टसह० पृ० ११० । सिद्धिवि० टी० प० १६६ A । शास्त्रदी० पृ० १९५ । स्या० र० पृ० १५० । शास्त्रवा० यशो० प० १७४ B, २१५ B । न्यायकुमु० पृ० १३३ टि० ४ ।

(१) अर्थाविषयत्वे । (२) बुद्धेः । (३) पृ० ११९ । (४) पृ० ८९ । (५) श्रुतस्य । तुलना–'स्थानत्रयाविसंवादि श्रुतज्ञानं हि वक्ष्यते । तेनाधिगम्यमानत्वं सिद्धं सर्वत्र वस्तुनि ॥ १२ ॥' –तत्त्वार्थ० श्लो० पृ० १३ । (६) 'तद्विरोधेन चिन्ताया तत्सिद्धार्थेष्वयोगतः । तृतीयस्थानसङ्क्रान्तौ न्याय्यः शास्त्रपरिग्रहः ॥ तस्य शास्त्रस्य विरोधेन तत्सिद्धप्रत्यक्षेषु लिङ्गादिष्वसिद्धकल्पेषु तर्कचिन्ताया अयोगतः । यस्मात् प्रत्यक्षपरोक्षायत्तानामधिकारः तस्मात् तृतीयस्थाने अतीन्द्रिये विषये विचारसङ्क्रान्ते शास्त्रपरिग्रहो न्याय्यः प्रकारान्तरासम्भवात् ।' –प्रमाणवा० मनोरथ० ४।५१ । (७) यथा यदैका सपत्नी पतिसमीपे समुपतिष्ठति तदा द्वितीया ईर्ष्याविलिप्ता अनवकाशतया पत्युपकण्ठं नोपसर्पति न तथा प्रमाणानां सापत्न्यभावो ईर्ष्याविलिप्तता अनवकाशता वा समस्ति इति भावः । (८) सम्भवदबाधकम् । (९) परोक्षे ।

1–स्वपरव्यवसा–श्र० । 2–प्र सत्या–श्र० । 3 न्याय व०, श्र० । 4 सघट श्र० ।

श्रुतस्य भेदं दर्शयन्नाह–

उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ ।
स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा ॥६२॥

विवृतिः–अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः, यथा जीवः पुद्गलः धर्मोऽधर्मः आकाशं काल इति । तत्र जीवो ज्ञानदर्शनवीर्यसुखैः असाधारणैः अमूर्त्तत्वाऽसंख्यातप्रदेशत्वसूक्ष्मत्वैः साधारणासाधारणैः सत्त्वप्रमेयत्वागुरुलघुत्वधर्मित्वगुणित्वादिभिः साधारणैः अनेकान्तः । तस्य जीवस्यादेशात् प्रमाणं स्याद्वादः । तथा इतरत् परमागमतो योज्यम् । ज्ञो जीवः सुखदुःखादिवेदनात् इत्यादि विकलादेशो नयः । साकल्यम् अनन्तधर्मात्मकता । वैकल्यम् एकान्तः धर्मान्तराविवक्षातः ।

---

(१) भवतः । कौ ? उपयोगौ व्यापारौ । कस्य ? श्रुतस्य, श्रूयत इति श्रुतमाप्तवचनं वर्णपदवाक्यात्मकं द्रव्यरूपं तस्य भावश्रुतस्य वा श्रवणं श्रुतमिति निरुक्तेः । कति ? द्वौ । किंनामानौ ? स्याद्वादनयसंज्ञितौ स्यात्कथञ्चित् प्रतिपक्षापेक्षया वचनं स्याद्वादः, नयनं वस्तुनो विवक्षितधर्मप्रापणं नयः स्याद्वादश्च नयश्च स्याद्वादनयौ इति ते संज्ञे ययोस्तौ तथोक्तौ । तौ लक्षणतो निर्दिशति–स्याद्वाद उच्यते । कः ? सकलादेशः सकलस्य अनेकधर्मणो वस्तुन आदेशः कथनम्, यथा जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालाः पदार्थाः । पुनर्नयो भवति । का ? विकलसंकथा विकलस्य विवक्षितैकधर्मस्य सम्यक् प्रतिपक्षापेक्षया कथा प्रतिपादनं यथा जीवो ज्ञानवान् द्रष्टा इत्यादि । –लघी० ता० पृ० ८३ । तुलना– तदुक्तम्–उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ प्रमाणनयभेदतः । –सिद्धिवि० टी० पृ० ४ A । (२) निर्दिश्यमानधर्मव्यतिरिक्ताऽशेषधर्मान्तरसूचकेन स्याता युक्तो वादोऽभिप्रेतधर्मवचनं स्याद्वादः ।' –न्यायाव० ता० टी० पृ० ९३ । न्यायकु० पृ० ३ टि० १० । (३) तुलना– स्यात्कारप्रयोगेषु च ज्ञानदर्शनसुखादिरूपा असाधारणा च अमूर्तत्वासंख्यातप्रदेशसूक्ष्मत्वलक्षणा धर्माधर्मगगनास्तिकायपुद्गलैः साधारणा यदपि च सत्त्वप्रमेयत्वधर्मित्वगुणित्वादयः सर्वपदार्थैः साधारणास्तेऽपि च प्रतीयन्ते । –आव० नि० मलय० पृ० १७० A । (४) सकलादेशविकलादेशयोः स्वरूपं प्रायः सर्वेषामेकमत्येऽपि केचिदकलङ्काद्याचार्याः सप्तसु भङ्गेषु सर्वानपि भङ्गान् एकधर्ममुखेन अशेषधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादकत्वात् सकलादेशरूपान् एकधर्मं प्रधानतया अन्यधर्मांश्च गौणतयाऽभिधानसमये विकलादेशात्मकान् स्वीकुर्वन्ति । अपरे च सिद्धसेनगणिप्रभृतयः सदसदवक्तव्यरूपं भङ्गत्रयं सकलादेशत्वेन शिष्टांश्च चतुरो भङ्गान् विकलादेशरूपेण मन्यन्ते । अकलङ्कादीनां ग्रन्थाः– 'तथा चोक्तम्–सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति । –सर्वार्थसि० १।६ । यदा यौगपद्यं तदा सकलादेशः । एकगुणमुखेनाशेषवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः । तदादेशवशात् सप्तभंगी प्रतिपत्तव्या । यदा तु क्रमः तदा विकलादेशः (पृ० १८०) निरंशस्यापि गुणभेदादंशकल्पना विकलादेशः । तत्रापि तथा सप्तभंगी । –राजवा० पृ० १८१ । नयचक्र० पृ० ३४८ B । सकलादेशो हि यौगपद्येनाशेषधर्मात्मकं वस्तु कालादिभिरभेदवृत्त्या प्रतिपादयति अभेदोपचारेण वा तस्य प्रमाणाधीनत्वात् । विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचारेण भेदप्राधान्येन वा । –तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३६ । प्रमेयक० पृ० ६८२ । सप्तभंगित० पृ० ३२ । प्रमाणनय० ४।४४ ४५ । अनेकान्तव्य० पृ० २० । 'इयं सप्तभङ्गी प्रतिभङ्गं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च ।' –प्रमाणनय० ४।४३ । गुरुतत्त्ववि० पृ० १५ A । शास्त्रवा० टी० पृ० २५४ A । "यदा मध्यस्थभावनार्थित्ववशात् किंचिद्धर्मं प्रतिपादयिषवः शेषधर्मस्वीकरणनिराकरणविमुखतया धिया वाचं प्रयुञ्जते तदा तत्त्वचिन्तका अपि लौकिकवत् सम्मुग्धाकारतयाचक्षते–यदुत जीवोऽस्ति

तत्र जीव इत्युक्ते जीवशब्दो योग्यतापेक्षोऽनादिसङ्केतः स्वभावभूताऽन्यापोहस्वार्थ-प्रतिपादनः न्यक्षेण प्रतिपक्ष निरस्य जीवमात्रमेव अभिदध्यात् ततः स्यात्पदप्रयोगात् सर्वथैकान्तत्यागात् स्वरूपादिचतुष्टयविशेषणविशिष्टो जीवः अभिधीयते इति

वक्ता प्रमाता भोक्तेत्यादि, अतः सम्पूर्णवस्तुप्रतिपादनाभावात् विकलादेशोऽभिधीयते नयमतेन सम्भवद्धर्माणां दर्शनमात्रमित्यर्थः। यदा तु प्रमाणव्यापारमविकलं परामृश्य प्रतिपादयितुमभिप्रयन्ति तदाऽङ्गीकृतगुणप्रधानभावा अशेषधर्मसूचककथञ्चित्पर्यायस्याच्छब्दभूषितया सावधारणया वाचा दर्शयन्ति 'स्यादस्त्येव जीव' इत्यादिकया, अतोऽयं स्याच्छब्दसंसूचिताभ्यन्तरीभूतानन्तधर्मकस्य साक्षादुपन्यस्तजीवशब्दक्रियाभ्यां प्रधानीकृतात्मभावस्यावधारणव्यवच्छिन्नतत्समवस्य वस्तुनः सन्दर्शकत्वात् सकलादेश इत्युच्यते। प्रमाणप्रतिपन्नसम्पूर्णार्थकथनमिति यावत्। तदुक्तम्–सा ज्ञेयविशेषगतिर्नयप्रमाणात्मिका भवेत्तत्र। सकलग्राहि तु मानं विकलग्राही नयो मतः।"–न्यायावता० टी० पृ० ९२। सिद्धसेनगणिप्रभृतीनां प्रथा–एवमेते त्रयः सकलादेशा भाष्येणैव विभाविताः संग्रहव्यवहारानुसारिण आत्मद्रव्ये। सम्प्रति विकलादेशाश्चत्वारः पर्यायनयाश्रया वक्तव्यास्तत्प्रतिपादनार्थमाह भाष्यकारः–देशादेशेन विकल्पयितव्यमिति। विवक्षायत्ता च वचसः सकलादेशता विकलादेशता च द्रष्टव्या। द्रव्यार्थजात्यभेदात्तु सर्वद्रव्यार्थभेदानेकं द्रव्यार्थं मन्यते, यदा पर्यायजात्यभेदाश्चैकं पर्यायार्थं सर्वपर्यायभेदेन प्रतिपद्यते, तदा स्वविवक्षितस्वजातिभेदत्वात् सकलं वस्तु एकद्रव्यार्थाभिन्नम् एकपर्यायार्थाभेदोपचरितं तद्भिन्नैकाभेदोपचरितं वा तन्मात्रमेकमद्वितीयादि ब्रुवन् सकलादेशः स्यान्नित्य इत्यादिस्त्रिविधोऽपि नित्यत्वानित्यत्वयुगपद्भाववक्तव्यत्वरूपवाक्यार्थाभिधायी। यदा तु द्रव्यपर्यायसामान्याभ्यां तद्विशेषाभ्यां वा वस्तुन एकत्वनानात्मकं समुच्चयाश्रयः चतुर्थविकल्पः, स्यादयुगपद्वृत्त्या क्रमवृत्त्या च पञ्चमषष्ठसप्तममुच्यते तथाविवक्षाविधानं तदा तु तथा प्रतिपाद्यन् विकलादेशः।'–तत्त्वार्थभा० टी० पृ० ४१५। 'तत्र विवक्षाकृतप्रधानभावसदाद्यनेकधर्मात्मकस्यापेक्षितापराशेषधर्मक्रोडीकृतस्य वाक्यार्थस्य स्यात्कारपदलाञ्छितवाक्यात् प्रतीतेः स्यादस्ति घटः स्यान्नास्ति घटः स्यादवक्तव्यो घट इत्येते त्रयो भङ्गाः सकलादेशाः विवक्षाविरचितैकधर्मानुरक्तस्य स्यात्कारपदसंसूचितसकलधर्मस्वभावस्य धर्मिणो वाक्यार्थरूपस्य प्रतिपत्तेः चत्वारो वक्ष्यमाणका विकलादेशाः–स्यादस्ति च नास्ति च घट इति प्रथमो विकलादेशः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च घट इति द्वितीयः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति तृतीयः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति चतुर्थः।'–सन्मति० टी० पृ० ४४६। उ० यशोविजयः यद्यपि शास्त्रवा० टी० जैनतर्कभा० गुरुतत्त्वविनिश्चयादौ सप्तानामपि भङ्गानां अकलङ्कोपज्ञानां सकलविकलादेशोभयरूपता सिद्धान्तीकृता तथापि तेन अष्टसहस्रीविवरणे 'आद्यास्त्रयो भङ्गाः सकलादेशाः शिष्टाश्च चत्वारो विकलादेशाः' इत्यपि तत्त्वार्थभाष्यसमूचित सिद्धसेनगणिव्यावर्णितं कक्षीकृतम्। तथाहि–' किन्त्वाद्यभङ्गद्वयघटकनिजपररूपयोः शुद्धग्राहिकया व्यवस्थापन एव नयभेदो मतभेदो वा युज्यते तृतीयभङ्गस्तु अवक्तव्यलक्षणः ताभ्यां युगपदादिष्टाभ्यां तदभेदादनेकभेदः इत्यतः त्रयो निरवयवद्रव्यविषयत्वात् सकलादेशरूपाः, सदसत्त्व सदवक्तव्यादयश्चत्वारस्तु चरमाः सावयवद्रव्यविषयत्वाद्विकलादेशरूपाः, इत्थंभेदविवक्षायां तु क्रमेणापि सदसत्त्वविवक्षा सम्प्रदायविरुद्धत्वान्नोदेति इति न निरवयवद्रव्यविषयत्वमस्माभिरस्मदभिमतोक्तमेव युक्तमिति मन्तव्यम्।'–अष्टसह० विव० पृ० २०८ B। अयमेव सिद्धान्तः शास्त्रवार्तासमुच्चयटीकायाम् केचित्तु इति कृत्वा निर्दिष्टः। तथाहि–"केचित्तु अनन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादकत्वाविशेषेऽपि आद्यास्त्रय एव भङ्गा निरवयवप्रतिपत्तिद्वारा सकलादेशाः अग्रिमास्तु चत्वारः सावयवप्रतिपत्तिद्वारा विकलादेशाः, इति प्रतिपन्नवन्तः।'–शास्त्रवा० टी० पृ० २५४ B।

1–पेक्षानादि–ज० वि०।

स्वेष्टसिद्धिः । नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तः । 'स्याज्जीव एव' इत्युक्तेऽनेकान्तविषयः स्याच्छब्दः, 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्युक्ते एकान्तविषयः स्याच्छब्दः ।

उपयोगौ व्यापारौ, कतिसंख्यौ ? **द्वौ** । कस्य ? **श्रुतस्य** श्रुताख्यप्रमाणस्य । किंनामानौ ? **स्याद्वादनयसंज्ञितौ**, स्याद्वादसंज्ञितः

कारिका ४ – नयसंज्ञितश्च । कोऽसौ स्याद्वादः कश्च नय इत्याह–**'स्याद्वादः'** इत्यादि । **स्याद्वादो** भवति, कोऽसौ ? **सकलादेशः**, सकलस्य सम्पूर्णस्य वस्तुन **आदेशः** कथनम् । **नयस्तु विकलसंकथा** वस्त्वेकदेशकथनम् ।

---

(१) मलयगिर्याचार्याः स्यात्पदप्रयोगं प्रमाणवाक्य एव उररीकुर्वन्ति । एतन्मतानुसारेण सर्वेषां नयानां मिथ्यारूपत्वात् । अनेन स्यात्पदलाञ्छिता नयाः सम्यग् इत्यकलङ्कमतस्य समालोचना कृता । प्रत्यालोचिता च सा उ० यशोविजयगणिना । तत्रैव समन्तभद्रसिद्धसेनदिवाकराभिप्रायमनुसृत्य अकलङ्केन विवृतमेतं मतं हेमचन्द्रादयः समर्थयन्ति । मलयगिरिकृता समालोचना इत्थम्–"नयचिन्तायामपि च ते दिगम्बराः स्यात्पदप्रयोगमिच्छन्ति तथा चाकलङ्क एवाह–नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्' इति । अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता–नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्यं न केवलं प्रमाणवाक्यमित्यपिशब्दार्थः तथैव स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, यथा स्यादस्त्येव जीव इति । स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति ।' तदेतदयुक्तम्, प्रमाणनयविभागाभावप्रसक्तेः तथाहि–स्याज्जीव एव इति किल प्रमाणवाक्यम् स्यादस्त्येव जीव इति नयवाक्यम् । एतच्च द्वयमपि लघीयस्त्रयालङ्कारे साक्षादकलङ्केनोदाहृतम् अत्र चोभयत्राप्यविशेषः, तथाहि–स्याज्जीव एवेत्यत्र जीवशब्देन प्राणधारणनिबन्धना जीवशब्दवाच्यताप्रतिपत्तिः अस्तीत्यनेनो... एवकारप्रयोगाज्जीवशब्दवाच्यतानिषेधः, स्याच्छब्दप्रयोगतोऽसाधारणसाधारणधर्माक्षेपः । स्यादस्त्येव जीव इत्यत्र जीवशब्देन जीवशब्दवाच्यताप्रतिपत्तिः अस्तीत्यनेनोद्भूतविवक्षितास्तित्वावगतिः एवकारप्रयोगात् यत्किञ्चित् सकलेऽपि जगति जीवस्य नास्तित्वं तदपच्छेदः, स्यात्प्रयोगात् साधारणासाधारणप्रतिपत्तिरित्युभयत्राप्यविशेष एव । –आव० नि० मलय० प० ३७१ A । उ० यशोविजय एतन्मलयगिरिकृतम् आकलङ्कमतालोचनं पूर्वपक्षीकृत्य इत्थं समाहितम्– अत्रेदमवधेयम्–यो नाम नयो नयान्तरापेक्षः तस्य प्रमाणान्तर्भावे व्यवहारनयः प्रमाणं स्यात् तस्य तत्पूर्वसमयप्रवृत्तग्राहकत्वेन सकलग्राहिनिश्चयविषयकत्वेन तत्सापेक्षत्वात् । शब्दनयानाञ्च निक्षेपचतुष्टयाभ्युपगन्तॄणां भावाभ्युपगन्तृशब्दनयविषयविषयकत्वेन तत्सापेक्षत्वात्प्रमाणत्वापत्तिः । नयान्तरवाक्यसंयोगेन सापेक्षत्वे च ग्राह्ये स्यात्पदप्रयोगेण सप्रतिपक्षनयद्वयविषयावच्छेदकस्यैव लाभात् तेनाऽनन्तधर्मात्मकत्वापरामर्शात् । न चैवं तस्याऽनेकान्ते सम्यगेकान्तप्रवेशानुपपत्तिः अवच्छेदकभेदं विना सप्रतिपक्षविषयसमावेशस्य दुर्वचत्वात् इष्यते चायम् । स्यात्पदमवच्छेदकभेदप्रदर्शकतयैव विवृतम् । अत एव स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकमेव तान्त्रिकैरुच्यते । सम्यगनेकान्तसाधकस्य अनेकान्ताक्षेपकत्वात् न त्वनन्तधर्मपरामर्शकम् अतो न स्यात्पदप्रयोगमात्राधीनमादेशसाकल्यं येन प्रमाणनयवाक्ययोर्भेदो न स्यात् किन्तु स्वार्थोपस्थित्यनन्तरसमानधर्माभिन्नोपस्थापकविषयप्रवृत्त्यधीनम् । सा च विवक्षाधीनेत्यादेशसाकल्यमपि तथेति नयप्रमाणवाक्ययोरित्थं भेद एव । मलयगिरिपादवचनं तु अप्रतिपक्षधर्माभिधानस्थले अवच्छेदकभेदाभिधानानुपयुक्तेन स्यात्पदेन साक्षादनन्तधर्मात्मकत्वाभिधानात् तत्र प्रमाणनयभेदानभ्युपगन्तृविदग्धदिगम्बरनिराकरणाभिप्रायेण योजनीयम् । —गुरुतत्त्ववि० प० १७ B ।

---

1 स्वेष्टसिद्धि ज वि० । 2 किंसंख्यौ ब० श्र० । 3 इत्याद्याह ब०

तत्र स्याद्वादपदं व्याचष्टे 'अनेकान्त' इत्यादिना। अनेकान्तात्मकस्य अनेकधर्मस्वभावस्य अर्थस्य जीवादेः कथनं स्याद्वादः। अत्रोदाहरणमाह–'यथा' इत्यादि। यथा इत्युदाहरणप्रदर्शने, जीवः पुद्गलः धर्मोऽधर्म आकाशं काल इति षड्द्रव्यरूपोऽर्थः, तस्य अनेकान्तात्मकत्वनिरूपणं स्याद्वादः।

विवृतिव्याख्यानम्–

तत्र जीवे तावदनेकान्तात्मकत्वं 'तत्र' इत्यादिना निरूपयति। तत्र तेषु जीवादिषट्पदार्थेषु मध्ये जीव आत्मा 'अनेकान्तः' इति सम्बन्धः। कैर्धर्मैः इत्याह–ज्ञानदर्शनवीर्यसुखैः। ननु दर्शनमेव पुरुषस्य स्वरूपं न ज्ञानादयः, तेषां प्रकृतिधर्मत्वात्, तत्कथं तैरसौ[3] अनेकान्तः? इत्यप्ययुक्तम्, प्रकृतिधर्मतां निराकृत्य तेषां तद्धर्मतायाः प्रत्यक्षपरिच्छेदे प्रतिपादितत्वात्। ततः सूक्तम्–'ज्ञानादिभिः जीवोऽनेकान्तः' इति। कथम्भूतैस्तैः इत्याह–असाधारणैः पुद्गलाद्यसम्भविभिः। ननु बुद्ध्यादयो नव आत्मनोऽसाधारणा गुणाः सन्ति तत्किमर्थमेते चत्वार एव दर्शिता इति चेत्? तेषामेव सहभुवां तद्गुणत्वप्रतिपादनार्थम्। इच्छादयो हि क्रमभाविनः पर्याया न गुणाः, अन्यथा भयहर्षशोककरुणामर्षौदासीन्यादीनामपि तद्गुणत्वप्रसक्तेः 'नवैव' इति सङ्ख्यानियमो दुर्घटः स्यात्। परैरपि तैरनेकान्तं दर्शयितुमाह–'अमूर्त्तत्व' इत्यादि। रूपादिरहितत्वम् अमूर्त्तत्वम्, न पुनः असर्वगतद्रव्यपरिमाणाभावः, जीवस्य मूर्त्तत्वप्रसङ्गात्। तस्य असर्वगतत्वेन विषयपरिच्छेदे प्रसाधितत्वात्। असङ्ख्यातप्रदेशत्वम् असङ्ख्यातावयवोपेतत्वम्, सूक्ष्मत्वं शुद्धस्य तस्य केवलज्ञानादन्यतोऽसाक्षात्करणम्, तैः अनेकान्तो 'जीवः' इति सम्बन्धः। किं विशिष्टैः साधारणासाधारणैः, साधारणैः गगनादावपि भावात्, असाधारणैः पुद्गलेष्वभावात्। पुनरन्यैस्तदनेकान्तं दर्शयन्नाह–'सत्त्व' इत्यादि। सुप्रसिद्धाः सत्त्वप्रमेयत्वागुरुलघुत्वधर्मित्वगुणित्वादयो धर्माः तैः। कथम्भूतैः? साधारणैः षट्स्वपि द्रव्येषु भावात्। तस्य एवंविधस्य जीवस्य आदेशात् कथनात् प्रमाणं स्याद्वादः तत्र तदविसंवादात् इति भावः। तथा तेन असाधारणोभय

(१) साङ्ख्य। 'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।' –योगसू० २।२०। (२) "प्रकृतेर्महानुत्पद्यते। महान् बुद्धिर्मतिः प्रज्ञा धृतिः ख्यातिरीश्वरो विश्वः इति पर्यायाः। आह–उक्तं प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यते इति? तत्र वक्तव्यं किं लक्षणा पुनर्बुद्धिरित्युच्यते–अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्॥"–साङ्ख्यका० युक्तिदी० पृ० १०८। (३) जीव। (४) अनेकधर्मात्मक। (५) ज्ञानादीनाम्। (६) जीवधर्मतायाः। (७) पृ० १९१। (८) वैशेषिका। 'नवानामात्मगुणानां बुद्धिसुखदुःखेच्छाप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणाम्..."–न्यायमं० पृ० ५०८। (९) ज्ञानदर्शनवीर्यसुखाख्याः। (१०) आत्मगुणत्व। (११) जीवस्य अनेकधर्मात्मकत्वम्। (१२) 'इयत्तावच्छिन्नपरिमाणयोगित्वं मूर्त्तत्वं तदभावोऽमूर्त्तत्वम्।' –सप्तप० पृ० ७२। 'असर्वगतद्रव्यपरिमाणं मूर्तिरिति हि पदार्थविदः।' –तत्त्ववि० पृ० १५८। (१३) जीवस्य। (१४) पृ० २६१। (१५) आगमन।

1 इत्याद्युदा–ब०, श्र०। 2–धारणगुणा ब०। 3–यान् गुणा ब०। 4–तत्त्वेन–श्र०। 5–पि भवात् ब०। 6 पुनरप्यन्यैः श्र०। 7–द सुप्रसि–श्र०। 8 षट्स्वपि द्रव्येषु आ०। 9 तथा तथा तेन श्र०।

साधारणधर्माधिकरणत्वेन अनेकान्तप्रकारेण इतरे पुद्गलादयः पदार्थाः परमागमतः परमागममाश्रित्य योज्याः ।

इदानीं नयं दर्शयन्नाह–'ज्ञ' इत्यादि । जीव इति धर्मिणो निर्देशः, ज्ञः चेतनास्वभाव इति साध्यस्य, सुखदुःखादिवेदनादिति हेतोः, इति एवं प्रयोगे आदिर्येषां अनित्यशब्दादेः स तथोक्तः, स चासौ विकलस्य धर्मान्तरनिरपेक्षस्य धर्मस्य आदेशश्च नयः । ननु किमिदं साकल्यं वैकल्यञ्च आदेशस्य यत 'स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसकथा' इति स्यात् ? इत्यत्राह–'साकल्यम्' इत्यादि । सकलस्य अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो भावः साकल्यम् अनन्तधर्मात्मकता । तत्प्रतिपादकं वचनम् एवमुक्तम्, विषयस्य विषयिण्युपचारात् । विकलस्य एकदेशस्य भावो वैकल्यम्–एकान्तः, तदादेशः तथोक्तः । कुतः ? इत्याह–'धर्मान्तर' इत्यादि । विवक्षितधर्माद् अन्यो धर्मः तदन्तरं तस्य अनिराकृतेः, नान्यथा दुर्नयत्वप्रसङ्गात् । ननु शब्दस्य अर्थे सम्बन्धाभावतः प्रवृत्तेरेवाऽसम्भवात् न सकलविकलादेशप्ररूपणं युक्तम्, इत्यत्राह–'तत्र' इत्यादि । तत्र अनन्तात्मके तत्त्वे स्थिते सति, यदि वा तत्र एवं स्याद्वादनयस्वरूपे निरूपिते सति 'जीव' इत्युक्ते जीवशब्दः अन्यान्तरविशेषरहितं जीवमात्रमेव अभिदध्यात् । कथम्भूतम् ? इत्याह–'योग्यता' इत्यादि । योग्यतायाम् अपेक्षा यस्य योग्यतां वा अपेक्षते इति योग्यतापेक्षः, अनादिः सङ्केतो यस्य स तथोक्तः । 'योग्यता' इत्यनेन तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धविरहे नित्यैकरूपसम्बन्धाऽसत्त्वेऽपि च शब्दार्थयोः वाच्यवाचकभावं दर्शयति, योग्यतास्वभावसम्बन्धसम्भवात् । एतच्च सप्रपञ्चं प्राक् प्रपञ्चितम् ।

ननु योग्यतातोऽपि शब्दस्य अर्थप्रतिपादकत्वे एकस्माच्छब्दात् युगपदनेकार्थप्रतिपत्तिः स्यात्, सर्वस्य शब्दस्य सर्वत्रार्थे प्रतिपादनयोग्यतासम्भवात्, तदनुपपन्नमिति 'सङ्केत' इत्यनेन दर्शयति–सत्यामपि अनेकार्थप्रतिपादनयोग्यतायां विनियतसङ्केतवशाद् विनियतार्थप्रतीत्युपपत्तेः । एतच्च 'प्रमाणं श्रुतम्' [लघी० का० २६] इत्यत्र प्ररूपितम् । ननु यदा जीवशब्दोऽर्थमभिधत्ते न तदा पूर्वसङ्केतोऽस्ति तत्कथं तदपेक्षस्यास्य नियतार्थप्रतीतिहेतुत्वमिति चेत्, न, 'अस्येदं वाच्यम् इदं वाचकम्' इति चित्तस्य सङ्केतत्वात्, तस्य च तदापि भावात् । न चेदमवान्तरकल्पितम् इति अनादिपदेन दर्शयति । ननु जीवमात्रमभिदध्यात् इत्ययुक्तम्, अन्यापोहस्यैव जातेरेव

(१) साकल्यशब्देन । (२) अनन्तधर्मात्मकत्वरूपसाकल्यस्य वाच्यस्य । (३) वाचके स्याद्वादे सकलादेशे । (४) न तु धर्मान्तरस्य प्रतिक्षेपः । (५) सौगत । (६) सर्वशब्दस्य सर्वार्थप्रतिपादनमनुपपन्नम् । (७) अनादिसङ्केतापेक्षस्य जीवशब्दस्य । (८) चित्तस्य । (९) बौद्धा । (१०) मीमांसका ।

1–कान्तेन प्रका–ब० । 2 इतरेषु पु–श्र० । 3–कल्प वादेन–श्र० । 4 अनन्तात्मकत्वे तत्त्वे ब० । 5–र्या नियत–श्र० । 6 पूर्व सङ्केतो–ब० श्र० । 7 चेतस्य सङ्केतस्यात् ब० ।

अन्योन्यविभिन्नतद्द्वयस्यैव वा शब्दार्थत्वात्, इत्यत्राह–'**स्वभाव**' इत्यादि। **स्वभावभूत** अन्यतः सर्वतोऽपोह परस्पेण असत्त्वं यस्य स तथोक्तः स चासौ **स्वार्थश्च** स्वाभिधेय तस्य **प्रतिपादनः जीवशब्दः तन्मात्रमभिदध्यात्**। किं कृत्वा ? **निरस्य**। कम् ? **प्रतिपक्षम्**, प्रत्यनीक मतम् अपोहादिमात्राभिधायित्वलक्षणम्। कथम् ? **न्यक्षेण** सामस्त्येन। यथा च अपोहादेः शब्दार्थता न घटते तथा **'प्रमाण श्रुतमर्थेषु'** [लघी० का० २६] इत्यत्र प्रपञ्चत प्रतिपादितम्। ततः तस्मात् न्यायात् स्यात्पदप्रयोगात् सर्वथैकान्तस्य 'सन्नेव जीवः, असन्नेव, द्रव्यरूप एव, पर्यायरूप एव वा' इत्येवंरूपस्य त्यागात् निरासात्, स्वरूपादिचतुष्टयविशेषणविशिष्टः स्वद्रव्यक्षेत्रादिविशेषणविशिष्टः जीवः जीवशब्देन अभिधीयते इति स्वेष्टस्य अनेकान्तात्मनो जीवस्य सिद्धिः।

एवं प्रमाणवाक्यमुपदर्श्य साम्प्रतं नयवाक्यं दर्शयन्नाह–'**नयोऽपि**' इत्यादि। **नयोऽपि** नयवाक्यमपि न केवलं प्रमाणवाक्यम्, तथैव स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तः सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, अन्यथा मिथ्यैकान्तगोचरः स्यादिति। अधुना एवकारप्रयोगोपयोग दर्शयन्नाह–'**स्यात्**' इत्यादि। '**अनेकान्तः**' इत्येतदनुवर्तमानमिह सम्बध्यते। ततोऽयमर्थः सिद्धः–स्यात् कथञ्चित् जीव एव ज्ञानदर्शनसुखवीर्यैः धर्मैः अनेकान्तः नान्य इति एवकारार्थः। इत्येवमुक्ते एव वाक्ये प्रयुक्ते सति नैकान्तविषय किन्तु **अनेकान्तविषयः स्याद् भवेत् शब्दः 'स्याज्जीव एव'** इतिवाक्यम् अनेकान्तरूपस्य तदर्थे अभिधानात्। **'स्यादस्त्येव जीवः'** इत्युक्ते सति **एकान्तविषयः** सम्यगेकान्तगोचरः **स्याद्** भवेत् **शब्दः 'स्यादस्त्येव'** इति वाक्यम्, प्रधानतः तदस्तित्वैकान्तप्रतिपादनात्। एवमुत्तरभङ्गेष्वपि वक्तव्यम्।

ननु न सर्वत्र वाक्ये लौकिकाः स्यात्कारमेवकारञ्च प्रयुञ्जते, अन्यथैव तत्प्रयोगदर्शनात्, अतो न युक्तमेतदित्यारेकापनोदार्थमाह–

अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते।
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत् प्रयोजकः ॥ ६३ ॥

---

(१) योगा। (२) स्यात्पदप्रयोगाभावे। (३) जीवस्य। (४) स्याज्जास्त्येवेत्यादिषु। (५) स्यात्पदप्रयोगनियम। (६) 'प्रतीयतेऽधिगम्यते। कः ? स्यात्कारः स्यादिति पदमव्ययम्, क्व ? सर्वत्र शास्त्रे लोके वा। कस्मिन् विषये ? विधौ सत्त्वादौ साध्ये। न केवलं विधौ किन्तु निषेधेऽपि असत्त्वादावपि साध्ये। अन्यत्रापि अन्यस्मिन् अनुवादातिदेशादावपि। किंविशिष्टोऽपि अप्रयुक्तोऽपि स्यादस्ति जीव इत्यनुक्तोऽपि। तर्हि कुतः प्रतीयते इति चेदत्राह–अर्थात् सामर्थ्यात्। चेद्यदि कुशलः स्याद् व्यवहारे प्रबुद्धः स्यात्। कः ? प्रयोजकः प्रतिपादकः।"–लघी० ता० पृ० ८६। उद्धृतोऽयम्–' विधौ निषेधेऽन्यत्रापि '–आव० नि० मलय पृ० ३६९ B। गुरुतत्त्ववि० पृ० १६ A। तुलना–' विवक्षातोऽप्रयोगेऽपि सर्वोऽर्थोऽस्य प्रतीयते ॥ व्यवच्छेदफलं वाक्यं यथा चैत्रो धनुर्धरः। पार्थो धनुर्धरो

1–प्रद्वय–आ०,ब०। 2 तयो स आ०। 3 नयोऽपि नास्ति ब०। 4 'नयवाक्यमपि' नास्ति आ०। 5–पदयोग–ब०। 6 प्रयुंजते आ०। 7–युक्तोऽपि मु० लघी०।

विवृतिः–क्वचित्स्यात्कारमनिच्छद्भिः सर्वथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात् । अव धारणाभावेऽपि अनेकान्तनिराकरणस्य अवश्यभावित्वात् अन्यथा प्रमाणनययोर-भेदप्रसङ्गः । किं बहुना विधिनिषेधानुवादातिदेशादिवाक्येषु कारकेषु कर्त्रादिषु स्वार्थादिषु प्रातिपदिकार्थेषु साधनदूषणतदाभासवाक्येषु स्याद्वादमन्तरेण प्रस्तुताऽप्रसिद्धिः इत्याबालप्रसिद्धम् ।

अप्रयुक्तोऽपि न केवलं प्रयुक्तः सर्वत्र वाक्ये स्यात्कारः, उपलक्षणमेतत्, तेन एवकारोऽपि प्रतीयते । कुत इत्याह–अर्थात् सामर्थ्यात् ।

कारिकार्थ – तथाहि–'पानीयमानय' इत्युक्ते यदि पानीयस्य अन्यस्य चानयनं लौकिकानामभिप्रेतं स्यात्तदा पानीयपदोपादानमनर्थकं स्यात् । अथाप्यनानयनमभिप्रेतम्, आनयनग्रहणं व्यर्थम् । अस्ति च तदुभयग्रहणम्, अतः एवकारप्रतीतिः इति । क ? विधौ निषेधेऽपि, भिन्नप्रक्रमः अपिशब्दः 'अन्यत्र' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । अन्यत्रापि अनुवाद-अतिदेशादावपि । अथ यदि सर्वत्र स प्रतीयते 'अङ्गुल्यग्रे हस्ति-यूथशतमास्ते" [ ] इत्यादावपि प्रतीयेत । तथा च "सर्वस्योभयरूपत्वे" [प्रमाणवा० ३।१८१] इत्यादिदोषानुषङ्गः स्यात् इत्यत्राह–'कुशलः' इत्यादि । यथा योऽर्थः प्रमाणतः प्रतिपन्नः तथैव तस्य प्रतिपादकः प्रयोजकः कुशलो भवेत् नान्यथा, स चेत् यदि प्रयोजकः शब्दानामिति ।

व्यतिरेकमुखेन कारिकां विवृण्वन्नाह–'क्वचित्' इत्यादि । क्वचित् विध्यादिवाक्ये

विवृतिव्याख्यानम्– स्यात्कारमनिच्छद्भिः एकान्तवादिभिः सर्वथा धर्मापेक्षया इव धर्म्यपेक्षयाऽपि, यद्वा यथा धर्म्यपेक्षया तथा धर्मापेक्षयापि एकान्तः सर्वथैकान्तः सोऽभ्युपगतः स्यात् तत्र च प्रमाणविरोध इत्यभिप्रायः । अतस्तद्विरोधं परिहर्तुमिच्छता सर्वत्र स्यात्कारोऽभ्युपगन्तव्यः । एवं व्यतिरेकमुखेन सर्वत्र स्यात्कारं प्रसाध्य इदानीं तथैव एवकारं प्रसाधयन्नाह–'अवधारण' इत्यादि । अवधारणस्य एवकारस्य अभावेऽपि न केवलं स्यात्काराभावे 'सर्वथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात्' इति सम्बन्धः । कुत एतदित्यत्राह–अनेकान्तनिराकरणस्य अवश्यम्भावित्वादिति ।

नील सरोजमिति वा यथा । –प्रमाणवा० ४।१९१ ९२। सामर्थ्याच्चाप्रयोगेऽर्यो गम्य स्यादेवकारयोः ।' –सिद्धिवि० टी० प० ५०७ B । न्यायवि० का० ४५३। सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात् प्रतीयते । यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः ॥ –तत्त्वार्थश्लो० प० १३७। स्या० रत्ना० पृ० ७१८। रत्नाकरावता० पृ० ६१ । सप्तभङ्गित० प० ३१ । स्या० म० पृ० २७९ । नयप्रदीप० पृ० ९६ A ।

(१) तुलना– अत्रान्यत्रापि इति–अनुवादातिदेशादिवाक्येषु । –आव० नि० मलय० पृ० ३६९ B । (२) पृ० ५३० टि० ३ । (३) पृ० ६२० टि० ५ ।

1–निराकाराभ्युपगमस्यावश्य–ई० वि० । 2–एवतो न ब० । 3–चमेतेन एव–च । 4 चानयनं ब० श्र० । 5 द्रष्टव्यम ब० । 6–पेक्षया तथा धर्मापेक्षयाप्येकान्त श्र० । 7–मुखेन आ० । 8 अभावे म के–ब० । 9–दित्याह ब० ।

तथाहि–'ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीव एव' इति अन्ययोगव्यवच्छेदेन जीवस्यैव एतल्लक्षणलक्षितस्य अनेकान्तानभ्युपगमे अजीवोऽपि तल्लक्षण स्यादिति बहिरर्थव्यवस्थाविलोप, तद्विलोपे च सकलप्रमाणप्रमेयादिव्यवहारापहार। 'तल्लक्षण एव स' इति अयोगव्यवच्छेदानभ्युपगमे च रूपादिरप्येतल्लक्षण स्यात् इति जीवेतरविभागाभाव स्यात्। 'भवत्येव' इत्यवधारणाभावे अत्यन्तायोगव्यवच्छेद स्यात्।

ननु साक्षात्प्रयुक्तस्य सामर्थ्यगम्यस्य वा एवकारस्यैव प्रतीतिर्युक्ता तत्साध्यस्य अयोगादिव्यवच्छेदफलस्य सर्वत्र वाक्ये सभवात् न पुन स्यात्कारस्य निष्फलत्वात्। उक्तञ्च–

"अयोगमपरैर्योगमत्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य निपातो व्यतिरेचक ॥" [प्रमाणवा० ४।१९०]

---

(१) "विशेष्यसङ्गतएवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदबोधक, यथा पार्थ एव धनुर्धर। अन्ययोगव्यवच्छेदो नाम विशेष्यभिन्नतादात्म्यादिव्यवच्छेद। तत्र एवकारेण पार्थान्यतादात्म्याभावो धनुर्धरे बोध्यते। तथा च पार्थभिन्नतादात्म्याभाववद्धनुर्धराभिन्न पार्थ इति बोध।"–सप्तभगि० पृ० २६। तत्र विशेष्यगतत्वस्थले पार्थ एव धनुर्धर इत्यादौ अन्यतादात्म्यव्यवच्छेदोऽर्थ। अन्यत्वञ्च समभिव्याहृतपदार्थापेक्षिकम्। तथा च पार्थान्यतादात्म्याभाववद्धनुर्धराभिन्न पार्थ इति बोध। –वैयाकरणभू० द० पृ० ३७०। "यद्वा पार्थान्यस्मिन् प्रशस्तधनुर्धरत्व व्यवच्छिद्यते।"–वाच०। न्यायको० पृ० १९१। (२) ज्ञानदर्शनोपयोग। (३) एवकाराभावे अजीवोऽपि ज्ञानादिमान् स्यात्तथा च सर्वस्य चेतनात्मकत्वप्राप्त्या बाह्यद्रव्यस्य अचेतनस्य सर्वथाऽभाव स्यादिति भाव। (४) बाह्यार्थापलाप हि प्रमाणान्यव्यवस्थाऽभाव, बाह्यार्थापेक्षया हि ज्ञाने प्रमाणतदाभास व्यवहारो भवति 'बहि प्रमेयापेक्षाया प्रमाण तन्निभञ्च ते" (आप्तमी० का० ८३) इत्यभिधानात्। (५) तानि ज्ञानदर्शनादीनि लक्षणानि यस्य जीवस्य असौ तल्लक्षण। (६) "विशेषणसङ्गतएवकारोऽयोगव्यवच्छेदबोधक, यथा शङ्ख पाण्डुर एवेति। अयोगव्यवच्छेदो नाम उद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावाप्रतियोगित्वम्।'–सप्तभगि० पृ० २५। 'विशेषणसङ्गतत्वस्थले अयोगव्यवच्छेद शङ्ख पाण्डुर एव इत्यादौ शङ्खत्वावच्छेदेन पाण्डुरत्वस्वसमवायाभावव्यवच्छेदबोधनात्।"–वैयाकरणभू० द० पृ० ३७०। "अत्र शङ्खत्वावच्छेदेन पाण्डुरत्वायोगव्यवच्छेदो बुध्यते। अथवा विशेष्ये शङ्खे पाण्डुरत्वायोगव्यवच्छेदो बोध्यते।' –(म० प्र० १ प० ७)"–न्यायको० पृ० १९१। (७) एतस्य जीवस्य लक्षण स्यात्। (८) जीव ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो भवत्येव। (९) "क्रियासङ्गतएवकारोऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधक यथा नील सरोज भवत्येव।'–सप्तभगि० पृ० २६। वैयाकरणभू० द० पृ० ३७०। 'सरोजे नीलत्वात्यन्तायोगो व्यवच्छिद्यते।"–वाच०। न्यायको० पृ० १९२। (१०) एवकारसाध्यस्य। (११) 'अयोग योगम परस्य निपात एवकारो व्यतिरेचक नियामक क्वचिद् धर्मस्य विशेषणस्य अयोग व्यवच्छिनत्ति। क्वचिदपर विशेष्यादन्य योग व्यवच्छिनत्ति क्वचिदत्यन्तायोग व्यवच्छिनत्ति। ननु निपातो न स्वय वाचक किन्तु द्योतक तदस्य कथमयमर्थप्रभेद इत्याह–विशेषणविशेष्याभ्या क्रियया च सहोदित। द्योतकत्वादेव निपातो विशेषणेन सहोदितोऽयोगस्य व्यवच्छेदक। विशेष्येण सहोक्तोऽन्ययोगस्य, क्रियया च सहोक्तोऽत्यन्तायोगस्येति विशेषणादिपदवाच्य एव अयोगव्यवच्छेदादि तत्सहोक्तनिपातद्योत्य इत्यर्थ। –प्रमाणवा० मनोरथ० ४।१९०। तुलना–सिद्धिवि०, टी० पृ० ५०७A। "यदविनिश्चय–अयोग योगमपर –षड्द० बृह० प० १४। न्यायाव० टी० टि० पृ० १७। "यदुक्तम्–अयोगमन्ययोगञ्च अत्यन्तायोगमेव च। व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मत ॥'–काव्यप्र० टी० पृ० ८८।

1–स्यानभ्यु–आ०। 2–क्षण स्यात आ०। 3–न्य योगादि–व०।

निपात एवकारो व्यतिरेचकः निवर्त्तकः । तत्र 'चैत्रो धनुर्धर एव' इत्यत्र अयोगव्यवच्छेदः, तथाहि–परप्रतिपत्तये वाक्यं प्रयुज्यमानं यदेव परेण व्यामोहादाशङ्कितम् तदेव व्यवच्छिनत्ति, चैत्रश्च लोके धनुर्धरो न प्रतीतः, ततश्चैतस्य अधनुर्धरत्वशङ्काव्यवच्छेदेन धनुर्धरत्वविधानार्थं 'चैत्रो धनुर्धर एव' इति वाक्यं प्रयुज्यते । 'पार्थ एव धनुर्धरः' इत्यत्र अन्ययोगव्यवच्छेदः । नहि पार्थे अधनुर्धरत्वाशङ्का कस्यचिदस्ति धनुर्धरत्वेन अखिलजनप्रसिद्धत्वात्तस्य । तस्मात् यदतिशयवद्धानुर्धरत्वं तत् पुरुषान्तरसाधारणमाशङ्कितमिति तद्व्यवच्छेदाय 'पार्थ एव धनुर्धरः' इति वाक्यं प्रयुज्यते । 'नीलं सरोजं भवत्येव' इत्यत्र तु अत्यन्तायोगव्यवच्छेदः, यदा हि सरोजं नीलवर्णविविक्तं प्रसिद्धमिति नीलत्वमस्य नास्तीति आशङ्कितं भवति तदा तद्व्यवच्छेदाय 'नीलं सरोजं भवत्येव' इति वाक्यं प्रयुज्यते इति ।

तदसमीक्षिताभिधानम्, स्यात्कारमन्तरेण इष्टानिष्टयोर्विधिनिषेधानुपपत्तेः, तथाहि 'पार्थ एव धनुर्धरः' इत्युक्ते सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामन्यपुरुषाणां धानुर्धर्याभावः प्रतीयते, तत्र च प्रत्यक्षादिविरोधः । अथ विशिष्टे तदन्यपुरुषेषु प्रतिनियतदेशकालापेक्षया प्रतिषेद्धुमिष्टं न धनुर्धरत्वमात्रं ततोऽयमदोषः; ननु अयमर्थः स्यात्कारप्रसादादेव प्रत्येतुं शक्यः इति, एतत्प्रयोजनत्वात् कथमसौ निष्फलः यतः साक्षात्प्रयुक्तस्य सामर्थ्यगम्यस्य वा अस्य सर्वत्र वाक्ये प्रतीतिर्न स्यात् ? तथा 'चैत्रो धनुर्धर एव'

(१) यत्र धर्मिणि धर्मसद्भावः सन्दिह्यते तत्रायोगव्यवच्छेदस्य न्यायप्राप्तत्वात् । अत्र दृष्टान्तो यथा चैत्रो धनुर्धर इति । चैत्रे हि धनुर्धरत्वं सन्दिह्यते किमस्ति नास्तीति । ततश्चैत्रो धनुर्धर इत्युक्ते पक्षान्तरमधनुर्धरत्वं श्रोतुराकाङ्क्षोपस्थापितं निराकरोति अयोगव्यवच्छेदोऽत्र न्याय प्राप्तः । –प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० १५ । यत्र धनुर्धरत्वसन्देहात् विशेषणेन अयोगमात्रं व्यवच्छिद्यते । –प्रमाणवा० मनोरथ० ४।१९२ । (२) 'यथा पार्थो धनुर्धर इति सामान्यशब्दोऽप्ययं धनुर्धरशब्दः प्रकरणसामर्थ्यान्निरतिशयगुणवृत्तिरिह पार्थे हि धनुर्धरत्वं सिद्धमेवेति नाऽयोगाशङ्का । तादृशस्तु सातिशयः किमन्यत्राप्यस्ति नास्ति इत्यन्ययोगशङ्कायां श्रोतुर्यदा पार्थो धनुर्धर इत्युच्यते तदा सातिशयः पार्थ एव धनुर्धरो नान्य इति प्रतीयते । तेनात्र अन्ययोगव्यवच्छेदो न्यायप्राप्तः । –प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० १५ । "पार्थे धनुर्धरत्वं प्रसिद्धमेव किन्तु तादृशमन्यस्यापि किमस्तीति सन्देहे अन्ययोगव्यवच्छेदफलं विशेषणम् । –प्रमाणवा० मनोरथ० ४।१९२ । (३) अर्जुने । (४) 'न खलु सर्वमेव नीलं सरोजं यतोऽयोगव्यवच्छेदः स्यात् नापि सरोजमेव नीलं येन अन्ययोगव्यवच्छेदो भवेत् । किन्तु नीलं सरोजं सम्भवति न वा इत्यत्यन्तायोगसन्देहे विशेषणेन स एव व्यवच्छिद्यते । –प्रमाणवा० मनोरथ० ४।१९२ । (५) यादृशं धनुर्धरत्वं पार्थे न तादृगन्यत्र इति । (६) तुलना–'यत्रापि अन्ययोगव्यवच्छेदो भिन्नतस्तत्रापि योगविशेषो व्यवच्छिद्यते न योगसामान्यम् यादृक् पार्थे धनुर्धरता तादृगन्यत्र नास्तीति ।' –तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ४०९ । (७) स्यात्कार ।

1 'निपात एवकारो व्यतिरेचक' नास्ति ब० । 2 इत्यन्ययो–आ० । 3 तदेतदसमी–ब०, श्र० । 4–धानुर्धर्याभाव ब० । 5–स्यास्य सर्वत्र ब० ।

'नील सरोज भवत्येव' इत्यत्र अयोगाऽत्यन्तायोगयो सर्वथा व्यवच्छेदे चैत्र-धानुर्धर्ययो नीलसरोजयोश्च अन्यतरदेव स्यात्। अथ स्वस्वरूपापरित्यागेनैव अनयो अयोगाऽत्यन्ताऽयोगव्यवच्छेद नतु अन्योन्यस्वरूपस्वीकारेण अतोऽयमदोष, तन्न, स्यात्कारमन्तरेण अस्यार्थस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात्।

किञ्च, 'चैत्रो धनुर्धर' इत्यादिवाक्येषु धनुर्धरत्वादिभि अयोगादिव्यवच्छेद कुर्वता एवकारेण अधनुर्धरत्वादीनामशब्दवाच्यानामपि ततोऽन्यत्वान्निवृत्तिर्यदि विधीयते, तर्हि शूरत्वोदारत्वादिधर्माणामपि विधीयता शब्दवाच्येभ्यो धनुर्धरत्वादिभ्योऽन्यत्वाविशेषात्। अथ यो धर्मो यत्र नियम्यते तद्विरोधिन एव तत्र निवृत्ति चैत्रे च धनुर्धरत्वनियमे अधनुर्धरत्व विरुद्धम्, पार्थे च असाधारणधनुर्धरत्वविधौ सकलजगत्साधारण तद् विरुद्धम्, सरोजे च नीलत्वसभवविधौ तदसभवमात्र विरुद्धम्, अत तस्यैवाऽतो निवृत्ति नतु शूरत्वादिधर्माणाम् तेषा तदन्यत्वेऽप्यविरुद्धत्वात् इति, तदेतदन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायमनुसरति, एवविधप्रविभागस्य स्याद्वादानभ्युपगमे अनुपपत्ते। ननु तदभ्युपगमेऽपि शब्दानभिधेयत्वाविशेषे कथ विरोधिन एव निवृत्ति नतु सर्वस्य इति चेत्, तथा सामर्थ्यात्। स्वार्थप्रतिपादनाय हि शब्दप्रयोगो न व्यसनितया। स्वार्थश्च भावाभावात्मक प्रत्यक्षवत् शब्देऽपि प्रतिभासते। भावाभावव्यवहारश्च स्वरूपप्रतियोग्यपेक्षानिबन्धन। नच अविरुद्धस्य प्रतियोगित्व युक्तम्, अत कथ सर्वस्य निवृत्ते शङ्कापि इति? तत स्थितम् 'अवधारण' इत्यादि।

(१) तुलना–'अयोगव्यवच्छेदेन हि अस्तिना योग इष्यते। स च योग कि सामान्यरूपेण अस्तिना प्रत्याय्यतेऽथ विशेषरूपेण उतोभयरूपेणेति सर्वथा प्राक्तनदोषप्रसङ्ग। व्यवच्छेदोऽपि अस्तित्वसामान्यायोगस्य वा अस्तित्वविशेषायोगस्य वा उभयायोगस्य वा?"–तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ४०९। "चैत्रस्य धनुषा अयोगे व्यवच्छिन्ने योग प्रतिपादितो भवेत इतरथा चैत्रो धनुर्धर एवेति प्रयोगानुपपत्ति। सैव सर्वथा कथञ्चिद्वा स्यात्? आद्ये पक्षे चैत्रस्य धनुषाऽयोग व्यवच्छिन्न सति न चैत्रता सिद्ध्येत् धनुर्भाव सिद्ध्येत्। केषामित्याह–स्याद्वादविद्विषाम् एकान्तवादिनामित्यर्थ। –सिद्धिवि० टी० प० ५०८ B। (२) "अत्यन्तायोगव्यवच्छेदेऽपि अत्यन्तमयोगो नास्ति योग एव सर्वथा, अथवा कदाचिन्नास्ति कदाचिन्नास्तीत्येव च विकल्पद्वयेऽपि प्राच्य एव प्रसङ्गो योज्य।–तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ४०९। "यच्चान्यदुक्तं क्रियया सहोदितोऽत्यन्तायोगमेव च व्यवच्छिनत्ति निपातो व्यतिरेचक इति, तत्र दूषणमाह–प्राप्तमित्यादि। नील सरोज भवत्येव इति चेत यदि तर्हि समन्तात नित्य सर्वदा नील सरोजस्वरूप व्यक्तं यथा भवति तथेदं जगत् प्राप्तम्। अयमभिप्राय–सर्वथा कथञ्चिद्वा नील सरोज भवत्येव? प्रथमपक्षेऽयं दोष, अन्यत्र अनेकान्त इति। –सिद्धिवि० टी० प० ५१० A। (३) धनुर्धरत्वात्। (४) निवृत्ति विधीयताम्। (५) धनुर्धरत्वम्। (६) नीलत्वासभवमात्रम्। (७) एवकारात्। (८) धनुर्धरत्वादभिन्नत्वेऽपि। (९) धनुर्धरोऽपि स्यात् शूरश्च उदारश्च इति न कोऽपि विरोध। (१०) स्वरूपस्य प्रतियोगिनश्चापेक्षा स्वरूपापेक्षा भावव्यवहार प्रतियोग्यपेक्षाऽभावव्यवहार–आ० टि०।

1 व्यवच्छेदात्यन्त–ब०। 2 अथ स्वरूपा–ब०। 3 विधीयत श्र०। 4–यस्यते आ०। 5–वृत्ते श्र०। 6 ननु आ०। 7 स्वार्थस्वभावात्मक ब०। 8–स्वरूप प्र–श्र०। 9 निवृत्ते शङ्कापि आ०।

ननु 'जीवोऽस्ति' इत्युक्ते तत्र अस्तित्वम्, [1]'नास्ति' इत्युक्ते नास्तित्वम्, उभयवचनेन उभयं प्रतीयते अतो न युक्तम् 'अवधारण' इत्यादि, इत्यत्राह–'अन्यथा' इत्यादि। अनेकान्तनिरासस्य अवश्यभाविताभावप्रकारेण अन्यथा प्रमाणनययोरभेदप्रसङ्गात् कारणात् 'सर्वथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात्' इति सम्बन्धः। अवधारणाभावे धर्मिवत् धर्मेऽपि अनेकान्तप्रसङ्गात्। अपरमपि स्याद्वादमन्तरेण नश्यति इति दर्शयन्नाह–'किं बहुना' इत्यादि। किम्? न किञ्चित् बहुना 'उक्तेन' इत्यध्याहारः। विधिनिषेधानुवादातिदेशादिवाक्येषु, आदिशब्देन नियमादिवाक्यपरिग्रहः, कारकेषु कर्त्रादिषु, स्वार्थादिषु आदिशब्देन लिङ्गादिपरिग्रहः, प्रातिपदिकार्थेषु साधनदूषणतदाभासवाक्येषु, चशब्दः अत्र समुच्चायार्थो द्रष्टव्यः। स्याद्वादमन्तरेण 'प्रस्तुताऽप्रसिद्धिः' इति सम्बन्धः। इति एवम् आबालप्रसिद्धम् न स्वेच्छया कल्पितमिति यावत्।

ननु शब्दः सर्वोऽपि विवक्षाप्रतिबद्धत्वात् तामेव गमयति नार्थम्, अतोऽयुक्तमुक्तम्–'तत्र जीव इत्युक्ते' इत्याद्याशङ्क्याह–

वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान्।
वाञ्छितांश्च क्वचिन्नेति प्रसिद्धिरियमीदृशी ॥६४॥
स्वेच्छया तामतिक्रम्य वदतामेव युज्यते।
वैवक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्विति ॥६५॥

विवृतिः–वर्णपदवाक्यानां वाचकत्वं यथास्वम् आगमात् प्रतिपत्तव्यम्। वक्त्रभिप्रायाद् भिन्नस्यार्थस्य वाचकाः शब्दाः सत्यानृतव्यवस्थाऽन्यथानुपपत्तेः। अयं च प्रसङ्गोऽन्यत्र विस्तरेणोक्तः इति नेह प्रतन्यते। शब्दानामर्थव्यभिचारित्वे

(१) अनेकान्तनिरासोऽस्य भवतीति न–आ० टि०। (२) स्याज्जीव एवेति हि नयवाक्यम्, अत्र चेदवधारणं न क्रियते तदा यथा धर्मिणि जीवे अवधारणरहिते अनेकान्तोऽस्ति तथा धर्मेऽपि अस्तित्वाख्ये स प्राप्नोति नयवाक्येऽपि धर्मिण्यनेकान्तः धर्म एकान्तः –आ० टि०। (३) बौद्ध। (४) प्राहुरभिदधति। के? वर्णाः अक्षराणि गकारादीनि। तथा पदानि गवादीनि तथा वाक्यानि च गामानयेत्यादीनि। कान्? अर्थान् अभिधेयान्। किं विशिष्टान्? अवाञ्छितान् अविवक्षितान् भूम्यादीन् वाञ्छितांश्च विवक्षितानपि सास्नादिमदादीन्। क्वचित् मन्दबुद्धिषु प्रतिपाद्येषु न प्राहुः तेषां तदोर्थाधिगमाभावात् इत्येवं प्रकारा सर्वजनप्रतीता प्रसिद्धिः वर्तते। ईदृशी विचित्रा व्यवहारिभिरभ्युपगन्तव्या तथैवार्थक्रियोपपत्तेः। ता प्रसिद्धिमतिक्रम्यैव उल्लङ्घ्यैव। स्वेच्छया स्वरभावेन वदतां वचनं सौगतानां युज्यते युक्तं भवति। अविशेषवचनम्। कथम्? शब्दः सूचकं वाचकम्। कस्य? वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य वक्तुः प्रयोजकस्याभिप्रेतमभिप्रायो विवक्षा तावन्मात्रस्यैव न बहिरर्थस्येति। नु अहो आश्चर्यमित्याक्षेपः। गम्यते सामान्यविशेषात्मनो बहिरर्थस्य शब्दप्रयोगात्प्रतीतिस्तस्यैव तदर्थत्वात् अभिप्रायस्य तत्र इत्यन्यप्रतीतेः।'–लघी० ता० पृ० ८७। (५) तुलना– तदुक्तम्–विवक्षाप्रभवा हि शब्दास्तामेव संसूचयेयुः। –तत्त्वोप० पृ० १२०।

1 'नास्तीत्युक्ते' नास्ति आ०। 2 मत्वेच्छया ब०। 3 विवृति आ०, मु० लघी०।

अभिप्रेतव्यभिचारित्वं कुतोऽपनीयते सुषुप्तादौ वाग्वृत्तेर्दर्शनात्। अनिच्छतामपि अपशब्दादिभाषणसद्भावात् वाञ्छतामपि मन्दबुद्धीनां शास्त्रवक्तृत्वाभावात्। उभयत्र व्यभिचारान्न कस्यचिद्वाचकाः शब्दा इति अलौकिकप्रतिभानम्। लोको हि अर्थस्याप्यनाप्तिषु सत्यानृतव्यवस्थामातिष्ठेत शब्दस्य नाभिप्रायमात्रे तत्र शब्दव्यवहारबाहुल्याभावात्। अबाधितां तत्प्रतीतिमतिक्रम्य स्वेच्छया प्रमाणप्रमेयस्वरूपमातिष्ठमानानां युक्तम्–अभिप्रेतमात्रसूचकत्वं शब्दानाम्।

वर्णपदवाक्यानि प्राहुः, कान्? **अर्थान्** घटादीन्। किंविशिष्टान्?

कारिकार्थ – **अवाञ्छितान्** वाञ्छयाऽविषयीकृतान् **वाञ्छितांश्च** तद्विषयीकृतांश्च शास्त्रव्याख्यानाद्यर्थान् **क्वचित्** मन्दबुद्धिप्राणिषु **न** प्राहुः इति एवं **प्रसिद्धिः** लोकप्रतीतिरियं सकलजनसाक्षिकी। **ईदृशी** विचित्रा। तदनभ्युपगमे दूषणमाह–'**स्वेच्छया**' इत्यादि। स्वेच्छया स्वाभिप्रेतप्रक्रियामात्रेण **तां** प्रसिद्धि**मतिक्रम्यैव वदतां** सौगतानां **युज्यते**। किं तद्? इत्याह–**वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्विति**।

ननु वर्णादयोऽर्थानवाञ्छितान् किमनित्याः सन्तः प्रतिपादयन्ति, नित्या वा?

शब्दनित्यत्ववादिनां मीमांसकानां पूर्वपक्षः – तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः, अनित्यत्वे तेषाम् उत्पन्नमात्रप्रध्वंसित्वेन सङ्केतव्यवहारकालाननुयायित्वतः तत्प्रतिपादकत्वानुपपत्तेः। द्वितीयपक्षस्तु उपपन्नः, नित्यानां तेषां तदनुयायित्वेन तत्प्रतिपादकत्वोपपत्तेः। प्रमाणतः तन्नित्यत्वस्यैव प्रसिद्धेश्च। तथाहि–'स एवाऽयं गकारः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा-

(१) तुलना– विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिर्जातु वीक्ष्यते। वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः॥'–न्यायवि० का० ३५४। 'विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तगुणदोषता। वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः॥'–प्रमाणसं० का० १६। प्रमाणस० टि० पृ० १७२ पं० २३। (२) तुलना–"बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं बाह्यार्थे सति नासति। सत्यानृतव्यवस्थैवं युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु॥ –आप्तमी० का० ८७। (३) अर्थप्रतिपादकत्वाऽनुपपत्तेः। 'यदा हि क्षणिकः शब्दो न शक्तोऽर्थावधारणे। न हि क्षणिकस्य सम्बन्धग्रहणं संभवति'–मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३, न्यायर०। (४) कुमारिलमते हि शब्दो नित्यः द्रव्यरूपश्च। 'श्रोत्रमात्रेन्द्रियग्राह्यं शब्दं शब्दत्वजातिमान्। द्रव्यं सर्वगतो नित्यं कुमारिलमते मतः॥'–मानमेयो० पृ० २१८। प्रभाकरमते च शब्दो नित्योऽपि आकाशस्य गुणो न तु स्वतन्त्रं द्रव्यम्। द्रष्टव्यम्–"आकाशश्च शब्दवानिति, स एव श्रोत्रं तद्गुणश्च शब्दः"'–प्रक० पं० न्यायशुद्धिप्रकरणम्। (५) सङ्केतव्यवहारकालव्यापकतया। (६) 'वयं तावत्प्रत्यभिजानीमो न न करणदौर्बल्यम्, एवमन्येऽपि प्रत्यभिजानन्ति, स एवायमिति प्रत्यभिजानाना प्रत्यभिजानन्ति नेदृश मिवान्योऽपि नायं इति वक्तुमर्हन्ति।–शाबरभा० १।१।२०। 'प्रत्यभिज्ञयैव कालान्तरावस्थायिता सिद्ध्यति, कालान्तरावस्थितिश्च सप्रत्यभिज्ञप्रत्यक्षगम्येत्युक्तम्।–बृहती० १।१।१८। 'शब्दोऽपि

1 कुतोऽप्रतीयते ज० वि०। 2 अर्थस्यानाप्ति–ज० वि०। 3 तत्र शब्दव्यवहारस्थितिम् प्रतिक्रम्य स्वेच्छ–ई० वि०। 4 अबाधितामतिक्रम्य ज० वि०। 5–र्ष सिद्धि श्र०। 6 त्विति आ०। 7–स्या प्रति–ब०। 8 'वा' नास्ति श्र०।

त्वप्रत्यक्षेण एव तावच्छब्दानां नित्यत्वं प्रतीयते । न चास्य[1] अज्ञानलक्षणमप्रामाण्यम्, प्रतिप्राणि संवेद्यमानत्वात् । नापि संशयरूपम्, एकांशावलम्बित्वात् । उभयांशावलम्बी हि प्रत्ययः संशयः, न चेदं तथा । नापि मिथ्यात्व(त्व) रूपम्, अबाध्यमानत्वात् । यदेव हि ज्ञानं बाध्यते तदेव मिथ्या प्रसिद्धं यथा शुक्तिकायां रजतज्ञानम्, न चेदं[3] देशकालनरान्तरेष्वपि बाध्यते । न च दुष्टकारणप्रभवत्वादस्याप्रामाण्यम्, तत्कारणानां दुष्टत्वानिश्चयात् । नापि अधिगताधिगन्तृत्वात्, स्मर्यमाणानुभूयमानविशेषणावच्छिन्नस्य गकारादेः पूर्वसंवेदनाविषयत्वात् । तदुक्तम्–

'यः पूर्वावगतोऽशोऽत्र स न नाम प्रतीयते ।
इदानीन्तनमस्तित्वं न हि पूर्वधिया गतम् ॥''

[मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २३३ ३४] इति ।

प्रत्यक्षत्वञ्चास्य श्रोत्रेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् सुप्रसिद्धम् । न च स्मृतिपूर्वकत्वादस्य अप्रत्यक्षत्वं युक्तम्, तत्पूर्वकत्वेऽप्यस्य संसम्प्रयोगजत्वेन प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः । उक्तञ्च–

प्रत्यभिज्ञानात् प्रागस्तीत्यवगम्यते ।' –मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३३ । भाट्टचि० पृ० २९ । 'एतदुक्तं भवति–प्रत्यभिज्ञाख्यविकल्पप्रत्ययबलेन ह्यस्तनाद्यतनगकारयोरेकत्वावगमान्नित्यत्वमाश्रीयते अतो गत्वादिसामान्यनिबन्धनया प्रत्यभिज्ञा सिद्ध्यति । एवं सति व्यक्तिभेदे सामान्यं तदभावात्तु नास्ति सामान्यमित्येव वक्तव्यम्, अतः सिद्धं प्रत्यभिज्ञया शब्दस्य नित्यत्वम् ।' –न्यायमञ्जरी० पृ० ५४०,५६८। तत्त्वरह० पृ० २६ ।

(१) प्रत्यभिज्ञानस्य । (२) प्रत्यभिज्ञानस्य मिथ्यात्वस्वरूपमप्रामाण्यम् । (३) प्रत्यभिज्ञानम् । (४) प्रत्यभिज्ञानकारणानामिन्द्रियादीनाम् । प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानं दृढेन्द्रियतयोच्यते । –मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३७२ । (५) स एवायम्–आ० टि० । (६) पूर्वप्रत्ययः । (७) 'ननु गृहीतमपि गृह्यते इति कथं प्रामाण्यमत आह य इति । तस्मिन्नंशे मा भूत्प्रामाण्यम् अगृहीतकालान्तरसम्बन्धापेक्षमेव तु प्रामाण्यमिति ।'–न्यायर० । 'ननु न केवलमधिकं गम्यते किन्तु प्रागवगतमपि इति कथं प्रामाण्यमत आह य पूर्वेति । सविकल्पके हि शब्दार्थस्वरूपसम्बन्धकालसम्बन्धा प्रथन्ते तत्र शब्दादिरंशो स्मृतिविषय इति मा नाम प्रमाणविषयो भवतु इदानीन्तनी तु वस्तुसत्ता न पूर्वमवधृतेत्यस्ति तत्र प्रमाणावसर इति स्थितं प्रामाण्यम् । इन्द्रियव्यापारानुविधानाच्च प्रत्यक्षत्वमिति । एकत्वेऽपि पूर्वविज्ञानजनितसंस्कारप्रत्युत्पन्नेन्द्रियादिकारणकं वक्तव्यम् ।–काशिका । पूर्वमवगतोऽंश स न नाम– प्रमेयक० पृ० ३३९ । पूर्वमवगतो नाश स च नाम–सन्मति० टी० ३१९ । य पूर्वावगताऽशोऽत्र स नो नाम –स्या० र० पृ० ६७५ । उत्तरार्धम्–तत्त्वोप० पृ० २७ । प्रमाणवा० स्व० टी० पृ० ७७ । तत्त्वस० पृ० १५९ । (८) स एवायं शब्द इति प्रत्यभिज्ञानस्य । (९) प्रत्यभिज्ञानस्य । 'तत्र यत्पूर्वसम्बन्ध प्रमातु स्मरतोऽपि या । बुद्धिः पूर्वगृहीतार्थसन्धानादुपजायते ॥ चक्षुषा सन्निकृष्टेऽर्थे नाऽप्रत्यक्षमसौ भवेत् ॥ –मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २२९–३० । (१०) संश्चासौ सम्प्रयोगश्चेति कर्मधारय तया च इन्द्रियाणामर्थेन सता सम्बन्ध विद्यमाने सतीत्यर्थ । तुलना– किं पुनरिदं प्रत्यभिज्ञाख्यं प्रमाणम् ? प्रत्यक्षमिति ब्रूम । पूर्वानुभवजनितसंस्कारसध्रीचीनेन्द्रियजं यावान् ग्रहणस्मरणरूपमिश्रभेदं ज्ञानम् । –न्यायमञ्जरी० पृ० ५६८ ।

---

1 सत्सयोग–ब० ।

"नहि स्मरणतो यत् प्राक् तत्प्रत्यक्षमितीदृशम्। वचनं राजकीयं वा लौकिकं वापि विद्यते ॥१॥
न चापि स्मरणात् पश्चादिन्द्रियस्य प्रवर्तनम्। वार्यते केनचिन्नापि तत्तदानीं प्रदुष्यति ॥२॥
तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात् प्रागूर्ध्वं चापि यत्स्मृतेः। विज्ञानं जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम् ॥३॥"
[मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २३४-३७] इति।

एवमतः शब्दस्य नित्यत्वे सिद्धे इदानीमिदम् अन्यदपि यच्छब्दस्योच्चारणं न तत्तस्य जनकं किन्तु अभिव्यञ्जकम्। अत इदमुच्यते–अन्यदपि यत् शब्दस्य उच्चारणं तत्तस्याभिव्यञ्जकम् उच्चारणत्वात्, यद् यद् उच्चारणं तत्तदभिव्यञ्जकम् यथा एतत्कालोपलक्षितमुच्चारणम्, तथा च प्रकृतम्, तस्मादिदमपि तथा।

तथा, विवादाध्यासितो वा कालः शब्दसम्बद्धः कालत्वात् प्रतिपादितशब्दसम्बद्धकालवत्। अतः सिद्धमस्य अनुमानतोऽपि नित्यत्वम्। इतोऽप्यनुमानात् तत्सिद्धम्–नित्यः शब्दः, श्रावणत्वात्, यद् यदेव तत्तथा यथा शब्दत्वम्, तथा चायम्, तस्मादयमपि तथा। तथा, देशकालादिभिन्ना गोशब्दव्यक्तिबुद्धय एकगोशब्दविषया

(१) "ननु यदि सवस्यधिकविषयं स्मरणोत्तरकाले भवत् कथं प्रत्यक्षम्? न हि निर्विकल्पकस्य प्रत्यक्षस्य धर्मो दृष्टः अत आह–नहीति। न हि स्मरणात् प्राग्भाविता प्रत्यक्षलक्षणम्, अपि तर्हि इन्द्रियजत्वम्, तच्चात्राप्यविशिष्टमिति भावः। यदि स्मरणेन्द्रियप्रवृत्तिर्वार्येत तदा दूष्येत, ततस्तदुत्तरकाले जायमानं सविकल्पकं प्रत्यक्षं भवेदपि, न त्वेतदस्ति इत्याह न चेति। यतः स्मृत्या नेन्द्रियं विरुध्यते न वा दूष्यते तेन प्रागूर्ध्वं वा स्मृतेयदिन्द्रियार्थसम्बन्धाद् ज्ञानं जायते सर्वं तत्प्रत्यक्षमभ्युपगन्तव्यमित्याह तेनेति।"–काशिका। (२) अर्थात् यच्च स्मरणादूर्ध्वं तत्प्रत्यक्षम्–आ० टि०। (३) 'राजकीय वा वैदिकं वापि'–मी० श्लो०। 'राजकीयं वा लौकिकं वापि'–सन्मति० टी० पृ० ३११। उद्धृता इमे–प्रमेयक० पृ० ३३९। सन्मति० टी० पृ० ३११। स्या० र० ४९९। (४) प्रत्यभिज्ञानात्। (५) शब्दस्य। (६) "यदि विस्पष्टेन हेतुना शब्दस्य नित्यत्वं वक्तुं शक्ष्यामः ततो नित्यप्रत्ययसामर्थ्यात् प्रयत्नेनाभिव्यज्यते इति भविष्यतीति।"–शाबरभा० १।१।१२। "शब्दस्य प्रयत्न एव कारणतया सम्भावितः। स च प्रत्यभिज्ञाबलेन द्वितीयादिदर्शनेष्वभिव्यञ्जकतामापादित इति प्रथमदर्शनेऽप्यसौ अभिव्यञ्जक एव अतः कारणरहितत्वेन सत्त्वान्नित्यः शब्दः गगनादिरिव नास्यानित्यतेति।'–प्रक० प० पृ० १७०। भाट्टचि० प० २६। 'एवञ्चोच्चारणं शब्दस्य न कारणं किन्तु अभिव्यञ्जकमिति सिद्धम्। न चोच्चारणादन्यत् कारणं सम्भवतीत्यकार्यत्वम् अत एवाविनाशान्नित्यत्वसिद्धिः।'–शास्त्रदी० पृ० ५९०। 'शब्दः प्रयत्नाभिव्यङ्ग्यः यथा तदनुत्पाद्यत्वे सति तदनन्तरमुपलब्धेः यो यदनुत्पाद्यत्वे सति यदनन्तरमुपलभ्यते स तदभिव्यङ्ग्यः यथा प्रदीपानन्तरमुपलभ्यमानो घटः।'–तन्त्ररह० पृ० २६। मानमेयो० पृ० २२१। (७) 'श्रोत्रता चेयं हेतुः शब्दत्ववत्कृत। यद्वा श्रोत्रग्राह्यत्वमत्र हेतुः, तद्धि शब्दत्वदृष्टान्तेन शक्नोति नित्यत्वं साधयितुमित्याह श्रोत्रेति।'–मी० श्लो० न्यायर० शब्दनि० श्लो० ३९३। प्रयोगश्चैवं भवति नित्यः शब्दः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववत्।–शास्त्रदी० पृ० ५८५। (८) देशकालादिभिन्ना वा समस्ता गोत्वबुद्धयः। एकगोशब्दजा या स्युर्गोधीत्वादेकबुद्धिवत् ॥ गोशब्दबुद्धयोऽप्येवमेकगोशब्दगोचराः ॥ गोशब्दविषयत्वेन कल्प्यतामेकबुद्धिवत् ॥ "गोशब्दबुद्ध्या ह्यस्तया गोशब्दोऽयं प्रकाशितः। गोशब्दविषयत्वेन यथवाद्यप्रसूतया ॥ इयं वा तं विजानाति तद्धेतो पूर्वबुद्धिवत्। उभे वाप्येकविषये भवेतामेकबुद्धिवत्।'–मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४१८-२१।

1 प्रागूर्ध्वापि आ०। 2-पि शब्दस्य श्र०। 3 प्रकृतत्वं त-श्र०।

न चानेकार्थगोचरा गौरित्युत्पद्यमानत्वात् सम्प्रत्युत्पन्नगोशब्दबुद्धिवत्। 'गोशब्दव्यक्तिबुद्धयः' इत्युच्यमाने सिद्धसाध्यता स्यात्, एकगोशब्दव्यक्तिबुद्धेः एकविषयत्वाभ्युपगमात्, तन्निवृत्त्यर्थं बहुवचनम्। तथा 'सामान्ये गोशब्दनिबन्धना समाना एव धियः प्रभवन्ति' इति तन्निरासार्थं व्यक्तिग्रहणम्। एकस्मिन् देशे काले वा बहूनां प्रमातॄणां गोशब्दज्ञानानि एकगोशब्दव्यक्तिगोचराणि इति सिद्धसाध्यताप्रसङ्गव्यवच्छेदार्थं 'देशकालादिभिन्ना' इत्युक्तम्। ह्यस्तनो[1] वा गोशब्दः अद्याप्यनुवर्तते गौरिति ज्ञायमानत्वात् अद्योच्चारितगोशब्दवत्। अद्यतनो[2] वा गोशब्दः ह्योऽपि आसीत् गौरिति ज्ञायमानत्वात् ह्य उच्चारितगोशब्दवत्। शब्दो[3] वा वाचकः दीर्घकालावस्थायी सम्बन्धबलेन[4] अर्थप्रतिपादकत्वात् धूमसामान्यवत्। यस्तु[5] अस्थिरः स सम्बन्धबलेन नार्थं बोधयति तादात्विक[6]निमित्तत्वात् प्रदीपविद्युत्प्रकाशवत्। तदेवम्–

तुलना– देशकालादिभिन्नाश्च गोशब्दव्यक्तिबुद्धयः। समानविषया सर्वा न वा नानार्थगोचराः॥ गौरित्युत्पद्यमानत्वात् सम्प्रत्युत्पन्नबुद्धिवत्। गोशब्दव्यक्तिषु या बुद्धयो देशकालद्रुतमध्यविलम्बितादिप्रतिभासभिन्नात्मा एकार्थविषया नानार्थविषया न वा भवन्ति गौरित्याकारोपग्रहेणोत्पद्यमानत्वात् सम्प्रत्युत्पन्नगोबुद्धिवत्। अथवा या या गोशब्दविषया बुद्धिः साऽद्यतनगोशब्दविषया गोशब्दविषयत्वात् अद्यप्रसूतगोशब्दबुद्धिवत्। गोशब्दविषया च ह्यस्तनी गोशब्दबुद्धिरिति स्वभावहेतुः। अथवा अद्यह्यस्तनी गोशब्दबुद्धिर्धर्मिणी ह्यस्तनगोशब्दविषयत्वं साध्यधर्मः गोशब्दविषयत्वादिति हेतुः ह्यस्तनी गोशब्दबुद्धिर्दृष्टान्तः। अथवा उभे ह्यस्तनाद्यतन्यौ बुद्धी एकविषये गोशब्दविषयत्वादेकगोशब्दबुद्धिवत्। अथवा, समस्ता गोत्वबुद्धयः देशादिभेदभिन्ना एकगोशब्दजन्या गोधीत्वादेकगोबुद्धिवत्। पूर्वं गोशब्दविषया बुद्धयः धर्मिण्य एकविषयत्वञ्च साध्यम्, इदानीन्तु गोत्वजातिविषया बुद्धयो धर्मिण्य एकगोशब्दजन्यत्वं साध्यमिति विशेषः। –तत्त्वसं० प० पृ० ५९२। स्या० र० पृ० ६७६।

(१) नित्यस्तु स्यात् दर्शनस्य परार्थत्वात्। ...–शाबरभा० १।१।१९। ह्यस्तनोच्चारितस्तस्माद् गोशब्दोऽद्यापि विद्यते। गोशब्दज्ञानगम्यत्वादद्योक्तोऽद्यापि गौरिति॥ –मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४१६। (२) ह्यो वाऽस्मात्पूर्व गोशब्दः पूर्वोक्तेनैव हेतुना। यद्वा गोत्वाभिधायित्वं वाच्यो हेतुद्वयोरपि॥ –मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४१७। तुलना– गौरिति श्रूयमाणोऽद्य ह्योऽपि शब्दो मया श्रुतः। इतो पूर्वोदितश्चैव ह्य उच्चारितशब्दवत्॥ –तत्त्वसं० पृ० ५९२। स्या० र० पृ० ६७६। (३) अतोऽभ्युपेत स्थिरः शब्दो धूमगत्वादिजातिवत्। सम्बन्धानुभवापेक्षसामान्यार्थावबोधनात्॥ –मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३११। तुलना– शब्दो वा वाचको यावान् स्थिरोऽसौ दीर्घकालभाक्। सम्बन्धानुभवापेक्षनयनानप्रवर्तनात्। य ईदृक् स स्थिरो दृष्टः धूमसामान्यभागवत्॥ –तत्त्वसं० पृ० ५९२। स्या० र० पृ० ६७६। (४) वाच्यवाचकभावेन–आ० टि०। (५) तुलना– अस्थिरस्तु न सम्बन्धनानाऽपेक्षो बोधकः। तात्कालिकनिमित्तत्वात् दीपविद्युत्प्रकाशवत्॥'–तत्त्वसं० पृ० ५९२। स्या० र० पृ० ६७६। (६) न हि प्रदीपादिप्रकाशस्य नियतेन घटादिना सम्बन्धोऽस्ति, तात्कालिकनिमित्तत्वात् यत्र यत्र याति तत्र तत्र प्रकाशयति। सम्बन्धो हि स्मृत्यपेक्षो भवति, न च प्रदीपोऽपि स्मृत्यपेक्षया –आ० टि०। 'तात्कालिकं तावत्कालिकं व्यवहारकालानुयायि निमित्तं सम्बन्धो यस्य स तथोक्तः तद्भावस्तत्त्वम्।' –तत्त्वसं० प० पृ० ५९३। स्या० र० पृ० ६७६।

1 ह्यापि ब०। 2 गोशब्दो वा श्र०। 3 बोधयति श्र०।

"कश्चित् कालं स्थिरः शब्दः सर्वकालमपि स्थिरः ।
विनाशहेतुशून्यत्वात् सामान्याकाशकालवत् ॥" [ ]

तथा, विवादाध्यासितः कालः गादिशब्दशून्यो न भवति कालत्वात् इदानीन्तनकालवत् ।

तथा, अर्थापत्तितोऽप्यस्य नित्यत्वं सिद्धम्, तथाहि–नित्यः शब्दः ततोऽर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तेः । न चेयमर्थापत्तिः अन्यथैव वा उपपद्यते, शब्दस्यानित्यत्वे सर्वथानुपपद्यमानत्वात् । प्रतिपन्नप्रतिबन्धाद्धि शब्दादर्थप्रतिपत्तिः स्यात्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् । न चाऽनित्यत्वे शब्दस्य प्रतिपन्नप्रतिबन्धस्य उत्तरकालमनुवृत्तिः सम्भवति, तस्य तदैव विनाशात् । तदुक्तम्–

"अर्थापत्तिरियं चोक्ता पैत्तधर्मादिवर्जिता । यदि नाशिनि नित्ये वा विनाशिन्येव वा भवेत् ॥१॥

(१) "अनपेक्षत्वात् १।१।२१ । यथामावगतोत्पत्तीनां द्रव्याणां भाव एव लक्ष्यते तेषामपि कदाचिदनित्यता गम्यते यदा विनाशकारणमुपलभ्यते, यथा अभिनवं पटं दृष्ट्वा । न चैनं म्रियमाणमुपलब्धवान् अथ चानित्यत्वमवगच्छति रूपमेव दृष्ट्वा । तन्तुव्यतिषङ्गजनितोऽयं तन्तुव्य तिषङ्गविनाशात्तन्तुविनाशाद्वा विनङ्क्ष्यतीत्यवगच्छति । नैव शब्दस्य किञ्चित्कारणमवगम्यते यद्विनाशाद्विनङ्क्ष्यति इत्यवगम्यते ।'–जैमिनिसू०, शाबरभा० १।१।२१ । "एवं स्थितस्य शब्दस्य श्रुतिकालात् क्षणान्तरे । समाश्रयेत विनाशित्वं न भूयोऽन्येन हेतुना ॥ यथा शस्त्रादिभिर्भेदाज्जरया वा पटस्य च । नङ्क्ष्यतीत्यवगम्यन्ते नैव शब्देऽस्ति कारणम् ॥'–मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४४२–४३ । उद्धृतमिदम्–स्या० र० पृ० ६७६ । "अस्यार्थः–शब्दः सर्वकालं स्थिरः विनाशहेतुशून्यत्वात् । विनाशहेतुशून्यत्वञ्च कञ्चित्कालं स्थिरत्वात्सिद्धम् । स हि सम्बन्धकरणकाले यावदनुपद्रुतः पश्चादपि केनापनीयतामिति ।–स्या० र० पृ० ६७६ । (२) तुलना–स्या० र० पृ० ६७६ । (३) नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् । नित्यः शब्दो भवितुमर्हति । कुतः ? दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनमुच्चारणं तत्परार्थं परमर्थं प्रत्याययितुम् । उच्चरितमात्रे हि विनष्टे शब्दे नचान्योऽन्यमर्थं प्रत्याययितुं शक्नुयात्, अतो न परार्थमुच्चार्येत । अथ न विनष्टस्ततो बहुश उपलब्धत्वादर्थावगम इति युक्तम् ।'–जैमिनिसू०, शाबरभा० १।१।१८ । "अर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या तु नित्यत्वमेव युक्तम् । न हि प्रत्युच्चारणमन्यस्यान्यस्य म्रियमाणस्यार्थप्रत्यायकत्वं सम्भवति सम्बन्धग्रहणासम्भवात्, अगृहीतसम्बन्धस्य चाऽप्रत्यायकत्वात् । न चान्यस्मिन् गृहीतसम्बन्धेऽन्यस्य प्रत्यायकत्वं सम्भवति । न हि गोशब्दे गृहीतसम्बन्धेऽश्वशब्दः प्रत्याययति ।–शास्त्रदी० पृ० ५५९ । 'शब्दो नित्यः परार्थदर्शनसम्बन्धित्वात् धूमादिवदिति ।–नयवि० पृ० २४२ । (४) अर्थप्रतिपत्ति । (५) नित्ये च अनित्ये [च]–आ० टि० । (६) अनित्ये एव–आ० टि० । (७) अनित्यशब्दस्य । (८) शब्दो नित्यः दर्शनस्य परार्थत्वान्यथानुपपत्तेः, परार्थवाक्योच्चारणान्यथानुपपत्तेः, अर्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्तेर्वा । (९) अनुमानत्वाभावः–आ० टि० । (१०) अर्थापत्तौ हि द्वावेव दोषौ अन्यथाप्युपपत्तिरन्यथैवोपपत्तिश्च । तदिहापि यद्यनित्यत्वेऽप्यर्थप्रत्यायकत्वमुपपद्येत अनित्यत्व एव वा ततो दूषणं स्यात् न तु तदस्तीत्याह यदीति ।–न्यायर० पृ० ७९० । "यदि शब्दे नाशिनि नित्ये वा वाचकसामर्थ्यमित्यनेन संशय उक्तः विनाशिन्येव वा शब्दे वाचकसामर्थ्यमित्यनेन तु विपर्यय उपदर्शितः तदा दूषणमुच्यतामिति । यदेव शब्दे वाचकसामर्थ्ये सन्दिग्धविपर्यस्तत्वं स्यात्तदा दूषणावसरः एतच्चोभयमपि नास्तीति भावः ।'–स्या० र० पृ० ६७८ । (११) नाशिनि नित्ये वेति निरवधारणत्वात् मिलितमेव 'अन्यथापि' इत्यस्य व्याख्यानम्, विनाशिन्येवेति तु 'अन्यथैव' इत्यस्य–आ० टि० ।

1–त्वं तथा–श्र० ।

शब्दे वाचकसामर्थ्यं तदा दूषणमुच्यताम्। फलवद्व्यवहाराङ्गभूतार्थप्रत्ययाङ्गता ॥२॥
निष्फलत्वेन शब्दस्य योग्यत्वादवगम्यते। परीक्ष्यमाणस्ते नास्य युक्त्या नित्य-विनाशयोः ॥३॥
स धर्मोऽभ्युपगन्तव्यो यः प्रधानं न बाधते। नहि अङ्गाङ्गत्वानुरोधेन प्रधानफलसाधनम् ॥४॥
युज्यते, नाशिपक्षे च तदनन्तात् प्रसज्यते। नहि अदृष्टार्थसम्बन्धः शब्दो भवति वाचकः ॥५॥
तथा च स्यादपूर्वोऽपि सर्वः सर्वं प्रकाशयेत्। सम्बन्धदर्शनञ्चास्य नाऽनित्यस्योपपद्यते ॥६॥
तेन सम्बन्धज्ञानसिद्धिश्चेद् ध्रुवं कालान्तरस्थितिः। अन्यस्मिन् ज्ञातसम्बन्धे न चान्यो वाचको भवेत् ॥७॥
गोशब्दे ज्ञातसम्बन्धे नाश्वशब्दो हि वाचकः।" [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २३७-४४] इति"।

अथ सङ्गततया शब्दस्य अर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वोपपत्तेः नार्थापत्तितोऽस्य नित्यत्वसिद्धिः, तदयुक्तम्, तत्साङ्गत्यस्य विचार्यमाणस्यानुपपत्तितः तथा तस्य तद्धेतुत्वानुपपत्तेः। उक्तञ्च-

(१) ननु मा भूदर्थप्रत्यायनं तथापि किमित्यनित्यता न भवति ? अत आह-फलवदिति। फलवता गवानयनादिव्यापारस्य अङ्गभूतोऽर्थप्रत्ययः तत्फलत्वेन फलवान्, शब्दस्योच्चारणसंस्कारभाजः अर्थप्रत्ययस्य फलवत्प्रत्ययाङ्गताऽवगम्यत इति। ततः किमित्याह-परीक्ष्यमाण इति। अर्थप्रत्ययाङ्गस्य शब्दस्य स एव धर्मः स्वाङ्गत्वेन ग्रहीतव्यो यश्च प्रधानमर्थप्रत्ययं न बाधत इति। कारणमाह-नहीति। अर्थप्रत्ययाङ्गभूतस्य शब्दस्य यदङ्गमनित्यत्वं तदनुरोधेन यत्प्रधानं शब्दे तत्फलस्य अर्थप्रत्ययस्य साधनमयुक्तमिति। तथापि कथं मा नित्यत्वमित्याह-नाशीति। कथमित्याह-नहीति। किमित्य वाचकः ? अत आह-तथा चेति। सम्बन्धदर्शनञ्च न क्षणिकस्य सम्भवतीत्याह-सम्बन्धेति।' -न्यायर० पृ० ७९०। (२) अर्थप्रत्यायकत्व-आ० टि०। (३) दवधार्यते'-मी० श्लो०। (४) शब्दस्य। (५) प्रधानं व्यवहाराख्यं फलम्-आ० टि०। (६) अङ्गाङ्गानुरोधेन' -मी० श्लो०। अर्थप्रत्यय-आ० टि०। (७) नाशे-आ० टि०। (८) व्यवहार-आ० टि०। (९) 'ननु स्यादेतत् विनाशिन्यपि शब्दे, यावत्सम्बन्धग्रहणं तावत् व्यवहारश्च सम्भवति, नतावता नित्यत्वसिद्धिरत आह-सम्बन्धेति। नन्वन्यस्यैव गोशब्दस्य सम्बन्धं गृहीत्वा अन्यस्मादर्थं प्रत्येष्यामो नात्यन्तमन्यैव व्यवस्थेत्यत आह-अन्यस्मिन्निति, एवं ह्यव्यवस्था स्यादिति।'-न्यायर० पृ० ७९१। (१०) यस्य हि सम्बन्धो ज्ञातः सोऽन्यः यश्च वाचकः सोऽन्यः विनाशित्वात्-आ० टि०। (११) उद्धृता द्वौ-प्रमेयक० पृ०४०५ B। स्तीयतनीयमनुपलभ्यमानं विना-स्या० र० पृ० ६७८। पञ्चम पादमारभ्य पञ्चमपादान्ताः-तत्त्वस० पृ० ६१७। (१२) अथ त्वसादृश्यान्नाधिगम इति चेत्, न कश्चित् पदार्थो गृहीतो भवेत्। कस्यचित् पुरुषस्य कृत्रिमसम्बन्धो भविष्यतीति चेत् तदयुक्तम्, सादृश्यादिति चेत् शब्दान्तरेष्वपि सादृश्यात् आवर्तेत गोशब्दो गोशब्द इव। -शाबरभा० १।१।१८। "ननु तत्पुरुषादावसम्भूतार्थ मिथ्या पारार्थ्यदर्शनस्य, सत्यम्, सिध्यति, किन्तु नन्वभूतत्वे प्रमाणं भवेत्। न कस्यचिदपि पुरुषस्य वक्तो पूर्वोत्तमदृष्टमुच्चारयामि तस्मादयं प्रत्यायिमिति ज्ञातोऽपि दृष्ट। अत एव शब्दान्तरेषु अविवादः। अन्यथा सादृश्यप्रत्ययस्यैव सादृश्यान्तरात् विपर्ययः स्यात्।" -शास्त्रदी० १।१।१८। शास्त्रदी० पृ० ५६०। मयमि० पृ० २४। (१३) सादृश्यद्वारेण। (१४) शब्दस्य। (१५) अर्थप्रतीति (अर्थप्रतीति) हेतुत्वानुपपत्तेः-आ० टि०।

1 तन्नो यु-ब०। 2 निष्फल-ब० श्र०। 3 असादृश्यतया श्र०। 4-स्योपपद्यमानापि-श्र०। 5-प्रमाणतया ब०।

"सदृशत्वात्प्रतीतिश्चेत् तद्द्वारेणाप्यवाचकः। कस्य चैकस्य सादृश्यात् कल्प्यतां वाचकोऽपरः ॥
अदृष्टसङ्गतित्वेन सर्वेषां तुल्यता यदा। अर्थवान् पूर्वदृष्टश्चेत् तस्य तावान् क्षणः कुतः ॥
द्वित्राणामनुपलब्धौ हि अर्थवान् सम्प्रतीयते[7]।" [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४८-५०]
"तथा भिन्नमभिन्नं वा सादृश्यं व्यक्तितो भवेत्। एवमेकमनेकं वा नित्यं वाऽनित्यमेव वा ॥
भिन्ने चैकत्वनित्यत्वे जातिरेव प्रकल्पिता। व्यक्त्यनन्यदथैकं च सादृश्यं नित्यमिष्यते ॥
व्यक्तिनित्यत्वमापन्नं तथा सत्यस्मदीहितम्[10]।" [मी०श्लो०शब्दनि०श्लो०२७१-७३] इति ॥छ॥

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं शब्दस्य अनित्यत्व प्रसाधनम्–

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[11]–'स एवायं गकारः' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, अस्य[12] प्रत्यभिज्ञानस्य सादृश्यनिबन्धनतया एकत्वाऽप्रसाधकत्वात् प्रदीपादिप्रत्यभिज्ञानवत्। न खलु 'स एवायं प्रदीपः, अङ्गहारः[13], लूनपुनर्जातनखकेशादिर्वा' इत्यादि प्रत्यभिज्ञानं प्रदीपादीनामेकत्वं प्रसाधयति। अथाऽत्र[1] एकत्वाभावात्तस्य[15] तत्प्रमाणकत्वं[16] तदन्यत्रापि समानम्।

(१) "शब्दस्तु न तथा बालानामपि प्रतीतिप्रसङ्गादित्यर्थवत्सादृश्यादर्थावगम इति भाष्यम्, तस्याशयमाह–सदृशत्वादिति। शब्दान्तरे गृहीतसम्बन्धः शब्दोऽर्थवति शब्दान्तरे तत्सादृश्यात् तत्त्वेन भ्रान्त्यवगतः सन्नर्थं प्रत्याययतीति। परिहरति तद्द्वारेणेति। कारणमाह–कस्येति। च शब्दो हेतौ। इदञ्च न हि कश्चिच्छब्दोऽनित्यत्वेन भाष्यकारेणोक्तमिति एतदेवोपपादयति–अदृष्टेति। शङ्कते–अर्थवानिति। निराकरोति तस्येति। अवसराभावमेव दर्शयति–द्वित्रिरिति।'–न्यायर० पृ० ७९३। (२) सादृश्यत– आ० टि०। (३) किन्तु वैसदृश्यम्–आ० टि०। (४) वाचक–आ० टि०। (५) वाच्योपलम्भकाले यावत्–आ० टि०। 'तावान् पुनः क्षणः'–मी० श्लो०। (६) 'द्विस्त्रिर्वाऽनुपलब्धो हि नार्थवान् सम्प्रतीयते।"–मी० श्लो०। तत्त्वसं० पृ० ६१९। (७) उद्धृता इमे–प्रमेयक० पृ० ४१०। तत्त्वसं० पृ० ६१९। (८) 'भिन्नत्वैकत्वानित्यत्वे जातिरेव प्रकल्प्यते। अभेदेऽनित्यनानात्वे पूर्वोक्तेनैव दूषिता।" –मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७२। (९) 'व्यक्त्यनन्यत्वतश्चैकम्'–मी० श्लो०। (१०) उद्धृता इमे–प्रमेयक० पृ० ४११। (११) पृ०६९७ पं०१८। (१२) तुलना–"किमिदं प्रत्यभिज्ञानम्? तत्प्रत्ययविषयत्वम्? तत्प्रत्ययविषयत्वमन्यत्वेऽपीत्यनैकान्तः"–न्यायवा० २।२।३३। अनित्यत्वेऽपि सादृश्यवशात्प्रत्यभिज्ञानमुत्पद्यत एवेति। विवादगोचरापन्नः शब्दोऽभिव्यक्तः प्रत्यभिज्ञानकाले यावत् प्रागवतिष्ठते शब्दप्रत्ययविषयत्वात् पूर्वानुभूतशब्दवत्।'–प्रश० व्यो० पृ० ६४७। "नृत्ताभिनयचेष्टास्विव प्रत्यभिज्ञानतो वयम्। विशेषं प्रत्यभिज्ञाने न पश्यामो मनागपि ॥ उच्यते प्रत्यभिज्ञानमन्यथाप्युपपद्यते। गत्वादिजातिविषयं यद्वा सादृश्यहेतुकम् ॥'–न्यायमं० पृ० २२३ २४। तथा ह्यनित्येऽपि प्रदीपादौ प्रत्यभिज्ञानं दृष्टं तस्मादनैकान्तिकमेतत्, यथा क्षणिकेऽपि धर्मेऽपि प्रयोगे दृश्यते'–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३७९। 'सादृश्यात्प्रत्यभिज्ञानमस्य एवायमिति स्थितिः ॥ यदि चैवंविधा नित्यो नित्यास्ते विद्युदादयः। प्रत्यभिज्ञाऽप्रमाणं स्याद् युगपद् भिन्नदेशयोः।'–न्यायवि० का०४२५ २६। "सादृश्यावग्रहणेनापि तत्स्वरूपमवात् क्षणिकत्वेऽपि करणाङ्गहारादिष्विव प्रत्यभिज्ञानादिरदृष्टा हेतुः। तत्रि-यैकत्वेऽपि किमिदानीमनेनं स्यात्।–अष्टश० अष्टसह० पृ० १०६। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ५। 'सादृश्यग्राहिकाया लूनपुनर्जातकेशनखादिष्विव तस्या भ्रान्तत्वात्।–न्यायकुमु० टी० पृ० ३४। स्या० र० पृ० ६८०। रत्नाकराव० ४।९। शास्त्रदी० टी० पृ० ३७६। (१३) नृत्यविशेषविशेष, कुञ्चितगमनादिभेदेन द्वात्रिंशद्विधः। (१४) प्रदीपादौ। (१५) प्रत्यभिज्ञानस्य। (१६) एकत्वाप्रसाधकत्वम्।

1–त्र गौर इत्या–ब०।

ननु तैलादिकारणस्य उत्तरत्र क्षयोपलम्भात् प्रदीपादेः प्रतिक्षणमन्यत्वप्रसिद्धेः युक्तमेकत्वासत्त्वं न शब्दस्य विपर्ययात्, इत्यप्यनुपपन्नम्, अस्यापि ताल्वाद्यभिसंयोगविभागलक्षणकारणस्य उत्तरत्र क्षयप्रतीतितः प्रतिसमयमन्यत्वप्रसिद्धेः एकत्वासत्त्वोपपत्तेः । तत्संयोगविभागयोः तदभिव्यञ्जकवाय्वुत्पादे कारणत्वं न शब्दे इत्यभ्युपगमे वर्त्तिकामुक्तैलानलसंयोगादेरपि प्रदीपाद्यभिव्यञ्जकवाय्वुत्पादे कारणत्वं न तदुत्पादे इत्यप्यभ्युपगम्यतामविशेषात् । प्रतीतिविरोधः अन्यत्रापि न शक्यते वक्तुम् ।

यदपि प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वमुक्तम्, तदप्ययुक्तम्, प्रत्यक्षपरिच्छेदे विशदस्वभावस्यैव ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनात् । न चेदं तत्स्वभावम्, अतः कथमस्य प्रत्यक्षताशङ्कापि ? अक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्तस्य तद्रूपता, इत्यप्यसत्, तस्य तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाभावात्, दर्शनस्मरणान्वयव्यतिरेकानुविधायितया तस्य प्रत्यभिज्ञापरीक्षाप्रघट्टके प्ररूपितत्वात् । प्रत्यक्षत्वे चास्य अतीतकालपरिगतत्वेन शब्दग्राहकत्वानुपपत्तिः, सम्बद्धवर्तमानार्थगोचरचारित्वात्तस्य । तद्ग्राहकत्वे वा कथं योगिप्रत्यक्षस्य प्रतिक्षेपः प्रत्यक्षत्वेऽप्यस्य तद्वद् अतीताद्यर्थग्राहकत्वाविरोधात् ?

अस्तु वा यथाकथञ्चित् तत्प्रत्यक्षम्, तथापि न तत् शब्दस्यैकत्वप्रसाधकम्, तदुत्पादविनाशग्राहिणा प्रमाणान्तरेण बाध्यमानत्वात्, यत् प्रमाणान्तरेण बाध्यते न तत् स्वविषयव्यवस्थापकम् यथा शुक्तिशकले रजतग्राहिप्रत्यक्षं शुक्तिस्वरूपग्राहिप्रत्यक्षान्तरेण, बाध्यते च तदुत्पादविनाशग्राहिणा तेन तदेकत्वग्राहिप्रत्यभिज्ञानमिति । न चेदमसिद्धम्, प्रत्यक्षस्यैव तावत् तदुत्पादविनाशग्राहकत्वेन तद्बाधकत्वसम्भवात् । तथाहि–'उत्पन्नः शब्दः विनष्टः' इति प्रतीतिः इन्द्रियव्यापारानन्तरं प्रतिप्राणि संवेद्यमानोपजायते । न

(१) तुलना–'शब्दस्य ताल्वाद्यभिसंयोगविभागलक्षणकारणकदम्बकस्य उत्तरत्र क्षयप्रतीतितः प्रतिक्षणमन्यत्वसिद्धेरेकत्वासत्त्वोपपत्तेः ।'–स्या० र० पृ० ६८१ । (२) ताल्वादि–आ० टि० । (३) शब्दाभिव्यञ्जक । (४)प्रदीप–आ० टि० । (५)पृ०६९८ पं० ११ । (६ प्रत्यभिज्ञानम् । तुलना– एवमुच्यते –प्रथमे क्षणे शब्दग्रहणं द्वितीयक्षणे पूर्वगृहीतशब्दाहितसंस्कारप्रबोधः ततोऽपरस्मिन् क्षणे शब्दस्मरणम्, ततश्चतुर्थे क्षणे तिरोहिते तस्मिन् स एवायं घटशब्द इति प्रत्यभिज्ञानं कथं प्रत्यक्षं स्यादसन्निहितविषयत्वात् ।'–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३७८ । (७) प्रत्यभिज्ञानस्य । (८) प्रत्यभिज्ञानस्य (९) पृ० ४१५ । (१०) प्रत्यभिज्ञानस्य । (११) 'श इति–आ०टि० । (१२) प्रत्यक्षस्य । तुलना–पूर्वशब्दगतार्थस्येदानीमसन्निहितत्वेनाऽग्रहणात् । ग्रहणे वा श्रोत्रज्ञानवत् स्पष्टप्रतिभासं स्यात् । –प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३५२ । (१३) अतीतग्राहकत्व–आ० टि० । (१४) प्रतिक्षिपन्ति हि मीमांसकाः सर्वज्ञम्–आ० टि० । (१५) योगिप्रत्यक्षस्य । (१६) प्रत्यभिज्ञानवत्–आ० टि० । (१७) प्रत्यभिज्ञानम् । (१८) तुलना–'शब्दे विनाशविनाशात् न सा नित्यत्वसाधिका ।'–न्यायमं० पृ० २२४ । (१९) प्रत्यक्षेण–आ० टि० । (२०) शब्दोत्पादविनाश । (२१) स एवायं शब्द इति प्रत्यभिज्ञानबाधकत्वसम्भवात् ।

1–क्षयोपलम्भ प्र–श्र । 2–सानिल–आ० । 3–व्यवस्थापाहकम् आ० । 4–च तावदुत्पाद–ब० –च तदुत्पाद–श्र० ।

चेयं[1] मिथ्या, देशकालनरान्तरेषु अबाध्यमानत्वात् 'उत्पन्नो घटः विनष्टो घटः' इति प्रतीतिवत्। अथ प्रत्यभिज्ञानेनैव इयं कस्मान्न बाध्यते? तन्न, अस्य[2] सादृश्यनिबन्धनतया तन्नित्यत्वाप्रसाधकत्वात्।

ननु एकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भात्[3] क्वचिद्[4] घटाद्यभावप्रतीतिर्युक्ता, न तु शब्दाभावप्रतीतिः, शब्दैकज्ञानसंसर्गिणः[5] कस्यचिदप्यसंभवात्, इत्यप्यचोद्यम्, विवक्षित[6]शब्दाभावप्रतीतौ शब्दान्तरस्यैव एकज्ञानसंसर्गिणः संभवात्। निःशब्दप्रदेशे सर्वशब्दाभावप्रतीतौ तर्हि तदसंभव इति चेत्, न, तत्रापि आत्मस्वरूपसंवेदनस्य[7] तदेकज्ञानसंसर्गिणः संभवात्। यथैव हि घटभूदेशादीनाम्[8] एकत्र ज्ञाने संसर्गः तथा स्वपररूपयोरपि, अखिलज्ञानानां स्वपररूपावभासिस्वभावत्वात्। न चैवं[9] शब्दाभाववत् रूपाद्यभावोऽपि अतोऽनुषज्यते, तेषां प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यतया तदभावस्यापि प्रतिनियतादेव इन्द्रियात्[10] प्रसिद्धेः। यो हि यदिन्द्रियग्राह्यः[11] तदभावोऽपि तदिन्द्रियादेव व्यवस्थाप्यते। यदिन्द्रियोपयुक्तो ज्ञाता यत्र यदा यद्विषयमुपलब्धिलक्षणप्राप्तं नोपलभते तत्र तदा तस्याभावमधिगच्छतीति।

नित्यत्वे च शब्दस्य प्रागुच्चारणादनुपलम्भः कुतः स्यात्–इन्द्रियाभावात्, शब्दस्यासन्निहितत्वात्, आवृतत्वाद्वा? न तावदिन्द्रियाभावात्, उच्चारणानन्तरं शब्दो-

(१) उत्पन्नः शब्दः विनष्टः शब्दः इति प्रतीतिः। तुलना–"प्रत्यभिज्ञा हि सापेक्षा निरपेक्षा त्वभावधीः। तेनैवमादौ विषये प्रत्यभिज्ञैव बाध्यते॥ शब्दाभावस्य ग्रहणात् प्रत्यभिज्ञायाश्च पूर्वावगतार्थाभ्यनुवेधत्वात्। अपि च प्रत्यभिज्ञा व्यभिचरति कर्मादिषु गृह्यते। तेनास्याः शब्देऽप्यभावप्रत्ययान्तरप्रतिहतायाः कः समाश्वासः? न केवलं प्रत्यक्षेऽप्यनैकान्तिकत्वोद्भावनमपि तु विनाशप्रत्ययप्रतिहतप्रभावा प्रत्यभिज्ञा नित्यत्वं कर्मादिष्विव शब्देऽपि न साधयितुं प्रभवति।"–न्यायम० पृ० २२४। स्या० र० पृ० ६८१। (२) भ्रान्तिवशाद्भवतः स एवायं शब्द इति प्रत्यभिज्ञानस्य। (३) भूतल– आ० टि०। (४) भूतलादौ। (५) शब्दाभावप्रत्यये। (६) तुलना–"विवक्षितशब्दाभावप्रतीतौ शब्दान्तरस्यैकज्ञानसंसर्गिणः संभवात्।"–स्या० र० पृ० ६८२। (७) तुलना–"तत्राप्यात्मस्वरूपस्य तदेकज्ञानसंसर्गिणः सम्भवात्। स्वपररूपावभासकस्वभावस्य ह्यात्मनः परस्मिन् योग्यदेशावस्थिते वस्तुनि न केवलमात्मस्वरूपसंवेदनं भवेत् यावन्ति खलु वस्तूनि प्रतिषेध्यत्वसम्मतवस्तुना साकं योग्यदशावस्थितानि स्वपरवस्तु प्रतिभासन्ते तानि सर्वाण्येकज्ञानसंसर्गीणि। तत्र कुम्भादौ प्रतिषेध्ये भूतलादि आत्मस्वरूपं चैकज्ञानसंसर्गि। शब्दे तु प्रतिषेध्ये सशब्दके प्रदेशे शब्दान्तरमात्मस्वरूपं च, निःशब्दके केवलमात्मस्वरूपम्। अथवा मा भवत्वेकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरं प्रमाणान्तरगृहीतं तु भविष्यति। यथा स्मृतिगोचरे च घटकुलादौ क्वचिदभावप्रमाणेन भवतामभावग्रहणे घटकुलादि।'–स्या० र० पृ० ६८२। (८) परस्परविशेषात् यथा शब्दाभावो ज्ञातः तथा रूपाभावोऽपि ज्ञायतामित्यर्थः–आ० टि०। स्वपररूपग्राहिणि कस्मिंश्चिदपि ज्ञानात्। (९) रूपादीनाम्। (१०) यदग्रहे यदपेक्षं चक्षुः तदभावग्रहेऽपि तदपेक्षम् इति किरणावलीवचनात् यदभावो यावत्या सामग्र्या गृह्यते तदभावोऽपि तावत्यैव–आ० टि०। (११) यदिन्द्रियेण यद्गृह्यते तेन तन्निष्ठा जातिस्तदभावश्च गृह्यते इति नियमात्।

1–भूप्रदेशादीनाम् ब०

पलम्भात् । न[1] च प्रागसत एव तत्र इन्द्रियस्य प्रादुर्भावः, प्रतीतिविरोधात् । नापि शब्दस्यासन्निहितत्वात्, नित्य[2]व्यापितया सर्वत्र सर्वदा तस्य[3] सन्निहितत्वात् । नाप्यावृतत्वात्, नित्यैकस्वभावत्वेन तस्य आवृतत्वानुपपत्तेः । न खलु दृश्यस्वभावपरित्यागेन अदृश्यस्वरूपाऽस्वीकारे शब्दस्य आवृतत्वं घटते अतिप्रसङ्गात् । यद्[4] यदा यत्स्वरूपं न परित्यजति न तस्य तदा तत्प्रत्यनीकस्वरूपसम्भवः यथा अनावृतावस्थायां दृश्यस्वरूपमपरित्यजतो नादृश्यस्वरूपसम्भवः, न परित्यजति च आवृता[5]वस्थायां दृश्यस्वरूपं शब्द इति । तेन तत्स्वरूपपरित्यागे वा सिद्धमस्य अनित्यत्वम्, स्वरूपभेदस्वभावत्वात्तस्य[6] । ननु घटादीनां स्वरूपा[7]भेदेऽपि अन्धकारादिना आवृतत्वं दृश्यते, इत्यप्ययुक्तम्, तत्रापि स्वरूपभेदे[8] सत्येव आवृतत्वोपपत्तेः । स्वरूपमखण्डयतः कस्यचिदावरणत्वानुपपत्तेः ।

---

(१) उच्चारणात् प्राक् तद्ग्राहकं श्रोत्रमिन्द्रियं नासीत् उच्चारणकाल एव शब्देन सहोत्पद्यते इत्युक्ते सत्याह न चेति । (२) नित्यतया व्यापितया च–आ० टि० । (३) शब्दस्य । (४) शब्दस्य आवृतावस्थायां न अदृश्यस्वरूपसम्भवः अपरित्यक्तपूर्वस्वरूपत्वात् । तुलना–"यद्यदा यत्स्वरूपं न परित्यजति –स्या० र० पृ० ६८२ । (५) आवृतावस्थायां दृश्यस्वरूपत्याग । तुलना– 'तदयं तालवादिव्यापारजनितश्रावणस्वभावं परित्यज्य विपरीतस्वभावमासादयन्नपि नित्यश्चेत्र किञ्चिदनित्यम् ।' –अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०७ । (६) अनित्यत्वस्य । (७) स्वरूपभेदाभावेऽपि । तुलना– स्यान्मतं यथा घटादेरात्मानमखण्डयत्तमसस्तस्यावरणं तथा शब्दस्यापीति तदसत्, तस्यापि तेन आत्मखण्डनोपगमात् दृश्यस्वभावस्य खण्डनात् तमसस्तदावरणत्वसिद्धेः सर्वस्य परिणामित्वसाधनात् । तमसाऽपि घटादेरखण्डने पूर्ववदुपलब्धिं विना भवितुमर्हति तस्य तेन उपलभ्यतयाऽप्यखण्डनात् । –अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०५ । प्रमेयक० पृ० ४२१ । स्या० र० पृ० ६८२ । स्तिमितेन वायुनावरणाच्छिद्य नोपलभ्यत इति चेदाह–नापीत्यादि । तस्य बाह्यस्य उपलभ्यात्मनो द्रव्यस्य किञ्चिदनुपलम्भावरणं सम्भवति । तत्सिद्धौ प्रमाणाभावात् । सतोऽपि वा विद्यमानस्यापि चावरणस्य तदात्मानमखण्डयतो नित्यमन्यात्मानमप्रख्यापयतः सामर्थ्यतिरस्काराऽयोगात् ज्ञानजननसामर्थ्यभिभवायोगात् । यस्मान्न हि तत्र शब्दात्मन्यतिशयमनुत्पादयन्नावरणाभिमतं किञ्चित्करं नाम । अकिञ्चित्करस्य चाय कथमावरणं ज्ञानविबन्धकमपद्यतीति प्रकारान्तरेणोपघातकं भवति यावत् । अकिञ्चित्करस्य आवरणत्वं दृष्टमिति कथयन्नाह पर–कुड्यादय इत्यादि । कुड्यादयो घटादीनां कमतिशयमुत्पादयन्ति कम्वा सामर्थ्यातिशयं खण्डयन्ति यन्नावरणमिष्यन्ते । तस्मात् यथा तेऽतिशयमनुत्पादयन्तो घटादीनामावरणमिष्यन्ते तथा नित्यस्यापि शब्दस्य किञ्चिदावरणं भविष्यतीत्यभिप्रायः । न ब्रूम इत्यादिना परिहरन्ति । ते कुड्यादयः किञ्चित् घटादिकमतिशाययन्ति विशिष्टं स्वभावं कुर्वन्तीति न ब्रूमः । कथन्तर्ह्यावरणमुच्यन्त इत्याह–अपि तु न सर्व इत्यादि । न सर्वघटक्षणास्सर्वस्य पुरुषस्य इन्द्रियज्ञानहेतव किन्तर्हि परस्परसहितास्तु विषयेन्द्रियालोकाः परस्परतो विशिष्टक्षणान्तरोत्पादात् कारणात् विज्ञानहेतवः ते च विषयेन्द्रियादयः तेन प्रतिघातिना कुड्यादिनाऽव्यवहिता यदा भवन्ति तदाऽन्योन्यस्योपकारिणः सन्ति च व्यवधायके कुड्ये अन्यस्योत्पत्तौ समर्थस्य क्षणस्य यथोक्तकारणाभावेनानुत्पत्तेर्ज्ञानकारणत्वं यस्मात् कारणत्वकल्पनात् घटादिषु कुड्यादिव्यवहितेषु ज्ञानानुत्पत्तिरिति कृत्वा कुड्यादय आवरणमुच्यन्ते न पुनः प्रागविज्ञानजननयोग्यस्य घटादेः प्रतिबन्धात् ।'–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३६१ ६२ । (८) उपलम्भानुपलम्भरूपेण ।

1–यस्ये तस्य ब० । 2 आवृतत्वावस्थायां आ० ब० । 3 दृश्यसु–श्र०, ब० ।

किञ्च, व्यञ्जकव्यापारात् पूर्वं शब्दस्य कुतश्चित् प्रमाणात् सिद्धे सद्भावे आवरण सिद्ध्येत्, स्पार्शनप्रत्यक्षप्रतिपन्ने घटे अन्धकारादिवत्, न चासौ सिद्धः। 'प्रत्यभिज्ञानात्तत्सिद्धिः' इत्यपि मनोरथमात्रम्, तस्य एकत्वाप्रसाधकत्वप्रतिपादनात्।

अस्तु वा यथाकथञ्चित्तेषामावरणम्, तथापि तत् दृश्यम्, अदृश्यम्, नित्यम्, अनित्यम्, व्यापकम्, अव्यापकम् एकम्, अनेकं वा स्यात्? न तावद् दृश्यम्, प्रत्यक्षप्रमाणतः तत्प्रतीत्यभावात्। ततस्तत्प्रतीतौ वा विप्रतिपत्त्यभावः। नहि नीले नीलतया प्रतीयमाने कश्चिद्विप्रतिपद्यते। अथादृश्यम्, कथं तदस्ति अतिप्रसङ्गात्? ननु नित्यस्य सतः शब्दस्य उच्चारणात् प्रागनुपलब्धौ निमित्तान्तरासम्भवात् तन्निमित्तमदृश्यमप्यावरणं कल्प्यते, इत्यप्यसाधीयः, अन्योन्याश्रयानुषङ्गात्–सिद्धे हि शब्दस्य आवरणे नित्यस्य सतोऽस्य उच्चारणात् प्रागनुपलब्धिसिद्धिः, तस्याञ्च सत्यां तदावरणसिद्धिरिति। ननु प्रत्यभिज्ञानात् शब्दस्य नित्यत्वसिद्धेः उच्चारणात् प्राक् तदनुपलब्धौ नावरणादन्यन्निमित्तम्, इत्यपि श्रद्धामात्रम्, प्रत्यभिज्ञानस्य तन्नित्यत्वप्रसाधकत्वप्रतिषेधात्।

नित्यत्वे च आवरणस्य सदा शब्दस्यानुपलब्धिः स्यात्। अनित्यत्वे त्वस्य प्रध्वस्तस्य पुनरुत्पादे कारणाभावात् सर्वदा सर्वस्य उपलम्भप्रसङ्गः। नहि प्रतिनियतावरणोत्पादे प्रतिनियतं किञ्चित्कारणमुपलभ्यते।

व्यापकत्वञ्चास्य अतीव दुर्घटम्, बाधकप्रमाणसद्भावात्। तथाहि–आवरणत्वेनाभिमतो वायुरव्यापकः स्पर्शवद्द्रव्यत्वात् लोष्टवत्। व्यापकत्वे चास्य उभयोरपि आवार्यावारकयोः सर्वगतत्वात् किं कस्य आवारकं स्यात्? न हि आकाशमात्मादी-

(१) तुलना– स्वस्थानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः। यथा दीपोऽन्यथा वापि को विशेषोऽस्य कारकात्॥ स्वप्रतिपत्तिद्वारेण अन्यप्रतिपत्तिहेतुर्लोके व्यञ्जकः सिद्धो दीपादिवत्, स यत्प्राक्सिद्धः स्यात्। समानजातीयोपादानलक्षणसिद्धेन तस्यव्यातिशयस्य नानहेतो तस्य तत्सामग्रीत्वात्। यः पुनः असिद्धोपलम्भनः कारका एव कुलालादिवद् घटादौ। स्वस्थानेन कारणेन अन्यधीहेतुरर्थो व्यञ्जको मतः। कदा? सिद्धेऽर्थे। यद्यसौ व्यङ्ग्यः प्रागसिद्धः स्यात्तदा को विशेषोऽस्य व्यञ्जकस्य कारकाद्भवेत्।'– प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२६४। यतः प्रमाणान्तरेण शब्दसद्भावे सिद्धे तस्यावरणं सिद्ध्येत स्पार्शनप्रत्यक्षप्रतिपन्ने घटेऽन्धकारादिवत्।'-प्रमेयक० पृ० ४२१। (२) सद्भाव –आ० टि०। (३) शब्दानाम्–आ० टि०। (४) तुलना–"तथापि तदावरणं दृश्यमदृश्यं वा नित्यमनित्यं वा व्यापकमव्यापकं वा एकमनेकं वेत्यष्टौ विकल्पाः।'–स्या० र० पृ० ६८३। (५) आवरणप्रतीत्यभावात्। (६) प्रत्यक्षतः। (७) आवरणम्। (८) अनुपलब्धि–आ० टि०। (९) शब्दस्य। (१०) आवरणस्य। (११) एकैकवर्णस्य एकैकमावरणम्–आ० टि०। (१२) तुलना–"आवरणत्वेनाभिमतः प्रभञ्जनः न व्यापकः स्पर्शवद्द्रव्यत्वाद्घटवत्।'–स्या० र० पृ० ६८३। (१३) आवरणस्य। तुलना–' तद्वत्तदावारकमपि सर्वगतमिति चेत्, न अस्याव्याप्यम्, न ह्याकाशमात्मानमाकाशं नामावारकम्।'–प्रमेयक० पृ० ४२१। स्या० र० पृ० ६८३। (१४) शब्दैरभिमतवाय्वा। (१५) परामिर्शधना–आ० टि०।

1 वा यथाकथ–श्र०। 2–स्वर्णसद्भावात् श्र०। 3 नीलतया प्र–श्र०। 4 शब्दनित्य–आ०, श्र०। 5–स्य शब्दस्य ब०, श्र०। 6–भावात् आ०। 7 स्पर्शवद्द्रव्य–श्र०।

नामावारकं प्रतीतम्। अव्यापकत्वे त्वस्य नितरां तेन शब्दस्य आवार्यत्वानुपपत्तिः, तन्मध्ये तद्देशे पार्श्वे च विद्यमानत्वात्, प्रत्युत शब्द एवास्य आवारकः स्यात्, अन्यथा सर्षपोऽपि घटस्य आवारको भवेत्। ननु भूम्यादिना आकाशस्य तथाविधस्यापि आव्रियमाणस्योपलम्भाददोषोऽयम्, इत्यप्यसत्, तत्प्रदेशस्यैव तेन आव्रियमाणत्वाभ्युपगमात्। शब्दप्रदेशस्यापि वायुना आव्रियमाणत्वाभ्युपगमे शब्दस्य सावयवत्वमनित्यत्वञ्च स्यात्।

तथा निखिलशब्दानां यदि एकमेवावरणं कल्प्यते, तदा एकोपलम्भे सर्वेषामुपलम्भप्रसङ्गः, तदावरणापगमे तद्वत् सर्वेषामनावृतत्वात्। तदनुपलम्भे वा विवक्षितशब्दस्यापि तदनुपलम्भः स्यादविशेषात्। अथ विभिन्नम्, तन्न, सर्वशब्दानां व्यापितया

(१) वायो–आ० टि०। (२) वायुना–आ० टि०। (३) आवरणात्मकवायुमध्ये। (४) व्यापित्वेन–आ० टि०। (५) वायो–आ० टि०। (६) यदल्पपरिमाणमपि वस्तु महत आवारकं स्यात् तदा। (७) व्यापिनोऽपि–आ० टि०। (८) आकाशप्रदेशस्यैव। (९) भूम्यादिना। (१०) तत्र आकाशस्य अन्तःप्रदेशित्वप्रतिज्ञानात्। (११) आवरणापाये कस्यचिदेकस्य शब्दस्य उपलब्धिकाले। तुलना– यथा जवनिकापायप्राप्तप्रसरमीक्षणम्। रङ्गभूमिषु तद्देशमशेषं वस्तु पश्यति॥ तथा प्रसररोधिसमीरोत्सारणे सति। श्रोत्रं तद्देशनिःशेषशब्दग्राहि भविष्यति। –न्यायम० पृ० २२१। 'कस्यचिच्छब्दस्याभिव्यक्तौ तस्य व्यापकतया सर्वदेशावस्थितपुरुषाणामुपलम्भः स्यात् निरावरणस्य व्यापकत्वाविशेषात्।'–प्रश० व्यो० पृ० ६८४। (१२) शब्दानाम्। (१३) विवक्षितशब्दस्य आवरणस्य विनाशे। (१४) एकशब्दवत्–आ० टि०। (१५) सर्वशब्दानुपलब्धौ। (१६) सर्वशब्दवत्। (१७) अनावृतत्वाविशेषात्। (१८) तुलना–'नियमश्च न स्यात्, यदि वाचके शब्दा युगपदाकाशे वर्तन्ते इति एवञ्च यत्किञ्चित् व्यञ्जकमुपात्तं समानदेशान् सर्वानभिव्यनक्तीति यदा वीणा वाद्यते तदा रासभध्वनिरपि श्रूयेत। न हि समानेन्द्रियग्राह्याणां समानदेशानां व्यञ्जकेषु नियमो दृष्टः। यद्यस्य व्यञ्जकं तेन तस्य व्यक्तिरिति चेत् तन्न अदृष्टत्वात्। अथ मन्यसे आयतशब्दसन्निपाते सति व्यञ्जकानि भिद्यन्ते व्यञ्जकभेदानुविधायि चाभिव्यक्तयः प्रतिशब्दमुपजायन्त इति, तन्न अदृष्टत्वात्। न हि प्रदीप एकेन्द्रियग्राह्यमनेकमर्थं युगपत्सन्निपतितं न प्रकाशयति।'–न्यायवा० पृ० २८८। न्यायवा० ता० पृ० ४४६। 'न च गोशब्दाभिव्यक्तये प्रेरितो वायुर्नादिशब्दं व्यनक्तीति वाच्यम्, व्यञ्जकेषु नियमानुपलब्धेः। यथा घटाभिव्यक्तयेमुत्पादितः प्रदीपः समानेन्द्रियग्राह्यसमानदेशावस्थितपटादीनपि व्यनक्ति इति। तथाहि–न श्रोत्रं प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यं समानेन्द्रियग्राह्यसमानदेशावस्थितवस्तुप्रकाशकत्वात् चक्षुर्वत्। शब्दा वा विवादविषया प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्या न भवन्ति समानेन्द्रियग्राह्यसमानदेशावस्थितत्वात् घटादिवत्।'–प्रश० व्यो० पृ० ६४८। 'न च समानकरणानां समानेन्द्रियग्राह्याणाञ्च भावानां प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वमुपलब्धम्। गृहे दधिघटी द्रष्टुमानीतो गृहमेधिना। अपूपानपि तद्देशान् प्रकाशयति दीपकः॥'–न्यायमं० पृ० २१२। 'श्रोत्रं तावत् समानेन्द्रियग्राह्यसमानदेशसमानधर्मापन्नार्थानां ग्रहणाय प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यं न भवति इन्द्रियत्वाच्चक्षुर्वत्। शब्दा वा प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्या न भवन्ति समानेन्द्रियग्राह्यसमानधर्मापन्नत्वे सति युगपदिन्द्रियसम्बद्धत्वात् घटादिवत्।'–न्यायसा० पृ० ३०। 'ननु नियतव्यञ्जककृता नियतश्रुतिरित्यत्राह–नहीत्यादि। न हि यस्मात् समानदेशानाम् समानाक्षविषयाणामेतत् नियतव्यञ्जकत्वं न्याय्यम्।'–सिद्धिवि०, टी० पृ० ५५४B। 'समानकरणानां तादृशामभिव्यक्तिनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां सङ्कुला श्रुतिः स्यात्।'–अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०५। प्रमेयक० पृ० ४२३। सन्मति० टी० पृ० ३६। स्या० र० पृ० ६८३। प्रमेयर० ३।१००। शास्त्रवा० टी० पृ० ३७८A।

1 कल्प्येत ब०, श्र०।

समानदेशत्वे समानेन्द्रियग्राह्यत्वे च आवरणभेदस्य व्यञ्जकभेदस्य चानुपपत्ते । तथाहि–शब्दा प्रतिनियतावरणावार्या प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्या वा न भवन्ति, अभिन्नदेशत्वे सति एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्, यदित्थं तत्तथा यथा एकघटवृत्तिसामान्य-सङ्ख्या-रूप-परिमाण-धर्मादि, तथा चैते शब्दा , तस्मात्तथेति । 'अभिन्नदेशत्वात्' इत्युच्यमाने रूपरसादिभि-र्व्यभिचार , तेषामेकद्रव्यवृत्तित्वेऽपि प्रतिनियतव्यञ्जकप्रतीते , अत 'एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्' इत्युक्तम् । तस्मिंश्चोच्यमाने भिन्नदेशव्यवस्थितघटादिनिष्ठे सामान्यादिभि अनेकान्त , तन्निवृत्त्यर्थम् 'अभिन्नदेशत्वात्' इत्यभिहितम् । तदतोऽनुमानात् शब्दाना प्रतिनियत-व्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वाऽव्यवस्थिते अयुक्तमुक्तम्–

''अन्यार्थं प्रेरितो वायु यथान्य न करोति वै । तथान्यवर्णसंस्कारशक्तो नान्य करिष्यति ॥१॥''

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८० ।] इत्यादि ।

यदि च ताल्वादयो ध्वनयो वा शब्दाना व्यञ्जका , तर्हि तद्व्यापारे नियमेन उपलब्धिर्न स्यात् । कारकव्यापारो ह्येष –स्वसन्निधाने नियमेन कार्यसन्निधापन नाम, न व्यञ्जकव्यापार । न खलु यत्र यत्र व्यञ्जक प्रदीपादि तत्र तत्र व्यङ्ग्यस्य घटादे सन्निधानमुपलब्धिर्वा नियमतोऽस्ति कारक-व्यञ्जकयोरविशेषप्रसङ्गात्, चक्रादिव्यापार-वैयर्थ्यानुषङ्गाच्च । अथ घटादेरसर्वगतत्वात् व्यञ्जकसन्निधाने नियमत सन्निधान-

(१) ''अन्यार्थमिति अन्यवर्णनिष्पत्त्यर्थम् । अन्यवर्णसंस्कारशक्त इति अन्यवर्णप्रतीत्यर्थ संस्कारो य श्रोत्रस्य सोऽन्यवर्णसंस्कारशब्देनोक्त न तु वर्णसंस्कार एव श्रोत्रसंस्कारस्य प्रकृतत्वात् । नान्य करिष्यति इति नान्य वर्ण श्रोत्रसंस्कारद्वारेण संस्करिष्यतीत्यर्थ ।'–तत्त्वसं० प० पृ० ६०८ । (२) 'करोति च'–स्या० र० प० ६८४ । 'करोति स'–तत्त्वसं० पृ० ६०८ । प्रकृतपाठ –प्रमेयक० पृ०४२३। सन्मति० टी० पृ० ३६ । (३) भो जना –आ० टि० । (४)'एकोपलम्भे सर्वेषामुपलम्भ प्रसङ्ग' इत्युपालम्भस्य समाधानमिदं मीमांसकेन प्रोक्तम्–आ० टि० । (५) तुलना–''कारणाना समग्राणा व्यापारादुपलम्भिन । नियमेन च कार्यत्व व्यञ्जके तदसम्भवात् । नहि कस्यचित् व्यापृतेषु करणेषु गन्धानुपलब्धि न चावश्य व्यञ्जकव्यापाराऽयमुपलम्भयति क्वचित् प्रकाशेऽपि घटानुपलब्धे । स च नियमेनोपलब्धि तद्व्यापाराच्छब्दस्य तदुद्भवे स्यात् । अवस्तुव्यापारेऽपि तत्सिद्धयोगात् । किञ्च करणाना समग्राणा व्यापारात् परिस्पन्दादिलक्षणात् नियमेन शब्दस्य उपलब्धित कारणात् कार्यत्व प्राप्तम् । किं कारणम् ? व्यञ्जके हेतौ तदसम्भवात् नियमेन व्यङ्ग्यस्योपलम्भासंभवात् । –प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२६५ । व्यञ्जकव्यापृतौ न स्यात् व्यङ्ग्यस्य नियमात् गति नावश्यम्भावनियम स्याच्छ्रुतरुच्चारणात्तत ।''–सिद्धिवि०, टी० पृ० ५५५A । 'न कश्चिद्विशेष हेतु ताल्वादयो व्यञ्जका न पुनश्चक्रादयोऽपि इति । ते वा घटादे कारका न पुन शब्दस्य ताल्वादयोऽपीति । न हि व्यञ्जकव्यापृतिर्नियमेन व्यङ्ग्यं सन्निधापयति । सन्निधापयति च ताल्वादिव्यापृति-नियमेन शब्द ततो नासौ ताल्वादीना व्यङ्ग्य चक्रादीना घटादिवत् ।'–अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०३ । 'यदि च ताल्वादयो ध्वनयो वास्य''–प्रमेयक० पृ ४१५ । स्या० र० पृ० ६८४ । (६) वायव –आ० टि० । (७) ''प्राक् सत स्वरूपसंस्कारक हि व्यञ्जकम्, असत स्वरूपनिर्वर्तक कारकम् ।'–प्रमेयक० पृ० ११६ । (८) घटाद्युत्पादने । (९) प्रदीपादिनिव साध्यसिद्ध –आ० टि० ।

1–णस्य भेदस्य ब० । 2–[illegible]–आ० । [illegible] कारकस्य व्या–ब० ।

मुपलम्भो वा, शब्दस्य तु भवति विपर्ययात्, तदप्यचर्चिताभिधानम्, तत्सर्वगतत्वा-सिद्धेः । तथाहि-शब्दः सर्वगतो न भवति सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटादिवत् । ततो घटादिभ्यः शब्दस्य विशेषाभावाद् उभयोः कार्यत्वं व्यङ्ग्यत्वं वाऽविशेषतोऽभ्युपगन्तव्यम् ।

किञ्च, एते ध्वनयः कुतः प्रतिपन्नाः येन तदधीना शब्दश्रुतिः स्यात्-प्रत्यक्षेण, अनुमानेन, अर्थापत्त्या वा ? प्रत्यक्षेण चेत्; किं श्रोत्रेण, स्पार्शनेन वा ? न तावत् श्रोत्रेण, तथा प्रतीत्यभावात् । नहि शब्दवत् श्रोत्रे ध्वनयः प्रतिभासन्ते, विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात् । तत्र तत्प्रतिभासाभ्युपगमे च अपरशब्दकल्पनावैयर्थ्यम्, ध्वनीनामेव श्रावणस्वभावतया शब्दत्वप्रसङ्गात् । अथ स्पार्शनप्रत्यक्षेण ध्वनयः प्रतीयन्ते, स्वकरपिहितवदनो हि वदन् स्वकरतलस्पर्शनेन तान् प्रतिपद्यते, इत्यप्यसाम्प्रतम्, वायुवत् ताल्वादिव्यापारानन्तरं विप्रुषामुपलम्भतः शब्दाभिव्यञ्जकत्वप्रसङ्गात् । वक्तृमुखप्रदेश एव तासां प्रक्षयतः श्रोतृश्रोत्रप्रदेशे गमनाभावात् नेद्, इत्यन्यत्रापि समानम् । न खलु वायवोऽपि तत्र गच्छन्तः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते । शब्दप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या तु प्रतीतिः उभयत्र तुल्या । यथा च स्तिमितभाषिणो न विप्रुषामुपलम्भः तथा वायूपलम्भोऽपि नास्ति ।

(१) तुलना- व्यापिनः शब्दा नित्याश्च ततो व्यापिनित्यत्वाच्छब्दानां व्यञ्जकस्य करणस्य व्यापारात् सर्वत्रोपलब्धिः घटादयस्तु न व्यापिनः नापि नित्याः तेन ते व्यञ्जकव्यापारेण नावश्यमुपलभ्यन्त इति यद्यय(?)क इदानीं घटादिषु समाश्वास निश्चय, यथा ते न नित्या नापि व्यापिन इति यावता तेऽपि नित्या व्यापिनश्च भवन्तु । -प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३८५ । नच दोषः सर्वगतत्वाद्वर्णानामित्यपि वानम्, प्रमाणबलायातत्वाभावात् अत्राऽपि तथाभावानुषङ्गात् । -अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०३ । स्या० र० पृ० ६८४ । (२) सामान्यनिरासाय विशेषणमुक्तम्-आ० टि० । तुलना-तदुक्तं न च सर्वगताऽमूर्तनित्यकात्माऽत्र युज्यते । वर्णो बाह्येन्द्रियग्राह्यस्वभावत्वाद् घटादिवत् ॥ -पत्रप०पृ० ११ । न सर्वगतः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटादिवत् । -प्रमेयक० पृ०४१५ । सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् । -स्या० र० पृ० ६८४ । (३) तुलना-प्रमेयक० पृ०४१८ । स्या० र० पृ०६८४ । (४) श्रोत्र । (५) तुलना-'ध्वनय एव हि विशिष्टा वर्णरूपा वाचकाः । तेभ्यो भिन्नोऽर्थान्तरं वाचकं शब्दरूपमस्तीत्येतत्सत्ताग्राहकप्रमाणाभावात् अतिबालिशप्रदर्शनम् । किं कारणम् ? यतो न वयमवाचकं ध्वनिं शब्दं च वाचकं पृथग्रूपमिति ध्वनिभ्यो भिन्नस्वभावमुपलक्षयामः तस्मात् ध्वनिविशेष एवाकारादिरूपेण स्थितः वर्णस्य'-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३६८ । यतो ध्वनिविशेष एव वर्ण उच्यते । तेन द्रुतोच्चारितो ध्वनिविशेषः द्रुतो गव्यक्तिरुच्यते, मध्योच्चारितो मध्यगव्यक्तिः विलम्बितोच्चारितो ध्वनिविशेषो विलम्बिता गव्यक्तिः न तु व्यञ्जकेभ्यो ध्वनिभ्योऽन्यो गकारः प्रतिभासते "-प्रमाणवा०स्ववृ०टी०पृ०३८२ । (६) ध्वनीन् । (७) तुलना- वायुवत्ताल्वादिव्यापारानन्तरं कफाणूनामप्युपलम्भनं शब्दाभिव्यञ्जकत्वप्रसङ्गात् । -प्रमेयक० पृ० ४१८ । स्या० र० पृ० ६८४ । (८) यथा ताल्वादिव्यापारानन्तरमुपलभ्यते तत्तच्छब्दाभिव्यञ्जकं यथा वायुः तथा च विप्रुष इति -आ० टि० । (९) विप्रुषाम् कफकणानाम् । (१०) शब्दाभिव्यञ्जकत्वम् । (११) ध्वनावपि । (१२) श्रोतृश्रोत्रप्रदेशे । (१३) वायुवत् कफाणुष्वपि समाना ।

1 ध्वनिविषय नास्ति आ० । 2 श्रोत्रेण श्र० ब० । 3 स्पार्शनेन श्र० । 4 शब्दवत्तत्र ध्वनयः श्र० ब० । 5 विप्रुषाणामु-आ० । 6 तेषां आ० । 7 प्रत्यक्षतः प्रक्षयत ब० । 8 विप्रुषोपलम्भ आ० ।

स्तिमितस्य कल्पनमुभयत्र तुल्यम्। एतेन वक्तो मुखाग्रस्थिततूलादेः प्रेरणोपलम्भात् अनुमानतो ध्वनीन् प्रतिपद्यते, इत्यपि प्रत्युक्तम्, तद्वद् विप्रुषामपि श्रुतेः प्रतिपत्तिप्रसङ्गात्।

अथ अर्थापत्त्या ध्वनयः प्रतीयन्ते, तथाहि–शब्दस्तावत् नित्यत्वात् नोत्पद्यते, संस्कृतिरेव तु क्रियते, सा च विशिष्टा नोपपद्येत यदि ध्वनयो न स्युः। उक्तञ्च–

"शब्दोत्पत्तेर्निषिद्धत्वात् अन्यथानुपपत्तितः। विशिष्टसंस्कृतेर्जन्म ध्वनिभ्योऽध्यवसीयते॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १२६-२७।] इति।

सम्प्रत्याह, यतः केयं विशिष्टा संस्कृतिर्नाम–शब्दसंस्कारः, श्रोत्रसंस्कारः, उभयसंस्कारो वा? त्रिविधो हि संस्कारो मीमांसकैरिष्टः।

"शब्दस्य हि संस्कारादिन्द्रियस्योभयस्य वा।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४२।]

"स्थिरवाय्वपनीत्या च संस्कारोऽस्य भवन् भवेत्।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६२।] इत्यभिधानात्।

तत्राद्यपक्षे कोऽयं शब्दसंस्कारो नाम–शब्दस्योपलब्धिः, आत्मभूतः कश्चिद्-

---

(१) वायून्–आ० टि०। (२) 'मुखाद्विप्रुषो निःसरन्ति मुखाग्रस्थितवस्त्रे आर्द्रतादर्शनात्' इत्यनुमानात्। (३) विप्रुषो हि मुखाग्रस्थवस्त्रादौ दृश्यन्ते–आ० टि०। (४) ध्वनयः सन्ति विशिष्टसंस्कारान्यथानुपपत्तेः। "तथा हि सन्ति शब्दव्यञ्जका ध्वनयः शब्दप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तेः।"–स्या० र० पृ० ६०५। (५) "नन्वेवमविशेषे किमिति संस्कारविशेषावाप्तिरेवाङ्गीक्रियते न शब्दविशेषोत्पत्तिरित आह–शब्दोत्पत्तेरिति। प्रागनुपजातपश्चादुपजातशब्दोपलम्भानुपपत्त्याऽवश्यं कल्पनीये कस्मिंश्चित् प्रत्यक्षतया शब्दोत्पत्तेर्निषेधात् संस्कारकल्पनैव युक्तेति।"–न्यायर०। 'ध्वनिभ्यो व्यवसीयते'–प्रमेयक० पृ० ४१८। प्रकृतपाठः–तत्त्वसं० पृ० ६११। (६) 'इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्यैवोभयस्य वा। क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम्॥"–वाक्यप० १।७९। (७) 'सा हि स्याच्छब्द'–मी० श्लो०। तत्त्वसं० पृ० ५९८। अनेनैव रूपेण उद्धृतोऽयम्–प्रमेयक० पृ० ४१९। "साऽभिव्यक्तिः शब्दस्य भवन्ती वायवीयैः संयोगविभागैः शब्दसंस्काराद्वा भवेत् इन्द्रियसंस्काराद्वा उभयस्य वा शब्दस्येन्द्रियस्य च संस्कारात्।"–तत्त्वसं० प० पृ० ५९९। (८) 'द्विविधो हि वायुः स्थिरोऽस्थिरश्च। तत्र यः स्थिरः स घनावयवस्तिमितस्वभावः श्रोत्रदेशे शब्दमावृत्यास्ते तस्य च वक्तृप्रयत्नसमुत्थेन वायुना संयोगविभागा उत्पद्यन्ते। तैश्च संयोगविभागैः तस्य स्थिरस्य वायोरपनयः क्रियते स एव च शब्दस्य संस्कारो नान्यः स्वलक्षणपुष्ट्यादि तस्य नित्यत्वेनकरूपत्वात्।"–तत्त्वसं० प० पृ० ६०१। (९) तुलना–"भवन्ती वा कारणेभ्योऽतिशयवत्ता वा शब्दस्य व्यक्तिः आवरणविगमो विज्ञानं वा गत्यन्तराभावात्। यत एव तस्मात् न व्यक्तिः शब्दस्य कारणेभ्यः किन्तूत्पत्तिरेव। भवन्ती वा कारणेभ्यः सकाशात् व्यक्तिरन्यथा भवेत्–पूर्वावस्थापरित्यागेन अतिशयवत्ता वा शब्दस्य व्यक्तिर्भवेत् उपलम्भावरणविगमो वा, शब्दालम्बनं विज्ञानं वा व्यक्तिः, प्रकारत्रयव्यतिरेकेण गत्यन्तराभावात्।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३८६। इमे सर्वे विकल्पाः–प्रमेयक० पृ० ४१९। "न च शब्दसंस्कारः–विमतिनाशातिशयाधानमनतिशयव्यावर्तनमावरणापगमो वा"–स्या० र० पृ० ६८५। रत्नाकराव० ४।९।

---

1 स्तिमितकल्प–आ०। 2 विप्रुषाणामपि आ०। 3–भ्योऽवसी–ब०। 4 एतदप्य–आ०। 5 संस्कार इति–ब०।

तिशय, अनतिशयव्यावृत्ति, स्वरूपपरिपोष, व्यक्तिसमवाय, तद्ग्रहणापेक्षग्रहणता, व्यञ्जकसन्निधिमात्रम्, आवरणविगमो वा ? यदि शब्दस्य उपलब्धि, कथमसौ ध्वनीनां गमिका शब्दश्रोत्रमात्रभावित्वात्तस्याः ? तथाप्यन्यनिमित्तकल्पने हेतूनामनवस्थिति। आत्मभूत कश्चिदतिशय अनतिशयव्यावृत्तिर्वा, इत्यत्रापि अतिशय-दृश्यस्वभाव एव, अनतिशयव्यावृत्तिश्च अदृश्यस्वभावखण्डनमेव। [3]ते[4] च तैर्नो भिन्ने, अभिन्ने वा विधीयेते ? यदि भिन्ने, तदा तत्करणे शब्दस्य न किञ्चित्कृतमिति तदवस्था अस्य अश्रुति स्यात्। अथ अभिन्ने, तर्हि शब्दस्यापि तद्वत् कार्यतानुषङ्गादनित्यत्वप्रसक्ति। [5]यो हि यस्मादभिन्नस्वभाव तत्करणे तस्यापि करणम् यथा अतिशयानतिशयव्यावृत्तिस्वरूपस्य, ताभ्यामभिन्नस्वभावश्च शब्द इति।

किञ्च, श्रोत्रप्रदेश एव अस्य ध्वनिभि संस्कार [8]क्रियेत, सर्वत्रापि वा ? प्रथमपक्षे तावन्मात्र एव शब्द स्यात् न सर्वगत। तस्यैव अन्येन तद्विपर्ययरूपतया अवस्थाने दृश्यादृश्यत्वप्रसङ्गान्निरंशताव्याघात। दृश्येतररूपता चेकस्य प्रक्षनाद् समर्थ्यते, चेतनेतररूपतयापि एकस्य तद्वदवस्थित्यविरोधात्। घटादेरपि चैव सर्वगतत्वानुषङ्ग, सोऽपि हि दृश्यप्रदेशे दृश्य अन्यत्र चादृश्य इति यदसौ न सर्वत्र वशीभवेत्। सर्वत्र चास्य संस्कारे सर्वत्र सर्वदा उपलब्धि स्यात्, न वा क्वचित् कदाचिद[11]विशेषात्।

स्वरूपपरिपोषोऽप्यनुपपन्न, नित्यस्य स्वभावान्यथाकरणासंभवात्। करणे वा

(१) शब्दोपलब्धे। (२) शब्दश्रोत्रव्यतिरिक्त–आ० टि०। (३) तुलना– तत्र नातिशयान्तरमस्ति अनित्यताप्रसङ्गात् तस्याः पूर्वापररूपहान्युपजननलक्षणत्वात्। –प्रमाणवा० स्ववृ० १।२६५। विशेषाधानमप्यस्य नाभिव्यक्तिर्विभाव्यते। नित्यस्यातिशयोत्पत्तिविरोधात्स्वात्मनाशवत् ॥ –तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३८। (४) अतिशयो दृश्यस्वभाव एव अनतिशयव्यावृत्तिस्त्वदृश्यस्वभावखण्डनमेव ते चेत्ततोऽन्ये तत्करणेऽपि शब्दस्य न किञ्चित्कृतमिति तदवस्थाऽस्याऽश्रुति। अथानन्ये, तदा शब्दस्यापि कार्यतया अनित्यत्वानुषङ्गः। –प्रमेयक० पृ० ४१९। स्या० र० पृ० ६८५। (५) अदृश्य सन् अतिशये जाते दृश्यो जातः –आ० टि०। (६) अतिशय-अनतिशयव्यावृत्ती। (७) शब्दात् –आ० टि०। तुलना– विशिष्टसंस्कृति सा हि न शब्दव्यतिरेकिणी। शब्दस्यापि ततः प्राप्ते तत शब्दोऽपि जायते ॥'–तत्त्वसं० का० २५५०। (८) अतिशयोत्पादन अनतिशयव्यावृत्तौ वा। (९) शब्दस्य–आ० टि०। (१०) अतिशय-अनतिशयव्यावृत्तिवत्। (११) शब्द कार्य कार्यरूपाभ्यामतिशय-अनतिशयव्यावृत्तिभ्यामभिन्नस्वभावत्वात्। (१२) शब्दस्य। (१३) श्रोत्रप्रदेश एव चास्य संस्कारे तावन्मात्रक एव शब्द न सर्वगत स्यात्।'–प्रमेयक० पृ० ४१९। (१४) शब्दस्य। (१५) श्रोत्रदेशादन्यत्र (१६) अदृश्यरूपतया अशब्दरूपतया वा। (१७) शब्दस्य दृश्यादृश्यत्ववत्। (१८) शब्दस्य। (१९) तुलना– सर्वेषामुपलम्भः स्यात् युगपद्व्यापिता यदि ॥ संस्कृतस्योपलम्भे च क संस्कर्ताऽविकारिण। –प्रमाणवा० ३।१५३-५४।

1–वतिरस्तु व० श्र०। 2–तौ च ततो भिन्नौ अभिन्नौ वा आ०। 3 भिन्नौ आ०। 4 अभिन्नौ आ०। 5–कर्ते श्र०। 6 तत्कारणे श्र०। 7 एवध्व–श्र०। 8 क्रियते आ०। 9–त स्यात दृ–श्र०। 10 दृष्टप्र–श्र०। 11–चित स्वरूप–श्र०।

अतिशयपक्षभाविदोषानुषङ्गः । नापि व्यक्तिसमवायः, अनभ्युपगमात्, अन्यथा शब्दस्य सामान्यान्नि[3]रूपताप्रसङ्गः । अत एव न तद्ग्रहणापेक्षग्रहणता । नापि व्यञ्जकसन्निधिमात्रम्, सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रतिपत्तृभिः सर्वशब्दानां ग्रहणप्रसङ्गात् । आवरणविगमरूपे तु तत्संस्कारे युगपन्निखिलशब्दानामुपलब्धिः स्यात् । प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वादयमदोषः, इत्यपि मनोरथमात्रम्, तेषां तद्व्यङ्ग्यत्वस्यापास्तत्वात् ।

मा भूत्तर्हि शब्दसंस्कारोऽभिव्यक्तिः, इन्द्रियसंस्कारस्तु भविष्यति । तदुक्तम्—
"अथापीन्द्रियसंस्कारः सोप्यधिष्ठानदेशतः । शब्दं न श्रोष्यति श्रोत्रं तेनासंस्कृतशष्कुलि ॥१॥
शेषासंस्कृतदेशत्वात् ध्वनेर्न श्रोत्रसंस्क्रिया । अतोऽधिष्ठानभेदेन संस्कारनियमः स्थितः ॥२॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६९–७१] इति,
तदप्यविचारितरमणीयम्, इन्द्रियसंस्कारपक्षेऽपि सकृत् संस्कृतस्य श्रोत्रस्य युगपन्निखिलशब्दप्रकाशकत्वप्रसङ्गात् । नहि अञ्जनाग्निना संस्कृतं चक्षुः सन्निहितं स्वविषयं नीलधवलादिकं किञ्चित् पश्यति किञ्चिन्नेति, वर्तैलाग्निना संस्कृतं श्रोत्रं वा कांश्चिदेव गकारादिवर्णान् शृणोति कांश्चिन्नेति नियमो दृष्टः, येनात्रापि तथा कल्पना स्यात् । ततोऽयुक्तमेतत्—

(१) शब्दोऽपि व्यक्तिषु समवैति—आ० टि० । (२) यदि शब्दः व्यक्तिषु समवेयात् तदा । (३) सामान्यं हि व्यक्तिषु समवैति—आ० टि० । (४) आदिपदेन संयोगादयोऽनेकस्था पदार्था ग्राह्याः । (५) सामान्यरूपापत्तिप्रसङ्गादेव—आ० टि० । (६) व्यक्तिग्रहणापेक्षया स्वज्ञानजनकता । (७) शब्दसंस्कारे । तुलना—"तद्रूपावरणानां च व्यक्तिस्ते विगमो यदि । अभावे करणग्रामसामर्थ्यं किन्न तद्भवेत् ॥"—प्रमाणवा० ३।२६६ । (८) 'अधिष्ठानम्—कर्णशष्कुली । तत्संस्कारद्वारेण श्रोत्रस्य संस्कारो न केवलस्य । तेनासंस्कृताधिष्ठानत्वाच्च विदूरस्थान्यचित्तसुप्तमूर्च्छितानां श्रोत्रं न शृणोति । असंस्कृता कर्णशष्कुली यस्य तत्तथोक्तम् । अधिष्ठानदेशत इति सप्तम्यर्थे तसिः । यद्यप्यधिष्ठानसंस्कारकारिणो नादास्तद्देशेन्द्रियसंस्कारका वा, तथापि प्राप्ता एव सन्तः संस्कारमाजि पदार्थे संस्कारं कुर्वन्ति नाप्राप्ता इत्यतो न सर्वपुरुषाधिष्ठानादिसंस्कारः"—तत्त्वसं० प० पृ० ६०६ । (९) सप्तमी—आ० टि० । सप्तम्यर्थे पञ्चमीविभक्तिरियम् । (१०) 'अतो न श्रोष्यति'—स्या० र० पृ० ६८५ । (११) यस्यैव कर्णदेशं ध्वनिः प्राप्तः तस्यैव श्रोत्रसंस्कारः—आ० टि० । अप्राप्तकर्णदेशत्वात् ध्वनिना श्रोत्रसंस्क्रिया'—स्या० र० पृ० ६८६ । (१२) 'संस्कारनियमस्थितिः'—मी० श्लो० । प्रमेयक० पृ० ४२४ । 'संस्कारनियमः स्थितः'—तत्त्वसं० पृ० ६०६ । स्या० र० पृ० ६८६ । (१३) तुलना—"इन्द्रियस्यात्संस्कारः शृणुयान्निखिलं च तत् । संस्कारभेदभिन्नत्वाद्वा यनियमो यदि ॥ अनेकशब्दसंघाते श्रुतिः कल्पकरे कथम् ।"—प्रमाणवा० ३।२५५-५६ । 'तेषामपि श्रोत्रस्यावारकापनयनं संस्कारः शब्दग्रहणयोग्यतोत्पत्तिर्वा ।'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ५ । "इन्द्रियसंस्कारस्योन्मीलनालोकादेः सकृदिन्द्रियसम्बन्धयोग्यसर्वार्थोपलब्ध्यनुकूलसंस्कारजनकत्वं दृष्टं तद्वद्वायुरपि सकृदेव सर्वशब्दोपलब्ध्यनुकूलं श्रोत्रे संस्कारमादध्यात् तथा च सर्वशब्दोपलब्धिः स्यात् ।"—तत्त्वचिं० शब्द० पृ० ४०५ । 'न चैवमपि सर्वशब्दोपलम्भप्रसङ्गः संस्कृते हि श्रोत्रे सर्वेषां सान्निध्यात् ।'—प्रश० व्यो० पृ० ६४८ । (१४) 'वर्तैलाग्निना संस्कृतं श्रोत्रं वा कांश्चिदेव गकारादीन् शृणोति कांश्चिन्नेति नियमो दृष्टः ।'—प्रमेयक० पृ० ४२४ । सन्मति० टी० पृ० ३६ । स्या० र० पृ० ६८६ । शास्त्रवा० टी० पृ० ३७७B ।

1–रो भवित श्र० । 2 शृणोतीति नियमो आ० ब० ।

"यथा घटादेर्दीपादिरभिव्यञ्जक इष्यते । चक्षुषोऽनुग्रहादेव ध्वनिः स्यात् श्रोत्रसंस्कृत ॥
न च पर्यनुयोगोऽत्र केनाकारेण संस्कृतिः । उत्पत्तावपि तुल्यत्वात् शक्तिस्तत्राप्यतीन्द्रिया ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४२-४३] इति,

प्रदीपाद्यनुगृहीतचक्षुषा युगपद् घटाद्यनेकार्थग्रहणवत् ध्वन्यनुगृहीतश्रोत्रेण एकदा अनेकशब्दग्रहणप्रसङ्गात्। प्रयोगः-श्रोत्रम् एकेन्द्रियग्राह्याऽभिन्नदेशस्थितार्थग्रहणाय प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यं न भवति इन्द्रियत्वात् चक्षुर्वत्। तन्न श्रोत्रसंस्कारोऽप्यभिव्यक्तिर्घटते।

अस्तु तर्हि उभयसंस्कारोऽभिव्यक्तिः, तत्र उक्तदोषासंभवात्। तदुक्तम्-
"द्वयसंस्कारपक्षे तु वृथा दोषद्वये वच । येनान्यतरवैकल्यात् सर्वैः सर्वो न गृह्यते ॥"
[मी० श्लो० नादनि० श्लो० ८६ ८७ ।] इति,

तदप्ययुक्तम्, उक्तदोषानुषङ्गादेव, तथाहि-यदा एकवर्णग्राहकत्वेन संस्कृतं श्रोत्रं संस्कृतं वर्णं प्रतिपद्यते तदा तत्रत्यसर्ववर्णानपि प्रतिपद्येत, संस्कृतश्च वर्णः सर्वत्र सर्वदा स्थितत्वेन, अन्यथा तत्प्रतीतिरेव न स्यात् तदात्मकत्वात्तस्य।

ततो नित्यैकरूपत्वे शब्दस्य आवार्यावारकभावस्य व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्य चाऽनुपपत्तेः नावरणकृता प्रागुच्चारणादस्याऽनुपलब्धिः। अतः ताल्वादिव्यापारान-

(१) कीदृशं पुनर्ध्वनीनामभिव्यञ्जकत्वम् ? तद्दर्शयति यथेति। तेजसश्चाक्षुषस्य आप्यायनानुग्रहं कुर्वन् प्रदीपो यथा चाक्षुषाणां घटादीनां व्यञ्जको भवति तथा ध्वनयोऽपि श्रोत्रसंस्कारं कुर्वन्तः शब्दस्याभिव्यञ्जका भविष्यन्तीति। -न्यायर०। उद्धृताविमौ-प्रमेयक० पृ० ४२४। तत्त्वसं० पृ० ६०२। (२) श्रोत्रसंस्कृतेरनुग्रहाद् ध्वनिः शब्दस्य व्यञ्जकः -आ० टि०। (३) द्रष्टव्यम्-पृ० ७०८ टि० १८। (४) श्रोत्रसंस्कारवैकल्यात्र सर्वैः पुरुषैः श्रूयते शब्दसंस्कारवैकल्याच्च न सर्वः शब्दः समुच्चितयोर्द्वयोः कारणत्वात्। प्रत्येककारणत्वे हि दोषद्वयं स्यादिति।' -न्यायर०। संस्कारद्वयपक्षे तु वृथा दोषद्वयं हि तत्। येनान्यतरवैकल्यान्न सर्वे शब्दो न गम्यते। अन्यतरस्य श्रोत्रसंस्कारस्य शब्दसंस्कारस्य वा वैकल्यात् न शब्दो गम्यते। तथाहि-सत्यपि शब्दसंस्कारे बधिरस्य श्रोत्रसंस्कारवैकल्यान्न शब्दग्रहणम् अबधिरस्याप्यनभिव्यक्ते शब्दस्याग्रहणम्। क्वचित्पाठो मुधा दोषद्वय वच इति। -तत्त्वसं० प० पृ० ६१२। (५) मुधा दोषद्वयं वच -मी० श्लो०। स्या० र० पृ० ६८७। मुद्रितपाठ -तत्त्वसं० पृ० ६११। प्रमेयक० पृ० ४२४। (६) शब्दसंस्कारः श्रोत्रसंस्कारः -आ० टि०। (७) तुलना- तथाहि संस्कृता श्रोत्रवर्णा यस्य व्यञ्जकैः पुरा। न नष्टास्ते श्रुतिप्राप्ते सर्वे सर्वत्र नित्यतः। -तत्त्वसं० का० २५७३। यदैकवर्णग्राहकत्वेन संस्कृतं श्रोत्रं संस्कृतं वर्णं प्रतिपद्यते तदा तत्रत्यसर्ववर्णान् प्रतिपद्येत। -प्रमेयक० पृ० ४२५। स्या० र० पृ० ६८७। (८) तदाकाशदेशे सर्वेषामपि वर्णानां व्यापितया नित्यतया च विद्यमानत्वात्। (९) यदि संस्कृतं वर्णं सर्वत्र सर्वदावस्थितत्वेन न जानाति तदा। (१०) नित्यव्यापित्वात्। (११) तुलना- प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥ प्रागुच्चारणान्नास्ति शब्दः। कस्मात् ? अनुपलब्धेः। सतोऽनुपलब्धिरावरणादिभ्यः। एतन्नोपपद्यते कस्माद् ? आवरणादीनामनुपलब्धिकारणानामग्रहणात्। अनेन आवृतः शब्दो नोपलभ्यते असन्निकृष्टेन्द्रियव्यवधानादित्येवमादि अनुपलब्धिकारणं न गृह्यते इति सोऽयमनुच्चारितो नास्तीति। तस्मान्न व्यञ्जकाभावादग्रहणमपि त्वभावादेवेति। सोऽयमनुच्चार्यमाणः श्रूयते श्रूयमाणश्चाऽभूत्वा

1 सर्वदा च स्थि-श्र०। 2 वानु-ब०, श्र०।

न्तरमस्योपलम्भात् तदभावे चानुपलम्भात् तत्कार्यत्वमेव[1] अभ्युपगन्तव्यम्। ननु-खननाद्यनन्तरं व्योम[2] उपलभ्यते तदभावे च नोपलभ्यते, न च[1] तत्तत्कार्यम्[3], अतोऽनैकान्तिकत्वमस्य[4]। उक्तञ्च–

"अनैकान्तिकता[5] तावद्धेतूनामिह कथ्यते। प्रयत्नानन्तरं दृष्टिर्[6]नित्येऽपि न विरुध्यते॥" [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १९]

"आकाशमपि नित्यं सद् यदा भूमिजलावृतम्। व्यज्यते तदपोहेन खननोत्सेचनादिभिः॥
प्रयत्नानन्तरं ज्ञानं तदा तत्रापि विद्यते। तेनानैकान्तिको हेतुर्यदुक्तं तत्र दर्शनम्॥
अथ स्थगितमप्येतदस्त्येवेत्यनुमीयते। शब्दोऽपि प्रत्यभिज्ञानात् प्रागस्तीत्यवगम्यताम्॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३०–३३] इति[13],

तदप्यसुन्दरम्, एकस्वभावत्वस्य[14] आकाशेऽप्यसिद्धत्वात्। तद्धि[15] तत्स्वभावं सत् स्वविषयज्ञानजननैकस्वरूपम्, तद्विपरीतं वा स्यात्? यदि तज्जननैकस्वरूपम्, तदा तस्य न खननाद्यनन्तरमेव उपलब्धिः, किन्तु पूर्वमपि स्यात्। तद्विपरीतस्वरूपत्वे तु न कदाचनाप्युपलब्धिः स्याद्विशेषाभावात्। [16]विशेषे वा [17]तदेकरूपताव्याघातः। प्रत्यभिज्ञानाच्छब्दे प्राक्सत्त्वसिद्धिश्च लूनपुनर्जातनखकेशादावपि समाना। कथञ्चैवं ध्वनीनामपि प्राक्सत्त्वसिद्धिर्न स्यात्? य एव पूर्वमकारस्य व्यञ्जको ध्वनिः स एव पश्चादपि इति प्रतीतेः। तथा च [18]व्यङ्ग्यवद् व्यञ्जकस्यापि सर्वत्र सद्भावसिद्धेः [19]ताल्वादिव्यापारवैयर्थ्यम्, सर्वत्र सर्वदा व्यङ्ग्यप्रतीतिश्च स्यात्।

एतेनेदमपि प्रत्युक्तम्–'अन्यदापि यत् शब्दस्योच्चारणं तदस्याभिव्यञ्जकम् उच्चा-

---

भवतीत्यनुमीयते। ऊर्ध्वमुच्चारणाच्च श्रूयते स भूत्वा न भवति अभावान्न श्रूयते इति। कथम्? आवरणाद्यनुपलब्धेरित्युक्तम्। तस्मादुत्पत्तितिरोभावधर्मकः शब्द इति।'–न्यायभा० २।२।१८।

(१) ताल्वादिव्यापाररूपोच्चारणकार्यत्वम्। शब्दः अनित्यः ताल्वादिव्यापाररूपप्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति। (२) व्योम। (३) खननकार्यम्। (४) प्रयत्नानन्तरीयकत्वाख्यस्य हेतोः। (५) "तावच्छब्देनासिद्धतापि वदयन् इति प्रयत्नानन्तरखननादिहेतोस्तावदनैकान्तिकत्वं दर्शयति–प्रयत्नेनेति। दर्शनं हि तत्र सत्तां गमयति न कालान्तरे निषेधति तेन विपक्षेऽपि कालान्तरे सत्त्वसम्भवात्तत्र दर्शनम् अनैकान्तिकमिति।'–न्यायर०। (६) प्रयत्नानन्तरा दृष्टिः–मी० श्लो०। (७) उपलब्धिः–आ० टि०। (८) व्योमखननम्–आ० टि०। (९) 'दृश्यते–मी० श्लो०। (१०) "दर्शनम्–प्रयत्नानन्तरदर्शनम्"–तत्त्वसं० प० पृ० ६४०। दर्शनात्'–मी० श्लो०, तत्त्वसं०। (११) भूम्याद्यावृतमपि आकाशम्। (१२) उच्चारणात् प्राक्। (१३) उद्धृता इमे श्लोकाः–प्रमेयक० पृ० ४२२। स्या० र० पृ० ६८९। द्वितीयतृतीयौ–तत्त्वसं० पृ० ६४०। (१४) तुलना–"एकरूपता चाकाशस्याप्यसिद्धा"–प्रमेयक० पृ० ४२२। स्या० र० पृ० ६८९। (१५) आकाशं नित्यैकस्वभावम्। (१६) खननात् प्रागनुपलब्धिसमये स्वविषयज्ञानाजननस्वभावत्वे खननानन्तरञ्च स्वविषयज्ञानजननात्मकत्वे। (१७) आकाशस्य नित्यैकरूपता न स्यादिति भावः। (१८) शब्दवत्। (१९) ध्वन्युत्पत्तावेव ताल्वादीनामुपयोगः ते च सर्वदा सन्तीति।

---

1 न च तत्का–श्र०। 2–भावस्य आका–श्र०। 3 प्राक्सत्त्वसि–व०।

रणत्वात्'[1] इत्यादि, ध्वनावप्यस्य समानत्वात्। तथाहि–अन्यदापि यद् ध्वनेरुच्चारणं तत्तस्याभिव्यञ्जकम्[2] उच्चारणत्वात् इदानीं तदुच्चारणवत्।

एतेन "तावत्कालं स्थिरश्चैनं कः पश्चान्नाशयिष्यति।"[3] [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३६६] इत्येतदपि[4] प्रत्युक्तम्, ध्वनेरपि प्रत्यभिज्ञानात् पूर्वोत्तरकालद्वयावस्थायिनः प्रसिद्धस्य पश्चात् केनचिन्नाशानुपपत्तेः।

यदप्यभिहितम्[5]–'विवादाध्यासितः कालो गादिसम्बद्धः कालत्वात्' इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्, गादेः[6] उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य कालान्तरेऽनुपलम्भतोऽभावसिद्धेः, तत्र[7] तत्सद्भावावेदकानुमानस्य बाधितपक्षतया कालात्ययापदिष्टहेतुतया च अगमकत्वात्। विद्युदादेरपि चैवं[8] नित्यत्वं स्यात्, तथाहि–विवादाध्यासितः कालो विद्युदादिसम्बद्धः कालत्वात् विद्युदादिसम्बद्धकालवत्। प्रतीतिविरोधोऽन्यत्राप्यविशिष्टः। अत एव 'नित्यः शब्दः श्रावणत्वात्'[9] इत्याद्यप्ययुक्तम्, उदात्तादिभिर्ध्वनिधर्मैः[10] अनैकान्तिकत्वाच्च[11], ते हि श्रावणत्वेऽपि अनित्या भवद्भिः प्रतिज्ञाताः। [12]तेषामश्रावणत्वे श्रोत्रेण शब्दगतधर्मतया उपलम्भो न स्यात्, यदश्रावणस्वरूपं न तस्य शब्दधर्मतया[13] श्रोत्रेणोपलम्भः यथा नीलत्वादेः, अश्रावणस्वरूपाश्च उदात्तादयो ध्वनिधर्मा इति। तथा वीणादिशब्दैश्च अनैकान्तिकत्वम्, तेषामप्यनित्यत्वेऽपि श्रावणत्वात्।

यच्चान्यदुक्तम्[14]–'देशकालादिभिन्ना गोशब्दव्यक्तिबुद्धयः' इत्यादि, तदपि न साधीयः, गोशब्दलिपिबुद्ध्या[15] हेतोरनैकान्तिकत्वात्, सा हि 'गौः' इत्युत्पद्यते न च सम्प्रत्युत्पन्नगोशब्दबुद्धेः[16] विषया इति। न चैवं विषयभेदः क्वापि प्रसिद्ध्यति, सकलबुद्धीनाम्[17] अभिन्नविषयत्वप्रसङ्गात्। तथाहि–देशकालभिन्नवस्तुबुद्धयः एकविषया नयाऽनेकविषया

(१) पृ० ६९९ पं० ५। (२) ध्वनेरभिव्यञ्जकम्। (३) उद्धृतोऽयम्–न्यायवा० ता० पृ० २५४। (४) तुलना–तत्त्वसं० पृ० ९५५। तत्त्वचि० पृ० ३७९। (५) पृ० ६९९ पं० ९। (६) तुलना–'गादेरुच्चारणादनन्तरं विनाशस्य प्रत्यक्षप्रतिपन्नत्वेन प्रतिपादनात्'–स्या० र० पृ० ६८९। (७) कालान्तरे उच्चारणानन्तरम्। (८) शब्दोऽपि। (९) पृ० ६९९ पं० ११। (१०) तुलना–'उदात्तादिभिर्धर्मैरनैकान्तिकत्वात्। ते हि श्रवणग्राह्यत्वेऽपि न नित्या भवद्भिरङ्गीकृताः। तेषामश्रावणत्वे तु नीलादीनामिव श्रोत्रेणोपलम्भो न भवेत्। वीणादिशब्दैश्चानैकान्तिकत्वम् तेषां श्रावणत्वेऽप्यनित्यत्वात्।'–स्या० र० पृ० ६९०। (११) चशब्देन प्रतीतिविरोधः समुच्चीयते। (१२) उदात्तादीनाम्। (१३) भवन्मते–आ० टि०। (१४) पृ० ६९९ पं० १२। (१५) तुलना–'गोशब्दलिपिबुद्ध्या हेतोरनैकान्तिकत्वात्। सा हि गौरित्युल्लेखेनोत्पद्यते न च गोशब्दविषया देशकालादिभिन्नत्वाद् गोशब्दलिपीनाम्।'–स्या० र० पृ० ६९०। (१६) अन्यया हि लिपिबुद्धिः अन्यया हि गोशब्दबुद्धिः–आ० टि०। (१७) तुलना–'अन्यथा सर्वबुद्धीनामेकालम्बनता भवेत्। क्रमभावविरोधश्च शक्तकारणसन्निधेः॥'–तत्त्वसं० का० २४६६। स्या० र० पृ० ६९०।

1 तदनुच्चा–ब०। 2–तयो श्रावणाप–ब० तयोपलम्भो आ०। 3 गोरित्यु–ब०। 4–भिन्ना वस्तु–ब०। 5 नचानेक–ब०।

वस्तुबुद्धित्वात् सम्प्रत्युत्पन्नघटबुद्धिवत्। ततश्च अखिलवस्तुबुद्धीनाम् एकघटलक्षणवस्तुविषयत्वे घटबुद्धित्वमेव स्यात् न गोशब्दबुद्धित्वम्। अत कथं देशादिभिन्नगोशब्दव्यक्तिबुद्धीनां धर्मित्वम्, कथं वा गोशब्दबुद्धित्वं हेतुः, सम्प्रत्युत्पन्नगोशब्दबुद्धिवदिति दृष्टान्तो वा सिद्ध्येत् यतोऽनुमानं स्यात्? अथ गवाश्वादिवस्तुभेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तद्बुद्धीनामेकघटविषयत्वे साध्ये 'वस्तुबुद्धित्वात्' इत्यस्य कालात्ययापदिष्टत्वम् अग्नेरनुष्णत्वे द्रव्यत्ववदित्युच्यते; यद्येवम्, उदात्तादिधर्मभेदेन गोशब्दव्यक्तिभेदस्यापि प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तद्बुद्धीनामपि एकविषयत्वे साध्ये 'गौरित्युत्पद्यमानत्वात्' इत्यस्यापि कालात्ययापदिष्टत्वं स्यात्।

यदप्यभिहितम्[1]–'ह्यस्तनो गोशब्दोऽद्याप्यनुवर्त्तते' इत्यादि[2], तदप्यभिधानमात्रम्, ह्यस्तनाऽद्यतनगोशब्दयोर्भेदस्य प्रत्यक्षप्रसिद्धत्वेन तदभेदप्रसाधनस्य कालात्ययापदिष्टत्वात्। कथमन्यथा ह्यस्तनाऽद्यतनविद्युत्प्रकाशयोरपि एकत्वं न स्यात्। शक्यं हि वक्तुं ह्यस्तनो विद्युत्प्रकाशोऽद्याप्यनुवर्त्तते विद्युत्प्रकाशत्वात् अद्यतनविद्युत्प्रकाशवदिति। अथ तीव्रा[1] विद्युत् तीव्रतरा तीव्रतमेति प्रत्यक्षतः तीव्रादिधर्मात्मकतया विद्युत्प्रकाशस्य विभिन्नस्वभावस्य प्रतीतेः न तदैक्यप्रसाधकमनुमानं गमकम्, तदन्यत्रापि समानम्–गोशब्दस्यापि तीव्रादिधर्मोपेतस्य श्रोत्रप्रत्यक्षे प्रतिभासनात्। तद्धर्मस्य[4] अत्रौपाधिकत्वे विद्युत्यपि अस्तु तत्त्वस्तु विशेषाभावात्। अथ शुद्धाया विद्युतः कदाचिदप्यसंवेदनात् न तत्रास्यौपाधिकत्वम्, तदेतत् शब्देऽप्यविशिष्टम्, नहि तद्धर्मशून्यः[6] सोऽपि स्वप्नेऽपि प्रतिभासते। एतेन 'अद्यतनो वा गोशब्दो ह्योऽप्यासीत्' इत्यादि[11] प्रतिव्यूढम्, न्यायस्य समानत्वात्।

यदप्युक्तम्[12]–'शब्दो वाचको दीर्घकालावस्थायी' इत्यादि, तदपि चेष्टया[13] अनैकान्तिकम्, तस्याः सम्बन्धबलेन अर्थमतिहेतुत्वेऽपि दीर्घकालावस्थायित्वाभावात्।

एतेन 'यस्त्वस्थिरः स सम्बन्धबलेन नार्थं बोधयति' इत्यादि[14] प्रत्याख्यातम्,

(१) पृ० ७०० पं० ६। (२) तुलना–"ह्यस्तनाद्यतना सर्वे गोशब्दप्रत्यया इमे। नकार्थाः क्रमसम्भूते रूपगन्धादिबुद्धिवत् ॥"–तत्त्वसं० का० २४६५। स्या० र० पृ० ६९०। (३) तुलना–"स्वाभाविकत्वावधारणोपायस्य यत्र तत्र प्रसिद्धस्य अत्रापि तुल्यत्वात्। न हि पयसि शैत्यद्रवत्वे तेजसि वा भास्वरत्वोष्णत्वे स्वाभाविके इत्यत्रान्यत्प्रमाणं प्रत्यक्षात्"–स्या० र० पृ० ६९०। (४) उदात्तादिधर्मस्य। (५) शब्दे। (६) तीव्रतीव्रतरादिधर्मस्य। (७) तीव्रतीव्रतरादिसर्वधर्मशून्याया। (८) विद्युति। (९) उदात्तानुदात्तादिधर्मरहितः शुद्धः। (१०) शब्दोऽपि। (११) पृ० ७०० पं० ७। (१२) पृ० ७०० पं० ८। (१३) आह्वानादौ अङ्गुल्यादिकृतया–आ० टि०। तुलना–"चेष्टयाऽनैकान्तिकत्वात्"–स्या० र० पृ० ६९२। (१४) पृ० ७०० पं० ९।

1 यद्येवम् श्र०। 2–क्षसि–श्र०, ब०। 3 विद्युत्तीव्रतमेति श्र०। 4 श्रोत्रप्रत्यक्षप्र–श्र० श्रोत्रप्रत्यक्षेण प्र–ब०। 5–न्य स्वापे स्वप्नेपि श्र०। 6 बोधयति ब०।

चेष्टाया मन्यमानेन अर्थबोधकत्वेऽपि कादाचित्कनिमित्तत्वसंभवात्। ततोऽयुक्तमेतत्-

"कञ्चित्कालं स्थिरः शब्दः सैवकालमपि स्थिरः ।
विनाशहेतुशून्यत्वात् सामान्याकाशकालवत् ॥" [ ] इति,

यतः कञ्चित्कालावस्थायित्वं किम् उपलम्भकालावस्थायित्वमभिप्रेतम्, अतीतवर्त्तमान कालावस्थायित्वं वा ? प्रथमपक्षे चेष्टाया विद्युदादेश्च सर्वकालमपि स्थायित्वप्रसङ्गः, तथाविधकञ्चित्कालस्थिरत्वस्य तत्राप्यविशेषात्। अतीतवर्त्तमानकालावस्थायित्वञ्चास्य न कुतश्चित् सिद्ध्यति इत्युक्तं प्रागेव। हेतुश्चात्रासिद्धः, शब्दस्य कादाचित्कतया विनाशहेतुशून्यत्वानुपपत्तेः। यत् कादाचित्कं न तत् विनाशहेतुशून्यम् यथा विद्युदादि, कादाचित्कश्च शब्द इति।

यदपि-'विवादाध्यासितः काले गादिशब्दशून्यो न भवति' इत्याद्युक्तम्, तदपि विद्युदादौ समानत्वादयुक्तम्। तथाहि-विवादाध्यासितः कालो विद्युदादिशून्यो न भवति कालत्वात् तत्सत्त्वोपेतकालवत्। प्रत्यक्षबाधनम् उभयत्र तुल्यम्।

यदप्युक्तम्-'नित्यः शब्दः ततोऽर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तेः' इत्यादि, तदप्यविचारितरमणीयम्, धूमादिवदनित्यस्याप्यस्य सादृश्यतोऽर्थप्रतिपादकत्वोपपत्तेः। न खलु 'य एव सङ्केतकाले दृष्टः तेनैव अर्थप्रतीतिः कर्त्तव्या' इति नियमोऽस्ति, महानसदृष्टधूमसदृशादपि पर्वतधूमाद् वह्निप्रतिपत्तिप्रतीतेः। न च पर्वतमहानसप्रदेशवर्त्तिनो धूमव्यक्त्योरैक्यं सम्भवति, प्रतीतिनिरोधात्, सर्वस्य सर्वगतत्वानुषङ्गाच्च। अथ धूमसामान्यस्य अत्र गमकत्वम्, शब्दसामान्यस्य अन्यत्र वाचकत्वं किन्न स्यात् ? ननु शब्दसामान्यस्य वाचकत्वे शब्दस्य किमायातम् ? तर्हि धूमसामान्यस्याप्यनुमापकत्वे धूमस्य किमायातम् ? अथ धूमात्तस्याऽभेदात् तदनुमापकत्वे धूमस्याप्यनुमापकत्वम्, तर्हि शब्दात् तत्सामान्यस्याप्यभेदात् तद्वाचकत्वे तस्यापि वाचकत्वमस्तु अविशेषात्। अथ शब्दे सामान्यमेव नास्ति तत्कथमस्य वाचकत्वमुच्यते, धूमेऽपि तर्हि तन्नास्ति तत्कस्य

(१) उच्चारणानन्तरं यदुपलभ्यते स उपलम्भकालः -आ० टि०। (२) शब्दस्य। (३) तुलना- 'कादाचित्कत्वाच्च शब्दे तदसिद्धम् -स्या० र० पृ० ६९२। (४) पृ० ७०१ पं० ३। (५) तुलना- तदपि विद्युदादौ तुल्यत्वादयुक्तम् -स्या० र० पृ० ६९२। (६) शब्दे विद्युदादौ च। (७) पृ० ७०१ पं० ४। (८) तुलना- अनित्यत्वेऽपि सादृश्योपादाने सत्यर्थप्रतिपत्तेर्भावात्। तत्र यत्र गकारौकारविसर्जनीयानामित्थम्भूतानपूर्वीमुपलभते तत्र तत्र गोत्वविशिष्टोऽयं प्रतिपत्तव्यः प्रतिपादयितव्यश्चेति सङ्केतग्रहे सति तथाविधं शब्दमुपलभमानः तमर्थं प्रतिपद्यते प्रतिपादयति चेति।' -प्रश० व्यो० पृ० ६४९। धूमादिवदनित्यस्यापि शब्दस्य अवगतसम्बन्धस्य सादृश्यतोऽर्थप्रतिपादकत्वसंभवात्। -प्रमेयक० पृ० ४०९। सन्मति० टी० पृ० ३३। स्या० र० पृ० ६९२। प्रमेयर० ३।१००। (९) यदि महानसोपलब्ध धूमव्यक्तिः पर्वतेऽपि स्यात्तदा। (१०) धूमसामान्यस्य। (११) शब्दसामान्यस्य शब्दत्वस्य।

1 पूर्वकाल-श्र०। 2 इत्यवर्त्ते ब०, श्र०। 3 शब्दसामा-आ०। 4 धूमोऽपि श्र०।

गमकत्वमुच्येत ? अथ तद्भेदस्य प्रमाणसिद्धत्वात् 'धूमो धूमः' इत्यसन्दिग्धाऽबाध्यमानाऽनुगतप्रतीतिदर्शनात् अस्ति तत्र तत्, तदेतदन्यत्रापि समानम्। ननु शब्दव्यक्तीनां प्रत्यक्षतो भेदप्रसिद्धेः तत्र इष्टमेव शब्दत्वसामान्यम्, गादीनां तु एकैकव्यक्तिकत्वेन भेदाभावात्न तत्र गत्वादिसामान्यं सम्भवतीति तेन तस्य वाचकत्वाभावः, तदप्यसाम्प्रतम्, तेषामपि उदात्तादिभेदतो नानाव्यक्तिकत्वसम्भवाद् गत्वादिसामान्यसद्भावोपपत्तेः। 'ध्वनिधर्मा एव उदात्तादयः' इति च मनोरथमात्रम्, तेषां तद्धर्मत्वस्य प्रागेव कृतोत्तरत्वात्। ततोऽनित्यपक्षेऽपि शब्दादर्थप्रतिपत्तेरुपपत्तेः नार्थापत्तितोऽपि तन्नित्यत्वसिद्धिः। अतोऽयुक्तमुक्तम्–"अर्थापत्तिरियं चोक्ता" [मी० श्लो०] इत्यादि। प्रसाधितञ्च नित्यसम्बन्धपरीक्षावसरे अनित्यस्य एव शब्दस्य वाचकत्वमित्यलमतिप्रसङ्गेन।

यच्चान्यदुक्तम्–'सादृश्यस्य विचार्यमाणस्यानुपपत्तेः' इत्यादि, तदप्यनल्पतमोविलसितम्, तस्य आबालमनाकप्रतीतिगोचरचारितया अपह्नोतुमशक्यत्वात्। एकस्य हि स्वसामग्रीतो यादृशः परिणामः तादृश एवापरस्य सादृश्यं समलक्ष्यत्। तच्च व्यक्तिभ्यो भिन्नमभिन्नञ्च सामान्यपरीक्षाप्रघट्टके सप्रपञ्चं प्रपञ्चितमिति कृतं पुनः प्रसङ्गेन। ततो यद् यद्रूपतया कुतश्चिदपि प्रमाणान्न प्रतीयते न तत्तद्रूपतयाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा जगद् अद्वैतरूपतया, सर्वथा नित्यस्वभावतया न प्रतीयते च कुतश्चित्प्रमाणात् शब्द इति। तदनित्यस्वभावतया तु प्रमाणसद्भावात् तद्रूपतयाऽसौ अभ्युपगन्तव्यः।

तच्च प्रमाणम्–अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टं यथा घटः, कृतकश्चायमिति। न चेदमसिद्धम्, तथाहि–कृतकः शब्दः, कारणान्वयव्यतिरेकानु-

(१) महानसीयपर्वतीयादिभिन्नधूमव्यक्तीनामनेकत्वादस्ति तत्रानुगतं धूमत्वाख्यं सामान्यम् गादिवर्णास्तु एकैका अतः कथं तत्र गत्वम् व्यक्तिभेदस्य जातिबाधकत्वादित्याशयेन शङ्कते अथेति। (२) धूमत्वाख्यं सामान्यम्। (३) गत्वादौ। (४) गादिव्यक्तीनामपि। (५) उदात्तादीनाम्। (६) पृ० ७०२ प ९। (७) तुलना–"स्वहेतोरेकस्य हि यादृशः परिणामः तादृश एवापरस्य सादृश्यं न तु स एव। स च व्यक्तिभ्यो भिन्नोऽभिन्नश्च।"–प्रमेयक० पृ० ४११। (८) पृ० २८९। (९) तुलना–"नित्यत्वेऽपि शब्दानां सर्वदा स्यात् सकृच्छ्रुतिः। समासग्रहणायोग्यत्वात् व्यापिना समवस्थिते॥ तत्कृतमुपकारमात्मसात्कुर्वन् तद्देशवृत्तिनियमात् कूटस्थस्य न सम्भवति। सर्वगतत्वेऽपि विवक्षितशब्दश्रुतिनं स्यात्।"–सिद्धिवि० प० ५५४। "स्वतन्त्रत्वे तु शब्दानां प्रयासोऽनर्थको भवेत्। व्यक्त्यावरणविच्छेदसंस्कारादिविरोधतः॥ वर्णानिस्वरधाराया सकुलं प्रतिपत्तितः। क्रमेणानुग्रहेऽप्युक्तः सकृद्ग्रहणविभ्रमः। तान्वा सन्निधानेन शब्दोऽयं यदि जायते। को दोषो येन नित्यत्वं पुनश्चित्रं विकल्प्यते॥"–न्यायवि० श्लो० ४२२-२४। (१०) तुलना–'अनित्यः शब्दः इत्युत्तरम्। कथम्? आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च॥ आदिर्योनिः कारणम् आदीयते अस्मादिति। कारणवदनित्यं दृष्टम्। संयोगविभागजश्च शब्दः कारणवत्त्वादनित्य इति। का पुनरियमर्थदेशना कारणवत्त्वादिति? उत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्द इति, भूत्वा न भवति विनाशधर्मक इति। सांशयिकमेतत्–किमुत्पत्तिकारणं संयोगविभागौ शब्दस्य आहोस्विदभिव्य

1 भेदसिद्धे श्र०। 2–सत्वे भेदा–आ०। 3 यथा च जगद श्र०। 4 नित्यत्वस्व–श्र०। 5 कुतश्चेतिप्रमा–श्र०। 6–दृष्टं यथा ब०।

विधायित्वात्, यदित्थं तदित्थं यथा घटः, तथा च शब्दः, तस्मात्तथेति । नचेदमप्यसिद्धम्, ताल्वादिकारणव्यापारे सत्येव अस्यात्मलाभोपलम्भात् तदभावे चानुपलम्भात् मृद्दण्डादिकारणव्यापारभावाभावयोः घटस्य आत्मलाभाऽलाभोपलम्भवत् । न च तद्व्यापारे तदभिव्यक्तेरेव आत्मलाभो न शब्दस्य इत्यभिधातव्यम्, तस्याः प्रागेव प्रपञ्चतोऽपास्तत्वादिति ॥७॥

तदेवं वर्णानां पौरुषेयत्वप्रसिद्धौ पदवाक्यानामनायासेन तत्प्रसिद्धिरिति तदात्मकत्वात्तेषाम् । ननु लौकिकानां तेषां तत्सिद्धिः न वैदिकानामिति चेत्; न, तद्वत्तत्रैवान्यथाप्रतीतेः । "य एव हि लौकिकाः शब्दाः त एव वैदिकाः" [शाबरभा० १।३।३०] इत्यभ्युपगमव्याघातप्रसङ्गाच्च । तदपौरुषेयत्वप्रसाधकप्रमाणाभावाच्च, न च तदभावोऽसिद्धः, यतः तत्प्रसाधकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्, अन्यद्वा भवेत् ? न तावत्प्रत्यक्षम्, तस्य शब्दस्वरूपमात्रग्रहणे चरितार्थत्वेन तत्पौरुषेयत्वाऽपौरुषेयत्वग्राहकत्वाऽसंभवात् ।

क्तिकारणमित्यत आह–ऐन्द्रियकत्वात् इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्य ऐन्द्रियकः । किमयं व्यञ्जकेन समानदेशोऽभिव्यज्यते रूपादिवत् अथ संयोगजाच्छब्दाच्छब्दसन्ताने सति श्रोत्रप्रत्यासन्नो गृह्यत इति ? संयोगनिवृत्तौ शब्दग्रहणान्न व्यञ्जकेन समानदेशस्य ग्रहणम् । दारुव्रश्चने दारुपरशुसंयोगनिवृत्तौ दूरस्थेन शब्दो गृह्यते न च व्यञ्जकाभावे व्यङ्ग्यग्रहणं भवति तस्मान्न व्यञ्जकः संयोगः इतश्च शब्द उत्पद्यते नाभिव्यज्यते कृतकवदुपचारात् । तीव्रं मन्दमिति कृतकमुपचर्यते तीव्रं सुखं मन्दं सुखं तीव्रं दुःखं मन्दं दुःखमिति उपचर्यते च तीव्रः शब्दो मन्दः शब्द इति । –न्यायसू० भा० २।२।१३। 'अनित्यः शब्दः तीव्रमन्दविषयत्वात् दुःखवदिति कृतकवदुपचारादित्यनेन ग्रन्थेन सर्वानित्यत्वसाधनवर्गसंग्रहः कृतकवद्ग्रहणस्य उदाहरणार्थत्वात् । यथा सामान्यविशेषवत्त्वेऽस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात् उपलभ्यस्य अनुपलब्धिकारणाभावे सत्यनुपलब्धेः गुणस्य सतोऽस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात् इत्येवमादि । –न्यायवा० पृ० २९० । तदेवं तीव्रादिमदभिन्नत्वात्सुखादिवदनित्यत्वं शब्दानाम् । व्यञ्जकानुविधायी चाभूत्वा भवनस्योपलब्धेः कार्यत्वादनित्यत्वं घटादिवत् । तथा परमात्मगुणान्यत्वे सति व्यापकविशेषगुणत्वात् सुखादिवत् ।'–प्रश० व्यो० पृ० ६४९ । 'अतो यत्नजनितवर्णात्मा श्रवणमध्यस्वभावः प्राक् पश्चादपि पुद्गलानां नास्तीति तावानेव ध्वनिपरिणामः ।'–अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०८ । परिणामी शब्दः वस्तुत्वान्यथानुपपत्तेः । –तत्त्वार्थश्लो० पृ० ६ । 'अनित्यः शब्दः तीव्रमन्दादिधर्मोपेतत्वात् सुखदुःखादिवत्' –रत्नाकराव० ४।९। 'तस्माद्वर्णो न नित्यो नित्यो वा सत्त्वे सत्युत्पत्तिमत्त्वात् अस्मदादिबहिरिन्द्रियग्राह्यत्वे सति जातिमत्त्वात् अस्मदादिप्रत्यक्षगुणत्वात् आत्मवृत्त्यप्रत्यक्षत्वपक्षे प्रयत्नविशेषगुणत्वात् व्यापकसमवेतप्रत्यक्षविशेषगुणत्वात्, अनात्मप्रत्यक्षगुणत्वात् अव्याप्यवृत्तित्वात् बहिरिन्द्रियव्यवस्थाहेतुगुणत्वात् भूतप्रत्यक्षगुणत्वात् उत्कर्षापकर्षशब्दप्रवृत्तिनिमित्तजातिमत्त्वाच्चेत्यादि । –तत्त्वचि० शब्द० पृ० ४६० ।

(१) घटस्य । (२) ताल्वादिव्यापारे । (३) वर्णात्मकवाक्यपदानाम् । तुलना– यथा च वर्णा एव न नित्यास्तथा कथं तथा पुरुषविवक्षाधीनानुपूर्व्यादिविशिष्टवर्णसमूहरूपाणां पदानां कृतकत्वाच्च तत्समूहरूपस्य वाक्यस्य कृतकत्वाच्च तत्समूहस्य वेदस्येति –तत्त्वचि० शब्द० पृ०४६४। (४) पदवाक्यानाम् । (५) पौरुषेयत्वसिद्धिः । (६) तयोः लौकिकवैदिकपदवाक्ययोः । (७) उद्धृतमिदम्–सन्मति० टी० पृ० ३० । तन्त्रवा० पृ० १३४ । भाट्टचि० पृ० ४१ ।

---

1 तथा शब्द- श्र० ।

किञ्च, अनादिसत्त्वस्वरूपमपौरुषेयत्वम्, तत्कथम् [illegible]
अप्राणाः प्रतिनियतरूपादिगोचरचारितया अनादिकालेनाऽसम्बन्धात् [illegible]
सत्त्वेनाप्यसम्बन्धत तेज्ज्ञानाऽहेतुत्वात्।

ननु मा भूत् प्रत्यक्षतस्तदपौरुषेयत्वसिद्धिः, अनुमानात्तु सा [illegible]

वेदस्य अपौरुषेयत्व-मुररीकुर्वतां मीमांसकानां पूर्वपक्ष –

[illegible] नुमानम्–अपौरुषेयो वेदः कर्तुः स्मरणयोग्यत्वे सति [illegible] कर्तृकत्वाद् व्योमवत्। न चायमसिद्धः, वेदकर्तुः [illegible] स्मरणाभावात्। सतश्चास्य तदर्थानुष्ठानमस्य [illegible] प्रामाण्यान्ना तत्प्रामाण्यप्रसिद्धये स्मरणं स्यात्। ये हि यदर्थानुष्ठाने प्रवर्तन्ते [illegible]

(१) तुलना–"अनादिसत्त्वरूपञ्च अपौरुषेयत्वं कथमक्षप्रभवप्र [illegible] प० ३९१। (२) अनादिकाल। (३) अनादिसत्त्वरूपाऽपौरुषेयत्वनानाकार [illegible]। (४) [illegible] त्वात् सम्बन्धस्य सिद्धमिति। कथं पुनरिदमवगम्यते अपौरुषेय एव सम्बन्ध [illegible]? [illegible] भावात्। कथं सम्बन्धो नास्ति? प्रत्यक्षस्य प्रमाणस्याभावात् तत्पूर्वक [illegible] त्वात्प्रत्यक्षस्याविषयो भवेदिदानीन्तनानाम्। न हि चिरवृत्तं सत् स्मर्येत। न [illegible] मादिवत्स्मरणं भवितुमर्हति, पुरुषवियोगो हि तेषु भवति देशोत्सादन [illegible] वियोगः पुरुषाणामस्ति। स्यादेतत्–सम्बन्धमात्रव्यवहारिणो नित्ययाज्ञ [illegible] विस्मरेयुरिति, तन्न, यदि हि पुरुषः कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारयेत् [illegible] भवति। सम्प्रतिपत्तौ हि कर्तृव्यवहर्त्रोरर्थः सिद्ध्यति न विप्रतिपत्तौ। न हि [illegible] वहरन्त आद्यं प्रतीयरन् पाणिनिकृतिमननुमन्यमानस्य वा। तथा [illegible] स्विच प्रतीयेत पिङ्गलकृतिमननुमन्यमानस्य वा। तत्र कर्तृव्यव [illegible] व्यवहरद्भिरवश्यं स्मरणीयः सम्बन्धस्य कर्ता स्यात् व्यवहारस्य च। [illegible] न कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारार्थं केनचिद्वेदा प्रणीता इति। तस्मान्नि [illegible] –शाबरभा० १।१।५। पृ० ५२। बृहती० पृ० १७७। 'यदा चाप्त [illegible] न स्वशक्त्या तदाप्तत्वं मितो न स्मर्यते कथम्॥ यदा हि कश्चित् [illegible] प्रतिपादनाय वेदवाक्यानि कृतवान् तदाऽवश्यमसौ सम्बन्धस्य कर्ता, [illegible] नात्मकं व्यवहारं करोतीति समयव्यवहारयोरेककर्तृत्वं प्रतिपन्नम् [illegible] प्रतिपद्यमानानामवश्यं वाक्यकर्तुराप्तत्वं प्रतिपत्तृभिः स्मर्तव्यम्, त [illegible] प्रतिपद्यमाना समयकर्तारं तेन सह वेदकर्तुरेकत्वं तस्य चाप्तत्वं [illegible] मा नाभूत् कर्तृसम्प्रतिपन्नता। वैदिको व्यवहारस्तु न कर्तृस्मरणा [illegible] नाम समयकर्तुः व्यवहारकर्तुश्च सम्प्रतिपत्तिर्भूत्, वेदेऽपि प्रतिपत्ति [illegible] नाम। व्यवहारस्तु योऽग्निहोत्राद्यनुष्ठानात्मकः सोऽप्यार्थो [illegible] र्तृस्मरणे सिद्ध्येत् तदवश्यस्मर्तव्यस्य वेदानां सम्बन्धानाञ्च [illegible] दभावेऽवधारिते सिद्धं वेदानां सम्बन्धानाञ्च नित्यत्वमित्याह– [illegible] सम्बन्धा० श्लो० १२३, १३०। "कथं पुनरपौरुषेयत्वं वचनानाम्? [illegible] पं० पृ० १४०। "कर्तुरस्मरणाच्चापौरुषेयत्वम्"–भाट्टदी० पृ० [illegible] सत्यस्मरणाद् योग्यानुपलब्धिनिरस्तस्य कर्तुरनुमानासम्भवात् [illegible] कर्ता इति।'–शास्त्रदी० पृ० ६१६१६। ([illegible] तु। [illegible]

1 तत्र मात्रा–आ०, ब०। 2

तच्छास्त्रकर्त्तारमनुस्मरन्ति यथा अष्टकाद्यर्थानुष्ठानार्थिनः प्रणेतारं मनुम्, वेदविहितार्थानुष्ठाने बहुवित्तव्ययायाससाध्याऽग्निष्टोमादिकर्मारम्भणे प्रवर्त्तन्ते च प्रेक्षापूर्वकारिणः, अतस्तेषां महती तत्कर्तृस्मरणापेक्षा। ते हि अदृष्टफलेषु कर्मसु एवं निःशङ्का प्रवर्त्तेरन् यदि तेषां तद्विषयः सत्यतानिश्चयः स्यात्। न चासौ तदुपदेष्टुः स्मरणाभावे घटते पित्राद्युपदेशवत्। यथैव हि पित्रादिकमुपदेष्टारं स्मृत्वा स्वयमदृष्टफलेष्वपि कर्मसु तदुपदेशात् 'पित्रादिभिरेतदुपदिष्टं तेनाऽनुष्ठीयते' इति, एवं वैदिकेष्वपि कर्मसु अनुष्ठीयमानेषु कर्त्तुः स्मरणं स्यात्। न चाभियुक्तानामपि वेदार्थानुष्ठातृणां त्रैवर्णिकानां तत्स्मरणमस्ति, अतोऽसौ तत्र नास्तीति निश्चीयते।

छिन्नमूलत्वाच्च तत्र कर्तृस्मरणाभावः। स्मरणस्य हि अनुभवो मूलम्, न चासौ वेदे कर्तृविषयत्वेन विद्यते तत्कथं तत्स्मरणसम्भावनाशङ्काऽपि ? न च रचनावत्त्वेन अत्र भारतादिवत् कर्तृसद्भावप्रसिद्धेर्नास्य छिन्नमूलत्वमित्यभिधातव्यम्, वेदरचनायाः कर्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वात्। न च रचनामात्रस्यात्रोपलम्भात् कर्त्रनुमानं युक्तम्, जगतो बुद्धिमद्धेतुकत्वानुमानानुषङ्गतोऽनिष्टसिद्धिप्रसङ्गात्। अतो यादृशी रचना कर्त्रन्वयव्यतिरेकानुविधायिनी प्रतिपन्ना तादृश्येव परिदृश्यमाना कर्त्तारमनुमापयति इत्यभ्युपगन्तव्यम्। तत्कथं वेदे तेन कर्त्रनुमानशङ्काऽपि सम्भाव्यते ? अतो वैदिकी रचना अपौरुषेयी दृष्टकर्तृकरचनाविलक्षणत्वात् आकाशवदिति। तथा–

"वेदाध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाऽध्ययनं यथा॥" [मी० श्लो० वाक्याधि० श्लो० ३६६]

(१) कर्त्तारं। आग्रहायण्या ऊर्ध्वं कृष्णाष्टमीषु क्रियमाणाः श्राद्धविशेषाः। तथा च मनुवचनम्– 'पितृदैवताष्टकास्वपि'–मनुस्मृति० ४।१५०। (२) अनुभव। (३) 'विप्लवते खल्वपि कश्चित्पुरुषकृताद्वचनात्प्रत्ययः न तु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति। ननु सामान्यतो दृष्टं पौरुषं वचनं वितथमुपलभ्य वचनसामान्यादिदमपि वितथमवगम्यते न प्रत्ययात्। न ह्यन्यस्य वितथभावे अन्यस्य वैतथ्यं भवितुमर्हति अन्यत्वादेव। न हि देवदत्तस्य श्यामत्वे यज्ञदत्तस्यापि श्यामत्वं भवितुमर्हति।'–शाबरभा० १।१।२। 'वाक्यत्वात् पौरुषेयत्वं दृष्टान्तेनावधितम्। प्रतिहेतुविरुद्धश्च हेतुः स्यादस्मदादिषु कृत्रिमा॥'–शास्त्रदी० पृ० ६१५। प्रकृष्टं हि वचनं कस्यचिदेव कृत्रचिदेव तावत्सङ्घातमत्स्थं न पौरुषेयतामनुमापयितुमलम् वेदार्थविषयवाक्यरचनासामर्थ्यानुपपत्तेः। एवं हि पदसङ्घातानां पौरुषेयं विरचयितुं शक्यन्ते तत्र पौरुषेयत्वं दृष्टमित्यशक्यविरचनेषु पौरुषेयत्वानुमानं न क्रमते। न च पौरुषेयत्वं विना पदसङ्घातात्मकत्वं नोपपद्यते उच्चारणवशान् हि पदानि संहततामापद्यन्ते। –प्रक० प० पृ० ९८–९९। तन्त्ररह० पृ० ४३। (४) रचनामात्रात्। (५) उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्। उक्तमस्माभिः शब्दपूर्वत्वमध्येतृणाम्।"–जैमिनिसू० शाबरभा० १।१।३०। 'कर्त्रस्य कर्तुरस्मरणम् वेदार्थस्यातीन्द्रियत्वमित्येवमादिहेतुभिरध्येतृणामनादिप्रवृत्तानां शब्दपूर्वं उच्चारणात्तत्पूर्वो वेदो न केनचित्कृत्वा अध्यापितः प्रवर्तित इति अकृतकत्वहेतोरुक्तत्वात्'–मीमांसाभा० प० प० ७८। अप्रतिसाधनञ्च वाक्यत्वात् इति। विवादाध्यासितं वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकं वेदाध्ययनत्वादधुनातनाध्ययनवदिति। तदिदमाह सूत्रकारः– उक्तं तु शब्दपूर्व

1 तत्कर्त्तृस्मरणा–ब०। 2–त्तरकत्रनु–श्र०।

"अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ ।
कालत्वात्तद्यथा कालो वर्तमान समीक्ष (क्ष्य) ते ॥" [ ]

इत्यतोप्यस्य अपौरुषेयत्वसिद्धि । †नन्वाप्तप्रणीतत्वाभावे कथमस्य प्रामाण्य स्यादिति चेत् ? 'अपौरुषेयत्वादेव' इति ब्रूम । वचनस्य पुरुषदोषानुप्रवेशेनैव अप्रामाण्यप्रसिद्धे †। तदुक्तम्–

"शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितम् । तदभाव क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वत ॥
तद्गुणैरपकृष्टाना शब्दे सक्रान्त्यसभवात् । यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रया ॥"
[मी० श्लो० चोदना० श्लो० ६२, ६३]

न च आप्तगुणसक्रान्त्यैव शब्दस्य प्रामाण्यम्, वेदे च आप्तप्रणीतत्वाभावत तत्सक्रान्त्यसभवान्न प्रामाण्यमित्यभिधातव्यम्, यतो नात्र आप्तगुणसक्रान्त्या प्रामाण्यम् शब्दोच्चारणमात्रे तस्य व्यापारात्, शब्दस्तु स्वमहिम्नैव अवितथार्थप्रतिपत्ति कुर्वाण प्रमाणम् । न चैवमनाप्तस्यापि तदुच्चारणमात्रे व्यापारात् शब्द स्वमहिम्नैवासत्यप्रतीतिं कुर्वाण अप्रमाणमित्यभिधातव्यम्, अनाप्तप्रणीतत्वादिदोषाणाम् अप्रामाण्योत्पादनादन्यप्रयोजनाभावात्, आप्तप्रणीतत्वादिगुणाना तु दोषापसारणे व्यापारात् स्वत प्रामाण्य

त्वम्' इति । शब्दशब्देनात्र शब्दजन्यमध्ययनम् । तदयमर्थ –सर्वपुसामध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकम् सर्वे हि यथा गुरुणाऽधीत तथैवाधिजिगासन्ते न पुन स्वातन्त्र्येण कश्चिदपि प्रथमोऽध्येता वेदानामस्ति य कर्ता स्यात् तस्मादपौरुषेया वेदा ।'–शास्त्रदी० पृ० ६१७ । "विमत वेदाध्ययन परत नाध्येतृक वेदाध्ययनत्वात् सम्प्रतिपन्नाध्ययनवत्, आत्मत्व वेदकर्तृव्यक्तिसमवेत न भवति जातित्वात् गोत्ववदिति प्रतिहेतुविरुद्धञ्च वाक्यत्वम ।"–मानमेयो० पृ० १७३ । उद्धृतोऽयम्–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३३८ । न्यायम० पृ० २३३ । 'तदध्ययनपूर्वकम'–अष्टसह० पृ० २३७ । तत्त्वस० पृ० ६४३ । प्रमेयक० पृ० ३९६ । सन्मति० टी० पृ० १३७ । स्या० र० पृ० ६२७ । विश्वतत्त्वप्र० पृ० ३३ । 'तदध्ययनपूर्वकम्'–प्रमेयर० ३।९९ । रत्नाकराव० ४।९ ।

(१) ' वेदकारवियोगिनौ । कालत्वात्तद्यथा'–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३३८ । तत्त्वस० पृ० ६४३ । 'वेदकारविवर्जितौ –प्रमेयक० पृ० ३९८ । सन्मति० टी० पृ० ३१ । स्या० र० पृ० ६२७ । विश्वतत्त्वप्र० पृ० ३४ । प्रमेयर० ३।९९ । रत्नाकराव० ४।९ । (२) वेदस्य । (३) 'विप्लवते हि खल्वपि कश्चित्पुरुषकृताद्वचनात् प्रत्यय, न तु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति ।"–शाबरभा० पृ० १७ । (४) 'इति स्थिति'–मी० श्लो० । स्या० र० पृ० ६२७ । रत्नाकराव० ४।९ । प्रस्तुतपाठ–न्यायम० पृ० १६७ । प्रमाणप० पृ० ७८ । सिद्धिवि० टी० पृ० ४०६A । प्रमेयक० पृ० ३९७ । सन्मति० टी० पृ० १९ । प्रमेयर० ३।९९ । (५) शाब्द प्रत्यये । (६) आप्तस्य । (७) "तस्माद् गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावत । अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदित ॥ तत्रापवादनिर्मुक्तिर्वक्त्रभावाल्लघीयसी । वेदे तेनाप्रमाणत्व नाशङ्कामपि गच्छति । अतो वक्त्रधीनत्वात्प्रामाण्ये तदुपासनम् । न युक्तम्, अप्रमाणत्वे कल्प्ये तत्प्रार्थना भवेत् । ततश्चाप्ताऽप्रणीतत्वं न दोषायात्र जायते ।'–मी० श्लो० चोदना० श्लो० ६५ ७० ।

1–त्या यथा आ०, श्र० । 2–स्वमिति न श्रा–ब० । †एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ० । 3 न चाप्तप्रणीतत्वाभावे–ब० । 4 शब्दो आ० । 5–वतुरभावत श्र० । 6 शब्दस्तत्रा–श्र० । 7 नाप्तगुण–ब० ।

वेदे आप्तानामप्रणीतत्वाभावात् प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा, इत्यप्यसुन्दरम्, यत्र हि पुरुषकृता पदानुपूर्वी तत्र तदपेक्षं प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा स्यात्, वेदानुपूर्व्यास्तु नित्यत्वात् स्वभावेनैवार्थावबोधकत्वात् तन्निरपेक्षं प्रामाण्यम्। नहि तादृशीमानुपूर्वीं कश्चित् कर्त्तुं क्षमः अन्यत्राऽभिव्यक्तेः। पूर्वसिद्धानुऽपूर्वीतोऽपूर्वानुपूर्वीकरणे च कस्यचित् व्यात्यासंभवात्। छ्वर्णो वा तां तदध्येतॄभिः अन्यैर्वा निवार्येत। उक्तञ्च–

''यन्नयत्नाकरणं चास्य बहुभ्यः स्याविनारैता।'' [मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० १५०] इति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'कर्त्तुः स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्'

वेदापौरुषेयत्वस्य प्रतिविधानम्–

इत्यादि, तदसमीचीनम्, यतः किमिदम् अस्मर्यमाणकर्तृकत्वनाम– किं कर्तृस्मरणाभावः, अकर्तृकत्वं वा? प्रथमपक्षे व्यधिकरणासिद्धो हेतुः, कर्तृस्मरणाभावो हि आत्मनि वर्त्तते अपौरुषेयत्वं तु वेदे इति। अज्ञानासिद्धश्च, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्। नहि प्रत्यक्षं तद्ग्राहकम्, प्रतिनियतरूपादिगोचरचारितया अभावे तस्य प्रवृत्त्यसंभवात्। संभवे वा अभावप्रमाणकल्पनाऽनर्थक्यम् तत्साध्यस्य अध्यक्षादित एव प्रसिद्धेः। अभावप्रमाणात्तत्सिद्धौ तु तत्र तदुत्पत्तौ कारणं वाच्यम्, निष्कारणस्य कार्यस्योदयानुपपत्तेः।

''गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया॥'' [मी० श्लो० अभाव० श्लो० २७]

इति तत्कारणमस्तीति चेत्, ननु अतः प्रादुर्भूतमभावप्रमाणं तदभावं निराश्रयम्, साश्रयं वा प्रसाधयेत्? न तावन्निराश्रयम्, 'गृहीत्वा वस्तुसद्भावम्' इत्यभिधानात्। अनेन हि निषेध्याधारवस्तुग्रहणमभिदधता भट्टेन निषेध्याभावाश्रयः सूचित एव, अन्यथा प्रतिनियतवृत्तितया कर्तृस्मरणाभावसिद्धिः ततोऽतिदुर्लभा। यन्निराश्रयं न तत् प्रतिनियतवृत्ति यथा आकाशम्, निराश्रयश्च भवद्भिरभिप्रेतोऽभावप्रमाणात्प्रसिद्ध्यन् कर्तृस्मरणाभाव इति।

(१) पौरुषेयं तु वचनं प्रमाणान्तरमूलता। तदभावे हि तत् दुष्यदिति स्यन्न कदाचन॥ –मी० श्लो० चोदना० श्लो० ७१। (२) पुरुषगुणनिरपेक्षम्। (३) पूर्वानुपूर्वीतो विलक्षणा आनुपूर्वी। (४) विलक्षणां शब्दानुपूर्वीम्। (५) निवारणम् –मी० श्लो०। प्रकृतपाठ –स्या० र० पृ० ६२८। (६) पृ०७२१पं०५। (७) तुलना– किमिदं कर्तृस्मरणं नाम कर्तृस्मरणाभावः अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं वा? –प्रमेयक० पृ० ३९२। (८) अपौरुषेयो वेदः कर्तृस्मरणात् इत्यत्र प्रयोगः इतोऽव्यधिकरणत्वदोषात्।' –सन्मति० टी० पृ० ४१। (९) तत्रास्मर्यमाणकर्तृकत्वमसिद्धम् तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्।'– स्या० र० पृ० ६२९। (१०) अभावप्रमाणेन क्रियमाणस्य अभावज्ञानस्य। (११) कर्तृस्मरणाभावसिद्धौ। (१२) अभावप्रमाणोत्पत्तौ। (१३) द्रष्टव्यम्–पृ०४६४टि०१। (१४) कर्तृस्मरणाभावम्। 'नन्वतः प्रादुर्भूतमभावप्रमाणं तदभावं साश्रयमेव प्रसाधयेत् गृहीत्वा वस्तुसद्भावमित्यभिधानात्।''– स्या० र० पृ० ६२९। (१५) गृहीत्वा वस्तुसद्भावमिति श्लोकांशेन। (१६) निषेध्यस्य यः अभावः तस्य आश्रयः। (१७) अभावप्रमाणात्।

1–नैवावबोध–ब०। 2–त्वान्निरपे–ब०। 3–व्यापि व्यज्यते आ०। 4 पूर्वं सि–ब०। 5 ऽसम्भवा–आ०। 6 बहुभि ब०। 7 नि क्वा–आ०। 8 निषेध्याश्रय ब०।

अथ साश्रयोऽसौ प्रसाध्यते, ननु कोऽस्य आश्रय –स्वात्मा, सर्वप्रमातारो वा ? यदि स्वात्मा 'अमुष्मिन्मदीय आत्मनि वेदकर्तृस्मरणं नास्ति' इति, किमेतावता सिद्धम् ? पदार्थजातस्य अनेकस्य अत्र स्मरणं नास्ति, न चैतावता तस्याभावः सिद्ध्यति । ममानुष्ठातुरवश्यं स्मर्तव्योऽसौ, यदा स्मृतिपथप्रस्थायी न भवति तदाऽसन्, इत्यप्यसारम्, भवत्स्मरणाभावमात्रेण अर्थाभावाऽसिद्धेः । वस्त्रे स्वयं निहितेऽवश्यं स्मर्तव्ये कचिद् द्रव्यान्तरे विद्यमानेऽपि सद्भावेन अनेकान्तात् । तथा व्याधितेन उपयुज्यमानमौषधं स्वयं धृतं महत्यामप्यर्थितायां न स्मर्यते, न चैतावता तस्याऽभावः इत्यनेन चाऽनेकान्तः । अथ सर्वप्रमातारः, ननु 'त्रैलोक्योदरवर्तिनः प्रमातारो वेदकर्तारं न स्मरन्ति' इत्यसर्वविदो वेदनानुपपत्तिः । उपपत्तौ वा सर्ववेदित्वप्रसङ्गः ।

किञ्च, सर्वप्रमातृदेशान् गत्वा तांश्च पृष्ट्वा तत्र स्मरणाभावः प्रतीयेत, अन्यथा वा ? न तावदन्यथा, "गत्वा गत्वा तु तान् देशान्" [मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३८] इत्यस्य विरोधानुषङ्गात् । गत्वा चेत्, ननु तत्र तेषु पृष्टेषु 'न स्मराम' इति प्रतिवचनञ्च ब्रुवाणेष्वपि कः समाश्वासः पुरुषवचसामप्रामाण्येन अर्थतथाभावानुपपत्तेः ? न च सर्वेषामाप्तताप्रतिपत्तिरस्ति, यतः तद्गुणसङ्क्रान्त्या तत्र प्रामाण्यं स्यात्, तत्प्रतिपत्तेरेव असर्वविदो युगपत्क्रमेण चाऽसंभवात् ।

किञ्च, अभावप्रमाणस्य तत्र प्रवृत्तिः यत्र वस्तुसत्तावबोधार्थं प्रमाणपञ्चकं न प्रवर्तते ।

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १]

(१) भवत्स्मरणाभावस्य । 'अपि च किमशेषजनस्मरणनिवृत्तिरिह हेतुत्वेन विवक्षिता, आहोस्वित् कतिपयपुरुषस्मरणविनिवृत्तिः । तद्यदि सकलजनस्मरणविनिवृत्तिः, तदाऽसिद्धा, अवधारयितुमशक्यत्वादर्वाग्भागविद्भिः । अवधारणे वा त एव सर्वज्ञाः स्युः अर्वाग्भागविदो न भवेयुः । अथ कतिपयपुरुषापेक्षया, तदाऽनैकान्तिको हेतुः, विद्यमानकर्तृकेष्वपि कर्ता न स्मर्यते कश्चित् ।"–तत्त्वोप० पृ० ११७ । 'आश्रयश्चास्य स्वात्मा सर्वप्रमातारो वा –स्या० र० पृ० ६२९ । (२) मदीय आत्मनि । (३) "ममानुष्ठाने स्मर्तव्योऽसौ'–स्या० र० पृ० ६२९ । (४) वेदकर्ता । (५) "एवं तर्हि पितामहस्य पितरं मातामहीमातरम्, तन्मातापितरौ च न स्मरति तत्तेषामभावो भवेत् ।'–स्या० र० पृ० ६२९ । (६) भवत्स्मरणाभावस्य (७) स्वयं धृतौषधादिद्रव्यस्य । (८) ननु इति निश्चयार्थे । तुलना– 'सर्वे पुमांसः कर्तारं वेदस्य न स्मरन्ति इति कथं जानाति भवान् । न हि तव सकललोकहृदयानि प्रत्यक्षाणि सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् । न च यत् त्वं न जानासि तदन्योऽपि न जानातीति युक्तमतिप्रसङ्गात् ।' –न्यायम० पृ० २३७ । स्या० र० पृ० ६३० । (९) तुलना–"अपि च सर्वप्रमातृस्थानान् गत्वा तांश्च पृष्ट्वा तत्र कर्तृस्मरणाभावः प्रतीयते अन्यथा वा ?'–स्या०र०पृ०६३० । (१०) सर्वप्रमातॄन् । (११)"गत्वा गत्वा तु तान्देशान् यद्यर्थो नोपलभ्यते । ततोऽन्यकारणाभावादसन्नित्यवगम्यते ॥"–मी० श्लो० । उद्धृतोऽयम्–प्रमेयक० पृ० २२ । सन्मति० टी० पृ० २३,३२१ । (१२) देशान्तरे । (१३) सर्वप्रमातृषु । (१४) तत्कर्तृ 'न स्मराम' इति प्रतिवचने । (१५) द्रष्टव्यम्–पृ० ४६४ टि० ४ ।

1 यानेन–आ० । 2 सर्वत्रप्रमा–ब० । 3 तत्र स्मरं न स्मरन्तीत्यसर्वविदो वेदनान् गत्वा गत्वा–आ० । 4 प्रतीयते ब० । 5 सद्भाव–ब० ।

वेदे आप्तानाप्तप्रणीतत्वाभावात्र प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा, इत्यप्यसुन्दरम्, यत्र हि पुरुषकृता पदानुपूर्वी तत्र तदपेक्षं प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा स्यात्, वेदानुपूर्व्यास्तु नित्यत्वात् स्वसामर्थ्यैनैवार्थावबोधकत्वात् तन्निरपेक्षं प्रामाण्यम्। नहि तादृशीमानुपूर्वीं कश्चित् कर्तुं क्षमः अन्यत्राऽभिव्यक्ते। पूर्वसिद्धानुपूर्वीतोऽपूर्वानुपूर्वीकरणे च कस्यचित् स्यात् न्यासभयात्। क्षुराणो वा तां तदध्येतृभिः अन्यैर्वा निवार्येत। उक्तञ्च–

"अन्यथाकरणे चास्य बहुभ्यः स्यान्निवारणा।" [मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० १५०] इति।

वेदापौरुषेयत्वस्य प्रतिविधानम्–

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'कर्तुः स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इत्यादि, तदसमीचीनम्, यतः किमिदम् अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं नाम–किं कर्तृस्मरणाभावः, अकर्तृकत्वं वा? प्रथमपक्षे व्यधिकरणासिद्धो हेतुः, कर्तृस्मरणाभावो हि आत्मनि वर्तते अपौरुषेयत्वं तु वेदे इति। अज्ञानासिद्धश्च, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्। नहि प्रत्यक्षं तद्ग्राहकम्, प्रतिनियतरूपादिगोचरचारितया अभावे तस्य प्रवृत्त्यसंभवात्। संभवे वा अभावप्रमाणकल्पनाऽनर्थक्यम् तत्साध्यस्य अन्यथाश्रित एव प्रसिद्धेः। अभावप्रमाणात्तत्सिद्धौ तु तत्र तदुत्पत्तौ कारणं वाच्यम्, निष्कारणस्य कार्यस्योदयानुपपत्तेः।

"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० २७]

इति तत्कारणमस्तीति चेत्; ननु अतः प्रादुर्भूतमभावप्रमाणं तदभावं निराश्रयम्, साश्रयं वा प्रसाधयेत्? न तावन्निराश्रयम्, 'गृहीत्वा वस्तुसद्भावम्' इत्यभिधानात्। अनेन हि निषेध्याधारवस्तुग्रहणमभिदधता भट्टेन निषेध्याभावाश्रयः सूचित एव, अन्यथा प्रतिनियतवृत्तितया कर्तृस्मरणाभावसिद्धिः ततोऽतिदुर्लभा। यन्निराश्रयं न तत् प्रतिनियतवृत्ति यथा आकाशम्, निराश्रयश्च भवद्भिरभिप्रेतोऽभावप्रमाणात्प्रसिद्ध्यन् कर्तृस्मरणाभाव इति।

(१) 'पौरुषेयं तु वचनं प्रमाणान्तरमूलता। तदभावे हि तन्न दुष्येदितरत्र कदाचन॥' –मी० श्लो० चोदना० श्लो० ७१। (२) पुरुषगुणनिरपेक्षम्। (३) पूर्वानुपूर्वीतो विलक्षणा आनुपूर्वी। (४) विलक्षणां शब्दानुपूर्वीम्। (५) निवारणम् –मी० श्लो०। प्रकृतपाठः–स्या० र० पृ० ६२८। (६) पृ०७२१प०५। (७) तुलना– 'किमिदं कर्तुरस्मरणं नाम कर्तृस्मरणाभावः अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं वा?' –प्रमेयक० पृ० ३९२। (८) अपौरुषेयो वेदः कर्त्रस्मरणात् इत्यत्र प्रयोगे हेतोर्व्यधिकरणत्वदोषात्।' –सन्मति० टी० प० ४१। (९) तत्रास्मर्यमाणकर्तृकत्वमसिद्धम् तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्।'– स्या० र० पृ० ६२९। (१०) अभावप्रमाणेन क्रियमाणस्य अभावज्ञानस्य। (११) कर्तृस्मरणाभावसिद्धौ। (१२) अभावप्रमाणोत्पत्तौ। (१३) द्रष्टव्यम्–पृ०४६४टि०१। (१४) कर्तृस्मरणाभावम्। 'नन्वतः प्रादुर्भूतमभावप्रमाणं तदभावं साश्रयमेव प्रसाधयेत् गृहीत्वा वस्तुसद्भावमित्यभिधानात्।'– स्या० र० पृ० ६२९। (१५) गृहीत्वा वस्तुसद्भावमिति श्लोकांशेन। (१६) निषेध्यस्य यः अभावः तस्य आश्रयः। (१७) अभावप्रमाणात्।

1–नभावबोध–ब०। 2–स्वान्निरपे–ब०। 3–त्रापि व्यक्ते आ०। 4 पूर्व सि–ब०। 5 अन्य निवा–आ०। 6 बहुभि ब०। 7 ति का–आ०। 8 निषेध्याश्रय ब०।

अथ साश्रयोऽसौ प्रसाध्यते, ननु कोऽस्य आश्रयः—स्वात्मा, सर्वप्रमातारो वा ? यदि स्वात्मा 'अमुष्मिन्मदीय आत्मनि वेदकर्तृस्मरणं नास्ति' इति, किमेतावता सिद्धम् ? पदार्थजातस्य अनेकस्य अत्र स्मरणं नास्ति, न चैतावता तस्याभावः सिद्ध्यति। ममानुष्ठातुरवश्यं स्मर्त्तव्योऽसौ, यदा स्मृतिपथप्रस्थायी न भवति तदाऽसन्, इत्यप्यसारम्, मयत्स्मरणाभावमात्रेण अर्थाभावाऽसिद्धेः। तस्य स्वयं निहितेऽनष्टस्य स्मर्त्तव्ये क्वचिद् द्रव्यादौ विद्यमानेऽपि सद्भावेन अनेकान्तात्। तथा व्याधितेन उपयुज्यमानमौषधं स्वयं धृतं महत्यामप्यर्थितायां न स्मर्यते, न चैतावता तस्याऽभावः इत्यनेन चाऽनेकान्तः। अथ सर्वप्रमातारः, ननु 'त्रैलोक्योदरवर्त्तिनः प्रमातारो वेदकर्त्तारं न स्मरन्ति' इत्यसर्वविदो वेदनानुपपत्तिः। उपपत्तौ वा सर्ववेदित्वप्रसङ्गः।

किञ्च, सर्वप्रमातृदेशान् गत्वा तांश्च पृष्ट्वा तत्र स्मरणाभावः प्रतीयेत, अन्यथा वा ? न तावदन्यथा, "गत्वा गत्वा तु तान् देशान्" [मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३८] इत्यस्य विरोधानुषङ्गात्। गत्वा चेत्, ननु तत्र तेषु पृष्टेषु 'न स्मरामः' इति प्रतिवचनञ्च ब्रुवाणेष्वपि कः समाश्वासः पुरुषवचसामप्रामाण्येन अर्थतथाभावानुपपत्तेः ? न च सर्वेषामाप्तताप्रतिपत्तिरस्ति, यतः तद्गुणसमाख्या सर्वत्र प्रामाण्यं स्यात्, तत्प्रतिपत्तेरेव असर्वविदो युगपत्क्रमेण वाऽसंभवात्।

किञ्च, अभावप्रमाणस्य तत्र प्रवृत्तिः यत्र वस्तुसत्तावबोधकं प्रमाणपञ्चकं न प्रवर्त्तते।

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १]

---

(१) कर्तृस्मरणाभावस्य। "अपि च किमशेषजनस्मरणनिवृत्तिरिह हेतुत्वेन विवक्षिता आहोस्वित् कतिपयपुरुषस्मरणविनिवृत्तिः। तद्यदि सकलजनस्मरणविनिवृत्तिः, तदाऽसिद्धा, अवधारयितुमशक्यत्वादर्वाग्भागविद्भिः। अवधारणे वा त एव सर्वज्ञाः स्युः अर्वाग्भागविदो न भवेयुः। अथ कतिपयपुरुषापेक्षया, तदाऽनैकान्तिको हेतुः, विद्यमानकर्तृकस्यापि कर्ता न स्मर्यते कश्चित्।"–तत्त्वसं० पं० पृ० ११७। "आश्रयश्चास्य स्वात्मा सर्वप्रमातारो वा"–स्या० र० पृ० ६२९। (२) मदीय आत्मनि। (३) "ममानुष्ठाने स्मर्तव्योऽसौ"–स्या० र० पृ० ६२९। (४) वेदकर्ता। (५) "एवं तर्हि पितामहस्य पितरं मातामहीमातरं, तन्मातापितरौ च न स्मरति ततस्तेषामभावो भवेत्।"–स्या० र० पृ० ६२९। (६) मयत्स्मरणाभावस्य (७) स्वयं धृतौषधादिद्रव्यस्य। (८) ननु इति निश्चयार्थे। तुलना–'सर्वे पुमांसः कर्तारं वेदस्य न स्मरन्ति इति कथं जानाति भवान्। न हि तव सकललोकहृदयानि प्रत्यक्षाणि सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्। न च मत् त्वं न जानासि तदन्योऽपि न जानातीति युक्तमतिप्रसङ्गात्।"–प्रमाणम० पृ० २३७। स्या० र० पृ० ६३०। (९) तुलना–"अपि च सर्वप्रमातृदेशान् गत्वा तांश्च पृष्ट्वा तत्र कर्तृस्मरणाभावः प्रतीयेतान्यथा वा ?"–स्या०र०पृ०६३०। (१०) सर्वप्रमातॄन्। (११) 'गत्वा गत्वा तु तान् देशान् यद्यर्थो नोपलभ्यते। ततोऽन्यकारणाभावादसन्नित्यवगम्यते॥'–मी० श्लो०। उद्धृतोऽयम्–प्रमेयक० पृ० २२। सन्मति० टी० पृ० २२,२२१। (१२) देशान्तरे। (१३) सर्वप्रमातृषु। (१४) ब्रुवाणे 'न स्मरामः' इति प्रतिवचनम्। (१५) द्रष्टव्यम्–पृ० ४६४ टि० ४।

1 चाने–आ०। 2 सर्वप्रमा–ब०। 3 तत्र स्मर न स्मरतीत्यसर्वविदो वेदनानु गत्वा गत्वा आ०। 4 प्रतीयते ब०। 5 सद्भाव–ब०।

इत्यभिधानात् । वेदे च आत्मन कर्तृसद्भावावेदके सति कथ तत्प्रवृत्ति ?

"स हि रुद्र वदकर्तारम् ।" [ ]

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं वेदांश्च प्रहिणोति ।" [श्वेता०उ० ६।१८]

"तथा प्रजापति सोम राजानमन्वसृजत, तत त्रयो वेदा अन्वसृज्यन्त ।" [ ]

इत्यादिको वेद कर्तृसद्भावावेदक अनेकधा श्रूयते । स्वरूपासिद्धश्चाय हेतु, पौराणिका हि वेदस्य ब्रह्मकर्तृत्व स्मरन्ति–

"प्रतिमन्वन्तरञ्चैव श्रुतिरन्या विधीयते ।" [मत्स्यपु० १४५।५८]

"अनन्तर तु वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनि सृता ।" [ ]

इत्यभिधानात् । यौगा रुद्रैककर्तृत्वम्, जैना कालासुरैककर्तृकत्वम् ।

स्मृतिपुराणादिवच्च ऋषिनामाङ्किता काण्व-माध्यन्दिन-तैत्तिरीयादय शाखाभेदा कथमस्मर्यमाणकर्तृका ? तथाहि–एतां तत्कृतत्वात् तन्नामभिरङ्किता, तद्दृष्टत्वात्, तत्प्रकाशितत्वाद्वा ? तत्राद्यपक्षे कथमासामपौरुषेयत्वम् अस्मर्यमाणकर्तृकत्व वा स्यात् ? उत्तरपक्षद्वये यदि तावदुत्सन्ना शाखा कण्वादिना दृष्टा प्रकाशिता वा तदा कथमस्या सम्प्रदायाविच्छेद अतीन्द्रियार्थदर्शिन प्रतिक्षेपश्च स्यात् ? अथ अनवच्छिन्नैव सा

(१) स्वयमेव वदस्य । (२) अभावप्रमाणप्रवृत्ति । (३) उद्धृतोऽयम्–स्या० र० पृ० ६३ । रत्नाकराव० ४।९ । (४) अपौरुषेयतापीष्टा कर्तृणामस्मृते किल । सन्त्यस्याप्यनुवक्तार इति धिग् व्यापक तम ॥ यस्मादपि साधनमसिद्धमनैकान्तिकञ्च तत्रासिद्धमधिकृत्याह–तथाहीत्यादि । स्मरन्ति सौगता वेदस्य कर्तृनष्टकादीन् आदिविद्वन्द् वामकवामदेवविश्वामित्रप्रभृतीन् । हिरण्यगर्भ ब्रह्माणं वेदस्य कर्तारं स्मरन्ति काणादा वैशेषिका ततश्चासिद्ध कर्तुरस्मरणम् ।'–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२६९ । मनोरथ० ३।२६९ । असिद्धोऽप्ययं हेतु यस्मात्स्मरन्ति एव कर्तारं काणादा । तथा पौराणिका अपि बहुलं वक्तारो भवन्ति ब्रह्मणा वेदा प्रणीता इति । –तत्त्वोप० पृ० ११७ । 'न च सर्वज्ञता कस्य स्मृतेरप्रसिद्धित । तत्कारणं हि काणादा स्मरन्ति चतुराननम् । जैना कालासुरं बौद्धा स्वष्टकान् सकला सदा ॥'–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३८ । अष्टसह पृ० २३७ । प्रमेयक० पृ० ३९३ । सन्मति० टी० पृ० ४० । स्या० र० पृ० ६३० । यच्चेदमस्मर्यमाणकर्तृकत्वादिति तदसिद्धम् प्रजापतिर्वा इदमेक आसीन्नाहरासीन्न रात्रिरासीत् स तपोऽतप्यत तस्मात्तपसश्चत्वारो वेदा अजायन्त इत्याम्नायेनैव कर्तृस्मरणात्, जीर्णकूपादिभिर्व्यभिचाराच्च । –प्रश० कन्द० पृ० २१६ । 'कपिलकणादगौतमनन्दिप्रभृत्याचार्यपर्यन्तं वेदे सकर्तृकत्वस्मरणस्य प्रतीयमानत्वात् । –तत्त्वचि० शब्द० पृ० ३७१ । (५) उद्धृतोऽयम्–न्यायम० पृ० २३६। प्रमेयक० पृ०३९२। स्या० र० पृ० ६३० । न्यायपरि० पृ० ३८३। तत्त्वचि० शब्द० पृ० ३७३। (६) तुलना– सज्जमरणाधिगोत्रचरणादिनामश्रुतेरनेकपदसंहतिप्रतिनियमसन्दर्शनात् । फलार्थिपुरुषप्रवृत्तिविनिवृत्तिहेत्वात्मनाम्, श्रुतेश्च मनुसूत्रवत्पुरुषकर्तृकैव श्रुति ॥ –पात्रके० श्लो० १४। प्रमेयक०पृ०३९२ । स्या० र० पृ० ६३० । प्रमेयर० ३।९९ । (७) काण्वमाध्यन्दिनतैत्तिरीयादय शाखा । तुलना–"एतास्तत्कृतत्वात्तन्नामभिरङ्कितास्तदृष्टत्वात् तत्प्रकाशितत्वाद्वा ।"–प्रमेयक० पृ० ३९२। स्या० र० पृ० ६३० । रत्नाकराव० ४।९। (८) विशीर्णा विस्मृता वा । (९) शाखाया ।

1 कर्तृत्वम्–ब०, श्र० । 2–कर्तृत्वम ब० ष० । 3–मदुच्छिन्ना आ० ।

सम्प्रदायेन दृष्टा प्रकाशिता वा, तर्हि यावद्भिरुपाध्यायै मा दृष्टा प्रकाशिता वा तावता नामभि तस्या किन्नाङ्कितत्व स्यादविशेषात् ?

अथोच्यते–अस्ति यौगादीना वेदे कर्त्तृस्मरण किन्तु सविगान तत्कर्तृविशेषे विप्रतिपत्ते अतोऽप्रमाणमिति, तदप्युक्तिमात्रम्, यैत कर्तृविशेषे विप्रतिपत्ते तद्विशेषस्मरणमेवाप्रमाण स्यान्न कर्तृमात्रस्मरणम्, अन्यथा कादम्बर्यादीनामपि कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तौ कर्त्तृमात्रस्मरणस्याप्रमाणत्वेन अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वस्य तत्रापि (तत्रापि) गतत्वादनेकान्त । अथ वेदे कर्त्तृविशेषे विप्रतिपत्तिवत् कर्त्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्ते तन्मात्रस्मरणमप्यप्रमाण कादम्बर्यादीना तु कर्त्तृविशेषे एव विप्रतिपत्ते तत्प्रमाणमित्यतो नानेकान्त, ननु वेदे सौगतादय कर्तार स्मरन्ति न मीमासका इत्येव कर्त्तृमात्रे विप्रतिपत्ते यदि तदप्रमाणम्, तर्हि तद्वत् तत्स्मरणमप्यप्रमाण किन्न स्यात् विप्रतिपत्तेरविशेषात् । तथा चायमसिद्धो हेतु ।

विरुद्धश्च, स्मर्यमाणकर्त्तृकत्वाऽस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वयो कार्यधर्मतया विपक्ष एव वर्त्तमानत्वात् । कार्यमेव हि किञ्चित् स्मर्यमाणकर्त्तृक दृष्ट घटादि, किञ्चिदस्मर्यमाणकर्त्तृक जीर्णकूपादि । ततश्च कृतको वेद अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वात् जीर्णकूपादिवत् । नहि नित्य

(१) 'समाख्यापि च शाखाना नाद्यप्रवचनादृते । काठक कालापकमित्यादयो हि समाख्याविशेषा शाखाविशेषाणामनुस्मर्यन्ते । ते च न प्रवचनमात्रनिबन्धना प्रवक्तृणामनन्तत्वात् । नापि प्रकृष्टवचननिमित्ता, उपाध्यायेभ्योऽपि प्रकर्षे प्रत्युताऽयथाकरणदोषात्, तत्पाठानुकरणे च प्रकर्षाभावात् । कति चानादौ ससारे प्रकृष्टा प्रवक्तार इति को नियामक इति ।'–न्यायकुसु० ५।१७ । (२) 'येऽपि हि पौरुषेयता मन्यन्ते तेऽपि नैव परम्परया तत्र कर्तृविशेषस्मरण शक्नुवन्ति वदितुम्, सामान्यतोदृष्टेन कर्तारमनुमाय स्वाभिमत कर्तार तत्र निक्षिपन्ति–केचिदीश्वरम्, अन्ये हिरण्यगर्भम्, अपरे प्रजापतिम । न चाय नानाविधो विवाद परम्परया कर्तरि मन्वादिवत् स्मर्यमाणे कथञ्चिदवकल्पते । नहि मानवे भारते शाक्यग्रन्थे वा कर्तृविशेष प्रति कश्चिद्विवदते । तस्मात् स्मर्तव्यत्वे सत्यस्मरणात् दृढमादरानबाधिन सामान्यतोदृष्ट न शक्नोति कर्तारमवसाययितुम् ।–शास्त्रदी० पृ० ६१७ । (३) सविवादम । (४) दृष्टे–आ० टि० । (५) तुलना–'नन्वत्र कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेस्तद्विशेषस्मरणमेवाप्रमाण स्यात न कर्तृमात्रस्मरणम् ।–प्रमेयक० पृ० ३९३ । सन्मति० टी० पृ० ४२ । स्या० र० पृ० ६३० । शास्त्रवा० यशो० पृ० ३८४ A । (६) कादम्बर्यादावपि । (७) तुलना–'अथ वेदे कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तिवत् कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्तेस्तत्स्मरणमप्यप्रमाणम '–प्रमेयक० पृ० ३९३ । सन्मति० टी० पृ० ४२ । स्या० र० पृ० ६३० । (८) कर्तृमात्रस्मरणम् । (९) तुलना–'ननु वेदे सौगताद्य कर्तृमात्र स्मरन्ति न मीमासका इत्येव कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्ते यदि कर्तृस्मरण मिथ्या तदा कर्तृस्मरणवत् अस्मर्यमाणकर्तृकत्वमपि असत्य स्याद्विप्रतिपत्तेरविशेषात् तथा च पुनरप्यसिद्धो हेतु ।–सन्मति० टी० पृ० ४२ । प्रमेयक० पृ० ३९३ । स्या० र० पृ० ६३१ । (१०) कर्तृमात्रस्मरणम् । (११) कर्तृस्मरणवत् । (१२) कर्तृस्मरण । (१३) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् । (१४) पौरुषेये अनित्ये । (१५) तुलना–"नित्य हि वस्तु न स्मर्यमाणकर्तृक नाप्यस्मर्यमाणकर्तृक प्रतिपन्न किन्त्वकर्तृकमेव ।"–प्रमेयक० पृ० ३९२ ।

1–मोक्त–ब० । 2–यदि विप्र–श्र० । 3 एतदन्तर्गत पाठो नास्ति श्र० । 4 एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ० । 5 अथ कर्तृविशेष विप्रतिपत्ति कर्तृमात्रमपि विप्रतिपत्ते ब० । 6–यमतो ब० ।

इत्यभिधानात्। वेदे च आत्मनः कर्तृसद्भावावेदके सति कथं तत्प्रवृत्तिः ?

"स हि रुद्रं वेदकर्तारम्।" [ ]

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं वेदांश्च प्रहिणोति।" [श्वेताश्व० ६।१८]

"तथा प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत, ततस्त्रयो वेदा अन्वसृज्यन्त।" [ ]

इत्यादिको वेदः कर्तृसद्भावावेदकः अनेकधा श्रूयते। स्वरूपासिद्धश्चायं हेतुः, पौराणिका हि वेदस्य ब्रह्मकर्तृकत्वं स्मरन्ति–

"प्रतिमन्वन्तरं चैव श्रुतिरन्या विधीयते।" [मत्स्यपु० १४५।५८]

"अनन्तरं तु वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।" [ ]

इत्यभिधानात्। यौगाः रुद्रकर्तृकत्वम्, जैनाः कालासुरकर्तृकत्वम्।

स्मृतिपुराणादिवच्च ऋषिनामाङ्किताः काण्व-माध्यन्दिन-तैत्तिरीयादयः शाखाभेदाः कथमस्मर्यमाणकर्तृकाः ? तथाहि–एतास्तत्कृतत्वात् तन्नामभिरङ्किताः, तद्दृष्टत्वात्, तत्प्रकाशितत्वाद्वा ? तत्राद्यपक्षे कथमासामपौरुषेयत्वम् अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं वा स्यात् ? उत्तरपक्षद्वये यदि तावदुत्सन्ना शाखा कण्वादिना दृष्टा प्रकाशिता वा तदा कथमस्यां सम्प्रदायाविच्छेदः अतीन्द्रियार्थदर्शिनः प्रतिक्षेपश्च स्यात् ? अथ अनवच्छिन्नैव सा

(१) स्वयमेव वेदस्य। (२) अभावप्रमाणप्रवृत्तिः। (३) उद्धृतोऽयम्–स्या० र० पृ० ६३०। रत्नाकराव० ४।१९। (४) "अतीन्द्रियमतावपीष्टा कर्तृणामस्मृतेः किल। सन्त्यस्याप्यनुवक्तार इति धिग् व्यापकं तमः॥ यस्मादिदं साधनमसिद्धमनैकान्तिकञ्च तत्रासिद्धमधिकृत्याह–तथाहीत्यादि। स्मरन्ति सौगता वेदस्य कर्तॄन् अष्टकादीन् आदिशब्दाद् वामकवामदेवविश्वामित्रप्रभृतीन्। हिरण्यगर्भं ब्रह्माणं वेदस्य कर्तारं स्मरन्ति काणादाः वैशेषिकाः ततश्चासिद्धं कर्तुरस्मरणम्।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२६९। मनोरथ० ३।२६९। 'असिद्धोऽयं हेतुः यस्मात्स्मरन्त्येव कर्तारं काणादाः। तथा लौकिका अपि बहवो वक्तारो भवन्ति ब्रह्मणा वेदाः प्रणीता इति।'–तत्त्वोप० पृ० ११७। 'न च सर्वनृणां वस्तु स्मृतावप्रसिद्धितः। तत्कारणं हि काणादाः स्मरन्ति चतुराननम्। जैनाः कालासुरं बौद्धाः स्वाष्टकान् सकलाः सदा॥'–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३८। अष्टसह० पृ० २३७। प्रमेयक० पृ० ३९१। सन्मति० टी० पृ० ४०। स्या० र० पृ० ६३०। "यच्चान्यदस्मर्यमाणकर्तृकत्वादिति तदसिद्धम्, प्रजापतिर्वा इदमेक आसीन्नाहरासीन्न रात्रिरासीत् स तपोऽतप्यत तस्मात्तपसश्चत्वारो वेदा अजायन्त इत्याम्नायेनैव कर्तृस्मरणात्, जीर्णकूपादिभिर्व्यभिचाराच्च।"–प्रश० कन्द० पृ० २१६। "कपिलकणादगौतमजैमिन्यादिभिराचार्यपर्यन्तं वेदे सकर्तृत्वस्मरणस्य प्रतीयमानत्वात्।'–तत्त्वचि० शब्द० पृ० ३७१। (५) उद्धृतोऽयम्–न्यायमं० पृ० २३६। प्रमेयक० पृ० ३९२। स्या० र० पृ० ६३०। वादपरि० पृ० ३८३। तत्त्वचि० शब्द० पृ० ३७३। (६) तुलना–"सजन्ममरणर्षिगोत्रचरणादिनामश्रुतेरनेकपदसंहतिप्रतिनियमसन्दर्शनात्। फलार्थिपुरुषप्रवृत्तिविनिवृत्तिहेत्वात्मनां श्रुतेश्च मनुसूत्रवत्पुरुषकर्तृकैव श्रुतिः॥"–पात्रकेस० श्लो० १४। प्रमेयक० पृ० ३९२। स्या० र० पृ० ६३०। प्रमेयर० ३।९९। (७) काण्वमाध्यन्दिनतैत्तिरीयाद्याः शाखाः। तुलना–'एतास्तत्कृतत्वात्तन्नामभिरङ्कितास्तद्दृष्टत्वात् तत्प्रकाशितत्वाद्वा।'–प्रमेयक० पृ० ३९२। स्या० र० पृ० ६३०। रत्नाकराव० ४।९। (८) विच्छिन्ना विस्मृता वा। (९) शाखायाः।

1 कर्तृत्वम्–ब०, श्र०। 2–कर्तृत्वम् ब० श्र०। 3–नवच्छिन्ना आ०।

सम्प्रदायेन दृष्टा प्रकाशिता वा, तर्हि यावद्भिरुपाध्यायैः सा दृष्टा प्रकाशिता वा तावतां नामभिः तस्याः किन्नाङ्कितत्वं स्यादविशेषात् ?

अथोच्यते–अस्ति यौगानां वेदे कर्तृस्मरणं किन्तु सविगानं तत्कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेः अतोऽप्रमाणमिति, तदप्युक्तिमात्रम्, यतः कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेः तद्विशेषस्मरणमेवाप्रमाणं स्यात् न कर्तृमात्रस्मरणम्, अन्यथा कादम्बर्यादीनामपि कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेः कर्तृमात्रस्मरणस्याप्रमाणत्वेन अस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य तत्रापि (तत्रापि) गतत्वादनेकान्तः। अथ वेदे कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तिवत् कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्तेः तन्मात्रस्मरणमप्यप्रमाणं कादम्बर्यादीनां तु कर्तृविशेषे एव विप्रतिपत्तेः तदप्रमाणमित्यतो नानेकान्तः, ननु वेदे सौगतादयः कर्तारं स्मरन्ति न मीमांसकाः इत्येवं कर्तृमात्रे विप्रतिपत्तेः यदि तदप्रमाणम्, तर्हि तद्वत् तत्स्मरणमप्यप्रमाणं किन्न स्यात् विप्रतिपत्तेरविशेषात्। तथा चार्यमसिद्धो हेतुः।

विरुद्धश्च, स्मर्यमाणकर्तृकत्वाऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वयोः कार्यधर्मतया विपक्ष एव वर्तमानत्वात्। कार्यमेव हि किञ्चित् स्मर्यमाणकर्तृकं दृष्टं घटादि, किञ्चिदस्मर्यमाणकर्तृकं जीर्णकूपादि। ततश्च कृतको वेदः अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् जीर्णकूपादिवत्। नहि नित्य

(१) "समाख्यापि च शाखानां नाद्यप्रवचनादृते। काठकं कालापकमित्यादयो हि समाख्याविशेषाः शाखाविभागानामनुस्मर्यन्ते। ते च न प्रवचनमात्रनिबन्धनाः प्रवक्तॄणामनन्तत्वात्। नापि प्रकृष्टप्रवचननिमित्ता, उपाध्यायेभ्योऽपि प्रकर्षे प्रत्युत यथापाठकरणदोषात्, तत्पाठानुकरणे च प्रकर्षाभावात्। अतः चानादौ संसारे प्रकृष्टाः प्रवक्तारः इति को नियामकः इति।"–न्यायकुसु० ५।१७। (२) "येऽपि हि पौरुषेयतां मन्यन्ते तेऽपि नैव परम्परया तत्र कर्तृविशेषस्मरणं शक्नुवन्ति वक्तुम्, सामान्यतोदृष्टेन कर्तारमनुमाय स्वाभिमतं कर्तारं तत्र निक्षिपन्ति–केचिदीश्वरम् अन्ये हिरण्यगर्भम्, अपरे प्रजापतिम्। न चायं नानाविधो विवादः परम्परया कर्तरि मन्वादिवत् स्मर्यमाणे कथञ्चिदवकल्पते। नहि मानवं भारतं शाक्यग्रन्थं वा कर्तृविशेषं प्रति कश्चिद्विवदते। तस्मात् स्मर्तव्यस्य सत्यस्मरणाद् दृश्यादर्शनबाधितं सामान्यतोदृष्टं न शक्नोति कर्तारमवसाययितुम्।"–शास्त्रदी० पृ० ६१७। (३) सविवादम्। (४) दृष्ट–आ० टि०। (५) तुलना–"न चैवं कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेस्तद्विशेषस्मरणमेवाप्रमाणं स्यात् न कर्तृमात्रस्मरणम्।"–प्रमेयक० पृ० ३९३। सन्मति० टी० पृ० ४२। स्या० र० पृ० ६३०। न्यायवा० ता० पृ० ३८४ ।। (६) कादम्बर्यादिष्वपि। (७) तुलना–"अथ वेदे कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तिवत् कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्तेः तत्स्मरणमप्यप्रमाणम्"–प्रमेयक० पृ० ३९३। सन्मति० टी० पृ० ४२। स्या० र० पृ० ६३०। (८) कर्तृमात्रस्मरणम्। (९) तुलना–"ननु वेदे सौगताः कर्तृमात्रं स्मरन्ति न मीमांसकाः इत्येवं कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्तेः यदि कर्तृस्मरणं मिथ्या तर्हि कर्तृस्मरणेन अस्मर्यमाणकर्तृकत्वमपि असत्यं स्याद्विप्रतिपत्तेरविशेषात् तथा च पुनरप्यसिद्धो हेतुः।–सन्मति० टी० पृ० ४२। प्रमेयक० पृ० ३९३। स्या० र० पृ० ६३१। (१०) कर्तृमात्रस्मरणम्। (११) कर्तृस्मरणवत्। (१२) कर्तृस्मरणं। (१३) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्। (१४) पौरुषेये अनित्ये। (१५) तुलना–"नित्यं हि वस्तु न स्मर्यमाणकर्तृकं नाप्यस्मर्यमाणकर्तृकं प्रतीतम् किन्त्वकर्तृकमेव।"–प्रमेयक० पृ० ३९२।

1–नां कर्तृ–ब०। 2–यैव विप्र–श्र०। 3 एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति श्र०। 4 एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ०। 5 अथ कर्तृविशेषे विप्रतिपत्ति... ...पत्ते ब०। 6–गमतो ब०।

वस्तु स्मर्यमाणकर्तृकमस्मर्यमाणकर्तृकं वा प्रतिपन्नम्, किन्तु अकर्तृकमेव। कालात्ययापदिष्टश्च, श्रुतिस्मृतिबाधितपक्षनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वात्। ततो न कर्तृस्मरणाभावलक्षणमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं घटते।

नापि अकर्तृकत्वलक्षणम्, अशब्दार्थत्वात्। नहि अस्मर्यमाणकर्तृकत्वशब्दस्य अकर्तृकत्वमर्थो लोके शास्त्रे वा प्रसिद्धः। प्रसिद्धौ वा साध्याविशिष्टत्वम्। अस्तु वाऽविचारितमणीयमस्मर्यमाणकर्तृकत्वम्, तथापि तद् वादिनः, प्रतिवादिनः, सर्वस्य वा सम्बन्धि हेतुः स्यात्? यदि वादिनः, तदनैकान्तिकम्, "वटे वटे वैश्रवणः" [ ] इत्यादिषु विद्यमानकर्तृकेष्वपि प्रयोजनाभावात् मीमांसकैरस्मर्यमाणकर्तृकेषु अस्य सद्भावात्। ननु वेदे कर्त्रभावपूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं हेतुः, तच्चात्र नास्ति कर्त्रनुपलम्भमात्रपूर्वकत्वात्तत्र तस्य तत्कथमनैकान्तिकत्वम्? इत्यपि मनोरथमात्रम्, यतः कुतोऽत्र कर्त्रभावसिद्धिः-प्रमाणान्तरात्, अत एव वा? यदि प्रमाणान्तरात्, तदाऽस्य आनर्थक्यम्। अत एव चेत्, अन्योन्याश्रयः-अतो हि अनुमानात् तदभावसिद्धौ तत्पूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं सिद्ध्यति, तत्सिद्धौ च अतोऽनुमानात्तदभावसिद्धिरिति। अथ प्रतिवादिनः सम्बन्धि तत् हेतुत्वेन विवक्षितम्, तदसिद्धम्, तत्र हि प्रतिवादी स्मरत्येव कर्तारम्। एतेन सर्वस्याऽस्मरणं प्रत्याख्यातम्, सर्वात्मज्ञानविज्ञानरहितो वा कथं सर्वस्य तत्र कर्तृस्मरणं नेति? अतोऽस्य अज्ञातासिद्धत्वम्, सतोऽप्यर्थस्य असर्वविदा ज्ञातुमशक्यत्वात्।

(१) साध्यं हि अपौरुषेयत्वं तच्च अकर्तृकत्वमिति साध्याविशिष्टत्वाद् असिद्धो हेत्वाभासो लभ्यते साध्यस्य असिद्धत्वादिति। (२) तुलना-'किञ्च अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं वादिनः प्रतिवादिनः सर्वस्य वा स्यात्। -प्रमेयक० पृ० ३९५। सन्मति० टी० पृ० ३०। स्या० र० पृ० ६३१। प्रमेयर० ३।९९। 'अपि च किमापजनस्मरणविनिवृत्तिरिह हेतुत्वेन विवक्षिता आहोस्वित् कतिपयपुरुषस्मरणविनिवृत्तिः। -तत्त्वोप० पृ० ११७। (३) तुलना- अनैकान्तिकत्वमप्याह-दृश्यन्ते चेत्यादि। उपदेशपारम्पर्यस्य सम्प्रदायविच्छेदे क्रियासम्प्रदाये पुरुषकृतत्वसम्प्रदायो यथा वटे वटे वैश्रवणादि शब्दाना ते तथा। अनेन अस्मर्यमाणकर्तृकत्वमाह। कृतकाश्च पौरुषेयाश्च। तत पौरुषेयेऽपि वाक्ये कर्तुरस्मरणं वर्तत इत्यनैकान्तिको हेतुः।'-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२४२। स्या० र० पृ० ६३१। 'वादिनश्चेदनैकान्तिकम् सा ते भवतु सुप्रीतेत्यादौ विद्यमानकर्तृकेऽप्यस्य भावात्।'-प्रमेयक० पृ० ३९५। (४) वटे वटे श्रवण' इत्यादिवाक्येषु। (५) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य। (६) वेदे। तुलना- यत कुतोऽत्र कर्त्रभावसिद्धिः प्रमाणान्तरात्तत एव वा?-स्या० र० पृ० ६३१। (७) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य हेतोः। (८) वेदे कर्त्रभावसिद्धौ। (९) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वसिद्धौ च। (१०) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वम्। (११) तुलना-'तद्यदि सकलजनस्मरणनिवृत्तिः तन्नाऽसिद्धा अवधारयितुमशक्यत्वाच्च अर्वाग्भागविद्भिः। अवधारणे वा त एव सर्वज्ञाः स्युः अर्वाग्भागविदो न भवयुः।'-तत्त्वोप० पृ० ११७। न्यायमं० पृ० २३७। प्रमेयक० पृ० ३९५। स्या० र० पृ० ६३१। (१२) वेद विषये। (१३) सकलसर्वज्ञ कर्त्रस्मरणस्य।

1-नास्तिकस्य शब्दस्य ब० -अकर्तृत्वं शब्दस्य आ०। 2 कर्तृत्वभाव-श्र०। 3-स्यात्स्य ब०। 4 अज्ञातासि-श्र०।

यदप्युक्तम्–'ये हि यदर्थानुष्ठाने प्रवर्त्तन्ते तेऽवश्यं तच्छास्त्रकर्त्तारमनुस्मरन्ति' इत्यादि, तदप्यनल्पतमोविलसितम्, नियमाभावात्। न हि 'यो धर्मशील' [   ] इत्यादिवाक्येभ्यः तदर्थानुष्ठाने प्रवर्त्तमानानामनुष्ठातॄणां तत्कर्त्तृस्मरणमस्ति, तदन्तरेणापि धर्मशीलताद्यर्थानुष्ठाने महापुरुषार्थोपयोगिन्यैहिकपारत्रिकभयाऽभावहेतौ प्रवृत्तिप्रतीतेः।

यच्चान्यदुक्तम्–'छिन्नमूलत्वाच्च' इत्यादि, तदप्यसुन्दरम्, यतः अध्यक्षेणानुभवाभावात् तत्र तच्छिन्नमूलम्, प्रमाणान्तरेण वा? अध्यक्षेण चेत्, किं भवत्सम्बन्धिना, सर्वसम्बन्धिना वा? यदि भवत्सम्बन्धिना, तर्हि आगमान्तरेऽपि कर्त्तृसद्भावग्राहकत्वेन भवत्प्रत्यक्षस्याऽप्रवृत्तेः तत्कर्त्तृस्मरणस्य छिन्नमूलत्वेन अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वस्य भावाद् व्यभिचारी हेतुः। अथ तत्र तद्ग्राहकत्वेन अस्मत्प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तावपि परैः कर्त्तृसद्भावाभ्युपगमान्न व्यभिचारः, तन्न, परकीयाभ्युपगमस्य भवतोऽप्रमाणत्वात्, अन्यथा वेदेऽपि परैस्तत्सद्भावाभ्युपगमात् अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वादित्यसिद्धो हेतुः स्यात्। सर्वसम्बन्धिना चेत्, सोऽसिद्धः, अर्वाग्दृशा तस्यावसातुमशक्यत्वात्। अथ प्रमाणान्तरेण अनुभवाभावः, तन्न, आगमस्य तत्र कर्त्तृसद्भावावेदकस्य प्रतिपादितत्वात्। रचनावत्त्वाद्यनुमानस्य च तत्प्रसाधकस्य सद्भावात्। तथाहि पौरुषेयो वेदः रचनावत्त्वात् भारतादिवत्, पदवाक्यात्मकत्वाद्वा तद्वत्। तथा प्रमाणान्तरविषयभाञ्जि वैदिकानि वाक्यानि

(१) पृ० ७२१ पं० ८। (२) "न चायं नियमोऽनुष्ठानसमये तत्कर्तारमनुस्मृत्यैव प्रवर्तेत"–प्रमेयक० पृ० ३९५। सन्मति० टी० पृ० ४३। शास्त्रवा० यशो० पृ० २८४ B। "न हि यो धर्मशील इत्यादिवाक्येभ्यस्तदर्थानुष्ठाने प्रवर्तमानानामनुष्ठातॄणां तत्कर्तृस्मरणमस्ति। तदन्तरेणापि धर्मशीलताद्यर्थानुष्ठाने महापुरुषार्थोपयोगिन्यैहिकपारत्रिकभयाभावहेतौ प्रवृत्तिप्रतीतेः।"–स्या० र० पृ० ६३१। (३) पृ० ७२२ पं० ९। (४) 'यतोऽध्यक्षेण तदनुभवाभावात्तत्र तच्छिन्नमूलं प्रमाणान्तरेण वा।'–प्रमेयक० पृ० ३९३। सन्मति० टी० पृ० ४२। स्या० र० पृ० ६३१। (५) वेदे। (६) कर्तृस्मरणम्। (७) तुलना–"सर्वादृष्टिश्च संदिग्धा स्वादृष्टिर्व्यभिचारिणी। विन्ध्याद्रिरन्ध्रदूर्वादेरदृष्टावपि सत्त्वतः॥"–तत्त्वसं० पृ० ६५। न्यायवि० टि० पृ० १६७ पं० ३। न्यायली० पृ० २२। (८) आगमान्तरकर्तृस्मरणस्य। (९) आगमान्तरे। (१०) मीमांसकस्य। (११) जैनादिभिः। (१२) कर्तुरनुभवाभावः। (१३) वेदस्मृतिरूपस्य। (१४) तुलना–"बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे–वाक्यकृतिर्वाक्यरचना सा बुद्धिपूर्वा वक्तुर्यथार्थवाक्यार्थज्ञानपूर्वा वाक्यरचनात्वात्, नदीतीरे पञ्च फलानि सन्तीत्यस्मदादिवाक्यरचनावत्।"–वैशे० सू०, उप० ६।१।१। "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वाक्यरचना वेदे तद्रचनात्वात् उभयाभिमतवाक्यरचनावत्।"–प्रश० व्यो० पृ० ५८१। प्रश० कन्द० पृ० २१७। "तथा च वैदिको रचना कर्तृपूर्विका रचनात्वाल्लौकिकरचनावत्।"–न्यायम० पृ० २३२। स्या० र० पृ० ६३२। "ततो ये नररचितवचनरचनाऽविशिष्टास्ते पौरुषेया यथाऽभिनवकूपप्रासादादिरचनाऽविशिष्टा जीर्णकूपप्रासादादयः, नररचितवचनरचनाऽविशिष्टञ्च वैदिकं वचनमिति।"–प्रमेयक० पृ० ४०२। सन्मति० टी० पृ० ३९। (१५) तुलना–"इतश्च वर्णवत्त्वात्, वर्णवन्ति लौकिकवाक्यानि अनित्यानि तथा च वेदवाक्यानि, तस्मात्तान्यप्यनित्यानि। इतश्च सामान्यविशेषवत्त्वे सति श्रोत्रग्राह्यत्वात् लौकिकवाक्यवत्। इतश्च

1–र्णमिति ब०। 2–त्रिकभयाद्वारहेतौ   ककतयाभावहेतौ आ०। 3 तत्रकर्त्तृ–ब०। 4 अथतदप्रा–ब०।

आप्तोक्तानि, वाक्यत्वे सति प्रमाणत्वात्, यदित्थं तत्तथा यथा पित्रादिवाक्यम्, तथा चामूनि, तस्मात्तथेति ।

यच्चान्यदभिहितम्–'वेदरचनायाः कर्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वात्' इत्यादि, तत्र किमिदं तस्याः तद्वैलक्षण्यं नाम–दुर्भणत्वम्, दुःश्रवणत्वम्, लोकव्याकरणप्रसिद्धशब्दवैलक्षण्येन शब्दसन्निवेशः, अपूर्वछन्दोनिबद्धत्वम्, अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकत्वम्, महाप्रभावोपेतमन्त्रयुक्तत्वं वा ? सर्वमेतत् पुरुषाणां न दुष्करम्, विज्ञानकरणपाटवाधीनत्वाद् वाचोवृत्तेः । मन्त्राणाञ्च महाप्रभावोपेतत्वं पुरुषप्रणीतत्वेनैवोपपन्नम्, निरतिशयप्रभाववता हि पुरुषेण

पन्यत्वात् लौकिकवाक्यवत् ।'–न्यायवा० पृ० २७२ । अनित्यानि वेदवाक्यानि वाक्यत्वादुभयाभिमतवाक्यवत् ।'–प्रश० व्यो० ५८१। "न चाम्नायस्यापौरुषेयत्वे यतः स्वतः प्रमाणं वेदः स्यात् शास्त्रान्तरस्यापि तदनुपपत्तेः विशेषाभावाच्च ।'–सिद्धिवि० टी० पृ० ४०६ B । वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् भारतादिपदवाक्यवत् । –प्रमेयक० पृ० ३९१ । 'श्रुतिः पौरुषेयी वर्णाद्यात्मकत्वात् कुमारसम्भवादिवत् । –रत्नाकराव० ४।९।

(१) पृ० ७२२ पं० ११। (२) तुलना–'दुर्भणत्वानुदात्तत्वक्लिष्टत्वाऽश्रव्यतादयः । वेदधर्मा हि दृश्यन्ते नास्तिकादिवचस्स्वपि ॥ विषापगमभूत्यादि यच्च किञ्चित्समीक्ष्यते । सत्यं तद्वचनेष्वपि मन्त्रवादेष्वपि दृश्यते । दुर्भणत्वं दुरभिधानम्, अनुदात्तत्वं मनोज्ञत्वम् क्लिष्टं व्यवहितम्, अश्रव्यता श्रुतिदुर्भगता । आदिशब्देन पदविच्छन्दस्तोमादिपरिग्रहः । विषापगमे भूतिः सामर्थ्यं प्रभाव इति यावत् । अथवा विषापगमश्च भूतिश्चेति समासः, भूतिर्विभूतिरैश्वर्यमिति यावत् । आदिशब्देन भूतग्रहाद्यावेशनयनीकरणाभिचारादयो गृह्यन्ते । सत्यमिति अविसंवादि । वचनेष्वादिशब्देन बौद्धादिमन्त्रादिपरिग्रहः । –तत्त्वसं० प० पृ० ७३९ । 'सर्वेषां दुर्भणत्वादीनां मन्त्रादिसामर्थ्यानाञ्च साधारणत्वात् । –प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२४२। "दुर्भणत्वदुःश्रवणादीनामस्मदाद्युपलभ्यानां तच्छास्त्रान्तराणां शक्यक्रियत्वादितरत्रापि ।"–अष्टश० अष्टसह० पृ० २३७ । स्या० र० पृ० ६३२। रत्नाकराव० ४।९। (३) तुलना– अपि चेद मन्त्रा अपौरुषेया इति व्याहतं पश्यामः । तथाहि –'समयत्वे हि मन्त्राणां कस्यचित् कार्यसाधनम् । यदि न यद्यते मन्त्राः कस्यचित्समयो यथा मत्प्रणीतमेतदभिमतार्थोपनिबन्धनं वाक्यमेव नियुञ्जानमनेनार्थेन योजयामीति परार्थपरतानुरोधेन अन्यतो वा कुतश्चित्सिद्धो स्यात् तदा मन्त्रप्रयोगात् कदाचिदर्थनिष्पत्तियुक्ता कविसमयादिव पाठकानाम् । –प्रमाणवा० स्ववृ० ३।२९४। अपि च न मन्त्रो नामान्यः कश्चित् । किं तर्हि ? सत्यवादि । यथाभूताख्यानं सत्यम्, इन्द्रियमनसोर्दमनं तपः तयोः प्रभावो विषस्तम्भनादिसामर्थ्यं स विद्यते येषां पुंसां ते तथा तेषां सत्यतपःप्रभाववतां पुंसां समीहितार्थस्य साधनं तदेव मन्त्रः । तदुक्तं मन्त्राणामपौरुषेयत्वेऽपि पुरुषेषु दृश्यत एव । किं कारणम् ? यथास्वं सत्याधिष्ठानबलात् विषदहनादेः स्तम्भनस्य सामर्थ्योपघातस्य दर्शनात् । तथा शबराणां केषाञ्चित् स्वनियमस्थानामद्यापि विषापनयनशक्तियुक्तस्य कारणात् शक्नुवन्त्येव पुरुषा मन्त्रान् कर्तुम् । अवैदिकानाञ्च–वेदादन्येषां बौद्धादीनामिति, आदिशब्दात् आर्हतमाहेश्वरादीनां मन्त्रकल्पानां मन्त्राणां मन्त्रकल्पानाञ्च दर्शनात् । विद्याक्षराणि मन्त्राः तत्साधनविधानोपदेशा मन्त्रकल्पाः तेषाञ्च बौद्धादीनाम्मन्त्रकल्पानां पुरुषकृतत्वं पुरुषकरणात् । –प्रमाणवा० स्वव० टी० पृ० ३४२। 'यदपि मन्त्रविदः केचिन्मन्त्रान् कांश्चन कुर्वते । प्रभोः प्रभावः स्तेषां स तदुक्तन्यायवृत्तिनः ॥ कृतकाः पौरुषेयाश्च मन्त्राः वाच्या फलेष्वमी। अशक्तिसाधनं पुंसामनेनैव निराकृतम् । –प्रमाणवा० ३।३०९–१०। परोक्षाया मन्त्रशक्तेरपि दर्शनात् । न ह्याथर्वणानामेव मन्त्राणां शक्तिरुपलभ्यते न पुनः सौगतादिमन्त्राणामिति शक्यं वक्तुं प्रमाणबाधनात् । –अष्टश० अष्टसह० पृ० २३७। स्या० र० पृ० ६३३। 'मन्त्रादीनाञ्च सामर्थ्यं शाबरणामपि स्फुटम् ।

'अमुष्मान्मन्त्रादस्येदं फलं भवतु' इत्यनुसन्धाय यदा यया कयाचित् भाषया प्रयुज्यन्ते मन्त्राः तदा तेषां तत्कर्तृप्रभावादेव तथाविधार्थक्रियाकरणसामर्थ्यं सम्भाव्यते । दृश्यते हि साम्प्रतमपि महाप्रभाववतो मन्त्रवादिन आज्ञाप्रदानात् ज्वराद्युच्चाटनं निर्विषीकरणादि च।

किञ्च, अत्र विशिष्टा रचना दृश्यमाना तत्करणासमर्थमेव कर्त्तारं प्रतिक्षिपति नतु कर्तृमात्रम् । न हि जीर्णकूपप्रासादादौ विशिष्टा रचनोपलभ्यमाना तन्मात्रं प्रतिक्षिपन्ती प्रतीता, तत्करणासमर्थस्यैव शिल्पिनः तया प्रतिक्षेपात् । नहि कर्त्रन्वयव्यतिरेकानुविधायिनो धर्माः कर्त्तारमन्तरेण उपपद्यन्ते । अतः 'वैदिकी रचनाऽपौरुषेयी' इत्याद्यनुमानमनुपपन्नम्, दृष्टकर्तृकरचनाविलक्षणत्वस्य उक्तप्रकारेण तत्राऽसम्भवात् । सम्भवे वा कर्तृमात्रानिषेधकत्वात् । ततोऽयुक्तमुक्तम्–'रचनामात्रात्कर्त्रनुमाने जगतो बुद्धिमद्धेतुकत्वानुमानानुषङ्गः' इत्यादि, वेदरचनायाः कर्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वाव्यवस्थितेः, जगद्रचनायास्तु तैरिष्यते । तत्स्थितिश्च ईश्वरनिराकरणप्रघट्टके सप्रपञ्चं प्रपञ्चिता ।

यदप्युक्तम्–'वेदाध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्' इत्यादि, तत्र निर्विशेषणमध्ययनशब्दवाच्यत्वम् अपौरुषेयत्वं प्रतिपादयेत्, सविशेषणं वा ? तत्र आद्यविकल्पेऽनैकान्तिकत्वम्, निश्चितकर्तृकेषु भारतादिष्वप्यस्य भावात् । द्वितीयपक्षे तु किं तस्य विशेषणम् ? वेदश्चेत्, ननु वेदविशिष्टमप्यध्ययनं किं तावन्मात्रेण हेतुः, अपरविशेषणवि-

प्रतीत भवलाकेऽपि न चाप्यव्यभिचारि तत् ॥"–तत्त्वसं० १०।४४।

(१) संस्कृतरूपया प्राकृतस्वरूपया पालिरूपया वा भाषया । (२) वेदे । तुलना–"अपि च यद्विलक्षणय रचना तद्विलक्षण एव कर्ता अनुमीयतां न पुनस्तदपलापो युक्त इत्यप्युक्तम् ।' –न्यायम० पृ० २३६ । "अपि चात्र विशिष्टा रचना दृश्यमाना तत्करणासमर्थमेव कर्तारं निराकुरुते न पुनः कर्तृमात्रमपि ।"–स्या० र० पृ० ६३४। (३) अनुमानम् । (४) विशिष्टरचनया । (५) वेदे । (६) पृ० ७२२ पं० १२ । (७) कर्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वास्थितेः, यतो हि विद्यमानकर्तृकेषु अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्धिरुपजायते नतु क्षित्यादौ । (८) पृ० १०२। (९) पृ० ७२२ पं० १७। (१०) तुलना–"किञ्चात्र निर्विशेषणमध्ययनशब्दवाच्यत्वमपौरुषेयत्वं प्रतिपादयेत् कर्तृस्मरणविशिष्टं वा ?"–प्रमेयक० पृ० ३९९। सन्मति० टी० पृ० ४१। स्या० र० पृ० ६३४। (११) तुलना–"यत एवन्तस्मादध्ययनमध्ययनान्तरवत् अध्ययनान्तरपूर्वकमिति साध्ये अध्ययनादिति लिङ्गं व्यभिचारि, भारताद्यध्ययने पौरुषेयत्वाध्ययनत्वस्य भावात् ।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३४५ । "न हि तच्छब्दवाच्यत्वकृतमनादित्वमुपपद्यते । अनैकान्तिकश्चायं हेतुः, भारतेऽप्येवमभिधातुं शक्यत्वात् । भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं भारताध्ययनवाच्यत्वादिदानीन्तनभारताध्ययनवदिति ।'–न्यायम० पृ० २३३ । प्रमेयक० पृ० ३९९ । सन्मति० टी० पृ० ४१ । स्या० र० पृ० ६३४ । "पिटकत्रयादावपि तत एव वक्त्रभावप्रसङ्गात् । वेदाध्ययनवक्तिरस्यापि भवदाध्ययनपूर्वाध्ययनत्वप्रक्लृप्तौ न वक्त्रवशीभवति, यतो विद्यमानवक्तृकेऽपि भावादध्ययनवाच्यत्वस्यानैकान्तिकत्वं न स्यात् ।'–अष्टश० अष्टसह० पृ० २३७ । "भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् । तदध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥" –प्रमेयर० ३।९०। (१२) अध्ययनशब्दवाच्यत्वादिति हेतोः ।

1 भवति ब० । 2 'तदा' नास्ति आ० । 3–मानत करण–श्र० । 4 ननु आ० । 5 तया आ० । 6–द्धेतुत्वानु–आ० । 7 भारतेष्वप्यस्य ब० । 8 सद्भावात् ब०, श्र० । 9 वेदश्चेन्ननु श्र० ।

शिष्टत्वेन वा ? यदि तावन्मात्रेण, तदाऽनैकान्तिकत्वम्[1], विपक्षेऽप्यस्य[2][3] अविरुद्धतया सद्भाव-सम्भवात्। विपक्षेण विरुद्धं हि विशेषणं ततो हेतुं व्यावर्त्तयति नान्यद् अतिप्रसङ्गात्। न च वेदविशेषणं कर्तृपूर्वकत्वलक्षणविपक्षेण विरुद्धम् भारताध्ययनवद् वेदाध्ययनस्यापि सकर्तृकत्वेऽप्यविरोधात्।

किञ्च, यथाभूतानां[5] पुरुषाणामध्ययनम् अध्ययनपूर्वकं[6] दृष्टं तथाभूतानामेव तत्तथा[7][8] साध्यते, अन्यथाभूतानां[9] वा ? यदि तथाभूतानाम्[10], तदा सिद्धसाधनम्। अथ अन्यथाभूतानाम्, तर्हि जगतो बुद्धिमद्धेतुकत्वे सन्निवेशादिवदप्रयोजको[11] हेतुः। अथ तथाभूता[12]नामेव तत्तथा[13][14] साध्यते, न च सिद्धसाधनम्, सर्वपुरुषाणामतीन्द्रियार्थदर्शनशक्तिवैकल्येन अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकप्रेरणाप्रणेतृत्वाऽसामर्थ्येन[15] ईदृशत्वात्[16], तदप्यसुन्दरम्, प्रेरणाया[17]

(१) तुलना–"वेदेन विशेषणाददोषः अध्ययनमात्रस्य हि व्यभिचारो न वेदेन विशिष्टस्याध्ययनस्येत्यभिप्रायः। न पुनरित्यादि सिद्धान्तवादी। कोऽतिशयो वेदाध्ययनस्य येन तद्वेदाध्ययनमन्यथा स्वयं कृत्वाऽध्येतुं न शक्यते। नव कश्चिदतिशयः। ततो वेदाध्ययनञ्च स्यात् न च अध्ययनपूर्वकमिति विरोधाभावात् स एव व्यभिचारः। यस्माद्धि विशेषणं वेदत्वम् अविरुद्धं विपक्षेण अनध्ययनान्तरपूर्वकत्वेन सह अस्माद् विपक्षात् हेतुं निवर्तयति। किं कारणम् ? अविरुद्धयोर्वेदत्व-अध्ययनान्तरपूर्वकत्वयोरेकत्र वेदवाक्ये सम्भवात्। को ह्यत्र विरोधो यद् वेदाध्ययनञ्च स्यात् न च अध्ययनान्तरपूर्वकमिति। तस्माद्वेदत्वं विशेषणमध्ययनस्य हेतोरतिशयभाग् न भवति विशेषाधायकं न भवति विपक्षविरोधाभावेन विपक्षाद् व्यावर्तनात् उपात्तमपि विशेषणमनुपात्तसमम्।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ०३४५। प्रमेयक० पृ०३९७। स्या० पृ० ६३४। (२) अनध्ययनपूर्वकाध्ययने सकर्तृके (३) वेदविशेषणस्य अध्ययनशब्दवाच्यत्वस्य। (४) विपक्षात्। (५) अस्मदादीनाम् अर्वाग्दृशाम्। तुलना–"किञ्च यथाभूतानां पुरुषाणामध्ययनमध्ययनपूर्वकं दृष्टं तथाभूतानामेव अध्ययनशब्दवाच्यत्वमध्ययनपूर्वकत्वं साधयति अन्यथाभूतानां वा ? –प्रमेयक० पृ०३९८। सन्मति० टी० पृ० ४१। स्या०र० पृ० ६३४। (६) गुर्वध्ययनपूर्वकम्। (७) वेदाध्ययनम्। (८) वेदाध्ययनपूर्वकम्। (९) अतीन्द्रियार्थदर्शनशालिनां पुरुषाणां वा। (१०) अस्मदादीनाम्। तुलना–'यादृशं स्वध्ययनं स्वयङ्कर्तुमशक्तस्य तन्निमित्तम् अध्ययनान्तरनिमित्तं दृष्टं तत्तथाविधमध्ययनान्तरपूर्वकमेवेति स्यात् तन्निमित्ततया शक्तिनिमित्ततया दृष्टत्वगते विशेषे स्वयं कृत्वाऽध्ययनलक्षणे तत्त्यागेन तस्य विशेषस्य त्यागेन वेदाध्ययनत्वसामान्यस्य ग्रहणं शक्तस्याशक्तस्य वा सर्वं वेदाध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकं वेदाध्ययनत्वसामान्यादिति क्रियमाणं व्यभिचार्येव। किमिव ? कृतान्तसिद्धो अग्निसिद्धो धूमवद् यत्नवत्–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३४६। (११) यादृशं सन्निवेशादि घटादिषु यदक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकं दृष्टं तादृशमेव जीर्णकूपादौ बुद्धिमद्धेतुकत्वमनुमापयति ननु वृक्षादिगतम्–अक्रियादर्शिनः कृतबुद्ध्यनुत्पादकमिति स्थिति, तथापि सन्निवेशसामान्यात् पृथिव्यादावपि बुद्धिमद्धेतुकत्वानुमाने मृद्विकारत्वहेतुना वल्मीकस्यापि कुम्भकारकृतत्वं स्यात्। ततो यथा जगतो बुद्धिमद्धेतुकं सन्निवेशादिसामान्यमकिञ्चित्करं तथैव यादृशानाम् अस्मदादिपुरुषाणामध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकं दृष्टं तादृशानामेव देशान्तरादौ अध्ययनपूर्वकत्वं साधयितुमुचितं न तु अस्मादृशानामतीन्द्रियार्थद्रष्टॄणाम् तत्र अध्ययनशब्दवाच्यत्वस्य अप्रयोजकत्वादिति भावः। (१२) अस्मदादीनामर्वाग्दृशाम्। (१३) अध्ययनम्। (१४) अध्ययनपूर्वकम्। (१५) अन्यथाभूतातीन्द्रियपुरुषाणामभावनया। (१६) अस्मदादिवत् अर्वाग्दर्शित्वात्। (१७) वेदस्य।

1 कृतत्वलक्षण–ब०। 2 –त्वविलक्ष–श्र०। 3 –पूर्वं दृष्टं आ०, ब०।

तथा[1]भूतार्थप्रतिपादने प्रामाण्याप्रसिद्धेः । तत्प्रसिद्धिश्च गुणवतो[2] वक्तुरभावे तद्गुणै[3]रनिराकृतैर्दोषै[4]स्तस्या[5]पोहितत्वात् सुप्रसिद्धा । तथाभूताञ्च प्रेरणामतीन्द्रियार्थदर्शनशक्तिविरहिणोऽपि कर्तुं समर्था इति कुतः तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वाऽसामर्थ्येन अशेषपुरुषाणामीदृशत्वसिद्धिर्येन सिद्धसाधनं न स्यात् । अथ न गुणवद्वक्तृकत्वेनैव शब्देऽप्रामाण्यनिवृत्तिः[6] अपौरुषेयत्वेनाप्यस्याः[7] सम्भवात्; ततोऽयमदोषः; तदप्यसाम्प्रतम्, यतोऽपौरुषेयत्वमस्याः किमन्यतः प्रमाणात् प्रसिद्धम्, अत एव वा ? यद्यन्यतः; तदा अस्य वैयर्थ्यम् । अत एव चेत्; अन्योन्याश्रयः–अतो हि अनुमानादपौरुषेयत्वसिद्धौ प्रेरणायाः प्रामाण्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्येन सर्वपुरुषाणामीदृशत्वसिद्धिरिति[8] । तन्न वेदाध्ययनमात्रं हेतुः ।

अथ अपरविशेषणविशिष्टम्, किं पुनस्तत्र[9] विशेषणम्–कर्त्रस्मरणम्, सम्प्रदायाव्यवच्छेदो वा ? न तावत् कर्त्रस्मरणम्, तस्य असिद्धाद्यनेकदोषदुष्टत्वप्रतिपादनात् । सम्प्रदायाव्यवच्छेदो[10]ऽपि आत्मगतः, सर्वलोकगतो वा ? न तावदात्मगतः, भारतादिवत्[1] पौरुषेयत्वेऽप्यस्य सम्भवात् । नापि सर्व[2]लोकगतः, असर्वविदा तस्य सतोऽपि ज्ञातुमशक्यत्वात्, "वटे वटे वैश्रवणः" [   ] इत्यादिवत् पौरुषेयत्वेऽप्यस्या[11]ऽविरोधाच्च ।

किञ्च, प्रमाणादर्थव्यवस्था भवति । सम्प्रदायाव्यवच्छेदश्च[12] किं स्वतन्त्रं प्रमाणम्, प्रत्यक्षाद्यन्यतमत्, तदन्तर्भूतं वा ? न तावत् स्वतन्त्रम्, षट्प्रमाणसंख्याव्याघातप्रसङ्गात् । नापि प्रत्यक्षाद्यन्यतमत्, तस्य[13] तत्सामग्रीतो विलक्षणसामग्रीप्रभवत्वात्, आम्नायपारम्पर्यवत् । अत[14] एव न तदन्तर्भूतम्[15] । ततो[3] वटे यक्षपारम्पर्यवत् संशयजनकमेवैतत्[4] नार्थतत्त्वव्यवस्थापनप्रवणम् । अव्यवच्छेदश्चास्य[16] श्रद्धामात्रगम्यः, नैपथ्यव्यव-

(१) अतीन्द्रियार्थ । (२) तुलना–"गिरा सत्यत्वहेतूनां गुणानां पुरुषाश्रयात् । अपौरुषेयं मिथ्यार्थं किं नेत्यन्ये प्रचक्षते ॥" –प्रमाणवा० ३।२२५। "यावता गुणवद्वक्त्रभावे तद्गुणैरनिराकृतैर्दोषैरपोहितत्वात् तत्र सापवादं प्रामाण्यम् ।"–प्रमेयक० पृ० ३९७। सन्मति० टी० पृ० ४१। स्या० र० पृ० ६३४। (३) वक्तृगुणैः । (४) प्रामाण्यस्य निराकृतत्वात् । (५) अप्रमाणभूताम् । (६) अप्रामाण्यनिवृत्तेः । (७) चोदनायाः । "यतोऽपौरुषेयत्वमस्याः किमन्यतः प्रमाणात् प्रतिपन्नमत एव वा ?"–प्रमेयक० पृ० ३९७। सन्मति० टी० पृ० ४१। स्या० र० पृ० ६३५। (८) अस्मदादिवदर्वाग्दर्शित्वसिद्धिः । (९) वेदाध्ययनवाच्यत्वाख्ये हेतौ । "किं तत्र विशेषणम्–कर्त्रस्मरणं सम्प्रदायाव्यवच्छेदो वा ?"–स्या० र० पृ० ६३५। (१०) "सम्प्रदायाव्यवच्छेदोऽपि आत्मगतः, सर्वलोकगतो वा ?"–स्या० र० पृ० ६३५। (११) सम्प्रदायाव्यवच्छेदस्य । (१२) सम्प्रदायाव्यवच्छेदस्य । (१३) विलक्षणसामग्रीप्रभवत्वादेव । (१४) प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतम् । (१५) सम्प्रदायाव्यवच्छेदात्मकं प्रमाणम् । (१६) वेदस्य । तुलना– "अपि च आदिमतोऽपि शास्त्रग्रामस्य सम्प्रदायाव्यवच्छेदोऽस्ति वेदस्य पुनरनादेरसौ नास्तीति कः श्राद्धिको भवतोऽपरः प्रतिपद्येत ।"–स्या० र० पृ० ६३५।

1–पोषित–आ० । 2–पादित–ब० । [2] सर्वगतो ब०, श्र० । [3] ततो दुष्टयक्षपारम्पर्यवत् संशयजनकमेवैतदर्थव्यवस्था भवति ? ब० । 4–जननमेव तन्नाय–आ० ।

हारवालीदादीनाम् आदिमतामपि निर्मूलोच्छेदोपलम्भेन अनादौ वेदे अध्ययनविच्छेदस्य श्रद्धामात्रादन्यत सम्भावयितुमशक्यत्वात् ।

यदप्युक्तम्–'अतीतानागतौ कालौ' इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, आगमान्तरेऽप्यस्याविशेषात् । किञ्च, इदानीं यथाभूतो वेदकरणाऽसमर्थपुरुषयुक्तः तत्कर्तृपुरुषरहितो वा कालः प्रतीतः अतीतोऽनागतो वा तथाभूतः कालत्वात् साध्येत, अन्यथाभूतो वा ? यदि तथाभूतः, तदा सिद्धसाधनम् । अथ अन्यथाभूतः, तदा सन्निवेशादिवदप्रयोजको हेतुः । अथ तथाभूतस्यैव तस्य तद्रहितत्वं साध्यते, न च सिद्धसाधनम्, अन्यथाभूतस्य कालस्यैवाऽसम्भवात्, ननु 'अन्यथाभूतः कालो नास्ति' इत्येतत् कुतः प्रमाणात् प्रतिपन्नम्–अत एव, अन्यतो वा ? यदि अत एव, इतरेतराश्रयः–अन्यथाभूतकालाभावसिद्धौ हि अतोऽनुमानात्तद्रहितत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च अन्यथाभूतकालाभावसिद्धिरिति । अन्यतः चेत्; तत्सिद्धौ चास्यैवानर्थक्यम् अपौरुषेयत्वस्यापि तत एव प्रसिद्धेः । ततो वेदे अपौरुषेयत्वप्रसाधकस्य कस्यचिदपि प्रमाणस्यासम्भवात् कथमसौ अपौरुषेयः स्यात् ।

अस्तु वा, तथाप्यसौ व्याख्यातः, अव्याख्यातो वा स्वार्थे प्रतीतिं कुर्यात् ? न तावदव्याख्यातः, अतिप्रसङ्गात् । अथ व्याख्यातः, कुतस्तद्व्याख्यानम्–स्वतः, पुरुषाद्वा ? न तावत् स्वत एव, 'अयमेव मदीयपदवाक्यानामर्थः नायम्' इति स्वयं वेदेनाऽप्रतिपा-

(१) पृ० ७२३ पं० १ । (२) तुलना– 'कालत्वपुरुषत्वादी सन्दिग्धव्यतिरेकिणौ । पूर्वपक्षप्रकरणाशङ्के नराणामप्रसाधनात् ॥' –तत्त्वसं० का० २७९९। (३) तुलना–'किञ्चेदानीं यथाभूतो वेदकरणसमर्थपुरुषयुक्तः तत्कर्तृपुरुषरहितो वा कालः प्रतीतः अतीतानागतो वा तथाभूतः कालत्वात्साध्यते अन्यथाभूतो वा ?' –प्रमेयक० पृ० ३९९। सन्मति० टी० पृ० ३१। स्या० र० पृ० ६३५ । (४) वेदकर्तृपुरुषरहितः । (५) हेतौ वेदकारविवर्जित इति शेषः । (६) वेदकर्तृपुरुषसहितः । (७) वेदकर्तृपुरुषरहितकालस्य वेदकारविवर्जितत्वमिष्टमेव । (८) वेदकरणसमर्थपुरुषयुक्तः तत्कर्तृपुरुषसहितो वा । (९) वेदकर्तृपुरुषरहितस्यैव । (१०) कालस्य । (११) वेदकाररहितत्वम् । (१२) वेदकर्तृपुरुषसहितकालसम्भावनया । (१३) वेदकर्तृपुरुषसहितस्य । (१४) तुलना–'न च यथाभूतः कालो नास्तीत्यत्कुतः प्रमाणात् प्रतिपन्नम् ?' –प्रमेयक० पृ० ३९९ । सन्मति० टी० पृ० ३१। स्या० र० पृ० ६३५ । (१५) कालत्वात् हेतोः । (१६) वेदकर्तृसहितः । (१७) वेदकारविवर्जितत्वस्य । (१८) अन्यथाभूतकालाभावसिद्धौ । (१९) कालत्वादिति हेतोः । (२०) तुलना– 'तर्हि वेदः केनचिद् व्याख्यातः धर्मस्य प्रतिपादकः स्यादव्याख्यातो वा ?' –आप्तप० का० ११० । प्रमेयक० पृ० ४०० । स्या० र० पृ० ६३६। प्रमेयर० ३।९९ । (२१) तुलना– न हि तावत्स्थितोऽप्येष ज्ञानं वेदः करोति नः । यावन्न पुरुषैरेव दीपभूतः प्रकाशितः ॥ ततश्चापौरुषेयत्वं भूतार्थज्ञानकारणम् । न कस्यचिन्मतं तद्धि पुंव्याख्यानात्प्रवर्तते ॥ सत्यप्येषा निरर्थैव वेदस्यापौरुषेयता । यस्मिष्टं फलमस्या हि नार्थः तत्पुरुषाश्रितम् ॥ स्वतन्त्राः पुरुषाश्चेह वेदे व्याख्या यथारुचि । कुर्वाणाः प्रतिबद्धुं ते शक्यन्ते न केनचित् ॥ मोहमानादिभिर्भिन्नैस्ततो भी विप्लुता श्रुते । विपरीतामपि व्याख्यां कुर्युरित्यभिशङ्क्यते ॥ –तत्त्वसं० का० २३६६–७१ । (२२) तुलना– अयोऽस्य नायमर्थ इति नाम्ना वदति न । कल्प्यो

1 अधिमता–श्र० । 2 वेदाकरणसमर्थ–ज० । 3 तदवदप्टपुरु–ब० । 'तत्कर्तृपुरुषरहितो' इति नास्ति आ० ।

दनात्, अन्यथा व्याख्याभेदो न स्यात्। पुरुषाच्चेत्, कथं तद्व्याख्यानात् पौरुषेयादर्थप्रतिपत्तौ नोपाशङ्कानिवृत्तिः स्यात्? पुरुषा हि रागादिमन्तो विपरीतमप्यर्थं व्याचक्षाणा दृश्यन्ते। संवादेन प्रामाण्याभ्युपगमे च अपौरुषेयत्वकल्पनानर्थक्यम्, पौरुषेयत्वेऽपि वेदस्य संवादादेव प्रामाण्योपपत्तेः। न च व्याख्यानानां संवादोऽस्ति, परस्परविरुद्धभावनानियोगादिव्याख्यानानामन्योन्यं विसंवादोपलम्भात्।

किञ्च, असौ तद्व्याख्याता अतीन्द्रियार्थद्रष्टा, तद्विपरीतो वा? प्रथमपक्षे अतीन्द्रियार्थदर्शिनः प्रतिषेधविरोधः। धर्मादौ च अस्यैव प्रामाण्योपपत्तेः "धर्मे चोदनैव प्रमाणम्" [ ] इत्यवधारणानुपपत्तिश्च। अथ तद्विपरीतः, कथं तर्हि तद्व्याख्यानाद् यथार्थप्रतिपत्तिः, अयथार्थाभिधानाशङ्कया तदनुपपत्तेः?

ज्यमथ पुरुष ते च रागादिसंयुता ॥"–प्रमाणवा० ३।३१२। 'वेदो मर निराशंसो श्रुतेऽथ न सदा स्वन। अन्धयष्टितुल्या तु पुंव्याख्या समपेक्षते ॥ स तया कृष्यमाणश्च कुवर्त्मन्यपि सम्पतेत। ततो नात्रोक्तवद्वेदश्चक्षुर्भूतश्च युज्यते।"–तत्त्वसं० का० २३७४–७५। प्रमेयक० पृ० ४००। स्या० र० पृ० ६३६। प्रमेयर० ३।९९। "अथवा न तावदयं वेदः स्वस्यार्थं स्वयमाचष्टे सर्वेषामपि तदवगमप्रसङ्गात्।"–धवलाटी० पृ० १९५।

(१) तुलना–"व्याख्याप्यपौरुषेयस्य मानाभावान्न सङ्गता। मिथो विरुद्धभावाच्च तत्साधुत्वाद्यनिश्चिते ॥'–शास्त्रवा० १०।३१। (२) तुलना–"अथ ये व्याचक्षते, तेषां तदर्थविषयपरिज्ञानमस्ति वा न वा। प्रथमविकल्पेऽसौ सर्वज्ञो वा स्यादसर्वज्ञो वा?'–धवलाटी० पृ० १९९। "व्याख्याता रागादिमान् विरागो वा?"–आप्तप० का० ११०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ८। प्रमेयक० पृ० ४०१। स्या० र० पृ० ६३६। प्रमेयर० ३।९९। (३) तुलना–"यद्यत्यन्तपरोक्षेऽर्थेऽनागमज्ञानसम्भवः। अतीन्द्रियार्थवित् कश्चिदस्तीत्यभिमतं भवेत् ॥ यद्यत्यन्तपरोक्षेऽर्थे स्वर्गसम्बन्धादौ जैमिन्यादेरनागमस्य आगमनिरपेक्षस्य ज्ञानस्य सम्भवः तदा अतीन्द्रियार्थदर्शी कश्चिदस्तीत्यभिमतं भवेत् ततस्तत्प्रतिक्षेपो न युक्तः। यदि तु न कश्चिदतीन्द्रियार्थदर्शी तदा–स्वयं रागादिमानार्थं वेत्ति वेदस्य नान्यतः। न वेदयति वेदोऽपि वेदार्थस्य कुतो गतिः ॥'–प्रमाणवा०, मनोरथ० ३।३१६–१७। (४) अतीन्द्रियार्थद्रष्टुः। (५) 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।"–जैमिनिसू० १।१।२। "चोदनैव प्रमाणं चेत्यतद् धर्मेऽवधारितम्।"–मी० श्लो० चोदना० श्लो० ४। 'यो धर्मः स चोदनालक्षणः चोदनैव तस्य लक्षणम्।–शास्त्रदी० १।१।२। उद्धृतमिदम्–आप्तप० पृ० ५७। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२। प्रमेयक० पृ० ४०१। स्या० र० पृ० ६३६। (६) यथार्थप्रतीत्यनुपपत्तेः। तुलना–' अपि च वेदस्तद्व्याख्यानं वा पुरुषेण पुरुषायोपदिश्यमानमनष्टसम्प्रदायमेवानुवर्तते इत्यत्रापि शपथः शरणम्। आगमप्रणेतारिणामाहोपुरुषिकया तद्दर्शनविद्वेषेण वा तत्प्रतिपक्षमलीकरणाय धूर्तव्यसनेन अयत्नो वा कुतश्चित् कारणाद् यथारचनासम्भवात्। अपि चात्र भवान् स्वमेव मुखं वर्णं स्ववादानुरागान्नूनं विस्मृतवान् 'पुरुषो रागादिभिरुपप्लुतोऽनृतमपि ब्रूयादिति नास्य वचनं प्रमाणम्' इति। तदिहापि किन्न प्रत्यवेक्ष्यते सम्भवति न वेति। स एवोपदिश-न्नुपप्लवात् वेदवेदार्थं वाऽन्यथाप्युपदिशेदिति। श्रूयन्ते हि कश्चित् पुरुषैरुत्सन्नोद्धृतानि शाखान्तराणि इदानीमपि कानिचिद् विरलाध्येतृकाणि। तद्वत् प्रचुराध्येतृकाणामपि कस्मिंश्चित्काले कथञ्चित्संहारसम्भवात्। पुनः संभावितपुरुषप्रत्ययात् प्रचुरतोपगमनसम्भावनासम्भवाच्च। तेषाञ्च पुनः प्रतानयितॄणां पुरुषाणां कस्याचिदधीतविस्मृताध्ययनानामन्यथा सम्भावनाभ्रंशभयादिनाऽन्यथोपदेशसम्भवात्। तत्प्रत्ययाच्च

1–योऽयवि–आ०।

नच मन्वादीनां सातिशयप्रज्ञत्वात् तद्व्याख्यानाद् यथार्थप्रतिपत्तिः, तेषां सातिशयप्रज्ञत्वासिद्धेः । तेषां हि प्रज्ञातिशयः स्वतः, वेदार्थाभ्यासात्, अदृष्टात्, ब्रह्मणो वा स्यात् ? स्वतश्चेत्, सर्वस्य स्यादविशेषात् । वेदार्थाभ्यासाच्चेत्, ननु वेदार्थस्य ज्ञातस्य, अज्ञातस्य वा अभ्यासः स्यात् ? न तावदज्ञातस्य, अतिप्रसङ्गात् । अथ ज्ञातस्य, कुतस्तज्ज्ञप्तिः–स्वतः, अन्यतो वा ? स्वतश्चेत्, अन्योन्याश्रयः–सति हि वेदार्थाभ्यासे स्वतस्तत्परिज्ञानम्, तस्मिंश्च सति तदर्थाभ्यास इति । अथ अन्यतः, तर्हि तस्यापि तत्परिज्ञानमन्यत इति अतीन्द्रियार्थदर्शिनोऽनभ्युपगमे अन्धपरम्परातो यथार्थनिर्णयानुपपत्तिः । अदृष्टमपि न प्रज्ञातिशयप्रसाधकम्, तस्य आत्मान्तरेऽपि सद्भावात् । न तथाविधमदृष्टमन्यत्र मन्वादावेव अस्य सम्भवादिति चेत्, कुतस्तत्रैवास्य सम्भवः ? वेदार्थानुष्ठानविशेषाच्चेत्, स तर्हि ज्ञातस्य अज्ञातस्य वा वेदार्थस्य अनुष्ठाता स्यात् ? अज्ञातस्य चेद्, अतिप्रसङ्गः । ज्ञातस्य चेत्, चक्रकप्रसङ्गः–सिद्धे हि वेदार्थज्ञानातिशये तदर्थानुष्ठानविशेषसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अदृष्टविशेषसिद्धिः, ततस्तज्ज्ञानातिशयसिद्धिरिति । ब्रह्मणोऽपि वेदार्थज्ञाने सिद्धे सति अतो मन्वादेस्तदर्थपरिज्ञानातिशयः सिद्ध्येत् । तच्चास्य कुतः सिद्धम् ? धर्मविशेषाच्चेत्, स एव चक्रकप्रसङ्गः–सिद्धे हि वेदार्थपरिज्ञानातिशये तत्पूर्वकानुष्ठानविशेषः सिद्ध्येत्, ततः तज्जनितधर्मविशेषः सिद्ध्येत्, तत्सिद्धौ च वेदार्थपरिज्ञानातिशयः सिद्ध्येदिति । ततोऽतीन्द्रियार्थदर्शिनोऽनभ्युपगमे वेदार्थप्रतिपत्तेरनुपपत्तिरेव ।

ननु व्याकरणाद्यभ्यासात् लौकिकपदानामर्थप्रतिपत्तौ तदविशिष्टवैदिकपदवा-

-----

...सम्भवतामविचारेण प्रतिपत्तः कस्यचिदप्यध्यक्षत सम्भावितात् पुरुषात् बहुलं प्रतिपत्तिदर्शनात् । ततोऽपि यत्किञ्चित् विप्रलम्भसम्भवात् । किन्त्वपरिमितव्याख्यातपुरुषपरम्परामेव चात्र भवतामपि शृणुम । तत्र कश्चित् द्विजातिपूर्णानामन्यतम स्यादपीति अनाश्वासः । –प्रमाणवा० स्ववृ० १।३२२ ।

(१) तु०–'कुतस्तस्य तादृशः प्रज्ञातिशयः ? श्रुत्यर्थसमस्यातिशयादिति चेत्, सोऽपि कुतः ? पूर्वजन्मनि श्रुत्यभ्यासादिति चेत् स तस्य स्वतोऽन्यतो वा ? स्वतश्चेत् सर्वस्य स्यात् । तस्मादृष्टमानात् वेदाभ्यासः स्वतो युक्तो न सर्वस्य तदभावादिति चेत्, कुतस्तस्यैव अदृष्टविशेषः तादृग् ? वेदार्थानुष्ठानाच्चेत् तर्हि स वेदार्थस्य स्वयं ज्ञानस्यानुष्ठाता स्यादज्ञातस्य वापि ? न तावदुत्तरः पक्षः अतिप्रसङ्गात् । स्वयं ज्ञानस्य चेत् परस्पराश्रयः । मन्वादेर्वेदाभ्यासोऽन्यत एवेति चेत् स कोऽन्य ? ब्रह्मेति चेत्, तस्य कुतो वेदार्थज्ञानम् ? धर्मविशेषादिति चेत् स एवान्योन्याश्रयः ।'–तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९ । प्रमेयक० पृ० ४०१ । स्या० र० पृ० ६३६ । (२) तुलना–'यस्मादन्योऽपि तन्मध्ये नवातीन्द्रियदृङ्मतः । अनादिकल्पनायेवा तस्मादन्धपरम्परा ॥ अन्धेनान्ध समाकृष्ट सम्यग्वर्त्म प्रपद्यते । ध्रुवं नत्र तथाप्यस्या विफलाऽनादिकल्पना ।–तत्त्वसं० का० २३७९-८० । "अविरोधेऽपि नित्यस्य भवेदन्धपरम्परा । सत्यर्थदर्शिनोऽभावात् म्लेच्छादिव्यवहारवत् ।–न्यायवि० का० ४१७ । अष्टश० अष्टसह० पृ० २३९ । प्रमेयक० पृ० ४०१ । स्या० र० पृ० ६३७ । तत्त्वचि० शब्द० पृ० ३६९ । (३) प्रज्ञातिशयप्रयोजकस्य अदृष्टस्य । (४) मन्वादि । (५) ब्रह्मण । (६) ब्रह्मण । (७) धर्मविशेषसिद्धौ ।

1 अदृष्टत्वात् ब०। 2–प्ति स्वतश्चेदन्यो–आ० ।

क्यार्थप्रतिपत्तेरपि प्रसिद्धि अश्रुतकाव्यादिवत्, अतो न वेदार्थप्रतिपत्तौ अतीन्द्रियार्थदर्शिना किञ्चित् प्रयोजनम्, इत्यप्यपेशलम्, [1]लौकिकवैदिकपदानामेकत्वेऽपि अनेकार्थत्वव्यवस्थिते अन्यपरिहारेण व्याचिख्यासितार्थस्य नियमयितुमशक्ते । न च प्रकरणादिभ्यस्तन्नियम, तेषामप्यनेकधा प्रवृत्ते त्रिसन्धानादिवत्। यदि च लौकिकेन अग्न्यादिशब्देन अविशिष्टत्वाद् वैदिकस्य अग्न्यादिशब्दस्य अर्थप्रतिपत्ति, तर्हि [2]पौरुषेयेणापि तेन अविशिष्टत्वात् पौरुषेयोऽप्यसौ कथन स्यात्? लौकिकस्य हि अग्न्यादिशब्दस्य अर्थवत्त्व पौरुषेयत्वेन व्याप्तम्, तत्र अय वैदिकोऽग्न्यादिशब्द कथ पौरुषेयत्व परित्यज्य तद्धर्मेण ग्रहीतु शक्नोति? उभयमपि गृह्णीयात् जह्याद्वा । न च लौकिकवैदिकशब्दयो स्वरूपाऽविशेषे सङ्केतग्रहणसव्यपेक्षत्वेन अर्थप्रतिपादकत्वे अनुच्चार्यमाणयोश्च पुरुषेणाश्रवणे समाने अन्यो विशेषोऽस्ति, यतो वैदिका अपौरुषेया शब्दा लौकिकास्तु पौरुषेया स्यु । ततो ये नररचितरचनाऽविशिष्टा ते पौरुषेया यथा अभिनवकूपप्रासादादिरचनाऽविशिष्टा जीर्णकूपप्रासादादय, नररचितवचनरचनाऽविशिष्टश्च वैदिक पदवाक्यादिकमिति ॥ छ ॥

किं पुन पद वाक्यञ्च इति चेत्? उच्यते—वर्णानामन्योन्यापेक्षाणा निरपेक्ष
पदवाक्ययोर्लक्षणम्– समुदाय पदम्। पदाना तु परस्परापेक्षाणा निरपेक्ष समुदायो

(१) तुलना–'उत्पादिता प्रसिद्धधव शङ्का शब्दार्थनिश्चये । यस्मान्नानार्थवृत्तित्व शब्दाना तत्र दृश्यते ॥ अयथार्थमवाभावान्नानाशक्ते स्वय ध्वने । अवश्य शङ्कया भाव्य नियामकमपश्यताम् ॥ सर्वत्र योग्यस्यैवार्थद्योतने नियम कुतः। ज्ञाता वाऽतीन्द्रिया येन विवक्षावचनादृत ॥ –प्रमाणवा० ३। ३२३,२४,२६ । प्रमेयक० पृ० ४०२ । स्या० र० पृ० ६३७ । (२) अग्निपदेन सम्बन्धिनी ग्राह्या । तथा चोक्तम्–'ससर्गो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता । अर्थ प्रकरण लिङ्ग शब्दस्यान्यस्य सन्निधि ॥ सामर्थ्यमौचिती देश कालो व्यक्ति स्वरादय । शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव ।'–वाक्यप० २।३१७-१८ । (३) इष्टार्थनियम । (४) प्रकरणादीनामपि । तुलना–'तेषामप्यनेकधा प्रवृत्ते द्विसन्धानादिवत् ।''–प्रमेयक० पृ० ४०२। 'तेषामप्यनेकधाप्रवृत्तेर्द्विसन्धानादिवत्।'–स्या० र० पृ० ६३७ । (५) पौरुषेयत्वदृष्टयापि । (६) लौकिकशब्देन । (७) वैदिकशब्द । (८) तात्पर्यम् पौरुषेयत्वञ्च । (९) "अथ स्यान्नास्त्येव तयो स्वभावभेद इत्याह–न चास्त्यन्य । अत्र जगति लौकिकवैदिकयोर्वाक्ययो स्वभावनानात्व [नच] पश्याम । असति तस्मिन् स्वभावभेदे तयो लौकिकवैदिकवाक्ययो सामान्यस्यैव तुल्यरूपस्यैव वर्णानुक्रमलक्षणस्य दर्शनात् एकस्य लौकिकवैदिकस्य कश्चिद् धर्म विशेषयन् पौरुषेयत्वमपौरुषेयत्व वा विभागेन व्यवस्थापयन् पुरुष आर्जवव्यभिचारवान् भिद्यते ।'–प्रमाणवा० स्वव० टी० पृ० ३४१। 'न च लौकिकवैदिकशब्दयो स्वरूपाविशेषे सङ्केतग्रहणसव्यपेक्षत्वेनार्थप्रतिपादकत्वे अनुच्चार्यमाणयोश्च पुरुषेणाश्रवणे समाने अन्यो विशेषो विद्यते यतो वैदिका अपौरुषेया स्यु ।'–प्रमेयक० पृ० ४०२ । सन्मति० टी० पृ० ३९ । स्या० र० पृ० ६३७ । (१०) दृष्टव्यम्–पृ० ७२९ टि० १४ । (११) तुलना–"सुप्तिङन्त पदम्"–पाणिनिव्या० १।४।१४ । 'ते विभक्त्यन्ता पदम्'–न्यायसू० २।२।५९ । माठरवा० १४।३९ । "पद" पुनर्वर्ण

1–स आ० । 2 पौरुषेयत्वस्यापि ततोऽपि–ब० । 3 न लौकि–आ०, ब० । 4–शब्दयो–ब० । 5–रचना–आ० ब० ।

वाक्यमिति[1]। नन्वेवं[2] कथमिदं साधनवाक्यं घटते–'यत् सत् तत्सर्वं परिणामि यथा घटः सश्च शब्दः' इति, 'तस्मात्परिणामि' इत्याकाङ्क्षणात्, साकाङ्क्षस्य वाक्यत्वानिष्टेः ? इत्यचोद्यम्, कस्यचित्[3] प्रतिपत्तुः तदनाकाङ्क्षत्वोपपत्तेः। यस्य हि प्रतिपत्तुः 'तस्मात् परिणामि' इत्यत्र आकाङ्क्षाऽस्य तदपेक्षया[4] तद् वाक्यं भवति उक्तवाक्यलक्षणसद्भावात्, नार्थापेक्षया[5]। निराकाङ्क्षत्वं हि प्रतिपत्तृधर्मः वाक्येऽध्यारोप्यते, न पुनः शब्दधर्मः तस्याऽचेतनत्वात्। स चेत् प्रतिपत्ता तावता अर्थं प्रत्येति किमित्यपरमाकाङ्क्षेत् ? पक्षधर्मोपसंहारपर्यन्त[6]साधनवाक्यादर्थप्रतिपत्तावपि निगमनवचनापेक्षायां निगमनान्तपञ्चावयववाक्यादप्यर्थप्रतिपत्तौ परापेक्षा[7]प्रसङ्गात् न क्वचिन्निराकाङ्क्षत्वसिद्धिः स्यात्। तथा[8] च वाक्याभावात् न क्वचिद् वाक्यार्थप्रतिपत्तिः कस्यचित् स्यात्। तामिच्छता यस्य

समूहः'–न्यायवा० पृ० १। न्यायम० पृ० ३६७। 'वर्णाः पदम्।'–मुक्ता० का० ८१। 'वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः"–सा० द० २१५। व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दः निरुक्तनिघण्ट्वादिभिः निर्दिष्टस्तदभिधेयोऽर्थः तौ पदम्।–काव्यमी० पृ० २१। 'वर्णानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदम्।–प्रमेयक० पृ० ४५८। वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्षा संहतिः पदम्, पदानां तु वाक्यमिति।–प्रमाणनय० ४।१०।

(१) तुलना– आख्यातं साव्ययं सकारकं सकारकविशेषणं वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्–अपर आह–आख्यातं सविशेषणमित्येव। सर्वाणि ह्येतानि विशेषणानि। एकतिङ् एकतिङ् वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्।–पात० महाभा० २।१।१। तिङ्सुबन्तचयो वाक्यम् क्रिया वा कारकान्विता।–अमरको०। "पूर्वपदस्मृत्यपेक्षः अन्त्यपदप्रत्ययः स्मृत्यनुग्रहेण प्रतिसन्धीयमानः विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुर्वाक्यम्।"–न्यायवा० पृ० १६। यावन्ति पदान्यर्थपरिसमाप्तिः तदेकं वाक्यम्।–वादन्याय पृ० १०८। 'पदसमूहो वाक्यमिति।'–न्यायम० पृ० ६३७। न्यायवा० ता० पृ० ४३४। 'अथात्र प्रसङ्गात् मीमांसकवाक्यलक्षणमपद्वारेण प्रमाणयितुमाह–साकाङ्क्षावयवं भेदे परानाकाङ्क्षशब्दकम्। कर्मप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते॥–वाक्यप० २।४। पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्।–अष्टश० अष्टसह० पृ० २८५। प्रमेयक० पृ० ४५८। प्रमाणनय० ४।१०। मिथः साकाङ्क्षशब्दस्य व्यूहो वाक्यं चतुर्विधम्। सुप्तिङन्तचयो नैवमभिव्याप्त्या निदर्शितम्॥ यादृशानां पदानां यादृशार्थविषयतावच्छिन्नबोधं प्रत्यनुकूला परस्पराकाङ्क्षा तादृशानां पदानां तेषामेव तथाविधार्थं वाक्यम्।'–शब्दश० श्लो० १३। वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।–सा० द० २।१। पदानामभिधित्सितार्थग्रन्थनाकारः सन्दर्भो वाक्यम्।–काव्यमी० पृ० २२। वाक्यं विशिष्टपदसमुदायः। यदाह–पदानां संहतिर्वाक्यं सापेक्षाणां परस्परम्। साध्यानां कल्पनास्तत्र पश्चात्तु यथायथम्।–न्यायाव० टी० टि० पृ० ८। (२) 'ननु यदि निराकाङ्क्षः परस्परापेक्षपदसमुदायो वाक्यं न तर्हि तदानीमिदं भवति, यथा यत्सत्तत्सर्वं परिणामि यथा घटः सन्तश्च शब्दः इति साधनवाक्यम् तस्मात्परिणामीत्याकाङ्क्षणात् साकाङ्क्षस्य वाक्यत्वानिष्टेरिति न शङ्कनीयम् कस्यचित्प्रतिपत्तुस्तन्निराकाङ्क्षत्वोपपत्तेः। निराकाङ्क्षत्वं हि नाम प्रतिपत्तृधर्मोऽयं वाक्येऽध्यारोप्यते न पुनः शब्दस्य धर्मः तस्याचेतनत्वात्। स चेत्प्रतिपत्ता तावताऽर्थं प्रत्येति किमिति शेषमाकाङ्क्षति ?'–अष्टश० अष्टसह० पृ० ८५। प्रमेयक० पृ० ४५८। स्या० र० पृ० ६४१। (३) सौगतस्य। (४) सौगतापेक्षया। (५) पञ्चावयववादिनैयायिकापेक्षया। (६) उपनय। (७) पञ्चावयवापेक्षा। (८) क्वचिन्निराकाङ्क्षापरिसमाप्त्यभावे न वाक्यपरिनिष्ठितिः।

1–पस्तुर्येस श्र०।

प्रतिपत्तुर्यावत्सु परस्परापेक्षेपु पदेषु समुदितेषु निराकाङ्क्षत्वं तस्य तावत्सु वाक्यत्वसिद्धिः प्रतिपत्तव्या। [1]एतेन प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षश्रूयमाणपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य सत्यभामादिपदवत् [2]वाक्यत्वं प्रतिपादितं प्रतिपत्तव्यम्।

एतेन यत्कैश्चित् [3]वाक्यस्य लक्षणान्तरमुक्तम्–

"[4]आख्यातशब्दः सङ्घातो जातिः सङ्घातवर्तिनी। एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृती(ति)॥ [5]पदमाद्यं पदं चान्त्यं पदं सापेक्षमित्यपि। वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा [6]न्यायवेदिनाम्॥"

[वाक्यप० २।१-२] इति,

तदप्रत्याख्यातम्, यस्मा[7]दाख्यातशब्दः पदान्तरनिरपेक्षः, सापेक्षो वा वाक्यं स्यात्? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः, पदान्तरनिरपेक्षस्यास्य पदत्वेन वाक्यत्वानुपपत्तेः, अन्यथा आख्यातपदाभावः स्यात्। द्वितीयपक्षेऽपि क्वचित् निरपेक्षोऽसौ, न वा? प्रथमपक्षे [8]अस्मन्मतसिद्धिः, अस्मदुक्तस्यैव वाक्यलक्षणस्य इत्थमभ्युपगमात्। द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः, पदान्तरसापेक्षस्याप्यस्य क्वचिन्निरपेक्षत्वाभावे प्रकृतार्थापरिसमाप्त्या वाक्यत्वायोगात् अर्द्धवाक्यवत्। 1

(१) "प्रकरणादिना वाक्यकल्पेनाप्यप्रतिपत्तौ न वा प्रायसकल्पित्वाक्यलक्षणपरिहारः, प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षश्रूयमाणपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य सत्यभामादिपद वाक्यत्वसिद्धेः।"–अष्टश० अष्टसह० पृ० २८५। प्रमेयक० पृ० ४५८। स्या० र० पृ० ६४७। (२) वैयाकरणैः भर्तृहरिप्रभृतिभिः। (३) व्याख्या–"एतेऽष्टौ वाक्यविकल्पा आचार्याणाम्। तत्राखण्डपक्षे जातिः सङ्घातवर्तिन्येकोऽनवयवः शब्दो बुद्ध्यनुसंहृतिरिति त्रीणि लक्षणानि। खण्डपक्षे तु आख्यातशब्दः क्रमः सङ्घातः पदमाद्यं पृथक् सर्वपदं साकाङ्क्षमिति पञ्च लक्षणानि। अत्रापि सङ्घातः क्रम इत्यभिहितान्वयपक्षे लक्षणद्वयम्। आख्यातशब्दः पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं साकाङ्क्षमित्यन्विताभिधानपक्षे लक्षणत्रयम् इति विभाग इत्यष्टावेव वाक्यविकल्पाः। मतभेदेन सम्पद्यन्त इति बोद्धव्यम्।"–वाक्यप० टी० २।१ २। 'आख्यातशब्दः सङ्घातो'–मी० श्लो० वाक्य० पृ० ८६०। (४) 'बुद्ध्यनुसंहृतिः'–वाक्यप०, मी० श्लो० वाक्य० पृ० ८६०। स्या० र० पृ० ६४७। प्रकृतपाठः–अष्टसह० पृ० २८४। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२७। प्रमेयक० पृ० ४५९। नयच० वृ० पृ० १६८ A। (५) पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं साकाङ्क्षमित्यपि'–वाक्यप०। 'पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं सापेक्षमित्यपि'–मी० श्लो० वाक्य० पृ० ८६०। स्या० र० पृ० ६४७। प्रकृतपाठः–अष्टसह० पृ० २८४। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२७। प्रमेयक० पृ० ४५९। (६) 'न्यायवादिनाम्'–वाक्यप०। 'वाक्यदर्शिनाम्'–मी० श्लो० वाक्य०, स्या० र०। 'न्यायवेदिनाम्'–अष्टसह०, तत्त्वार्थश्लो०, प्रमेयक०। (७) आख्यातात्मकवाक्यस्य स्वरूपम्–'आख्यातशब्दे नियतं साधनं यत्र गम्यते। तदप्येकं समाप्तार्थं वाक्यमित्यभिधीयते॥–यथा सर्वतोऽत्युक्तं देवो जलमिति वक्तुरभिप्रायात् परिपूर्णार्थत्वे वर्षति देवो जलमिति यथा वाक्यमेव तद्वदेकं पदं समाप्तार्थं परिपूर्णार्थं वाक्यमेवाभिधीयते।'–वाक्यप० टी० २।३१७। 'तस्य पदान्तरनिरपेक्षस्य पदत्वाद् अन्यथा आख्यातपदाभावप्रसङ्गात्। पदान्तरसापेक्षस्यापि क्वचिन्निरपेक्षत्वाभावे वाक्यत्वविरोधात् प्रकृतार्थापरिसमाप्तेः। निराकाङ्क्षस्य तु वाक्यलक्षणयोगादुपपन्नं वाक्यत्वम्।'–अष्टसह० पृ० २८५। प्रमेयक० पृ० ४५९। (८) जैनमत। (९) आख्यातपदस्य।

1 तद्वाक्यत्व ब०। 2 'प्रतिपादितं' नास्ति आ०। 3 वाक्यलक्षणा–ब०।

'सङ्घातो वाक्यम्' इत्यत्रापि वर्णानाम्, पदाना वा सङ्घातो वाक्य स्यात्? प्रथमपक्षे पदाय दत्तो जलाञ्जलि । द्वितीयपक्षे तु देशकृत , कालकृतो वा पदाना सङ्घात स्यात्? तत्राद्य पक्षोऽयुक्त , क्रमोत्पन्नप्रध्वंसिना तेषामेकस्मिन् देशे सकृदवस्थितिसभावतो देशकृतमघा[ता]संभवात् । द्वितीयपक्षे तु पदेभ्योऽसौ भिन्न , अभिन्नो वा? न तावद्भिन्नोऽनश , तथाविधस्यास्याप्रतीते , वर्णान्तरवत् सङ्घातविरोधाच्च । अथ तेभ्योऽभिन्नोऽसौ, किं सर्वथा, कथञ्चिद्वा? यदि सर्वथा, कथमसौ सङ्घात सङ्घातिस्वरूपवत्? अन्यथा प्रतिपद सङ्घातप्रसङ्ग । न चैक पद सङ्घातो नाम अतिप्रसङ्गात् । अथ कथञ्चित्, तदा जैनमतप्रसङ्ग , परस्परापेक्षाऽनाकाङ्क्षपदसमूहरूपतामापन्नवर्णानां कालप्रत्यासत्तिरूपसङ्घातस्य कथञ्चिद्वर्णेभ्यो भिन्नस्य जैनोक्तवाक्यलक्षणानतिक्रमात् । साकाङ्क्षाऽन्योन्यानपेक्षाणा तु तेषां वाक्यत्वे प्राक्प्रतिपादितदोषोऽनुषङ्ग ।

एतेन 'जाति सङ्घातवर्तिनी वाक्यम्' इत्यपि नोत्सृष्टम्, निराकाङ्क्षाऽन्योन्या-

(१) सघातस्य स्वरूपम्– केवलेन पदेनार्थो यावानेवाभिधीयते । वाक्यस्य तावतोऽर्थस्य तमाहुरभिधायकम् ॥ सम्बन्धे सति यत्त्वन्यदाधिक्यमुपजायते । वाक्यार्थमेव त प्राहुरनेकपदसश्रयम् ॥ केवले पद यस्यवाक्यस्य वाचकम् वाक्यस्यमपि तमेवाभिधाति । तत्र समुदये पदाना परस्परान्वय पदार्थवशाद् यदाधिक्य ससर्ग स वाक्यार्थ । उक्तञ्च–यत्राधिक्य वाक्यार्थ स इति । अनेकपद सश्रयमित्यनेन सघातो वाक्यमिति दर्शितम् ।'–वाक्यप० टी० २।४२। यथा सावयवा वर्णा विना वाच्येन केनचित् । अर्थवन्त समुदिता वाक्यमप्येवमिष्यते ॥'–वाक्यप० २।५५ । (२) तुलना– 'सघातो वाक्यमित्यत्रापि परस्परापेक्षाणा पदानामनपेक्षाणा वा? प्रथमपक्ष निराकाङ्क्षत्वे असम स्पक्षसिद्धि साकाङ्क्षत्वे वाक्यत्वविरोध । द्वितीयविकल्पे अतिप्रसङ्ग । –अष्टसह० पृ० २८५। स्या० र० पृ० ६४४ । (३) 'देशकृत कालकृतो वा वर्णाना सघात स्यात । –प्रमेयक० पृ० ४५९ । (४) पदानाम । (५) न वर्णेभ्यो भिन्न सघातोऽन्य प्रतीतिमार्गावतारी सघातत्वविरोधाद वर्णान्तरवत । नापि ततोऽर्थान्तरमेव सघात प्रतिवर्णसघातप्रसङ्गात । न चैको वर्ण सघातो भवेत् –तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२६ । प्रमेयक० पृ० ४५९ । (६) पदानाम । (७) पदान्तरसाकाङ्क्षत्वे वाक्यापरिसमाप्ति, अन्योन्यानपेक्षत्वे तु पदत्वमेव स्यात वाक्यत्वमिति । (८) अथ जाति सघातवर्तिनीत्युद्दिष्टस्य जातिस्फोटस्यापि दृष्टान्तप्रदर्शनद्वारेण स्फुटीकरणायाह–यथा [क्षणविशेषेऽपि क्रमभेदो न गृह्यते । आवृत्तौ व्यज्यते जाति कर्मभिर्भ्रमणादिभि ॥ वर्णवाक्यपदेष्वेव तुल्योपव्यञ्जना श्रुति । अत्यन्तभेदे तत्त्वस्य सरूपेव प्रतीयते ॥ इह भ्रमणलक्षणा कर्मजातिर्यथा विशिष्टप्रयत्नजनितैक क्षणविशेषेणाभिव्यक्ता प्रत्यवयवपरिसमाप्तत्वात् । न च पार्श्वस्थेन सा विज्ञायते । भ्रमणानामावृत्तौ तु भ्रमण भ्रमण प्रति प्रतिपन्ना सा गृह्यते । एव वर्णपदवाक्येषु श्रुतिरभिव्यञ्जको ध्वनिरत्यन्तभेदे तत्त्वस्य वर्णपदवाक्यस्फोटलक्षणस्य साऽभिव्यञ्जिका सरूपेव प्रतीयते, परमार्थतो भिन्नापि सती । कीदृशी? तुल्योपव्यञ्जनेति । तुल्य सदृश उपव्यञ्जन स्थानकरणाभिघातलक्षणो यस्या सा तथेति । तेन भिन्नप्रयत्नोदीरितध्वन्यभिव्यक्तोऽयं जातिस्फोटो विलक्षण एवेति बोद्धव्यम् । युक्तञ्चैतत् । यथा निरंशस्यास्य स्फोटस्य पूर्वापरभाव उपाधिकृतो न स्वतो नित्यत्वादिति । –वाक्यप०, टी० २।२०, २१ । (९) तुलना– निराकाङ्क्षपरस्परापेक्षपदसघातवर्तिन्या सदृशपरिणामलक्षणाया जातेर्वाक्य स्वघटनात् ।'–अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४६० ।

1–कृतक्रमासंभ–आ०, ब० । 2–अस्याप्रतो–आ० । 3 कथञ्चिद्धर्मेभ्यो ब० ।

भेदानुगमात्मकत्वविरुद्धा सदृशपरिणामलक्षणायाः कथञ्चित्ततोऽभिन्नायाः जातेर्वाक्यत्वमस्तु, अन्यथा सङ्घातवाक्यपक्षोक्ताशेषदोषानुषङ्गः।

'एकोऽनवयवः शब्दो वाक्यम्' इत्यपि मनोरथमात्रम्, तस्य अप्रमाणकत्वात्। [illegible] स्फोटग्राहकप्रमाणानां निषेत्स्यमानत्वात् सुप्रसिद्धम्।

'क्रमो वाक्यम्' इत्येतत्तु सङ्घातवाक्यपक्षान्नातिरिच्यते इति तद्दोषेणैव दुष्टं द्रष्टव्यम्।

'बुद्धिर्वाक्यम्' इत्यत्रापि भाववाक्यम्, द्रव्यवाक्यं वा सा स्यात्? प्रथमकल्पनायां

---

(१) [illegible]। (२) "स्फोटश्च द्विविधः–बाह्य आभ्यन्तरश्चेति। बाह्योऽपि जातिव्यक्तिभेदेन द्विविधः। तत्र [illegible] जातिः [illegible], व्यक्तिलक्षणस्त्वेकोऽनवयवः शब्द इति। आभ्यन्तरस्तु [illegible]।"–वाक्यप० टी० २१२। "टीकाकारश्चामुमेव पक्षं सूत्रकारा[illegible] युक्तियुक्तं मन्यमानो बाह्य आन्तरो वा निर्विभागः शब्दात्मको बोधस्वभावः शब्द[illegible] एव वाक्यमिति [illegible] व्याजिहीर्षुः चित्रज्ञानचित्ररूपदृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वमुपक्रमते। तत्र चित्र[illegible] सर्वार्थप्रत्ययः प्रविभज्यते। दृश्यभेदानुकारेण वाक्यार्थानुगमस्तथा॥ [illegible] यथा [illegible]। नीलादिभिः समाख्यानं क्रियते भिन्नलक्षणैः॥ तथैवैकस्य वाक्यस्य [illegible]। शब्दान्तरैः समाख्यानं साकाङ्क्षैरनुगम्यते॥ शब्दस्य न विभागोऽस्ति [illegible] [illegible]। विचारं प्रक्रियाभेदमविद्वान् प्रतिपद्यते॥"–वाक्यप० २।७ ९,१३। "नित्यत्वे समुदा[illegible] [illegible]। एकत्वमापतामाहुः वाक्यस्याव्यभिचारिणीम्॥"–वाक्यप० २५७। (३) '[illegible] तत्प्रतिबद्धलिङ्गाभावात्'–अष्टसह० पृ० २८५। (४) "क्रमपक्षं व्याख्यातु[illegible] एव [illegible] ये [illegible] व्यवस्थिताः। ते क्रमादनुगम्यन्ते न वाक्यमभिधायकम्॥ [illegible] न वाक्यमभिधायकमाश्रीयत उच्यते। [illegible] [illegible] विद्यते॥ [illegible]। [illegible] [illegible]॥"–वाक्यप० २।५०–५२ ५६। (५) [illegible]–'[illegible] वाक्यं यथा [illegible]।'–मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ५१। [illegible]

[illegible]

(६) [illegible]

[illegible]

(७) [illegible]

[illegible]

सिद्धसाध्यता, पूर्वपूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनो वाक्यार्थग्रहणपरिणतस्य अन्त्यवर्णश्रवणानन्तरं वाक्यार्थावबोधहेतोर्बुद्ध्यात्मनो भाववाक्यस्य अस्माभिरपीष्टत्वात्। द्रव्यवाक्यरूपता तु बुद्धेः कः सुधीः श्रद्दधीत प्रतीतिविरोधात् ?

एतेन 'अनुसंहृतिर्वाक्यम्' इत्यपि चिन्तितम्, यथोक्तपदानुसंहृतिरूपस्य 'चेतसि परिस्फुरतो भाववाक्यस्य परामर्शात्मनोऽभीष्टत्वात्।

'आद्यं पदमन्त्यमन्यद्वा पदान्तरापेक्षं वाक्यम्' इत्यपि नोक्तवाक्याद् भिद्यते, परस्परापेक्षपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वप्रसिद्धेः, अन्यथा पदस्य वार्त्तोच्छिद्येत।

येऽपि मन्यन्ते–पदान्येव पदार्थप्रतिपादनपूर्वकं वाक्यार्थावबोधं विदधानानि वाक्यव्यपदेशं प्रतिपद्यन्ते–

(१) 'संहृतसकलक्रमस्य वर्णस्यान्त्यवर्णश्रवणानन्तरमान्तर्यामीत्येवमाख्यायमानस्य प्रतिप्राणिवर्त्तमानस्य वर्णक्रमविज्ञानादिभिरिवाऽन्यथाभूतैः क्रमवद्भिर्भागैर्योऽस्य बुद्धेरनुसंहारः क्रमेण पूर्वपूर्वभागग्राहिणीभिर्बुद्धिभिर्जनितो यः संस्कारस्तत उपजातस्य स्मरणस्य बलादन्त्यवर्णभागग्रहणतुल्यकालः स वाक्यमिति।"–स्या० र० पृ० ६४६। (२) तुल्ना– भाववाक्यस्य यथोक्तपदानुसंहृतिरूपस्य चेतसि परिस्फुरतोऽभीष्टत्वात्। –अष्टसह० पृ० २८५। प्रमेयक० पृ० ४६०। (३) 'नियतं साधनं साध्यं क्रिया नियतसाधना। स सन्निधानमात्रेण नियमः सन् प्रकाशते॥'–साधनं साध्यञ्च परस्परं नियतमेव केवलमाकाङ्क्षादिवशात् पदान्तरपदार्थसन्निधाने सति नियमः सन्नेव प्रकाशते इत्याक्षिप्तपदान्तराणि पदान्येव वाक्यम्, पदार्थाश्च वाक्यार्थ इति अव्यतिरिक्तसंघातपक्षोऽयम्। गुणभावेन साकाङ्क्षं तत्र नाम प्रवर्तते। साध्यत्वेन निमित्तानि क्रियापदमपेक्षते॥ –वाक्यप० २।४८, ४९। (४) तुल्ना– 'एवमाद्यत्र सर्वेषां पक्षे संघातकल्पने। अन्योऽन्यानुग्रहाभावात् पदानां नास्ति वाक्यता॥ आद्यं यदि पदं सर्वं सन्निधत्ते विशेषतः। ततस्तदेव वाक्यं स्यादन्यदस्य द्योतको गुणः॥ एवमन्त्येषु सर्वेषु पक्षभूतव्यवस्थितम्। स्वरूपमपि हि वाक्यत्वे कथञ्चिन्नोपलभ्यते॥'–मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ४९-५१। 'इत्यपि नाकलङ्कोक्तवाक्याद् भिद्यते तथा परस्परापेक्षपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वसिद्धेः।–अष्टसह० पृ० २८५। प्रमेयक० पृ० ४६०। स्या० र० पृ० ६४६। (५) मीमांसकाः। 'नानभ्येभ्यः पदार्थान् पार्थगर्थ्येन वाक्यमर्थान्तरं प्रसिद्धम्। कुतः ? प्रमाणाभावात्। न च किञ्चन प्रमाणमस्ति येन प्रमिमीमहे। न ह्यनपेक्षितपदार्थस्य वाक्यान्त्यवर्णस्य पूर्ववर्णजनितसंस्काररहितस्य शक्तिरस्ति पदार्थेभ्योऽर्थान्तरे वर्तितुमिति। पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि। अथेदानीं पदार्था अवगताः सन्तः वाक्यार्थं गमयन्ति। कथम् ? यत्र हि शुक्ल इति वा कृष्ण इति गुणः प्रतीतो भवति भवति खल्वसावपि गुणवति प्रत्ययमाधातुम्। तेन गुणवति प्रत्ययमिच्छन्तः केवलं गुणवचनमुच्चारयन्ति। सम्पत्स्यत एषां यथा सङ्कल्पितोऽभिप्रायः भवष्यति विशिष्टार्थसम्प्रत्ययः। विशिष्टार्थसम्प्रत्ययश्च वाक्यार्थः।–शाबरभा० १।१।२५। साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्। वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले॥ वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्। पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥ –मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ३४२-४३। 'तस्मात्पदाभिहितैः पदार्थैः लक्षणया वाक्यार्थः प्रतिपाद्यते।–शास्त्रदी० पृ० ६०४। तस्मान्न वाक्यं न पदानि साक्षात् वाक्यार्थबुद्धिं जनयन्ति किन्तु। पदस्वरूपाभिहितः पदार्थः संलक्ष्यतेऽसाविति सिद्धमेतत्॥ –न्याय० मा० पृ० १०२।

1–धीति विरो–ब०। 2 यतस्य परि–श्र०। 3 पदवार्त्ता–श्र०। 4–न्ते आ०।

"पदार्थानां तु मूलत्वमिष्टं तद्भावनावत ।" [मी० श्लो० वाक्या० श्लो० १११]

"पदार्थपूर्वकस्तस्माद् वाक्यार्थोऽयमवस्थित ।" [मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ३३६]

इत्यभिधानात्, तैरपि विवक्षितपदानामन्योन्यापेक्षाणां पदान्तरानाकाङ्क्षाणां वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वमुच्यते, तद्विपरीतानां वा ? तत्र उत्तरपक्षे अतिप्रसङ्ग । प्रथमपक्षे तु अधमर्णनिग्रवेशन्यायेन अस्मदुक्तवाक्यलक्षणानुसरणमेव ।

किञ्च, वाक्यार्थे पदार्थादन्य , अनन्यो वा ? यदि अनन्य , तदा पदार्थ एवासौ न वाक्यार्थ । तत्रैव 'वाक्यार्थ' इति नामकरणे स्वैरम्चलस्य 'कूर्नालिका' इति नामकृत स्यात् । अथान्योऽसौ क्रियाकारकसंसर्गरूप , ननु तथाभूतोऽसौ किं नित्य , अनित्यो वा ? यद्यनित्य , किं विवक्षितपदार्थैर्जन्यते, पदार्थान्तरैर्वा ? पदार्थान्तरोत्पाद्यत्वे स्वसिद्धान्तविरोध । विवक्षितपदार्थोत्पाद्यत्वे त एव उत्पादका त एव ज्ञापका स्यु , तत्र च किं पूर्वं ज्ञापयन्ति पश्चादुत्पादयन्ति, किं वा पूर्वमुत्पादयन्ति तदनु ज्ञापयन्ति ? प्रथमकल्पनायाम् असति वाक्यार्थे मेये कै ते ज्ञानमुत्पादयेयु ? उत्पादयतां वा, तेषां न तज्ज्ञानं प्रमाणम् अविद्यमानविषयत्वात् केशोण्डुकादिज्ञानवत् । अथ असन्तमपि तं कर्त्तव्यतया ते प्रतिपादयन्ति तेनायमदोष , ननु किंस्वरूपेयं तत्कर्त्तव्यता नाम–भावरूपा, अभावरूपा, उभयरूपा, अनुभयरूपा वा ? यदि भावरूपा, तदा निश-

(१) "सिद्धान्तमाह–अत्राभिधीयते यद्यप्यस्ति मूलान्तरं न न । पदार्थानां तु मूलत्वं दृष्टं तद्भावनावत । सत्यं न वाचकं वाक्यं वाक्यार्थस्योपपद्यते ॥ यद्यपि प्रत्येकं पदं सहतानि वा साक्षान्मूलं तथा जातिं सम्बध्नान सावयवनिरवयवाक्यानि तथापि पदार्था पदं प्रत्याश्रिता प्रत्यासत्त्यपेक्षया योग्यत्वसनाथा मूलं भविष्यन्ति, तदभावे वाक्यार्थप्रत्ययस्य भावादिति ।'–मी० श्लो० न्यायर० वाक्या० श्लो० ११०–११ । उद्धृतोऽयम्–सम्मति० टी० पृ० ७४३ । 'तद्भावनावत –प्रमेयक० पृ० ४६१ । (२) अन्योन्यानपेक्षत्वे पदत्वमेव स्यान्न वाक्यत्वम् पदान्तराकाङ्क्षत्वे वाक्याऽपरिसमाप्ति । (३) 'तेष्वधमर्णनिग्रवेशेन'–प्रमेयक० पृ० ४६१ । (४) तुलना–"यद्यसौ पदार्थादभिन्न तदा पदार्थ एव स्यान्न वाक्यार्थ तथा च पुन पदार्थगम्यता ? अथ क्रियाकारकसंसर्गरूप पदार्थादर्थान्तरं वाक्यार्थ, न चासावपि यद्यनित्य तदा कारकसपाद्य पदार्थसपाद्यो वा ?'–सम्मति० टी० पृ० ७४२ । (५) 'स्वैरम्चलस्य कूर्नालिकेति नामान्तरकरणमात्रं स्यात् । –अष्टसह० पृ० ९ । (६) 'पदार्थोत्पाद्यत्वेऽपि य एव पदार्थास्तन्म्योत्पादकास्त एव यदि ज्ञापका, तत्र पूर्वं किं ज्ञापका उत उत्पादका इति वक्तव्यम् । –सम्मति० टी० पृ० ७४२ । (७) विवक्षितपदार्था । (८) क्रियाकारकसंसर्ग । 'भावनैव हि वाक्यार्थ सर्वत्राख्याततया । अनेकगुणजात्यादिकारकार्थानुरञ्जिता । पदार्थाहितसंस्कारचित्रपिण्डप्रभूतया । पदार्थपदबुद्धीनां संसर्गस्तदपेक्षया ॥ –मी० श्लो० वाक्य० श्लो० ३३०–३२ । (९) कर्तव्यतया ते तं ज्ञापयन्तीति चेत्, तस्यामपि भावाभावोभयानुभयविकल्पानतिक्रमात् । –सम्मति० टी० पृ० ७४२ । (१०) 'आद्यविकल्पे तत्कर्तव्यताया भावरूपमात्रतया विश्रमात् वाक्यार्थविषया चोदना स्यात् तथा च विधिनोऽत्यन्तरसम्प्रयोगजत्वेन अप्यनवद्य भावना अर्थविषया स्यात् । –सम्मति० टी० पृ० ७४२ ।

1 तद्भावन श्र० । 2 इते भ० । 3–किम्पेयं ब०, श्र० । 4 तदा विद्यमानाय–श्र०, तथा विद्यमानाय–ब० ।

मानरूपार्थगोचरा चोदना प्राप्ता। न च तत्रास्या प्रामाण्यमिष्टम्, अनिष्टसिद्धिप्रसङ्गात्। विद्यमानस्य कर्त्तव्यता च स्ववचनविरुद्धा। अभावरूपतायामपि एतदेव दूषणम्, अस्यापि स्वरूपेणाविद्यमानत्वात्। तद्रूपस्य खरविषाणवत् कर्त्तव्यताविरोधात्। अभावे चोदनायाः प्रामाण्यानभ्युपगमाच्च। उभयरूपतापि अनेनैव प्रत्युक्ता। अनुभयरूपतायां तु चोदनाया निर्विषयत्वादप्रामाण्यमेव स्यात्। न च अनुभयरूपता एकस्यैकत्रोपपन्ना, विधिप्रतिषेधधर्मयोरेकतरप्रतिषेधे अन्यतरविधेरवश्यभावित्वात्। अथ पूर्वमुत्पन्नमर्थं तदनु ज्ञापयति, तर्हि विद्यमानविषयत्वात् तत्रास्या प्रामाण्यानुपपत्तिः। एतेन नित्यवाक्यार्थपक्षः प्रत्युक्तः, विद्यमानार्थविषयतया अप्रामाण्यानुषङ्गाविशेषात्।

किञ्च, प्रसिद्धे पदे वाक्ये वा पदार्थवाक्यार्थाभिव्यक्तिर्वक्तुं युक्ता, न च तत् प्रसिद्धम्। तद्धि वर्णेभ्यो भिन्नम्, अभिन्नं वा स्यात्? यद्यभिन्नम्, तदा वर्णा एव, पदवाक्यद्वयमेव वा। भेदेऽपि तद् दृश्यम्, अदृश्यं वा? अदृश्यत्वे ततोऽर्थप्रतीतिर्न स्यात्। अज्ञातज्ञा (ताज्ञा) पकादर्थप्रतीतावतिप्रसङ्गात्, प्रतीत्यनुपरमानुषङ्गाच्च। नापि दृश्यम्, वर्णव्यतिरिक्तस्य तस्यानुपलम्भात्। नहि देवदत्तादिवर्णेषु तद्व्यतिरिक्तं निरंशमेकं पदं वाक्यं वोपलभामहे।

किञ्च, तत् पदं वाक्यं वा स्वातन्त्र्येण प्रतीयते, वर्णद्वारेण वा? न तावत् स्वातन्त्र्येण, वर्णाऽश्रवणेऽपि पदवाक्यप्रतीतिप्रसङ्गात्। वर्णद्वारेणापि सावयवस्यास्य प्रतीतिः स्यात्, निरवयवस्य वा? सावयवत्वे प्रागुक्तमेव पदवाक्यलक्षणमङ्गीकृतं स्यात्, अन्योन्यापेक्षाणां वर्णानां पदान्तरानपेक्षाणां कालप्रत्यासत्तिलक्षणस्य समूहस्यैव सावयवपदवाक्यरूपतोपपत्तेः। अथ निरवयवम्, तत्किं समस्तेभ्यो वर्णपदेभ्यः प्रतीयते, व्यस्तेभ्यो वा? न तावत्समस्तेभ्यः, उच्चरितप्रध्वंसिनां तेषां सामस्त्यासंभवात्। नापि व्यस्तेभ्यः, प्रथमवर्णपदश्रवणकालेऽपि सकलपदवाक्यप्रतीतिप्रसङ्गात् शेषवर्णपदोच्चा-

(१) विद्यमानार्थे। (२) चोदनायाः। (३) विद्यमानोपलम्भनत्वेन सत्सम्प्रयोगजत्वापत्त्या प्रत्यक्षत्वमेव स्यात्। (४) अभावस्य तुच्छतया कर्तुमशक्ते अतुच्छत्वेऽपि स्वेन रूपेण विद्यमानत्वात् कर्तव्यतासंभवात्। तथाभावविषयचोदनायाः परैः प्रामाण्यमभ्युपगम्यते अभावप्रमाणविषयत्वाच्च अभावस्य, तद्विषयत्वे चोदनाया अनुवादकत्वात् अप्रामाण्यप्रसङ्गश्च।' –सन्मति० टी० पृ० ७४२। (५) अभावस्यापि। (६) अविद्यमानस्य। (७) विद्यमानार्थविषयत्वेन चोदनायाः प्रत्यक्षाद्यवगतार्थगोचरत्वात् अप्रामाण्यप्रसक्तेः। –सन्मति० टी० पृ० ७४२। (८) अथ नित्यो वाक्यार्थः पदार्थः प्रतिपाद्यते, नन्वेवं विद्यमानार्थगोचरत्वं चोदनायाः स्यात् तथा च त्रिकालशून्यकार्यरूपार्थविषयविज्ञानोत्पादिका चोदनेत्यभ्युपगमव्याघातः। –सन्मति० टी० पृ० ७४२। (९) प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतत्वात् अपूर्वार्थबोधकत्वाभावात् प्रामाण्यानुपपत्तिरिति भावः। (१०) पदम्। (११) अज्ञातपदस्य सुप्तमूर्च्छितादेरप्यर्थप्रतीतिः स्यात्। (१२) अज्ञातज्ञापकादर्थप्रतीतौ हि सत्यामपि एकपदार्थप्रतीतौ अन्यस्मादज्ञातपदात् पुनरर्थप्रतीतिप्रसङ्ग इति प्रतीत्यनुपरमः। (१३) पदस्य। (१४) पदस्य वाक्यस्य वा। (१५) वर्णानाम्।

1 अज्ञाताज्ञातज्ञापका–आ० अज्ञातज्ञापका–श्र०। 2–दर्थप्र–ब०। 3–तावत्प्रतिप्र–ब० श्र०। 4 पदवाक्यं श्र०। 5 चोपलंभा–ब०, वोपलभा–श्र०। 6–तीयेत ब०।

रणैयर्थ्यप्रसक्तेः । अथ सकलवर्णसंस्कारवत्या अन्त्यवर्णबुद्ध्या वाक्यावधारणमिष्यते, ननु असौ बुद्धिः किं स्मरणम्, उत अध्यक्षम् ? न तावत् स्मरणम्, अगृहीतान्त्यवर्णग्राहकत्वात्।[1] नापि प्रत्यक्षम्, अविद्यमानपूर्ववर्णविषयत्वात्[2] । अथ पूर्ववर्णस्मरण-अन्त्यवर्णग्रहणाभ्यामेकं विकल्पज्ञानं जन्यते, तेनावधारणम्, नन्वेतत् प्रमाणम्, न वा ? प्रमाणञ्चेत्, किं प्रत्यक्षाद्यन्यतमत्, प्रमाणान्तरं वा ? न तावत् तदन्तरम्, प्रमाणसंख्याव्याघातप्रसङ्गात् । नापि प्रत्यक्षाद्यन्यतमत्, तत्र तदन्यतमरूपतायाः प्रत्यभिज्ञानविचारावसरे प्रतिव्यूढत्वात् । अथ कल्पनाज्ञानमेवेदं न प्रमाणम्, कथमतस्तत्त्वसिद्धिः अतिप्रसङ्गात् ? वाक्यस्य वा काल्पनिकत्वानुषङ्गाद् वास्तवत्वानुपपत्तिः । ततो यथोक्तलक्षणमेव पदं वाक्यं वा अभ्युपगन्तव्यम् तस्यैव प्रसाधितप्रामाण्ये प्रत्यभिज्ञाने प्रतिभासनादिति ।

स्फोट एवार्थप्रतिपादको न तु वर्णा इति वैयाकरणादीनां पूर्वपक्षः –

ननु वर्णपदवाक्यानामर्थप्रतिपादकत्वाभावात् तल्लक्षणप्रणयनमनुपपन्नम्, स्फोट एव हि अर्थप्रतिपादको न वर्णाः । ते हि समस्ताः, व्यस्ता वा तत्प्रतिपादकाः स्युः ? यदि व्यस्ताः, तदा एकेनापि वर्णेन गवाद्यर्थप्रतिपत्तेः उत्पादितत्वात् द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यम् । अथ समस्ताः, तन्न, क्रमोत्पन्नप्रध्वंसिनां तेषां सामस्त्यासंभवात् । न च

(१) पूर्ववर्णबुद्ध्यगृहीतस्य अन्त्यवर्णस्य ग्राहकत्वान्नास्य स्मृतिरूपता, पूर्वानुभवानुसारित्वात् स्मृतेः । (२) प्रत्यक्षस्य च विद्यमानार्थग्राहकत्वात् । (३) प्रत्यक्षं । (४) विकल्पज्ञानेन । (५) प्रत्यक्षस्मरणजनितविकल्पज्ञाने प्रत्यभिज्ञानरूपे । (६) प्रत्यक्षाद्यन्यतमरूपतायाः । (७) पृ० ४१६ । (८) पूर्ववर्णस्मरण अन्त्यवर्णप्रत्यक्षजनिते । (९) "पदं पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति, वर्णा एकसमयासंभवित्वात्परस्परनिरनुग्रहात्मानः ते पदमसंस्पृश्यानुपस्थाप्य आविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते । वर्णः पुनरेकैकः पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचितः सहकारिवर्णान्तरप्रतियोगित्वाद् वैश्वरूप्यमिवापन्नः पूर्वश्चोत्तरेण उत्तरश्च पूर्वेण विशेषेऽवस्थापित इत्येवं बहवो वर्णाः क्रमानुरोधिनोऽर्थसङ्केतेनावच्छिन्ना इयन्त एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृत्ता गकारौकारविसर्जनीयाः सास्नादिमन्तमर्थं द्योतयन्तीति, तदेतेषामर्थसङ्केतेनावच्छिन्नानामुपसंहृतध्वनिक्रमाणां य एको बुद्धिनिर्भासः तत्पदं वाचकं वाच्यस्य सङ्केत्यते । तदेकं पदमेकबुद्धिविषयम् एकप्रयत्नाक्षिप्तमभागमक्रममवर्णं बौद्धमन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्थापितं परत्र प्रतिपिपादयिषया वर्णैरेवाभिधीयमानैः श्रूयमाणैश्च श्रोतृभिरनादिवाग्व्यवहारवासनानुविद्धया लोकबुद्ध्या सिद्धवत्संप्रतिपत्त्या प्रतीयते ।"–योगभा० ३।१७ । तत्त्ववै०, भास्वती योगवा० ३।१७ । 'नानेकावयवं वाक्यं पदं वा स्फोटवादिनाम् । निरस्तभेदं पदतत्त्वमेतत् । –स्फोटसि० का० २९, ३६ । "एकाकारधिया तावद्वर्णेभ्योऽभ्यधिकं पदम् । –स्फोट० भा० पृ० १ । गौरित्यादिषु विज्ञानमेकं पदमिति स्फुटम् ।'–स्फोट० व्या० पृ० १ । "तत्त्वतस्तु वाक्यमेवाखण्डमयूराण्डवत्पदविभागं भिन्नार्थप्रतीतिहेतुभूतं स्फोटाख्यमभ्युपगन्तव्यम् ।'–स्फोटप्र० । "इत्यनवयवं प्रत्यस्तमितवर्णपदविभागो वाक्यस्फोट एव श्रेयान् । –स्फोटतत्त्वम् । "तस्मादेकवर्णात्मकोऽखण्डवाक्यस्फोटो वाचक इति सिद्धम् । –स्फोटच० । 'वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्ग्योऽर्थप्रत्यायको नित्यः शब्दः स्फोट इति तद्विदो वदन्ति । अत एव स्फुटयते व्यज्यते वर्णैरिति स्फोटो वर्णाभिव्यङ्ग्यः स्फुटति

1 अन्त्यबुद्ध्या आ० । 2–सम प्र–ब० । ... । 4–वेदमप्र–श्र० । 5–वाल्लभ–ब० ।

युगपदुत्पन्नाना तेषा समुदायकल्पना युक्ता, एकपुरुषापेक्षया युगपत्तदुत्पत्तेरेवाऽसंभवात्, प्रतिनियतस्थानकरणप्रयत्नप्रभवत्वात्तेषाम्। न च विभिन्नपुरुषप्रयुक्तगकारौकारविसर्जनीयाना समुदायेऽपि अर्थप्रतिपादकत्व प्रतीयते, प्रतिनियतवर्णक्रमप्रतिपन्नपुरुषोत्तरकालभावित्वेन शाब्दप्रतिपत्ते प्रतिभासनात्।

न च अन्त्यो वर्ण पूर्ववर्णानुगृहीतो वर्णाना क्रमोत्पादे सति अर्थप्रतिपादक, पूर्ववर्णानाम् अन्त्यवर्णं प्रति अनुग्राहकत्वानुपपत्ते। तद्धि अन्त्यवर्णं प्रति जनकत्व तेषा स्यात्, अर्थज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्व वा? न तावज्जनकत्वम्, वर्णाद् वर्णोत्पत्तेरभावात्, प्रतिनियतस्थानकरणादिसाध्यत्वात्तस्या, वर्णाभावेऽपि आद्यवर्णोत्पत्तिप्रतीतेश्च। नापि अर्थज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्व तेषामन्त्यवर्णानुग्राहकत्वम्, असता सहकारित्वस्यैवासंभवात्। यथा च अन्त्यवर्णं प्रति पूर्ववर्णा सहकारित्व न प्रतिपद्यन्ते तथा तज्जनित-

---

स्फोटीभवत्यस्मान्त इति स्फोटोऽर्थप्रत्यायक इति स्फोटन्यायमुभयथा निराहु।'–सन्म० पृ० ३००। 'वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थिति। यद्यपि वर्णस्फोट पदस्फोट वाक्यस्फोट अखण्डपदवाक्यस्फोटौ वर्णपदवाक्यभेदेन त्रयो जातिस्फोटा इत्यष्टौ पक्षा सिद्धान्तसिद्धा इति वाक्यग्रहणमनर्थक दुरुक्तञ्च तथापि वाक्यस्फोटातिरिक्तानामप्येषामव्यवस्तुत्वबोधनाय तदुपादनमत एवाह–अतिनिष्कर्षे इति। –वैयाकरणभू० पृ० २९४। परमलघु० पृ० २। तादृशमभ्यमानाद्यङ्गस्य शब्द स्फोटात्मको ब्रह्मरूप नित्यश्च। –परमलघु० पृ० २८। (१०) 'प्रत्येकमप्रत्यायकत्वात् साहित्याभावात् नियतक्रमवर्तिनामयौगपद्येन सम्भूयकारित्वानुपपत्ते नानावक्तृप्रयुक्तेभ्यश्च प्रत्ययादर्शनात् क्रमविपर्यये यौगपद्ये च। तस्मान्न वर्णा वाचका, वर्णेभ्योऽसम्भवन्नर्थप्रत्यय स्वनिमित्तमुपकल्पयति।'–स्फोटसि० पृ० २८। 'ते खल्वमी वर्णा प्रत्येक वाच्यविषया धियमादधीरन् नागदन्तका इव निवयावलम्बनम् सहता वा ग्रावाण इव पिठरधारणम्? न तावत्प्रथम कल्प एकस्मादर्थप्रतीतेरनुत्पत्ते उत्पत्तौ वा द्वितीयादीनामनुच्चारणप्रसङ्ग। वर्णाना तु यौगपद्याभावाच्च परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकत्वायोगात् संभूयापि नार्थधियमादधत।'–योगभा० तत्त्ववै० ३।१७। 'वर्णाना प्रत्येक वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्। आनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्तिपक्षे यौगपद्येनोत्पत्त्यभावात्। अभिव्यक्तिपक्षे तु क्रमेणैवाभिव्यक्तत्वात् समुदायाभावात् एकस्मृत्युपारूढाना वाचकत्वे सरो रस इत्यादौ अर्थप्रतिपत्त्यविशेषप्रसङ्गात् तद्व्यतिरिक्त स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचक।–महाभा० प्र० पृ० १६। 'तत्र तावन्न वर्णानामेकैकस्माद्ध वाच्यधी। उत्पत्ति यदि चेदस्ति प्रथमेनैव गम्यते॥ वर्णेनोच्चरितेनेह गवाद्यर्थाभिधायिता। उच्चारणं द्वितीयादिवर्णाना स्यान्निरर्थकम्॥ तदुच्चारण सामर्थ्य नव्यत्वमात्ततो ऽर्थधी। समुदायोऽपि वर्णेषु क्रमज्ञानेष्वसम्भवी। नानावक्तृप्रयुक्तेभ्यो नच सा दृश्यतेऽर्थधी। यौगपद्येऽपि वर्णेभ्यो नापि क्रमविपर्यये। –स्फोट० या० पृ० २। सन्म० पृ० २९९।

(१) वर्णानाम्। (२) अनुग्राहकत्वम्। (३) पूर्ववर्णानाम्। (४) वर्णोत्पत्ते। (५) पूर्ववर्णानाम्। (६) क्व पुनरियं सहायता, यदा न निष्पन्नजनीयसमये वर्णान्तरोपलब्धिरस्ति? कार्ये खलु व्यापारवन्त सहायिना न चासतस्तादृशी व्यापृतिरस्ति। स्वकालेऽपि च व्यापारस्तादृशीमेव प्रत्यवसाम्यदानान्तरार्थोपजननमनिमित्तम्। –स्फोटसि० पृ० ३३। 'असता पूर्ववर्णाना तदा ना व्यापृति कथम्। असता यदि साहाय्य वर्णाना यदि विद्यते॥ केवलान्त्यप्रयोगेऽपि भवेन्नार्थाभिधायधी। –स्फोट० या० पृ० ४। (७) पूर्ववर्णजनितज्ञानानि।

---

1 शब्दज्ञप्ति-ब०।

सवेन्नान्यपि तत्प्रभवसस्काराश्च, [1]तेषामपि तैत्कालेऽसत्त्वाऽविशेषात्।

किञ्च, संवेदनप्रभवसंस्कारा[1] स्वोत्पादकसंवेदनविषये स्मृतिहेतव न तु अर्थान्तरे ज्ञानमुत्पादयितु समर्था। न खलु घैटज्ञानप्रभव सस्कार पटे स्मृति विदधत् दृष्ट। न च तत्सस्कारप्रभवस्मृतीना तत्सहायता युक्ता, तासा युगपदुत्पत्त्यभावात्, अयुगपदुत्पन्नानाञ्च अवस्थित्यसम्भवात्। न च अखिलसस्कारप्रभवैका स्मृति सम्भवति, अन्योन्यविरुद्धानेकार्थानुभवप्रभवसस्काराणामपि एकस्मृतिजनकत्वप्रसङ्गात्। नै च अन्यवर्णानपेक्ष एव 'गौ' इत्यत्र अन्त्यो वर्ण अर्थप्रतिपादक, पूर्ववर्णोच्चारणवैयर्थ्यानुपङ्गात्, घटशब्दान्त्यव्यवस्थितस्याप्यस्य ककुदादिमर्थप्रतिपादकत्वप्रसङ्गाच्च। तत्र वर्णा समस्ता व्यस्ता वा अर्थप्रतिपादका सम्भवन्ति। अस्ति च गवादिशब्देभ्योऽर्थप्रतीति, अतस्तदन्यथानुपपत्त्या वर्णव्यतिरिक्त अर्थप्रतीतिहेतु स्फोटोऽभ्युप-

(१) पूर्ववर्णजनितसंवेदनप्रभवसस्कारा। "अयधीक्तन सस्कारो न तच्छक्तिन तज्जधी। न तस्यापूर्वकल्पस्य कल्पक जनक फलम ॥'—स्फोटसि० भा० पृ० १८। (२) पूर्ववर्णजनितज्ञानाना तत्प्रभवसस्काराणाञ्च। (३) अन्त्यवर्णकाले। (४) "सस्कारा खलु यद्वस्तुरूपप्रख्याप्रभाविता। विज्ञानहेतवस्तत्र ततोऽर्थे धीन कल्प्यते ॥ सस्कारा खलु यद्वस्तूपलम्भसभाविता मान तत्रैव नियतनिमित्तलब्धप्रतिबोधा धियमाविर्भावयन्ति नार्थान्तरे। न हि जातु गवावग्रहप्रत्ययप्रभावित सस्कारोऽश्व स्मरणमुपकल्पयति।'—स्फोटसि० पृ० ४४। "स्मृतिफलप्रसवानुमितस्तु सस्कार स्वकारणानुभवविषयनियतो न विषयान्तरे प्रत्ययमाधातुमुत्सहते, अन्यथा यत्किञ्चिदेकमनुभूय सर्व सर्व जानीयादिति।'—योगसू० तत्त्वव० ३।१७। "पूर्ववर्णग्रहणजसस्कारसहितादन्त्यवर्णात्तदर्थधीरिति चेत, तदपि न, वस्त्वन्तरग्रहणजस्य सस्कारस्य वस्त्वन्तरज्ञानजनकत्वादर्शनात।'—स्फोटसि० भा० पृ० १६। (५) "नचैकस्मृत्युपारोहात समुदायस्य सम्भव। वर्णेषु क्रमवृद्धेषु युगपत्स्मृत्यसम्भवात। सम्भवेऽपि च तत्त्वेव विपरीतक्रमेष्वपि गकारादिषु विज्ञान गौरित्येव प्रसज्यते।'—स्फोट० या० पृ० १। 'अयस्तु सर्ववर्णोपलब्धिजनित यतनिखिलभावनाबीजजन्मा युगपदखिलवर्णरूपपरामर्शी चरमवर्णप्रत्यक्षोपलब्धिसमनन्तर स्मरणस्वरूप सङ्गीयते, क्रमसमधिगतात्मसु न युगपदनुस्मरणमित्यपि मिथ्या।'—स्फोटसि० पृ० ६१। (६) "न च प्रत्येकवर्णानुभवजनितसस्कारपिण्डलब्धजन्मस्मृतिदर्पणसमारोहिणा वर्णा समधिगत सहभावा वाचका इति साम्प्रतम, क्रमाक्रमविपरीतक्रमानुभूताना तथाविधार्पणार्थधीजननप्रसङ्गात्।'—योगसू० तत्त्वव० पृ० ३२२। "पूर्वोपलब्धिभेदेऽपि भेदस्य दर्शनम्। एकोपलब्धौ नतया भेद कश्चन लभ्यते ॥ पूर्वोपलब्धयो हि क्रमविशेषवत्य परिगृहीताभिमतविपरीतानुपूर्व्या अक्रमादेकैकवस्तुप्रयुक्त वर्णविषया विपरीताश्च न पश्चाद्भाविन्या समस्तवर्णावभासिन्यामुपलब्धावनुविपरिवर्तमानान वर्णात्मनो भिन्दन्ति।"—स्फोटसि० पृ० ६५। "एव तर्हि सर्वसस्कारजा सर्ववर्णग्राहिण्येका स्मृतिरर्थधीहेतु, तदपि न, क्रमप्रत्यस्तमयेन जराराजेत्यादावर्थाविनाशप्रसङ्गात।'—स्फोटसि० भा० पृ० १८। 'तुल्यवाद् यौगपद्यस्य तदा नार्थधियो भिदा। सरोरसनदीदीनजराराजादिषु स्फुरेत् ॥'—स्फोट० या० पृ० १०। (७) "न चान्त्यवर्णमात्रस्य पुंसम्बन्धवेदनम्। अक्षाद्यभिनिवृत्तत्वात् सस्कारस्य न तद्गत ॥ विदितसङ्गतयो हि शब्दा यथास्वमर्थान् प्रकाशयन्ति। नचान्त्यवर्णमात्रमपरसम्बन्धितया प्रतिपद्यते न पुरस्तात्।'—स्फोटसि० पृ० १०५। (८) "गौरश्व इति वा केवलगोच्चारणे वा को विसर्जनीयस्य भेद यस्ततोऽर्थभेद प्रत्ययभावाभावौ च।'—स्फोटसि० पृ० ३३। (९) विसर्जनीयस्य।

1 तेषां सत्का–आ०। 2 घटप्रभव ब०। 3–न्नानां वा स्थित्य–श्र०। 4–नुभवसस्का–ब०।

गन्तव्यः, प्रत्यक्षतः तस्यैव अवभासमानत्वात्। विभिन्नतनुषु हि वर्णेषु अभिन्नाकार श्रोत्रान्वयव्यतिरेकानुविधाय्यध्यक्षं स्फोटसद्भावमेव अवभासयति। नहि तद् वर्णविषयम्, वर्णानामन्योन्यव्यावृत्तरूपतया अभिन्नाकारावभासिप्रत्यक्षोत्पादनसामर्थ्यासंभवात्। नापि सामान्यविषयम्, गकारौकारविसर्जनीयेषु वर्णत्वव्यतिरेकेण अपरसामान्यस्याऽसंभवात्। वर्णत्वस्य च प्रतिनियतककुदादिमदर्थप्रतिपादकत्वानुपपत्तेः। न चेदं भ्रान्तम्, अबाध्यमानत्वात्। न चाबाध्यमानप्रत्ययगोचरस्यापि स्फोटस्य असत्त्वं युक्तम्, अवयविद्रव्यादेरपि असत्त्वप्रसङ्गात्।

नित्यश्चासौ अभ्युपगन्तव्यः। अनित्यत्वे सङ्केतकालानुभूतस्य तत्रैव ध्वस्तत्वात् कालान्तरे देशान्तरे च गोशब्दश्रवणात् ककुदादिमदर्थप्रतीतिर्न स्यात्। असङ्केतिताच्छब्दात् अर्थप्रतीतेरसंभवात्। संभवे वा द्वीपान्तरादागतस्य गोशब्दाद् गवार्थप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् सङ्केतकरणवैयर्थ्यं स्यात्। ननु 'देवदत्त गामभ्याज' इत्यादि वाक्यस्फोटे अन्तरालेऽपि शब्दप्रतिपत्तयः संवेद्यन्ते अतस्तत्रापि तावद्वा(द्धा) स्फोटः कल्पनीयः तथा च स्वमतव्याघातः, तस्याऽखण्डस्यैकस्य तत्र प्रसिद्धेः, इत्यप्यचोद्यम्, अन्तरालप्रत्ययानां स्फोटाभिव्यक्तिहेतुतया विभिन्नस्फोटायोग्यत्वात्। यथैव हि पुनः पुन-

(१) 'तत्र प्रत्यक्षं तावत्प्रसिद्धमेव गौरित्युच्चारणे सत्येकमेवेदं पदमित्येकाकारविज्ञानोत्पादात्। न चेदं वर्णमात्रविषयं भवितुमर्हति, तेषां भिन्नानामभ्रान्तैकाकारज्ञानविषयत्वायोगात्। न चेदं भ्रान्तम्, भ्रान्तिनिमित्ताभावात्। -स्फोटसि० भा० पृ० १। 'प्रत्यक्षज्ञाननियता व्यक्ताव्यक्तावभासिता। मानान्तरेषु ग्रहणमन्यथा नैव हि ग्रहः॥ इन्द्रियं हि व्यक्तावभासिनोऽव्यक्तावभासिनश्च प्रत्ययस्य हेतुः यथा दूरात् ग्रहणं सूक्ष्माथनिरूपणायाञ्च। लिङ्गशब्दान्यस्तु निश्चितात्मानं प्रत्ययमुपजनयन्त्य रूपं नैव वा तत्र व्यक्ताव्यक्तग्रहणबुद्धिभेदः। अयञ्च शाब्दप्रत्ययावसेयः स्फोटात्मा तु प्रत्यक्षवेदनीय इति निरवद्यम्।"-स्फोटसि० पृ० १६९। (२) 'न च समुच्चयनानोपारोहिवर्णनिबन्धनाथ गोशब्दाभिप्रायं शब्दादयं प्रतिपद्यामहे इति,नापि शब्दजात्यभिप्रायम्। तथाहि-नक्षिताः जातिनिमित्ता समुदायानुपातिनः। जातिमाचक्षते ते हि व्यक्तिवर्मा जातिसङ्गता॥ न तावदिदं शब्दजात्यभिप्रायम्। न शब्दजातितोऽर्थप्रतीतिः गवाश्वादिष्वपि तदविशेषादभिधायाविशेषप्रसङ्गात्। नापि नाद्यवस्त्वभिप्रायम् ततः गोशब्दादित्येकवचनानुपपत्तेः।'-स्फोटसि० पृ० ७३। (३) 'अनादिनिधनं शब्दब्रह्मतत्त्वं यदक्षरम्। -वाक्यप० १।१। (४) 'यतः प्रत्येकमपि तेऽविकल स्फोटात्मानमभिव्यञ्जयन्ति। न चैतरनान्वयव्यम अभिव्यक्तिभेदात्। तथाहि-पूर्वे ध्वनयः अनुपजातभावनाविशेषमनसः प्रतिपत्तुः अव्यक्तरूपोपग्राहिणी उत्तरव्यक्तपरिच्छेदोत्पादानुगुणभावनाबीजवापिनी प्रख्यां प्रादुर्भावयन्ति, पश्चिमस्तु पुरस्तनध्वनिनिव घनाव्यक्तपरिच्छेदप्रभावितसकलभावनाबीजसहकारि स्फुटतरविनिविष्टस्फोटबिम्बमिव प्रत्ययमतिव्यक्ततरमुद्भावयन्ति। यथा रत्नपरीक्षिणः परीक्षमाणस्य प्रथमसमयाधिगमानुपाख्यातमनुपाख्यस्वरूपप्रत्ययोपाहितसंस्काररूपाहितविशेषायां बुद्धौ क्रमेण चरमे चेतसि चकास्ति रत्नतत्त्वम्। -स्फोटसि० पृ० १२९। स्फोट० न्या० पृ० २०। स्फोटसि० भा० पृ० ११। 'अभिव्यञ्जकोऽपि प्रथमो ध्वनिः स्फोटमस्फुटमभिव्यनक्ति, उत्तरोत्तराभिव्यञ्जकक्रमेण स्फुटं स्फुटतरं स्फुटतमम्। यथा स्वाध्यायः सकृत् पठ्यमानो नावधार्यते, अभ्यासेन तु स्फुटावभासः यथा वा रत्नतत्त्वं प्रथमप्रतीतौ स्फुटं न चकास्ति चरमे चेतसि यथावदभिव्यज्यते। -सवद० पृ० ३०३।

1-ग्यध्यक्षञ्च स्यात् श्र०। 2 तावद्वास्फो-श्र०, तावस्फो-आ०।

रुच्चार्यमाणोऽनुवाकग्रन्थः श्लोको वा आवृत्त्या सुखेनैव अवधारयितुं शक्यते न तु सकृदुच्चरितः प्रतिगताऽऽवृत्तिः, तथैवायं स्फोटलक्षणः शब्दः अन्तरालप्रत्ययैः सत्य-प्रतिभासकल्पैः तद्ग्रहणानुगुणोपायभूतैः अभिव्यज्यते। अन्त्येन हि ध्वनिना सह पूर्वभाविभिर्नादैः आहितसंस्काराया बुद्धौ अयं स्फुरन्नेव अवधार्यते। उक्तञ्च–

"यथाऽनुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति। आवृत्त्या नैतु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्तिर्निरूप्यते॥
प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा। ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते॥
नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह। आवृत्ति(त्त)परिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते॥"

[वाक्यप० १।८३-८५] इति॥छ॥

(१) ऋग्यजुःसामसमूहः-इत्यमरः। "वेदविशेष इति सुभूतिः"–शब्दकल्पद्रुमः। (२) व्याख्या–"सोढत्वमेव बुद्धिविषयत्वम्, एवं वर्णपदवाक्यविषया प्रयत्नविशेषसाध्या ध्वनयो वर्ण-पदवाक्याख्यान् स्फोटान् पुनः पुनराविर्भावयन्तो बुद्धिष्वध्यारोपयन्ति नत्वेतावता आनन्त्यं स्फोटा-नाम्, यथावृत्तौ न श्लोकाद्यानन्त्यम्। तदेवाह–न तु प्रत्यावृत्त्या स ग्रन्थः श्लोकसमुदायात्मको भेदेन निरूप्यत इत्यर्थः। तत्रान्त्यया ध्वनिना सम्यग्बुद्धौ निवेशः। यच्चानुपगृहीतविशेषं बुद्धावसन्निविष्टं तावन्नुपलब्धमेव। नहि तेन कश्चिदपि व्यवहारः प्रकल्प्यते।"–वाक्यप० पु० टी०। वाक्यप० व०। 'अनुवाक इति वैदिकं वाक्यम्, सोढत्वमिति सोढुं शक्यत्वं बुद्ध्याक्रमणीयता स्वीकार्यत्वम्, येन स्वच्छ याऽसौ पठनीयो भवति। आवृत्त्येति जातावेकवचनम्, आवृत्तिरेकापि उपयुज्यत उत्तरोत्तरविशेषा-धानाय अन्यथा एकावृत्त्यैव सोढता स्यादिति। यथा ह्यनुवाकः श्लोको वा पुनः पुनरावृत्त्या सुख-नावधारयितुं शक्यते। न च प्रत्यावृत्तिस्तत्र ईदृशी बुद्धिरुपजायते यथेदं गृहीतमिदं नेति। अथ चाने-कावृत्तौ श्लोकाद्यवभासः स्पष्टः संवेद्यते तथैवायमपि शब्दात्मा पुनः पुनरभिव्यक्तस्फोटरूपोऽवधार्यते, न च प्रत्यभिव्यक्तिस्तत्रेदृशी बुद्धिरुपजायते इदं गृहीतमिदं नेति। अथवाऽनेकाभिव्यक्तौ स्फोटावभासः स्पष्टः संवेद्यते।"–स्या० र० पृ० ६५०। "अनुवाको वैदिकः श्लोकस्तु लौकिकः, सोढत्वं जितत्वं कण्ठाग्रमिति यावत्'–स्फोटसि० टी० पृ० १३२। (३) 'प्रत्यावृत्त्या'–वाक्यप०, 'प्रत्यावृत्ति नि'–वाक्यप० व०, स्फोटसि०। प्रकृतपाठः–स्या० र०। न्यायवि० वि० पृ० ५७९ B। 'प्रत्यावृत्ति निरुच्यते'–प्रमाणवा० स्वव० टी० पृ० ३५९। (४) "यथा श्लोक एकदा प्रकाशितोऽनवधारितोऽन्यदा प्रकाशने स्ववधारणसहो भवति पुनः पुनः प्रकाशने स्ववधार्यते। तथा वाक्यं पूर्वध्वनिभावानभिव्यक्त-मपि नावधारितम्, तेन पूर्वपूर्ववाक्याभिव्यक्त्याहितैस्तु संस्कारैर्वाक्यावधारणं प्रति प्रत्ययभूतैरन्त्यवर्ण-श्रवणकाले सम्यग्धार्येत, तस्माद्वर्णैर्नानुक्रमवताऽन्यमस्य वाक्यव्यक्तिर्युज्यत एव।'–प्रमाणवा० स्वव० टी० पृ० ३५९। "व्यक्तरूपग्रहणानुगुणा अनुपाख्येयाकारा (इदं तदिति तस्य बुद्ध्यारूढस्याख्यातुम-शक्यत्वात्) बहव उपायभूताः प्रत्यया ध्वनिभिः प्रकाश्यमाने शब्दे समुत्पद्यमानाः शब्दस्वरूपावग्रहे हेतवो भवन्ति।"–वाक्यप० वृ०। (५) 'ग्रहणानुग्रह'–ध्वन्या० टी० १।१६। प्रकृतपाठः–स्फोटसि०, प्रमाणवा० स्वव० टी० स्या० र०, न्यायवि० वि०। (६) "नादः शब्दात्मानमवद्योतयद्भिः यथोत्तरोत्कर्षे-णाधीयन्ते व्यक्तपरिच्छेदानुगुणसंस्कारभावनाबीजानि, ततश्चान्त्यो ध्वनिविशेषः परिच्छन्नसंस्कारभाव-नाबीजवृत्तिलाभप्राप्तयोग्यतापरिपाकायां बुद्धौ उपग्रहेण शब्दस्वरूपाकारं सन्निवेशयति।'–वाक्यप० वृ०। वाक्यप० पु० टी०। 'नादराहित'–वाक्यप०, स्फोटसि०, प्रमाणवा० स्वव० टी०, स्या० र०, न्यायवि० वि०, सवद०। प्रकृतपाठः–तत्त्वसं० प० ७२२, प० पृ० ६३६। प्रमेयक० पृ० ४५६। (७) "आवृत्त

1–वारकप–आ०। 2 शक्योच्यते श्र०। 3 अयेन ब०, श्र०। 4 स्फोटरूप–आ०, ब०, श्र०। 5 मनु आ०, ब०। 6 इति नाहित–श्र०।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्-'स्फोट एव' इत्यादि[1], तदसमीक्षिताभिधानम्, पूर्व[2]वर्णध्वंसविशिष्टाद् अन्त्यवर्णादर्थप्रतिपत्तेरुपपत्तेः स्फोटस्य अर्थप्रतिपादकत्वानुपपत्तेः। न च अभावस्य सहकारित्वं[3] न दृष्टम्, वृन्तफलसंयोगाभावस्य अप्रतिबद्धगुरुत्वफलप्रपातक्रियाजनने तद्दर्शनात्, तथा प्राक्तनसंयोगाभावविशिष्टं कर्म उत्तरसंयोगं कुर्वत् प्रतीतम्, परमाण्वग्निसंयोगश्च परमाणौ तद्गत[4]पूर्वरूपप्रध्वंससहकृतो रक्ततामुत्पादयन् दृष्टः। यद्वा पूर्ववर्ण[5]विज्ञानाभावविशिष्टः तज्ज्ञान[6]जनितसंस्कारसव्यपेक्षो वा अन्त्यो वर्णः अर्थप्रतीत्युत्पादकः।

स्फोटनिरसनपुरस्सरं वर्णानामेव अर्थप्रतिपादकत्वप्रतिपादनम्-

परिपाको यस्या इति, परिपाकः कार्योत्पादनं प्रति विशिष्ट आत्मलाभः'-वाक्यप० व० टी०। 'आवृत्तोऽभ्यस्तः परिपाको यस्या सा तथोक्ता प्रथमेन ध्वनिना किञ्चिदभिव्यञ्जनाबीजमाहितम्, तेन च कश्चित्परिपाकः कार्यजननशक्तिविशेष एव द्वितीयेनेति। यद्यपि परिपाका भिन्ना तथापि जातिमाश्रित्यावृत्तत्वाद्वोयुक्तिः अष्टकृत्वो ब्राह्मणा भुक्तवन्त इतिवत्। आवृत्तेरस्या या व्याख्या-आवर्त्तनं वावृत्ता कषायवत्परिपाको यस्यामिति। क्वचित्तु आवर्त्तीति पाठः। बुद्धावन्त्यः करणे नाम्नोऽवधार्यते अन्त्येन ध्वनिना सह यत्र अन्त्यो ध्वनिरवधार्यते तदा गौरित्ययं शब्दोऽप्यवधार्यत इत्यर्थः। -स्फोटसि० टी० पृ० १६२। आवृत्तपरि-वाक्यप० स्फोटसि० प्रमाणवा० स्ववृ० टी०, तत्त्वसं० पृ० ७२२। सन्मति० टी० पृ० ४२५। स्फोटत० पृ० ९। आवृत्तिपरि'-तत्त्वसं० प० पृ० ६३६। प्रमेयक० पृ० ४५६। स्या० र० पृ० ६५०। वाचवि० वि० पृ० ५७६ B। (८) 'नाम्नोऽवधार्यते'-वाक्यप०। स्फोटसि०। प्रमाणवा० स्ववृ० टी०। तत्त्वसं० प०। स्या० र०। स्ववृ०। ग्रहणपाठ-तत्त्वसं० पृ० ७२२। प्रमेयक०। सन्मति० टी०। वाचवि० वि०।

(१) पृ० ७४९ पं० ११। (२) तुलना- अन्ये तु पूर्ववर्णानां तज्ज्ञानानाञ्च अतीतानामप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वमन्वयव्यतिरेकोपपत्तेः। तथाहि-वर्तमानस्य कारणत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां विज्ञातम् एवमतीतस्यापि। यदि वा पूर्ववर्णविज्ञानास्तज्ज्ञानप्रध्वंसाश्च समीपवर्तिनोऽन्त्यवर्णसहकारिणः। -प्रश० व्यो० पृ०५९४। प्रमेयक० पृ०४५३। तत्र पूर्वे वर्णा अतीता अप्युपकरिष्यन्ति, चरमवर्णस्तु वर्तमान इतीदृश एवायं सामग्रिकः पिपीलिकागणसमूह इव वर्णसमूहोऽर्थप्रत्यायकः।"-न्यायम० पृ० ३७६। "अथ प्रतिपत्तिस्तु उपलभ्यमानात् पूर्ववर्णध्वंसविशिष्टादन्त्यवर्णात्। न चाभावस्य सहकारित्वं विरुद्धम्, वृन्तफलसंयोगाभावस्याप्रतिबद्धगुरुत्वफलप्रपातक्रियाजननं दृष्टश्चोत्तरसंयोगं विदधत् प्राक्तनसंयोगाभावविशिष्टं कर्म परमाण्वग्निसंयोगश्च परमाणौ तद्गतपूर्वरूपप्रध्वंसविशिष्टो रक्ततामुत्पादयन्।' -सन्मति० टी० पृ० ४३३। (३) सहकारित्व। (४) परमाणुगतश्यामरूप। (५) 'यद्वा उपलभ्यमानोऽन्त्यवर्णः पूर्ववर्णविज्ञानाभावविशिष्टः पदरूपतामासादयन् पदार्थे प्रतिपत्तिं जनयति।' -सन्मति० टी० पृ० ४३३। प्रमेयक० पृ० ४५३। (६) 'पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णः प्रत्यायकः।' -शाबरभा० १।१।५। 'वाक्यस्थेषु खलु वर्णेषूच्चरत्सु प्रतिवर्णं तावच्छ्रवणं भवति श्रुतं वर्णमेकमनेकं वा पदभावेन प्रतिसन्धत्ते प्रतिसन्धाय पदं व्यवस्यति। पदव्यवसायेन स्मृत्या पदार्थं प्रतिपद्यते पदसमूहप्रतिसन्धानाच्च वाक्यं व्यवस्यति सम्बद्धांश्च पदार्थान् गृहीत्वा वाक्यार्थं प्रतिपद्यते।'-न्यायभा० ३।२।६०। अन्त्यवर्णप्रत्ययात् पूर्ववर्णप्रतिसन्धानप्रत्ययापेक्षादर्थप्रत्ययः। -न्यायवा०पृ० ३१०-१६। 'पूर्ववर्णानुगृहीतस्यान्त्यवर्णस्य स्वानुभवसहकारिणोऽर्थप्रतिपादकत्वात्।' -प्रश० व्यो० पृ० ५९५। यद्वा पूर्ववर्णसंस्कारस्मरणयोरनन्तरसापेक्षोऽन्त्यो वर्णः प्रत्यायकः। -प्रश० कन्द० पृ० २७०। प्रमेयक०प०४५३। 'प्राक्तनवर्णसंवित्प्रभवसंस्कारसव्यपेक्षो वा' -सन्मति० टी० पृ० ४३३। तत्तद्वर्णसंस्कारसहितचरमवर्णोपलम्भात् तदर्थव्यञ्जकत्वोपपत्तेरिति। -मुक्ता० शब्दख०।

ननु संस्कारस्य कथं विषयान्तरे ज्ञानजनकत्वम् ? इत्यप्यचोद्यम्, इत्थमेव वाक्यार्थप्रतीतेरुपलम्भे[1] । पूर्ववर्णविज्ञानप्रभवसंस्कारश्च [2]प्रणालिकया अन्त्यवर्णसहायतां प्रतिपद्यते, तथाहि–प्रथमवर्णे तावद्विज्ञानम्, तेन च संस्कारो जन्यते, ततो द्वितीयवर्णविज्ञानम्, तेन च पूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारसहितेन विशिष्टः संस्कारो जन्यते, एवं तृतीयादावपि योजनीयम्, यावदन्त्यः संस्कारः अर्थप्रतीतिजनकान्त्यवर्णसहायः । अथवा, शब्दार्थोपलब्धिनिमित्तादृष्टप्रतिनियमाद् अविनष्टा एव पूर्वसंविदः तत्संस्काराश्च अन्त्यवर्णसंस्कारं विदधति । तथाभूतसंस्कारप्रभवस्मृतिसव्यपेक्षो वा अन्त्यो

(१) अर्थप्रतीतौ । यद्विषयको हि संस्कारः तद्विषयामेव स्मृतिं विदधातीति नियमात् । शब्दविषयकश्च संस्कारः शब्दस्मृतिमेव विदधीत न तु अर्थप्रतीतिनिमित्तं भवेत् । तुलना–"यद्यपि स्मृतिहेतुत्वं संस्कारस्य व्यवस्थितम् । कार्यान्तरेषु सामर्थ्यं न तस्य प्रतिषिध्यते ॥ ननु हेतोः कथं कार्यान्तरे सामर्थ्यं मत आह–यद्यपि इति । संभवति ह्येकस्याप्यनेकत्र सामर्थ्यं कर्मवत्संयोगविभागयोरिति ।'–मी० श्लो० न्यायर० पृ० ५३६ । "यतः पदार्थप्रतीत्यनुगुणतया प्रत्येकमनुभवैराधीयमाना वर्णविषया संस्काराः स्मृतिहेतुसंस्कारविलक्षणशक्तय एवाधीयन्ते, तथाभूतानामेव तेषां कार्येणाधिगमात्"–प्रश० कन्द० पृ० २७१ । (२) तुलना–"तथा चैकस्मिन् वर्णे ज्ञाते तेन क्रियते संस्कारः, पुनर्द्वितीयवर्णे ज्ञानम्, तेनापि पूर्ववर्णसंस्कारसहकारिणा संस्कार इति क्रमेणान्त्यवर्णज्ञानम्, तस्मात् पूर्वसंस्काराभिव्यक्तावशेषवर्णानुस्मरणे सत्यन्त्यवर्णादर्थप्रतिपत्तिः ।'–प्रश० व्यो० पृ० ५९५ । प्रमेयक० पृ० ४५३ । सन्मति०टी० पृ० ४३३ । "स्मृत्यारूढान्येव सर्वपदानि वाक्यार्थमवगमयिष्यन्ति । तत्र चेयं कल्पना वर्णक्रमेण तावत् प्रथमपदज्ञानं ततः संकेतस्मरणं संस्कारश्च युगपद् भवतः । ज्ञानयोर्हि यौगपद्यं शास्त्रे प्रतिषिद्धं न संस्कारज्ञानयोः । ततः पदार्थज्ञानं तेनापि संस्कारः, पुनर्वर्णक्रमेण द्वितीयपदज्ञानं ततः संकेतस्मरणं पूर्वसंस्कारसहितं च तेन पटुतरः संस्कारः पुनः पूर्ववर्णक्रमेण तृतीयपदज्ञानं संकेतस्मरणं पूर्वसंस्कारापेक्षः पटुतरः संस्कारः, पुनः पूर्ववर्णक्रमेण तृतीयपदज्ञानं संकेतस्मरणं पूर्वसंस्कारापेक्षः पटुतरः संस्कारः इत्येवं पदज्ञानजनिते पीवरे संस्कारे पदार्थज्ञानजनिते च तादृशि संस्कारे स्थिते अन्त्यपदार्थज्ञानानन्तरं पदसंस्कारात् सर्वपदविषया स्मृतिः, पदार्थसंस्काराच्च पदार्थविषया स्मृतिरिति संस्कारक्रमात् क्रमेण द्वे स्मृती भवतः । तत्रैकस्यां स्मृतावुपारूढः पदसमूहो वाक्यमितरस्यामुपारूढः पदार्थसमूहो वाक्यार्थः । अथवा इत्थं स्मरणकल्पनया अन्त्यपदार्थज्ञानानन्तरं सकलपदपदार्थविषयो मानसोऽनुव्यवसायः शताग्निप्रत्ययस्थानीयो भविष्यति । तदुपारूढानि पदानि वाक्यं तदुपारूढश्च पदार्थो वाक्यार्थः ।"–न्यायमं० पृ० ३९४–९५ । (३) तुलना–"अथ तु शब्दार्थोपभोगप्रापकादृष्टनियमिताः पूर्ववर्णानुभवजनितसंस्काराः पूर्ववर्णेष्वेकं स्मरणमारभन्ते तत्सहकारी चान्त्यो वर्णः पदम् । अथ वा संस्कारमेकं विचित्रमारभन्ते तस्माच्च पूर्ववर्णेष्वेकं स्मरणमिति ।"–प्रश० व्यो० पृ० ५९५ । प्रमेयक० पृ० ४५३ । सन्मति० टी० पृ० ४३३ । (४) तुलना–"यद्वा प्रत्यक्षतः पूर्वं क्रमज्ञानेषु यत्परम् । समस्तवर्णविज्ञानं तदर्थज्ञानकारणम् ॥ अन्त्यवर्णेऽपि विज्ञाते पूर्वसंस्कारकारितम् । स्मरणं यौगपद्येन सर्वेष्वन्ये प्रचक्षते ॥ सर्वेषु चयमर्थेषु मानसं भववादिनाम् । इष्टं समुच्चयज्ञानं क्रमज्ञानेषु सत्स्वपि ॥ न चैतदाऽभ्युपेयेत क्रमदृष्टेषु नैव हि । शताग्निष्वपि जायेत तत्समुच्चयदर्शनम् ॥ तेन श्रोत्रमनोभ्यां स्यात् क्रमाद्वर्णेषु यद्यपि । पूर्वज्ञानं परस्तात्तु युगपत्स्मरणं भवेत् ॥ तदारूढास्ततो वर्णा न दूरेऽर्थविबोधनात् । शब्दान्यमतिस्तेन गौणैरेवाभिधीयते ।–मी० श्लो० स्फो० श्लो० १०९,११२–११६ । तत्त्वसं० का० २७२०–२५ ।

1–र्थे ज्ञानाहितसंस्कारश्च आ० । 2–वर्णन्ता–आ० । 3 तेन च पूर्ववर्णविज्ञान तेन विशिष्ट संस्कारो ब० । 4 यावदन्त्यसंस्का–आ० ।

वर्णः पदार्थप्रतिपत्तिहेतुः । वाक्यार्थप्रतिपत्तावपि अयमेव न्यायो द्रष्टव्यः । वर्णाद् वर्णोत्पत्त्यभावप्रतिपादनञ्च सिद्धसाधनमेव । तदेव यथोक्तसहकारिकारणसव्यपेक्षा-दन्त्यवर्णाद् अर्थप्रतिपत्तेः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चयात् स्फोटपरिकल्पनाऽनर्थिकैव, तदभावेऽपि अर्थप्रतिपत्तेः उक्तप्रकारेण सम्भवे अन्यथानुपपत्तेः प्रक्षयात् । न खलु दृष्टादेव कारणात् कार्योत्पत्तौ अदृष्टतदन्तरपरिकल्पना युक्तिसङ्गता अतिप्रसङ्गात् ।

किञ्च, यदि उपलभ्यमाना वर्णाः व्यस्ताः समस्ता वा नार्थप्रतिपत्तिजननसमर्थाः, तदा स्फोटाभिव्यक्तावपि न समर्थाः स्युः । तथाहि–न समस्तास्ते स्फोटमभिव्यञ्जयन्ति उक्तप्रकारेण तेषां सामस्त्यासम्भवात् । नापि व्यस्ताः, वर्णान्तरोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्, एकेनैव वर्णेन स्फोटाभिव्यक्तेः कृतत्वात् । न च पदार्थान्तरप्रतिपत्तिव्यवच्छेदार्थं तदुच्चारणम् इत्यभिधातव्यम्, तदुच्चारणेऽपि तत्प्रतिपत्तिप्रसक्तेरवश्यम्भावित्वात् ।

'तथाभूतसंस्कारप्रभवस्मृतिसव्यपेक्षो वाऽन्त्यो वर्णः पदार्थप्रतिपत्तिहेतुः । –प्रमेयक० पृ० ४५४ । 'तस्मात्पूर्ववर्णेषु स्मृतिरुपजाता अन्त्यवर्णेनोपलभ्यमानेन सहार्थप्रतिपत्तिमुत्पादयति ।' –सन्मति० टी० पृ० ४३३ । द्रष्टव्यम्–पृ० ७५० टि० ६ ।

(१) 'क्रमोपलब्धेष्वपि वर्णेषु मानसमनुव्यवसायरूपमखिलवर्णविषयं सङ्कलनाज्ञानं यदुपजायते तत्पदप्रत्ययनाङ्गं भविष्यति । –न्यायम० पृ० ३७६ । "सत्यपि समस्तवर्णप्रत्ययमर्शे यथा क्रमानुरोधिन्य एव पिपीलिकाः पङ्क्तिबुद्धिमारोहन्ति एवं क्रमानुरोधिन एव वर्णाः पदबुद्धिमारोक्ष्यन्ति । तत्र वर्णानामविशेषेऽपि क्रमविशेषकृता पदविशेषप्रतिपत्तिर्न विरुध्यते । वृद्धव्यवहारे चेमे वर्णाः क्रमाद्यनुगृहीता गृहीतार्थविशेषसम्बन्धाः सन्तः स्वव्यवहारेऽप्येकैकवर्णग्रहणानन्तरं समस्तप्रत्यवमर्शिन्या बुद्धौ तादृशा एव प्रत्यवभासमानास्तं तमर्थमव्यभिचारेण प्रत्याययिष्यन्तीति वर्णवादिनो लघीयसी कल्पना । –ब्रह्म० शां० भा० १।३।२८ । ते हि पूर्वमनुभूता प्रत्येकमनुभूतताक्रमोपसम्पदा एकबुद्धिसमारोहिण एवानुवर्त्यार्थधियमाधातुम् । –न्यायवा० ता० प० ४७० । (२) तुलना– 'वर्णाद्वर्णोत्पत्त्यभावप्रतिपादनञ्च सिद्धसाधनमेव । तदेव यथोक्तसहकारिकारणसव्यपेक्षादन्त्याद्वर्णादर्थप्रतिपत्तिः अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुपजायमानत्वेन निश्चीयमाना स्फोटपरिकल्पनां निरस्यति तदभावेऽप्यर्थप्रतिपत्तेरुक्तप्रकारेण सम्भवेऽन्यथानुपपत्तेः प्रक्षयात् । नहि दृष्टादेव कारणात् कार्योत्पत्तावदृष्टतदन्तरपरिकल्पना युक्तिसङ्गता अतिप्रसङ्गात् । –सन्मति० टी० पृ० ४३३ । प्रमेयक० प० ४५४ । (३) 'यस्यानवयवः स्फोटो व्यज्यते वर्णबुद्धिभिः । सोऽपि पर्यनुयोगेन नैवानेन विमुच्यते ॥ तत्रापि प्रतिवर्णं पदस्फोटो न गम्यते । न चावयवशो व्यक्तिस्तदभावान्न चात्र धीः ॥ प्रत्येकञ्चाप्यशक्तानां समुदायेऽप्यशक्तता ।'–मी० श्लो० स्फो० श्लो० ९१–९३ । न समस्तैरभिव्यज्यते समुदायानभ्युपगमात् । न व्यस्तैः एकेनैवाभिव्यक्तौ शेषोच्चारणवैयर्थ्यप्रसङ्गात् ।'–प्रश० व्यो० पृ० ५९५ । पदस्फोटो नित्यो निरंशः सर्वगतोऽमूर्तः किमनभिव्यक्त एवार्थप्रतिपत्तिहेतुरभिव्यक्तो वा ? प्रथमपक्षे वर्णोच्चारणानर्थक्यम् । द्वितीयपक्षे तु पदस्फोटोऽभिव्यज्यमानः प्रत्येकं वर्णैरभिव्यज्यते वर्णसमूहेन वा ? –युक्त्यनु० टी० प० ९६ । तत्त्वार्थश्लो० प० ४२६ । प्रमेयक० पृ० ४५४ । सन्मति० टी० प० ४३३ । (४) वर्णानाम् । (५) वर्णान्तरोच्चारणेऽपि पदार्थान्तरप्रतिपत्तेरेवानुषङ्गात् । यथाहि गौरिति पदस्यार्थो गकारोच्चारणात् प्रतीयते तथा औकारोच्चारणाद् औपगव इति पदस्यार्थः प्रतिपद्यते । आद्येन गकारेण गौरिति पदस्येव प्रथमौकारेण औपगव इति पदस्य स्फोटस्य अभिव्यक्तेः । तथा च गौरिति पदादेव गौरौपगव इति वाक्यार्थप्रतिपत्तिः प्रसज्येत । क्रमो वा स्यात् –युक्त्यनु० टी० प० ९६ । प्रमेयक० पृ० ४५४ ।

1 बुद्धि सङ्गता ब०, युक्ति सङ्गता आ० । 2 तथा आ० ब० ।

यथाहि गौरिति पदस्यार्थो गकारोच्चारणात् प्रतीयते तथा ओकारोच्चारणाद् औशनस इति पदार्थोऽपि, तथा च गोरिति पदादेव 'गौ' 'औशनस' इत्यर्थद्वयं प्रतीयेत। संशयो वा स्यात्–'किं पदान्तरस्फोटव्यवच्छेदेन एकपदस्फोटाभिव्यक्तये गकारानेकवर्णोच्चारणम्, किंवा अनेकपदस्फोटाभिव्यक्तये अनेकान्यवर्णोच्चारणम्' इति। नच पूर्ववर्णैः स्फोटस्य संस्कारे अन्त्यो वर्णस्तस्य व्यञ्जक इति न वर्णान्तरोच्चारणवैयर्थ्यमित्यभिधातव्यम्, अभिव्यक्तिव्यतिरिक्तस्य संस्कारस्यैव तत्रानुपपत्तेः। न खलु वेगाख्यस्तत्र संस्कारो विधीयते, मूर्तेष्वेव अस्य सम्भवात्। नापि वासनारूपः, अचेतनत्वात्। स्फोटस्य तच्चैतन्याभ्युपगमे वा स्वशास्त्रविरोधः। नापि स्थितस्थापकरूपः, अस्यापि मूर्तद्रव्यवृत्तित्वात्, स्फोटस्य च अमूर्तत्वाभ्युपगमात्।

किञ्च, असौ संस्कारः स्फोट एव, तद्धर्मो वा? तत्र आद्यविकल्पोऽयुक्तः, स्फोटस्य वर्णोत्पाद्यत्वानुषङ्गात्। द्वितीयविकल्पोऽप्यसम्भाव्यः, व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तविकल्पानुपपत्तेः। स्फोटाद्धि तस्य अव्यतिरेके तत्करणे स्फोट एव कृतो भवेत्, तथा चास्य अनित्यत्वानुषङ्गात् स्वाभ्युपगमक्षतिः। व्यतिरेके तु सम्बन्धानुपपत्तिः अनुपकारकत्वात्, तस्य तदुपकारकत्वे वा तदुपकारस्यापि ततो व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तविकल्पप्रसङ्गः, तत्रापि पूर्वोक्तदोषोऽनवस्थाकारी प्रसज्येत। नच व्यतिरिक्तधर्मसद्भावेऽपि स्फोटस्य अनभिव्यक्तस्वरूपापरित्यागे पूर्ववदर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं घटते अतिप्रसङ्गात्, तत्त्यागे वाऽनित्यत्वप्रसक्तिः।

किञ्च, वर्णैः संस्कारः स्फोटस्य क्रियमाणः किमेकदेशेन क्रियेत, सर्वात्मना वा? यदि एकदेशेन, तदा तद्देशानामपि ततोऽर्थान्तरानर्थान्तरपक्षयोः पूर्वोक्तदोषानुषङ्गः। सर्वात्मना संस्कारे तु सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां ततोऽर्थप्रतीतिः स्यात्।

किञ्च, स्फोटसंस्कारः स्फोटविषयसंवेदनम्, आवरणापनयनं वा? यदि आवर-

(१) तुलना–"अभिव्यक्तिव्यतिरिक्तसंस्कारस्वरूपानवधारणात्। तथाहि न तावत्तत्र वेगाख्यः संस्कारो निवर्तते तस्य मूर्तेष्वेव भावात्। नापि वासनारूपः, अचेतनत्वात्"–सन्मति० टी० पृ० ४३३। प्रमेयक० पृ० ४७४। (२) स्फोटः। (३) वर्णैः। (४) स्फोटस्य अचेतनत्वात्। (५) "किञ्चासौ संस्कारः स्फोटस्वरूपस्तद्धर्मो वा?"–प्रमेयक० पृ० ४५५। सन्मति० टी० पृ० ४३४। (६) संस्कारस्य। तुलना–"अपि च साऽभिव्यक्तिः स्फोटादव्यतिरिक्ता व्यतिरिक्ता वा ध्वनिभिः क्रियेत?"–स्या० र० पृ० ६६२। (७) स्फोटस्य। (८) स्फोटस्यायं संस्कार इति। (९) संस्कारस्य। (१०) स्फोटोपकारकत्वे। (११) संस्कारकृतोपकारस्यापि। (१२) स्फोटात्। (१३) अनभिव्यक्तस्वरूपापरित्यागे। (१४) तुलना–'किञ्च, आद्यो वर्णध्वनिः शब्दात्मा सकलस्य वा व्यञ्जकः स्यादेकदेशस्य वा? यदि सकलस्य इतरेषां ध्वनीनामानर्थक्यं स्यात्। अथैकदेशस्य, निरवयवत्वमस्य हीयते।'–राजवा० ५।२४। प्रमेयक० पृ० ४५५। सन्मति० टी० पृ० ४३४। (१५) स्फोटात्। (१६) 'किञ्च, स्फोटसंस्कारः स्फोटविषयसंवेदनोत्पादनम्, आवरणापनयनं वा?'–प्रमेयक० पृ० ४५५। सन्मति० टी० पृ० ४३४।

1 यथा गौ–श्र०। 2 तथा श्र०। 3 प्रतीयते आ०। § एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ०। 4 धर्मो वा श्र०। 5 स्फोटाद्धतस्य ब०। 6–दोषानवस्था–श्र०। 7 वानि–ब०।

पापनयनम्, तदा एकदैकदा आवरणापगमे सर्वदेशावस्थितैः सर्वदोपलभ्येत नित्यत्व-व्यापित्वाभ्यामपगतावरणस्यास्य सर्वत्र सर्वदोपलभ्यस्वभावत्वात्। अनुपलभ्यस्वभावत्वे वा न क्वचित् कदाचित् केनचिदुपलभ्येत। अथ एकदेशेन आवरणापगमः क्रियते, तन्नैवम्; आवृतानावृतत्वेनास्य सावयवत्वप्रसङ्गात्, कार्यत्वाऽनित्यत्वे स्याताम्। अथ अविनिर्भागत्वेन एकत्राऽनावृतोऽसौ सर्वत्राऽनावृतोऽभ्युपगम्यते, तर्हि तदन्यत्र अशेषदेशावस्थितैरुपलब्धिप्रसङ्गः। यथा च निरवयवत्वात् एकत्राऽनावृतः सर्वत्राऽनावृतः, तथा एकत्र आवृतः सर्वत्राप्यावृत इति मनागपि नोपलभ्येत। अथ स्फोट-विषयसंवेदनोत्पादकस्तत्संस्कारः, सोऽप्ययुक्तः, वर्णानामर्थप्रतिपत्तिजननवत् स्फोटप्रतिपत्ति जननेऽपि सामर्थ्यासंभवात्, न्यायस्य समानत्वात्।

अथ मतम्–पूर्ववर्णश्रवणज्ञानाहितसंस्कारस्य आत्मनः अन्त्यवर्णश्रवणज्ञानानन्तरं पदादिस्फोटस्य अभिव्यक्तेरयमदोषः, तदप्यपेशलम्; पदार्थप्रतिपत्तेरप्येवं प्रसिद्धेः स्फोट-कल्पनानर्थक्यात्। चिदात्मव्यतिरेकेण तत्त्वान्तरस्यास्य अर्थप्रकाशनसामर्थ्यासंभवाच्च। स एव हि चिदात्मा विशिष्टशक्तिः स्फोटोऽस्तु, स्फुटति प्रकटीभवति अर्थोऽस्मिन्निति स्फोटः चिदात्मा। पदार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टः पदस्फोटः, वाक्यार्थ ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टस्तु वाक्यस्फोटः, इति भावश्रुतज्ञानपरिणतस्य आत्मनस्तथाभिधानाविरोधात्।

'ध्वनयः स्फोटाभिव्यञ्जकाः' इत्यप्यसुन्दरम्, शब्दाभिव्यक्तिवत् स्फोटाभिव्यक्तेः तेभ्योऽनुपपत्तेः। तेषां तद्व्यञ्जकत्वे च वर्णकल्पनावैफल्यम्, स्फोटाभिव्यक्तौ अर्थप्रति-§पत्तौ च अमीषामनुपयोगात्।

एतेन 'नादेनाहितबीजायाम्' इत्यादि प्रत्याख्यातम्, नित्यत्वमन्तरेणापि च

(१) स्फोटस्य। (२) स्फोटः। (३) तथैव पदार्थप्रतिपत्तिसिद्धेः स्फोटपरिकल्पनानर्थक्यात्। चिदात्मव्यतिरेकेण तत्त्वान्तरस्य स्फोटस्यार्थप्रकाशनसामर्थ्यानुपपत्तेः। स एव चिदात्मा विशिष्टशक्तिः स्फोटोऽस्तु। स्फोटति प्रकटीभवत्यर्थोऽस्मिन्निति स्फोटश्चिदात्मा। पदार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टः पदस्फोटः वाक्यार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टो वाक्यस्फोटः इति। प्रकरणादिरध्यायशास्त्रादिरङ्गप्रविष्टाङ्गबाह्यविकल्पः स्फोटः प्रसिद्धो भवति भावश्रुतज्ञानपरिणतस्यात्मनस्तथाभिधानाविरोधात्। –युक्त्यनु० टी० पृ० ९७। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२७। प्रमेयक० पृ० ४५६। (४) तुलना– स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च। वर्णाश्चेमे क्रमेण गृह्यमाणाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति गरीयसी कल्पना स्यात्। –ब्रह्म० शां० भा० १।३।२८। (५) स्फुटत्यर्थोऽस्मिन् प्रकाशते इति स्फोटः –तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२६। (६) पदवाक्यादिस्फोटरूपेण। (७) 'वायनाञ्च व्यञ्जकत्वपरिकल्पने वर्णवैफल्यप्रसक्तिः। –सन्मति० टी० पृ० ४३४। प्रमेयक० पृ० ४४६। न च स्फोटमभिव्यञ्जन्ति ध्वनयः अचाक्षुषप्रत्ययत्वात् गन्धवत्। –तत्त्वार्थभा० व्या० ५।२४। (८) वर्णानाम्। (९) पृ० ७४९ पं० ७। (१०) तुलना– समस्तवर्णसंस्कारवत्याऽन्त्यया बुद्ध्या वाक्यावधारणमित्यपि

1 क्वचित् नास्ति आ० श्र०। 2 तत्त्वेन आ० ब०। 3 अवयव–श्र०। 4 स्फोटति श्र०।
§ एतन्मध्यगतः पाठो नास्ति आ०।

अर्थप्रतिपत्तिर्यथा भवति तथा प्रतिपादितमेव ।

किञ्च, सिद्धे वर्णोत्पादात् वायूत्पादाद्वा पूर्वं स्फोटसद्भावे वर्णाना वायूना वा तद्व्यञ्जकत्व युक्तम्, न चास्य सद्भाव कुतश्चित् प्रमाणात् सिद्ध ।

यदप्युक्तम्–'प्रत्यक्षत' तस्यैवावभासमानत्वात्' इत्यादि, तदपि श्रद्धामात्रम्, घटादिशब्देषु परस्परव्यावृत्तकालप्रत्यासत्तिविशिष्टवर्णव्यतिरेकेण स्फोटात्मनोऽर्थप्रकाशकस्य अध्यक्षगोचरचारितया [ऽ] प्रतीते । न चाभिन्नप्रतिभासमात्रादर्थव्यवस्था युक्ता, अन्यथा दूरान्निविष्टतरुनिकरे अभेदप्रतिभासादेकत्वव्यवस्था स्यात् । अथास्यं बाध्यमानत्वान्नैकत्वव्यवस्थापकत्वम्, तदन्यत्रापि समानम्, स्फोटप्रतिभासेऽपि अनेकधा बाधकप्रदर्शनात् ।

यच्चान्यदुक्तम्–'*यथानुवाक श्लोको वा*' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो वैधर्म्यात् । अनुवाक् (क) मन्यादौ हि प्रत्यक्षत प्रतीति, पुन पुनरुच्चार्यमाणे चास्मिन् आवृत्त्या अप्रयासेनैवाऽवधारणमनुभूयते, अतस्तत्र तथा तत्कल्पन युक्तम्, स्फोटस्तु स्वप्नेऽपि न प्रतीयते, अत कथ तस्य अन्तरालप्रत्ययैर्व्यङ्ग्यत्वकल्पना ज्यायसी ।

मिथ्या, तस्यावर्णरूपस्पर्शिन कस्यचित्कदाचिदप्रतिपत्ते । वर्णानाञ्चाक्रमेणाऽप्रतिपत्त कुतोऽक्रमस्यैकबुद्धिग्राह्य नाम । नचान्यवर्णप्रतिपत्तेरव्ययमयमशकल शब्दात्मानमुपलक्षयाम ।"–प्रमाणवा० स्वव० १।२५१ ।

(१) "स्थिते च स्फोटस्य वर्णोच्चारणात प्राक सद्भावे वर्णाना वायूना वा व्यञ्जकत्व परिकल्प्यत । नच तत्सद्भाव कुतश्चित्प्रमाणादवगत ।'–सन्मति० टी० प० ४३४ । प्रमेयक० पृ० ४५६ । (२) पृ० ७४८ प० १ । (३) "घटादिशब्देषु परस्परव्यावृत्तानेकवर्णव्यतिरिक्तस्य स्फोटात्मनोऽप्रत्यायकस्यैकस्य अध्यक्षप्रतिपत्तिविषयत्वेनाप्रतिभासनात "–सन्मति० टी० पृ० ४३५ । प्रमेयक० पृ० ४५७ । (४) तुलना–' दूरदेशावस्थितस्य हि विरलपादपस्य घनरूपताप्रतीति उत्तरकालभाविसन्निकृष्टविरलरूपताप्रत्ययेन बाध्यत इति तत्र घनत्वप्रतीतिवशाद व्यवस्थाप्यमान घनत्वमसत्यमास्ताम् च विमाह । वर्णावयवावभासस्य तु नोत्तरकालिक बाधक किञ्चिच्चेतयाम ।" स्या० र० पृ० ६५८ । (५) पृ० ७४९ पं० ५ । (६) तुलना–"यतोऽनुवाकश्लोकौ सावयवौ वा स्याता निरवयवौ वा ? प्रथमपक्ष वैधर्म्यम् । अनुवाकादौ हि सावयवत्वात् स्फुटोऽस्फुटश्चावभासो युज्यत स्फोट तु निरवयवत्वान्न तौ सम्भवत इति । अपसिद्धान्तप्रसङ्गश्चास्मिन् पक्षे वैधर्म्यम्–श्लोकानुवाकयोरपि स्फोटरूपत्वेनाभ्युपगतयोर्भवच्छास्त्रे निरवयवत्वेनाभ्युपगतत्वात । द्वितीयविकल्पे तु देवदत्त गामभ्याज इति वाक्यस्फोटवत् एतावपि पूर्वपूर्वध्वनिजनिताभिव्यक्तिजनितसंस्कारविशेषावन्त्यध्वनिबुद्धौ प्रथमावृत्तावपि स्फुरेते प्रतिभासेयाताम् ।"–स्या० र० पृ० ६६० । 'योऽपि द्वितीयो दृष्टान्त उदाहारि–यथानुवाक श्लोको वा प्रथमश्रवणगृहीतोऽपि संस्थानान्तराभ्यास स्फुटतरपरिच्छिन्नो भवति तथा स्फोटोऽपि प्रथम वर्णव्यक्तो वर्णान्तरैरनिश्चिताभिव्यक्तिर्भविष्यतीति, सोऽपि न सदृशो दृष्टान्त श्लोकानुवाकयोरनेकात्मत्वानुपपत्ते । केचिदवयवा वर्णात्मान पदात्मानो वा प्रथमाया बुद्धावपरिस्फुरन्त अभ्यासप्रत्यावृत्तायां तस्या प्रकटीभवन्ति, स्फोटस्तु लवण इव निरंश इति तत्र को बुद्धेरनिश्चययोग तस्मादयमपि न सङ्गतो दृष्टान्त ।–न्यायम० प० ३०९ । (७) स्फुटतरतमादिरूपेणाभिव्यक्तिकल्पनम् ।

1 पूर्वस्फोट–आ० ब० । 2 पुन ' नास्ति आ० । 3 तथावत्कल्प–आ०, तदात्मनत्कल्प–श्र० । 4 प्रतीतोऽत्र ब०, श्र० ।

किञ्च, वर्णैः तद्बुद्धिभिर्वा व्यङ्ग्यो यदि शब्दस्फोटोऽभ्युपगम्यते, तदा प्रदीपादिना तद्बुद्ध्या वा व्यङ्ग्यः प्रदीपादिस्फोटोऽप्यभ्युपगम्यतामविशेषात्। प्रत्यक्षादिविरोधात् तदनभ्युपगमे शब्दस्फोटोऽप्यत एव नाभ्युपगन्तव्यः। बाधकानुमानसद्भावाच्च, तथाहि–न वर्णाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति व्यञ्जकत्वात्। अर्थबुद्धिर्वा वर्णपदवाक्यप्रभवा तद्भावभावित्वात् धूमादेर्धूमध्वजबुद्धिवत्।

यदि च अर्थप्रतीत्यर्थो वर्णाद्व्यतिरिक्तः शब्दस्फोटोऽभ्युपगम्यते तर्हि गन्धादिस्फोटोऽप्यभ्युपगन्तव्यः। यथैव हि शब्दः कृतसङ्केतस्य क्वचिदर्थे प्रतिपत्तिहेतुः तथा गन्धादिरपि, 'एवंविधं गन्धमाघ्राय स्पर्शञ्च संस्पृश्य रसञ्चास्वाद्य रूपञ्चावलोक्य त्वया एवंविधोऽर्थः प्रतिपत्तव्यः' इति समयग्राहिणा पुनः क्वचित्तादृशगन्धाद्युपलम्भात् तथाविधार्थप्रतिपत्तिप्रसिद्धेः गन्धादिविशेषव्यङ्ग्यः गन्धादिस्फोटोऽस्तु वर्णविशेषव्यङ्ग्यपदादिस्फोटवत्।

एतेन हस्त-पाद-करण-मात्रि(तृका)-अङ्गहारादिस्फोटोऽपि आपादितो द्रष्टव्यः। नच पदादिस्फोट एव, ननु स्वावयवक्रियाविशेषव्यङ्ग्यो हसपक्ष्मादिः हस्तस्फोटः, विकुट्टितादिलक्षणः पादस्फोटः, हस्तपादसमायोगलक्षणः करणस्फोटः, करणद्वयरूपः मात्रि(तृ)कास्फोटः, मात्रि(तृ)कासमूहलक्षणः अङ्गहारस्फोटो वा इति वक्तुं युक्तम्, तस्यापि

(१) वर्णा वा ध्वनयो वापि स्फोटं न पदवाक्ययोः। व्यञ्जन्ति व्यञ्जकत्वेन यथा दीपप्रभादयः॥ तस्मात् घटादिवच्चेति साधनानि यथारुचि। लौकिकव्यतिरेकेण कल्पितऽर्थे भवन्ति हि॥ नाथस्य वाचकः स्फोटः वर्णेभ्यो व्यतिरेकतः। घटादिवत्, न दृष्टेन विरोधो धर्मसिद्धितः॥ –मी० श्लो० स्फो० श्लो० १३१–३३। (२) 'वर्णेभ्यो वाऽर्थधीरेषा तद्भावानन्तरोद्भवा। यदुक्तं सा तदुत्था हि धूमाग्नेरिव वह्निधीः॥'–मी०श्लो०स्फो०श्लो०१३५। तत्त्वसं०का०२७३१। (३) 'गन्धादिस्फोटस्य तथाभ्युपगमाहत्वात्। यथैव शब्दः सङ्केतमवेतस्य क्वचिदर्थप्रतिपत्तिहेतुः तथा गन्धादिरपि विशेषाभावात्। एवंविधमेव गन्धं समाघ्राय इत्यमेवंविधोऽर्थः प्रतिपत्तव्यः स्पर्शं स्पृष्ट्वा रसं वास्वाद्य रूपं वालोक्येत्थम्भूतमीदृशो भावः प्रत्येतव्य इति समयग्राहिणा पुनः क्वचित्तादृशगन्धाद्युपलम्भात् तथाविधार्थनिर्णयप्रसिद्धेः गन्धादिशब्दाहितसंस्कारस्यात्मनः तदन्वयार्थप्रतिपत्तिहेतो गन्धादिपदस्फोटलोपपत्तेः पूर्वगन्धादिविशेषणानाहितसंस्कारस्यात्मनः अन्त्यगन्धादिविशेषोपलम्भानन्तरं गन्धादिविशेषसमुदायगम्यार्थप्रतिपत्तिहेतोर्गन्धादिवाक्यस्फोटस्य घटनात्। –तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२७। प्रमेयक० पृ० ४५७। (४) हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करणं भवेत्। –नाट्यशा० ४।३०। (५) द्वे नृत्तकरणे चैव भवतो नृत्तमातृका। नृत्तस्य अङ्गहारस्यात्मनो मातृका उत्पत्तिकारणम्।'–नाट्यशा० ४।३१। (६) 'अङ्गानां देशान्तरे समुचिते प्रापणप्रकारोऽङ्गहारः हरस्य चायं हारः प्रयोगः अङ्गनिवर्त्यो हारः अङ्गहारः। स्थिरहस्तादिभेदेन द्वात्रिंशदिष्यः। द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वाप्यङ्गहारस्तु मातृभिः॥ त्रिभिः कलापकं चैव चतुर्भिर्मण्डकं भवेत्॥ पञ्चैव करणानि स्युः सङ्घातक इति स्मृतः॥ षड्भिर्वा सप्तभिर्वापि अष्टभिर्नवभिस्तथा। करणैरिह संयुक्ता अङ्गहाराः प्रकीर्तिताः॥ –नाट्यशा० ४।३१ ३३। (७) 'पदादिस्फोट एव घटते न पुनः स्वावयवक्रियाविशेषाभिव्यङ्ग्यः हसपद्मादिहस्तस्फोटः स्वाभिधेयार्थप्रतिपत्तिहेतुरिति स्वल्पमतिसन्दर्शनमात्रम्। एतेन विकुट्टितादिः पादस्फोटः हस्तपादसमायोगलक्षणः करणस्फोटः करणद्वयरूपमात्रिकासमूहलक्षणः अङ्गहारादिस्फोटश्च न घटते इति वचनमभिधेयवचनं प्रतिपादितो बोद्धव्यः तस्यापि स्वस्वावयवाभिव्यङ्ग्यस्य स्वाभिधेयार्थप्रतिपत्तिहेतोरशक्यनिराकरणात्। –तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२७।

1–स्फोटोऽभ्यु–ब०। 2–ञ्चावलोक्य ब०, श्र०। 3–पक्षादि श्र०।

स्वस्वानुपूर्व्याभिव्यङ्ग्यस्य स्वाभिधेयार्थप्रतीतिहेतोरशक्यनिराकरणत्वात्। तन्निराकरणे वा शब्दस्फोटमहाभिनिवेशो दूरतः परित्याज्यः, आक्षेपसमाधानानामुभयत्र समानत्वात्। ततः स्फोटस्वरूपस्य विचार्यमाणस्य अनुपपद्यमानत्वात् नासौ पदार्थप्रतिपत्तिनिबन्धनं प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यः, किन्तु गवादिशब्दास्तन्निबन्धनं प्रतिपत्तव्या इति।

संस्कृतशब्दा एव साधवोऽर्थवाचकाश्च न तु अपभ्रंशादय इति मीमांसक-वैयाकरणानां पूर्वपक्षः –

नन्वस्तु तेषां तन्निबन्धनत्वम्, किन्तु संस्कृतानामेव न प्राकृतानाम्, तेषामसाधुत्वात्। व्याकरणसिद्धा एव हि गवादयः शब्दाः साधवः, अतस्तेषामेव अर्थवाचकत्वमुपपन्नं न पुनः गाव्यादीनाम्, तेषां तदभावात्। वृद्धव्यवहारे हि अनन्यथासिद्धाभ्यामन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाच्यवाचकभावोऽवधार्यते, तौ च यदि एकस्य गोशब्दस्य एकत्र गोत्वलक्ष-

(१) "अथ पुनरक्रमवाननवयवं वाक्यम्, तत्र–एकत्वेऽपि ह्यभिन्नस्य क्रमशो गत्यसम्भवात्। ... एव न युज्यते। न ह्यस्य क्रमेण प्रतिपत्तिर्युक्ता, गृहीतागृहीतयोरभेदात्। क्रमेण च वाक्यप्रतिपत्तिर्दृष्टा, सर्ववाक्याध्याहारश्रवणस्मरणकालस्यानेकक्षणनिमेषानुक्रमपरिसमाप्तेः वर्णाभ्यासस्वाभिलापवृद्धिप्रतिभासिनः शब्दात्मनोऽप्रतिभासनात् वर्णानुक्रमप्रतीतेः। तदविशेषेऽप्यनुक्रमवृत्तेर्वा... वाक्यस्य अनुक्रमवती वाक्यप्रतीतिः, वर्णानुक्रमोपकारानपेक्षणे यथाकथञ्चित्प्रयुक्तैरपि यत्किञ्चिद्वाक्यं प्रतीयेत विनापि वा वर्णैः। तदनुक्रमवदभिव्यक्तस्योपकारायोगात्। अक्रमेण च व्यवहर्तुमशक्यत्वात्। गत्यन्तराभावाच्च।"–प्रमाणवा० स्ववृ० १।२५३। (२) "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति।"–पात० महाभा० ६।१।८४। "तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः।"–पात० महाभा० पस्पशा०। (३) "यो ... तावच्छब्दोऽपि ... निपठ्यते, गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत एतद् गाव्यादयोऽपशब्दा इति।"–पात० महा० पस्पशा०। "तस्मात् धर्ममभियुक्ता उपदिशन्त्येव एव साधुरिति साधुरित्यवगन्तव्यः।"–शाबरभा० १।३।२७। "शिष्टेभ्य आगमात्सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम्। अर्थप्रत्यायनाभेदे विपरीतास्त्वसाधवः।"–वाक्यप० १।२७। "शब्दस्य तत्त्वमवर्णव्यमनपगतसंस्कारः साधुत्वम्। अन्ये तु तत्प्रयुक्ताः प्रयुज्यमाना विकृताः स्युरपभ्रंशाः।"–वाक्यप० स्ववृ० १।१३। "स साधुर्यस्य व्याकरणावगतसंस्कारोऽविकलः। तद्विकलास्त्वपभ्रंशा इति।"–वाक्यप० पु० टी० १।१३। "तस्मात् लोकवेदाभ्यां कश्चिद् व्याकरणादृते। वाचकानपभ्रष्टान् यथावज्ज्ञातुमर्हति।"–तन्त्रवा० पृ० २७८। "तथा व्याकरणात्प्राप्तं साधुत्वं नियम्यते। अविशेषेण सिद्धिः स्याद्विना व्याकरणस्मृतेः॥"–तन्त्रवा० पृ० २८७। 'व्याकरणस्मरणानुगमविशेषितत्वं वाचकत्वं साधुत्वम्।'–न्यायम० पृ० ४२३। "अभियुक्ततमैरप्रतिनिश्चितैरपि साधुत्वेनाभिमानेन स्मर्यते स साधुरितरोऽसाधुरिति निश्चीयते।"–न्यायवा० पृ० ७१४। "साधुत्वं नाम क्वचिदर्थविशेषे स्वाभाविकप्रतिपादनशक्तियोगिनः शब्दस्य विलक्षणरूपम्। तच्च प्रकृतिप्रत्ययादिद्वारेण व्याकरणस्मृत्या यस्य प्रतिपाद्यते तस्यैव व्याकरणस्मृतिसहकृतेन शास्त्रप्रयोगेण अभ्यनुज्ञायमानं साधुत्वमस्य स्फुटतरमवगतमस्यावगतप्रतीयत एव।"–तौता० पृ० १२८। "गवाद्य एव साधवो न गाव्यादय इति साधुत्वस्य नियमः।"–शास्त्रदी० १।३।२७। 'साधूनेव प्रयुञ्जीत गवाद्या एव साधवः। इत्यस्ति नियमः पूर्वपूर्वव्याख्यानिमूलकः॥'–जैमिनिन्या० १।३।२७। 'इत्यन्ये संस्कृत एव शक्तिसिद्धौ ... भ्रंशेष्वपि वृत्तेरपि तत्रैव भावात्तस्य साधुत्वम्। वस्तुतो वृत्तिमत्त्वं न साधुत्वम् किन्तु व्याकरणनिष्पाद्यत्वम्। यत्र यः शब्दो व्याकरणे व्युत्पादितः स तत्र साधुः।'–वैयाकरणभू० पृ० २४९। 'वचनभ्रष्टानामधिकृताऽभ्युदययोग्यता। व्याक्रिया व्यञ्जनीया

1 स वाक्यवानि–ब०, स्वाभिधेयवानि–आ०। 2 गव्यादी–आ०, ब०।

णेऽर्थे शक्तिं कल्पयित्वा उपपत्तौ तदा न द्वितीयस्य गावीशब्दस्य तत्रार्थे तौ[2] शक्तिं कल्पयन्। अनुपपत्त्या हि तयोः कल्पकत्वम्, यश्च येन विना आत्मानं न लभते स तेन विनाऽनुपपन्नः स्वोपपत्तये तं कल्पयति, यस्तु येन विनाप्युपपद्यते न तत् स कल्पयति अनुपपत्तेः कल्पिकायाः क्षीणत्वात्।

न च गावीशब्दादपि अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थप्रतीतिसंभवात् कथन्न वाचकत्वमित्यभिधातव्यम्, अन्वयव्यतिरेकयोस्तत्र अन्यथासिद्धत्वात्। अवाचकस्यापि हि गावीशब्दस्य वाचकगोशब्दस्मृतिद्वारेण अर्थप्रतिपत्तौ अन्वयव्यतिरेकौ घटेते। दृश्यते च असाधुशब्दप्रयोगे साधुशब्दस्मरणादर्थप्रतिपत्तिः, यथा आमन्त्रणे 'अम्ब'

वा जाति वापीह साधुनेति। -शब्दकौ० पृ० २५। (४) 'गौरित्यस्य शब्दस्य गावीगोणीगोतागोपोतलिकेत्येवमादयः अपभ्रंशाः।'-पात० महा० पस्पशा०।

(१) सामर्थ्यं सर्वभावानामर्थापत्त्यावगम्यते। एकसामर्थ्यसिद्ध्यर्थं नानेकं तच्च लभ्यते॥ नाम च व्यवहारार्थमस्याभ्युपगम्यते। तेनैकेनैव सिद्धेऽर्थे द्वितीयादि च निष्फलम्॥'-तन्त्रवा० पृ० १।३।२६। किञ्च वाचकशक्तिर्नाम सूक्ष्मा परमार्थापत्तिमात्रशरणावगमा न सा मन्दतायामन्यतः कुतश्चिन्मार्गेणापि पात्यते। सा चेयमन्यथाप्युपपद्यमाना गवादिभ्योऽपभ्रंशेभ्यो व्यवहारे मन्दीभवति तेषु शक्तिकल्पनायामर्थापत्तिः एव गवादय एव वाचकशक्तेराश्रयः न गाव्यादयः। -प्रशम० पृ० ४२१। 'अत्र च संस्कृतस्य सर्वदेश एकत्वात्तत्रैव शक्तिः, भाषाणाञ्च प्रतिदेशं भिन्नत्वात् संस्कृतेन सह पर्यायतापत्तेश्च न शक्तिः। -व्याकरणभू० पृ० २४८। "एवञ्च शक्तताप्यन्यत्र तदारोपात्तदर्थप्रतीत्युपपत्तावेकत्रैव शक्तिकल्पनात्, अन्यत्र लभ्यस्यैव शक्त्याऽभावात्। सा च शक्तिः संस्कृत एव सर्वदेशे तस्यैकत्वात्। -तत्त्वचिं० शब्द० पृ० ६४१। (२) अन्वयव्यतिरेकौ। (३) गावीशब्दे। (४) अथ यदुक्तम्-अर्थोऽवगम्यते गाव्यादिभ्यः अत एषामप्यनादिरर्थेन सम्बन्ध इति। तदशक्तिरेषा गम्यते। गोशब्दमुच्चारयितुकामेन केनचिच्छक्तया गावीत्युच्चारितम् अपरेण ज्ञातं सास्नादिमानस्य विवक्षितस्तदर्थं गौरित्युच्चारयितुकामो गावीत्युच्चारयति। तत्र शिक्षित्वाऽपरेऽपि सास्नादिमति विवक्षिते गावीत्युच्चारयन्ति। तेन गाव्यादिभ्यः सास्नादिमानवगम्यते। अनुरूपो हि गाव्यादिर्गोशब्दस्य। एवं गाव्यादिदर्शनात् गोशब्दस्मरणं ततः सास्नादिमानवगम्यते। -शाबरभा० १।३।२८-२९। 'यथा गौरित्यस्य शब्दस्यार्थे गावीति प्रयुज्यमानं पदं वस्तुदाम्भितत्वं प्रतिपादयतीति। न च शब्दाद्वाच्यात् व्ययम्, अनेन शब्देन गोशब्दमेवार्थो प्रतिपद्यते गोशब्दात् वस्तुदाम्भितत्वमयम्। -न्यायवा० पृ० ५५६। 'ते तु वर्णसारूप्यच्छायया गवादिशब्दस्मृतिमादधाना तदर्थप्रतिपत्तिहेतुतामुपगच्छन्ति। -न्यायमं० पृ० ४२१। न्यायवा० ता० पृ० ७१४। तत्त्वचिं० शब्द० पृ० ६४३। न चापभ्रंशानामवाचकतया कथमर्थावबोध इति वाच्यम् शक्तिभ्रमवतां बाधकाभावात्। निश्चयदर्शिनस्तु द्विविधाः-तत्तद्वाचकसंस्कृतविशेषज्ञानवन्तः तद्विकलाश्च। तत्र आद्यानां साधुस्मरणद्वारा अर्थबोधः। द्वितीयानां तु बोध्यार्थसम्बन्धात्तत्रवाचकस्य स्मृतौ सत्यां ततो लक्षणया बोधः। सर्वनामस्मृतेर्वा, तदर्थवाचकत्वेन रूपेण साधुस्मृतेर्वा अर्थाध्याहारपर्यायपर्यायणाद्वा यथायथं बोध्यम्।'-शब्दकौ० पृ० ३२। (५) अस्वगोण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे। निमित्तभेदात्सर्वत्र साधुत्वञ्च व्यवस्थितम्॥ ते साधुष्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः। तादात्म्यमुपगम्येव शब्दार्थस्य प्रकाशकाः॥ न शिष्टैरनुगम्यन्ते पर्याया इव साधवः। ते यतः स्मृतिशास्त्रेण तस्मात्साक्षादवाचकाः॥ अम्बाम्बेति यथा बालः शिक्षमाणः प्रभाषते। अव्यक्तं तद्विदां तेन व्यक्ते भवति निश्चयः॥ एवं साधौ प्रयोक्तव्ये योऽपभ्रंशः प्रयुज्यते। तेन साधुव्यवहितः कश्चिदर्थोऽभिधीयते॥'-

---

1 अनुपपत्त्या हि ब०। § एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ०। 2 विनोपप-ब०।

इति विवक्षायां स्थानकरणप्रयत्नवैकल्यात् प्रमादाद्वा तमुच्चारयितुमसमर्थः अम्बिति बालोऽपभाषते। अम्बा च तच्छब्दश्रवणानन्तरं प्रवर्त्तमाना एवं मन्यते—अनेन बालेन 'अम्ब' इति शब्दविवक्षायाम् अम्बिति तत्स्थाने समुच्चारितमिति अम्बितिशब्दादसाधुभूताद् 'अम्ब' इति मूलशब्दं साधुभूतं स्मृत्वा प्रवर्त्तते। तथा, षण्ड (पण्ढ) शब्दे समुच्चारयितव्ये विवक्षिते प्राम्याणां सढशब्दोच्चारणं दृश्यते। व्यवहर्त्ता तद्वाक्यश्रवणानन्तरं प्रवर्त्तमानः अनेन मूलशब्दोच्चिचारयिषया अशक्त्या प्रमादेन वा अयं सढशब्दः समुच्चारित इति सढशब्दात् षण्डशब्दं स्मृत्वा ततोऽर्थं प्रतिपद्य प्रवर्त्तते। एवं गावीशब्दात्साधुरूपात् मूलभूतं साधुरूपं गोशब्दं स्मृत्वा व्यवहर्त्ता ततोऽर्थं प्रतिपद्यते इति, अन्वयव्यतिरेकयोरत्र अन्यथासिद्धत्वात् न वाचकत्वावधारणक्षमत्वम्। यत्रैव हि निश्चितौ तौ तत्रैव वाचकत्वनियममवबोधयतः। न च गावीशब्दस्य उक्तप्रकारेण तौ निश्चितौ, अतो न तन्नियममवबोधयतः। गोशब्दस्य तु उभयवादिसम्प्रतिपन्नत्वेन तौ निश्चितौ, अतोऽस्यैव [1]गोत्वप्रतिपत्तौ वाचकत्वनियमोऽवकल्प्यते। [(1)]सर्वदेशकालपुरुषपुराणवेदादिषु गोशब्दस्य एकरूपतया व्यवहारकारकत्वेन प्रतीयमानत्वाच्च अस्यैव व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य वाचकत्वनियमो युक्तः न तु गावीशब्दस्य, अस्य नियतदेशादावेव व्यवहारहेतुतया प्रतीयमानत्वात्। न खलु ये देशान्तरादिप्रभवाः गाव्यादिशब्देष्वगृहीतसम्बन्धा तेषां ते व्यवहारं प्रसाधयन्ति। अतः अयगतप्रमाणभावेन व्याकरणेन ये अनुशिष्टा गवादयः शब्दाः त एव साधवः सिद्धा न तु गाव्यादयः।

तत्रैव वाचकत्वनियमावगतेश्च गवादिशब्दानामेव साधुत्वम्, तथाहि—'गामानय' इत्युक्ते सास्नादिमत्त्वविशिष्टार्थानयनप्रतिपत्तिर्भवति। तत्र च यथा 'गोशब्दस्य सास्नादिमानर्थो नान्यः' इत्यवधार्यते, तथा 'गोशब्दस्यैव अयमर्थः' इति नियमोऽप्यवधार्यते। अवगतश्च नियमः अन्यस्य वाचकत्वं बाधते।

अस्तु वा नाम गवादीनामेव वाचकत्वावधारणम्, तथापि वृद्धव्यवहारादेव तेषां तत् भविष्यति, अतस्तत्साधुत्वसमर्थनाय व्याकरणारम्भो व्यर्थः, इत्यसमीचीनम्, व्याकरणनिरपेक्षाद् वृद्धव्यवहारादेव सकलशब्दानां वाचकत्वस्य अवधारयितुमशक्यत्वात्। अनन्तो हि शब्दराशिः, तस्य अनन्तेनापि कालेन प्रतिपदं वृद्धव्यवहाराद्

वाक्यप० १।१४९-५३। 'गाव्यादिशब्दानां पुनरुच्चारणासामर्थ्यजा मूलशब्दापभ्रंशाः विवक्षितेषु मूलशब्दानुसारेणार्थनिश्चायकत्वम्, अविवक्षितेषु तु वाचकभावं नैव यान्ति।'—तोना० पृ० १३०। भाट्टचि० प० ९५।

(१) सर्वे शब्दान्तर। 'सर्वे खलु एते शब्दाः देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते।'—पात० महा० पस्पशा०। (२) पुरुषाणाम्। (३) गाव्यादयः शब्दाः। (४) वाचकत्वावधारणम्।

1 अम्बिति आ०। 2 तत्र स्थाने ब०। 3 गोशब्दस्यार्थ—ब०। 4—स्यवे आ०, ब०। 5 मा आ०। 6 गम्या—ब०। 7—तीनि तत्र ब०। 8 अस्तु नाम ब०, श्र०। 9—निरपेक्षे ब—श्र०।

वाचकत्वं गृहीतुमशक्यम्। व्याकरणेन तु सामान्यविशेषवता लक्षणेन उपलक्षितानां स्वल्पप्रयत्नेन सर्वेषामपि शब्दानां वाचकत्वमवबोद्धुं शक्यमेव। अतो व्याकरणादेव तेषां साधुत्वावगमः। तथाहि–"कर्मण्यण्" [पाणिनि० ३।२।१] इत्येतेनैव सूत्रेण कुम्भकारकाण्डलाववेदाध्यायादयः शब्दाः सहस्रशः साधुत्वेन लक्ष्यन्ते। अतो व्याकरणानुगृहीतलोकव्यवहारात् सुखेनैव साधुत्वमवधारयितुं शक्यते इत्यस्ति व्याकरणस्योपयोगः। ननु चास्यैवाप्रमाणत्वात् कथं तत्र केषाञ्चिच्छब्दानां साधुत्वमवधारयितुमुचितम्, इत्यप्यसाम्प्रतम्, तदप्रामाण्ये कर्मकर्त्रादिकारकाणां सम्भवप्रसङ्गात्। न खलु व्याकरणमन्तरेण प्रकृतिप्रत्ययविभागद्वारेण कर्मकर्त्रादिकारकाणां नैयत्येन प्रतिपत्तिर्घटते, तन्नैयत्यहेतोरन्यस्याऽसम्भवात्। अतस्तन्नैयत्यमुपलभ्यमानं स्वव्यवस्थानिमित्तं व्याकरणमेव व्यवस्थापयति।

तथा व्याकरणाप्रामाण्ये लोकशास्त्रविरोधः। तत्र लोकविरोधस्तावत्–सकलशिष्टानां तत्प्रामाण्यस्य अभीष्टत्वात्। शास्त्रविरोधोऽपि तदप्रामाण्ये सकलशास्त्रोच्छेदप्रसङ्गात्। सकलान्यपि हि शास्त्राणि नियतभाषात्मकानि, नियमस्य च व्याकरणाधीनत्वात् कथं तदप्रामाण्ये तदुपपत्तिः? शास्त्रप्रामाण्यमनभ्युपगच्छताऽपि परप्रत्यायनाय साधनदूषणप्रयोगः तत्प्रामाण्यप्रसाधनोऽवश्याभ्युपगन्तव्यः। तदनभ्युपगमे स्वपरपक्षसाधनदूषणप्रपञ्चप्रत्यस्तमयप्रसङ्गात्, केवलैर्मनोविकल्पैः अङ्गभङ्गाभिर्वा परप्रत्यायनानुपपत्तेः। तस्मादुक्तदोषं परिजिहीर्षता न व्याकरणप्रामाण्यमपह्नवनीयम्, इति सिद्धं तत्साधुत्वप्रसाधनायास्य प्रामाण्यम्।

ननु साधुत्वस्य शब्दानां कुतश्चित् प्रमाणादप्रसिद्धेः कथं तत्प्रसाधनाय व्याक-

(१) रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्। लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम् ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा ज्ञेया इति। न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्या ज्ञातुम्। किञ्चित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम् येनाल्पेन प्रयत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्। किं पुनस्तत्? उत्सर्गापवादौ। कश्चिदुत्सर्गः कर्तव्यः कश्चिदपवादः। सामान्येनोत्सर्गः कर्तव्यः तद्यथा कर्मण्यण्। तस्य विशेषेणापवादः तद्यथा आतोऽनुपसर्गे कः।' –पात० महा० पस्पशा०। 'प्रकृत्यादिविभागकल्पनया सामान्यविशेषवता लक्षणेन॥' –काशिका० पृ० १। तत्र सामान्यवता लक्षणेन प्रकृत्यादिविभागपरिकल्पनया कुम्भकार काण्डलाव शरलाव इत्येवमादिकं महान्तं शब्दौघं प्रतिपद्यते। विशेषवता तु पाणिन्त्रो गोद कम्बलद इत्येवमादिकम्। –न्यास० पृ० ६। सव० पाणिनि०। (२) 'लोकव्याकरणाभ्यां हि मिथ्याभ्यां विप्लुतवाचकसिद्धिरिति।' –तत्त्ववा० १।३।२७। (३) व्याकरणस्य। (४) 'न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्। –पात० महा० पस्पशा०। तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते। –वाक्यप० १।१३। (५) सर्वथापत्त्वाच्च शब्दानुशासनस्य। –हमश० बृह० पृ० २। (६) साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः। अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम्॥ –वाक्यप० १।१४३।

1–ध्याय इत्यादयः श्र०। 2 शब्दबहुसाधुत्वेन श्र०। 3–सविशिष्टानां श्र०।

रणस्य प्रामाण्यम् ? इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, प्रत्यक्षत एव तत्साधुत्वप्रसिद्धेः । तथाहि–व्याकरणसंस्कृतमते [1]श्रोत्रप्रत्यक्षे वर्णस्वरूपवत् तत्साधुत्वमवभासते, व्याकरणानुशिष्टेषु शब्देषु उच्चार्यमाणेषु 'साधुभिरयं भाषते' इति प्रतीतिसद्भावात्, अन्यथा चोच्चार्यमाणेषु 'असाधुभिरयं भाषते पापं अपशब्दान् करोति' इति [illegible] प्रत्यक्षत एव साधुत्वासाधुत्वविभागोऽवसीयते । अथोच्यते–यदि वर्णस्वरूपानि[illegible] साधुत्वं स्यात् तर्हि व्याकरणसंस्कारात्पूर्वं वर्णस्वरूपवत् तदपि प्रतिभासेत, [illegible] भासकारणस्य श्रोत्रसम्बन्धस्य प्रागपि सद्भावात्, तदप्युक्तिमात्रम्, [illegible] पेक्षस्य श्रोत्रस्य पूर्वमभावात्, कारणाभावे च कार्याभावस्य उपपन्नत्वात् । [illegible] ग्रहणे हि श्रोत्रस्य केवलस्यापि सामर्थ्यम्, साधुत्वग्रहणे तु व्याकरण[illegible] । [illegible] रत्नादिभेदवत् तच्छास्त्रसंस्कारसहायं चक्षुः ग्रहणे समर्थम् न [illegible] ।

ननु शब्दराशेरपर्यन्ततया प्रत्यक्षागोचरत्वात् कथं [illegible] ? इत्यप्यसुन्दरम्, तद्गोचरस्यास्य अनुमानात् साधुत्वप्रसिद्धेः, तद् [illegible] शब्दाः साधवः व्याकरणानुशिष्टत्वात् परिदृश्यमानगवादि[illegible] । [illegible] भाषितव्यम्" [　] तस्मादेषा संस्कृता साधुत्वं" [शब्दि० [illegible]] [illegible] दिना आगमेनापि साधुत्वं प्रसाध्यते । तथा उपमानेनापि [illegible] सूत्रकार-भाष्यकार-वार्तिककारादिभिः प्रयुक्ता यथा साधवः [illegible] प्रयुक्ताः साधव एवेति । तथा अर्थापत्त्यापि, अनागत[illegible] रेकतोऽर्थप्रतीतिसाधनत्वान्यथानुपपत्तिलक्षणया शब्दानां [illegible] ।

(१) "साधुत्वमिन्द्रियग्राह्यं लिङ्गमस्य न विद्यते । [illegible] सकर ॥ व्याकरणोपदेशसाहाय्यकोपकृतश्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वा[illegible] व्यपदेशसव्यपेक्षचक्षुरिन्द्रियग्राह्यापि न प्रत्यक्षगम्यतामपोज्झति । [illegible] न्द्रियग्राह्ये अपि साधुत्वासाधुत्वे न प्रत्यक्षतामतिवर्तेते ।'–न्यायम० [illegible] (२) "यथा च पद्मरागादीन् वाचस्पतिरभिश्रितान् । परीक्षा [illegible] १०८ । यथा रत्नपरीक्षायां साध्वसाधुत्वलक्षणम् । तथा व्याकरणाद्दि [illegible] ॥ १।३।२७। (३) प्रत्यक्षागोचरस्यापि शब्दराशेः । (४) "[illegible] ०गताधप्रतिपत्तिसहित शब्दानुशासनशास्त्रोपदिष्टप्रकृतिप्र[illegible] भिचारि तत्स्वरूपावधारणे कारणं भविष्यति ।–"न्यायम० पृ० [illegible] उद्धृतोऽयम्–न्यायमं० पृ० ४२३ । न्यायवा० ता० पृ० ७१४ । [illegible] पृ० ६४० । 'साधूनां साधुभिस्तस्माद्वाच्यमभ्युदयार्थिभिः ।' [illegible] (८) व्याकृता'–तन्त्रवा० १।३।२७। भाट्टचि० पृ० ९८ । (७) "[illegible] (९) '[illegible] परिलभ्यस्तावदेव साधुत्वनिश्चयः ।'–तन्त्रवा० १।३।२७।

1 श्रोत्रप्र–आ० ब० । 2–त्तत्साधु–ब०, आ० । [illegible] –ब० । 4–न्यानुकरोति आ० । 5 पूर्वं भावा–आ०, पूर्वमनु[illegible] आ० । 8 सूत्रकारवार्तिक–ब० । [illegible] –आ० ।

अपभ्रंशप्राकृतादिभाषाशब्दानां साधुत्वसमर्थनेन वाचकत्वप्रसाधनम्–

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्–'गवादयः शब्दा एव साधवः, तेषामेव वाचकत्वोपपत्तेः' इत्यादि, तदविचारितरमणीयम्, यतो लोकव्यवहारसमधिगम्यो हि वाच्यवाचकभावः । लोकश्च गाव्यादिशब्दैरेव व्यवहरन् प्रतीयते । संस्कृतवेदिनो हि संस्कृतान् शब्दान् परित्यज्य व्यवहारकाले गाव्यादिशब्दैरेव व्यवहरन्तः प्रतीयन्ते । अतः संस्कृतेतरवेदिनां व्यवहारस्य गाव्यादिशब्दैरेव दृष्टत्वात्तेषामेव अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाचकत्वमवधार्यते । न च गाव्यादिशब्दानां गवादिस्मृतिसापेक्षमर्थावबोधकत्वं स्वप्नेऽपि प्रतीतं येन अर्थप्रतिपत्तेरन्यथाप्युपपद्यमानत्वात् तेषामवाचकत्वं स्यात् । न खलु प्राकृतशब्देभ्यः 'प्रथमं संस्कृतशब्दस्मरणं ततोऽर्थप्रतीतिः' इति व्यवधानेन अर्थप्रत्ययोऽनुभूयते, संस्कृतशब्दवत् तेभ्योऽपि साक्षादेव अर्थप्रत्ययप्रतीतेः, अन्यथा यत्र संस्कृतज्ञा न सन्ति तत्र भाषाशब्देभ्योऽर्थप्रत्ययो न स्यात् । ततो गवादिशब्दवत् शब्दान्तरस्मृतिनिरपेक्षतयैव सदा तेषामर्थावबोधकत्वप्रतीतेः वाचकत्वमेवोपपन्नम् । यथैव हि गवादिशब्दस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गाव्यादिशब्दस्मृतिनिरपेक्षं गोत्वाद्यर्थाभिधायकत्वं प्रतीयते तथा गवादिशब्दस्मृतिनिरपेक्षं गाव्यादीनामपि । एवञ्च अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तुल्येऽर्थप्रतिपादकत्वे यद्येकस्यैव वाचकत्वं कल्प्यते तर्हि गाव्यादिशब्दस्यैव कल्प्यताम्, निखिलजनानां व्यवहारस्य तद्द्वारेणैव प्रतीतेः ।

किञ्च, स्मरणं मूलानुभवे सति प्रमाणं भवति अनुभवानुसारित्वात्तस्य । न च गवादिशब्दानां गोव्यवहारे प्रथमत एव स्वरसवृत्त्या वाचकत्वमनुभूतम्, गाव्यादिशब्दानामेव तदा तदनुभवात् । अतो येषां वाचकत्वमनुभूतपूर्वं सन्निधने व्यवहारे अननुभूतवाचकत्वाः स्मर्यन्ते इति महन्न्यायकौशलम् ।

(१) पृ० ७५७ पं० ६ । (२) यदि (अ) प्रसिद्धिमत्त्वेन व्यवहारं प्रवर्तते । संस्कृतरिति सर्वापि शब्दं भाषास्वनरित । –तत्त्वार्थश्लो० पृ० २९० । (३) गाव्यादिशब्दानामेव । (४) प्राकृतशब्देभ्योऽपि । तुलना अव्युत्पन्नान्यनिर्णीतिरपभ्रंशान्विवेत्यपि । यक्तु शक्तेस्तया दृष्ट सर्वमाप्यविशेषतः ॥ –तत्त्वार्थश्लो० पृ० २९० । प्रमेयक० पृ० ६६८ । (५) तुलना– 'स्त्रीबालानामुभयप्रतीतेरभावात् । यः खलूभयं वेत्ति शब्दमपशब्दञ्च स एव प्रतिपद्यते । यस्तु सक्कमुक्कशब्दमेव वा वेत्ति न नामाशब्दं स कथमपशब्दाच्छब्दं प्रतिपद्येत ततोऽस्य प्रतिपद्येत ? दृष्टा चानुभयवेदिनोऽपि प्रतीतिरिति । –वादन्या० पृ० १०३ । "म्लेच्छादीनां साधुशब्दपरिज्ञानाभावात्कथं तद्विषया स्मृतिः । तदभावे न गोत्वप्रतिपत्तिः स्यात् । –तत्त्वा० पृ० १२४ । (६) गाव्यादिशब्दद्वारेणैव । तुलना– विपर्ययदर्शनाच्च । शब्दादयः सम्प्रतिपद्यमाना अपशब्देरेव ज्ञानं व्युत्पद्यमाना लोके दृश्यन्ते इति व्याख्या शब्दानुशासनम् । तथाहि यशोगिरिरुत्पलमित्युक्तेऽव्युत्पन्नधियो बाला प्रश्नोपक्रमं सन्तिष्ठन्ते कोऽयं वक्ष इत्यादिना । ते चा यस्य व्युत्पादनोपायस्याभावादपशब्दैरेव व्युत्पाद्यन्ते उक्खं अग्गी उप्पलमिति । तदेवमत्रासाधव एव वाचका न साधवः सन्तोऽपि इति विपर्ययो दृश्यते । –वादन्या० टी० पृ० १०५ । (७) वाचकत्वानुभवात् (८) गाव्यादीनाम् । (९) गवादयः शब्दाः ।

1 असंस्कृते–आ० । 2–वोपपद्य–ब० । 3 प्रथमसं–श्र० । 4–व गवादि–ब० । 5 तुल्यार्थप्रति–ब० । 6–प्रथमं त एव स्वरसस्य वक्ता धा–आ० । 7–रे न खलु वाचकत्वा ब० ।

यदप्युक्तम्–'गोशब्दे समुच्चारयितव्ये अशक्त्या प्रमादेन वा वालेन गावीशब्द समुच्चारित' इति, तदप्यसाम्प्रतम्, यतो यदि गोशब्दसमुच्चिचारयिषया वाल अशक्तिप्रमादाभ्या गावीशब्द समुच्चारयेत्, तर्हि परित्यक्तबालभाव प्रबुद्ध सन् 'मया अशक्त्या प्रमादेन वाऽय प्रयुक्त' इति ज्ञात्वा त परित्यज्य गोशब्देनैव व्यवहार कुर्यात्। न च पटुकरणोऽपि गावीशब्द परित्यज्य गोशब्देनैव व्यवहरति। ननु च असस्कृतमतिभि सह सस्कृतशब्देन गवादिना व्यवहार कर्तुं न शक्यते, लक्षणपरिज्ञानाभावतस्तेषा सस्कृतशब्दपरिज्ञानानुपपत्ते, अत बहुत्वादसस्कृतमतीनाम् अशक्तिप्रमादप्रभवोऽपि अपभ्रष्टव्यवहार परा रूढिमागत, येन शक्तो विज्ञातशब्दस्वरूपोऽपि जन तेनैव व्यवहरति, इत्यप्येतेनैव प्रत्याख्यातम्, प्रमादाऽशक्तिप्रभवत्वे गाव्यादिशब्दव्यवहारस्य उक्तदोषानुपङ्गात्।

अपभ्रष्टत्वञ्चास्य पुरुषार्थाऽसाधकत्वात्, व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य सर्वत्र सर्वदाऽनवच्छिन्नस्य एकत्वेन प्रतीत्यभावात्, सङ्केतेन अर्थाभिधायित्वाद्वा स्यात्? तत्र आद्य पक्षोऽनुपपन्न, सकलस्य धर्मार्थादे पुरुषार्थस्य प्राकृतशब्दव्यवहारादेव प्रसिद्धे। नहि कश्चित्तादृश पुरुषार्थोऽस्ति यत्र साक्षात् परम्परया वा तद्व्यवहारो न स्यात्। तत्प्रतिपिपादयिषया प्रयुक्तानामपि सस्कृतशब्दानामर्थं सुस्पष्ट प्राकृतशब्दैरेव प्रदर्श्यते इति कथ तद्व्यवहारस्य पुरुषार्थाऽसाधकत्व यतोऽपभ्रष्टत्व स्यात्? द्वितीयपक्षे तु ठक्कागमस्य "सधन ब्राह्मण हन्याद् भूतिकाम" [ ] इत्यादे साधुत्वप्रसङ्ग, व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य सर्वत्र सर्वदानवच्छिन्नस्यैकत्वेन अस्यापि प्रतीतिविशेषात्। शिष्टैरस्वीकृतत्वात् तत्रास्य विच्छेद पशुवधायागमेऽपि समान। नहि "श्वेतमजमालभेत" [ ] इत्यागम परीक्षाप्रधानै कृपाद्रींकृतचेतोवृत्तिभि आद्रियते। तृतीयपक्षोऽप्ययुक्त, प्राकृतशब्दवत् सस्कृतशब्दानामपि सङ्केतसहायानामेव अर्थप्रतिपादनसामर्थ्यसभवात्। असङ्केतिताऽनभि(ताभि)धाने अतिप्रसङ्गात्। तदेव सस्कृतेतरशब्दाना विशेषासभवात् उभयेषा साधुत्वमसाधुत्व वा अविशेषत प्रतिपत्तव्यम्।

किञ्च, स्वरूपत प्रसिद्धे साधुत्वे क्वचिद् विधान निषेधो वा युक्त। न च स्वरूपत तत् प्रसिद्धम्। तत्स्वरूप हि वाचकत्वम्, अनादिप्रयोगिता, धर्मसाधनत्वम्, विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वम्, विशिष्टार्थाभिधायित्वम्, बाधारहितत्वम्, प्रमाणान्तरानुगृहीतत्वम्, अनुपहतेन्द्रियग्राह्यत्वम्, अनावृतत्वम्, व्याकरणसिद्धस्वरूपत्व

(१) पृ० ७५९ पं० ६। (२) व्याकरणसूत्र। (३) असंस्कृतमतीनाम्। (४) प्राकृताभाषाजन्यव्यवहार। (५) पुरुषार्थबोधनाय। (६) जनबौद्धवैष्णवादिभि। (७) साधुत्वम्।

1 इत्यादि तद–ब०, श्र०। 2 वाचं ध०। 3–सर्वत्पितस्य ब०। 4 तद्व्यापारव्यवहारो न आ०, ध०। 5–त्वप्रसंग श्र०। 6–नुगृहीतस्य–आ० ब०।

वा स्यात् ? यदि वाचकत्वम्, तद् गोणादिशब्दवद् गाव्यादिशब्दानामस्त्येव, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तद्वत् तेषामप्यर्थप्रतिपादकत्वप्रतिपादनात्।

अनादिप्रयोगितापि प्रवाहापेक्षया, नित्यत्वापेक्षया वा उच्येत ? प्रथमपक्षे गोगावीशब्दयोरविशेषः, द्वयोरपि अनादिप्रयोगितायाः तथा सम्भवाद् उभयोरपि साधुत्वमसाधुत्वं वाऽविशेषतः स्यात्। अनादिप्रयोगितया च साधुत्वे प्राकृतस्यैव गाव्यादेः साधुत्वं स्यात्, तस्यैव तत्सम्भवात्। प्रकृतिरेव हि प्राकृतम्, प्रकृतिश्च स्वभावः, अतः प्रकृतिभूतस्य अर्थस्वरूपावेदकस्य अनादिप्रयोगार्हस्य गाव्यादेरेव साधुत्वं युक्तं न तु संस्कृतस्य गवादेः, तस्य अनादिप्रयोगितानुपपत्तेः। सतो हि वस्तुनो गुणान्तरारोपः संस्कारः, स च आदिमानेव, अतः संस्कृतव्यपदेशादेव संस्कारात् पूर्वं विद्यमानं प्रकृतिभूतमन्यत् किञ्चिद्वस्त्वीयं प्रतीयते। तच्च प्राकृतमेव, इत्यस्यैव अनादिप्रयोगितया साधुत्वमायातम्।

अथोच्यते–न प्रकृतिरेव प्राकृतम्, किं तर्हि ? प्रकृतेर्भवम्। ननु केयं प्रकृतिर्नाम–यतो भवं प्राकृतम् इत्युच्येत ? किं स्वभावः, धातुगणः, संस्कृतशब्दस्वरूपं वा ? प्रथमविकल्पे 'प्रकृतिरेव प्राकृतम्' इत्ययमेव पक्षोऽङ्गीकृतः स्यात्, प्रकृतेः स्वभावात् स्वधात्मलाभैर्गाव्यादिशब्दैः निखिललोकानां व्यवहारप्रसिद्धेः। द्वितीयविकल्पे तु गवादिशब्दानामपि प्राकृतत्वप्रसङ्गः, धातुगणात् तत्स्वरूपसिद्धेरविशेषात्, इति संस्कृतव्यवहाराय दत्तो जलाञ्जलिः स्यात्। संस्कृतशब्दस्वरूपस्य प्रकृतित्वमनुपपन्नम्, विकारत्वात्। सतो हि वस्तुनो गुणान्तराधानं संस्कारः स विकाररूपतया कथं प्रकृतित्वं प्रतिपद्येत ?

किञ्च, पूर्वापरकालभावित्वे सति प्रकृति-विकृतिभावो दृष्टः। न चात्रे तदस्ति, वैपरीत्यप्रतीतेः–'आदिमद्धि संस्कृतम् अनादिमच्च प्राकृतम्' इति।

(१) 'अथ गावीशब्दस्य वाचकत्वं नोपपद्यते तदयुक्तम्, गावीशब्देन बहुलं व्याहरन्ति प्रमातारः।"–तत्त्वबो० पृ० १२४। (२) अनादिप्रयोगितासम्भवात्। (३) 'प्राकृतेति–सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। आरिसवयणे सिद्धं देवाणं अद्धमगहा वाणी इत्यादि वचनाद्वा प्राक् पूर्वं कृतं प्राक्कृतं बालमहिलादिसकलभाषानिबन्धनभूतं वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समासादितविशेषं सत् संस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति। अत एव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि। पाणिन्यादिव्याकरणोदितशब्दलक्षणेन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते।'–काव्या० रुद्र० नमि० २।१२। (४) तुलना– 'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्।'–हेम० प्राकृ० प्राकृतसर्व०, प्राकृतच०, वाग्भटा० टी० २।२। 'एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम्। विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम्॥'–नाट्यशा० १७।२। प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता।–षड्भा०। 'प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः।–प्राकृतस०। 'प्रकृतेः संस्कृतात् साध्यमानात्सिद्धाच्च यद्भवेत्। प्राकृतस्यास्य लक्ष्यानुरोधि लक्ष्म प्रवक्ष्महे॥–त्रि० प्रा० पृ० १। (५) संस्कृतप्राकृतयोः।

1–तया साधु–ब०। 2 न च श्र०। 3 प्रकृतौ भवम् आ०। 4 इत्युच्यते ब०। 5 धातुगणोक्तरूपसिद्धे ब०। 6 विकारित्वात् श्र०।

अथ मतम्–न गुणान्तराधानं संस्कारः, किं तर्हि ? अभिन्नस्वरूपस्य शब्दस्य सम्यगनधिगतार्थस्य प्रकृतिप्रत्ययादिविभागद्वारेण तदन्तर्गतोऽर्थः प्रकाश्यते इत्येवंरूपः शब्दस्य संस्कारः इति, तदप्यसङ्गतम्, प्रकृतिप्रत्ययादिविभागद्वारेण अर्थकथनस्य व्याख्यानरूपतया संस्कारत्वानुपपत्तेः । नहि यव्रादौ तथाविधः संस्कारः कदाचिद् दृष्टः । किं तर्हि ? गुणान्तराधानलक्षणः । तथाप्यस्य संस्कारत्वाभिधाने स्वच्छन्दस्य 'कूर्दालिका' इति नाम कृतं स्यात् ।

एतेन 'व्यवहर्तृशक्तिद्वारेण अपभ्रश्यतः शब्दस्य रक्षाद्वारेण अविचलितस्वरूपस्यैवावस्थापनं संस्कारः' इति मतान्तरमपि अपास्तम्, अविचलितरूपतयावस्थापनस्यापि संस्कारत्वेन क्वचिदप्यप्रतीतेः । अविचलितरूपतया अवस्थापनञ्च शब्दानां सादृश्यापेक्षया, नित्यैकरूपापेक्षया वा स्यात् ? यदि सादृश्यापेक्षया, तर्हि गाव्यादिशब्दस्यापि संस्कृतत्वप्रसङ्गः तदविशेषात् । अथ नित्यैकरूपापेक्षया, तदयुक्तम्, शब्दानां नित्यैकरूपतायाः प्राक् प्रबन्धेन प्रतिषेधात् । तन्न प्रवाहापेक्षया अनादिप्रयोगितातः शब्दानां साधुत्वं सिद्ध्यति । तथा तत्साधुत्वाभ्युपगमे च 'पितरि स्वर्गं गते ज्येष्ठेन पुत्रेण माता वोढव्या' इत्यादिम्लेच्छव्यवहाराणामपि साधुत्वप्रसक्तिः, प्रवाहेण अनादिप्रयोगितायाः तत्राप्यविशेषात् । अथ नित्यत्वापेक्षया अनादिप्रयोगितातः तत्साधुत्वसिद्धिः इत्युच्यते, तदप्युक्तिमात्रम्, शब्दानां नित्यत्वस्य प्रमाणानुपपन्नत्वात् । तदनुपपन्नत्वञ्चैषां शब्दानित्यत्वसिद्धौ प्रपञ्चतः प्ररूपितमित्यलमतिप्रसङ्गेन । तन्न अनादिप्रयोगितापि तत्साधुत्वलक्षणम् ।

नापि धर्मसाधनत्वम्, तद्धि तेषां साक्षात्, परम्परया वा स्यात् ? न तावत् साक्षात्, व्रतानुष्ठानादेः तदर्थस्य आनर्थक्यानुषङ्गात् । परम्परया तत्साधनत्वं तु संस्कृत-

(१) "नत्वेवं वयं गुणातिशयमपश्यन्तः संस्कारं केषाञ्चिच्छब्दानामनुमन्यामहे"–वादन्या० पृ० १०७ । (२) "रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् । लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यतीति ।"–पात० महा० पस्पशा० । (३) पृ० ७०३ । (४) अनादिप्रयोगितया । (५) तुलना– म्लेच्छव्यवहारा अपि केचित् मातृविवाहादयो मदनोत्सवादयश्चानादयः नास्तिक्यवचांसि च अपूर्वपरलोकाद्यपवादीनि । –प्रमाणवा० स्ववृ० १।२४७ । (६) "लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः । शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देनेति । एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति तुल्यं वेदशब्देन ।'–पात० महा० पस्पशा० । 'साधवो धर्मसाधनम्' –वाक्यप० १।२७ । (७) तुलना– "न धर्मसाधनता, मिथ्यावृत्तिचोदनेभ्योऽप्यधर्मोत्पत्तिः, अन्येभ्योऽपि विपर्यये धर्मोत्पत्तेः । शब्दस्य सुप्रयोगादेव स्वर्गमोदनघोषणा वचनमात्रम् । नचवविधानागमानाद्रियन्ते युक्तिज्ञाः । न च दानादिधर्मसाधनचोदनापूर्वकेवलादसुप्रयोगान्नरकपात इति ब्रुवाणस्य कस्यचिन्मुखं वक्रीभवति ।"–वादन्या० पृ० १०६। "तथा च संस्कृताच्छब्दात्सत्याद् धर्मस्तथाऽन्यतः । स्यादसत्यं यदा (सत्याद्यदाऽ) धर्मः क्व नियमः पुण्यपापयोः ।'–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २९० । प्रमेयक० पृ० ६६८ । (८) शब्दादनुष्ठेयार्थ

1–चिद्दृष्टस्त श्र० । 2 व्यवहारात्तत्र–श्र० । 3–लितस्वरूप–ब०, श्र० । 4–रूपतापेक्षया ब०, श्र० । 5–प्रसक्तस्तत्र–ब० । 6–पगमेपि च श्र० । 7–पेक्षस्यनादि–ब० ।

शब्दवत् प्राकृतशब्दानामप्यविशिष्टम् ।

विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वं विशिष्टार्थाभिधायित्वं बाधारहितत्वं प्रमाणान्तरानुगृहीतत्वम् अनुपहतेन्द्रियग्राह्यत्वञ्च उभयत्राप्यविशिष्टमेव । अनावृतत्वमपि आवृतत्वपूर्वं न शब्दे सगच्छते, स्थायित्वाभावात् । स्थायिन एव हि पदार्थस्य आवृतत्वानावृतत्वे घटते । शब्दे च स्थायित्वं प्रागेव प्रतिषिद्धम् ।

व्याकरणसिद्धस्वरूपत्वञ्च संस्कृतशब्दवत् प्राकृतशब्दानामप्यस्त्येव । यथैव हि संस्कृतव्याकरणेन प्रकृतिप्रत्ययविभागेन शब्दा व्युत्पाद्यन्ते तथा प्राकृतेनापि । अस्याऽव्याकरणत्वे अन्यत्र क समाश्वास ?

यच्चान्यदुक्तम्–'सस्कृता वागुच्यते' इत्यादि, तत्राप्यसौ कदा वक्तव्या–कर्मकाले, अध्ययनकाले वा ? अध्ययनकाले चेत्, कस्य अध्ययनकाले प्राकृतस्य, संस्कृतस्य वा ? न तावत् प्राकृतस्य, तदा संस्कृतवाचोऽनभिधानात्, अन्यथा तदध्ययनानुपपत्ति । अथ संस्कृतस्य, कथं तदध्ययनकाले अनधीयमानत्वात् प्राकृतवाचोऽसाधुत्वम् ? अन्यस्याध्ययनकाले अन्यस्याऽप्रयोगात्साधुत्वे तु पुराणाध्ययनकाले वेदवाचामप्यप्रयोगादसाधुत्वं स्यात् । अथ कर्मकाले, कुतस्तदा प्राकृता न वक्तव्या –अर्थाप्रतिपादकत्वात्, अपशब्दत्वात्, अधर्महेतुत्वाद्वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्त , गाव्यादिशब्देभ्य संस्कृतेतरवेदिना सुस्पष्टार्थप्रतिपत्तिप्रतीते ।

अपशब्दत्वञ्च गाव्यादिशब्दाना स्वरूपमात्रात्, व्याकरणादनिष्पत्तेर्वा ? यदि स्वरूपमात्रात्, तर्हि गोशब्दस्यापि अपशब्दत्वप्रसङ्ग तदविशेषात् । व्याकरणादनिष्पत्तिरपि संस्कृतात्, प्राकृताद्वा स्यात् ? न तावत् प्राकृतात्, तत्र तेषा स्वरूपनिष्पत्तिप्रतीते । संस्कृतव्याकरणतोऽपि गावीशब्दस्य स्वरूपमात्रेणाऽनिष्पत्ति , अर्थविशेषे वा ? न तावत् स्वरूपमात्रेण, "येस्ये तदादि गुँ" [जैनेन्द्र० १।२।११४] इति गुँसज्ञाया सत्या गोरिव गावी प्रक्रिया इति स्वरूपमात्रेण तन्निष्पत्तिप्रसिद्धे । अथ अर्थविशेषे गोत्वलक्षणे गावीशब्दस्य अतोऽनिष्पत्ते अपशब्दत्वमुच्यते, तदप्यसुन्दरम्, तत्र तस्याऽव्युत्पादकत्वात् । प्राकृतव्याकरणमेव हि गोत्वलक्षणेऽर्थे गावीशब्द व्युत्पादयति नान्यत् ।

वाचस्ततोऽनुष्ठान ततो धर्मोत्पत्तिरिति ।

(१) तुलना– न ह्येषा प्रजावाहुश्रुत्यादिक संस्कार पश्यामो नाप्यपायकान्तेन श्रव्यता । नाप्यर्थप्रत्यायने कश्चिन्निशय । शिष्टप्रयोग संस्कार इति चेत्, के शिष्टा ? य वेधतादिगुणयुक्ता । स पुनरेषा गुणोत्कर्षोनपेक्षो लोकनिर्देशो यतस्तानेव शब्दान प्रयुञ्जते नापरान –वादन्या० पृ० १०७। (२) प्राकृतव्याकरणस्य । ३) पृ० ७६१ पं० १४। (४) प्राकृताध्ययनकाले । (५)प्राकृतव्याकरणे । (६) यस्य त्य यत्य तस्मिन् परत तदादि शब्दरूपं गुसज्ञ भवति । –शब्दार्ण० । (७) 'गु' इति सज्ञा अंग सज्ञास्थानीया । (८) गोत्वलक्षणेऽर्थे । (९) संस्कृतव्याकरणस्य ।

1–ष्टाभिधा–ब० । 2–नावृतत्वे घटते ब० । 3–मस्त्येव ब० । 4 वागुत्पद्यते आ० । 5–ले वा अध्य– । 6 अनभिधीय–श्र० । 7–त्वे प्राकृ–आ० । 8 प्राकृतासौ न श्र० । 9 सुस्पष्टार्थे –श्र० । 10–प्रतिप्रतीत आ०, ब० । 11 स्यतदा–श्र० ।

अव्युत्पादकादनिष्पत्तेश्चार्थे अपशब्दत्वे गोशब्दस्याप्यपशब्दत्वप्रसङ्ग , प्राकृतव्याकरणात्तस्याप्यनिष्पत्तेरविशेषात्। अत संस्कृतेतरव्याकरणप्रसिद्धयो गोगावीशब्दयो गोत्वलक्षणार्थाभिधायित्वेन प्रवृत्ते कुतोऽय नियम 'गोशब्द एव गोत्वस्य वाचको न गावीशब्द शब्द तथा'। यथैवं हि तुल्यप्रमाणावधारितवाचकत्वौ वृक्षतरुपादपाद्य पर्यायशब्दा तथा गोगाव्यादयोऽपि। तथाहि–गो-गावी-गौणी-गोपोतलिकेत्यादय शब्दा गोत्वस्य वाचका वृद्धैस्तत्र अविगानेन प्रयुज्यमानत्वात् गौ उश्रा(स्रा)इत्यादिवत्। तथा, गाव्यादय शब्दा गोत्वे अनादिप्रयोगा अनवगम्यमानाऽऽदित्वात् 'गौरुश्रा(स्रा)इत्यादिवत्।

अथ अधर्महेतुत्वादसाधुत्वमस्या , ननु कदा तस्या अधर्महेतुत्वम्–सर्वदा, यागादिकर्मकाले वा ? यदि सर्वदा, न कदाचिद् धर्मस्यावसर स्यात्, नित्य-नैमित्तिकानुष्ठानसमयेऽपि प्राकृतशब्दाना घृतसमिदाद्यभिधायिना गोभूम्यादिदानाभिधायिनाञ्च प्रयुक्तानामधर्मस्यैव हेतुत्वप्रसङ्गात्। अथ यागादिकर्मकाले, महत् तत्कर्मणो माहात्म्य येनान्यदा अधर्मस्याजनकमपि आत्मसत्ताकाले[ऽ]धर्मजनक करोति इति।

किञ्च, प्राकृतवचसामधर्महेतुत्वनियम तदा सिद्ध्येत् यदा संस्कृताना तेषा धर्महेतुत्वनियम स्यात्। तन्नियमाभ्युपगमे च नटभटवर्कटचर्मकारादीना संस्कृतवेदवचोऽभिधायिना प्राकृतवक्तृमाम्रोपवासिन्यादिभ्य अतीवाधिकधर्मोत्पत्ति स्यात्। अथ ब्राह्मणस्यैव तदभिधायिनो धर्म नान्यस्येति चेत्, न, ब्राह्मण्यस्य कुतश्चिदपि प्रमाणादप्रतीते ॥छ॥

नित्यनिरवयवैकत्वादिधर्मिणा जातिविशेषेण ब्राह्मण्यजातिरिति मीमांसकादीना पूर्वपक्ष –

ननु प्रत्यक्षेणैव ब्राह्मण्य प्रतीयते, निस्फारिताक्षस्य पुरोव्यवस्थितेषु क्षत्रियादिसदेहेषु तद्वैलक्षण्येन 'ब्राह्मणोऽय ब्राह्मणोऽयम्' इत्यनुगतैकाकारप्रत्ययविषयतया ब्राह्मणसङ्घे मनुष्यत्वाव्यतिरिक्तस्य अनुगतैकाकारस्य ब्राह्मण(ण्य)स्य प्रतिभासप्रतीते। न चाय प्रत्यय सन्दिग्ध , उभयकोटिसस्पर्शित्वाभावात्। नापि विपर्यस्त , दोषरहितै कारणैरारब्धत्वात् बाधकप्रत्ययरहितत्वाच्च। यदि च ब्राह्मण्य प्रत्यक्ष न स्यात् तदा 'ब्राह्मणोऽय पुरुष ' §इति विशिष्टप्रतिभासो न स्यात्। अत्र हि ब्राह्मणत्वानुरागविशिष्ट पुरुष प्रतिभासते, न पुन

(१) गावीशब्दस्य। (२) तुलना– 'तस्मात्पर्यायशब्दत्वात् गाव्यादेस्तद्वृत्तवत्। आचारेण प्रयोगश्च न शास्त्रस्थनिवारितम् ॥'–तन्त्रवा० १।३।२४। (३) तुलना–"गावीगोण्यादय शब्दा सर्वे गोत्वस्य वाचका। वृद्धैस्तत्र प्रयुक्तत्वाद गोशब्देनैवमादिवत् ॥ –तन्त्रवा० १।३।२४। (४) म्लेच्छजातिविशेष। "पुलिन्दा नाहला निष्ट्या शबरा वरुटा भटा। माला भिल्ला किरातास्च सर्वेऽपि म्लेच्छजातय ॥'–हेम। (५) ब्राह्मणोऽय ब्राह्मणोऽयमित्यनुगतप्रत्यय।

1–भिधायकत्वेन ब० श्र०। 2–स्यात भूम–ब०। 3–गौणातलि–श्र०। 4 गोरूपत्वे या–ब०, गोरूपेऽया–श्र०। 5 गोरूपत्वेऽया–ब०। 6–घट्ट–आ० ब०। 7 यदि ब्राह्म–आ०। §एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ०। 8–न पुन पुरुषमात्र श्र०।

प्रतिभासते तद्रहितं पुरुषमात्रम्। तत्प्रतिभासे हि 'पुरुषोऽयम्' इति प्रतिभासः स्यात् न तु 'ब्राह्मणोऽयम्' इति, पुरुषातिरिक्तत्वाद् ब्राह्मण्यस्य। न च अप्रतिपन्ने विशेषणे विशिष्टप्रत्ययो युक्तः, अतिप्रसङ्गात्। न च तथाभूतस्य ब्राह्मण्यस्य अर्थेषु सम्भवे प्रथमदर्शनेऽपि प्रतिभासप्रसङ्गः, यतः स्वविशेषव्यङ्ग्या जातिः, विशेषाश्च इतरजातिपरिहारेण अवभासमाना जात्यन्तरपरिहारेण स्वजातीं व्यञ्जयन्ति यथा गवाश्वादयः, अतः तत्र प्रतिभाताऽपि जातिः व्यञ्जकभेदाग्रहणान्नोल्लिगति। व्यञ्जकभेदाग्रहणञ्च अत्यन्तसुसदृशव्यञ्जकत्वादुपपन्नम् अत्यन्तसुसदृशगोगवयवत्। दृश्यते च द्रव्यपरीक्षकाणां कूटाकूटविवेके मणिपरीक्षकाणाञ्च मणिकाचादिविवेके अवधानवतां नैसर्गिकाभ्यासिकप्रतिभाससामग्रीसद्भावे एव कूटाकूटविवेको मणिकाचादिविवेकश्च, एवमत्रापि 'अविप्लुतेन ब्राह्मणेन अविप्लुतायां ब्राह्मण्यामुत्पन्नः ब्राह्मणः' इत्याद्यौपदेशिकमातापितृब्राह्मण्यज्ञानलक्षणसामग्रीसद्भाव एव 'ब्राह्मणोऽयम्' इति विवेकेन प्रतिभासाविर्भावो भवति। यदि वा, तद्ब्राह्मण्यज्ञाननिरपेक्षः 'ब्राह्मणोऽयम्' इत्युपदेशसहकृतेन इन्द्रियेण 'ब्राह्मणोऽयम्' इति ब्राह्मण्यजातिग्राही प्रत्यक्षो जन्यते। न च सामग्र्यभावात् यन्न प्रतिभासते तन्नास्तीति वक्तुं युक्तम्, अतिप्रसङ्गात्। अविप्लुतत्वञ्च मातापित्रोः मर्यादाभावान्निश्चीयते। व्यभिचारो

(१) ब्राह्मणत्वरहितम्। (२) ब्राह्मणत्वशून्यपुरुषमात्रप्रतिभासे। (३) पुरुषेषु। (४) "ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातो ब्राह्मणः स्यान्न संशयः। क्षत्रियायां तथैव स्याद् वैश्यायामपि चैव हि॥" –महाभा० अनु० ४७।२८। "सुवर्णं व्यज्यते रूपात्ताम्रत्वाग्नेरसंनयम्। सलादं घृतं विलीनञ्च गन्धेन च रसेन च॥ भस्मप्रच्छादितो वह्निः स्पर्शनेनोपलभ्यते। अश्वत्वादौ च दूरस्थे निश्चयो जायते स्वनः। तथैव घटत्वादि ब्राह्मणत्वादि योनितः। क्वचिदाचारतश्चापि सम्यगाचारानुपालितात्॥" –मी० श्लो० वन० श्लो० २७–२९। कथं पुनरिदं लोकस्य प्रसिद्धम्? प्रत्यक्षमिति ब्रूमः। कस्मात्पुनः मातापितृसम्बन्धानभिज्ञाः चक्षुःसन्निकृष्टेषु मनुष्येष्वनाख्यातं न प्रतिपद्यन्ते? शक्त्यभावात् यथा वृक्षत्वं प्रागभिधानव्युत्पत्तेः। ननु यथाऽऽलोकेन्द्रियालवणपिण्डानुस्मृतिसंस्मरणव्यक्तिमहत्त्वसन्निकर्षाकारविशेषान्योन्यजातिग्रहणे कारणं तथैवात्र उत्पादकज्ञानस्मरणम्। अयञ्चात्पाद्योत्पादकसम्बन्धो मातुरेव प्रत्यक्षोऽन्यथा तु अनुमानाद्यागमेनावगतः कारणम्। न च तपः आदीनां समुदायो ब्राह्मण्यम्, न तज्जनितः संस्कारः न तदभिव्यङ्ग्या जातिः। किं तर्हि? मातापितृजातिज्ञानाभिव्यङ्ग्या प्रत्यक्षसमधिगम्या। –तन्त्रवा० १।२।२। 'तस्मात्समानाकारेष्वपि पिण्डेषु विलक्षणब्राह्मणप्रत्ययवद्ब्राह्मण्यादिजातिरभिव्यज्यते।' –तन्त्रवा० वायसु० ५० १०–१५। 'यथा ब्राह्मणत्वादिजातिरुपदेशसव्यपेक्षचक्षुरिन्द्रियग्राह्यापि न प्रत्यक्षगम्यतामपोज्झति यथा च ब्राह्मणत्वादिजातिप्रतीतौ कारणान्तरभूतक्वचिदाचारतश्चापि सम्यगाचारानुपालितादिति भट्टवादिदर्शितानवद्यवर्त्मानुसरणनिपुणनरपतिपरिपाल्यमानवर्णाश्रमाणां शङ्कनीयकृतकायवाग्दुष्टशूद्रव्यभिचारे दत्ते विशिष्टाचारगम्यापि ब्राह्मणत्वादिजातिर्भवति।' –न्यायम० पृ० ४२२। (५) मातापितृब्राह्मण्यज्ञान। (६) "स्त्र्यपराधात्तु दुर्ज्ञानोऽयं सम्बन्ध इति स्वयमेव वक्ष्यति। न च तावन्मात्रेण प्रत्यक्षता हीयते। न हि यद्गिरिशृङ्गमारुह्य गृह्यते तदप्रत्यक्षम्। न च स्त्रीणां क्वचिद् व्यभिचारदर्शनात् सर्वत्रैव कल्पना युक्ता। लोकविरुद्धानुमानासम्भवात्। विशिष्टेन हि प्रयत्नेन महाकुलीनाः परिरक्षन्त्यात्मानम् अनेनैव हेतुना राजभिर्ब्राह्मणैश्च स्वपितृपितामहा

1 ब्राह्मणस्य ब० श्र०। 2 ब्राह्मणस्य ब० श्र०। 3 इतरजाति–आ०। 4 प्रतिभाताऽपि आ०, श्र०। 5–सामग्र्यासद्भा–ब०। 6 इत्यौपदेशि–ब० इत्यापदे–श्र०।

हि प्रसादेन व्याप्त , अत प्रयत्नो निवर्त्तमान व्यभिचार निवर्त्तयति, व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्याऽनिवृत्तिविरोधात् ।

यदि च ब्राह्मणशब्दस्य ब्राह्मण्यजातिरर्थो न स्यात् तदाऽयमनर्थक स्यात्, न चैतद् युक्तम्, एतदुच्चारणानन्तरभाविनोऽर्थप्रत्ययस्य उपलभ्यमानत्वात् । तन्निबन्धनव्यवहारस्य च 'ब्राह्मण भोजय' इत्यादिरूपस्य असन्दिग्धाबाधितस्य सुप्रतीतत्वात् । पांशुपतादिलिङ्गिनामपि ब्राह्मणत्वाभिजात्यनुरूपो नामचिह्नाचारोपदेशादिव्यवहारो दृश्यते, अत सुदृढव्यवहारदर्शनाद् व्यक्तिभ्योऽर्थान्तरभूता प्रत्यक्षत प्रसिद्धा ब्राह्मण्यजाति ।

तथा अनुमानतोऽपि, तथाहि–असति प्रतिबन्धके यो यदाकार प्रत्यय स तदाकारविषयनिमित्तक यथा नीलादिप्रत्यय , असति प्रतिबन्धके भवति च 'ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयम्' इत्यनुगतैकाकार प्रत्यय , तस्मात् पिण्डव्यतिरिक्त-अनुगतैकाकारब्राह्मण्यनिमित्तक इति । यदाकारो हि प्रत्यय विषयेणापि तदाकारेणैव भवितव्यम्, अन्यथा नीलादिप्रत्ययस्य अनीलादिविषयत्वप्रसङ्गात् प्रतिनियतवस्तुव्यवस्थाविलोपानुषङ्ग ।

तथा, ब्राह्मणपदं व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताऽभिधेयसम्बद्धम् पदत्वात् पटादिपदवत् । न चायमसिद्धो हेतु , धर्मिणि निगद्यमानत्वात् । नापि विरुद्ध , विपक्ष एवाऽवृत्ते । नाप्यनैकान्तिक , पक्षसपक्षवद् विपक्षेऽप्यप्रवृत्ते । नापि साधनविकलो दृष्टान्त , पटादिपदेषु पदत्वस्य निगद्यमानत्वात् । नापि साध्यविकल , तेषु व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्धत्वाभावे व्यक्तीनामानन्त्येन अनन्तेनापि कालेन सम्बन्धग्रहणानुपपत्ते ।

तथा वर्णविशेषाध्ययनाचारयज्ञोपवीतादिव्यतिरिक्तनिमित्तनिबन्धन 'ब्राह्मण' इति ज्ञान तन्निमित्तबुद्धिविलक्षणत्वात् गवाश्वादिज्ञानवदिति ।

विचारमर्यादाविस्मरणाय समूहलेख्यानि प्रवर्तितानि । तथा च प्रतिकूलगुणदोषस्मरणात्तदनुरूपा प्रवृत्तिनिवृत्तयो दृश्यन्ते ।"–तन्त्रवा० १।२।२। "स्त्रीत्वस्य व्यभिचारप्रयोजकत्वसूचनार्थोऽनुमाने च नाभाव । न च निर्मूलकत्वेन लोकस्याप्रामाण्यम् प्रयत्नेन रक्षणे योग्यानुपलब्धेर्मूलत्वसम्भवादित्ति दर्शयितुमाह–विशिष्टेन हीति । महाकुलीनानां पुरुषाणां स्त्रीरक्षणमेव आत्मरक्षणम्, जायायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षित इति स्मरणात् । यद्वा दुष्कुलप्रसूतत्वं व्यभिचारशीलत्वे प्रयोजकं न स्त्रीधर्मिति दर्शयितुं महाकुलीनत्वं स्त्रीणामुक्तम् । व्यभिचाराभावनिश्चयमेव अभियुक्तवृद्धव्यवहारेण द्रढयति अनन्तर्येति । व्यभिचाराभावानिश्चय हि निर्मूलत्वात् पितृपितामहादिपरम्परालेख्यस्मरणसमूहैरप्यप्रत्यय स्यादिति भाव । कुलपरीक्षापूर्वकेदानीन्तनपुरुषगतविवाहादिव्यवहारेणापि तमेव द्रढयति तथा चेति ।"–तन्त्रवा० न्यायसु० पृ० १२। "यत्र यावदुपलब्धसामग्री तावत्यां सत्यामपि यासां व्यभिचारो न दृश्यते तासां नास्त्येव व्यभिचार इति लोकप्रमाणकमेतत् । अपि च अप्रमत्तैः स्त्रियो रक्षणीया , तासु नास्त्येव व्यभिचारसम्भावनावकाशो यासु त्वस्ति मा भूत् तदपत्येषु तत्सन्ततिप्रभवत्वनिश्चय । न चैतावता यत्रापि निश्चय सावयस्तत्रापि अनिश्चय इति युक्तमिति ।"–प्रक० पं० पृ० ३१ ।

(१) ब्राह्मणशब्दप्रयोग । (२) शवादिभेदानाम् । (३) ब्राह्मणोऽयमिति प्रत्यय पिण्डव्यतिरिक्तब्राह्मण्यनिबन्धन असति प्रतिबन्धके ब्राह्मणोऽयमित्याकारतया समुत्पद्यमानत्वात् । (४) पटादिपदवत् । (५) पटव्यक्तितो व्यतिरिक्तमेकं निमित्तं पटत्वाख्यम् ।

1–चारं विनि–ब० । 2–तस्य प्रती–ब० । 3 सुदृढ व्यव–श्र० ।

तथा 'ब्राह्मणेन यष्टव्यं ब्राह्मणो भोजयितव्यः' [ ] इत्याद्यागमादपि ब्राह्मण्यजाति प्रसिद्धा। तथा वेदेतिहासपुराणप्रसिद्धा चासौ "आदौ ब्रह्मा मुखतो ब्राह्मणं ससर्ज, बाहुभ्यां क्षत्रियम्, ऊरुभ्यां वैश्यम्, पद्भ्यां शूद्रम्" [ ] इत्यादि वैचसा भूयसा तत्र तत्प्रतिपादकानां श्रवणादिति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'प्रत्यक्षेणैव ब्राह्मण्यं प्रतीते' इत्यादि, तदसमीचीनम्, यतः किं केवलेन्द्रियजनितेन तेन तत्प्रतीयेत, अन्यसहकृतेन्द्रियजनितेन वा? प्रथमपक्षे किं निर्विकल्पकेन, सविकल्पकेन वा तज्जनितेन तेन तत्प्रतीयेत? न तावन्निर्विकल्पकेन, तत्र जात्यादिप्रतिभासाभावात्, भावे वा निर्विकल्पकत्वविरोधः कथमन्यथेदं शोभेत–

संस्कारपरिणामरूप एव ब्राह्मण्यम्, ननु यानिनिबन्धनमिति समर्थनम्–

'अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्। बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्॥
ततः परं पुनर्वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिर्यया। बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता॥"
[मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० ११२ १२०] इति।

नापि सविकल्पकेन, अस्य निर्विकल्पकगृहीतविषये प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। उपपत्तौ वाऽतिप्रसक्तेः। न च विस्फारिताक्षस्य पुरोवर्तिखण्डमुण्डकर्कादिव्यक्तिषु गवाश्वादिजातिवत्

(१) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥'– ऋग्० पुरुष० १२। 'अस्य प्रजापतेः ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषः मुखमासीत् मुखादुत्पन्न इत्यर्थः। योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिविशिष्टः स बाहू कृतः बाहुत्वेन निष्पादितः बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः। तत्तदानीमस्य प्रजापतेर्यद्यावूरू तद्रूपो वैश्यः सम्पन्नः ऊरुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः। तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुषोऽजायत। इयञ्च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिर्यजुःसंहितायां (३१।११) सप्तमकाण्डे 'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' इत्यादौ विस्पष्टमाम्नाता। –सायणभा०। (२) पृ० ७६८ पं० १८। (३) तुलना– तत्र किं निर्विकल्पकात् विकल्पकाद्वा ततस्तत्प्रतिपत्तिः स्यात्। –प्रमेयक० पृ० ४८२। स्या० र० पृ० ९५८। (४) इन्द्रियजनितेन प्रत्यक्षेण। (५) निर्विकल्पके। (६) व्याख्या– 'यस्त्वपि शब्दमसहमानं सर्वमेव ज्ञानं शब्दानुविद्धत्वात् सविकल्पकमेव न निर्विकल्पकमस्तीति मन्यते तं प्रत्याह–अस्तीति। बालानामिव अव्युत्पन्नानामस्माकमपि चक्षुःसन्निपातानन्तरं सविकल्पकात् प्रथममस्ति निर्विकल्पकं प्रतीतिसिद्धमालोचनविज्ञानं शुद्धवस्तुविषयम्, तदभावे हि निर्निमित्तं शब्दस्मरणं स्यात्। अस्मत्प्रत्यक्षं च (न) शब्दानुविद्धो विकल्पः सम्भवतीति। शुद्धवस्तुजमित्येतद्विवृणोति– न विशेषो न सामान्यं तदानीमनुभूयते। तयोराधारभूता तु व्यक्तिरेवावसीयते॥ महासामान्यमन्यस्तु द्रव्यं सदिति चोच्यते। –मी० श्लो० न्यायर०। उद्धृतोऽयम्–'ज्ञानमाद्यं चेन्निर्विकल्पकम्'–तत्त्वस० पं० ३८५। प्रमेयक० पृ० ४८२। प्रमेयर० पं० ७४। स्या० र० पं० ९५८। स्या० म० श्लो० १३। 'ह्यालोचनज्ञानम्'–षड्द० बृह० पं० ११। (७) ततो निर्विकल्पकादुत्तरकालं जात्यादिभिर्विकल्प्य वस्तु यया बुद्ध्या गृह्यते साऽपि प्रत्यक्षमेवेति। –मी० श्लो० न्यायर०। उद्धृतोऽयम्–तत्त्वस० पृ० ३८५। प्रमेयक० पृ० ४८२। स्या० र० ९५८। (८) मनोराज्यादिविकल्पादपि वस्तुसिद्धिप्रसङ्गात्। (९) तुलना– विस्फारिताक्षस्य पुरोवर्तिखण्डमुण्डकर्कादिव्यक्तिषु गवाश्वादिजातिवत् मनुष्यव्यक्तिषु मनुष्यत्वपुंस्त्वाद्यतिरिक्तब्राह्मणस्य कस्यचिदप्रतिभासात्। –स्या० र० पं० ९५८।

1 इति वचनां व०। 2 वचसो तत्र श्र०। 3–वा तत्र–व।

शुक्लत्वादिगुणवद्वा मनुष्यव्यक्तिषु मनुष्यत्वपुंस्त्वाद्यतिरिक्तस्य ब्राह्मण्यस्यैकस्य अखिलस्वव्यक्तिष्वनुगतस्य प्रतिभासोऽस्ति। कथमेव क्वचिद् ब्राह्मणत्वानुरक्तोऽनुगतप्रत्ययः स्यादिति चेत्? सङ्केतवशात्, यथैव हि परस्परविलक्षणेषु गोत्वादिषु एकगोत्वरूपसामान्याभावेऽपि 'गौः गौः' इत्यनुगताकारैकप्रत्ययः तथा अन्योन्यविलक्षणेष्वपि मनुष्यव्यक्तिविशेषेषु 'ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयम्' इत्यनुगताकारैकप्रत्ययो भविष्यति। वस्तुसामर्थ्यप्रभवत्वे तु अगृहीतसङ्केतास्वपि व्यक्तिषु तन्मात्रोपलम्भेनैव अव्यभिचारिगोप्रत्ययवत् स्यात्, न चैवम्। न खलु यथा महिष्यादिसङ्घे गवां गोजातिः वैलक्षण्येन प्रतिभासते स्वसङ्घे च गुणः क्रिया वा, तथा ब्राह्मण्यमपि। नहि हस्तपाद्याकारव्यङ्ग्यमनुष्यत्वाद् व्यतिरिच्यमानपुंस्त्वादिसामान्यवत् ब्राह्मणत्वं वैविक्त्येन जातु प्रतिभासते। अन्यसहकृतेन्द्रियजनितेनापि तेन निर्विकल्पकेन, सविकल्पकेन वा तत् प्रतीयेत? उभयत्र उक्तदोषानुषङ्गः।

किञ्च, इन्द्रियाणां तद्विषयं प्रत्यक्षमुपजनयतां किं तदन्यत् सहकारित्वेन अभिप्रेतम्–ब्राह्मणभूतपितृजन्यत्वम्, पित्रोरविप्लुतत्वोपदेशः, आचारविशेषः, संस्कारविशेषः, वेदाध्ययनम्, यज्ञोपवीतादिकम्, ब्रह्मप्रभवत्वं वा? तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः, यतः पित्रोर्ब्राह्मण्ये सिद्धे तज्जन्यत्वेन पुत्रस्य ब्राह्मण्यं सिद्ध्येत्, तच्चानयोः ब्राह्मणभूतपितृजन्यत्वात् सिद्ध्येत्, तथाभूतपुत्रजनकत्वाद्वा? प्रथमपक्षे अनवस्था। बीजाङ्कुरवदनादित्वात् तत्कार्यकारणप्रवाहस्य अतो नानवस्था दोषाय, इत्यप्ययुक्तम्, यतो बीजाङ्कुरयोः कार्यकारणभावः पूर्वबीजाङ्कुरकार्यकारणभावग्रहणनिरपेक्षः प्रमाणतः प्रतीयते, अत्र तु पूर्वपूर्वब्राह्मण्यप्रतिपत्त्यभावे परापरब्राह्मण्यप्रतिपत्तेः कर्तुमशक्यत्वान्न दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः मनागपि साम्यम्। द्वितीयपक्षे तु अन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि पितृब्राह्मण्ये ब्राह्मणभूतपितृजन्यत्वेन पुत्रब्राह्मण्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ च ब्राह्मणभूतपुत्रजनकत्वात् पितृब्राह्मण्यसिद्धिरिति।

---

(१) वस्तुमात्रोपलम्भेनैव। (२) ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयमिति प्रत्ययः। (३) मनुष्यत्वं हि स्त्रीषु पुरुषेषु च व्याप्तम्, पुंस्त्वं तु पुरुषमात्र एव। (४) प्रत्यक्षेण। (५) ब्राह्मण्यम्। (६) "ननु किमिदमिन्द्रियसहकारित्वेनाभिप्रेतम्–ब्राह्मणभूतस्वपितृजन्यत्वम्, पितृगोचरोऽविप्लुतत्वोपदेशः, आचारविशेषः, संस्कारविशेषः, वेदाध्ययनम्, यज्ञोपवीतादिकम्, ब्रह्मप्रभवत्वं वा?"–स्या० र० पृ० ९५८। (७) तुलना–"यत् पित्रादिब्राह्मण्यज्ञानं प्रमाणमप्रमाणं वा?"–प्रमेयक० पृ० ४८३। (८) "तच्चानयोः ब्राह्मणभूतपितृजन्यत्वात् सिद्ध्येत् तथाभूतपुत्रजनकत्वाद्वा?"–स्या० र० पृ० ९५९।

---

1 मनुष्यपुंस्त्वा–आ०, ब०। 2–त्वाद व्यति–श्र०। 3 ब्राह्मणस्य–आ०, श्र०। 4–गत प्रत्य–ब०। 5–व्यक्तिषु मनुष्यत्वपुंस्त्वाव्यतिरिक्तस्य ब्राह्मणोऽयं श्र०। 6–चारी गोप्रत्य–आ०, ब०। 7 महिष्यादि–श्र०। 8 स्वस्वसंघे ब०। 9–त्वाद्यतिरि–ब०, आ०। 10 जाति प्रति–श्र०। 11–जन्मत्वं ब०। 12 तत्राद्यप–ब०। 13 ब्राह्मण्यभूत–श्र०। 14–ह्मण्याभावेपरा–श्र०। 15 पुत्रब्राह्मण्यसिद्धिः तत्सिद्धौ ब्राह्मण्यसिद्धिः तत्सिद्धौ च ब्राह्मण–आ०।

'अविप्लुतेन ब्राह्मणेन अविप्लुताया ब्राह्मण्यामुत्पन्नो ब्राह्मण '[1] इत्यविप्लुतमातापितृ-पदेशस्तत्सहकारी, इत्यपि श्रद्धामात्रम्, प्रमाणतोऽप्रतिपन्नेऽर्थे वास्तवोपदेशासंभवात्। येन हि कुतश्चित् प्रमाणात् प्रतीयते न तत्रोपदेशो वास्तवः यथा सकलशून्यतायाम्, कुतश्चि-दपि प्रमाणान्न प्रतीयते च भवत्कल्पितं ब्राह्मण्यमिति।[2] अथ प्रत्यक्षत एव ब्राह्मण्यं प्रतीत्य यथोक्तोपदेशो विधीयते, तदसत्; परस्पराश्रयप्रसङ्गात्–सिद्धे हि ब्राह्मण्यप्रत्यक्षत्वे प्रमाणभूतयथोक्तोपदेशसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तथाभूतोपदेशसहकृतेन इन्द्रियेण ब्राह्मण्य-प्रत्यक्षतासिद्धिरिति।[3]

अविप्लुतत्वञ्च विवक्षितपित्रपेक्षया, अनादिकालपित्रप्रवाहापेक्षया वा अभिप्रेतम्?[4] यदि विवक्षितपित्रपेक्षया, तत्रापि अनयोः तज्जन्मनि अविप्लुतत्वमभिप्रेतम्, अनादि-काले वा? तज्जन्मनि चेत्; केन तत्र तयोः प्रतीयेत–पुत्रेण, अन्यैर्वा? न तावत् पुत्रेण, स्वजन्मकालेऽपि तस्य तद्विवेचनासामर्थ्यात्। नाप्यन्यैः, तैर्हि तत् प्रत्यक्षतः प्रतीयेत, अनुमानात्, आगमाद्वा? न तावत् प्रत्यक्षतः, 'अयमेतस्मादेव एतस्यामुत्पन्नः' इत्येवंरूपस्यार्थस्य अर्वाग्दृशा प्रत्यक्षीकर्तुमशक्यत्वात्। नाप्यनुमानात्, प्रत्यक्षाविषये भवता अनुमानाऽनभ्युपगमात्। लिङ्गाच्च अनुमानमुदयमासादयति। न च पित्रविप्लु-तत्वे किञ्चिल्लिङ्गमस्ति। तत्र हि लिङ्गम् पित्रोः संवृताकारादिविशेषः, अपत्येष्वविल-क्षणता वा? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः, दुश्चारिणाम् अतीव संवृताकारदर्शनात्। द्वितीयपक्षोऽ-प्यपेशलः, यतो यदि विप्लुतेतरपितृप्रभवाऽपत्येषु विलक्षणाकारता सिद्ध्येत् तदा अवि-

(१) तुलना– न खलु द्विजातिभावः प्रमाणगोचरचारी। स हि जातियोगलक्षणो योनसम्बन्ध क्रियासामर्थ्यादियोगो वा? परोपदेशप्रामाण्यं प्रत्यक्षार्थे न युक्तिमत्। उपदेशो हि लोकानामनु-पायानि प्रवर्तते। –प्रमाणवार्तिकाल० पृ० २२। तथोपदेशसहायाध्यक्षगम्यं तत् अध्यक्षविषय उपदे-शापेक्षायोगात्। तद्योगे वा उपदेशस्यैव केवलस्य व्यापार इति उपदेशमात्रव्यङ्ग्यमेव। –सन्मति० टी० पृ० १९७। (२) ब्राह्मण्ये नोपदेशो वास्तवः प्रमाणतोऽप्रतीयमानत्वात्। (३) 'किञ्च, ब्राह्म-ण्यजातेः प्रत्यक्षतासिद्धौ यथोक्तोपदेशस्य प्रत्यक्षहेतुतासिद्धिः तत्सिद्धौ च तत्प्रत्यक्षतासिद्धिरित्यन्यो-न्याश्रयः। –प्रमेयक० पृ० ४८३। स्या० र० पृ० ९५९। (४) तुलना–'शुद्धिरन्वद्वयीशुद्धौ पित्रोः पित्रन्वयैकता। तदानन्त्यानुमानेऽपि जातिरस्ति न वा। कामिनीजनससर्गेन न सङ्ख्यास्तपातक। –न्यायम० १७। ४०–४१। 'अविप्लुतत्वञ्च विवक्षितपित्रपेक्षया अनादिकालपित्रप्रवाहापेक्षया वाऽ-भिप्रेतम्? यदि विवक्षितपित्रपेक्षया तत्राप्यनयोस्तज्जन्मन्यविप्लुतत्वमभिमतमनादिकाले वा? तज्जन्मनि चेत्, तर्हि केन तत्र तयोः प्रतीयेत पुत्रेण अन्यैर्वा?'–स्या० र० पृ० ९५९। (५) विवक्षितपित्रपेक्षया तज्जन्मन्यविप्लुतत्वम्। (६) न च पित्रोरविप्लुतत्वे किञ्चिल्लिङ्गमस्ति, तद्धि (हि) संवृताकाराविशेषः अपत्येष्वविलक्षणता वा? –स्या० र० पृ० ९५९। (७) तुलना–नच विप्लुतेतरपित्रपत्येषु वैलक्षण्यं लक्ष्यते। न खलु वडवायां गर्दभाश्वप्रभवापत्येष्विव ब्राह्मण्यां ब्राह्मणशूद्रप्रभवापत्येष्वपि वैलक्षण्यं लक्ष्यते। –प्रमेयक० पृ० ४८३। स्या० र० पृ० ९५९। 'न च जात्यन्तरस्थेन पुरुषेण स्त्रिया क्वचित्। क्रियते गर्भसंभूतिर्विप्रादीनां तु जायते॥ अश्वायां रासभेनास्ति संभवोऽस्येति चेन्न स। नितान्तमन्यजातिस्थशफादितनुसाम्यतः॥ यदि वा

1 तत्रापविप्लुत–श्र०। 2 पितृविप्लु–आ०, ब०। 3–पितृभवा–ब०।

लक्षणाकाराऽपत्योपलम्भात् पित्रोरविप्लुतत्वं निश्चीयते, न चासौ[1] सिद्धा । न खलु वडवायां गर्दभाश्वप्रभवाऽपत्येष्विव ब्राह्मण्यां ब्राह्मणशूद्रप्रभवापत्येष्वपि वैलक्षण्यं स्वप्नेऽपि प्रतीयते । आगमतोऽपि अपौरुषेयात्, पौरुषेयाद्वा तयोरविप्लुतत्वप्रतिपत्तिः स्यात् ? न तावदपौरुषेयात्, तत्प्रतिपादकस्य अपौरुषेयस्य आगमस्यैवाऽसम्भवात् । पौरुषेयोऽप्यागमः तैत्प्रणेत्रा प्रमाणान्तरेणानयोरविप्लुतत्वे प्रतिपन्ने सति प्रवर्त्तमानः प्रमाणतामश्नुते, 'न तैत्प्रतिपत्तिः कुतश्चिदस्ति' इत्युक्तम् । तन्न तज्जन्मनि अनयोरविप्लुतत्वं कुतश्चित् प्रत्येतुं शक्यम् ।

एतेन अनादिकाले तैयोस्तत्प्रतिपत्तिः प्रत्याख्याता, ययोर्हि तज्जन्मन्यप्यविप्लुतत्वं प्रत्येतुं न शक्यते तयोः अनादिकाले तत् प्रतीयते इति महच्चित्रम्[1]

एतेन अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया अविप्लुतत्वप्रतिज्ञा प्रतिव्यूढा ।

किञ्च, सैदैव अबलानां कामातुरतया इह जन्मन्यपि व्यभिचारोपलम्भात् अनादौ काले ताः कदा किं कुर्वन्तीति ब्रह्मणापि ज्ञातुमशक्यम् । तथा च 'व्यभिचारो हि प्रवादेन स्यात्' इत्याद्ययुक्तम्, अत्यन्तप्रच्छन्नकामुकानां प्रवादाभावेऽपि व्यभिचारसम्भवात् तस्य तेन व्याप्त्यनुपपत्तेः । अतः पित्रोरविप्लुतत्वस्य कुतश्चिदप्रसिद्धेः न तदुपदेशो ब्राह्मण्यप्रत्यक्षताप्रादुर्भावे चक्षुषः सहकारित्वं प्रतिपद्यते ।

नापि आचारविशेषः, स हि ब्राह्मणस्याऽसाधारणो याजनाऽध्यापनप्रतिग्रह-

---

तद्वन्नैव स्याद् द्वयोर्विसदृशः सुतः । नात्र दृष्टं तथा तस्माद्गुणैर्वर्णव्यवस्थितिः ॥"–पद्मपु० ११।१९६-९८। "वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात् । ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात् ॥ नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत् । आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्प्यते ॥"–उत्तरपु० ७४।४९१-९२ ।

(१) विप्लुतेतरप्रभवापत्येषु विलक्षणाकारता । (२) तुलना–'न च तदवच किञ्चित् द्विजातित्वप्रसाधकम् । व्यक्ते सामान्यवचनमनुक्तसममेव तत् ॥"–प्रमाणवार्तिकालं० पृ० २५। (३) आगमप्रतिपादकेन । (४) अविप्लुतत्वप्रतिपत्तिः । (५) पित्रोरविप्लुतत्वप्रतीतिः । (६) तुलना–"यदाह–अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे । कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना ॥"–नयच० टी० १७।४०। "अनादिगोत्रपद्धत्यामस्यां न स्खलनं स्त्रियाः । इति ज्ञानं कथंनाम कामार्ता हि सदा स्त्रियः ॥ ब्राह्मणत्वं स्थिते एव तद्गोत्रत्वस्य सम्भवे । तदा स्थिते क्व गोत्रं तेऽयमन्धपरम्परा ॥' –प्रमाणवार्तिकालं० पृ० २५। "अनादिश्च महान् कालो योषितां चातिचापलम् । तद् भवत्यपि निश्चेतुं ब्राह्मणत्वं न शक्यते ॥ अतीन्द्रियपदार्थज्ञो न हि कश्चित् समस्ति वः । स्वदन्वयविशुद्धिं च नित्यो वेदोऽपि नोक्तवान् ॥"–तत्त्वसं० का० ३५७९-८० । "प्रायेण प्रमदानां कामातुरतया इहजन्मन्यपि व्यभिचारोपलम्भात्कुतो योनिनिबन्धनो ब्राह्मण्यनिश्चयः ।'–प्रमेयक० पृ० ४८२। "अनादिगोत्रपद्धतौ च कामातुरत्वात् सर्वदा प्रमदानां कस्याश्चिद व्यभिचारसम्भवात् कुतो योनिनिबन्धनब्राह्मण्यनिश्चयात् संस्कारस्य अध्ययनादेश्च अविपर्यस्तत्वनिश्चयः ।"–सन्मति० टी० पृ० ६९८। स्या० र० पृ० ९६० । 'न विप्राविप्रयोरस्ति सर्वदा शुद्धशीलता । कालेनानादिना गोत्रे स्खलनं क्व न जायते ॥'–धर्मप० १७।२८। (७) 'अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥"–मनुस्मृ० १।८८।

1–इत्यमषो ब० । 2 भजते तत्र ब० । 3 व्याप्त्य इ–श्र० । 1–प्रवृत्तस्याप्रकाशानां ब० ।

ब्रह्मादि, स च तत्प्रत्यक्षतानिमित्तं[1] भवति अव्याप्तेरतिव्याप्तेश्चानुपपत्तेः, याजनादि-रहितेषु हि ब्राह्मणेष्वपि तद्व्यवहाराभावप्रसङ्गादव्याप्तिः, शूद्रेष्वपि अविकलस्य याजना-द्याचारस्योपलब्धितो ब्राह्मण्यानुषङ्गाच्चातिव्याप्तिः । अथ मिथ्याऽसौ आचारविशेष-स्तत्र, अन्यत्र पुनः सत्यः ? ब्राह्मण्यसिद्धेश्चेत्; अन्योन्याश्रयः – सिद्धे हि आचारसत्यत्वे ब्राह्मण्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ च आचारसत्यत्वसिद्धिरिति ।

किञ्च, आचाराद् ब्राह्मण्यसिद्ध्यभ्युपगमे व्रतबन्धात् पूर्वमब्राह्मण्यप्रसङ्गः । तन्न आचारोऽपि तत्प्रत्यक्षताप्रत्यङ्गम् ।

एतेन संस्कारविशेषस्यापि तदङ्गता प्रत्याख्याता, अव्याप्त्यतिव्याप्त्योरत्राप्य-विशेषात् । तत्र अव्याप्तिः – संस्कारविशेषात् पूर्वं ब्राह्मणस्यापि अब्राह्मण्यप्रसक्तेः स्यात् । अतिव्याप्तिः पुनः अब्राह्मणस्यापि तथाविधसंस्कृतस्य ब्राह्मणत्वापत्तेः स्यादिति । एतेन वेदाध्ययनस्य यज्ञोपवीतादेश्च तदङ्गता प्रतिव्यूढा । ब्रह्मप्रभवत्वस्य च तदङ्गत्वे अतिप्रसङ्ग एव, सकलप्राणिनां तत्प्रभवतया ब्राह्मण्यप्रसङ्गात् ।

किञ्च, ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति, न वा ? यदि नास्ति, कथमतो ब्राह्मणोत्पत्तिः ? न हि अमनुष्यात् मनुष्योत्पत्तिः प्रतीता । अथ अस्ति, किं सर्वत्र, मुखप्रदेश एव वा ? यदि सर्वत्र, स एव प्राणिनां भेदाभावानुषङ्गः । अथ मुखप्रदेश एव, तदाऽन्यत्रास्य शूद्रत्वानुषङ्गात् न विप्राणां तत्पादादयो वन्द्याः स्युः ।

(१) तुलना– अथाध्ययनादिना क्रियाविशेषेण गम्यते नोपदेशमात्रात्, तदप्यसत्, द्विजातित्वे क्रिया साध्या न क्रियातो द्विजातिता । वचनादपि नवास्या प्रतीतिरविरोधिनी ॥ –प्रमाणवार्तिकाल० पृ० २३। 'जातयर्मायो ये च प्रसिद्धास्त तदन्यवन । आचारा साधुनास्ते हि शूद्रेष्वपि भाविन ॥ –तत्त्वसं० का० ३५७८। अत एवाध्ययन क्रियाविशेषो वा तत्सहायता न प्रतिपद्यते । दृश्यते हि शूद्रोऽपि स्वजातिविलोपाद्देशान्तरे ब्राह्मणो भूत्वा वेदाध्ययनं तत्प्रणीताश्च क्रिया कुर्वाण । –प्रमेयक० पृ० ४८५। 'अव्याप्तेरतिव्याप्तेश्चानुपपत्तेः' –स्या० र० पृ० ९६० । (२) शूद्रादिषु । (३) ब्राह्मण्यप्रत्यक्षताम् । (४) तुलना– 'एतेन संस्कारविशेषस्य वेदाध्ययनस्य यज्ञोपवीतादेश्च सहकारिता प्रत्युक्ता, अव्याप्त्यतिव्याप्त्योरत्राप्यविशेषात् ।''–स्या० र० पृ० ९६१। (५) ब्राह्मण्यप्रत्यक्षतानिबन्धनत्व । (६) तुलना–' ब्रह्मणोऽपत्यतामात्रात् ब्राह्मण्यमिति प्रयुज्यते । न कश्चिन्न ब्रह्मतनोरुत्पन्न इव विचिन्त्यते ॥ अन्तरा जातिभेदश्चर्मनिमित्त कथ भवत । अन्तराले क्रियाभ्रंशात् गोत्रणाशो न कस्यचित ॥ अथ द्विजातिगोत्राणामनादिर्भेद इष्यते । ज्ञायता स कथमाम प्रमाणस्याप्रवृत्तित ॥ क्रिया तदपरिज्ञानात् क्रियेव प्रसज्यते । अविच्छिन्नस्य गोत्रस्य प्रत्येतु शक्यते न च ॥ सूतमागधचाण्डाला कथ गर्भविनाऽन्यथा । ज्ञायन्त एव त तज्ज्ञैरिति चेन्नियमो न हि ॥ –प्रमाणवार्तिकाल० पृ० २४ । (७) ब्रह्मप्रभवतया । (८) तुलना– किञ्च ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति वा न वा ? नास्ति चेत कथमतो ब्राह्मणोत्पत्ति ? अस्ति चेत्, किं सर्वत्र मुखप्रदेश एव वा ? –प्रमेयक० पृ० ४८४ । स्या० र० ९६१। (९) अब्राह्मणाद् ब्रह्मण । (१०) सर्वत्र शरीरावयवेषु मुखादिपादान्तेषु । (११) पादादिषु । (१२) ब्रह्मण ।

1 आचारस्तत्र ब० आ० । 2–व्याप्त्योस्तत्रा–ब० । 3–स्वानुपपत्ते ब० । 4–तत्त्वसाधनत्व गतत्वे ब० । 5 –त्ति प्रतीयते ब० –त्तिता प्रतीता श्र० ।

किञ्च, ब्राह्मण एव तन्मुखाज्जायते, तन्मुखादेव वासौ जायते? विकल्पद्वयेपि अन्योन्याश्रयः – सिद्धे हि ब्राह्मणत्वे तस्यैव तन्मुखाज्जन्मसिद्धिः, तत्सिद्धौ च ब्राह्मणत्वसिद्धिरिति। न च ब्रह्मप्रभवत्वं विशेषणं ब्राह्मण्यप्रत्यक्षताकाले केनचित् प्रतीयते। न च अप्रतिपन्नं विशेषणं विशेष्ये प्रतिपत्तिमाधातुं समर्थमतिप्रसङ्गात्। यद् विशेषणं तत् प्रतिपन्नमेव विशेष्ये प्रतिपत्तिमाधत्ते यथा दण्डादि, विशेषणञ्च ब्राह्मण्यप्रतिपत्तौ ब्रह्मप्रभवत्वमिति।

एतेन 'असति प्रतिबन्धके यो यदाकारः प्रत्ययः' इत्याद्यनुमानं[3] ब्राह्मण्यसद्भावप्रसाधकं प्रत्याख्यातम्, अनेकधा प्रतिबन्धकसद्भावप्रतिपादनात्।

यदपि–'ब्राह्मणपदम्' इत्याद्यनुमानमुक्तम्, तदप्ययुक्तम्, पक्षस्य अध्यक्षबाधितत्वात्, कठकलापादिब्राह्मणव्यक्तिषु हि ब्राह्मणपदं व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बन्धशून्यमेव अध्यक्षतः प्रतीयते अश्रावणत्वविविक्तशब्दवत्। अप्रसिद्धविशेषणश्च पक्षः, न खलु व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्धत्वं मीमांसकस्य अस्माकं वा क्वापि प्रसिद्धम् व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्योभाभ्यामभ्युपगमात्। हेतुश्चानैकान्तिकः, सत्ताऽऽकाशकालपदे अद्वैतादिपदे वा व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्धत्वाभावेऽपि पदत्वस्य भावात्। अत्रापि तत्सम्बद्धत्वकल्पनायां सामान्यस्य निःसामान्यत्वमनेकव्यक्तिवृत्तित्वञ्च व्याहन्येत। अद्वैतादिशून्यवादेश्च सामान्यवत्त्वेन परमार्थसत्त्वानुषङ्गात् कुतोऽप्रतिपक्षा पक्षसिद्धिश्च स्यात्? दृष्टान्तोऽपि साध्यविकलः, पटादिपदे व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्तत्वासिद्धेः। नित्यैकरूपसामान्यमन्तरेणापि अनन्तानां वाच्यवाचकव्यक्तीनां सम्बन्धो यथा सिद्ध्यति तथा नित्यसम्बन्धनिषेधावसरे प्ररूपितम्[11]।

एतेन वर्णविशेषेत्याद्यनुमानं[12] प्रत्युक्तम्, उक्तदोषाणामत्राप्यविशेषात्। नगरा[13]-

(१) तुलना–"किञ्च, ब्राह्मण एव तन्मुखाज्जायते तन्मुखादेवासौ जायते?"–प्रमेयक० पृ० ४८४। (२) ब्राह्मणस्यैव। (३) पृ० ७६९ पं० ८। (४) पृ० ७६९ पं० १३। (५) तुलना–'यतो यदि व्यञ्जकपाठादिभ्यो व्यतिरिक्तं निमित्तमात्रमस्य ज्ञानस्य विषयत्वेन साध्यते तदा सिद्धसाध्यता, तत्समुदायस्य समुदायिभ्यः कथञ्चिदव्यतिरिक्तस्य तद्विषयत्वेन स्वीकारात्। अथ प्रतिव्यक्ति परिसमाप्तमेकान्तव्यतिरिक्तमभिधीयते, तदा पक्षस्य प्रतिपक्षबाधितत्वम्, कठकलापादिब्राह्मणव्यक्तिषु हि ब्राह्मणत्वं व्यञ्जकपाठादिव्यतिरिक्तसामान्यनिमित्तरहितमेवाध्यक्षतः प्रतीयते अश्रावणत्वविविक्तशब्दवत्।'–स्या० र० पृ० ९६१। प्रमेयक० पृ० ४८५। (६) जनानाम्। (७) व्यक्तिभ्यो कथञ्चिद् भिन्नाभिन्नस्य। (८) मीमांसकजैनाभ्याम्। (९) व्यक्तिभ्यो भिन्नानां सत्तात्व-आकाशत्व-कालत्व अद्वैतवादीनां सम्बन्धस्वीकारे। (१०) अद्वैतस्य सकलशून्यतायाश्च सिद्धिप्रसङ्गात्। (११) पृ० ५४६। (१२) पृ० ७६९ पं० १८। (१३) तुलना–"नगराभिधानवत् व्यतिरिक्तनिबन्धनाभावेऽपि तथाभूताभिधानस्य कथञ्चिदुपपत्तेः। न हि नगराभिधानेऽपि व्यतिरिक्तं द्रव्यान्तरमस्ति यदेवाकारणतानिबन्धनं भवेत्, काष्ठादीनामेव प्रत्यासत्त्या कयाचित् प्रासादादिव्यवहारनिबन्धनानां नगराभिव्यवहारनिबन्धनत्वोपपत्तेः, अन्यथा षण्णगरीत्यादिष्वपि वस्त्वन्तरकल्पनाप्रसक्तेः।'–सन्मति० टी० पृ० ६९७। प्रमेयक० पृ० ४८५। स्या० र० पृ० ९६१।

1–चैव वासौ आ०, ब०। 2–सिद्धे श्र०। 3 अप्रसिद्ध–श्र०। 4 व्यतिरिक्तस्य सामान्यस्योभाभ्यु–आ०। 5–भाभ्यामुप–श्र०। 6 सामान्यनि मा–आ०।

देशान्तरेण अनेकान्तश्च, तत्र व्यक्तिव्यतिरिक्तनिमित्तनिबन्धनत्वाभावेऽपि वर्णविशेषादिनिमित्तबुद्धिविलक्षणत्वस्योपलम्भात्। न खलु 'नगरं सेना वनम्' इत्यादिज्ञाने व्यक्तिव्यतिरिक्तम् अनुवृत्तप्रत्ययनिबन्धनं किञ्चिदस्ति। तद्धि द्रव्यम्, सत्ता, प्रत्यासत्तिविशेषो वा स्यात्? प्रथमपक्षे नगरादिकमेव तत्र द्रव्यम्, अन्यद्वा? न तावत् नगरादिकमेव, तस्य द्रव्यत्वाऽसंभवात्। नहि नगरं सेनादिकं वा द्रव्यं संभवति, गृहादिभिरसंयुक्तैर्विजातीयैश्च तस्य आरम्भाऽसंभवात्। कतिपयगृहाणामस्ति संयोग इति चेत्; न, तेषां स्वयं संयोगरूपतया संयोगानाश्रयत्वात्। गुणरूपतया च तेषां द्रव्यानारम्भकत्वम्, गुणैर्द्रव्यारम्भाऽसंभवात्।

'सत्ता नगरादिकम्' इत्यत्रापि असौ गृहादिविशेषिता, केवला वा तत्प्रत्ययमुत्पादयेत्? न तावत् केवला, गृहादिविविक्तेऽपि प्रदेशे तत्प्रत्ययप्रसङ्गात्। अथ गृहादिविशेषिता; न, कूटस्थनित्यायां विशेष्यत्वासंभवात्, अकिञ्चित्करस्य अविशेषणत्वाच्च। किञ्चित्करत्वे वा तस्याः कूटस्थताक्षतिः। कथञ्चैव 'पण्णगरी' इत्यत्र समुदायोपपत्तिः सत्ताया एकरूपतया समुदायतानुपपत्तेः?

प्रत्यासत्तिविशेषोऽपि कस्य केन सह नगरादिव्यपदेशमर्हेत्? गृहादीनां गृहान्तरैः इति चेत्; कः पुनरसौ-तेषां तैः सह समवायः, संयोगो वा? न तावत्समवायः, [11]तेषां युतसिद्धतया अनाधार्याधारभूततया च तदसंभवात्। नापि संयोगः, गृहादीनां संयोगरूपतया संयोगानाश्रयत्वात्। न च नगरादिशब्दात् संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वलक्षणे प्रत्यासत्तिविशेषे एकस्मिन् कस्यचित् प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तयोऽनुभूयन्ते, किन्तु गृहाद्यनेकत्र। नगरशब्दाद्धि गृहादौ, सेनाशब्दाद् अश्वादौ, वनशब्दाच्च धवाद्यनेकत्रार्थे तौ प्रतीयन्ते इति। यत्र हि शब्दादुच्चरितात् प्रतिपत्त्यादयः प्रतीयन्ते स शब्दस्यार्थः तथा वृद्धव्यवहारात्। 'देशादिप्रत्यासत्तिविशिष्टा गृहादयो नगरादिव्यपदेशभाजः' इत्यप्यनेनाऽपास्तम्, देशादौ हि प्रत्यासत्तिः-तेषां समवायः, संयोगो वा? तत्र च

(१) गृहाणाम्। (२) संयोगस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात्। (३) गृहाणाम्। (४) 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्' (वैशे० सू० १।१।१०) इति नियमात्। (५) सत्ता। (६) नगरमिति प्रत्ययम्। (७) सत्तात्। (८) सत्तायाः। (९) गृहादेः। (१०) यदि गृहाद्यः सत्तायाः किञ्चिदतिशयमुत्पादयन्ति तदा। (११) सत्तायाः नित्यैकरूपताव्याघातः। (१२) गृहादीनाम्। (१३) एकेन गृहेण संयुक्तमपरं गृहं तेन चापरमिति संयुक्तसंयोगाद् यदल्पीयस्त्वम् अल्पदेशावगाहित्वं तत्र। (१४) पुरुषस्य। (१५) प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तयः। (१६) तुलना- सेनाशब्दादनेकत्र हस्त्यादावर्थे प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तिसिद्धेः वनशब्दाच्च धवखदिरपलाशाद्यनेकत्रार्थे। यत्र हि शब्दात् प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तयः समधिगम्यन्ते स शब्दस्यार्थः प्रसिद्धस्तथा वृद्धव्यवहारात्। न च सेनावनादिशब्दात् प्रत्यासत्तिविशेषे प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तयोऽनुभूयन्ते यतः स तस्यार्थः स्यात्। -आप्तप० का० ४।

1-निबन्धनाभावेपि आ० ब०। 2-स्यात् वि-ब०। 3-णप्रत्यासत्ति-ब०। 4-तात् सप्रतिपत्त्या-आ०।

उक्तदोषोऽविशिष्ट । [1]भवतामपि कथमेव नगरादिव्यपदेश स्यात् ? इत्यप्यचोद्यम्, देशप्रत्यासत्तिविशिष्टे प्रासादादौ [2]तद्व्यपदेशस्य अस्माभिरभ्युपगमात् । देशप्रत्यासत्तिश्चात्र संयोगलक्षणा प्रतिपत्तव्या, प्रासादादेरवयवित्वेन [3]अस्माकमिष्टत्वात् । विजातीयै काष्ठेष्टिकादिभि [4]तस्य आरम्भासंभवात् कथमवयवित्वम् ? इत्यप्यनुपपन्नम्, विजातीयैरपि पृथिव्यादिभि शरीराद्यवयविन आरम्भोपलम्भात् । सजातीयानाम् आरम्भनियमस्य षट्पदार्थपरीक्षायां पृथिव्यादीनां तत्त्वान्तरत्वनिषेधावसरे निषिद्धत्वात् । ततो [6]भवन्मते नगरादिज्ञाने व्यक्तिव्यतिरिक्तनिमित्तनिबन्धनत्वाभावात्, सिद्धमनेनानैकान्तिकत्वम् । न चान्यत् किञ्चिद् ब्राह्मण्ये लिङ्गमस्ति यत तत्सिद्धि स्यात् ।

अस्तु वा किञ्चित्तत्र लिङ्गम्, तथापि अगृहीतप्रतिबन्ध तत् न तत्प्रतिपत्तेरङ्गम्, अतिप्रसङ्गात् । प्रतिबन्धग्रहश्च अप्रतिपन्ने ब्राह्मण्ये न संभवति, अतिप्रसङ्गात् । तत्प्रतिपत्तिश्च प्रत्यक्षत प्रतिषिद्धा । अनुमानत तत्प्रतिपत्तौ चक्रकप्रसङ्ग –सिद्धे हि अनुमानतो ब्राह्मण्ये तेन लिङ्गस्य प्रतिबन्धसिद्धि, तत्सिद्धौ च अनुमानसिद्धि, ततश्च ब्राह्मण्यसिद्धिरिति ।

[10]आगमतोपि अपौरुषेयात्, पौरुषेयाद्वा तत्प्रतिपत्ति स्यात् ? न तावदपौरुषेयात्, तस्य [11]कार्ये एवार्थे प्रामाण्यात्, ब्राह्मणत्वस्य च नित्यतयेष्टितोऽकार्यत्वात् । नापि पौरुषेयात् [12]तेन तत्प्रतिपत्ति, तस्य [13]प्रमाणान्तरसापेक्षत्वात्, तस्य चात्राऽसंभवात् ।

नाप्युपमानात् तत्प्रतिपत्ति, तस्य सादृश्यालम्बनत्वात् । अप्रतिपन्ने च प्रमाणान्तरेण ब्राह्मण्ये कथं तेन सादृश्य कस्यचित् प्रतीयेत यत [14]तद्दर्शनाद् ब्राह्मण्य प्रतीयेत ?

नाप्यर्थापत्तेस्तत्प्रतिपत्ति, ब्राह्मण्यजातिव्यतिरेकेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणषट्कविज्ञातस्य कस्यचिदप्यर्थस्य अप्रतीयमानत्वात् । अत सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकगोचरातिक्रान्ततया अभावप्रमाणकवलीकृतत्वात् नभोऽम्भोजवत् नास्ति ब्राह्मण्यम् । अतो ब्राह्मण्यजाते सत्त्वस्यैवाऽसंभवात् 'प्रथमदर्शने प्रतिभातापि जाति व्यञ्जकभेदाग्रहणान्नोल्लिखति' इत्यादि[15] प्रत्याख्यातम् ।

(१) जैनानाम् । (२) नगरादिव्यपदेशस्य । "प्रासादतोरणपुरुषादीनां समुदायो नगरम् ।" –प्रमाणवा०स्ववृ० टी० पृ० १२७ । (३) जैनानाम । (४) अवयविद्रव्यस्य । (५)पृ०२३९ । (६) नैयायिकादिमत । (७) ब्राह्मण्ये । (८)लिङ्गम् । (९) ब्राह्मण्यप्रतीति । (१०) "नाप्यागमत, यतोऽसौ पौरुषेयो वा स्यादपौरुषेय"–स्या० र० पृ० ९६२ । सन्मति० टी० पृ० ६९८ । (११) 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्–क्रिया कथमनुष्ठेयेति ता वदितु समाम्नातारो वाक्यानि समामनन्ति ।" –जैमिनिसू० शाबरभा० १।२।१ । (१२)आगमात् । (१३) वक्तु प्रतिपाद्यविषयज्ञानस्य प्रमाणत्वे सिद्ध एव तत्प्रणीतागमस्य प्रामाण्यम । (१४) ब्राह्मण्यसदृशवस्तुदर्शनात । (१५) पृ०७६८ प० ६ ।

1–विशिष्टप्रासा–श्र० । 2–वतनिबन्ध–आ० । 3 'तस्य चात्रासंभवात्' नास्ति आ० ।

यदप्युक्तम्–'द्रव्यपरीक्षकाणाम्' इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्; यतो न पीततामात्रं सुवर्णम्, विचित्ररेखारचितपरिणतिमात्रं वा द्रव्यम्, वृत्तसंस्थानमात्रं वा मणिः, अतिप्रसङ्गात्। किं तर्हि? तद्विशेषः। स च न प्रत्यक्षः, दाहच्छेदादेः तुषाम्बुप्रक्षालनादेः परप्रश्नादेश्च वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तस्यापि तत्प्रतिपत्तौ सहायत्वे तज्जातौ किञ्चित्तथाविधं सहायं वाच्यम्। तच्च ब्राह्मणभूतपितृजन्यत्वादिकम्, आचारविशेषो वा स्यात्? सर्वमेतत् प्रागेव कृतोत्तरत्वात् तत्प्रतिपत्तौ सहायतां प्रतिपद्यते। अतोऽयुक्तमुक्तम्–'न च सामग्र्यभावाद् यन्न प्रतिभासते तन्नास्ति' इत्यादि, तत्प्रतिभाससामग्र्याः प्रागेव अशेषविशेषतो निरस्तत्वात्।

ननु ब्राह्मणत्वादिसामान्यानभ्युपगमे कथं भवतां वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निबन्धनो वा तपोदानादिव्यवहारः स्यात्? इत्यप्यचोद्यम्, क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थाया तद्व्यवहारस्य च उपपत्तेः। तन्न भवत्कल्पितं नित्यादिस्वभावं ब्राह्मण्यं कुतश्चिदपि प्रमाणात् प्रसिद्ध्यतीति क्रियाविशेषनिबन्धन एवायं ब्राह्म-

(१) पृ० ७६८ पं० ७। (२) तुलना– "काञ्चनाद्युपलम्भस्य हि यत्रासत्यताशङ्का तत्र प्रत्यक्षानुमानाभ्यां निवर्तते नच जात्याद्युपलम्भस्यासत्यताशङ्कायां प्रत्यक्षात् सत्यता जातिस्वरूपग्रहणाकारात्। सुवर्णादौ हि रूपविशेषसम्भावात् एवम्भूतमेव सुवर्णं भवतीति व्यवहारस्य परिसमाप्तेर्दृष्टस्य न काचित्क्षतिः अत्र तु पुनरेवंविधमेव ब्राह्मण्यमिति न परप्रसारणमात्रं शरणम्।'–प्रमाणवार्तिकालं० पृ० २२। 'यतो न पीततामात्रं सुवर्णम्'–प्रमेयक० पृ० ४८४। (३) दाहच्छेदतुषाम्बुप्रक्षालनादेः। (४) सुवर्णादिप्रतिपत्तौ। (५) तच्चाचारविशेषो वा स्यादध्ययनादिकं वा ?"–प्रमेयक० पृ० ४८५। (६) ब्राह्मण्यप्रतिपत्तौ। (७) पृ० ७६८ पं० १३। (८) जनानाम्। (९) तुलना– न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो। यम्हि सच्चञ्च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो॥ न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसम्भवं। भो वादि नाम सो होति स वे होति सकिञ्चनो। अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥'–धम्मप० गा० ३९३ ३९६। कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ। वईसो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥–उत्तरा० २५।३३। 'तस्माद् गुणजगव्यवस्थितिः। ऋषिशृङ्गादिकानां च मानवानां प्रकीर्त्यते। ब्राह्मण्यं गुणयोगेन न तु तद्योनिसम्भवात्॥ चातुर्वर्ण्यं यथान्यच्च चाण्डालादिविशेषणम्। सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धिं भुवने गतम्॥–पद्मपु० ११।१९८–२०५। मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा। वृत्तिभेदाहिताद् भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥ ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्। वणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात्॥–आदिपु० ३८।४५–४६। 'आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम्। न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी॥ ब्राह्मणक्षत्रियादीनां चतुर्णामपि तत्त्वतः। एकैव मानुषी जातिराचारेण विभिद्यते। गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते।–धर्मप० १७।२४–३२। महाभाष्येऽपि गुणवाचिनो ब्राह्मणादिशब्दा इति पक्षोऽप्युपन्यस्तः। तथाहि– अथवा सर्व एते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्तन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्र इति।–पात० महाभा० २।२।६। 'क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थायास्तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः। ततः क्रियाविशेषादिनिबन्धन एवायं ब्राह्मणादिव्यवहारः।–प्रमेयक० पृ० ४८६। स्या० र० पृ० ९६२।

1 तुषदुसप्रक्षा–आ० तुषतुसप्रक्षा–श्र०। 2 परपक्षादेश्च व०। 3 अशेषतो ब०। 4 भगवता श्र०। 5 तत्र तत्कल्पि–व०। 6 क्रियानिबन्धन व०।

णादिव्यवहारो युक्त । कथमन्यथा वेश्यापाटकादिप्रविष्टाना ब्राह्मणीना ब्राह्मण्याभावो निन्दा च स्यात्, जातिर्यत पवित्रता हेतु ? सा च भवन्मतेन नित्यैकरूपतया तदवस्थैव, अन्यथा गोत्वजातेरपि ब्राह्मण्य निकृष्ट स्यात्। गवादीना हि चाण्डालादिगृहे चिरोषितानामपि इष्ट शिष्टैरादान न तु ब्राह्मणीनाम्। अथ क्रियाभ्रशात्तासा निन्दता अनादानञ्चेष्यते, तर्हि किमनेन अन्तर्गडुना ब्राह्मण्येन कल्पितेन ? कल्पयित्वापि तत् क्रियाविशेषवशादेव सन्ततायाः ब्राह्मणव्यवहारस्य चाभ्युपगमनीयत्वात्।

किञ्च, क्रियानिवृत्तौ ब्राह्मण्यजातेर्निवृत्ति स्यात्, यदि सा तस्या कारण व्यापक वा स्यात्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात्। न चास्या कारण व्यापक वा किञ्चिदिष्टम्। नापि क्रियाभ्रशात् तस्या विकारोऽस्ति "भिन्नेष्वभिन्ना नित्या निरवयवा च जाति " [　　　] इत्यभिधानात्। न चाऽविकृताया निवृत्ति सम्भवति अतिप्रसङ्गादिति। तदेव भवत्कल्पितब्राह्मण्यस्य आकाशकुशेशयवदप्रसिद्धस्वरूपत्वात् ब्राह्मणस्यैव सस्कृतशब्दप्रयोगात् धर्मो युक्त, किन्तु सर्वेषामविशेषेणैव अतोऽसौ स्यात्, न चैवम्। अतोऽवितथार्थाभिधायित्वमेव शब्दस्य साधुत्वमभ्युपगन्तव्यम् नान्यत्, उक्तदोषानुषङ्गात्। तथाविधञ्च तत् सस्कृतशब्दस्येव प्राकृतशब्दस्याप्यविशिष्टम्, अतो द्वयोरप्यनयो साधुत्वम्। तत सूक्तम्–'**वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान्**' इत्यादि।

कारिकाद्वय विवृण्वन्नाह–'**वर्ण**' इत्यादि। वर्णपदवाक्याना वाचकत्वम् अर्थप्रतिपादकत्वम्, यथास्व स्वस्यार्थस्य अनतिक्रमेण आगमात् प्रतिपत्तव्यम्। तत्रास्य प्रत्येक प्रपञ्चत प्ररूपितत्वात्। कुत पुन

विवृति-व्याख्यानम्–

विवक्षातोऽन्यस्य वाचका शब्दा ? इत्याह–'**वक्त्रभिप्रायात्**' इत्यादि। **वक्त्रभिप्रायाद् भिन्नस्य बहिर्भूतस्य अर्थस्य घटादे वाचकाः शब्दाः** । कुत एतत् ? इत्याह–**सत्यानृतव्यवस्थान्यथानुपपत्तेः** । यत्र सत्यानृतव्यवस्था तद् वक्त्रभिप्रायाद् भिन्नार्थविषय यथा प्रत्यक्षादि, सत्यानृतव्यवस्था च शब्देष्विति । अयञ्च प्रसङ्गः बहिरर्थ-

(१) तुल्ना– तत सव्यवहारमात्रप्रसिद्ध ब्राह्मण्यम ।"–प्रमाणवार्तिकाल पृ० २६ । (२) यदि क्रियाविशेषनिबन्धनो ब्राह्मण्यादिव्यवहारो न स्यात्तदा । तुल्ना– 'कथम यथा वश्यापाटकादिप्रविष्टाना ब्राह्मणीना ब्राह्मण्याभावो भवेत् –स्या० र० पृ० ९६२ । प्रमेयक० पृ० ४८६ । (३) जाति । (४) मीमांसकनयायिकमतेन । (५) "अन्यथा गोत्वादपि ब्राह्मण्य निकृष्ट स्यात् ।"–प्रमेयक० पृ० ४८६ । (६) ब्राह्मणीनाम् । (७) "घटामस्तकयोरन्तरालवर्ती मासपिण्डोऽन्तर्गडु "–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० १६८ । (८) ब्राह्मण्यम । (९) तुल्ना–"किञ्च क्रियानिवृत्तौ '–प्रमेयक० पृ० ४८७ । (१०) क्रिया । (११) ब्राह्मण्यजाते । (१२) ब्राह्मण्यजाते । (१३) उद्धृतमिदम्–प्रमेयक० पृ० ४८७ । (१४) संस्कृतशब्दोच्चारणात् । (१५) धर्म । (१६) अवितथार्थाभिधायित्वलक्षण साधुत्वम् ।

1 ब्राह्मणानां ब० । 2 चाण्डालादीनां गृहे श्र० । 3 ब्राह्मण्यस्य–आ०, श्र० । 4 इति आ० । 5 'शब्दा' नास्ति आ० ।

विषयतामन्तरेण सत्यानृतव्यवस्थानुपपत्तिलक्षणम् अन्यत्र **'प्रमाणं श्रुतमर्थेषु'** [लघी० का० २६] इत्यादौ निरन्तरेणोक्तम् इति नेह प्रपञ्चे पुनः प्रतन्यते। ननु अर्थाभावेऽपि शब्दानां प्रवृत्तिदर्शनात् कथं तद्वाचकत्वम् इत्यत्राह–**'शब्दानाम्'** इत्यादि। शब्दानाम् अर्थव्यभिचारित्वेऽभ्युपगम्यमाने अभिप्रेतव्यभिचारित्वं कुतः प्रमाणात् न कुतश्चित् अपनीयते निराक्रियते। कुत एतत् ? इत्यत्राह–**'सुषुप्तादौ'** इत्यादि, आदिशब्देन मत्तादिपरिग्रहः वाग्वृत्तेर्दर्शनात्।

ननु विवक्षाप्रभवाच्छब्दादन्य एव शब्दः, यः तदभावे तत्र जायते। न चान्यस्य व्यभिचारे अन्यस्य व्यभिचारोऽतिप्रसङ्गात्। 'सुविवेचितं हि कार्यं कारणं न व्यभिचरति' इति, तदेतदत्र अर्थविशेषसद्भावासद्भावप्रतिनद्धात्मलाभेष्वपि शब्देषु समानम्। साम्येऽपि तेषां विवक्षेतरप्रभवाः शब्दाः वैलक्षण्येनावसीयन्ते न तु अर्थविशेषसद्भावाऽसद्भावप्रतिनद्धात्मलाभा इति स्वदर्शनानुरागमात्रम्। विवक्षामात्रगोचरत्वे च अमीषां बहिरर्थे प्रवृत्त्यादिहेतुत्वानुपपत्तिः, तदविषयत्वात्, यद् यद्विषयं न भवति न तत् तत्र प्रवृत्त्यादिहेतुः यथा रूपज्ञानं रसाविषयं न रसे, न भवन्ति च बहिरर्थविषया भवन्मते शब्दा इति। नचैतद् युक्तम् प्रतीतिविरोधात्। सुप्रसिद्धा हि शब्देभ्यो बहिरर्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिप्रतीतिः आबालं प्रत्यक्षवत्। अतः तद्विषयत्वमेव अमीषां युक्तम्। यद् यत्र प्रवृत्त्यादिहेतुः तत्तद्विषयम् यथा रसज्ञानं रसे प्रवृत्त्यादिहेतु रसविषयम्, बहिरर्थे प्रवृत्त्यादिहेतवश्च शब्दा इति। नचायमसिद्धो हेतुः, प्रत्यक्षवत् शब्देभ्यः तत्र प्रवृत्त्यादिप्रतीतेः। यथैव हि प्रत्यक्षात् प्रतिपत्तृप्रणिधानादिसामग्रीसापेक्षात् प्रत्यक्षार्थे प्रतिपत्त्यादिप्रतीतिः सकलजनप्रसिद्धा, तथा सङ्केतादिसामग्रीसापेक्षात् शब्दात् शब्दार्थेऽपि इति। न च अर्थे अर्थिनोऽर्थित्वादेव प्रवृत्तेः शब्दोऽप्रवर्तक इत्यभिधातव्यम्, प्रत्यक्षादेरप्येवमप्रवर्तकत्वप्रसङ्गात्, तदर्थेऽपि अर्थित्वादेव प्रवृत्तिप्रतीतेः। परम्परयाऽत्र प्रवर्तकत्वे शब्देऽपि तथा तदस्तु अविशेषात्।

का चेयं विवक्षा नाम–शब्दोच्चारणेच्छामात्रम्, अनेन शब्देन अमुमर्थं प्रति-

(१) विवक्षाभावे। (२) बहिरर्थाविषयत्वात्। (३) शब्दो बहिरर्थविषयः बहिरर्थे प्रवृत्त्यादिहेतुत्वात्। (४) तुलना–'प्रत्यक्षादिव शब्दाद् बहिरर्थप्रतीतिसिद्धेः। यथैव हि प्रत्यक्षात् प्रतिपत्तृप्रणिधानसामग्रीसव्यपेक्षात् प्रत्यक्षार्थप्रतिपत्तिः तथा सङ्केतसामग्रीसापेक्षादेव शब्दाच्छब्दार्थप्रतिपत्तिः सकलजनप्रसिद्धा, अन्यथा ततो बहिरर्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्त्ययोगात्। न चार्थवेदनादेव अर्थं पुरुषस्तार्थिनः स्वयमेव प्रवृत्तः शब्दोऽप्रवर्तक इत्यवं वक्तुं युक्तम्, प्रत्यक्षादेरप्येवमप्रवर्तकत्वप्रसङ्गात् तदर्थेऽपि सवस्याभिलाषादेव प्रवृत्तः।'–अष्टसह० पृ० २१। प्रमेयक० पृ० ४४९। (५) प्रत्यक्षविषयीभूतेऽप्यर्थे। (६) प्रत्यक्षे। (७) प्रवर्तकत्वव्यपदेशः। (८) परम्परया प्रवर्तकत्वम्। (९) "का चेयं विवक्षा नाम–किं शब्दोच्चारणेच्छामात्रम् "–प्रमेयक० पृ० ४५०।

1 तद्वाचकमि–श्र०। 2 इत्याह ब०। 3 सुषुप्तादीनामि–श्र० सुषुप्त्यादौ इ–ब०। 4 अपरस्य ब०। 5–त्मलाभ इति आ०, ब०। 6–सुस्तद्वि–आ०।

पादयामि इत्यभिप्रायो वा ? प्रथमपक्षे वक्तृश्रोत्रोः शास्त्रश्रवणप्रणयनादौ प्रवृत्तिर्न प्राप्नोति। न खलु कश्चिदनुन्मत्तः शब्दनिमित्तेच्छामात्रप्रतिपत्त्यर्थं शास्त्रं वाक्यान्तरं वा प्रणेतुं श्रोतुं वा प्रवर्त्तते। दशदाडिमादिवाक्यैः सह सर्ववाक्यानामविशेषप्रसङ्गश्च, सर्वेषां स्वप्रभवेच्छामात्रानुमापकत्वाऽविशेषात्। अथ अनेन शब्देनामुमर्थं प्रतिपादयामीत्यभिप्रायो विवक्षा, तत्सूचकत्वेन अखिलशब्दानां विवक्षानुमापकत्वम्, तदप्यनुपपन्नम्, व्यभिचारात्। नहि शुकशारिकोन्मत्तादयः तथाभिप्रायेण वाक्यमुच्चारयन्ति।

किञ्च, समयानपेक्षः शब्दः तादृशमभिप्रायं गमयेत्, तत्सापेक्षो वा ? आद्यविकल्पे न कश्चित् क्वचिद्भाषानभिज्ञः स्यात्, सर्वेषामविशेषतः शब्दार्थप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। समयापेक्षस्तु शब्दः अर्थमेव किन्न गमयेत् ? नह्ययम् अर्थाद् बिभेति येन तत्र साक्षान्न वर्त्तेत। अशक्यसमयत्वान्न शब्दोऽर्थं गमयति, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, अभिप्रायेऽपि तदगमकत्वानुषङ्गात्, तत्रापि तस्य अशक्यसमयत्वाविशेषात्। असिद्धञ्चास्य अशक्यसमयत्वम्, **'प्रमाणं श्रुतमर्थेषु'** [लघी० का० २६] इत्यत्र तच्छक्यसमयत्वस्य प्रपञ्चतः प्रतिपादितत्वात्।

न केवलं सुषुप्तादौ वाग्वृत्तेर्दर्शनादभिप्रेतव्यभिचारित्वं कुतोऽपनीयते इति, अपि तु इतश्च। कुतस्तदपनीयते इत्याह–**'अनिच्छताम्'** इत्यादि। अनिच्छतामपि अपशब्दाद्युच्चारणविवक्षाविकलानामपि अपशब्दादिभाषणसद्भावात्, आदिशब्देन श्रुतिदुष्टादिपरिग्रहः। तथा वाञ्छतामपि मन्दबुद्धीनां शास्त्रवक्तृत्वाभावात् तत्कुतोऽपनीयते ? अत्राह परः–**'उभयत्र'** इत्यादि। उभयत्र अर्थेऽभिप्राये च व्यभिचारात् शब्दानाम् **न कस्यचिदर्थस्य** अभिप्रायस्य वा वाचकाः शब्दाः, इतिशब्दः परमतसमाप्त्यर्थः। अत्र दूषणमाह–**'अलौकिकं प्रतिभानमिति'** प्रतिभोत्तरप्रतीतिः इत्यर्थः, **अलौकिकञ्च तत् प्रतिभानञ्च,** लोकबाधितम् इत्यर्थः। कुत एतत् ? इत्यत्राह–**'लोको हि'** इत्यादि। हिर्यस्मात् **लोकः अर्थाप्त्यनाप्तिषु सत्यानृतव्यवस्थाम् आतिष्ठेत।** कस्य ? **शब्दस्य।** यदि हि न कस्यचिद्वाचकाः शब्दाः स्युः तर्हि तेभ्यो घटाद्यर्थस्य स्वप्नेऽप्यप्रतीतेः न तत्प्राप्त्या केषाञ्चिच्छब्दानां सत्यत्वम् अन्येषां तु अनृतत्वं विपर्ययात् इत्येवं लोको वचसा तद्व्यवस्थामातिष्ठेत इत्यभिप्रायः। ननु अभिप्रायमात्रप्रतिपादनेऽपि तद्व्यवस्थामास्थास्यत इत्यत्राह–**'न'** इत्यादि। **अभिप्रायमात्रे** शब्दार्थे **'न लोकः तद्व्यवस्थामातिष्ठेत'** इति सम्बन्धः। कुत एतत् ? इत्यत्राह–**'तत्र'** इत्यादि। **'तत्र'** तन्मात्रे **शब्दव्यवहारबाहुल्याभावात्,** क्वचिदेव तत्रैव तद्व्यव-

(१) तुलना–"किञ्च, समयानपेक्षं वाक्यं तादृशमभिप्रायं गमयेत् तत्सापेक्षं वा ?" –प्रमेयक० पृ० ४५० । (२) अभिप्रायमात्रे ।

1–श्रवणप्रणयनादौ आ० । 2 सुषुप्त्यादौ ब० । 3–पनीत ब० । 4 अनाख्याद्युच्चा–श्र० । 5 न तु अभि–आ०, ब० । 6 इत्याह तत्र तन्मात्र ब०, इत्यत्राह तत्र तन्मात्रे आ० । 7 विततत्र श्र० ।

ह्वारेपि बहुल बहि तद्व्यवहारोपलम्भात् इति भाव ।

ननु प्रतीयते शब्दादर्थः स तु विचार्यमाणो न सङ्गच्छते, तत्र तस्य सम्बन्धाभावतः प्रत्यायकत्वायोगात्, इत्यत्राह–'अनाधिताम्' इत्यादि। अत्रायमभिप्रायः–यादृशेऽर्थे सङ्केतितः यादृशः शब्दः देशान्तरे कालान्तरे च योग्यतालक्षणसम्बन्धवशात् तादृशस्य तादृशो वाचकः, न तत्र किञ्चिद्बाधकम् इत्युक्तम्–'योग्यतापेक्षानादिसङ्केतः' [लघी० स्वव० का० ६२] इत्यत्र। अतः अनाधिता शब्दादुपजायमाना सामान्यविशेषात्मकार्थविषया तत्प्रतीतिमतिक्रम्य स्वेच्छया प्रतीत्यनाश्रयणेन प्रमाणस्वरूपम्–'प्रत्यक्षानुमानलक्षणमेव प्रमाणं नागमादि' इति, प्रमेयस्वरूपम् प्रत्यक्षस्य पूर्वापरकोटिविनिर्मुक्तं स्वलक्षणमेव प्रमेयम् अनुमानस्य तु अन्यव्यावृत्तिमात्रम्' इत्यातिष्ठमानानां सौगतानां युक्तम् उपपन्नम्। किं तत् ? अभिप्रेतमात्रसूचकत्वम्। येषाम् ? शब्दानाम् इति।

व्याख्यातं मूलकारिकायाम् 'ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः' इत्येतत्। साम्प्रतं 'नयो ज्ञातुरभिप्रायः' इत्येतद्व्याख्यातुकाम आह–

श्रुतभेदा नया सप्त नैगमादिप्रभेदतः।
द्रव्यपर्यायमूलास्ते द्रव्यमेकान्वयानुगम् ॥६६॥
निश्चयात्मकमन्योऽपि व्यतिरेकपृथक्त्वगः।
निश्चयव्यवहारौ तु द्रव्यपर्यायमाश्रितौ ॥६७॥

(१) बहिरर्थे। (२) नश्यत्य। (३) व्याख्या– ते प्रागुक्तलक्षणा नया भवन्ति। के ? त। श्रुतस्य सकलशास्त्रस्य आगमस्य भेदा विकल्पा विकलादेशा। कति ? सप्त। कुत नैगमादिप्रभेदत ? किं विशिष्टा ? द्रव्यपर्यायमूला। तत्र द्रव्यस्य स्वरूपमाह–द्रव्यं सामान्यं भवति। किं विशिष्टम् ? एकान्वयानुगम एकश्चासावन्वयश्च एकान्वयो तमनुगच्छति व्याप्नोतीत्येकान्वयानुगम्। तत्रैकानुगम अथता (ऊर्ध्वता) सामान्यं पूर्वापरव्यापकम्, सदृशपरिणामलक्षणं तिर्यक्सामान्यमन्वयानुगम। पुन किं विशिष्टम ? निश्चयात्मकम्, निगतश्चय पर्यायान्तरसङ्करो यस्मादसौ निश्चय पर्याय स आत्मा यस्य तत्तथोक्तम्। अपि पुनरन्य पर्यायो विकल्पो भवति। किं विशिष्ट ? व्यतिरेकपृथक्त्वग व्यतिरेकश्च पृथक्त्वञ्च ते गच्छति तादात्म्येन परिणमतीति ■ तथोक्त। तत्र व्यतिरेक एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविपर्याय। पृथक्त्वम् पुनरर्थान्तरगतो विसदृशपरिणाम। तु पुनर्निश्चयव्यवहारौ मूलनयौ आश्रितौ आलम्बितवन्तौ। किम् ? द्रव्यपर्यायम। द्रव्यं श्रितो निश्चयनय द्रव्यार्थिक इत्यर्थ। पर्यायाश्रितो व्यवहारनय पर्यायार्थिक इत्यर्थ। –लघी० ता० पृ० ८८। (४) तुलना– सत्त मूलणया पण्णत्ता। तं जहा णगमे, संगहे ववहारे उज्जुसुए सद्दे समभिरूढे एवंभूए।'–स्था० ७।१९। अनुयोग० १३६। नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः। –तत्त्वार्थ० १।३४। 'नेगमसंगहववहारुज्जुसुए चेव होइ बोधव्वे। सद्दे य समभिरूढे एवंभूए य मूलनया। –आव० नि० गा० ७५४। नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः। आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ। –तत्त्वार्थाधि० १।३४-३५। सिद्धसेनदिवाकरास्तु षड् नयान् स्वीकुर्वन्ति, तन्मतानुसारेण नैगमस्य संग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावात्। द्रष्टव्यम्–सन्मति० १।४-५।

1 बहिरर्थस्यव्य–ब०। 2 यादृशोऽर्थे सङ्केतितः तादृशः शब्दः आ०। 3 कालान्तरे च नास्ति ब०, श्र०। 4–क्षोऽनादि–ब०। 5–केतापेक्ष–मु० लघी०।

विवृतिः–नहि मतिभेदा नयाः त्रिकालगोचरानेकद्रव्यपर्यायविषयत्वात्, मतेः साम्प्रतिकार्थग्राहित्वात्। मनोमतेरपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताभिनिबोधात्मिकायाः कारणमतिपरिच्छिन्नार्थविषयत्वात्। तत्र मूलनयौ द्रव्यपर्यायार्थिकौ। द्रव्यम् एकान्वयात्मकम्। एकत्वं तदतत्परिणामित्वात्, सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वाद् अन्वयि। पुरुषत्वादेरपेक्षातः सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये नानेकसन्तानानामना तथाभानमकरव्यतिकरव्यतिरेकाद् अन्वयिनोरस्खलत्प्रमानैकप्रत्ययविषयत्व मनुमिमीमहे। तथाहि–स्कन्धः स्वगुणपर्यायाणामेकत्वं न समानपरिणामः पुरुषश्च। समानपरिणामोऽपि सकलपदार्थगोऽनेकत्वम्। निश्चयनयादेको जीवः कर्मनिर्मुक्तः व्यवहारनयात् सकर्मकः। पर्यायः पृथक्त्वम् व्यतिरेकश्च। पृथक्त्वम् एकत्र द्रव्ये गुणकर्मसामान्यविशेषाणाम्। व्यतिरेकः सन्तानान्तरगतो विसदृशपरिणामः। व्यवहारपर्यायाः क्रोधादयः जीवस्य संसारिणः, निश्चयपर्यायाः शुद्धस्य ज्ञानादयः प्रतिक्षणम् आत्मसात्कृतानन्तभेदाः। निश्चयनयात् पुद्गलद्रव्यमेकम्, पृथिव्यादिभेदेऽपि रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वम् आविर्भूततिरोभूतस्वरूपमजहत् स्कन्धपरमाणुपर्यायभेदेऽपि रूपादिमत्त्वमपरिजहत्। नहि अवस्थादेशकालसंस्काराः मूर्तत्वमत्यन्तं भिन्दन्ति अमूर्तभेदप्रसङ्गात्, सत्ताभेदाश्च जीवादयः सत्ताम् इत्युक्तप्रायं नेहोच्यते। भेदवादिनोऽपि ज्ञानमेकम् एकस्मिन् क्षणे स्वयमनेकाकारमात्मसात्कुर्वत् कथं निराकुर्युः ? ततः तीर्थकरवचनसंग्रहविशेषप्रस्तावमूलव्याकारिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ निश्चेतव्यौ। नहि तृतीयं प्रकारान्तरमस्ति, तस्य प्रमाण एवाऽन्तर्भावात्। न नैगमस्य प्रमाण[ता] तादात्म्यविवक्षाभावात्।

श्रुतस्य आगमस्य **भेदाः** विशेषाः न पुनर्मतिज्ञानस्य। के ? **नयाः**, प्रतिपत्रभिप्रायाः, कियन्तः ? **सप्त**। कुतः ? **नैगमादिप्रभेदतः**। किंमूलास्ते ? इत्याह–'**द्रव्य**' इत्यादि। **द्रव्यपर्यायौ मूलम्** आश्रयो येषां **ते** तथोक्ताः। किं स्वरूपं द्रव्यम् ? इत्याह–'**द्रव्यम्**' इत्यादि। एकशब्दोऽत्र भावप्रधानः, एकत्वञ्च **अन्वयश्च** सदृशपरिणामः ताभ्यां यथासंख्येन स्वपर्यायान्

कारिकार्थ –

(१) तुलना–उत्पन्नाविनष्टार्थग्राहकं साम्प्रतकालविषयं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयम् उत्पन्नविनष्टानुत्पन्नार्थग्राहकम्। –तत्त्वार्थाधि० भा० १।२०। (२) तुलना–'अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्।'–परीक्षामु० ४।९। (३) तुलना–तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी। दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासिं॥ –सन्मति० १।३। (४) तुलना–'प्रमाणात्मक एवायमुभयग्राहकत्वतः। इत्ययुक्तमिह ज्ञप्तेः प्रधानगुणभावतः॥ प्राधान्येनोभयात्मानमर्थं गृह्णद्धि वेदनम्। प्रमाणं नान्यदित्येतत्प्रपञ्चेन निवेदितम्॥ –तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६९।

1–मतिभिन्नार्थवि– ई० वि०। 2–मूलाश्र– ज० वि०। 3–तयत्रभि–ज० वि०।

द्रव्यान्तराणि च अनुगच्छति अनुयाति इति **तदनुगम्**। 'एकत्वानुगम्' इत्यनेन भेदैकान्तनिषेध, 'अन्वयानुगम्' इत्यनेन तु सन्द्रव्यैकत्वनिराम। तदेवंविध द्रव्य प्रमाणापरिच्छेद्य भविष्यति इत्याह–**'निश्चयात्मकम्'** इति। संशयादिव्यवच्छेदलक्षणाप्रमेयग्रथा गृहीतिक्रिया **निश्चय**, स **आत्मा** स्वभावो यस्य तत् तथोक्तम्। न केवल द्रव्यमेव निश्चयात्मकम्, किन्तु **अन्योऽपि** पर्यायोऽपि, निश्चयात्मक इति लिङ्गपरिणामेन सम्बन्ध। पुनरपि कथम्भूत ? इत्याह–**व्यतिरेकपृथक्त्वगः**। स्वद्रव्यपर्यायान्तरापेक्षया **व्यतिरेक** परस्परव्यावृत्तिम् एकद्रव्यापरित्यागेन गच्छतीति **व्यतिरेकग**, द्रव्यान्तरपर्यायापेक्षया **पृथक्त्व** पृथग्द्रव्यवृत्तित्व गच्छतीति **पृथक्त्वग**। ननु यदि नैगमादयो नया द्रव्यपर्यायमूला तर्हि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकलक्षणौ मूलनयौ निर्मूलौ ? इत्याह–**'निश्चय'** इत्यादि। चेतनस्य अचेतनस्य वा य सन् स्वभाव न कदाचिद्विनश्यति तदवलम्बी नयो **निश्चय**, द्रव्यार्थिकनय इत्यर्थ। यो विनश्यति स्वभाव तदवलम्बी **व्यवहार** पर्यायार्थिक इति यावत् तौ। **तु** शब्द अपिशब्दार्थे, **द्रव्यपर्यायमाश्रितौ**। वक्ष्यति च 'तत्र मूलनयौ द्रव्यपर्यायार्थिकौ' इत्यादि।

तत्र प्रथमकारिकाया प्रथमभाग व्यतिरेकमुखेन विवृण्वन्नाह–**'नहि'** इत्यादि।

विवृतिव्याख्यानम्– नहि नैव मतिभेदा किन्तु श्रुतभेदा, के ते ? **नयाः**। कुत एतत् ? इत्याह–**'त्रिकाल'** इत्यादि। **त्रय** कालाः **गोचरो** येषाम् अनेकद्रव्यपर्यायाणा ते विषयो येषा तेषा भावात् तत्त्वात्। 'नयानाम्' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्ध। मतिरपि तथा भविष्यति ? इत्याह–**'मते'** इत्यादि। **मते**[१] इन्द्रियजनिताया[२] साम्प्रतिकार्थग्राहित्वात् वर्त्तमानकालगोचरद्रव्यपर्यायात्मकार्थग्राहकत्वात् **'न मतिभेदा नया'** इति सम्बन्ध। अनिन्द्रियजनितायास्तर्हि तथा ते तर्हि भेदा भवन्तु तस्या त्रिकालगोचरद्रव्यादिविषयत्वात् इत्याह–**'मनोमते'** इत्यादि। न केवलम् इन्द्रियमते अपि तु **मनोमतेरपि** **'नहि भेदा नया'** इति सम्बन्ध। किंविशिष्टाया ? इत्याह–**स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताभिनिबोधात्मिकाया**। कुत एतत् ? इत्याह–**'कारण'** इत्यादि। नियताऽजितया[३] मतेः मनोमते कारणत्वात् **'कारणमति'**[४] इत्युच्यते, तया परिच्छिन्नो **योऽर्थ** तद्विषयत्वान्मनोमते[५]। तेनैव कथञ्चिदधिगतया सर्वो ग्रहणात् एवमुक्तम्।

नयभेदं दर्शयन्नाह–**'तत्र'** इत्यादि। तत्रैव श्रुतभेदत्वे नयाना व्यवस्थिते **मूल नयौ** कारणनयौ नैगमादीनाम्। कौ ? इत्याह–**द्रव्यपर्यायार्थिकौ**, द्रव्यश्च पर्यायश्च

(१) मन। (२) इन्द्रियजनिता मति। (३) इन्द्रियमतिविषयभूतस्य अर्थस्यैव। (४) अयाऽर्थान्तरानुगमक्रमेण विचारात्मकत्वात् मनोमते। (५) मनोमत्या।

1–स्वक पयग्द्रव्यमेव निश्चयात्मक किन्तु श्र०। 2 इत्याह–ब०। 3 तत्रैव श्रुतभेदत्वेन व्यव–ब०।

तावेव अर्थौ तौ यथासङ्ख्येन विशेते ययो तौ तथोक्तौ । तत्र द्रव्यपद व्याचष्टे 'द्रव्यम्' इत्यादिना । एकत्वान्वयौ व्याख्यातौ, तौ आत्मा यस्य तत् तदात्मकम् । एतदेव समर्थयमान आह–'एकत्वम्' इत्यादि । 'द्रव्यम्' इत्यनुवर्त्तते । तस्य एकत्व कुत ? इत्याह–'तद्' इत्यादि । स च विवक्षित अमश्च अविवक्षित तदतौ, तौ च तौ परिणामौ च तौ यस्य स्त तत् तदतत्परिणामि, यदि वा, तयो परिणमत इत्येव शील तदतत्परिणामि, तस्य भावात् तत्त्वात् । साम्प्रतम 'अन्वयात्मकं तत्' इत्येतत् समर्थयते–अन्वायि द्रव्यान्तरेण अनुगमवद् 'द्रव्यम्' इति सम्बन्ध । कुत ? इत्याह–'तद्' इत्यादि । सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वात् । अत्राह सौगत –असमानानपेक्ष्य समानपरिणामा अनुपादानोपादेयानपेक्ष्य एकपरिणामा केचन भावा कल्प्यन्ते न परमार्थत, अपेक्षाकृतस्य धर्मस्याऽवास्तवत्वात्, इत्यत्राह–'पुरुष' इत्यादि । अस्यायमर्थ –नानैकसन्तानात्मनाम् नानासन्तानैकभावानाम् एकसन्तानस्वभावानाञ्च युगपत्क्रमभाविना क्षणानाम् इत्यर्थ । तेषा यदपेक्षात: यथोक्ताया अपेक्षाया सकाशात् कल्पित पुरुषस्य तिर्यक्सामान्यम्, आदिशब्देन द्रव्यविशेषपरिग्रह ; तस्मात् सत्यपि निगमानेऽपि समानेतरपरिणामातिशये समानपरिणामातिशये तत्प्रकर्षे इतरपरिणामातिशये एकत्वपरिणामप्रकर्षे । ननु इतरशब्दस्य उक्तविपरीतार्थाभिधायित्वात् समानपरिणामाद् इतरो विसदृशपरिणाम एव लभ्यते, न एकत्वपरिणामातिशय इति चेत्, एवमेतत्, तथापि–इह समानैकत्वपरिणामातिशययो प्रकृतत्वात् समानपरिणामात् इतर एकत्वपरिणाम एव उच्यते । तस्मिन् सत्यपि एकत्व तदतत्परिणामित्वात् । सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वाद् 'अन्वायि' इति सम्बन्ध । नहि तथाऽपरिणतम् अपेक्षात तद् भवति विप्रतिषेधात्, अन्यथा स्वयममूर्त्तमपि ज्ञान ज्ञानान्तरात् अमूर्त्तात् व्यवर्त्तमान मूर्त्त स्यात् । ननु च विचार्यमाणस्य तदतत्परिणामिन सदृशपरिणामलक्षणसामान्यस्य चानुपपत्ते अभिमतरूपवद् अनभिमतरूपेणापि प्रसङ्गाच्च अयुक्तम्–एकत्वमित्यादि, इति चेन्नत्राह–'तथा' इत्यादि । तथा तदतिशयप्रकारेण यौ सङ्कर-व्यतिकरौ तयो व्यतिरेकाद् अभावाद् अन्वयिनो तदतत्परिणामिसामान्ययो अस्खलत्समानैकप्रत्ययविषयत्वम् साकल्येन नानैकसन्तानात्मनाम् अनुमिमीमहे अनुमानेन प्रतिपद्यामहे 'अनुमाननिमित्तस्य उक्ततर्कस्य प्रविजृम्भणात्' इत्यभिप्राय ।

(१) न हि अग्निस्वेनापरिणत अपेक्षात अनग्निव्यावृत्त्यपेक्षया अग्निर्भवति जलादेरपि अनग्निव्यावृत्त्या अग्नित्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् इति भाव ।

1 द्रव्यमित्यादि द्रव्यमित्यनुवर्त्तते ब०, द्रव्यमित्यादि इत्यनुवर्त्तते श्र० । 2–ह सदृश–आ०, ब० । 3–पेक्ष एक–ब० । 4–ञ्च युगपत्क्रमभाविनाञ्च युगपत्क्रमभाविना क्ष–आ० । [5] 'समानपरिणामातिशये नास्ति श्र०, ० । 6–रूपेणातिप्र–श्र० ।

यदि वा वैशेषिकादिराह–पुरुषत्वमपेक्ष्य समानपरिणामातिशयो नानात्मसु, बुद्ध्यादिगुणसमवायित्वमपेक्ष्य एकात्मनि एकत्वपरिणामातिशयो न परमार्थत इति, तत्राह–'पुरुषत्वादे' इत्यादि। **पुरुषत्वम् आदिर्यस्य** बुद्ध्यादिसमवायित्व-त्रिगुणसंयोगित्वादे स तथोक्त तस्य या **अपेक्षा** तत **सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये।** केषाम्? इत्याह–**नानैकसन्तानात्मनाम्।** नाना एकसन्तानाश्च ते आत्मानश्च तेषाम् इति, शेष पूर्ववत्। ननु भवतु आत्मना समानैकत्वपरिणाम न घटादीना तत्र समानपरिणामस्यैव सम्भवात् इत्याशङ्क्याह–'**तथाहि**' इत्यादि। **तथाहि** तेन अस्खलत्समानैकप्रत्ययविषयत्वप्रकारेण च **स्कन्धो** घटाद्यवयवी, स किम्? इत्याह–**एकत्वम्।** केषाम्? इत्याह–'स्व' इत्यादि। स्वशब्देन स्कन्ध परामृश्यते तस्य ये **गुणा** रूपादय ये च **पर्याया** नवपुराणादय तेषाम् **एकत्वम्** न समानपरिणाम 'अस्खलदेकप्रत्ययविषयत्वात्' इति भाव। ननु भिन्नसन्तानात्मनामिव एकसन्तानात्मनामपि समानपरिणाम एवास्तु इति सौगत। तत्राह–'**पुरुषश्च**' इति। न केवल स्कन्ध किन्तु **पुरुषोऽपि 'स्वगुणपर्यायाणामेकत्वम्'** इति सम्बन्ध। ननु यथा क्रमभाविना सुखादीनामेकत्वं पुरुष तथा युगपद्भाविनामात्मनाम् एकत्व सोऽस्तु इति चेत्तत्राह–'**समान**' इत्यादि। अपिशब्द एवकारार्थे। **समानपरिणाम** एव **सकलपदार्थग** नैकत्व सकलपदार्थगम् 'पुरुषस्य' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्ध। अनेन '**तथाभाव**' इत्यादि समर्थितम्, **द्रव्यमेकान्वयानुगम्**' इति कारिकापादश्च व्याख्यात। **निश्चयनयाद्** द्रव्यार्थिकनयाद् **एक** अभिन्न **जीव** सर्वोऽपि सर्वसाधारणचेतनापरिणामापेक्षया। स एव द्विविधो व्यवहारनयात् इति दर्शयन्नाह–'**कर्म**' इत्यादि। **कर्मणा** ज्ञानावरणीयादिना **निर्मुक्तो** रहितो जीव, **सकर्मकश्च।** कुत? **व्यवहारनयात्** पर्यायार्थिकनयात्। एवमेकेन्द्रियादिभेदोऽपि चिन्त्य। अनेन द्वितीयकारिकाया उत्तरार्द्ध व्याख्यातम्।

पर्याय कथयन्नाह–'**पर्याय**' इत्यादि। **पर्याय** क? इत्याह–**पृथक्त्वव्यतिरेकश्च।** तत्र पृथक्त्वपद व्याचष्टे–**पृथक्त्वम्, एकत्र** एकस्मिन् **द्रव्ये गुणकर्मसामान्यविशेषाणा** परस्परपरिहारेण कथञ्चित् अवस्थानम् इत्यर्थ। व्यतिरेकपद विवृणोति–**व्यतिरेको** व्यावृत्ति। क? इत्याह–**सन्तानान्तरगतो विसदृशपरिणाम** गोमहिष्यादिपरिणाम। तत्र जीवगतपर्यायान् दर्शयन्नाह–'**व्यवहार**' इत्यादि। **व्यवहारपर्याया** पर्यायार्थिकनयपर्याया इत्यर्थ। के? **क्रोधादय** कादाचित्कत्वात्।

(१) सौगत। (२) अनवस्था। (३) पुरुषः ब्रह्मरूपा भवतु।

1 बुद्ध्यादिसम–आ०। 2 नानैकसन्तानात्मनाम् नास्ति श्र०। 3 तथा च तेन ब०, तया तेन आ०। 4–सन्तानानामपि ब०। 5–न अनवस्था आ० श्र०। 6 सद्द्रव्यमे–श्र०। 7 निश्चयाद् आ० ब०। 8–दे द्रव्यभेदोपि ब०। 9 पर्याया क इ–ब०। 10–द्वनवस्था–श्र०। 11 गोमहिषादि–श्र०ब०।

त्रिविशिष्टस्य जीवस्य ते पर्याया ? इत्याह–ससारिणः। मुक्तस्य के पर्याया ? इत्याह–'निश्चय' इत्यादि। निश्चयपर्यायाः द्रव्यार्थिकगोचरा पर्याया शुद्धस्य 'जीवस्य' इति सम्बन्ध । के ते ? ज्ञानादयः अकादाचित्कत्वात्। कथम्भूतास्ते ? 'ते च' इत्याह (इत्याह ते च) प्रतिक्षणम् आत्मसात्कृतानन्तभेदाः। न केवल द्रव्यार्थिकनयाज्जीवस्यैव अभेद अपि तु पुद्गलद्रव्यस्यापि इत्याह–'निश्चय' इत्यादि। निश्चयनयात् द्रव्यार्थिकनयात् पुद्गलद्रव्यम् एकम् अभिन्नम्। कस्मिन् सत्यपि ? इत्याह–पृथिव्यादिभेदेऽपि। किं कुर्वत्तदेकम् ? इत्याह–'रूप' इत्यादि। अजहत् अपरित्यजत्, किम् ? इत्याह–रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वम् "रूपरसगन्धस्पर्शवन्त पुद्गलाः" [तत्त्वार्थसू० ५।२३] इत्यभिधानात्। कथम्भूत तत् ? इत्याह–आविर्भूतानाविर्भूतस्वरूपम्। पृथिव्या तद् आविर्भूतस्वरूप जलादौ अनाविर्भूतस्वरूपम्, जले गन्धस्य अनले गन्धरसयो अनिले रूपरसगन्धानामनाविर्भावात्।

ननु जलादौ गन्धादिसद्भावे प्रमाणत सिद्धे अनाविर्भावो युक्त, अन्यथा सर्वस्य सर्वत्राऽनाविर्भावप्रसङ्गात् साख्यदर्शनप्रतिप्रसङ्ग स्यात् इति चेत्, उच्यते–जलादयो गन्धादिमन्त, स्पर्शवत्त्वात्, यदित्थ तदित्थ यथा पृथिवी, स्पर्शादिमन्तश्चैते, तस्माद्गन्धादिमन्त इति। यत् पुन गन्धादिमन्न भवति न तत् स्पर्शवत् यथा आत्मादि, इत्यादि षट्पदार्थपरीक्षाया पृथिव्यादीनामतत्त्वान्तरभावसमर्थनावसरे प्रपञ्चत प्ररूपितमिहावगन्तव्यम्। पुनरपि किं कुर्वत् ? इत्यत्राह–'स्कन्ध' इत्यादि। स्कन्धाश्च घटादय परमाणव' अत्यन्तसूक्ष्मा पुद्गला त एव पर्यायाः परस्परत प्रादुर्भावात्, परमाणुभ्यो हि स्कन्धा प्रादुर्भवन्ति तेभ्यश्च परमाणव इति, तेषा भेदेपि रूपादिमत्त्वमपरित्यजदेक। दृष्टान्तार्थमेतत्, ततो यथा तत् परमाणुरूप स्कन्धीभवत् स्कन्धस्वभाव वा परमाणुरूपतामादधत् रूपादिमत्त्वमपरित्यजत् एक तथा प्रकृतमपि इति। एतदेव दर्शयन्नाह–'नहि' इत्यादि। हिर्यस्मात् न अवस्था च देशश्च कालश्च सस्कारश्च ते मूर्तत्व रूपादिमत्त्वम् "रूपादिमयी मूर्ति" [ ] इत्यभिधानात्। अत्यन्त सुष्ठु भिन्दन्ति 'पृथिव्यादिभेदस्य स्कन्धपरमाणुपर्यायभेदस्य च' इति सम्बन्ध। कुत एतत् ? इत्याह–'अमूर्त' इत्यादि। अमूर्तो रूपादिरहितो यो भेद' व्यक्तिविशेष तस्य प्रसङ्गात्। यथा च अवस्थादयो न रूपादिमत्त्वमत्यन्त भिन्दन्ति, तथा सत्ताभेदाश्च

---

(१) "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त पुद्गला।–तत्त्वार्थसू०। (२) रूपरसगन्धादि। (३)वैशेषिक। (४) तुलना–पृ० २३८ टि० ४। (५) पृ० २३८। (६) तुलना–'रूप मूर्तिरित्ययं। मूर्ति ? रूपादिसस्थानपरिणामो मूर्ति।'–सर्वार्थसि० राजवा० ५।५।

---

1 प्रतिप्रसव स्यात् आ०, श्र०। 2 वा श्र०।

जीवादयः सत्ताम् 'अत्यन्त न भिन्दन्ति' इति सम्बन्धः । अभेदप्रसङ्गात् इत्युक्तप्राय 'जीवाजीवप्रभेदा यदन्तर्लीनाः' [लघी० का० ३१] इत्यत्र, नेह पुनरुच्यते । ननु जीवादिद्रव्यस्य सत्तादिसामान्यस्य वा कस्यचिदसम्भवात् 'निश्चयनयादेको जीवः' इत्याद्ययुक्तम्, तत्सम्भवे च अवस्थादिभेदेन विरुद्धधर्माध्यासतः प्रतिक्षण भेदप्रसङ्गात् तदेकत्वम् इत्याशङ्क्याह-'भेद' इत्यादि । ये विरुद्धधर्माध्यासतः सर्वथा वस्तुनो भेद वदन्ति सौगताः तेऽपि कथ नैव निराकुर्युः ? किं तत् ? ज्ञानम्, कथम्भूतम् ? एकम् । किं कुर्वत् ? स्वयम् आत्मनोऽनेकाकार नीलपीतादिविचित्राकार ग्राह्यग्राहकाकारविविक्तेतररूपतया प्रत्यक्षपरोक्षाकार वा आत्मसात्कुर्वत् । कस्मिन् ? एकस्मिन् क्षणे । तन्निराकरणे सकलशून्यता स्यात् । सा च प्रत्यक्षपरिच्छेदे प्रपञ्चत प्रतिक्षिप्ता इत्यल पुनः प्रसङ्गेन । ततो यथा विरुद्धधर्माध्यासेऽपि एकमेकदा ज्ञानमनिरुद्ध तथा क्रमेण जीवादिद्रव्यमपि इति ।

उक्तार्थोपसंहारमाह-'तत' इत्यादि । यत उक्तप्रकारेण जीवादि सुखादिपर्यायात्मक व्यवस्थित ततः तीर्थकरस्य भगवतोऽर्हतो वचन स्याद्वादप्रवचन तस्य विषयभूता, श्रुतभेदत्वात् नयानाम्, ये सङ्ग्रहविशेषाः सङ्ग्रहश्च विशेषाश्च व्यवहारादिनयभेदाः तेषां प्रस्तारस्य प्रपञ्चप्ररूपणस्य मूलव्याकारिणौ आद्यौ उत्पादकौ निश्चेतव्यौ । कौ ? इत्याह-द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ । अन्य कुतो नेति चेत् ? अत्राह-'नहि' इत्यादि । हि यस्मात् न तृतीय प्रकारान्तर नयान्तरमस्ति । कुत एतत् ? इत्यत्राह-'तस्य' इत्यादि । तस्य तदन्तरस्य प्रमाणे एव न नये अन्तर्भावात् 'न तदस्ति' इति सम्बन्धः । प्रधानभूतायोन्यात्मकसामान्यविशेषविषयाभिसम्बन्धे प्रमाणत्वात् । नैगमोऽपि तर्हि प्रमाण स्यात् इति चेदत्राह-'न' इत्यादि । न प्रमाणता, कस्य ? नैगमस्य । कुत एतत् ? इत्याह-'तादात्म्य' इत्यादि । तादात्म्येन प्रमाणस्वभावत्वेन विवक्षाया अभावात्, नयत्वेन विवक्षासद्भावात् इत्यर्थः । एतदपि कुत इत्यत्राह-

गुणप्रधानभावेन धर्मयोरेकधर्मिणि ।
विवक्षा नैगमोऽत्यन्तभेदोक्तिः स्यात्तदाकृतिः ॥६८॥

(१) अभेदश्चासौ भङ्गः विनाश तस्य प्रसङ्गात् असद्रूपत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । (२) सौगत । (३) चित्रज्ञानम्, ग्राह्यग्राहकाद्यनेकाकार सवेदनम् ग्राह्याद्याकारराहित्य सवेदनापेक्षया प्रत्यक्षपरोक्षात्मक सवेदन वा । (४) सकलशून्यता । (५) पृ० १३२ । (६) सुखाद्यनेकाकारम् । (७) अभिप्रायवतो ज्ञानस्य । (८) व्याख्या- स्यात् । क ? नैगमो नय । का ? विवक्षा अभिप्राय । कयो ? धर्मयो एकत्रानेकत्वयो । केन ? गुणप्रधानभावेन । क्व ? एकधर्मिणि एकोऽभिन्नो धर्मी द्रव्य तस्मिन् । तदाकृति तस्य नैगमस्य आकृतिराभास स्यात् । का ? अत्यन्तभेदोक्ति अत्यन्तो निरपेक्ष भेदो नानात्व तस्योक्तिर्वचन नैयायिकाद्यभिप्रायो नैगमाभास इत्यर्थ । -लघी० ता० पृ० ९० ।

1 तत्सम्भवे चावस्था-श्र० । 2 स्याद्वादप्रवचन आ० । 3 प्रसारस्य श्र० । 4 प्रकारभूता-श्र० । 5-भिसम्बन्धे प्र-आ०, श्र० ।

विवृतिः–जीवः सन्नमूर्त्तः कर्त्ता सूक्ष्मो ज्ञाता द्रष्टाऽसंख्यातप्रदेशो भोक्ता परिणामी नित्यः पृथिव्यादिभूतविलक्षणः इति प्रधानवृत्त्या जीवस्वतत्त्वनिरूपणाया गुणीभूताः सुखादयः । सुखादिस्वरूपनिरूपणाया वा आत्मा । तदत्यन्तभेदाभिसन्धिः नैगमाभासः । गुणगुणिनाम् अवयव्यवयविनां क्रियाकारकाणां जातितद्वतां चेत्यादि तादात्म्यमविवक्षित्वा गुणगुणिनोः धर्मिधर्मयोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षा नैगमे, सङ्ग्रहादौ एकान्तिवत्तेति भेदः ।

गुणप्रधानभावेन मुख्यामुख्यरूपतया **धर्मयोः एकस्मिन् धर्मिणि विवक्षा**

कारिकाव्याख्या– प्रतिपत्तुरभिसन्धि **नैगमः** स कथं प्रधानभूतोभयधर्मस्वभावधर्मिविपर्ययप्रमाणरूपतां प्रतिपद्येत ? तदाभासमाह–**अत्यन्तभेदोक्तिः 'धर्मयोः एकधर्मिणि'** इति सम्बन्धः, **स्यात् तदाकृतिः** नैगमाभासो भवेत् ।

कारिका विवृण्वन्नाह–जीवः सन्नमूर्त्तः सूक्ष्मो ज्ञाता द्रष्टा कर्त्ताऽसंख्यातप्रदेशी

विवृतिव्याख्यानम्– भोक्ता परिणामी नित्यः पृथिव्यादिभूतविलक्षण एवं प्रधानवृत्त्या जीवस्वतत्त्वनिरूपणाया जीवस्वरूपप्ररूपणाया क्रियमाणाया गुणीभूताः सुखादयो धर्माः । आह्लादनाकारं सुखं तद्विपरीतस्वरूपं दुःखं स्वार्थग्रहणस्वभावं ज्ञानम् इत्येवं मुख्यतः सुखादिस्वरूपनिरूपणाया वा आत्मा 'गुणीभूत' इति सम्बन्धः । नैगमाभासं प्ररूपयन्नाह–'तद्' इत्यादि । तयोः सुखाद्यात्मनोः अत्यन्तभेदाभिसंन्धिः नैगमाभासः । उदाहरणमाह–गुणगुणिनाम् अवयवावयविनां जातितद्वतां चेत्यादि । 'अत्यन्तभेदाभिसन्धिर्नैगमाभासः' इति सम्बन्धः । अनेन कापिलीयोऽपि चैतन्यसुखाद्योरत्यन्तभेदाभिसन्धिः चिन्तितः । कुतोऽसौ नैगमाभासः ? इत्यत्राह–'तादात्म्यम्' इत्यादि । यतोऽसौ धर्मधर्मिणोस्तादात्म्यं सदपि अविवक्षित्वा स्वदुरागमवासनाविपर्यासितमतेः प्रतिपत्तुः प्रवर्तते ततोऽसौ नैगमाभास इति । धर्मधर्मिणोः इत्युपलक्षणार्थमेतत्, तेन अवयवावयविनोः क्रियाकारकयोः जातितद्वतोश्च ग्रहणम् । धर्मयोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षा नैगमे यतः ततोऽत्यन्तभेदविवक्षा तदाभास इत्यभिप्रायः । सङ्ग्रहादेरस्य कुतो भेदः ? इत्यत्राह–'सङ्ग्रह' इत्यादि । सङ्ग्रहः आदिर्यस्य व्यवहारादेः स तथोक्तः तत्र एकस्य गुणादेः गुण्यादेर्वा विवक्षा इति हेतोः भेदः नैगमात् सङ्ग्रहादेः इति ।

तत्र सङ्ग्रहस्वरूपं सप्रतिपक्षं दर्शयन्नाह–

---

(१) विपर्ययप्रमाण तद्रूपताम् । (२) "सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्"–न्यायवि० । द्रष्टव्यम्–अकलङ्कग्र० परि० पृ० ५८ ।

1–णामं ज० वि० । 2–भूतावि–ज० वि० । 3 निगमे ज० वि० । 4–भिसम्बन्धि आ० । 5–पद्यते आ०, श्र० । 6 चात्मा ब० । 7–सम्बन्धि श्र० । 8 वेत्यादि आ० । 9 नगमो यत ब०, श्र० ।

[1]सदभेदात् समस्तैक्यसंग्रहात् संग्रहो नयः ।
दुर्नयो ब्रह्मवादः स्यात् तत्स्वरूपानवाप्तितः ॥६९॥

विवृतिः-सर्वमेकं सदविशेषात् इति संग्रहो नयः । तदाभासो ब्रह्मवादः तदभ्युपगमोपायाभावात् । नापि [1]तस्योपेयत्वं खरविषाणवत् ।

समस्तस्य जीवाजीवविशेषप्रपञ्चस्य [2]**ऐक्येन संग्रहात्** कारणात् **संग्रहो नयः** 'प्रवर्त्तते' इत्युपस्कारः । कुतः समस्तैक्यसंग्रहः इत्याह-**सदभेदात्** । ब्रह्मवादोऽपि सदभेदमाश्रित्य समस्तैक्यं संगृह्णाति इति सोऽपि संग्रहः स्यादि[3]त्यत्राह-'**दुर्नय**' इत्यादि । **दुर्नयः** संग्रहाभासो **ब्रह्मवादः स्यात्** । कुत एतत् ? इत्यत्राह-'**तद्**' इत्यादि । **तस्य** ब्रह्मणः **यत्स्वरूपं** निराकृतसकलभेदप्रपञ्चं सत्तामात्रं तस्य **अनवाप्तितः** प्राप्तेरभावात् ।

कारिकार्थ–

कारिकां विवृण्वन्नाह-'**सर्वम्**' इत्यादि । सर्वं चेतनाचेतनरूपं वस्तुजातम् एकं सदविशेषात् इति एवं संग्रहनयः प्रवर्त्तते । तदाभासः संग्रहाभासः ब्रह्मवादः । कुत एतत् ? इत्यत्राह-'**तद्**' इत्यादि । तदभ्युपगमस्य ब्रह्मवादस्वीकारस्य **उपायाभावात्** प्रमाणाभावात् । प्रमाणमूलो हि अभ्युपगमः सत्य इत्यभिप्रायः । दोषान्तरमाह-'**नापि**' इत्यादि । **नापि तस्य** ब्रह्मणः **उपेयत्वं** स्वीकरणीयत्वम् '**उपायाभावात्**' इत्यभिसम्बन्धः । यस्य उपायाभावो न तदुपेयम् यथा **खरविषाणम्**, उपायाभावश्च ब्रह्मण इति । यथा चास्य न कश्चिदुपायो घटते तथा ब्रह्माद्वैतनिषेधावसरे[2] व्यासतः चिन्तितम् ।

विवृतिव्याख्यानम्–

व्यवहारनयं दर्शयन्नाह-

[3]व्यवहारानुकूल्यात्तु प्रमाणानां प्रमाणता ।
नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसङ्गतः ॥७०॥

विवृतिः-प्रमाणानां प्रामाण्यं व्यवहाराविसंवादात् इति आकुमारं प्रसिद्धम्,

---

(१) व्याख्या- समस्तस्य जीवाजीवविशेषस्य एकत्वेन ऐक्येन संग्रहात् संक्षिप्य ग्रहणात् । कथमेकत्वस्य संग्रहणमित्याशङ्क्याह-सदभेदात् सत् सत्त्वसामान्यं सत्त्वासत्त्वभेदस्य समाश्रित्य । नहि सत्त्वात् किञ्चिद् भिन्नमस्तीति वक्तुं युक्तं विरोधात् । दुर्नयः संग्रहाभासः स्यात् । कः ? ब्रह्मवादः सत्ताद्वैतम् । कुतः ? तत्स्वरूपानवाप्तितः तस्य परपरिकल्पितब्रह्मणः स्वरूपं भेदप्रपञ्चशून्यं सन्मात्रं तस्यानवाप्तिः प्रमाणादप्राप्तिस्ततः न खलु तत् प्रत्यक्षादिप्रमाणात् प्राप्यते तथाऽप्रतीतेः ।'-लघी० ता० पृ० ९०। (२) पृ० १५०। (३) व्यवहारानुकूल्यात्तु संग्रहभेदको व्यवहारः तस्यानुकूल्यमविसंवादः तस्मादेव । बाध्यमानानां संशयादीनां विसंवादिनां ज्ञानानाम् । तत्र प्रमाणेतरव्यवस्थानिबन्धनत्वात् व्यवहारो नयः अन्यथा तदाभास इत्यर्थः । -लघी० ता० पृ० ९१। उद्धृतोऽयम्-'व्यवहारानुकूल्येन प्रमाणानां प्रमाणता । नान्यथा बाध्यमानानां तेषाञ्च तत्प्रसङ्गतः ।'-तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१। तुलना-"प्रामाण्यं व्यवहारेण"-प्रमाणवा० ३।५।

---

1 तस्योपेयत्वं ज० वि० । 2 ऐक्येन आ०, ब० । 3-त्यत्राह श्र० ।

अन्यथा संशयविपर्यासस्वप्नज्ञानादीनामपि प्रामाण्यमनिवार्यं स्यात्। प्रत्यक्षं सविकल्पकं प्रमाणं व्यवहाराविसंवादात्। उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं सत् गुणपर्ययवद्द्रव्यम् जीवश्चैतन्यस्वभावः इत्यादि श्रुतज्ञानस्य प्रमाणान्तराबाधन-पूर्वापराविरोधलक्षणसंवादसंभवात् प्रामाण्यम्, अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकव्यवहारानुकूल्याच्च। बहिरर्थविज्ञप्तिमात्रशून्यवचसां व्यवहारविरोधित्वात् दुर्नयत्वम्।

प्रमाणानाम् अध्यक्षादीनां या **प्रमाणता** सौगतादिभिरिष्यते सा व्यव-

कारिकार्थ – **हारानुकूल्यादेव** उपपन्ना **नान्यथा, अन्यथा** व्यवहारप्राति-कूल्यप्रकारेण न, कुत एतत्? इत्यत्राह–'**बाध्यमान**' इत्यादि। **बाध्यमानानां** व्यवहारानधिरूढप्रातीतिकद्विचन्द्रसकलशून्यताद्यर्थविषयज्ञानानां **तत्प्रसङ्गतः** प्रमाणताप्रसङ्गतः।

कारिकां व्याख्यातुमाह–'**प्रमाणानाम्**' इत्यादि। **प्रमाणानां** प्रत्यक्षादीनां

विवृतिव्याख्यानम्– **प्रामाण्यम्** अमिथ्यात्वम् इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारलक्षणव्यवहाराविसंवादात्, इत्येतत् आकुमारम् आबालं प्रसिद्धम्। **अन्यथा** व्यवहाराविसंवादाभावप्रकारेण तत्प्रामाण्ये **संशयविपर्यासस्वप्नज्ञानादीनामपि प्रामाण्यमनिवार्यं स्यात्**। तदविसंवादाच्च तत्प्रामाण्ये यत् परैः निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं तदप्रमाणं व्यवहाराविसंवादाभावात् इति मन्यमानः आह–'**प्रत्यक्षम्**' इत्यादि। **प्रत्यक्षं सविकल्पकम् प्रमाणं 'स्यात्'** इत्यनेन सम्बन्धः। कुत एतत्? इत्यत्राह–**व्यवहाराविसंवादात्**। न पुनः निर्विकल्पकं तद्विपर्ययात् इति भावः। साम्प्रतं श्रुतस्य सतः एव प्रामाण्यं दर्शयन्नाह–'**उत्पाद**' इत्यादि। **उत्पादविगमध्रौव्याणि लक्षणं** स्वरूपं यस्य तदेतल्लक्षणं जीवादिवस्तु **सद्** भवति, **गुणपर्ययवद्द्रव्यं जीवश्चैतन्यस्वभावः इत्येवमादिश्रुतज्ञानस्य** अस्पष्टतर्कणस्य '**प्रामाण्यं स्यात्**' इति गतेन सम्बन्धः। कुत एतत्? इत्यत्राह–'**प्रमाणान्तर**' इत्यादि। श्रुतात् अन्यत् प्रत्यक्षादि **प्रमाणान्तरं** तेन **अबाधनञ्च पूर्वापरयोः** श्रुतवाक्ययोः **अविरोधश्च** लक्षणं यस्य **संवादस्य** तस्य तत्र **संभवात्**। अत्रैवार्थे हेत्वन्तरमाह–'**अर्थ**' इत्यादि। **अर्थो** जीवादिः **अभिधानं** जीवादिशब्दः **प्रत्ययः** तद्विषयो ज्ञानं ते **आत्मा** यस्य **व्यवहारस्य** तस्यानुकूल्याच्च

(१) तुलना– त्रय एवार्था अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात् –राजवा० पृ० १७। अष्टश० अष्टसह० पृ० २५१। (२) व्यवहाराविसंवादात्। (३) सौगतानाम्। (४) द्रष्टव्यम्–पृ० ६०५ टि० ७। (५) तुलना– "गुणाणमासओ दव्वं एगदव्वस्सिआ गुणा। लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिआ भवे॥"–उत्तरा० २८।६। "दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं। गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णन्ति सव्वण्हू॥"–पञ्चास्ति० गा० १०। "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्"–तत्त्वार्थसू० ५।३८। न्यायवि० का० १११। "तं परियाणहि दव्वु तुहुँ जं गुणपज्जयजुत्तु। सहभुव जाणहि ताहँ गुण कमभुव पज्जउ वुत्तु॥"–परमात्मप्र० गा० ५७।

1 श्रुतज्ञानस्य ज० वि०। 2–मात्रे शून्य–ज० वि०। 3 'अन्यथा' नास्ति आ०, ब०। 4–मारबालं श्र०। 5 इत्याह ब०, श्र०। 6 संवादस्य तत्र आ०, ब०।

हेतो श्रुतज्ञानस्य 'प्रामाण्यम्' इति सम्बन्धः । व्यवहारदुर्नयं दर्शयन्नाह–'बहिरर्थ' इत्यादि । बहिरर्थश्च विज्ञप्तिमात्रञ्च ताभ्यां शून्यं तत्प्रतिपादकवचसा दुर्नयत्वम् । बहिरर्थशून्यवचसां विज्ञप्तिमात्राद्वैतप्रतिपादकवचसां तन्मात्रशून्यवचसां सकलशून्यताप्रतिपादकवचसामिति । कुतः तेषां दुर्नयत्वम् ? इत्याह–'व्यवहारविरोधित्वात्' इति । नहि तद्वचस्सु इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारान्लक्षणव्यवहारस्य अविरोधो युक्तः प्रमाणप्रमेयसद्भावे सत्येव अस्याऽविरोधात् । ऋजुसूत्रनयं दर्शयन्नाह–

[1]भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मतः ।
सर्वथैकत्वविक्षेपी तदाभासस्त्वलौकिकः ॥७१॥

विवृतिः–बहिरणवः सचिता[2] स्थूलमेकाकारप्रत्ययमभूतं यथा दर्शयन्ति तद्वत् सवित्परमाणवोऽपि चित्राकारमेकम् । ततो नैकमनेकरूपं तत्त्वमक्रमं यत् सक्रमं साधयेत् भेदस्याभेदविरोधात्, अन्यथा क्वचिन्नानात्मैव न स्यात् । सापेक्षो नयः निरपेक्षो दुर्नयः । प्रतिभासभेदात् स्वभावभेदं व्यवस्थापयन् तदभेदादभेदं प्रतिपद्यत एव विशेषाभावात्, तदन्यतरापाये अर्थस्याऽनुपपत्तेः ।

सर्वस्य सर्वतो भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजु प्राञ्जलं वर्तमानपर्यायमात्रं सूत्रयति प्ररूपयति इति ऋजुसूत्रः नयो मतः । प्रधानकारिकार्थः– शब्दस्यार्थे च सम्बन्धिगम्यत्वात् द्रव्यं तस्य अप्रधानम् । तदाभासमाह–'सर्वथा' इत्यादि । सर्वथा गुणप्रधानभावाभावप्रकारेण एकत्वविक्षेपी एकत्वनिराकारकः तदाभासः ऋजुसूत्राभासः । तु यस्मादर्थे, यस्मात् लौकिकः लोकव्यवहारातिक्रान्तोऽयमीदृशो भेदाभ्युपगमः । न खलु सर्वथैकत्वप्रतिक्षेपेण स्थासकोशकुशूलादौ बालकुमारादौ वा भेदव्यवहारो लोके प्रसिद्धः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'बहिः' इत्यादि । बहिरणवः दर्शयन्ति जनयन्ति स्थूलमेविवृतिव्याख्यानम्– काकारप्रत्ययम्, किंविशिष्टम् ? अभूतम् अपरमार्थविषयम् । कथम्भूतास्ते ? सञ्चिता[3] पुञ्जीभूताः । एवंविधास्ते यथा येन प्रकारेण तथा

(१) व्यवहारस्य । (२) 'प्राधान्यतः मुख्यत्वेन, अनेन गौणत्वेन द्रव्यमप्यपेक्षत इत्यर्थः । ■ पुनस्तदाभासो भवति । किं विशिष्टः ? एकत्वविक्षेपी एकत्वं द्रव्यं विक्षिपति निराकरोतीत्येवंशीलः एकत्वविक्षेपी । कथम् ? सर्वथा प्राधान्यतोऽप्राधान्यतश्च, पुनः किं विशिष्टः ? अलौकिकः लोको व्यवहारस्तत्प्रयोजनो लौकिकः तद्विषययोऽलौकिकः अलौकिकान्त्यिथ । न हि परस्परं सजातीयविजातीयव्यावृत्ताः प्रतिक्षणविशरारवः परमाणवो व्यवह्रियन्ते परीक्षकैः यतस्तद्विषयो नयाभासो न स्यात् ।' –लघी० ता० पृ० ९१ । (३) सौगतमते पुञ्जीभूताः परमाणव एव स्थूलाकारप्रत्ययहेतवः तथाहि– अर्थान्तराभिसम्बन्धाज्जायन्ते येऽणवोऽपरे । उक्तास्ते सञ्चितास्ते हि निमित्तं ज्ञानजन्मनः ॥ –प्रमाणवा० ३।१९५ । (४) 'ऋजु प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयत इति ऋजुसूत्रः ।' –सर्वार्थसि० राजवा० १।३३ । (५) सर्वथा क्षणिकत्वस्वीकारः ।

1–स्य सम्ब–आ० । ■ 'जनयन्ति' नास्ति श्र० ।

र्निध प्रत्यय दर्शयन्ति तद्वत् सनित्परमाणनोऽपि, कथम्भूतम् ? चित्राकारम्, नीलादिग्राह्याद्यनेकाकारमेकरूपम् अत एव अभूतम् । उपसंहारमाह–'ततः' इत्यादि । यस्मादेकाकारप्रत्ययस्य अपरमार्थविषयत्वं ततो नैकमभिन्नस्वभावं तत्त्वं जीवादिवस्तु अक्रमं युगपद् अनेकरूपम् 'युक्तम्' इत्युपस्कारः । यत् सक्रमं क्रमवत् सुखादिभेदभिन्नम् आत्मानं साधयेत् । 'यत्' इत्याक्षेपे वा नैव साधयेत् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–'भेदस्य' इत्यादि । भेदस्य नानात्वस्य अभेदेन एकत्वेन विरोधात् । विपक्षे बाधकमाह–'अन्यथा' इत्यादि । अन्यथा अन्येन तदविरोधप्रकारेण क्वचिद् घटपटादौ नानात्वमेव न स्यात् इति । अस्याभिसन्धेर्नयत्वं दुर्नयत्वञ्च दर्शयन्नाह–'सापेक्ष' इत्यादि । सह प्रत्यनीकधर्मापेक्षया वर्त्तते इति सापेक्षः नयः । अपेक्षातो निष्क्रान्त निरस्ता वा अपेक्षा येनासौ निरपेक्षः दुर्नय । ननु प्रमाणाभावेन अभेदस्य क्वचिदनुपपत्तेः कथं तदपेक्षो नय स्यात् ? इत्यत्राह–'प्रतिभास' इत्यादि । प्रतिभासस्य प्रत्यक्षादिसंवेदनाकारस्य भेदात् स्वभावभेदं चेतनेतरस्वरूपनानात्वं व्यवस्थापयन् सौगत तदभेदात् प्रतिभासाभेदात् अभेदं प्रतिपद्यत एव विशेषाभावात् । एतच्च 'अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः' [लघी० का० ८] इत्यत्र सप्रपञ्चं प्रपञ्चितम् । अत्रैवार्थे समर्थनान्तरमाह–'तद्' इत्यादि । तयोः भेदाभेदयोर्मध्ये अन्यतरस्य भेदस्य अभेदस्य वा अपाये अर्थस्य उत्तरकार्यस्य संवेदनस्य वाऽनुपपत्तेः, सापेक्षो नयः निरपेक्षो दुर्नय इति ।

अथ सप्तनयेषु मध्ये के अर्थप्रधाना के च शब्दप्रधाना ? इत्याह–

चत्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात् ।
त्रयः शब्दनयाः सत्यपदविद्यां समाश्रिताः ॥७२॥

विवृतिः–कालकारकलिङ्गभेदात् शब्दः अर्थभेदकृत् अभूत् भवति भनि-

(१) व्याख्या– एते । के ? नैगमादयः प्रागुक्ता चत्वारोऽर्थनया अर्थप्रधाना नया । कुत ? जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात्, जीवाजीवादीनामर्थानां व्यपाश्रयाद् आलम्बनात् । त्रय शेषाः शब्दसमभिरूढैवम्भूता शब्दनया शब्दप्रधाना नया । किं विशिष्टा ? सत्यपदविद्या समाश्रिता, सत्यानि प्रमाणान्तराबाधितानि पदानि कालकारकादिभेदवाचीनि तथा विद्या व्याकरणशास्त्रं तामाश्रिता आलम्बिता व्याकरणाश्रितत्वादित्यर्थ ।"–लघी० ता० पृ० ९२ । तुलना–"चत्वारोऽर्थाश्रयाः शेषास्त्रयं शब्दतः ।" –सिद्धिवि०, टी० पृ० ५१७ B । "तत्र संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रा अर्थनया शेषा शब्दनया "–राजवा० पृ० १८६ । अत्थप्पवरं सद्दोवसज्जणं वत्थुमुज्जुसुत्तंता । सद्दप्पहाणमत्थोवसज्जणं सेसया विंति । –विशेषा० गा० २७५३ । "तत्रर्जुसूत्रपर्यन्ताश्चत्वारोऽर्थनया मता । त्रय शब्दनया शेषा शब्दवाच्यार्थगोचरा ॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७४ । नयविव० पृ० २६२ । "एषु चत्वार प्रथमे प्रतिपादनपरत्वादर्थनया शेषास्तु त्रय शब्दवाच्यगोचरतया शब्दनया ।"–प्रमाणनय० ७।४४ ४५ । जैनतर्कभा० पृ० २३ । नयप्रदीप पृ० १०४ B । उद्धृतोऽयम्–"जीवाद्यर्थविनिश्चयात् ।"–आव० नि० मलय० पृ० ३८१ B । सूत्रकृताङ्ग० टी० पृ० ४२६ A ।

1–विषप्रत्य–श्र०, ब० । 2 भेदमात श्र० । 3 व्यवस्थापयेत सौ–आ० । 4 'प्रतिभासाभेदात्' नास्ति श्र० । 5–स्य वानुप–आ० । 6–विद्यामाश्रि–ज० वि० ।

ष्यति, करोति क्रियते, देवदत्तो देवदत्ता इति। पर्यायभेदाद् अभिरूढोऽर्थभेदकृत् इन्द्र शक्र पुरन्दर इति। क्रियाश्रय' एवम्भूतः। कुर्वत एव कारकत्वम्। यदा न करोति तदा कर्तृत्वस्य अयोगात् इति। कथं पुन शब्दज्ञानं विवक्षाव्यतिरिक्तमर्थं प्रत्येति ? कथं च न ? तदप्रतिबन्धात्। 'नहि बुद्धेरकारणं विषयः' इत्येतत् प्रतिव्यूढम्, विज्ञानस्य अनागतनिर्णयात्। कृत्तिकोदयदर्शने शकटोदयो भविष्यति बुद्धिरविसंवादिनी, आदित्यः श्व उदेता, सूर्याचन्द्रमसोः ग्रहणं भविष्यति, तन्तव पटो भविष्यन्ति, मृत्पिण्डो घटो भविष्यति, तन्दुला भविष्यन्त्योदनम्, व्रीहय' तन्दुला भविष्यन्ति, इत्याद्यनागतविषयाणाम् अविसंवादिनाम् आनन्त्यात्। तत' शब्दज्ञानमपि विवक्षाव्यतिरिक्तार्थग्राहि सिद्ध प्रतिबन्धमन्तरेणापि तत्प्रतिपादनसामर्थ्यात् लिङ्गवदिति। वर्त्तनालक्षण. काल, क्रियाविष्ट द्रव्य कारकम्, स्त्यान प्रसव-तदुभयाभावसामान्यलक्षण लिङ्गम्, कथञ्चिद् वस्तुस्वभावभेदक तथाप्रतीते। पर्यायोऽपि अर्थभेदकृत्। क्रियाभेदात् एकोऽपि शब्द' क्रियानिमित्तकव्युत्पत्ति तदभावात् तदर्थं नाचष्टे इति परमैश्वर्यमनुभवन्नेव इन्द्र' नान्यदा, तत सिद्ध क्रियाभेद' पाचकपाठकादिवत्। नहि वर्णपदवाक्याना व्युत्पादक शास्त्र वितथम् परमार्थशब्दप्राप्त्युपायकृत् ज्ञातुरभिप्रायात्मकनयवत्। व्यावहारिकप्रकृत्यादिप्रक्रियाप्रविभागेन यथा पारमार्थिकादनेकान्तात्मकादर्थादपोद्धृत्य तदशमेकान्त व्यावहारिक तत्प्रतिपत्त्युपाय प्रकाशयन् नय. न मिथ्यात्वमनुभवेत्, निरपेक्षस्यैव मिथ्यात्वात्। अनेकान्तनिराकृते' निरपेक्षत्वम् तदनिराकृते सापेक्षत्व नान्यथा नयाना सम्यक्त्वमिथ्यात्वे इति स्थितम्।

चत्वार एते नैगम-सग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्राख्या व्याख्यातस्वरूपा हि स्फुटम् **अर्थनया** एव अर्थप्रधाननया **अर्थनया'**। कुत ? इत्याह– **जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात्** जीवाद्यर्थसमाश्रयणात्। **त्रय'** शब्द-समभिरूढैवम्भूता **शब्दनया'** शब्दप्रधाना नया **शब्दनया'**। कुतस्ते तथाविधा ? इत्याह–'**सत्य**' इत्यादि। **सत्यानि** अवितथानि अपशब्दस्वरूपरहितानि यानि **पदानि** कालकारकादिभेदवाचीनि तेषा **विद्या** व्याकरण यत्र तानि व्युत्पाद्यन्ते ता **समाश्रिता** यत तत ते शब्दप्रधाना।

कारिकार्थ –

कारिकापूर्वार्द्धस्य अनन्तरमेव व्याख्यातत्वात् उत्तरार्द्ध विवृण्वन्नाह–'**काल**' इत्यादि। शब्द शब्दनय अर्थभेदकृत्। कुत ? कालकारकलिङ्गभेदात्। '**यथा**' इत्यादिना एतदेव दर्शयति। तत्र कालभेदाद् अभूत् भवति भविष्यति। कारकभेदात **करोति क्रियते**। लिङ्गभेदात् **देवदत्तो देवदत्ता** इति। पर्यायभेदादभिरूढोऽर्थभेदकृत् इन्द्र शक्र' पुरन्दर इति। क्रिया-

विवृति-व्याख्यानम्–

1-प्रतिभागेन ब० ई०। 2 'जीवाद्यर्थसमाश्रयणात' नास्ति श्र०। 3 'शब्दनयाः' नास्ति आ०।

थयः एवम्भूतः । कुत एतत् ? इत्याह–'कुर्वतः' इत्यादि । शचीपते इन्दनादिक्रिया कुर्वत एव कारकत्वम्, यदा न करोति तदा कर्तृत्वस्याऽयोगात् इति । पर आह–'कथम्' इत्यादि । कथम् ? न कथञ्चित्, 'पुनः' इत्याक्षेपे, शब्दज्ञानं शब्दस्य कार्यं यन्थर्ज्ञान तत् विवक्षाव्यतिरिक्तमर्थं वहि स्वलक्षण प्रत्येति विषयीकरोति । सूरि पर पृच्छति–'कथञ्च न' इति । स पृष्ट आह–तदप्रतिबन्धात् । तस्मिन् अर्थे अप्रतिबन्धात् तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धासभवात् शब्दज्ञानस्य । तत्प्रतिबन्धेऽपि तत् संभवे(वै)ति इति चेन्नाह–'नहि' इत्यादि । हि यस्मात् न बुद्धेः अकारण किन्तु कारण विषयः इत्येतत् प्रतिव्यूढम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–विज्ञानस्य अनागतनिर्णयात् । अनागतस्य अलब्धात्मलाभतया अकारणभूतस्य अर्थस्य निर्णयात् निर्णयसभवात् । तथाहि–कृत्तिकोदयदर्शने शकटोदयो भविष्यति बुद्धिरविसंवादिनी, एवम् आदित्यः श्व उदेता, सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहण भविष्यति, तन्तवः पटो भविष्यन्ति, मृत्पिण्डो घटो भविष्यति, तन्दुलाः भविष्यन्त्योदनः, व्रीहयः तन्दुला भविष्यन्ति इत्याद्यनागतविषयाणामविसंवादिना ज्ञानानामानन्त्यात् । 'ततः' इत्यादिना प्रकृतमर्थमुपसंहरन्नाह–यत अनागतविषयत्व ज्ञानस्य सिद्ध ततः शब्दज्ञानमपि न केवल प्रत्यक्षानुमानज्ञानम् विवक्षाव्यतिरिक्तार्थग्राहि सिद्धम् । ननु शब्दस्य अर्थप्रतिबन्धाभावात् कथ तज्ज्ञानम् अर्थग्राहि ? इत्यत्राह–'प्रतिबन्ध' इत्यादि । प्रतिबन्धमन्तरेणापि तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्ध विनापि तस्य शब्दस्य यत् प्रतिपादक स्वाभाव्य योग्यतालक्षण स्वरूप तस्मात् तत् तद्ग्राहि सिद्धम् । अत्र दृष्टान्तमाह–'विज्ञानवत्' इति । शब्दज्ञानस्य दार्ष्टान्तिकत्वात् इह विज्ञानग्रहणेन यत् प्राग् अर्थानन्यतया समर्थित प्रत्यक्ष तदेव गृह्यते, तदिव तद्वदिति ।

ननु कालादिभेदात् शब्दनयस्य अर्थभेदकत्व प्रतिपादितम्, कालादीना तु लक्षण नोक्तम्, न चालक्षितरूपाणाम् अर्थभेदप्रतीतिहेतुत्व युक्तम् अतिप्रसङ्गात् इत्याशङ्क्य तेषा लक्षण प्ररूपयन्नाह–'वर्त्तना' इत्यादि । सकलपदार्थाना वृत्तिहेतुत्व वर्त्तना सा लक्षणं यस्य असौ तल्लक्षण कालः । क्रियया आविष्ट युक्त द्रव्य कारकम्, क्रिया कुर्वद्द्रव्य कारकमित्यर्थः । लिङ्ग त्रिविधम् स्त्रीपुनपुसकभेदात् । तत्र स्त्यानसामान्यलक्षण स्त्रीलिङ्गम् । प्रसवसामान्यलक्षणम् अपत्यजनकत्वमात्रलक्षण पुल्लिगम् । तदुभयाभावसामान्यलक्षणं स्त्यानप्रसवोभयाभावमात्रलक्षण नपुसकलिङ्गमिति । तदे-

(१) सौगत । (२) शब्दज्ञानम् । (३) अथम् । (४) शब्दज्ञानम् । (५) शब्दज्ञानम् ।

1 ततस्त्वमवेति ब०, ततत्रमद्यवेति श्र० । 2 'किन्तु कारण नास्ति श्र० । 3 नक्टोदये भवि– आ०, नक्टोदये च भवि–श्र० । 4 अर्थे प्रति–ज०, श्र० । 5 'प्रत्यक्ष नास्ति श्र० । 6 न चालक्षण लक्षितरूपा–श्र० । 7 अर्थे भेद–ब० । 8 क्रियाया अविनिष्ट श्र० । 9 –क्षणं स्त्यानप्रसवाभयाभाव सामान्यलक्षणं स्त्यानप्रस–आ० ।

तदुक्तलक्षण कालादि कथञ्चिद् वस्तुस्वभावभेदकम् तथाप्रतीते प्रतिपत्तव्यम् ।

ननु '**पर्यायभेदादभिरूढोऽर्थभेदकृत्**' इत्ययुक्तमुक्तम्, पर्यायस्यार्थाऽभेदकत्वात् इत्याशङ्क्याह–'**पर्याय**' इत्यादि । न केवल कालादय किन्तु **पर्यायोऽपि** 'इन्द्र, शक्र, पुरन्दर' इत्यादिरूप **अर्थस्य** शचीपत्यादे **भेदकः** कथञ्चिद् वैलक्षण्यापादक '**तथाप्रतीतेः**' इत्यनन्तरेणाभिसम्बन्धात् । यदपि '**क्रियाश्रय एवम्भूतः**' इत्युक्तम्, तत्रापि कुतोऽस्य एकत्रापि पर्याये क्रियाभेदाद् भेदहेतुत्वम् ? इत्यत्राह–'**क्रिया**' इत्यादि । **क्रियाभेदाद्** इन्दनादिभेदात् **एकोऽपि शब्दः** इन्द्रादिपर्यायरूप **क्रियानिमित्तक-व्युत्पत्तिः** तदभावात् तन्निमित्तव्युत्पत्तेरभावात् **तदर्थम्** इन्द्राद्यर्थं **नाचष्टे इति हेतो परमैश्वर्यम्** इन्दनक्रिया अनुभवन्नेव इन्द्र **नान्यदा** अभिषेचनादिकाले । एव शकन काल एव शक्र पूर्दारणसमय एव पुरन्दर नान्यदा '**तथाप्रतीते.**' इति गतेन सम्बन्ध । यतो यत्क्रियापरिणत पदार्थ तत्क्रियानिमित्तव्युत्पत्तिके शब्दे तत्काल एवाभिधीयते नान्यदा । ततः सिद्ध **क्रियाभेदो भेदको भावाना पाचकपाठकादिवत्** ।

ननु क्रियामाश्रित्य शब्दा व्याकरणेन व्युत्पाद्यन्ते, तच्च मिथ्या इत्येके, वर्णा एव पदमेव वाक्यमेव वा सत्यमित्यन्ये, तन्मतमपाकर्तुमाह–'**नहि**' इत्यादि । **नहि** न खलु **वर्णपदवाक्याना व्युत्पादक शास्त्र** व्याकरणलक्षण **वितथम् परमार्थशब्दप्राप्त्युपायत्वात्** । नहि व्याकरणासत्यत्वे अपशब्दव्युदासेन सम्यक्शब्दप्रतीत्युपाय कश्चित् सम्भवति । ननु वृद्धव्यवहारपरम्परात एव शब्दाऽपशब्दविवेको भविष्यति अनस्तदर्थं व्याकरणसमाश्रयणमयुक्तम्, इत्यप्यविचारितरमणीयम्, व्याकरणानपेक्षाद् वृद्धव्यवहारादेव आनन्त्येनाऽखिलशब्दाना प्रतिपद तद्विवेकस्य कर्तुमशक्यत्वात् । व्याकरणाश्रयणेन तु सामान्यविशेषवता लक्षणेन उपलक्षिताना स्वल्पप्रयत्नेनापि तेषा तद्विवेक कर्तुं सुशक । तथाहि–"*कर्मण्यण्*" [पाणिनि० ३।२।१] इत्येकेनैव सूत्रेण कुम्भकार-काण्डलाव-शास्त्राध्यायादयो बहव शब्दा सङ्गृह्यन्ते, अत व्याकरणानुगृहीतात् लोकव्यवहारात् सुखेनैव *शब्दापशब्दविभागस्य कर्तुं शक्यत्वात् अस्ति व्याकरणस्योपयोग । न चास्याऽ*-प्रमाणत्वात् तद्विभागे नोपयोग इत्यभिधातव्यम्, तदप्रामाण्ये कर्त्रादिकारकप्रपञ्चस्य सम्प्लवप्रसङ्गात् । न च तत्सम्प्लव अस्ति । अत अयमेव तदसम्प्लव स्वसिद्धये व्याकरण प्रमाणयति, अन्यत तदसम्प्लवस्यानुपपत्ते । व्याकरणत एव हि प्रकृतिप्रत्ययविभागद्वारेण अन्योन्यविभक्तस्य कर्मकर्त्रादिकारकप्रपञ्चस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता नान्यत, तथाप्रतिपत्तिहेतोस्ततोऽन्यस्याऽसम्भवात् । ननु वर्णपदवाक्याना निरंशत्वात् किं तेन प्रकृत्यादि-

(१) शब्दापशब्दविवेकार्थम् । (२) द्रष्टव्यम्–पृ० ७६० टि० १ । (३) कर्त्रादिकारकनयत्यम् ।
(४) व्याकरणशास्त्रेण ।

1 स्वाख्ये आ । 2 नान्यथा श्र० । 3 पाचकपाचकपाठकादि–आ० पाचकपाठकादि–ब० । 4–पाठादि–श्र० । 5–परम्परया त एव श्र० । 6 प्रतिपादं श्र० । 7–विन्यवल्लक्ष–आ० । 8–शास्त्राध्याया–श्र० । 9 तत श्र० ।

प्रविभागमाश्रित्य व्युत्पादेत ? निरंशानामपि तेषां तत्प्रविभागं परिकल्प्य व्युत्पादने तच्छास्त्रं वितथमेव स्यात् तेस्त्वैरूपाऽससर्पशित्वात् इत्यत्राह–'व्यावहारिक' इत्यादि । व्यवहारे व्यवहारनयभेदप्ररूपके वैयाकरणव्यवहारे वा भवा या प्रकृत्यादिप्रक्रिया तस्या प्रविभागो भेद तेन परमार्थः वास्तवो य शब्दः वर्णपदवाक्यरूप॰ । वर्णो हि उदात्तादिभेदेन भिन्न व्यवहारे वास्तव प्रसिद्ध, पद तु सुप्तिङन्तभेदेन, वाक्यमपि अन्योन्यापेक्षाणा पदाना निरपेक्ष समुदाय इत्यादिभेदेन इति । यथा च नित्यनिरंशादिरूपाणा वर्णपदवाक्यानामनुपपत्ति तथा 'वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान्' [लघी॰ का॰ ६४] इत्यत्र प्रपञ्चत प्ररूपितम् । तस्य प्राप्त्युपायत्वात् स्वरूपावगतिहेतुत्वात् । 'नहि तद्व्युत्पादक शास्त्र वितथम्' इति सम्बन्ध । प्रयोग –य परमार्थभूतस्य प्राप्त्युपायो नासौ वितथ यथा ज्ञातुरभिप्रायात्मको नय, परमार्थभूतस्य शब्दस्य प्राप्त्युपायश्च वर्णपदवाक्याना व्युत्पादक शास्त्रमिति । तत्र 'ज्ञातुरभिप्रायात्मकनयवत्' इत्यमु दृष्टान्त 'यथा' इत्यादिना व्याचष्टे–यथा येन प्रकारेण न मिथ्यात्वमनुभवेत्, कोऽसौ ? नयः ज्ञातुरभिप्रायः । किं कुर्वन् ? प्रकाशयन्, किं तत् ? एकान्तम् । कथम्भूतम् ? तदशम् अनेकान्तात्मकार्थैकदेशम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? व्यावहारिकम् व्यवहारप्रयोजनम् । पुनरपि किंविशिष्टम् ? तत्प्राप्त्युपाय तस्य अनेकान्तात्मकार्थस्य प्राप्तिः तस्या उपायः सा वा उपायो यस्य । कथ स प्रकाशयन् ? अपोद्धृत्य पृथक्कृत्य । कस्मात् ? अर्थात् । कथम्भूतात् ? अनेकान्तात्मकात् । किं कल्पनात तथाविधात्तस्मात ? इत्यत्राह–पारमार्थिकात् । परमार्थोऽकल्पित रूप तेन सभवात् । कुतोऽयमित्थम्भूतो न मिथ्यात्वमनुभवेत् ? इत्याह–'निरपेक्षस्य' इत्यादि । प्रत्यनीकधर्मे निष्क्रान्ता अपेक्षा यस्यासौ निरपेक्ष॰ तस्यैव नोक्तप्रकारस्य मिथ्यात्वात् । अथ कस्य निरपेक्षत्व कस्य च सापेक्षत्वम् ? इत्याह–अनेकान्तनिराकृतेः निरपेक्षत्व तदनिराकृते॰ सापेक्षत्वम् । एवंविधसापेक्षानपेक्षत्वप्रकारेणैव नयाना सम्यक्त्व-मिथ्यात्वे नान्यथा इति स्थितम् ।

युक्तिस्वच्छजल सुबोधकमल सद्भङ्गवीचीचयम्,
गम्भीर निखिलार्थपालिकलित सत्साधुहंसाकुलम् ।
प्रज्ञाधीशपटिष्ठपाठपरगाध्यानप्रतानान्वितम्,
जीयाद् दुर्गतितापतद्विषदनन जैनागमाख्य सर ॥८॥

इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे षष्ठ परिच्छेद समाप्त ॥छ॥

(१) वर्णान्याप्रश्राताम् । (२) वर्णान्यायवरयत्वायगाहनात् । (३) शास्त्रस्य ।

1–इतो ब॰,–त्यम् आ॰ । 2–रूपत्वार्था–ब॰ । 3 व्यवहा–ब॰ । 4 तास्त्रश्रा–आ॰, 'भवाया' नास्ति ब॰ । 5 'किं तत्' नास्ति ब॰ । 6 'कथंभूतं' नास्ति ब॰ । 7 व्यवहा–ब॰ । 8–पायार्थं त–ब॰ । 9 'पृथक्कृत्य' नास्ति ब॰, श॰ । 10 भावात् ब॰ । 11–धर्मा नि–ब॰ । 12–त्वम् ब॰, श॰ । 13 पारिकनि–आ॰ । 14 तापवृद्धिदहनं ब॰, श॰ । 15 इति श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यवि–ब॰ । 16 षष्ठम ब॰ ।

सप्तम निक्षेपपरिच्छेद. ।



प्रादुर्भूत निखिलविषयोन्मीलितसंवित्प्ररस्याम्,
शास्त्राम्भोज सकलविषयप्रौढपत्रप्रपञ्चम् ।
लक्ष्मीक्षेत्र प्रमितिनयसत्कर्णिकाकेसराढ्यम्,
निक्षेपोरुप्रवरमकरन्दाप्तये सेव्यतां भो ॥८॥

अथेदानीं शास्त्रनिधानाध्ययनपर्यवसितफलप्ररूपणपुरस्सरं निक्षेपस्वरूपं प्ररूपयन्नाह–

श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः ।
परीक्ष्य तांस्तान् तद्धर्माननेकान् व्यावहारिकान् ॥ ७३ ॥
नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने ।
विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान् ॥७४॥

(१) व्याख्या– पुनरपि कथंभूत ? तपोनिर्जीर्णकर्मा, तपसा यथाख्यातचारित्रलक्षणेन व्युपरतक्रियानिवृत्तिशुक्लध्यानेन निर्जीर्णानि निर्मूलितानि कर्माणि ज्ञानावरणादीनि द्रव्यभावरूपाणि येनासौ तथोक्त । अनेन चारित्रतपस्याराधनाद्वय सूचितम् । भूय किंभूत ? जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् अनेन ज्ञानाराधना कथिता । पुन किंविशिष्ट ? विवृद्धाभिनिवेशेन, विशेषेण वृद्ध क्षायिकस्वरूपेण परिणतमभिनिवेशन सम्यग्दर्शन यस्यासौ तथोक्त । अनेन दर्शनाराधना निरूपिता । एवमाराधनाचतुष्टयस्यैव मोक्षमार्गत्वोपपत्त । किं कृत्वा विवृद्धाभिनिवेशेन सजात इत्याशङ्कयाह– अनुयुज्य पृष्ट्वा । कानि ? द्रव्याणि । किंविशिष्टानि ? जीवादीनि । क ? अनुयोगैश्च प्रश्नरेव । किंविशिष्ट ? निर्देशादिभिस्त गत । तत्र किमित्यनुयोग वस्तुस्वरूपकथन निर्देश यथा चेतनालक्षणो जीव इति । कस्येत्यनुयोग स्वस्याधिपत्यकथन स्वामित्वम् । केनेति प्रश्ने स्वेनेति करणनिरूपण साधनम् । कस्मिन्नित्यनुयोगे स्वस्मिन्नित्याधारप्रतिपादनमधिकरणम् । कियच्चिरमिति प्रश्ने अनन्तकालमिति कालप्ररूपण स्थिति । कतिविध इत्यनुयोगे चत यसामान्यादेकविध इति प्रकारकथन विधानम् । पूर्व कृत्वा विरचय्य न्यस्य । कान् ? अर्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् अर्थश्च वाक् च प्रत्ययश्च त आत्मान स्वभावा यथा ते च त भेदाश्च व्यवहारास्तान । तत्र अर्थात्मानौ भेदौ द्रव्यभावौ तयोरर्थधर्मत्वात् । वागात्मको नामव्यवहार । प्रत्ययात्मकश्च स्थापनाव्यवहार तस्य सकल्परूपत्वात । किंविशिष्टास्तान ? श्रुतार्पितान् श्रुतेन अनेकान्तेन विकल्पितान् । कै ? नयानुगतनिक्षेप नयान् द्रव्यपर्यायविषयाननुगता अनुवृत्ता निक्षेपा न्यासास्त । किंरूप ? उपायै कारण । क्व ? भेदवेदने मुख्यामुख्यविभागनिर्णये कारणभूतैरित्यर्थ । आदौ किं कृत्वा ? परीक्ष्य विचार्य । कै परीक्ष्य ? अभिसन्धिभि ज्ञातुरभिप्राय नयैरित्यर्थ । पूर्व किं कृत्वा ? अधिगम्य ज्ञात्वा । कमर्थम ? जीवादिप्रमेयम् । किंविशिष्टम् ? अनेकान्तात्मकम । कस्मात ? श्रुतात् स्याद्वादागमात । –लघी० ता० प० ९५–९७ ।

1–प्रौढमेघप्र–ब । –तां नो ब०,–ता भो श्र० । 3–मभिग–ब० । 4–वेदनो आ०, ब० ।
5 विचार्यार्थवाक्–श्र० । 6–मदाद्भुता–ब० ।

अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिर्भिदां गतैः ।
द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिनिवेशनः ॥७५॥
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् ।
तपोनिर्जीर्णकर्माऽयं विमुक्तः सुखमृच्छति ॥७६॥ इति ।

विवृतिः–श्रुतमनादि सन्तानापेक्षया, साधनं प्रति सादि । प्रमाणम्–त्रिकालगोचरसर्वजीवादिपदार्थनिरूपणम्, तदर्थांशपरीक्षाप्रवणोऽभिसन्धिर्नयः । ताभ्यामधिगमः परमार्थव्यावहारिकार्थानाम् । तदधिगतानां वाच्यतामापन्नानां वाचकेषु भेदोपन्यासः न्यासः । सोऽपरतः चतुर्धा नामस्थापनाद्रव्यभावतः । तत्र निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम । तच्च जातिद्रव्यगुणक्रियालक्षणनिमित्तानपेक्षसंज्ञाकर्मणोऽनेकत्वात् अनेकधा । आहितनामकस्य द्रव्यस्य सदसद्भावात्मना व्यवस्थापना स्थापना । अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्य

(१) उद्धृता इमे–"तथा चाहुर्भट्टाकलङ्कदेवाः–"श्रुतादयः विवृद्धाभिनिवेशनः'–अनगारध० पृ० १६९। (२) तुलना–"द्रव्यादिसामान्यार्पणात् श्रुतमनादिनिधनमित्युच्यते । न हि केनचित्पुरुषेण क्वचित् कदाचित्कथञ्चिदुत्प्रेक्षितमिति । तेषामेव विशेषापेक्षया आदिरन्तश्च सम्भवतीति मतिपूर्वमित्युच्यते यथाऽङ्कुरो बीजपूर्वकः । स च सन्तानापेक्षया अनादिनिधन इति ।'–सर्वार्थसि० १।२०। (३) तुलना–"विस्तरेण लक्षणतो विधानतश्चाधिगमार्थं न्यासो निक्षेपः ।"–तत्त्वार्थभा० १।५। "णिच्छए णिण्णए खिवदि त्ति णिक्खेवो । सो वि छव्विहो णामट्ठवणादव्वखेत्तभावमंगलमिदि ।'–धवलाटी० पृ० १०। 'य इह गुणान्तरे स्यादुपचरितः कैश्चन स निक्षेपः ।'–पञ्चाध्या० श्लो० ७४१। "प्रकरणादिवशेन अप्रतिपत्त्यादिव्यवच्छेदकयथास्थानविनियोगाय शब्दार्थरचनाविशेषा निक्षेपाः ।' –जैनतर्कभा० पृ० २५। (४) तुलना–' जत्थ य जं जाणेज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं । जत्थवि अ न जाणेज्जा चउक्कगं निक्खिवे तत्थ ॥ आवस्सयं चउव्विहं पण्णत्तं । तं जहा–नामावस्सयं ठवणावस्सयं दव्वावस्सयं भावावस्सयं ।"–अनु० सू० ८। 'नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ।–तत्त्वार्थसू० १।५। 'निक्षेपोऽनन्तः... प्रस्तुतव्याख्यानाय । तत्त्वार्थज्ञानहेतुः ... संशयच्छेदकारी ॥ –सिद्धिवि० परि० १२। मूलाचारे षडावश्यकाधिकारे (गा० १७) सामायिकस्य निक्षेपः नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षड्विध उक्तः । आवश्यकनिर्युक्तौ (गा० १२९) नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालवचनभावभेदात् सप्तविधो निक्षेपः प्ररूपितः । (५) "नाम यस्य कर्म इत्यनर्थान्तरम् ।'–तत्त्वार्थाधि० भा० १।५। 'अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषकारान्नियुज्यमानं संज्ञाकर्म नाम ।'–सर्वार्थसि० १।५। राजवा० पृ० २०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९८। पञ्चाध्या० श्लो० ७४३। "यस्य वस्तुनि ... विशेषस्य निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम । –सिद्धिवि०, टी० पृ० ५७४ अ । "पर्यायानभिधेयं स्थिरमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षम् । यादृच्छिकं च नाम यावद्द्रव्यं च प्रायेण ॥ –विशेषा० गा० २५। जैनतर्कभा० पृ० २५। 'यत्ताभिप्रायवशात् यस्मा ... ठवणाऽनिरपेक्षा केवलं संज्ञा तु नामेति ॥ –बृहत्कल्पभा० गा० १२। "तत्थ णामणिक्खेवो णामणिमित्तं ... । तस्स णिमित्तं चउव्विहं ... ।'–धवलाटी० पृ० १७। (६) ' ...

1–विवादः आ०, ब० ... । 2–... ब० वि०, आ० ब० । 3–... ब० वि० । 4–... ब० वि० ।

द्रव्यम् । तच्च आगम नोआगमविकल्पाद् द्वेधा । तथोपयोगलक्षणो भावनिक्षेपः । अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान् । तेन च निक्षिप्ताः पदार्थाः निर्देशादिभिः सदादिभिश्चानुयोगैः अनुयुज्यन्ते । अनुयुक्ताः प्रयुक्ता

कर्मादिनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स्थापना जीवः देवताप्रतिकृतिवद् इन्द्रो रुद्रः स्कन्दो विष्णुरिति। –तत्त्वार्थाधि० भा० १।५। 'काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना।'–सर्वार्थसि०, राजवा० १।५। पञ्चाध्या० श्लो० ७४३। 'जं पुण तयत्थसुन्नं तदभिप्पाएण तारिसागारं। कीरइ व निरागारं इत्तरमियरं व सा ठवणा ॥'–विशेषा० गा० २६। सब्भावमसब्भावे ठवणा पुण इन्दकेउमाइया। इत्तरमणित्तरा वा ठवणा नाम तु आवकहं ॥'–बृहत्कल्पभा० गा० १३। "सद्भावस्थापनया नियमः असद्भावेन वाऽनपेति स्थूण इवत।'–नयचक्रवृ० पृ० ३८१A। सिद्धिवि० टी० प० ४७४ B। जनतर्कभा० पृ० २५। अहिदणामस्स अण्णस्स सोयमिदि ठवणं ठवणा णाम। सा दुविहा सब्भावासब्भावट्ठवणा चेदि। –धवलाटी० पृ० १९। वस्तुनः कृतसंज्ञस्य प्रतिष्ठा स्थापना मता। सद्भावेतरभेदेन द्विधा तत्त्वाधिरोपतः। –तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११।

(१) द्रव्यजीव इति गुणपर्यायवियुक्तः प्रज्ञास्थापितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो जीव उच्यते। –तत्त्वार्थाधि० भा० १।५। 'गुणैः द्रोष्यते गुणान् द्रोष्यतीति वा द्रव्यम्।'–सर्वार्थसि० १।५। 'अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम्। अतद्भवं वा।'–राजवा० पृ० २०। सिद्धिवि० पृ० ४७४। धवलाटी० प० २०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११। पञ्चाध्या० श्लो० ७४४। दव्वे पुण तल्लद्धी अस्सानीता भविस्सते वा वि। जो वा वि अणुवजुत्तो इदस्स गुणे परिकहेई॥ –बृहत्कल्पभा० गा० १४। 'दवए दुयए दोरवयवो विगारो गुणाण सद्दावो। दव्वं भव्वं भावस्स भूअभावं च जं जोग्गं ॥ –विशेषा० गा० २८। जैनतर्कभा० प० २५। 'भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके। तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम् ॥'–आव० नि० मलय० पृ० ६ B। (२) 'वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः।–सर्वार्थसि० १।५। राजवा० पृ० २१। सिद्धिवि० पृ० ४७४। धवलाटी० पृ० २९। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ११३। पञ्चाध्या० श्लो० ७४५। 'जो पुण जहत्थजुत्तो सुद्धनयाणं तु एस भाविन्दो। इन्दस्स वि अहिगारं वियाणमाणो तदुवउत्तो। –बृहत्कल्पभा० गा० १५। भावो विवक्षितक्रियानुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः। सर्वज्ञैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिक्रियानुभवात् ॥ –आवनि० मलय० पृ० ९ A। (३) तुलना– स किमर्थः ? अप्रकृतनिराकरणाय प्रकृतनिरूपणाय च। –सर्वार्थसि० १।५। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९८। 'अथ किमिति निक्षेपः क्रियते इति चेत् ? उच्यते–त्रिविधाः श्रोतारः अव्युत्पन्नः अवगताशेषविवक्षितपदार्थः एकदेशतोऽवगतविवक्षितपदार्थ इति। तत्र प्रथमोऽव्युत्पन्नत्वान्नाध्यवस्यतीति विवक्षितपदस्यार्थम्। द्वितीयः संशेते कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत इति प्रकृतार्थादन्यमर्थमादाय विपर्यस्यति वा। द्वितीयवत्तृतीयोऽपि संशेते विपर्यस्यति वा। तत्र यद्यव्युत्पन्नः पर्यायार्थिको भवेन्निक्षेपः अव्युत्पन्नव्युत्पादनमुखेन अप्रकृतनिराकरणाय। अथ द्रव्यार्थिकः तद्द्वारेण प्रकृतप्ररूपणायाशेषनिक्षेपा उच्यन्ते, व्यतिरेकधर्मनिर्णयमन्तरेण विधिनिर्णयानुपपत्तेः। द्वितीयतृतीययोः संशयविनाशायाशेषनिक्षेपकथनम्। तयोरेव विपर्यस्यतोः प्रकृतार्थावधारणाय निक्षेपः क्रियते। उक्तं हि–अवगयणिवारणट्ठं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च। संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च। –धवलाटी० प० ३०। उद्धृतमिदं वाक्यम्–जैनतर्कभा० पृ० २५। (४) निद्देस पुरिसे कारण कहिं केसु कालं कइविहं। –अनु० सू० १५१। निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः। –तत्त्वार्थसू० १।७। 'केण कस्स कत्थवि केवचिरं कदिविधो य भावो य। छहिं अणिओगद्दारे –मूलाचा० ८।१५। (५) संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि। –छक्खंडा०

सर्वे पदार्थाः, तथापि जीवपदार्थविषयविशेषप्ररूपकाणि जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानानि। एवं प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगैः सर्वान् पदार्थानविगम्य पुरुषतत्त्वं जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानैः दृढतरमवबुध्य प्रवृद्धाभिनिवेशात्मकसम्यग्दर्शनः तपसा निर्जीर्णकर्मा सर्वकर्मविनिर्मुक्तः बाधारहितमव्यवच्छिन्नमनन्तमतीन्द्रियं सुखमृच्छति आत्मा। नहि गुणविनाशात् जडः गुणगुणिविनाशात् शून्यः, भोग्यविरहात्तदभोक्ता, तथाधिगमाभावात् तद्बाधासंभवाच्च। शरीरादिकर्मेणे ज्ञानावरणादिस्वरूपं न भवति साध्यताऽस्य तत्सत्यपि ज्ञानोदयसंभवात्।

अयं शास्त्रस्य कर्ताऽध्येता वा आत्मा **सुखमृच्छति** सुखमयो भवति। किंविशिष्टः सन्? इत्याह–**'विमुक्तः'** इति। विशेषेण मुक्तः सकलकर्मविवर्जितः। विमुक्तोऽपि कथम्भूतः सन्नसौ स्यात् इत्याह– **तपोनिर्जीर्णकर्मा** इति। **तपसा** यथाख्यातचारित्रलक्षणेन **निर्जीर्णानि** निर्मूलोन्मीलितानि **कर्माणि** येनासौ तथोक्तः। पुनरपि कथम्भूतः सन्नसौ विमुक्तः स्यात् इत्याह–**'जीवस्थान'** इत्यादि। प्रत्येकं चतुर्दशभिः **जीवस्थानैः गुणस्थानैः मार्गणास्थानैश्च तत्त्ववित्** जीवादिस्वरूपवित्। पुनरपि किंविशिष्टः सन्नसौ विमुक्तः स्यात्? इत्याह–**'विवृद्ध'** इत्यादि। विशेषेण वृद्धं क्षायिकरूपतया परमप्रकर्षं प्राप्तम् **अभिनिवेशनं** सम्यग्दर्शनं यस्य स तथोक्तः। **'विवृद्धाभिनिवे-**

कारिका –

सू० ७। "से किं तं अणुगमे? नवविहे पण्णत्ते। तं जहा–संतपयपरूवणया, दव्वपमाणं च, खित्त, फुसणा य, कालो य, अंतरं, भाग, भाव, अप्पाबहु चेव।"–अनु० सू० ८०। "सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च।"–तत्त्वार्थसू० १।८।

(१) "सुहुमा बादरकाया ते खलु पज्जत्तया अपज्जत्ता। एइंदिया दु जीवा जिणेहिं कहिया चदुवियप्पा॥ पज्जत्तापज्जत्ता वि य होंति विगलिंदिया दु छब्भेया। पज्जत्तापज्जत्ता सण्णि असण्णी य सेसा दु।"–मूला० पर्या० गा० १५२–५३। गो० जी० गा० ७२। कम्मप्र० ४।२। (२) मिच्छाद्दिट्ठी सासाणो य मिस्सो असंजदो चेव। देसविरदो पमत्तो अपमत्तो तह य णायव्वो॥ एत्तो अपुव्वकरणो अणियट्टी सुहुमसंपराओ य। उवसंतखीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य॥"–मूला० पर्या० गा० १५४-५५। छक्खं० सू० ९–२२। गो० जी० गा० ९–१०। कम्मप्र० २।२। (३) "गइ इंदिए काए जोगे वेदे कसाए णाणे संजमे दंसण लेस्सा भविय सम्मत्त सण्णि आहारए चेदि।"–छक्खं० सू० ४। "गइ इंदिये च काये जोगे वेदे कसाय णाणे य। संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे॥"–मूलाचारपर्या० गा० १५६। गो० जी० गा० १४१। कम्मप्र० ४।९। (४) "अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं। पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालंबं॥"–नियम० गा० १७७। "शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम्। काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनपूताः॥"–रत्नक० श्लो० ४०। सर्वार्थसि० पृ० १। तत्त्वानु० श्लो० २४२। (५) तुलना– आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात्। नाभावं नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम्॥"–सिद्धिवि०, टी० पृ० ३८४। न्यायवि० उ० पृ० २८०। "स्वरूपावस्थितिः पुंसस्तदा प्रक्षीणकर्मणः। नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम्॥"–तत्त्वानु० श्लो० २३४।

1–नाशः गुणगुणि–ज०वि०। 2 अस्य शा–ब०। 3 मुक्तोऽपि ब०। 4 निर्जीर्णानिर्मूलो–आ०। 5–कत्वप्राप्त ब०।

शस्' इति क्वचित् पाठः। तत्रायमर्थः–**विवृद्धाऽभिनिवेशतोऽयमात्मा जीवादितत्त्ववित् तपोनिर्जीर्णकर्मा** च भवति सम्यग्दर्शनपूर्वकत्वात् सम्यग्ज्ञानचारित्रयोरिति। अनेन च प्रबन्धेन विमुक्तेः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मिका सामग्री प्ररूपिता भवति, तदन्यतमस्याप्यपाये तस्या अनुपपद्यमानत्वात्। तदनुपपद्यमानत्वञ्च अग्रे अनन्तरं प्रतिपादयिष्यते। किं कृत्वाऽसौ विवृद्धाभिनिवेशः तत्त्ववित् स्यात् इत्याह–'**अनुयुज्य**' इत्यादि। अनुयोगशब्दः प्रश्ने प्रतिवचने च प्रवर्तते, तथाहि 'कृतानुयोगोऽपि भवान् किञ्चिद् न ब्रवीति तूष्णीमास्थाय स्थितः' इत्यत्र अनुयोगशब्दः प्रश्ने प्रसिद्धः। 'कृतानुयोगोऽपि भवान् पुनः पुनः पृच्छति' इत्यत्र तु प्रश्नप्रतिवचने इति। तेनायमर्थः स्थितो भवति–**अनुयुज्य** जीवादीन् स्वरूपादि तज्जिज्ञासया पृष्ट्वा। कैः? **अनुयोगैश्च। अनुयोगैरेव**, चकार एवकारार्थे। किंविशिष्टैः? इत्याह–'**निर्देश**' इत्यादि। **निर्देश आदि**र्येषां स्वामित्वादिसदादीनां **तद्भिदा गतैः** निर्देशादिभेदरूपैः इत्यर्थः।

निर्देशादौ च प्रश्नं प्रति द्वयी गतिः–नाम्नि निर्ज्ञाते लक्षणनिर्णयार्थं प्रश्नो भवति लक्षणे वा निर्ज्ञाते नामनिर्ज्ञानार्थं इति। तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे 'किं लक्षणं जीवादिद्रव्यम्' इति प्रश्नः, 'उपयोगादिलक्षणम्' इति प्रतिवचनम्। अपरस्मिन् पक्षे 'उपयोगादिलक्षणः किंनामा पदार्थः' इति प्रश्नः, 'जीवादिनामा' इत्युत्तरम्। के पुनः निर्देशादय इति चेत्? उच्यते–'किम्' इत्यनुयोगे वस्तुस्वरूपकथनं निर्देशः। 'कस्य' इत्यधिपतित्वख्यापनं स्वामित्वम्। 'केन' इति करणप्रकाशनं साधनम्। 'कस्मिन्' इत्याधाराभिधानम् अधिकरणम्। 'कियच्चिरम्' इति कालइयत्तावधारणावस्थापनं स्थितिः। 'कतिविधम्' इति प्रकारकथनं विधानम्। अत्र किम्, कस्य, केन, कस्मिन्, कियच्चिरम्, कतिविधम् इति प्रश्नरूपः अनुयोगः। 'वस्तुस्वरूपकथनम्, अधिपतित्वख्यापनम्' इत्यादिकस्तु प्रतिवचनरूप इति।

अधिगता निर्देशादयः। सदादयो निरूप्यन्तामिति चेदुच्यते–सकलपदार्थाधिगतिमूलं द्रव्यपर्यायगुणसामान्यविशेषविषयं 'सत्' इत्यभिधानं सत्। सकलादेश-

(१) विमुक्तेः। (२) 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' –इत्यमरः। (३) 'निर्देशः स्वरूपाभिधानम्, स्वामित्वमाधिपत्यम्, साधनमुत्पत्तिनिमित्तम्, अधिकरणमधिष्ठानम्, स्थितिः कालपरिच्छेदः, विधानं प्रकारः।'–सर्वार्थसि० १।७। (४) उत्तररूप अनुयोग इति। (५) 'सदित्यस्तित्वनिर्देशः। संख्या भेदगणना। क्षेत्रं निवासो वर्तमानकालविषयः। तदेव स्पर्शनं त्रिकालगोचरम्। कालो द्विविधः मुख्यो व्यावहारिकश्च। अन्तरं विरहकालः। भावः औपशमिकादिलक्षणः। अल्पबहुत्वमन्योन्यापेक्षया विशेषप्रतिपत्तिः।' –सर्वार्थसि० १।८।

1 च वर्तते ब०। 2 पुनः' नास्ति आ०। 3–प्रख्याति स्व–आ०। 4 पृच्छा श्र०। 5 निर्जाते श्र०। 6–लक्षण कि–ब०। 7 प्रश्ने जीवादीनामित्यु–ब०। 8–रवध्याख्याप–ब०। 9 किमिति ब०। 10–व्यताम श्र०।

त्वात् संग्रहनिमित्तम्, व्यवहारनिमित्त वा विकलादेशत्वात्। भेदगणन सङ्ख्या। वर्त्तमाननिवाससामान्य क्षेत्रम। तदेव त्रिकालगोचर स्पर्शनम। कालो वर्त्तमानादिलक्षण। कस्यचित् सन्तानेन वर्त्तमानस्य कुतश्चिदन्तरो विरहकाल अन्तरम्। औपशमिकादि भाव। सङ्ख्याताद्यन्यतमनिश्चयेऽपि परस्पर विशेषप्रतिपत्तिनिमित्तमल्पबहुत्वम् इति। एवमुक्तप्रकारनिर्देशादिरूपैरनुयोगै किं कृत्वा जीवादिद्रव्याण्यनुयुङ्क्तेऽयमात्मा? इत्याह–'**विरचय्य**' इति। विशेषेण रचयित्वा निधाय, कान्? इत्याह–'**अर्थ**' इत्यादि। **अर्थश्च वाक् च प्रत्ययश्च** तदात्मक**भेदान्**। अर्थात्मको हि भेद –द्रव्यभावरूप, वागात्मक नामरूप, प्रत्ययात्मकश्च स्थापनारूप इति। किंविशिष्टास्तान्? इत्याह–'**श्रुतार्पितान्**' इति। **श्रुतेन अर्पितान्** विवक्षितान्। कै कृत्वा तान् विरचय्य? इत्याह–'**नय**' इत्यादि। **नयेषु** वस्त्वंशप्ररूपकेषु प्रवृत्तेषु सत्सु **अनु** पश्चाद् **गताः** प्रवृत्ता ये **निक्षेपाः** ते। किंविशिष्टै? **उपायैः** कारणभूतै। क? **भेदवेदने**। नामस्थापनादिस्वभावभिन्नजीवादिद्रव्यवेदने। कुत पुनरेषा नयानुगतत्व सिद्धमिति चेत्? नयनिरूपिते वस्त्वंशे प्रवृत्ते। एतदेव दर्शयन्नाह–'**परीक्ष्य**' इत्यादि। **परीक्ष्य** विचार्य **तांस्तान्** द्रव्यपर्यायादीन्, **तद्धर्मान्** अनेकान्तात्मकार्थांशान्। कथम्भूतान्? **अनेकान्**। पुनरपि किंविशिष्टान्? **व्यावहारिकान्** व्यवहारप्रयोजनप्रसाधकान्। कै परीक्ष्य? इत्याह–'**अभिसन्धिभिः**' इति। **अभिसन्धिभिः** ज्ञातुरभिप्रायै। किं कृत्वा? **अधिगम्य**। कम्? **अर्थम्**। किंविशिष्टम्? **अनेकान्तम्**। कस्मादधिगम्य? इत्याह–'**श्रुतात्**' इति।

कारिकाचतुष्टय यथोद्देश विवृण्वन्नाह–'**श्रुतम्**' इत्यादि। **श्रुतम्** आप्तवचनम्

विवृतिव्याख्यानम्–

तत्कथम्भूतम्? **अनादि**। कया? **सन्तानापेक्षया** द्रव्यापेक्षया। कथ पुनर्द्रव्य सन्तानशब्दवाच्यमिति चेत्? 'समीचीन त्रिकालप्रवृत्तनिखिलपर्यायानुयायी तान विस्तारो यस्य' इति व्युत्पत्ते। कथ तर्हि तत् सादि? इत्याह–'**साधनम्**' इत्यादि। साध्यते निर्वर्त्यते इति **साधनो** वर्णपदादिपर्याय, साध्यते प्रतिपाद्यतेऽनेन इति वा, त प्रति सादि '**श्रुतम्**' इति सम्बन्ध। अनेन सर्वथा नित्यमनित्य वा तत् इति प्रत्याख्यातम्। प्रपञ्चितञ्चैतत् प्रागेव इत्यल पुन प्रसङ्गेन। तदेवविध श्रुत **प्रमाणम्**, कुत इत्याह–'**त्रिकाल**' इत्यादि। **त्रिकालगोचराश्च** ते **सर्वपर्यायाश्च** जीवादिपदार्थाश्च तेषा **निरूपणम्** यथावस्थितस्वरूपोद्योतन तत्र प्रवण दक्षम्। यत एवविध ततस्तत्प्रमाणम्। प्रयोग –यत् त्रिकालगोचरसर्वपर्यायजीवा-

(१)श्रुतम्। (२)श्रुतम्। (३)श्रुत प्रमाण त्रिकालगोचरसर्वपर्यायजीवादिपदार्थनिरूपणप्रवणत्वात्।

1 सग्रहव्यवहा–श्र०। 2 सन्तानो न ब०। 3–द्रव्यपि श्र०। 4 वाक्प्र–श्र०। 5 नयानुगत्व श्र०। 6 'द्रव्यापेक्षया' नास्ति श्र०। 7–प्रवृत्तिनि–आ०। 8 स्यादित्याह ब०। 9 अनित्य नित्यं वा ब०, श्र०। 10–श्च ते जीवा–ब० श्र०। 11–पर्यायवज्जीवा–ब०।

द्विपदार्थनिरूपणप्रवणं तत् प्रमाणम् यथा सर्वज्ञप्रत्यक्षम्, तथाभूतसर्वज्ञोक्तप्रकारं श्रुतमिति। नयः कीदृशः ? इत्याह–'तदर्थांश' इत्यादि। नयो भवति। कोऽसौ ? अभिमन्धिः ज्ञात्रभिप्रायः। किंविशिष्टः ? तदर्थांशपरीक्षाप्रवणः, तस्य श्रुतस्य अर्थो विषयः उक्तप्रकारो जीवादिः तस्य अंशो धर्मः नित्यत्वादिः तस्य परीक्षायां प्रवणो दक्षः। ताभ्यां श्रुतनयाभ्याम् अधिगमः निश्चयः। केषाम् ? इत्याह–परमार्थव्यवहारिणामर्थानाम् द्रव्यपर्यायाणाम् इत्यर्थः।

अथेदानीं 'तदधिगत' इत्यादिना नयानुगतस्य निक्षेपस्य प्रदर्श्य तत्स्वरूपं व्याचष्टे–तदधिगतानां श्रुतनयाधिगतानां द्रव्यपर्यायरूपाणां जीवादीनां वाच्यतामापन्नानां साधारणस्वरूपाणाम्, न हि असाधारणस्वरूपा अर्थपर्याया वाच्यतामापद्यन्ते। वाचकेषु जीवादिशब्देषु भेदेन संकरव्यतिकरव्यतिरेकेण उपन्यासः जीवाद्यर्थानां प्ररूपणं न्यासः निक्षेप इति यावत्। स कति प्रकारो भवति ? इत्याह–'स' इत्यादि। सः प्ररूपितस्वरूपो न्यासः अवरतः संक्षेपतः चतुर्धा। कथम् ? इत्याह–'नाम' इत्यादि। नाम-स्थापना-द्रव्य भावैः प्रकारैः निक्षेपः चतुर्धा भिद्यते। 'तत्र' इत्यादिना तान् व्याचष्टे–तत्र तेषु निक्षेपप्रकारेषु नामादिषु मध्ये किन्नाम ? इत्याह–'निमित्त' इत्यादि। किं पुनः नाम्नो निमित्तं किं वा निमित्तान्तरमिति चेत् ? 'वक्तुरभिप्रायोऽस्य निमित्तम्, जात्यादिस्तु निमित्तान्तरम्' इति ब्रूमः। तदनपेक्षं यत् संज्ञाकर्म संज्ञाकरणम् इच्छावशात् तन्नाम। तस्य इयत्तान्यवच्छेदार्थमाह–'तच्च' इत्यादि। तच्च उक्तस्वरूपं नाम अनेकधा अनेकप्रकारं भवति। तथाहि–किञ्चिद् एकजीवनाम यथा डित्थ इति।

(१) सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः संकरः, परस्परविषयगमनं व्यतिकरः, ताभ्यां व्यतिरेकेण प्रतिनियतस्वस्वरूपस्थितत्वेनेति भावः। (२) तुलना– निमित्तान्तरं पुनर्जातिद्रव्यगुणक्रियाः।–सिद्धिवि० टी० पृ० ४७४A। नाम्नो वक्तुरभिप्रायो निमित्तं कथितं समम्। तस्मादन्यत्तु जात्यादि निमित्तान्तरमिष्यते॥–तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९९। (३) जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदुभयाण वा –अनु०सू०९। व्यस्तसमस्तत्वानेकजीवाजीवविषयतोपपत्तेः–तथा [व्यस्त] जीवविषयतोपपत्तेः अयं मांसपिण्डो देवदत्तोऽयं देवदत्त इत्यादिवत्। समस्तजीवविषयतोपपत्तेः एते सर्वे गणाः इत्यादिवत्। एकजीवविषयतोपपत्तेः नाभेयः पुरुदेव इत्यादिवत्। अनेकजीवविषयतोपपत्तेः अयं डित्थः अयं डविथः अयं जिनदत्त इति चत्वारो जीवभेदाः। तथा व्यस्ताजीवविषयतोपपत्तेः स नु त्वं वयं च इत्यादि। समस्ताजीवविषयतोपपत्तेः भुवादयो धुरित्यादिवत्। एकाजीवविषयतोपपत्तेः आकाशं कालः धर्मः अधर्म इत्यादिवत्। अनेकाजीवविषयतोपपत्तेः तौ स्तम्भौ। –सिद्धिवि० टी० पृ० ४७४A। तस्स मंगलस्स आधारो अट्ठविहो। तं जहा, जीवो वा, जीवा वा अजीवो वा अजीवा वा जीवो य अजीवो य जीवा य अजीवो य जीवो य अजीवा य, जीवा य अजीवा य।'–धवलाटी० पृ० १९। किञ्चिद्धि प्रतीतमेकजीवनाम यथा डित्थ इति। किञ्चिदनेकजीवनाम यथा यूथ इति। किञ्चिदेकाजीवनाम यथा घट इति। किञ्चिदनेकाजीवनाम यथा प्रासाद इति। किञ्चिदेकजीवैकाजीवनाम यथा प्रतीहार इति। किञ्चिदेकजीवानेकाजीवनाम

[1] 'श्रुतनयाधिगताना' नास्ति श्र०। [2]–थन् स कति यावत स कतिप्रका–आ०। [3] 'नामादिषु' नास्ति आ०। [4] तदनपेक्ष्य यत् ब०।

किञ्चिदनेकजीवनाम यथा यूथ इति। किञ्चिदेकाऽजीवनाम यथा घट इति। किञ्चिदनेकाजीवनाम यथा प्रासाद इति। किञ्चिदेकजीव-एकाजीवनाम यथा प्रतीहार इति। किञ्चिदेकजीव-अनेकाजीवनाम यथा काहार इति। किञ्चिद् अनेकजीवाऽजीवनाम यथा नगरमिति। इत्याद्यनेकप्रकार तत् प्रतिपत्तव्यम्। कस्मात् तदनियतप्रकारम्? इत्याह–**जातिद्रव्यगुणक्रियालक्षणनिमित्तानपेक्षसंज्ञाकर्मणोऽनेकत्वात्** अनियतत्वात्, जात्यादिनियतनिमित्तापेक्षाणामेव शब्दाना नियतत्वोपपत्ते। जातिद्वारेण हि ये शब्दा द्रव्यादिषु प्रवर्त्तन्ते ते जातिशब्दा यथा गौ अश्व इत्यादय। द्रव्यद्वारेण तु ये वर्तन्ते ते द्रव्यशब्दा। ते च द्विविधा–संयोगिद्रव्यशब्दा, समवायिद्रव्यशब्दाश्च। तत्र संयोगिद्रव्यशब्दा कुण्डली इत्यादय, समवायिद्रव्यशब्दा विषाणी इत्यादय। गुण-कर्मद्वारेण तु ये द्रव्ये वर्तन्ते ते गुणशब्दा कर्मशब्दाश्च प्रतिपत्तव्या, यथा 'शुक्लो नील' इत्यादय, 'गच्छत्यागच्छति' इत्यादयश्च।

अथ का स्थापना? इत्याह–'**आहित**' इत्यादि। स्थाप्यते इति **स्थापना** प्रतिकृति, सा च **आहितनामकस्य** अध्यारोपितनामकस्य **द्रव्यस्य** इन्द्रादे 'सोऽयम्' इत्यभिसन्धानेन **व्यवस्थापना**। केनात्मना व्यवस्थापना? इत्याह–'**सद्भाव**' इत्यादि। तत्र अध्यारोप्यमाणेन मुख्येन्द्रादिना समाना **सद्भावस्थापना**। मुख्याकारशून्या पुन **असद्भावस्थापना**।

यथा काहार इति। किञ्चिदनेकाजीवानेकजीवनाम यथा मदुरेति। किञ्चिदनेकजीवाजीवनाम यथा नगरमिति।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९८।

(१) दण्डधारको द्वारपाल, तत्र एकोऽजीव दण्ड जीवश्च द्वारपाल इति। (२) एको जीव धीवर अनेकाश्च अजीवा जलाहरणाय उपयुज्यमाना घटादय। (३) तुलना–'यदृच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते डित्थ इति। जातिशब्देषु जात्या गौरयमिति। गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति। क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति। द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणीति।'–प्रमाणस० टी० प० १२। "तत्थ जाइणिमित्तं णाम गोमणुस्सघडपडत्थंभवेत्तादि। संजोगदव्वणिमित्त णाम दंडी छत्ती मौली इच्चेवमादि। समवायणिमित्त णाम गलगडो काणो कुडो इच्चेवमाइ। गुणणिमित्त णाम किण्हो रुहिरो इच्चेवमाइ। किरियाणिमित्त णाम गायणो णच्चणो इच्चेवमाइ।'–धवलाटी० पृ० १८। "जातिद्वारेण शब्दो हि द्रव्यादिषु वर्तते। जातिहेतु स विज्ञेय गौरश्व इति शब्दवत् ॥३॥ गुणप्राधान्यतो वृत्तो द्रव्ये गुणनिमित्तक। शुक्ल पाटल इत्यादिशब्दवत्सम्प्रतीयते ॥६॥ कर्मप्राधान्यतस्तत्र कर्महेतुर्निबुध्यते। चरति प्लवते यद्वत्कश्चिदित्यतिनिश्चितम ॥७॥ संयोगिद्रव्यशब्द स्यात्कुण्डलीत्यादिशब्दवत्। समवायिद्रव्यशब्दो विषाणीत्यादिरास्थित ॥९॥'–तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९९। (४) "स्थाप्यत इति स्थापना प्रतिकृति। सा चाहितनामकस्य इन्द्रादेर्वास्तवस्य तत्त्वाध्यारोपात् प्रतिष्ठा सोऽयमित्यभिसम्बन्धेनान्यस्य व्यवस्थापना स्थापनामात्रं स्थापनेति वचनात्।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११। (५) तुलना–"जण्ण कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा लेप्पकम्मे वा गंथिमे वा वेढिमे वा पूरिमे वा संघाइमे वा अक्खे वा वराडए वा एगो वा अणेगो वा सब्भावठवणा वा असब्भावठवणा वा आवस्सएत्ति ठवणा ठविज्जइ से तं ठवणावस्सयं।"–अनु० सू० १०। "तत्थ आगारवतए वत्थुम्मि सब्भावट्ठवणा,

---

1 यथाहार आ०। 2 तु बत–आ०, ब०। 3 संयोगिशब्दा–श्र०। 4 इत्यभिधानेन आ०।

अथ किंलक्षणं द्रव्यम् ? इत्याह–'अनागत' इत्यादि। ननु 'अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम्' इति द्रव्यलक्षणमयुक्तम्, "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" [तत्त्वार्थसू० ५।३८] इत्यागमविरोधादिति कश्चित्, सोऽपि सूत्रकाराभिप्रायानभिज्ञः, 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' इति हि सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचरानन्तक्रमभाविपरिणामाश्रयं द्रव्यमुक्तम्। तच्च यदा अनागतपरिणामविशेषं प्रत्यभिमुखं तदा वर्त्तमानपर्यायाक्रान्तं परित्यक्तपूर्वपर्यायञ्च निश्चीयते, अन्यथा अनागतपरिणामाभिमुख्यानुपपत्तेः खरविषाणवत्। केवलं द्रव्यार्थप्रधानत्वेन वचने अनागतपरिणामाभिमुखम् अतीतपरिणामानुयायिद्रव्यमिति निक्षेपप्रकरणे तथा द्रव्यलक्षणमुक्तम्। सूत्रकारेण तु परमतव्यवच्छेदेन प्रमाणार्पणात् 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' इति सूत्रितम्, क्रमोऽक्रमानेकान्तस्य तथा व्यवस्थितेः। तदेवंविधलक्षणलक्षितं द्रव्यं द्विधा भिद्यते आगम-नोआगमविकल्पात्। तत्र आत्मा यो जीवादिप्राभृतं तत्त्वतो जानाति परन्तु चिन्तनपरप्रतिपादनलक्षणोपयोगाऽनुपयुक्तः स आगमद्रव्यम्। नोआगमं त्रेधा भिद्यते–ज्ञातृशरीर-भावि-तद्व्यति-

तद्विपरीता असद्भावस्थापना। –धवलाटी० पृ० २०। 'काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सद्भावस्थापना रूपा तथाऽक्षनिक्षेपादयोऽसद्भावस्थापनारूपा –तत्त्वार्थभा० व्या० १।५। "तत्राध्यारोप्यमाणेन भावेन्द्रादिना समाना प्रतिमा सद्भावस्थापना मुख्यदर्शिनः स्वयं तस्यास्तद्बुद्धिसंभवात् कथञ्चित्सादृश्यसद्भावात्। मुख्याकारशून्या वस्तुमात्रा पुनरसद्भावस्थापना परोपदेशादेव तत्र सोऽयमिति सम्प्रत्ययात्। –तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११।

(१) सूत्रकार उमास्वाम्याचार्य। तुलना– सोऽपि सूत्रार्थानभिज्ञः गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति हि सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचरानन्तक्रमभाविपरिणामाश्रयं द्रव्यमुक्तम्। तच्च यदाऽनागतपरिणामविशेषं प्रत्यभिमुखं तदा वर्तमानपर्यायाक्रान्तं परित्यक्तपूर्वपर्यायञ्च निश्चीयते अन्यथा अनागतपरिणामाभिमुख्यानुपपत्तेः खरविषाणादिवत्। –तत्त्वार्थश्लो० पृ० ११२। (२) क्रमभाविपर्यायापेक्षया क्रमाऽनेकान्तः सहभाविगुणापेक्षया तु अक्रमानेकान्तः। (३) 'से किं तं दव्वावस्सयं ? दुविहं पण्णत्तं तं जहा आगमओ अ नोआगमओ अ। –अनु० सू० १२। सर्वार्थसि० राजवा० १।५। धवलाटी० पृ० २०। (४) "जस्स णं आवस्सएत्ति पदं सिक्खितं ठितं जितं मितं परिजितं नामसमं घोससमं अहीणक्खरं अणच्चक्खरं अव्वाइद्धक्खरं .... से णं तत्थ वायणाए पुच्छणाए परियट्टणाए धम्मकहाए नो अणुप्पेहाए, कम्हा ? अणुवओगो दव्वमिति कट्टु। –अनु० सू० १३। जीवप्राभृतज्ञायी मनुष्यजीवप्राभृतज्ञायी वा अनुपयुक्त आत्मा आगमद्रव्यजीवः।' –सर्वार्थसि०, राजवा० १।५। 'आगमओ णुवउत्तो मंगलसद्दाणुवासिओ वत्ता। तन्नाणलद्धिसहिओऽवि नावउत्तोत्ति तो दव्वं ॥ –विशेषा० गा० २९। 'तत्थ आगमओ दव्वमंगलं णाम मंगलपाहुडजाणओ अणुवजुत्तो मंगलपाहुडसद्दरयणा वा, तस्सत्थट्ठवणक्खररयणा वा। –धवलाटी० पृ० २१। (५) "से किं तं नोआगमओ दव्वावस्सयं ? तिविहं पण्णत्तं तं जहा–जाणयसरीरदव्वावस्सयं भवियसरीरदव्वावस्सयं जाणयसरीरभवियसरीरवतिरित्तं दव्वावस्सयं। –अनु० सू० १४। नोआगमद्रव्यजीवस्त्रेधा व्यवतिष्ठते–ज्ञायकशरीर भावि-तद्व्यतिरिक्तभेदात्। तत्र ज्ञातुर्यच्छरीरं त्रिकालगोचरं तज्ज्ञायकशरीरम्। सामान्यापेक्षया नोआगमभाविजीवो नास्ति जीव

1–पर्यायव–आ०, ब०। 2–पर्यायव–आ०, ब०। 3–प्रकारेण तथा ब०। 4–पर्यायव–आ०, ब०। 5–सूत्रं न जाना–ब०। 6–येनानुपयुक्तं स आ०,–यो नानुपयुक्त स ब०।

रिक्तविकल्पात्। तत्र ज्ञशरीरलक्षणं नोआगमद्रव्यमपि त्रिकालगोचरं त्रिविधम्–भावि-वर्त्तमान-परित्यक्तभेदात्। गत्यन्तरे स्थितो मनुष्यभवप्राप्तिं प्रत्यभिमुखो भाविजीवः। स एव यदा जीवादिप्राभृतं न जानाति केवलमग्रे ज्ञास्यति तदा भाविनोआगमः। तद्व्यतिरिक्तं नोआगमद्रव्यं कर्मनोकर्मभेदात्मकम्। तत्र ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारं कर्म, शरीरपर्याप्तियोग्यपुद्गलादानं नोकर्म।

अथ को भावः? इत्याह–'तथा' इत्यादि। तथा, किम्? विवक्षितप्रकारेण उपयोगो व्यापारः। यदि वा, तथा आगमनोआगमरूपतया उपयोगो जीवस्य उपयुक्तत्वं भावः। अतश्च द्रव्यवद् भावोऽपि आगमनोआगमविकल्पाद् द्विविधः प्रतिपत्तव्यः। तत्र जीवादिप्राभृतविषयोपयोगाविष्ट आत्मा आगमभावः। जीवादिपर्यायाविष्टो नोआगमः। एवं प्ररूपितनामादिचतुःप्रकारो निक्षेपः सिद्धः। स किमर्थं प्ररूप्यते निष्फलत्वात् इत्याशङ्क्याह–'अप्रस्तुत' इत्यादि। अप्रस्तुतार्थस्य मुख्यस्य इन्द्रादेः अपाकरणात् निराकरणात्, प्रस्तुतस्य नामस्थापनेन्द्रादेः व्याकरणाद् व्युत्पादनाच्च हेतोः निक्षेपः फलवान् सार्थकः। तेन च इत्थम्भूतेन निक्षेपेण निक्षिप्ताः उक्तप्रकारेण प्ररूपिताः पदार्था जीवादयः अनुयुज्यन्ते अनु पश्चात् युज्यन्ते जीवद्रव्यादेः स्वरूपादीनि तज्जिज्ञासया पृच्छ्यन्ते। कैः कृत्वा? अनुयोगैः। किंविशिष्टैः? निर्देशादिभिः निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानलक्षणैः, न केवलमेतैरेव अपि तु सदादिभिश्च, सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वलक्षणैश्च। एवंविधैश्च अनुयोगैः अनुयुक्ता यद्यपि सर्वे पदार्थाः तथापि जीवपदार्थविषयो यो निक्षेपः इतरपदार्थेभ्यः स्वरूपातिशयः तस्य प्ररूपकाणि जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानानि प्रत्येक

नसामान्यस्य सदापि विद्यमानत्वात्। विशेषापेक्षया त्वस्ति–गत्यन्तरे जीवो व्यवस्थितो मनुष्यभवप्राप्ति प्रत्यभिमुखः मनुष्यभाविजीवः। तद्व्यतिरिक्तः कर्मनोकर्मविकल्पः।"–सर्वार्थसि० १।५। धवलाटी० प० २१। 'मंगलपयत्थजाणयदेहो भव्वस्स वा स जीवोऽवि। नो आगमओ दव्वं आगमरहिओत्ति जं भणिअं॥ अहवा नो देसम्मि नो आगमओ तदेगदेसाओ। भूयस्स भाविणो वा जस्स जं कारणं देहो॥ जाणयभव्वसरीराइरित्तमिह दव्वमंगलं होइ। जा मंगल्ला किरिया तं कुणमाणो अणुवउत्तो॥"–विशेषा० गा० ४४-४६।

(१) "से किं तं भावावस्सयं? दुविहं पण्णत्तं, तं जहा–आगमतो अ, नो आगमतो अ।"–अनु० सू० २२। सर्वार्थसि० १।५। धवलाटी० प० २९। (२) "जाणए उवउत्ते, से तं आगमतो भावावस्सयं।"–अनु० सू० २३। "तत्र जीवप्राभृतविषयोपयोगाविष्टो मनुष्यजीवप्राभृतविषयोपयोगयुक्तो वा आत्मा आगमभावजीवः।"–सर्वार्थसि० १।५। 'मंगलसुयउवउत्तो आगमओ भावमंगलं होइ।'–विशेषा० गा० ४९। 'आगमः सिद्धान्तः, आगमदो मंगलपाहुडजाणओ उवजुत्तो।"–धवलाटी० प० २९। (३) 'जीवनपर्यायेण मनुष्यजीवनपर्यायेण वा समाविष्ट आत्मा नो आगमभावजीवः।'–सर्वार्थसि०, राजवा०, तत्त्वार्थश्लो० १।५। 'णो आगमदो भावमंगलं दुविहं उपयुक्तस्तत्परिणत इति। आगममन्तरेण अर्थोपयुक्तः उपयुक्तः। मंगलपर्यायपरिणतस्तत्परिणत इति।'–धवलाटी० प० २९।

1–प्र प्रसिद्ध श्र०। 2 अनुयुज्यन्ते श्र०। 3 युज्यन्ते श्र०। 4 जीव इत्यादे श्र०।

चतुर्दश भवन्ति । तैः प्ररूपितस्वरूपातिशये जीवद्रव्ये यथावज्ज्ञाते मुमुक्षुणा मुक्त्यङ्गं परिपूर्णं रत्नत्रयं भवति नान्यथा । एतदेवाह–'एवम्' इत्यादि । एवम् उक्तप्रकारेण प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगैः पदार्थप्रतिपत्त्युपायैः सर्वान् पदार्थानधिगम्य पुरुषतत्त्वं पुनः जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानैः दृढतरमवबुद्ध्य, इत्यनेन मुमुक्षोः सम्यग्ज्ञानं मुक्त्यङ्गं प्ररूपितम् । श्रद्धाभिनिवेशात्मकसम्यग्दर्शनः इत्यनेन सम्यग्दर्शनम्, 'तपसा निर्जीर्णकर्मा' इत्यनेन तु सम्यक्चारित्रमिति । तेन च सम्यग्दर्शनादित्रयेण निर्जीर्णकर्मा सर्वकर्मविनिर्मुक्तः सन् अयमात्मा सुखमृच्छति सुखमयो भवति । किंविशिष्टं तत्सुखम् ? बाधारहितं विगतबाधम्, अव्यवच्छिन्नं शाश्वतम्, अनन्तम् इयत्तावधारणवर्जितम्, अतीन्द्रियम् निरुद्धात्ममात्रोत्थम् । ननु आत्मनो मुक्तौ बुद्ध्याद्यशेषविशेषगुणोच्छेदात् कथं सुखमयत्वमिति वैशेषिकाः । अत्यन्तचित्तसन्तानोच्छेदतः तस्यैवाऽसम्भवादिति सौगताः । अभोक्तृत्वादिति सांख्याः । अत्राह–नहि इत्यादि । नहि नैव गुणविनाशाद् बुद्ध्यादिगुणोच्छेदात् जडः पाषाणकल्पः मुक्तौ आत्मा भवति, गुणगुणिविनाशात् शून्यः 'नहि' इति सम्बन्धः । गुणाः ज्ञानाद्यः गुणी चित्तसन्तानः तेषां विनाशाद् अत्यन्तोच्छेदात् आत्मा शून्यः सकलस्वरूपविविक्तो भवति 'नहि' इति सम्बन्धः । भोग्यविरहात् सदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानाद् अभोक्ता आत्मा सुखादेः 'नहि' इति सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्यत्राह–तथाधिगमाभावात् तद्बाधासम्भवाच्च । यथा च मुक्तौ तथाविधस्य आत्मस्वरूपस्य कुतश्चिदपि प्रमाणादधिगमासम्भवः तत्र च बाधासम्भवः तथा अग्रे प्रपञ्चतः प्ररूपयिष्यते ।

ननु ज्ञानावरणादिकर्मणः सद्भावप्रसिद्धौ 'तपोनिर्जीर्णकर्मा' इत्यभिधातुं युक्तम् । न च तत्सद्भावः प्रसिद्धः । तद्धि शरीरम्, रागादि, देशकालादिकं वा भवेत् ? तत्र आद्यविकल्पद्वयमयुक्तम्, शरीरे रागादौ च सत्यपि अर्थज्ञानोदयसम्भवात् । यस्मिन् सत्यपि ज्ञानोदयसम्भवः न तस्य ज्ञानावरणादिस्वरूपता यथा चक्षुरादेः, अर्थज्ञानोदयसम्भवश्च शरीरादौ सत्यपि, तस्मान्न तस्य ज्ञानावरणादिस्वरूपता इति । तस्य तत्स्वरूपतायां वा काण्डपटादिवत् तत्सद्भावे तदुपलम्भसम्भवो भवेत् । तर्हि देशकालादेस्तत्स्वभावताऽस्तु, सुप्रसिद्धा हि मेर्वादौ दूरदेशताया आवरणता रावणादौ दूरकालतायाः परमाण्वादौ सूक्ष्मस्वभावतायाः, मूलेकीलो-

आवरणस्वरूपविषयः पूर्वपक्षः –

(१) आत्मन एव । (२) सुखादिव्यतिरिक्तस्य शून्यस्य अभोक्तृत्वरूपस्य वा । (३) तुलना– तद्धि शरीरं रागाद्यो देशकालादिकं वा स्यात् । –प्रमेयक० पृ० २४१ । स्या० र० पृ० ३५६ । (४) शरीरं रागादिकं वा नावरणस्वरूपम् तत्सद्भावेऽपि ज्ञानोत्पादात् । (५) शरीरादेः । (६) शरीरादिसद्भावे । (७) तदुपलम्भसम्भव । (८) आवरणस्वभावता । (९) भूम्यन्तर्गतस्य वृक्षमूलस्य कीलस्य उदकादेर्वा ।

1–रेण नयति–आ० । 2–ष्ट सुखं श्र० । 3 अवच्छिन्न श्र० । 4 'आत्मा नास्ति आ० । 5 इत्याह–ब० । 6–द्धौ निर्जीर्ण–श्र० । 7 तत्स्वभाव ब० । 8 तस्माभास्य ब० । 9 'तस्य नास्ति श्र० ।

दृष्टादौ च भूम्यादेः, इत्यप्यसमीचीनम्, तदभावस्य योगिनोऽप्यशक्यक्रियत्वात्। न खलु सातिशयर्द्धिमताऽपि योगिना देशाद्यभावो विधातुं शक्यः। नचान्यत् किञ्चिदावरणं प्रतीयते। अस्तु वा तत्, तथापि-अविद्यारूपं तद् भविष्यति न पौद्गलिकम्, मूर्तिमताऽनेन अमूर्त्तस्य ज्ञानादेरावरणानुपपत्तेः, अन्यथा शरीरादेरप्यावरणत्वप्रसङ्गः। आत्मगुणत्वात् कर्मणो न पौद्गलिकत्वमित्यन्ये। भवतु पौद्गलिकत्वम् अन्यथाभूतत्वं वाऽस्य, तथापि न साकल्येन क्वचिन्निर्जरासंभवः कार्यकारणप्रवाहेण प्रवर्त्तमानस्यास्य अनादित्वात्, अनादेश्च आत्मान्विद् विनाशासंभवादित्यपरे।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्-'ज्ञानावरणादिकर्मणः सद्भावप्रसिद्धौ' इत्यादि, तत्र किं कर्ममात्रसद्भावे भवता विप्रतिपत्तिः, ज्ञानावरणादिकर्मविशेषे वा? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः, शरीरादिव्यतिरिक्तस्य कर्ममात्रस्य अनुमानतः सद्भावप्रसिद्धेः। तथाहि-स्वपरप्रमेयावबोधैकस्वभावस्य आत्मनो हीनगर्भस्थानशरीरविषयादिषु विशिष्टाभिरतिः आत्मतद्व्यतिरिक्तकारणपूर्विका, रतित्वात्, कुत्सितपरपुरुषे कमनीयकुलकामिन्याः तन्त्राद्युपयोगप्रभवविशिष्टाभिरतिवत्। द्वितीयविकल्पोऽप्ययुक्तः, ज्ञानावरणादिकर्मविशेषस्यापि तद्व्यतिरिक्तस्य

कर्मणः पौद्गलिकत्व प्रसाधनं संवरनिर्जरयोः सिद्धिश्च

(१) दूरदेशतया दूरकालतया सूक्ष्मस्वभावतया भूम्यादेर्वा अभावस्य। (२) वेदान्तिनः। 'अत एवावरणस्य अनिर्वाच्याविद्यास्वरूपत्वमङ्गीकर्त्तव्यम्। न तु दुर्निरूपत्वमात्रेण तदपलापो युक्तः अनुमानसिद्धत्वात्। तथाहि-अस्ति तावन्मूढानामेव व्यवहारः 'अशनायाद्यतीतं विवेकिप्रसिद्धमात्मतत्त्वं नास्ति न प्रकाशते च' इति सोऽयं व्यवहारः आत्मनि भावरूपावरणनिमित्तो भवितुमर्हति, 'अस्ति प्रकाशते' इत्यादिव्यवहारपुष्कलकारणे सति तद्विपरीतव्यवहारत्वात्, यश्चैवं तच्चैवं यथास्ति प्रकाशते घट इति व्यवहारः। न च कारणपौष्कल्यमसिद्धम् नित्यसिद्धस्वप्रकाशचैतन्यातिरेकेणान्यापेक्षाऽभावात्। न चान्यथासिद्धिः, इतोऽतिरिक्तावरणस्य मूर्तद्रव्यस्य आत्मनि निरवयवे सर्वगते दुःसंपादत्वात्।"-विवरणप्र० पृ० २१। (३) पौद्गलिककर्मणा। (४) सौगताः। द्रष्टव्यम्-पृ० ३ टि० ५। (५) अविद्यादिरूपत्वम्। (६) कर्मणः। (७) जयन्तभट्टादयः। तुलना-"अयं तु मिथ्याज्ञानजनितसंस्कारस्य सहकारिणोऽभावात् विद्यमानान्यपि कर्माणि न जन्मान्तरे शरीरारम्भकाणीति मन्यन्ते।" -प्रश० व्यो० पृ० २० ख। "सहकारिवैकल्यात् कुसूलावस्थितबीजवत् कर्मणामनारम्भकत्वे सति न कश्चिद्दोषः। एष एव च तेषां दाहो यत्कार्यानारम्भकत्वम्। न चविनष्टस्वरूपाणि कुसूलबीजवदेव कदाचिदारप्स्यन्ते कार्य तस्मादुरमुच्छिद्यन्तामेव, किमिदानीं नित्यमात्मानमप्युच्छत्तुं यतामहे?"-न्यायमं० पृ० ५२३। (८) पृ० ८०८ पं० १९। (९) तुलना-"चेतनस्य सतः सम्बन्ध्यन्तरं मोहान्यकारणं मदिरादिवत्। तत्तु तत् सिद्धम्। विवादाध्यासितो जीवस्य मोहोऽन्यसम्बन्ध्यन्तरकारणकः मोहोऽन्यत्वात् मदिराकारणकमोहोदयवदित्यनुमानात्।"-अष्टश० अष्टसह० पृ० ४९। "संसारी बन्धवान् परतन्त्रत्वादालानस्तम्भागतहस्तिवत्। परतन्त्रोऽसौ हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात् कामोद्रेकपरतन्त्रहीनस्थानपरिग्रहवच्छ्रोत्रियब्राह्मणवत्।"-आप्तप० पृ० १। प्रमेयक० पृ० २४२। (१०) शरीरादिव्यतिरिक्तः। (११) शरीरादिभिन्नस्य।

1-तु वा पौ-ब०।

अनुमानादेव प्रसिद्धेः । तथाहि-यत् सत् तत्सर्वमनेकान्तात्मकमित्यादि व्याप्तिज्ञानं सावरणम्, स्वविषयेऽस्पष्टत्वात्, यत् स्वविषयेऽस्पष्टं तत्सावरणम् यथा रजोनीहाराद्यन्तरिततरुनिकरादिज्ञानम्, स्वविषयेऽस्पष्टश्चेदं ज्ञानमिति । मिथ्यादृशां सर्वत्र अनेकान्तस्वभावे भावे विपरीतज्ञानं सावरणम्, मिथ्याज्ञानत्वात्, धत्तूरकाद्युपयोगिनो मृच्छकले काञ्चनज्ञानवदिति ।

यदप्युक्तम्-'अविद्यारूपं तद् भविष्यति न पौद्गलिकम्' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, अमूर्त्तस्य अमूर्त्तेनैव आवरणनियमाऽसम्भवात्, मूर्त्तेनापि मदिरादिना अमूर्त्तस्य ज्ञानादेरावरणदर्शनात् । कथमेवं शरीरादेर्न तदावरणत्वं स्यादिति चेत् ? 'तद्विरुद्धत्वात्' इति ब्रूमः । मूर्त्तत्वाविशेषेऽपि हि यदेव ज्ञानेन विरुद्धं तदेव तस्यावरणं युक्तं नान्यत्, अन्यथा अमूर्त्तत्वाविशेषात् अविद्यावत् आकाशादेर्ज्ञानान्तरस्य च आवरणत्वमनुषज्येत । तस्य तेन विरोधश्च मदिरादिवत् पौद्गलिककर्मोदये प्रबन्धेन प्रवर्त्तमानस्य ज्ञानस्य तिरोधानान्निश्चीयते । तथाहि-आत्मनो मिथ्याज्ञानादि पुद्गलविशेषसम्बन्धनिबन्धनम्, तत्स्वरूपान्यथाभावस्वभावत्वात्, उन्मत्तकादिजनितोन्मादादिवत् । न च मिथ्याज्ञानजनितापरमिथ्याज्ञानेन अनेकान्तः, तस्यापि अपरापरपौद्गलिककर्मोदये सत्येव सम्भवात् अपरापरोन्मत्तकादिरसमद्भावे तत्कृतोन्मादादिसन्तानवत् ।

एतेन 'आत्मगुणत्वात् कर्मणां न पौद्गलिकत्वम्' इत्यपि प्रत्युक्तम्, तेषामात्मगुणत्वे तत्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वानुपपत्तितः सदैव आत्मनो मुक्तिप्रसङ्गात् । यो यस्य गुणः स तस्य पारतन्त्र्यनिमित्तं न भवति यथा पृथिव्यादेः रूपादिः, गुणश्च धर्माधर्मसंज्ञकं कर्म परैरिष्टम् इति । न चैतद् युक्तम्, आत्मनः परतन्त्रतया प्रमाणतः प्रतीतेः । तथाहि-परतन्त्रोऽयमात्मा, हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात्, मद्योद्रेकपरतन्त्राऽशुचिस्थानपरिग्रहवद्द्वि-

(१) 'अनेपनेयतानावरणस्वभावस्यात्मनः स्वविषयेऽप्रवृत्तिः विशिष्टद्रव्यसम्बन्धनिमित्ता पीतमद्यपुरुषस्य स्वविषयज्ञानाप्रवृत्तिवत् । यच्च ज्ञानस्य स्वविषयप्रतिबन्धकं द्रव्यं तत् ज्ञानावरणादि वस्तुगतं पुद्गलरूपं कर्म । -सन्मति० टी० पृ० ७३६ । यदप्रवृत्तिमत्स्वविषये तत्सावरणं यथा तिमिरितस्य लोचनविज्ञानमेकचन्द्रमसि अप्रवृत्तिमच्च स्वविषये समस्तार्थलक्षणे सम्यग्ज्ञानमिति । -स्या० र० पृ० ३५७ । ज्ञानं सावरणं विवादतया स्वविषयानवबोधकत्वात् ।"-प्रमेयक० पृ० २४० । (२) 'तथा मिथ्यात्वपटलविलुप्तविवेकदृशां यन्नेतत्सर्वस्मिन्ननेकान्तात्मके वस्तुनि विपर्ययज्ञानं तत्सावरणं मिथ्याज्ञानत्वात् । -स्या० र० पृ० ३५७ । प्रमेयक० पृ० २४२ । (३) पृ० ८०९ पं० ३ । (४) सुराभिभवदर्शनात् -राजवा० पृ० ८/१ । प्रमेयक० पृ० २४३ । प्रमेयर० पृ० ७६ । (५) ज्ञानस्य । (६) पौद्गलिकस्य ज्ञानावरणादिकर्मणः । (७) ज्ञानेन । (८) आत्मनो मिथ्याज्ञानादि -प्रमेयक० पृ० २४३ । (९) पृ० ८०९ पं० ५ । (१०) तेनात्मगुणोऽदृष्टो निराकृतो भवति तस्य संसारहेतुत्वानुपपत्तेः । -सर्वार्थसि० ८।२ । 'कर्मणामात्मगुणत्वे तत्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वायोगात् सर्वदाऽऽत्मनो बन्धानुपपत्तेर्मुक्तिप्रसङ्गात् । -आप्तप० का० ११३ । प्रमेयक० पृ० २४३ । स्या० र० पृ० ११०१ । (११) योग ।

1 गमो-श्र० । 2-निकारादि-श्र० । 3 तस्य नास्ति आ० । 4-स्य तिरोधानान्निश्ची-श्र० -स्य तिरोधानिश्ची-ब० । 5-थाभावत्वात् उ-ज० । 6-रसद्भावे ब० । 7-तं प्रानुचितस्था-ब० ।

शिष्टपुम्पवत् । हीनस्थानं हि शरीरम्, आत्मनो दुःखहेतुत्वात्, कारागारवत्, तत्परिग्रहवांश्च ससारी सर्वथा सुप्रसिद्ध एव । न च देवशरीरे तदभावात् पक्षाव्याप्तिः, तस्यापि मरणे दुःखहेतुत्वप्रसिद्धेः । यत्परतन्त्रश्चासौ तच्च कर्म, इति सिद्धमस्य अनात्मगुणत्वम्, अतः पौद्गलिकत्वमेवास्योपपन्नम् । प्रयोगः—पौद्गलिकं कर्म, आत्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्, निगलादिवत् । न च क्रोधादिभिर्व्यभिचारः, तेषाम् आत्मपरिणामानां पारतन्त्र्यस्वभावत्वात् । क्रोधादिपरिणामो हि जीवस्य पारतन्त्र्यं न पुनः पारतन्त्र्यनिमित्तम् ।

यच्चान्यदुक्तम्—'न साकल्येन कश्चिन्निर्जरासंभवः' इत्यादि, तदप्यनल्पतमोविलसितम्, कर्मणां सन्तानपरम्परयाऽनादित्वेऽपि क्वचिद् विपक्षपरमप्रकर्षसद्भावे साकल्येन प्रक्षयोपपत्तेः । यस्य क्वचिद् विपक्षपरमप्रकर्षसद्भावः तस्य तत्र साकल्येन प्रक्षयः यथा शीतस्पर्शस्य, सम्यग्दर्शनादिलक्षणतद्विपक्षपरमप्रकर्षसद्भावश्च क्वचिदात्मनि इति । न चायं साध्यविकलो दृष्टान्तः, नहि अनादिसन्ततिरपि शीतस्पर्शो विपक्षभूतस्योष्णस्पर्शस्य प्रकर्षसद्भावे निर्मूलतः प्रलयमुपव्रजन्न प्रतीतः, कार्यकारणप्रवाहेण बीजाङ्कुरादिसन्तानो वाऽनादिः प्रतिपक्षभूतदहननिर्दग्धबीजो निर्दग्धाङ्कुरो वा न प्रतीयते इति । प्रतिपक्षपरमप्रकर्षसद्भावश्च अनुमानतः प्रसिद्धः, तथाहि—ज्ञानादयः क्वचित् परमप्रकर्षं प्रतिपद्यन्ते, प्रकृष्यमाणत्वात्, परिमाणवत् । इत्थं वा साकल्येन कर्मप्रक्षये प्रयोगः

(१) तुलना—'मिथ्याज्ञानतदुद्भूततर्षसञ्चेतनावशात् । हीनस्थानगनिर्जन्म'—प्रमाणवा० १।२६३ । 'हीनस्थानं शरीरमात्मनो दुःखहेतुत्वात् कस्यचित्कारागृहवत्'—आप्तप० पृ० १। प्रमेयक० पृ० २४३। स्या० र० पृ० ११०१ । (२) दुःखहेतुत्वाभावात् । (३) कर्मणः । (४) "तानि च पुद्गलपरिणामात्मकानि जीवस्य पारतन्त्र्यनिमित्तत्वान्निगडादिवत् ।'—आप्तप० पृ० ६१ । प्रमेयक० पृ० २४३। (५) पृ०८०९प०६। (६) तुलना—'सर्वेषां सविपक्षत्वान्निर्ह्रासातिशयश्रितः । सात्मीभावात्तदभ्यासात् हीयरन्नास्रवाः क्वचित् ॥'—प्रमाणवा० ३।२२०। "ये चापचयधर्माणः प्रतिपक्षस्य सन्निधौ । अत्यन्तापचयस्तेषां कलधौतमलादिवत् ।'—तत्त्वसं० का० ३४१६। "सात्मीभावाद्विपक्षस्य सतो दोषस्य सङ्क्षयः । धर्माश्लेषः प्रवृत्तानां निवृत्तिः फलदायिनाम् ।'—न्यायवि० का० ४४३ । (७)'स कर्मभूभृतां भेत्ता तद्विपक्षप्रकर्षतः । यथा शीतस्य भेत्तेह कश्चिदुष्णप्रकर्षतः ॥'—आप्तप० का० ११० । अष्टसह० पृ० ५४ । 'यत्तुल्यतारतम्यात् यस्यापचयतारतम्यं तत्प्रकर्षनिष्ठागमने भवति तस्यात्यन्तिकः क्षयः, यथा उष्णस्पर्शतारतम्यात् शीतस्पर्शस्य, भवति च ज्ञानवैराग्याद्युत्कर्षतारतम्यात् अज्ञानरागादेरपचयतारतम्यमिति ।'—सन्मति० टी० पृ० ७३७। (८) "विपक्षप्रकर्षपर्यन्तगमनात् कर्मणां सन्तानरूपतयाऽनादित्वेऽपि प्रक्षयप्रसिद्धेः । न ह्यनादिसन्ततिरपि शीतस्पर्शः"—आप्तप० का० ११० । प्रमेयक० पृ० २४५। स्या० र० पृ० ३५७ (९) "प्रतिपक्षभूतदहनान्निर्दग्धबीजो"—आप्तप० पृ० ५९। "प्रतिपक्षभूतदहनेन निर्दग्धबीजो"—प्रमेयक० पृ० २४५। (१०) तुल्ना—"अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाणवत् ।"—योगभा० १।२५। "तत्प्रकर्षः पुनः सिद्धः परमः परमात्मनि । तारतम्यप्रकर्षस्य सिद्धेरुष्णप्रकर्षवत् ॥"—आप्तप० का० ११२। अष्टसह० पृ० ५५। प्रमेयक० पृ० २४५। स्या० र० पृ० ३५८। 'शुद्धिः प्रकर्षमायाति परमं क्वचिदात्मनि । प्रकृष्यमाणवृद्धित्वात् कनकादिविशुद्धिवत् ॥'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३१५ ।

1–यस्तत्र तस्य श्र० । 2–मुपव्रज–श्र० ।

कर्त्तव्य –ज्ञानावरणादिहानिः क्वचित्पुरुषविशेषे परमप्रकर्षमायाति, प्रकृष्यमाणत्वात्, नभसि परिमाणवत्। न चात्राऽसिद्धं साधनम्, तथाहि–प्रकृष्यमाणा आवरणहानिः, आवरणहानित्वात्, माणिक्याद्यावरणहानिवत्। यद्वा, ज्ञानावरणादिकर्म क्वचिदामूलं प्रक्षीयते, समग्रक्षयहेतूपेतत्वात्, लोचने तिमिरादिवत्। तत्कर्मप्रक्षयस्य हि हेतू संवरनिर्जरे, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्, यो यस्यान्वयव्यतिरेकानुविधायी स तद्धेतुः यथा धूमोऽग्नेः, अन्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते च तत्प्रक्षयः संवरनिर्जरयोरिति। सति संवरे भाविकर्म नोत्पद्यते "आस्रवनिरोधः संवरः" [तत्त्वार्थसू० ९।१] इत्यभिधानात्। सञ्चितं पुनः तन्निर्जरातः प्रलीयते–"उपात्तकर्मणां निर्हरणं निर्जरा" [ ] इति वचनात्। सा च निर्जरा द्विविधा–औपक्रमिक-इतरभेदात्। तत्र औपक्रमिकी तपसा द्वादशविधेन साध्या, अनौपक्रमिकी तु यथाकालं संसारिणः स्यादिति।

अत्र सांख्या ब्रुवते–सत्यम्, अनात्मगुणोऽदृष्टं प्रकृतिपरिणामत्वात्तस्य 'प्रकृति-

अदृष्ट-कर्मणः प्रकृति-विषय सांख्यानां पूर्वपक्षः–

परिणामः शुक्लः कृष्णश्च कर्म" [ ] इत्यभिधानात्। प्रकृत्या हि कर्म क्रियते अतस्तत् तत्परिणामो नात्मनः तस्याऽकर्तृत्वात्।

(१) 'दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्। क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥' आप्तमी० का० ४। प्रमेयक० पृ० २४५। (२) 'प्रकृष्यमाणा आवरणहानिरावरणहानित्वात् माणिक्याद्यावरणहानिवत्।'–प्रमेयक० पृ० २४६। स्या० र० पृ० ३५९। (३) 'क्षीयते क्वचिदामूलं ज्ञानस्य प्रतिबन्धकम्। समग्रक्षयहेतुत्वाल्लोचने तिमिरादिवत् ॥' –तत्त्वार्थश्लो० पृ० १५। (४) 'तेषामागामिनां तावद्विघ्नः संवरो मतः। तपसा सञ्चितानां तु निर्जरा कर्मभूभृताम् ॥' –आप्तप० का० १११। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६। (५) 'आस्रवनिरोधः संवरः'–तत्त्वार्थसू० ९।१। उद्धृतमिदम्–प्रमेयक० पृ० २४५। (६) 'एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा।'–सर्वार्थसि० १।४। "उपात्तस्य कर्मणस्तपो विशेषसन्निधाने सत्येकदेशसंक्षयलक्षणा निर्जरा।" –राजवा० १।४। 'कर्मणां तु विपाकात्तपसा वा यः शाटः सा निर्जरा'–तत्त्वार्थभा० व्या० तत्त्वार्थहरि० १।४। 'पूर्वोपार्जितकर्मपरित्यागो निर्जरा'–तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४८३। (७) 'सा द्विप्रकारा–विपाकजेतरा च। तत्र चतुर्गतावनेकजातिविशेषावघूर्णिते संसारमहार्णवे चिरं परिभ्रमतः शुभाशुभस्य कर्मणः क्रमेण परिपाककालप्राप्तस्य अनुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्टस्य आरब्धफलस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा। यत्कर्म अप्राप्तविपाककालम् औपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं बलादुदीर्य उदयावलिं प्रवेश्य वेद्यते आम्रपनसादिपाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा।' –सर्वार्थसि० राजवा०, तत्त्वार्थभा० व्या० ८।२३। 'सा द्विविधा–अनुपक्रमात्तदुपक्रमिकी च। तत्र पूर्वा यथाकालं संसारिणः स्यात्, उपक्रमिकी तु तपसा द्वादशविधेन साध्यते।'–आप्तप० का० १११। प्रमेयक० पृ० २४४। स्या० र० पृ० ३५७। 'सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म–आयुर्विपाकं कर्म द्विविधम्–सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च। तत्र यथार्द्रवस्त्रं वितानितं ह्रसीयसा कालेन शुष्येत् तथा सोपक्रमम्, यथा च तदेव सम्पिण्डितं चिरेण शुष्येदेवं निरुपक्रमम्। यथा चाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत् तथा सोपक्रमम्, यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत् तथा निरुपक्रमम्।' –योगसू० व्यासभा० ३।२२। (८) द्रष्टव्यम्–पृ० १ टि० ७। 'तत्कार्यधर्मादि'–सांख्यसू० २।१४। (९) तुलना–"कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्" –योगसू० ४।७। 'अशुक्लाकृष्णकर्म

कर्मजाति–कृष्णा शुक्लकृष्णा शुक्ला, अशुक्लाकृष्णा चेति।' –योगभा० ४।७।

1–हि कर्म–ब०। 2–सम्परेतु–ब०,–समपेतु–आ०।

साक्षित्वादिकमेव हि स्वरूपमात्मनो न कर्तृत्वादि । तदुक्तम्–

"तस्माच्च विपर्यासात् सिद्ध साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्य माध्यस्थ्य द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥" [साख्यका० १९]

तस्माच्च तस्मादेव त्रिगुणविपर्यासात् सिद्धमात्मन साक्षित्वादिस्वरूपम्, तथाहि– साक्षित्व तावदात्मन गुणप्रवृत्तेरधिष्ठातृत्वम् स्वयमस्य नैर्गुण्यात्, सुखादिभ्यो हि यतोऽयमर्थान्तरभूत तस्मात् तत्प्रवृत्तौ साक्षी । तथा कैवल्यमप्यस्य सिद्धम् ततो विविक्तत्वात् । यत खल्वय गुणेभ्य पृथग्भूत तस्मादेव केवल , न तै सह ससर्गेण वर्तते । तथा माध्यस्थ्यमप्यस्य विषयित्वात् सिद्धम् । विषयाणा हि तुल्यबलत्वात् न्यूनाधिकतोपपत्तेश्च अन्योन्य बाधानुग्रहौ उपपन्नौ, विषयी चायम्, तस्मान्नास्य न्यूनतादि, अत एव इतरयोरनुपपत्ति । तथा द्रष्टृत्वमप्यस्य चैतन्यस्वरूपत्वात्सिद्धम् ।

स्यान्मुमुक्षोर्योगिनो यत । कृष्ण शुक्ल तथा मिश्र कर्मान्येषा त्रिधा भवेत् ॥' –योगवा० ४।१२ । उद्धृतमिदम्– 'प्रधानविवर्त शुक्ल कृष्णञ्च कर्म । –आप्तप० पृ० ६१ । "प्रधानपरिणाम शुक्ल कृष्णञ्च कर्म । –प्रमेयक० पृ० २४४, २८५ । (१०) 'प्रकृत क्रियमाणानि गुण कर्माणि सर्वश । अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यत ॥' –भगवद्गी० ३।२७ ।

(१) "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च"–श्वेताश्व० ६।११ । "पुरि शयनात् प्रमाणात पूरणात् पुरुषोऽसिता । स चानादि सर्वगतश्चेतनो निर्गुणोऽमर ॥ द्रष्टा भोक्ता क्षेत्रविदमलोऽप्रसवधर्मक । सूक्ष्मो नित्यो ह्यनादिस्त्वमप्यनिधनोऽपि स ॥"–सांख्यतत्त्ववि० पृ० १० । (२) 'तस्माच्च यथाक्तत्रैगुण्यविपर्यासाद् विपर्ययात । निर्गुण पुरुषो विवेकी भोक्तेत्यादिगुणाना पुरुषस्य यो विपर्यास उक्त तस्मात् सत्त्वरजस्तम सु कर्तृभूतेषु साक्षित्व सिद्ध पुरुषस्येति । योऽयमधिकृतो बहुत्व प्रति, गुणा एव कर्तार प्रवर्तन्ते साक्षी न प्रवर्तते नापि निवर्तत एव । किञ्चान्यत, कैवल्यम्–केवलभाव कैवल्यमन्यत्वमित्यर्थ त्रिगुणेभ्य केवलोऽन्य । माध्यस्थ्यभाव , परिव्राजकवन्मध्यस्थ पुरुष । यथा कश्चित परिव्राजको ग्रामीणेषु कर्षणार्थेषु प्रवृत्तेषु केवलो मध्यस्थ , पुरुषोऽप्येव गुणेषु प्रवर्तमानेषु न प्रवर्तते तस्मात् द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च । यस्मान्मध्यस्थ तस्माद् द्रष्टा तस्मादकर्ता पुरुष तेषा कर्मणामिति । सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणा कर्मकर्तृभावेन प्रवर्तन्ते न पुरुष । एव पुरुषस्यासिद्धत्वञ्च सिद्धम् ।"–गौडपा० भा०, माठरवृ०, सांख्यतत्त्वकौ०, जयमङ्ग, का० १९ । उद्धृतोऽयम्–न्यायवि० वि० पृ० ५४६ A । विश्वतत्त्वप्र० पृ० १४० A । (३) 'अकर्तृभावश्चेत्यनेन सप्तविधमकर्तृभावमाश्रयति–न ह्यय विषयेषु स्वस्यान्त करण साक्षिध्येऽप्यवधार्य कुरुते । न च सत्त्वादीना प्रकाशप्रवृत्तिनियमलक्षणधर्म इतरेतरोपकारेणाप्रवर्तमाना स्वेन स्वेन पर्यलक्षणेन धर्मेण अङ्गभाव प्रतिपद्यते नाप्यङ्गिभावम् । एव सह गुणै कार्य न कुरुते स्त्रीकुमारवत् । स्वपरप्रयोग न कुरुते रथशकटयन्त्रप्रेरकवत्, न स्वात्मनो मृत्पिण्डवत न परत कुम्भकारवत्, नाप्यात्मान मायाकारवत्, नोभयतो भानुमिवायत ।'–युक्तिदी० पृ० १०० । (४) 'तत्र साक्षित्वमित्यनेन गुणानां प्रवृत्तौ अस्वातन्त्र्य ख्यापयति प्रधानस्य तदधीनप्रवर्तनस्वात् प्रवृत्ते ।"–युक्तिदी० पृ० १०० । (५) गुणानां सत्त्वरजस्तमसा प्रवृत्त , गुणस्य वा प्रधानस्य प्रवृत्ते । (६) पुरुषस्य । (७) गुणात् । "कैवल्यमित्यनेन समास्थिमत्त्वमात्मनो निवर्तयति । न यथा सत्त्वादीनां परस्परेण प्रकाशाप्रवृत्ति नियमशाक्ती ससग एव पुरुषस्य तत्कवति । –युक्तिदी० पृ० १०० । (८) माध्यस्थ्यमित्यनेन प्रतिपादयति ह्रासानुपपत्त , पुरुषस्य गुण सह बाधानुग्रहानुपपत्ति स्वकार्यप्रवृत्तौ चापक्षपात दर्शयति । –युक्तिदी० । (९) बाधानुग्रहयो ।

1–दिक्षत्व ब० । 2 पृथग्भूत ब० । 3 उपपत्तौ ब० । 4–स्वरूप–ब०, ब० ।

प्रकृतिविकारभूता हि सत्त्वादयः, अतस्तेभ्यश्चैतन्यमपोद्धृत्य पुरुष एव स्थाप्यते, तस्मात् पुरुष एव चैतन्यस्वरूपत्वात् द्रष्टा। उक्तञ्च-"चैतन्यं स्वरूपं पुरुषस्य" [योगभा० १।९] इति। अत्राऽभेदे षष्ठी। चितिरेव हि पुरुषः, रूपशब्दः स्वभाववचनः। एतदेव हि आत्मनः स्वम् आत्मीयं रूपं स्वभावः यत् चैतन्यं नाम, तस्य व्यक्ताव्यक्तयोरसम्भवात्। तथाऽकर्तृभावोऽपि अप्रसवधर्मित्वादस्य सिद्धः, यस्मात् प्रस्पन्दपरिणामौ प्रसवार्थौ नात्मनि विद्येते तस्मादकर्ता इति।

ननु सत्त्वादीनां कर्तृत्वे 'पुरुषः पुण्यं करोति' इत्यात्मनि कर्तृत्वप्रतीतिः कथमुपपन्नेति चेत्? उपचारात्, यथैव हि स्वयमचेतनापि बुद्धिः चेतनासंसर्गात् चेतना उपचर्यते, तथा कर्तृप्रधानसंसर्गात् स्वयमकर्ताप्यात्मा कर्तेव उपचर्यते। तदुक्तम्-

"तस्मात्तत्संसर्गादचेतनं चेतनावदिह (व) लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥" [सांख्यका० २०] इति।

ततः चिच्छक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता चाऽभ्युप

---

(१) चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति। यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते? भवति च व्यपदेशो वृत्तिर्यथा चैत्रस्य गौरिति। -योगभा० १।९। उद्धृतमिदम्-सर्वार्थसि० पृ० १। वादवि० वि० पृ० ५४७ A। (२) तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्येते इति? यथा विजयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते स हि तस्य फलस्य भोक्तेति एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते। स हि तत्फलस्य भोक्तेति। बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्धः तदर्थावसायो मोक्ष इति। एतेन ग्रहणधारणोहापोहतत्त्वज्ञानाभिनिवेशा बुद्धौ वर्तमानाः पुरुषेऽध्यारोपितसद्भावाः, स हि तत्फलस्य भोक्तेति। -योगभा० २।१८। (३) "तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्। यस्माच्चेतनस्वभावः पुरुषः तस्मात् तत्संयोगादचेतनं महदादिलिङ्गम् अध्यवसायाभिमानसङ्कल्पालोचनादिषु वृत्तिषु चेतनावत् प्रवर्तते। को दृष्टान्तः? तद्यथा अनुष्णाशीतो घटः शीताभिरद्भिः संसृष्टः शीतो भवति अग्निना संयुक्त उष्णो भवति एवं महदादि लिङ्गमचेतनमपि भूत्वा चेतनावद् भवति। तस्मात् अध्यवसायं कुर्वन्ति गुणा कार्येषु। "यथाऽसौ अचौरः तत्संसर्गदोषेण चौरतया प्रतीतस्तथा सत्त्वाद्यो गुणाः कर्तारः तैः संयुक्तः पुरुषोऽपि अकर्तापि कर्ता भवति, चेतनसंसर्गात् कर्तेव परं परमार्थतया अकर्ता पुरुषः। -माठरवृ०, गौडपा० सांख्यतत्त्वकौ० जयमङ्ग० का० २०। 'तस्मात् कारणस्य ग्रहणरूपता पुरुषस्य च चैतन्यरूपता सम्बन्धान्तरमप्यस्ति अन्यतोऽन्यत्रोपलभ्यमाना भक्त्याऽध्यवसातव्या न परमार्थतः। उक्तञ्च-चेतनाधिष्ठिता बुद्धिश्चेतनेव विभाव्यते। कर्तृत्वव्यवस्थितश्चात्मा भोक्ता कर्तेव लक्ष्यते॥' -युक्तिदी० पृ० १०४। उद्धृतोऽयम्-न्यायम० पृ० ४८९। चेतनावदिह-अष्टसह० पृ० ६७। वादवि० वि० पृ० ५९ A। स्या० र० पृ० २३४। (४) 'चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसङ्क्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च सुखदुःखमोहात्मकत्वमशुद्धिः सुखमोहावपि विवेकिनं दुःखाकुरुतोऽतो दुःखवद् हेयौ। तथा ह्यतिसुन्दरमपि अन्तवत् दुनोति तेन तदपि हेयमेव विवेकिनः। सेयमशुद्धिरन्तश्च चितिशक्तौ पुरुषे न स्त इत्यत उक्तं शुद्धा चानन्ता चेति। ननु सुखदुःखमोहात्मकशब्दादीनिव चेतयमाना तदाकारापन्ना कथं विशुद्धा? तदाकारपरिग्रहपरिवर्जने च कुर्वती कथं चेतयत इत्यत उक्तम्-दर्शितविषया इति। दर्शितो विषयः शब्दादिर्यस्य सा तथोक्ता। भवेदेतदेवं यदि

1-स्वरूप-श्र०, ब०। 2-स्वं रूपं श्र०। 3 तथात्र प्रधा-श्र०। 4-चेतना चेतना-आ०।

गन्तव्या। न च प्रधानस्य कर्तृत्वादिधर्मसद्भावाभ्युपगमे पुरुषकल्पनानर्थक्यमित्यभिधातव्यम्, द्रष्टृत्वात्तस्य। न च द्रष्टारमन्तरेण दृश्यमुपपद्यते पङ्ग्वन्धयोरिवानयो[3] अन्योन्यापेक्षत्वात्। यथैव हि अन्धो दर्शनशक्तिविकल तच्छक्तियुक्तपङ्गूपदेशमन्तरेण नेष्टप्रदेशमुपसर्पति, पङ्गुरपि क्रियाशक्तिशून्य तच्छक्तियुक्तान्धसंसर्गाद्विना इति, तथा प्रधान नान्तरेण पुरुष कृतमपि कार्यं द्रष्टु क्षमम्, पुरुषोऽपि सत्यपि चैतन्ये प्रधान विना दृश्याभावान्न द्रष्टा स्यात्।

ननु चिद्रूपत्वात् पुरुष कथ समारम्भानन्धप्रवृत्तिहेतौ प्रधाने स्थित फलमुपभुङ्क्ते? इत्यप्यचोद्यम्, चिद्रूपस्याप्यस्य अज्ञानतमश्छन्नतया प्रकृतिस्थमपि सुखादिफलम् आत्मस्थ मन्यमानस्य तदुपभोक्तृत्वोपपत्ते, यदा तु ज्ञानमस्य आविर्भवति 'दु खहेतु-

---

बुद्धिवच्चितिशक्तिर्विषयाकारतामापद्येत, किन्तु बुद्धिरेव विषयाकारेण परिणता सती, अतदाकारायै चितिशक्तय विषयमादर्शयति, तेन पुरुषश्चेतयत इत्युच्यते। ननु विषयाकारा बुद्धिमनारोहयन्त्याश्चितिशक्तेः कथ विषयवेदनम? विषयारोहे वा कथन तदाकारापत्तिरित्यत उक्तम्–अप्रतिसङ्क्रमेति। प्रतिसङ्क्रम सञ्चार, स चितेर्नास्ति इत्यर्थ। स एव कुतोऽस्या नास्तीत्यत उक्तम्–अपरिणामिनी इति। न चितेरस्ति त्रिविधोऽपि धर्मलक्षणावस्थालक्षण परिणामोऽस्ति येन क्रियारूपेण परिणता सती बुद्धिसंयोगेन परिणमेत चितिशक्ति।'–योगभा०, तत्त्ववै०, भास्व० १।२। "यतोऽपरिणामिनी अत एव चितिशक्तिरप्रतिसङ्क्रमा असञ्चारा। यथा बुद्धिर्विषय गच्छति तद्ग्रहणाय नैव चितिरक्रियत्वात्। अथवा नास्ति प्रतिसङ्क्रम सङ्गो विषयेषु यस्या इत्यप्रतिसङ्क्रमा निर्लेपेति यावत्। ननु अपरिणामिन्या आत्मनो विषयाकारत्वाभावात् कथ विषयस्फुरणम्? तत्राह–दर्शितविषया, दर्शिता बुद्ध्या निवेदिता विषया यस्या इति विग्रह विषयै सह बुद्धिवृत्तिश्चितौ प्रतिबिम्बिता सती भासत इति भाव यतोऽपरिणामिनी अत एव शुद्धा अनन्ता च।'–योगवा० पातञ्जलरह० १।२। तुलना–'तथा चोक्तं (पञ्चशिखेन–तत्त्ववै०) अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसङ्क्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसङ्क्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति'–योगभा० २।२०।

(१) "द्रष्टा दृशिमात्र शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य।'–योगसू० २।२०। (२) 'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृत सर्ग॥ तद्वत् पङ्ग्वन्धवत् प्रधानपुरुषौ द्रष्टव्यौ। पङ्गुवत् पुरुषो द्रष्टव्य अन्धवत् प्रधानम्। पुरुषस्य दृक्शक्ति, प्रधानस्य क्रियाशक्तिम्।'–सांख्यका० माठर० २१। पङ्ग्वन्धयोरप्युपालम्भो नान्तरीयकप्रयोजनार्थम्। यथा पङ्गुर्नान्तरेणान्ध दृक्शक्त्या विशिष्टेनार्थेन अर्थवान् भवति, अन्धश्च नान्तरेण पङ्गु विशिष्टेनार्थेन। एव प्रधान नान्तरेण पुरुष कृतमपि कार्य द्रष्टु शक्तमनवधिकल्प प्रवर्तमान विशेषाभावाद्वा निवर्तेत। तथा पुरुष सत्यपि चेतनत्वे नान्तरेण प्रधानम् उपलभ्याभावात् उपलब्धा भवेदिति प्रधानमपेक्षते।–युक्तिदी० पृ० १०७। (३) द्रष्टृदृश्ययोरनयो पुरुषप्रधानयो। (४) "पुरुष प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्। कारण गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥"–भगवद्गी० १३।२१। 'यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोग, तस्य हेतुरविद्या'–योगद० २।२४। 'तथा चैतदत्रोक्तम् (पञ्चशिखेन) व्यक्तमव्यक्त वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दति आत्मसम्पद मन्वान तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापद मन्यमान स सर्वोऽप्रतिबुद्ध।–योगभा० २।५।

प्रकृतिविकारभूता हि सत्त्वादयः, अतस्तेभ्यश्चैतन्यमपोद्धृत्य पुरुष एव ख्याप्यते, तस्मात् पुरुष एव चैतन्यस्वरूपत्वात् द्रष्टा। उक्तञ्च–"चैतन्यं स्वरूपं पुरुषस्य" [योगभा० १।९] इति। अत्राऽभेदे षष्ठी। चितिरेव हि पुरुषः, रूपशब्दः स्वभाववचनः। एतदेव हि आत्मनः स्वम् आत्मीयं रूपं स्वभावः यत् चैतन्यं नाम, तस्य व्यक्ताव्यक्तयोरसंभवात्। तथाऽकर्तृभावोऽपि अप्रसवधर्मित्वादस्य सिद्धः, यस्मात् प्रस्पन्दन-परिणामौ प्रसवार्थौ नात्मनि विद्येते तस्मादकर्त्ता इति।

ननु सत्त्वादीनां कर्तृत्वे 'पुरुषः पुण्यं करोति' इत्यात्मनि कर्तृत्वप्रतीतिः कथमुपपन्नेति चेत्? उपचारात्, यथैव हि स्वयमचेतनापि बुद्धिः चेतनासंसर्गात् चेतना उपचर्यते, तथा कर्तृप्रधानसंसर्गात् स्वयमकर्त्ताप्यात्मा कर्तेव उपचर्यते। तदुक्तम्–

"तस्मात्तत्संसर्गादचेतनं चेतनावदिह (व) लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥" [सांख्यका० २०] इति।

ततः चिच्छक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता चाऽभ्युप

(१) चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति। यत्र चितिरेव पुरुषस्तत्र किमत्र केन व्यपदिश्यते? भवति च व्यपदेशे वृत्तिः यथा चैत्रस्य गौरिति। –योगभा० १।९। उद्धृतमिदम्–सर्वार्थसि० पृ० १। न्यायवि० वि० पृ० ५४७ A। (२) तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्येते इति? यथा विजयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते, स हि तस्य फलस्य भोक्तेति एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते। स हि तत्फलस्य भोक्तेति। बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्धः तदर्थावसायो मोक्ष इति। एतेन ग्रहणधारणोहापोहतत्त्वज्ञानाभिनिवेशा बुद्धौ वर्तमानाः पुरुषेऽध्यारोपितसद्भावाः, स हि तत्फलस्य भोक्तेति।' –योगभा० २।१८। (३) 'तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् यस्माच्चेतनस्वभावः पुरुषः तस्मात् तत्संयोगादचेतनं महदादि लिङ्गम् अध्यवसायाभिमानसङ्कल्पालोचनादिषु वृत्तिषु चेतनावत् प्रवर्तते। को दृष्टान्तः? तद्यथा अनुष्णाशीतो घटः शीताभिरद्भिः संसृष्टः शीतो भवति अग्निना संयुक्त उष्णो भवति, एवं महदादि लिङ्गमचेतनमपि भूत्वा चेतनावद् भवति। तस्मात् अध्यवसायं कुर्वन्ति गुणाः कार्यादिषु। ... तद्यथाऽसौ अचौरः तत्संसर्गदोषेण चौरतया प्रतीतस्तथा सत्त्वादयो गुणाः कर्तारः तैः संयुक्तः पुरुषोऽपि अकर्ताऽपि कर्ता भवति, गुणसंसर्गात् कर्तेव परं परमार्थतया अकर्ता पुरुषः। –माठरवृ०, गौडपा० सांख्यतत्त्वकौ० जयमङ्ग० का० २०। "तस्मात् कारणस्य ग्रहणरूपता पुरुषस्य च कर्तृरूपता सम्बन्धान्तरसम्पर्कात् अन्यगताऽन्यत्रोपलभ्यमाना भवत्याऽध्यवसातव्या न परमार्थतः। उक्तञ्च–चेतनाधिष्ठिता बुद्धिश्चेतनेव विभाव्यते। कर्तृत्वव्यवस्थितश्चात्मा भोक्ता कर्तेव लक्ष्यते॥ –युक्तिदी० पृ० १०४। उद्धृतोऽयम्–न्यायम० पृ० ४८९। चेतनावदिह–अष्टसह० पृ० ६७। न्यायवि० वि० पृ० ५९ A। स्या० र० पृ० २३४। (४) चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसङ्क्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च सुखदुःखमोहात्मकत्वमशुद्धिः सुखमोहावपि विवेकिनं दुःखाकुरुतः दुःखवद् हेयौ। तथा चातिसुन्दरमपि अन्तवद् दुनोति तेन तदपि हेयमेव विवेकिनः। सेयमशुद्धिरन्तश्च चितिशक्तौ पुरुषे न स्त इत्यत उक्तं शुद्धा चानन्ता चेति। ननु सुखदुःखमोहात्मक शब्दादीनिव चेतयमाना तदाकारापन्ना कथं विशुद्धा? तदाकारपरिग्रह-परिवर्जने च कुर्वती कथमनन्तेत्यत उक्तम्–दर्शितविषया इति। दर्शितो विषयः शब्दादिर्यस्य सा तथोक्ता। भवेदेतदेव यदि

1–स्वरूप–श्र०, ब०। 2–न्यं रूपं श्र०। 3 तथात्र प्रथा–श्र०। 4–चेतनः चेतना–आ०।

गन्तव्या। न च प्रधानस्य कर्तृत्वादिधर्मसद्भावाभ्युपगमे पुरुषकल्पनानर्थक्यमित्यभिधातव्यम्, द्रष्टृत्वात्तस्य। न च द्रष्टारमन्तरेण दृश्यमुपपद्यते पङ्ग्वन्धयोरिव प्रधानपुरुषयोः अन्योन्यापेक्षत्वात्। यथैव हि अन्धो दर्शनशक्तिविकलः तच्छक्तियुक्तपङ्गुपुरुषमन्तरेण नेष्टप्रदेशमुपसर्पति, पङ्गुरपि क्रियाशक्तिशून्यः तच्छक्तियुक्तान्धमसमर्गादिना इति, तथा प्रधानमन्तरेण पुरुषः कृतमपि कार्यं द्रष्टुं क्षमम्, पुरुषोऽपि सत्यपि चैतन्ये प्रधानमन्तरेण दृश्याभावान्न द्रष्टा स्यात्।

ननु चिद्रूपत्वात् पुरुषः कथं संसारबन्धप्रवृत्तिहेतौ प्रधाने स्थितः फलमुपभुङ्क्ते ? इत्यप्यचोद्यम्, चिद्रूपस्याप्यस्य अज्ञानतमश्छन्नतया प्रकृतिस्थमपि सुखादिफलम् आत्मस्थं मन्यमानस्य तदुपभोक्तृत्वोपपत्तेः, यदा तु ज्ञानमस्य आविर्भवति 'दुःखहेतु-

बुद्धिवच्चितिशक्तिर्विषयाकारतामापद्येत किन्तु बुद्धिरेव विषयाकारेण परिणता सती, अप्रतिसंक्रमा चितिशक्तिः विषयमाभासयति, तत्र पुरुषश्चेतयत इत्युच्यते। ननु विषयाकारा बुद्धिमनापद्यमाना चितिशक्तिः कथं विषयवेदनम् ? विषयाकारे वा कथं तन्नाकारापत्तिरित्यत उक्तम्–अप्रतिसंक्रमेति। प्रतिसंक्रमः सञ्चारः, स चितेर्नास्ति इत्यर्थः। स एव कुतोऽस्या नास्तीत्यत उक्तम्–अपरिणामिनी इति। न चितेरस्तिविषयोऽपि धर्मलक्षणावस्थालक्षणः परिणामोऽस्ति येन क्रियारूपेण परिणता सती बुद्धिसंयोगेन परिणमेत चितिशक्तिः।'–योगभा० तत्त्ववै०, भास्व० १।२। 'यतोऽपरिणामिनी अत एव चितिशक्तिरप्रतिसंक्रमा असञ्चारा। यथा बुद्धिर्विषयं गच्छति तद्ग्रहणाय न तथा चितिरित्यर्थः। अथवा नास्ति प्रतिसंक्रमः सङ्गो विषयेषु यस्याः सा अप्रतिसंक्रमा निर्लेपेति यावत्। ननु अपरिणामित्वे आत्मनो विषयाकारत्वाभावात् कथं विषयस्फुरणम् ? तत्राह–दर्शितविषया, दर्शितो बुद्ध्या निर्विघ्नो विषयो यस्या इति विग्रहः, विषयैः सह बुद्धिवृत्तिश्चितौ प्रतिबिम्बिता सती भासते इति भावः। यतोऽपरिणामिनी अत एव शुद्धा अनन्ता च।'–योगवा० पातञ्जलरह० १।२। तुलना–"तथा चोक्तम् (पञ्चशिखेन–तत्त्ववै०) अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति।'–योगभा० २।२०।

(१) "द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।'–योगसू० २।२०। (२) "पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ तद्वत् पङ्ग्वन्धवत् प्रधानपुरुषौ द्रष्टव्यौ। पङ्गुवत् पुरुषो द्रष्टव्यः अन्धवत् प्रधानम्। पुरुषस्य दृक्शक्तिः, प्रधानस्य [illegible]मध्यम्।"–सांख्यका० माठर० २१। "पङ्ग्वन्धदृष्टान्तस्तु नान्तरीयकप्रदर्शनार्थम्। यथा [illegible]न्तरेणान्धः दर्शनशक्त्या विशिष्टेनार्थेन अर्थवान् भवति, अन्धश्च [illegible]न्तरेण पङ्गुः [illegible]विशिष्टेनार्थ[illegible] प्रधानं नान्तरेण पुरुषः कृतमपि कार्यं द्रष्टुं शक्नमनवधिकञ्च प्रवर्तमानं विनाशाभावादेव निर्[illegible] पुरुषः सत्यपि चेतनत्वं नान्तरेण प्रधानम् उपलभ्याभावाद् उपलब्धा भवदिति प्रधानमपेक्षते।"–[illegible] पृ० १०७। (३) द्रष्टृदृश्यभूतयोः पुरुषप्रधानयोः। (४) "पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्। कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥"–भगवद्गी० १३।२१। "यस्तु [illegible] स्वबुद्धिसंयोगः तस्य हेतुरविद्या"–योगसू० २।२४। 'तथा चैतदत्रोक्तम् (पञ्चशिखेन) [illegible] वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दति आत्मसम्पदं मन्वानः तस्य व्यापदम् [illegible] व्यापदं मन्यमानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः।"–योगभा० २।५।

1–ना इत्याभा–श्र०। 2–मोक्तृतोप–श्र०।

रियम्, न मम अनया सह संसर्गो युक्त' इति, तदा विवेकख्यातेर्न तत्सम्पादित कर्मफलमुपभुङ्क्ते, सोऽपि च 'विज्ञातविरूपाऽहं न मदीयं कर्मफलमनेन भोक्तव्यम्' इति मत्वा न तत्सम्पादनाय तं प्रति प्रवर्तते कुट्टिनीस्त्रीवद् दूरादपसर्पति। अतो गुण पुरुषान्तरदर्शनाद् अपवर्गप्राप्तिः। अन्ये गुणाः सत्त्वादयोऽचेतनाः परार्थाः प्रकृतिविस्तारभूताः, अन्योऽहम् "न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" [सांख्यका० ३] इति भेदप्रत्यय गुणपुरुषान्तरदर्शनम्, तस्मात् तत्प्राप्तिरिति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'प्रकृतिपरिणाम' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, यतः सिद्धे धर्मिणि धर्मचिन्ता उपपद्यते। न च प्रकृति धर्मिणी कुतश्चित्प्रमाणात् सिद्धा, तत्प्रसाधकप्रमाणानां प्रकृतिपरीक्षाप्रघट्टके प्रपञ्चतः प्रतिक्षिप्तत्वात्। अतः कथं तत्परिणामतया कर्मणां व्यावर्णनमुपपन्नम्? अस्तु वाऽसौ, तथापि–पुरुषस्य निमित्तमपेक्ष्य तथा परिणमेत्, अनपेक्ष्य वा? न तावदनपेक्ष्य, मुक्तात्मन्यपि शरीरादिसम्पादनाय तस्याः तथा

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं कर्मणः पौद्गलिकत्वप्रसाधनम्–

(१) प्रकृतिः। (२) 'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः' विवेकख्यातिः।'–योगद० व्यासभा० २।२६। 'एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्॥ अभ्यासात् तत्त्वदर्शनं तस्मादभ्यासात् पुरुषस्य बुद्धिरुत्पद्यते–नास्मि तत्त्वानि न मे तत्त्वानि, नाहं तत्त्वानाम् किन्तु प्रधान... ज्ञानमुत्पद्यते एवमादि। अपरिशेषं निरवशेषमित्यर्थः। किं ज्ञानम्? गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरूपमित्यर्थः॥ अथाह तेन ज्ञानेन पुरुषः किं करोति? अथोच्यते–तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम्। प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः॥'–सांख्यका० माठर० ६३–६४। (३) प्रकृतिरपि। 'प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति। या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥ यथा काचित् कुलस्त्री साध्वी स्वगृहान्तरे स्थिता पुरुषेण सह... दृष्टा सहसैव व्रीडमाना त्वरितं गृहं प्रविष्टा। सा एवं मत्वा दृष्टाऽस्म्यनेन इति न पुनर्दर्शनमुपैति पुरुषस्य। तस्मात् विनिवृत्तायां पुरुषो मोक्षं गच्छति।–सांख्यका० माठर० ६१। तत्त्वकौ० पृ० १९४। सांख्यतत्त्वप्र० पृ० १७७। सांख्यप्र० ३।६९ ७०। 'दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरतान्या। सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य॥ यथा रङ्गगता नर्तकी सर्वास्ववस्थासु वर्तमाना दृष्ट्वा विरमति रङ्गात् प्रेक्षकं दृष्ट्वा मयेत्युपेक्षक एकः केवलः शुद्धः पुरुषः तथा प्रकृतिरपि अनेन अहं दृष्टेति निवृत्ता। एका त्रैलोक्यस्यापि प्रधानकारणभूता न द्वितीया प्रकृतिरस्ति। नर्तक्यपि अहमनेन दृष्टेत्युपरमते तथान एव पुरुषोऽपि दृष्टा मयेयं ज्ञानचक्षुषा प्रकृतिरिति ज्ञात्वा उपरमते मोक्षं गच्छतीत्यर्थः।'–सांख्यका० माठर० ६६। तदुक्तं नारदीये–सविकारापि मोक्षेन चिरं भुक्त्वा गुणात्मना। प्रकृतिर्ज्ञातदोषेयं लज्जयैव निवर्तते।–सांख्यप्र० भा० पृ० १११। (४) भोगसम्पादनाय। (५) 'पुरुषस्तु पुनर्न प्रकृतिरनुत्पादकत्वात् न च विकृतिरनुत्पन्नत्वात्। नवासौ कारणं न च कार्यमित्यर्थः।–माठरवृ०। (६) पृ० ८१२ पं० ११। (७) पृ० ३५४। (८) प्रकृतिः। (९) कर्मरूपतया। (१०) तुलना–'यदि प्रधानं पुरुषस्य निमित्तमनपेक्ष्य प्रवर्तते, मुक्तात्मन्यपि शरीरादिसम्पादनाय प्रवर्तेत अविशेषात्।–प्रश० व्यो० पृ० २० ख०। प्रमेयक० पृ० ३१६। प्रमेयर० ४।१। (११) प्रकृतेः।

1 विज्ञानवि–ब०। 2 कुट्टिनी–आ०, ब०। 3–स्मात्प्राप्ति–आ०। 4–णामेत् श्र०।

परिणमनप्रसङ्गात् । अथ अपेक्ष्य, किं तदपेक्ष्यम्–विवेकानुपलम्भः, अदृष्टं वा ? न तावद् विवेकानुपलम्भः, तस्य विवेकोपलम्भाभावरूपतया मुक्तात्मन्यपि संभवात् । न च तदनुत्पत्ति-प्रध्वंसयोः कश्चिद्विशेषः संभवति, अभावस्याभावत्वाविशेषात् । अदृष्टापेक्षायास्तु तस्याः तथापरिणामे अन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि अदृष्टे तदपेक्षाया प्रकृतेः शुक्लकृष्णकर्मपरिणामसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अदृष्टसिद्धिरिति । अनादित्वात् तत्प्रवाहस्य अयमदोषः–पूर्वं हि अदृष्टमपेक्ष्य अपरः तस्यास्तत्परिणामो भवति ततश्च अपरः इति, तदप्यनुपपन्नम्, मुक्तात्मन्यपि एवमस्याः शरीरादिसम्पादनाय तथा परिणामप्रसक्तेः । तत्रास्याः निवृत्ताधिकारत्वान्न तत्प्रसक्तिः, इत्यपि वार्त्तम्, अमुक्तात्मन्यपि अस्याः तत्सम्पादनाय तथापरिणामाऽभावानुषङ्गात् । तत्र प्रवृत्ताधिकारत्वान्न दोषोऽयम्, इत्यपि श्रद्धामात्रम्, सर्वथैकस्याऽनंशस्य प्रधानस्य प्रवृत्त-निवृत्ताधिकारत्वधर्मयोर्युगपद्विरोधात्, तदविरोधे वा सर्वथास्यै एकत्वाऽनंशत्वानुपपत्तिः ।

किञ्चेदम् अमुक्तात्मन्यस्य प्रवृत्ताधिकारत्वं नाम–तत्र सम्बद्धत्वम्, शरीरसुखादिसम्पादकत्वं वा ? न तावत् सम्बद्धत्वम्, मुक्तात्मन्यस्य गतत्वात्, प्रधानात्मनो नित्यसर्वगतत्वेन सर्वत्र सर्वदा संभवात् । अथ शरीरसुखादिसम्पादकत्वम्, तर्हि इतरेतराश्रयः–सिद्धे ह्यमुक्तात्मानं प्रति प्रवृत्ताधिकारत्वे [13]तं प्रत्येव तत्सम्पादकत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तं प्रति प्रवृत्ताधिकारत्वसिद्धिरिति ।

किञ्च, शरीरादिना तत्सम्पादितेन अस्य कश्चिदुपकारः क्रियते, न वा ? यदि

(१) तुलना–"अथादर्शनापेक्षमिति चेत्, यस्य हि गुणपुरुषान्तरविवेकदर्शनानुत्पत्तिः तं प्रति प्रधानं प्रवर्तते, न चासौ मुक्तात्मनीति, तन्न, मुक्तात्मन्यपि विवेकदर्शनस्य विनाशात् प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । न चानुत्पत्तिविनाशयोः अदर्शनत्वेन विशेषं पश्यामः ।"–प्रश० व्यो० पृ० २० घ० । प्रमेयक० पृ० ३१६। (२) संसारावस्थायां विवेकस्यानुत्पत्तिः मुक्तदशायां च समुत्पन्नस्यापि विवेकस्य विनाश इति न अभावत्वेन कश्चिद् भेदः । (३) प्रकृतेः । (४) कर्मरूपतया परिणतौ । (५) प्रकृतेः शुक्लकृष्णादिकर्मपरिणामः । (६) तुलना–"अथादृष्टापेक्षं प्रवर्तत इति चेत्, तदसत् तस्यापि प्रधानाश्रितत्वेन व्यवस्थितस्य उभयत्राविशेषात् ।"–प्रश० व्यो० पृ० २० घ० । प्रमेयक० पृ० ३१६। (७) शुक्लकृष्णादिकर्मरूपेण । (८) "कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।–कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमपि अनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात् । कुशलं पुरुषं प्रति नाशं प्राप्तमपि अकुशलान् पुरुषान् प्रति अकृतार्थमिति तेषां दृशेः कर्मविषयतामापन्नं लभत एव पररूपेण आत्मरूपमिति ।–योगसू०भा० २।२२। (९) शरीरादिसम्पादनाय कर्मरूपपरिणामप्रसङ्गः । (१०) मुक्तात्मनि । (११) तुलना–"न ह्येकस्यैव निवृत्ताधिकारत्वं प्रवृत्ताधिकारत्वयोर्युगपदधिकरणं युक्तं नष्टत्वानष्टत्वयोरिव विरोधात् ।–आप्तप० पृ० ८३। (१२) प्रधानस्य । (१३) अमुक्तात्मानं प्रत्यव । (१४) प्रधानसम्पादितेन । तुलना–"स हि प्रधानस्य विकारो महदादिः पुरुषार्थो भवतु (वा) पुरुषस्य कञ्चिदुपकारं करोति न वा ? यदि करोति, पुरुषादर्थान्तरमनर्थान्तरं वा ?"–युक्त्यनु० टी० पृ० २९। (१५) संसार्यात्मनः ।

1 अदृष्टापेक्षयास्तु आ० । 2 तस्य तत्परि–ब० । 3 प्रवृद्धविनिवृत्ता–श्र० । 4 सम्बद्धत्वं ब०, श्र० । 5 नित्यं सद–ब० ।

न क्रियते, कथं तत् 'तस्य'[1] इति व्यपदिश्येत ? मुक्तात्मनोऽपि तद्व्यपदेशप्रसङ्गात्। अथ क्रियते, किं ततो भिन्नः, अभिन्नो वा ? यदि अभिन्नः, तदा तत्करणे[2] पुंसोऽपि कार्यत्वानुषङ्गात् नित्यत्वक्षतिः। अथ भिन्नः, तदा पुंसो न किञ्चित्कृतं स्यात्, तस्येतिव्यपदेशश्च न प्राप्नोति तेन[3] तस्या[4]ऽसम्बन्धात्, तेनाप्युपकारान्तरकरणे[5] अनवस्था। ततः प्रधानस्य स्वरूपेण असत्त्वात्, सतोऽपि वा कर्मपरिणामानुपपत्तेः, द्रव्यरूपस्य कर्मणः पुद्गलपरिणामत्वं भावरूपस्य तु आत्मपरिणामत्वमभ्युपगन्तव्यम्। पुद्गलात्मनोः सद्भावस्य विचित्रपरिणामाधारत्वस्य च प्राक् प्रसाधितत्वात्। न च कर्मणोऽनित्यत्वादात्मनस्तत्परिणामोपगमे[6] अनित्यत्वापत्तिर्दोषाय, कथञ्चित्तदनित्यत्वस्येष्टत्वात्। सकलभावानां कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकतया अनेकान्तसिद्धौ प्रसाधितत्वात्। प्रधानस्यापि च तत्परिणामोपगमे[7] अनित्यत्वापत्तिः समाना।

यदप्युक्तम्[8]–'साक्षित्वं तावत् आत्मनो गुणप्रवृत्तेरधिष्ठातृत्वम्' इत्यादि, तदपि मनोरथमात्रम्, सत्त्वरजस्तमोलक्षणगुणानां प्रवृत्तेः प्रकृतिपरीक्षायां[9] प्रतिक्षिप्तत्वात्, सर्वथा नित्यव्यापित्वादिस्वभावस्य चात्मनः स्वदेहप्रमितौ[10] प्रतिव्यूढत्वात्, अतः किंपस्य अधिष्ठातृ स्यात् ?

यदपि[11] 'अकर्तृभावोऽपि अप्रमयधर्मित्वात्' इत्याद्युक्तम्, तदप्यविचारितरमणीयम्, सर्वथाऽकार्यकारणभूतत्वाभ्युपगमे पुंसोऽवस्तुत्वापत्तिप्रसङ्गात्। प्रयोगः–भवत्कल्पितः पुरुषो वस्तु न भवति, सर्वथाऽकार्यकारणभूतत्वात्, गगनेन्दीवरवत्।

यदपि[12] 'यस्मात् प्रस्पन्दनपरिणामौ प्रसवार्थौ नात्मनि विद्येते तस्मादकर्ता' इत्यभिहितम्, तदप्यपेशलम्, स्वदेहप्रमितौ आत्मनः प्रस्पन्दनपरिणामयोः प्रसाधितत्वात्। अकर्तृत्वे च आत्मनो भोक्तृत्वविरोधः, यदयं[1] भुजिक्रियां कुर्वन् भोक्ता इत्युच्यते यथा गमिक्रियां कुर्वन् गन्ता इति। नहि तथाऽपरिणतः तद्व्यपदेशमर्हति अतिप्रसङ्गात्। तथा च कर्तरि तृचो[14]ऽनुत्पत्तेः 'भोक्ता'[13] इत्यात्मनो व्यपदेशो दुर्लभः। ननु भोक्तेति तृचो

(१) संसारिणः। (२) शरीरादिना पुंसोऽभिन्नोपकारकरणे। (३) उपकारेण। (४) पुंसः। (५) शरीरादिकृतोपकारेणापि। (६) ततः कर्म परिणामः यस्य। (७) अनित्यकर्मपर्यायात्मकत्वस्वीकारे। (८) पृ० ८१३ पं० ५। (९) पृ० ३५४–। (१०) पृ० २६६–। (११) पृ० ८१४ पं० ६। (१२) पृ० ८१४ पं० ६। (१३) तुलना– 'अतः पुरुषस्य कर्तृत्वे युक्तं वास्तवं भोक्तृत्वम्। अन्यथा हि भोगक्रियामकुर्वतः कथमुदासीनस्य भोक्तृत्वं स्यात्। भोगस्य सुखदुःखसंवेदनारूपत्वात् तदाधारता तु भोक्तृत्वम्।'–प्रश० व्यो० पृ० ५२३। भोक्तात्मा चेत्स एवास्तु कर्ता तदविरोधतः। विरोधे तु तयोर्भोक्तुः स्याद् भुजौ कर्तृता कथम्॥ –आप्तप० का० ८१। कर्ता आत्मा स्वकर्मफलभोक्तृत्वात्। सांख्यकल्पितः पुरुषो वस्तु न भवति अकर्तृत्वात् खपुष्पवत्। किंच, आत्मा भोक्ता अङ्गीक्रियते स च भुजिक्रियां करोति न वा ? यदि करोति तदाऽपराभिः क्रियाभिः किमपराद्धम् ? अथ भुजिक्रियामपि न करोति तर्हि कथं भोक्तेति नित्यम्। –षड्द० बृह० श्लो० ४९। (१४) तृच्प्रत्ययस्य।

1 यदर्थं भुजि–आ०।

दर्शनात् न वास्तव कर्तृत्व सिद्ध्यति शब्दज्ञानानुपातिन कर्तृत्वविकल्पस्य वस्तुशून्यत्वात्, इत्यप्यसुन्दरम्, भोक्तृत्वादिधर्माणामप्यात्मनोऽवास्तवत्वोपपत्ते । तथोपगमे च चेतयते इति चेतन पुरुष परमार्थतो न सिद्ध्येत् चेतनशब्दज्ञानानुपातिनोऽपि विकल्पस्य वस्तुशून्यत्वाविशेषात्। अथ एतद्दोषभयाद् भुजौ कर्त्ता इष्यते, तर्हि अकर्तृत्वविरोध । क्रियान्तरस्य प्रधानसाध्यस्याऽप्रसाधकत्वादकर्त्तृत्वे प्रधानस्याप्यकर्त्तृत्वानुषङ्ग पुरुषमाध्यस्य भुजिलक्षणक्रियान्तरस्य तेनाप्यप्रसाधनात्। तत पुंसोऽकर्त्तृत्वे भोक्तृत्वाभाव एव। प्रयोग –संसार्यात्मा सुखाद्युपभोक्ता न भवति, धर्मादीनामकर्तृत्वात्, मुक्तात्मवत् ।

अकर्त्तुर्भोक्तृत्वाभ्युपगमे च कृतनाशाऽकृताभ्यागमदोषप्रसङ्ग , प्रकृत्या हि कृत कर्म न च तस्या फलेनाभिसम्बन्ध इति कृतनाश , पुरुषेण च तन्न कृतम् अथ च तत्फलेन तस्याभिसम्बन्ध इति अकृताभ्यागम । अकर्त्तु फलाभिसम्बन्धे च मुक्तात्मनोऽपि तत्प्रसङ्ग । चेतनत्वादात्मन अकर्तृत्वेपि तदभिसम्बन्ध इत्यप्यनेन प्रत्युक्तम्, मुक्तात्मनोऽपि अत एव तदभिसम्बन्धानुपङ्गात्, ससार्यात्मनोऽपि वा तद्वदसौ न स्याद्विशेषात्। प्रयोग –ससार्यात्मा फलाभिसम्बन्धवान् न भवति, चेतनत्वात्, मुक्तात्मवत्। तथा प्रधान कर्मणा तत्फलस्य च कर्तृ न भवति, अभोक्तृत्वात्, मुक्तात्मवत् ।

यच्चोक्तम्–'यथैव हि स्वयमचेतनापि बुद्धि चेतनासंसर्गात्' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्' बुद्धिचेतनयोर्भेदाऽसंभवात्, विज्ञानस्यैव हि 'बुद्धि , चेतना, अध्यवसाय ' इति पर्याया, । तदसंभवश्च सांख्य प्रति स्वसंवेदनसिद्धौ[12] प्रपञ्चित । अत कथ तद्दृष्टान्तावष्टम्भेन उपचारादात्मन कर्तृत्व स्यात् ? तत पुरुष 'पुण्य करोति, ध्यान करोति' इत्याद्यबाध्यमानप्रतीतिसिद्ध कर्त्तृत्वमस्य अनुपचरितमेवाभ्युपगन्तव्यम् ।

---

(१) "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प ।–शब्दजनित ज्ञान शब्दज्ञान तदनु पतितु शील यस्य स शब्दज्ञानानुपाती, वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणो योऽध्यवसाय स विकल्प इत्युच्यते ।"–योगसू० भोजवृ० १।९ । (२) तुलना–"भोक्तृत्वादिधर्माणामपि पुरुषस्याऽवास्तवत्वापत्त , तथोपगमे चेतयत इति चेतन पुरुषो न वस्तुत सिद्ध्येत् चेतनशब्दज्ञानानुपातिनो विकल्पस्य वस्तुशून्यत्वात् कर्तृत्वभोक्तृत्वादिशब्दज्ञानानुपातिविकल्पवत् ।'–आप्तप० का० ८१ । (३) प्रधानेनापि । (४) तुलना–"ससार्यात्मा भोक्ता न भवति अकर्तृत्वात् मुक्तात्मवत् ।'–षड्द० बृह० श्लो० ४८ । (५) तुलना–"प्रधानस्य बन्धमोक्षौ पुरुषस्तत्फलमनुभवतीति कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । प्रधानेन हि कृतौ बन्धमोक्षौ न च तस्य फलानुभवनमिति कृतनाश , पुरुषेण तु तौ न कृतौ तत्फलानुभवनञ्च तस्येत्यकृताभ्यागम कथ परिहर्तुं शक्य ?'–आप्तप० का० ११४ । षड्द० बृह० श्लो० ४८ ५२ । (६) "मुक्तात्मनोऽपि प्रधानकृतकर्मफलानुभवनानुषङ्गात ।"–आप्तप०का०११४ । (७) चेतनत्वादेव । (८) मुक्तवत् कर्मफलाभिसम्बन्ध । (९) तुलना–"कर्त्तु नाम विजानन्ति गृहादीन् सवया गुणा । भोक्तु च न विजानन्ति त्रिमयुक्तमत परम् ॥"–चतु श० १०।१६ । "कर्त्तु नाम प्रजानाति प्रधानं व्यञ्जनादिकम । भोक्तुञ्च न विजानाति त्रिमयुक्तमत परम् ॥'–तत्त्वस० श्लो० ३०० । (१०) पृ० ८१४ पं० ८। (११) द्रष्टव्यम्–पृ०१९३टि० २ । (१२) पृ० १९३–। (१३) बुद्धिदृष्टान्तबलेन।

1 कर्तृत्व–आ०, ब० । 2 'एव नास्ति ब० । 3 अकर्तृभोक्तृ–आ० । 4 इत्यनेन आ० ।

न क्रियते, कथं तत् 'तस्य' इति व्यपदिश्येत ? मुक्तात्मनोऽपि तद्व्यपदेशप्रसङ्गात् । अथ क्रियते, किं ततो भिन्न , अभिन्नो वा ? यदि अभिन्न , तदा तत्करणे पुंसोऽपि कार्यत्वानुषङ्गात् नित्यत्वक्षति । अथ भिन्न , तदा पुंसो न किञ्चित्कृत स्यात्, तस्येतिव्यपदेशश्च न प्राप्नोति तेन तस्याऽसम्बन्धात्, तेनाप्युपकारान्तरकरणे अनवस्था । तत प्रधानस्य स्वरूपेण असत्त्वात्, सतोऽपि वा कर्मपरिणामानुपपत्ते , द्रव्यरूपस्य कर्मण पुद्गलपरिणामत्व भावरूपस्य तु आत्मपरिणामत्वमभ्युपगन्तव्यम् । पुद्गलात्मनो सद्भावस्य विचित्रपरिणामाधारत्वस्य च प्राक् प्रसाधितत्वात् । न च कर्मणोऽनित्यत्वादात्मनस्तत्परिणामोपगमे अनित्यत्वापत्तिर्दोषाय, कथञ्चित्तदनित्यत्वस्येष्टत्वात् । सकलभावाना कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकतया अनेकान्तसिद्धौ प्रसाधितत्वात् । प्रधानस्यापि च तत्परिणामोपगमे अनित्यत्वापत्ति समाना ।

यच्चाप्युक्तम्–'साक्षित्व तावत् आत्मनो गुणप्रवृत्तेरधिष्ठातृत्वम्' इत्यादि, तदपि मनोरथमात्रम्, सत्त्वरजस्तमोलक्षणगुणाना प्रवृत्ते प्रकृतिपरीक्षाया प्रतिक्षिप्तत्वात्, सर्वथा नित्यव्यापित्वादिरूपमानस्य चात्मन स्वदेहप्रमितौ प्रतिव्यूढत्वात्, अत किं कस्य अधिष्ठातृ स्यात् ?

यदपि 'अकर्तृभावोऽपि अप्रसवधर्मित्वात्' इत्याद्युक्तम्, तदप्यविचारितरमणीयम्, सर्वथाऽकार्यकारणभूतत्वाभ्युपगमे पुंसोऽवस्तुत्वापत्तिप्रसङ्गात् । प्रयोग –भवत्कल्पित पुरुषो वस्तु न भवति, सर्वथाऽकार्यकारणभूतत्वात्, गगनेन्दीवरवत् ।

यदपि 'यस्मात् प्रस्पन्दनपरिणामौ प्रसवार्थौ नात्मनि विद्येते तस्मादकर्ता' इत्यभिहितम्, तदप्यपेशलम्, स्वदेहप्रमितौ आत्मन प्रस्पन्दनपरिणामयो प्रसाधितत्वात् । अकर्तृत्वे च आत्मनो भोक्तृत्वनिरोध , यदय भुजिक्रिया कुर्वन् भोक्ता इत्युच्यते यथा गमिक्रिया कुर्वन् गन्ता इति । नहि तथाऽपरिणत तद्व्यपदेशमर्हति अतिप्रसङ्गात् । तथा च कर्त्तरि तृचोऽनुत्पत्ते 'भोक्ता' इत्यात्मनो व्यपदेशो दुर्लभ । ननु भोक्तेति तृचो

(१) ससारिण । (२) शरीरात्मना पुंसोऽभिन्नोपकारकरण । (३) उपकारेण । (४) पुंस । (५) शरीराद्भिन्नतोपकारेणापि । (६) तत कर्म परिणाम यस्य । (७) अनित्यकर्मपर्यायात्मकत्वस्वीकारे । (८) पृ० ८१३ प० ५ । (९) पृ० ३५४– । (१०) पृ० २६६– । (११) पृ० ८१४ प० ६ । (१२) पृ० ८१४ प० ६ । (१३) तुलना– अत पुरुषस्य कर्तृत्वे युक्तं वास्तव भोक्तृत्वम् । अन्यथा हि भोगक्रियामकुर्वत कथमुदासीनस्य भोक्तृत्वं स्यात्, भोगस्य सुखदुःखवेदनारूपत्वात् तदाधारता तु भोक्तृत्वम् ।'–प्रश० व्यो० पृ० ५२३ । भोक्तात्मा चेत्स एवास्तु कर्ता तदविरोधत । विरोधे तु तयोर्भोक्तुं स्याद् भुजौ कर्तृता कथम् ॥ –आप्तप० का० ८१ । कर्ता आत्मा स्वकर्मफलभोक्तृत्वात् साख्यकल्पित पुरुषो वस्तु न भवति अकर्तृत्वात् खपुष्पवत् । किंच आत्मा भोक्ता अङ्गीक्रियते स च भुजिक्रियां करोति न वा ? यदि करोति तदाऽपराभि क्रियाभि किमपराद्धम् ? अथ भुजिक्रियामपि न करोति तर्हि कथं भोक्तेति नित्यम् । –षड्द० बृह० श्लो० ४९ । (१४) तृच्प्रत्ययस्य ।

1 यदय भुजि–आ० ।

दर्शनात् न वास्तवं कर्तृत्वं सिद्ध्यति शब्दज्ञानानुपातिनः कर्तृत्वविकल्पस्य वस्तुशून्यत्वात्, इत्यप्यसुन्दरम्, भोक्तृत्वादिधर्माणामप्यात्मनोऽवास्तवत्वोपपत्तेः। तथोपगमे च चेतयते इति चेतनः पुरुषः परमार्थतो न सिद्ध्येत् चेतनशब्दज्ञानानुपातिनोऽपि विकल्पस्य वस्तुशून्यत्वाविशेषात्। अथ एतद्दोषभयाद् भुजौ कर्ता इष्यते, तर्हि अकर्तृत्वनिरोधः। क्रियान्तरस्य प्रधानसाध्यस्याऽप्रमाणत्वादकर्तृत्वे प्रधानस्याप्यकर्तृत्वानुषङ्गः पुरुषसाध्यस्य भुजिलक्षणक्रियान्तरस्य तेनाप्यप्रसाधनात्। ततः पुंसोऽकर्तृत्वे भोक्तृत्वाभाव एव। प्रयोगः–संसार्यात्मा सुखाद्युपभोक्ता न भवति, धर्मादीनामकर्तृत्वात्, मुक्तात्मवत्।

अकर्तुर्भोक्तृत्वाभ्युपगमे च कृतनाशाऽकृताभ्यागमदोषप्रसङ्गः, प्रकृत्या हि कृतं कर्म न च तस्याः फलेनाभिसम्बन्धः इति कृतनाशः, पुरुषेण च तन्न कृतम् अथ च तत्फलेन तस्याभिसम्बन्धः इति अकृताभ्यागमः। अकर्तुः फलाभिसम्बन्धे च मुक्तात्मनोऽपि तत्प्रसङ्गः। चेतनत्वादात्मनः अकर्तृत्वेऽपि तदभिसम्बन्धः इत्यप्यनेन प्रत्युक्तम्, मुक्तात्मनोऽपि अत एव तदभिसम्बन्धानुषङ्गात्, संसार्यात्मनोऽपि वा तदसौ न स्यादविशेषात्। प्रयोगः–संसार्यात्मा फलाभिसम्बन्धवान् न भवति, चेतनत्वात्, मुक्तात्मवत्। तथा प्रधानं कर्मणः तत्फलस्य च कर्तृ न भवति, अभोक्तृत्वात्, मुक्तात्मवत्।

यच्चोक्तम्–'यथैव हि स्वयमचेतनापि बुद्धिः चेतनासंसर्गात्' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम् बुद्धिचेतनयोर्भेदाऽसम्भवात्, निर्दिष्टमेव हि 'बुद्धिः, चेतना, अध्यवसाय' इति पर्यायाः। तदसम्भवश्च सांख्यं प्रति स्वसंवेदनसिद्धौ[12] प्रपञ्चितः। अतः कथं तद्दृष्टान्तावष्टम्भेन उपचारादात्मनः कर्तृत्वं स्यात्? ततः पुरुषः 'पुण्यं करोति, ध्यानं करोति' इत्याद्यबाध्यमानप्रतीतिसिद्धं कर्तृत्वमस्य अनुपचरितमेवाभ्युपगन्तव्यम्।

---

(१) "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।–शब्दजनितं ज्ञानं शब्दज्ञानं तदनु पतितुं शीलं यस्य स शब्दज्ञानानुपाती, वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणो योऽध्यवसायः स विकल्प इत्युच्यते।"–योगसू० भोजवृ० १।९। (२) तुलना–"भोक्तृत्वादिधर्माणामपि पुरुषस्याऽवास्तवत्वापत्तेः, तथोपगमे चेतयते इति चेतनः पुरुषो न वस्तुतः सिद्ध्येत् चेतनशब्दज्ञानानुपातिनो विकल्पस्य वस्तुशून्यत्वात् कर्तृत्वभोक्तृत्वादिशब्दज्ञानानुपातिविकल्पवत्।"–आप्तप० का० ८१। (३) प्रधानेनापि। (४) तुलना–"संसार्यात्मा भोक्ता न भवति अकर्तृत्वात् मुक्तात्मवत्।"–षड्द० बृह० श्लो० ४८। (५) तुलना–"प्रधानस्य बन्धमोक्षौ पुरुषस्तत्फलमनुभवतीति कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। प्रधानेन हि कृतौ बन्धमोक्षौ न च तस्य फलानुभवनमिति कृतनाशः, पुरुषेण तु तौ न कृतौ तत्फलानुभवनञ्च तस्येत्यकृताभ्यागमः कथं परिहर्तुं शक्यः?"–आप्तप० का० ११४। षड्द० बृह० श्लो० ४८,५२। (६) 'मुक्तात्मनोऽपि प्रधानकृतकर्मफलानुभवनानुषङ्गात्।"–आप्तप० का० ११४। (७) चेतनत्वादेव। (८) मुक्तवत् कर्मफलाभिसम्बन्धः। (९) तुलना–"कर्तुं नाम विजानन्ति गृहादीन् सकला गुणाः। भोक्तुं च न विजानन्ति किमयुक्तमतः परम्॥"–चतु० १०।१६। "कर्तुं नाम प्रजानाति प्रधानं व्यञ्जनादिकम्। भोक्तुं न विजानाति किमयुक्तमतः परम्॥"–तत्त्वसं० श्लो० ३००। (१०) पृ० ८१४ पं० ८। (११) द्रष्टव्यम्–पृ० १९३ टि० २। (१२) पृ० १९३–। (१३) बुद्धिदृष्टान्तबलेन।

1 कर्तृत्वे–आ०, श्र०। 2 'एव' नास्ति श्र०। 3 अकर्तुर्भोक्तृ–आ०। 4 इत्यनेन आ०।

एतेन 'चिच्छक्तिरपरिणामिनी' इत्यादि प्रत्याख्यातम्, अपरिणामिनः कस्यचिद्वस्तुत्वानुपपत्तेः खपुष्पवत्। ननु मुक्तस्यात्मनः शुद्धस्याऽपरिणामित्वेऽपि वस्तुत्वं भवद्भिरिष्टम्, इत्यप्यनल्पतमोविलसितम्, तस्यापि प्रतिसमयं परिणामित्वप्रतिज्ञानात् प्रतिसमयं दृश्यस्य परिणामित्वे द्रष्टुरपरिणामित्वानुपपत्तेः। न च दृश्यं वस्तु (वस्त्व) परिणाम्येव इत्यभिधातव्यम्, सार्वैस्तस्य परिणामित्वाऽभ्युपगमात्। अथ चिच्छक्तिः अप्रतिसङ्क्रमत्वादपरिणामिनीत्युच्यते, तन्न, अस्याः प्रतिविषयं दर्शितविषयत्वे प्रतिसङ्क्रमोपपत्तेः। बुद्धेरेव तथा प्रतिसङ्क्रमो न चिच्छक्तेः, इत्यप्ययुक्तम्, बुद्धेरप्येवम् अप्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात्, विषयस्यैव प्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात्। बुद्ध्याऽध्यवसीयमानस्य विषयस्य प्रतिसङ्क्रमासंभवे बुद्धेः कथं तदसंभव इति चेत्? तर्हि बुद्धेः विषयप्रदर्शिकायाः प्रतिसङ्क्रमे तद्विषयं पश्यन्त्याश्चिच्छक्तेरपि कथमप्रतिसङ्क्रमः? यथैव हि प्रतिनियतं विषयं चिच्छक्तये दर्शयन्ती बुद्धिः सङ्क्रामति तथा क्रमेण चिच्छक्तिरपि तं पश्यन्ती विशेषाभावात्। कथमन्यथा क्रमेण दर्शितविषयाऽसौ स्यात्?

किञ्च, यदा बुद्ध्या विषयः तस्यै प्रदर्श्यते तदा प्राचीनम् अदर्शितस्वरूपमसौ त्यजति न वा? न त्यजति चेत्, कथं प्रागवस्थवदाप्यसौ दर्शितविषया स्यात्? अथ त्यजति, कथमपरिणामिनी, अदर्शितविषयत्वत्यागेन दर्शितविषयत्वोपादानस्य परिणामित्वाविनाभावित्वात्? अथ मतम्–चिच्छक्तेः परः एषाऽभिन्नः स्वभावस्तादृशो येन यो यत्र यदा यथा अर्थो बुद्ध्याऽध्यवसीयते तं तत्र तदा तथा पश्यतीत्यतो दर्शितविषयत्वेऽपि अस्या न प्रतिविषयं स्वभावभेदः यतः परिणामित्वं स्यादिति, तदप्यसमीचीनम्, बुद्धेरप्येवमेकस्वभावत्वप्रसङ्गात्। शक्यं हि वक्तुम्–बुद्धेरेक एव क्रमभाव्यनेकविषया-

(१) पृ० ८१४ प० १२। (२) अर्थान्तरविषयत्वत्यागेन दर्शितविषयत्वोपादानादवस्थितायाः एव तस्याः परिणामित्वसिद्धेः। –युक्त्यनु० टी० पृ० ३०। (३) मुक्तात्मनोऽपि। "स हि सर्वदा पूर्वोत्तरस्वभावत्यागोपादानाभ्यामवस्थितस्वभावः परिणाम्येव सर्वार्थान् पश्यति नान्यथा, प्रतिसमयं दृश्यस्य परिणामित्वे द्रष्टुरपरिणामानुपपत्तेः। न चायं दृश्यमर्थमपरिणामिनं वस्तु सम्मतं, स्वयं तस्य परिणामित्वोपगमात् सिद्धान्तपरित्यागानुषङ्गात्। –युक्त्यनु० टी० पृ० ३०। (४) दृश्यस्य। (५) 'प्रतिविषयं दर्शितविषयत्वे समाने। तथा बुद्धेरेव प्रतिसङ्क्रमो न तु चिच्छक्तेरिति चेत्; न; बुद्धेरप्यप्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात् विषयस्यैव प्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात्।' –युक्त्यनु० टी० पृ० ३०। (६) यथैव हि विषयं प्रतिनियतं दर्शयन्ती बुद्धिश्चितिशक्तये संक्रामति तथा क्रमेण चितिशक्तिरपि पश्यन्ती विशेषाभावात्। कथमन्यथा क्रमेण दर्शितविषया स्यात्। –युक्त्यनु० टी० पृ० ३१। (७) विषयम्। (८) 'सत्रा मनि' इति पाठभेदः। (९) चिच्छक्तिः। (१०) चिच्छक्ते। (११) 'तथा बुद्धेरप्येकस्वभावत्वप्रसङ्गात्। शक्यं हि वक्तुं बुद्धेरेव एकः क्रमभाव्यनेकविषयव्यवसायस्वभावो येन यथाकालं यथार्थं यथा प्रकारं च विषयमध्यवस्यतीति न किञ्चिदनेकस्वभावं सिद्ध्येत्। –युक्त्यनु० टी० पृ० ३२।

1 तेन ब०। 2 -मित्वप्रति- आ०। 3 परिणामेव ब०। 4 इत्येतदप्ययु- ब०। 5 विषयस्यैव प्रतिसंक्रमप्रसङ्गात् इति नास्ति ब०। 6 प्रतिसंक्रमे बु- ब०। 7 प्रतिनियमविषयं ब०। 8 स्वस्य ब०। 9 मर्थान्तरपद- ब०।

ध्यवसायस्वभावो येन यो यत्र यदा यथाऽवस्थितोऽर्थः स तत्र तदा तथा अध्यवस्यतीति। तथा इन्द्रियमनोऽहङ्कारादीनामपि विषयाऽऽलोचनसङ्कल्पनाऽभिमननाद्येकस्वभावत्वप्रसङ्गात् न क्वचित् स्वभावभेदः सिद्ध्येत्।

यदपि–चिच्छक्तेरप्रतिसङ्क्रमसिद्धौ शुद्धत्वादिति साधनमुच्यते, तदप्यसाधु, यतः शुद्धात्मनोऽशुद्धपरिणामसङ्क्रम एव निरुध्यते न पुनः शुद्धपरिणामसङ्क्रमः। ननु शुद्धपरिणामेनापि चिच्छक्तिरप्रतिसङ्क्रमा अनन्तत्वात्, इत्यप्यचारु, प्रकृत्या अनेकान्तात्, अनन्तत्वेऽपि हि तस्याः महदादिपरिणामसङ्क्रमः साङ्ख्यैरभ्युपगम्यते।

यदप्युक्तम्–'पङ्ग्वन्धयोरिव' इत्यादि, तदतीवाऽसङ्गतम्, दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात्, पङ्ग्वन्धयोर्हि चेतनत्वात् इदमित्थमेव अस्मदिष्टं कार्यं सेत्स्यतीति सम्प्रधार्य अन्योन्यापेक्षयोः प्रवृत्तिर्युक्ता, न तु प्रकृतिपुरुषयोः विपर्ययात्।

यत्पुनरुक्तम्–'चिद्रूपस्यापि अस्य अज्ञानतमश्छन्नतया' इत्यादि, तत्र किम् अज्ञानमेव तमः, उत अज्ञानञ्च तमश्च इति? प्रथमपक्षे मुक्तात्मापि प्रकृतिस्थमपि सुखादिफलं किन्न आत्मस्थं मन्येत, तदुपभोक्ता च किन्न स्यात्, तस्यापि ज्ञानाभावतोऽज्ञानतमश्छन्नत्वाऽविशेषात्? द्वितीयपक्षे तु किमिदम् अज्ञानादन्यत् तमो नाम? रागादिकमिति चेत्, न, तस्य आत्मनोऽत्यन्तार्थान्तरभूतप्रकृतिधर्मतया आत्माच्छादकत्वानुपपत्तेः। तथाभूतेनापि तेन तदाच्छादने मुक्तात्मनोऽप्याच्छादनं स्यादविशेषात्। अथ अधिकारिण एव तद् आच्छादकम् न मुक्तात्म(त्म)नः, ननु किमिदमधिकारित्वं नाम? यं प्रति प्रधानं प्रवृत्ताधिकारं सोऽधिकारीति चेत्, न, प्रधाने प्रवृत्ताधिकारित्वस्य प्रागेव कृतोत्तरत्वात्।

यदप्युक्तम्–'विवेकख्याते' इत्यादि, तत्र केयं विवेकख्यातिर्नाम? प्रकृतिपुरुषयोः स्वेन स्वेन रूपेणावस्थितयोः भेदेन प्रतिभासनमिति चेत्, सा कस्य–प्रकृतेः,

---

(१) "शुद्धात्मनोऽपि स्वाशुद्धपरिणामप्रतिसंक्रमाविरोधात् तथाशुद्धपरिणामसंक्रमस्यवासम्भवात्।"–युक्त्यनु० टी० पृ० ३१। (२) "प्रकृत्या व्यभिचारात्। सापि ह्यनन्ता। सानन्तत्वेऽपि नित्यत्वविरोधात्।"–युक्त्यनु० टी० पृ० ३१। (३) पृ० ८१५ पं० २। (४) तुलना–"अचेतने हि निरङ्कुशे प्रधाने कर्तरि सुतरामनिर्मोक्षः स्यात्। तत्त्वविदमपि पुमांसं न बध्नाति प्रकृतिरिति कोऽस्या नियन्ता? पङ्ग्वन्धयोरपि संयोगस्य तुल्यत्वात्।"–न्यायमं० पृ० ४९१। (५) पृ० ८१५ पं० ८। (६) "यत किमज्ञानमेव तमः उत अज्ञानञ्च तमश्चेति।"–षड्द० बृह० श्लो० ५२। (७) मुक्तात्मनोऽपि। (८) मुक्तिदशायां ज्ञानं विनश्यति अतः तेषामपि ज्ञानप्रध्वंसात्मकमज्ञानमस्त्येव। (९) अत्यन्तभिन्नप्रकृतिधर्मात्मकेनापि रागादिना। (१०) रागादिकम्। (११) पृ० ८१६ पं० १। (१२) "तत्र केयं ख्यातिर्नाम–प्रकृतिपुरुषयोः स्वेन स्वेन रूपेणावस्थितयोः भेदेन प्रतिभासनमिति चेत्, सा कस्य–प्रकृतेः, पुरुषस्य वा?"–षड्द० बृह० श्लो० ५२।

---

1 इदमित्थमेव आ०, ब०। 2 विपर्ययस्यात ब०। 3 अधिकारि एव ब०। 4 'न मुक्तात्मनः' नास्ति आ०, श्र०। 5–धिकारी चेत् आ०, श्र०। 6 केयं वि–ब०।

पुरुषस्य, तद्व्यतिरिक्तस्य वा कस्यचित् ? न तावत्तद्व्यतिरिक्तस्य[1], प्रकृतिपुरुषव्यतिरेकेण अन्यस्य कस्यचिदपि सांख्यैरनभ्युपगमात्। नापि प्रकृतेः[१], तस्याः[२] असंवेद्यपर्वणि स्थितत्वात्, अचिद्रूपत्वात्, अनभ्युपगमाच्च। नापि पुरुषस्य, तस्याप्यसंवेद्यपर्वणि स्थितत्वात्। अतः प्रकृतिपुरुषयोः असंवेद्यपर्वणि स्थितयोः स्वरूपमात्रस्याप्रतिभासे विवेकेन ख्यातिः[1] अतिदुर्घटा। घटपटादौ हि स्वस्वरूपेण संवेद्यपर्वणि[३] स्थिते कुतश्चिद्विभ्रमनिमित्तात् विवेकेनाऽप्रतीते[2] यथावस्थितवस्तुप्रतिभासिप्रमाणवशाद् विवेकेन ख्यातिर्दृष्टा, न चात्र एतदस्ति।

किञ्च, विवेकेन ख्यातिः[3] सन्निश्चय, सा च बुद्धिधर्मत्वाद् भवन्मते पुरुषे न संभवति। संभवे वा सा ततो भिन्ना, अभिन्ना वा स्यात् ? यद्यभिन्ना, तदा आत्मवत्तस्या[४]पि नित्यत्वानुषङ्गात् न कदाचिन्मुक्तप्रसङ्गः। भिन्ना चेत्, अस्तु, तथापि-असौ नित्या, अनित्या वा ? यदि नित्या, किं सम्बद्धा असम्बद्धा वा ? असम्बद्धा चेत्, कथं तस्येति व्यपदिश्येत ? असम्बद्धाया अपि तस्याः तेन[५] व्यपदेशे सर्वेण सह व्यपदेशप्रसङ्गात् न कस्यचिदपि संसारः स्यात्। अथ सम्बद्धा, न, नित्ययोस्तयोः अन्योन्यमनुपकारकयोः कस्यचिदपि सम्बन्धस्यानुपपत्तेः। उपपत्तौ वा तस्या[६]पि नित्यत्वात् सदात्मनो मुक्तिप्रसङ्गः। अथ अनित्या [७]विवेकख्यातिः, नन्वनित्या सती असौ जन्या, अजन्या वा ? तत्र अनित्यायास्तस्याः घटादिवदजन्यत्वानुपपत्तिः। जन्यत्वेऽप्यस्याः किम् आत्मना, प्रकृत्या, तद्व्यतिरिक्तेन वा केनचिदसौ जन्येत ? न तावत् तद्व्यतिरिक्तेन[4], प्रकृति-पुरुषव्यतिरिक्तस्य कस्यचिदपि तज्जनकस्याऽनभ्युपगमात्[5]। नाप्यात्मना[८], तस्य जनकत्वानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा प्रकृतिवियुक्तेन, तत्सहितेन वा तेनासौ[6] जन्येत ? प्रथमपक्षे चक्रकप्रसङ्गः-सिद्धे [7]हि विवेकख्यातेर्जन्यत्वे प्रकृतिपुरुषयोर्वियुक्तत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तद्वियुक्तेन आत्मना विवेकख्यातेर्जन्यत्वसिद्धिरिति। तत्सहितात्मजन्यत्वे तु[8] सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां मोक्षः स्यात्, तथा सर्वत्र सर्वदाऽविशेषतः तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्।

यदपि-'विज्ञातविरूपाहम्' इत्याद्यभिहितम्[९], तदप्यविचारिताभिधानम्, [११]प्रकृते-

---

(१) प्रकृतेः। (२) अव्यक्तकोटौ। 'तस्या असंवेद्यपर्वणि स्थितत्वाच्चेतनत्वानभ्युपगमाच्च।' -षड्द० बृह० श्लो० ५२। (३) व्यक्तकोटौ। (४) विवेकख्यातावपि। (५) विवेकख्यातेः। (६) पुरुषस्येति व्यपदेशः। (७) सम्बन्धस्यापि। (८) आत्मनः। (९) विवेकख्यातिः। (१०) पृ० ८१६ पं० २। (११) तुलना-"अचेतनत्वात् तथाहि-अचेतनतया प्रधानस्य अहमनेन दृष्टा (दुष्टा) तया विज्ञातमिति विज्ञानाभावे पूर्ववत् प्रवृत्तिरविनिवृत्त्यलमनिर्मोक्षप्रसङ्गः। -प्रश० व्यो० पृ० २० घ०। दृष्टास्मीति विरमतीति चेन्न, एवम्, न ह्यसौ एकपत्नीव्रतदुर्ग्रहगृहीता नित्यपुरुषोपभो

1-तिरिक्तपुरुषा आ०। 2-तीते य-आ०। 3 विवेकस्य ख्याति आ०। 4 तावद्व्यतिरि-ब०। 5-ना जनक-ब०, -नात्मजनक-श्र०। 6 च आ०। 7 'हि' नास्ति आ०। 8 तु सर्वदा ब०, श्र०। 9 विज्ञानविरू-आ०।

जडतया इत्थं विज्ञानानुपपत्तेः । न खलु जडस्वरूपो घटादिः विरूपतकतयाऽहमनेन ज्ञातोऽतो नैतस्मै फलं सम्पादयामि' इति स्वयं संवेदयमानो दृष्टः जडाजडयोः स्वरूपसङ्करप्रसङ्गात् । स्वरूपप्रतिपत्तौ हि परमुखप्रेक्षित्वं जडस्य स्वरूपम् तन्निरपेक्षत्वं तु अजडस्य तदित्थं सङ्कीर्येत ।

किञ्च, विज्ञातापि प्रकृतिः संसारदशावत् मोक्षदशायामपि आत्मनो भोगसम्पादनाय स्वभावतो वायुवत् प्रवर्त्तताम् तत्स्वभावस्य नित्यतया तदापि सत्त्वात् । नहि प्रवृत्तिस्वभावो वायुः विरूपकतया येन ज्ञातः तं प्रति तत्स्वभावादुपरमते, अतः कुतो मोक्षः स्यात् ? तदा तदसत्त्वे वा प्रकृतेर्नित्यैकरूपतानुपपत्तिः, पूर्वस्वभावत्यागेन उत्तरस्वभावोपादानस्य तत्र विरोधात्, परिणामिनित्ये एव तदविरोधात् । प्रकृतेश्च परिणामिनित्यत्वाभ्युपगमे आत्मनोऽपि तदभ्युपगन्तव्यम्, तस्यापि प्राक्तनसुखाद्युपभोक्तृस्वभावपरिहारेण तदभोक्तृस्वभावस्वीकारात्, अमुक्तादिस्वभावत्यागेन मुक्तादिस्वभावोपादानाच्च । सिद्धे चास्य परिणामिनित्यत्वे सुखादिपरिणामैरपि परिणामित्वमस्याऽभ्युपगन्तव्यम्, इति सिद्धः – मोक्षेऽप्यात्मा विशुद्धज्ञानादिस्वभाव इति ॥ छ ॥

विशेषगुणोच्छेदरूपा मुक्तिरिति यौगस्य पूर्वपक्षः –

ननु मोक्षे विशुद्धज्ञानादिस्वभावताऽऽत्मनोऽनुपपन्ना बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदरूपत्वात्तस्य । प्रत्यक्षादिप्रमाणेन हि आत्मस्वरूपे प्रतिपन्ने मनःप्रणिधानपूर्विकाया भावनायाः प्रकर्षप्राप्तायाः परिपाकं प्राप्ते तत्त्वज्ञाने नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदे स्वस्वरूपेण आत्मनोऽवस्थानं मोक्षः ।

गसौभाग्या पण्यवनितेव नासौ नियमेन व्यवहर्तुमर्हतीत्यास्तामेतत् ।"–न्यायम० पृ० ४९२ । 'प्रकृतेः जडतयास्य विज्ञानानुपपत्तेः ।'–षड्द० बृह० श्लो० ५२ ।

(१) घटादेरपि स्वयं विवेकेन प्रवृत्तौ । (२) तुलना– 'अस्या अचेतनतया विमृश्यकारित्वाभावात् । यथेयं कृतेऽपि शब्दाद्युपलम्भे पुनस्तदर्थं प्रवर्तते तथा विवेकख्यातौ कृतायामपि पुनस्तदर्थं प्रवर्तिष्यते स्वभावस्यानपायित्वात् ।"–प्रश० कन्द० पृ० ७। षड्द० बृह० श्लो० ५२। (३) प्रवर्तनस्वभावात् । (४) "सिद्धे चास्य परिणामिनित्यत्वे सुखादिपरिणामैरपि परिणामित्वमस्याभ्युपगन्तव्यम् यथा मोक्षाभावप्रसङ्गः ।"–षड्द० बृह० श्लो० ५२ । (५) 'नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः ।"–प्रश० व्यो० पृ० ६३८ । 'आत्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिरपवर्गो न सावधिका द्विविधदुःखावमर्शिना सर्वनाम्ना सर्वेषामात्मगुणानां दुःखावमर्शादि अत्यन्तग्रहणेन च सर्वात्मना तद्वियोगाभिधानात् नवानामात्मगुणानां बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणां निर्मूलोच्छेदोऽपवर्ग इत्युक्तं भवति । यावदात्मगुणाः सर्वे नोच्छिन्ना वासनादयः । तावदात्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिर्नावकल्पते ॥'–न्यायम० पृ० ५०८ । (६) "ननु तस्यामवस्थायां कीदृगात्माऽवशिष्यते ? स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ॥"–न्यायम० पृ०५०८। 'समस्तात्मविशेषगुणोच्छेदोपलक्षिता स्वरूपस्थितिरेव ।"–प्रश० कन्द० पृ० २८७ । "निःश्रेयसं पुनर्दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी' –प्रश० किर० पृ० ६ । तस्मिन्नमेतत् नित्यसंवेद्यम्, अनेन सुखेन विशिष्टा आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः पुरुषस्य मोक्ष इति ।"–न्यायसा० पृ० ४१ ।

1 जडस्वरूपो ब० । 2–तस्य फलं ब० । 3 स्वयं वेदय–श्र० । 4 सकीर्यते ब० । 5 विरूपतया आ०, श्र० । 6–वत्स्वभा–श्र० । 7–च्छेदस्वरूप–ब० ।

तदुच्छेदे च प्रमाणम्–नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तानत्वात्, प्रदीपादिसन्तानवत्। नचायमसिद्धो हेतुः, पक्षे प्रवर्त्तमानत्वात्। नापि विरुद्धः, सपक्षे प्रदीपादौ सत्त्वात्। नाप्यनैकान्तिकः, पक्षसपक्षवद् विपक्षे परमाण्वादावप्रवृत्तेः। नापि कालात्ययापदिष्टः, विपरीतार्थोपस्थापकयोः प्रत्यक्षागमयोरत्राऽसंभवात्। नापि सत्प्रतिपक्षः, प्रतिपक्षप्रसाधकानुमानासंभवात्।

ननु सन्तानोच्छेदरूपेऽपि मोक्षे कश्चिद्धेतुर्वक्तव्यः "निर्हेतुकविनाशाऽनभ्युपगमात् इति च न शङ्कनीयम्, तत्त्वज्ञानस्यैव तद्धेतुत्वात्। तत्खलु विपर्ययज्ञानव्यवच्छेदक्रमेण निःश्रेयसहेतुः। दृष्टञ्च सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानोच्छेदे शुक्तिकादौ सामर्थ्यम्। निवृत्ते च मिथ्याज्ञाने तन्मूला रागादयो निवर्त्तन्ते कारणाभावे कार्यानुत्पादात्। रागाद्यभावे च तत्कार्या मनोवाक्कायप्रवृत्तिः व्यावर्त्तते। तद्व्यावृत्तौ च धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिः। आरब्धशरीरेन्द्रियविषयकार्ययोस्तु सुखादिफलोपभोगात् प्रक्षयः, अनारब्धतत्कार्ययोरव्यवस्थितयोः तत्फलोपभोगादेव प्रक्षयः। तथा चागमः–

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" [ ] इति।

(१) 'नवानामात्मगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तानत्वात् यो यः सन्तानः स सोऽत्यन्तमुच्छिद्यमानो दृष्टः यथा प्रदीपसन्तानः तथा चायं सन्तानः, तस्मात् अत्यन्तमुच्छिद्यते।' –प्रश० व्यो० पृ० २० क०। 'दुःखसन्ततिरत्यन्तमुच्छिद्यते सन्ततित्वात् प्रदीपसन्ततिवदित्याचार्याः।' –प्रश० किर० पृ० ९। (२) 'ज्ञानपूर्वकात्तु कृतादसङ्कल्पितफलाद् विशुद्धे कुले जातस्य दुःखविगमोपायजिज्ञासोराचार्यमुपसङ्गम्य उत्पन्नषट्पदार्थतत्त्वज्ञानस्य अज्ञाननिवृत्तौ विरक्तस्य रागद्वेषाद्यभावात् तज्जयोर्धर्माधर्मयोरनुत्पत्तौ पूर्वसञ्चितयोश्चोपभोगान्निरोधे सन्तोषसुखं शरीरपरिच्छेदञ्च उत्पाद्य रागादिनिवृत्तौ निवृत्तिलक्षणः केवलो धर्मः परमार्थदर्शनजं सुखं कृत्वा निवर्तते। तदा निरोधान्निर्बीजस्य आत्मनः शरीरादिनिवृत्तिः पुनः शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्ष इति।' –प्रश० भा० पृ० ६४४। 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः।' –प्रश० भा० पृ० २० ज०। "तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" –न्यायसू० १।१।१। (३) 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।' –न्यायसू० १।१।२। 'ते इमे मिथ्याज्ञानादयो दुःखान्ता धर्मा अविच्छेदेनैव प्रवर्तमानाः संसार इति। यदा तु तत्त्वज्ञानात् मिथ्याज्ञानमपैति तदा मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयान्ति दोषापाये प्रवृत्तिरपैति प्रवृत्त्यपाये जन्मापैति जन्मापाये दुःखमपैति दुःखापाये चात्यन्तिकोऽपवर्गो निःश्रेयसमिति।' –न्यायभा० १।१।२। तथा ह्युपलब्धं सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ सामर्थ्यं शुक्तिकादाविति' –प्रश० व्यो० पृ० २० क०। (४) 'निवृत्ते च मिथ्याज्ञाने तन्मूलत्वाद्रागादयो नश्यन्ति कारणाभावे कार्यस्यानुत्पादादिति। रागाद्यभावे च तत्कार्या प्रवृत्तिर्व्यावर्तते तदभावे च धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिः। आरब्धकार्ययोश्चोपभोगात् प्रक्षयः।' –प्रश० व्यो० पृ० २० क०। (५) उद्धृतोऽयम्– यथोक्तम्–नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरिति। अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥ –प्रश० व्यो० पृ० २० ख०। धर्मसं० उ० पृ० २२५। प्रमेयक० पृ० ३०८। सन्मति० टी० पृ० १०५। चित्सु० पृ० ३५१। अवश्यमेव भोक्तव्यं –धर्मबि० टी० पृ० १३।

1 पराविस–ब०। 2 ननु सत्सन्ता–ब०, श्र०। 3 निर्हेतुविना–आ०। 4 न शङ्कनीयम् तत्र ज्ञान–आ०। † एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ०। 5–नुपपत्ति श्र० ब०। 6 इति नास्ति श्र०।

अत्रैवार्थे अनुमानम्–पूर्वकर्माणि उपभोगादेव क्षीयन्ते कर्मत्वात् प्रारब्धशरीरारम्भककर्मवत्। न च उपभोगात् तत्क्षये कर्मान्तरस्यावश्यम्भावात् संसारानुच्छेदः, भोगाभिलाषानुसन्धानरहितस्य अपगतकर्मसामर्थ्यात् पादितुरुपभोगेऽपि धर्माधर्मयोरनुत्पत्तेः, उपात्तकर्मक्षयात् भाविकर्मानुत्पत्तेः [illegible]ऽनुसन्धानविरहात् संसारोच्छेदोपपत्तेः। अनुसन्धानं हि रागद्वेषौ, 'अनुसन्धीयते याभ्यां [illegible]' इति व्युत्पत्तेः।

अथ मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ तत्त्वज्ञानिनः तदुपभोगाभिलाषस्याऽसम्भवात् तदुपभोगानुपपत्तिः, तन्न, तदुपभोगं विना कर्मणां प्रक्षयानुपपत्तेः तत्त्वज्ञानिनः तदुपभोगाभिलाषाभावेऽपि कर्मक्षयार्थितया तत्र प्रवृत्त्युपपत्तेः वैद्योपदेशेन आतुरस्य औषधाचरणे। यथैव हि आतुरस्य अनभिलषितेऽपि औषधाचरणे व्याधिप्रशमार्थं प्रवृत्तिः तदनिरपेक्षेण तत्प्रक्षयानुपपत्तेः, एवमत्रापि। 'विवादपदम् शरीरादिनिवृत्तौ आत्मा सर्वविषयविमुक्तः स्यात्, समस्तधर्माधर्मशून्यत्वात्, यस्तु विषयविमुक्तः स्यात् [illegible] समस्तधर्माधर्मशून्यः यथा संसार्यात्मा, समस्तधर्माधर्मशून्यश्च मुक्तात्मा, तस्मात् सर्वविषयविमुक्तः स्यात्' इत्यनुमानात्, '*न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः*' [छान्दो० ८।१२।१] इत्यागमाच्चासौ तथैव सिद्ध इति॥७॥

अथ प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'सन्तानत्वात्' इत्यादि, तदसमीचीनम्,

[illegible] यस्मात् आत्मनः सर्वथा भिन्नानां बुद्ध्यादिविशेषगुणानां सन्तानस्य उच्छेदः प्रसाध्यते, अथ अभिन्नानाम्, कथञ्चिद्भिन्नानां वा? प्रथमपक्षे आश्रयासिद्धो हेतुः, आत्मनोऽत्यन्तभिन्नानां तद्विशेषगुणानां

(१) "पूर्वकर्माण्युपभोगादेव क्षीयन्ते [illegible] शरीरं [illegible]।"–प्रश० व्यो० पृ० २० [illegible]। (२) 'तत्र [illegible]' – प्रश० व्यो० पृ० २० ख०। (३) '[illegible]' –प्रश० व्यो० पृ० २० ख०। (४) '[illegible]' [illegible] – [illegible] पृ० ६०० [illegible] ३५४। [illegible] ११४० [illegible] ५२। [illegible] ७१। न्यायवार्तिक पृ० ३८३। [illegible] पृ० ३५३। (५) [illegible]। (६) [illegible]। (७) पृ० ८२४ पं० ११। (८) [illegible] –[illegible] ५२। प्रमेयक० पृ० ३१७।

१–[illegible] । २ [illegible]।

प्रागेव असत्त्वप्रतिपादनतस्तत्सन्तानस्य धर्मिणोऽसिद्धेः । तथा तेषां भवता अस्वसंविदितत्वोपगमात्, ज्ञानान्तरवेद्यत्वे च अनवस्थादिदोषानुषङ्गात्, अज्ञातानाञ्च सत्त्वाऽसंभवात्तेोऽप्याश्रयासिद्धत्वम् । आत्मनः सर्वथाऽभिन्नानां तु तेषां तत्साधने तद्वत्तस्याप्यत्यन्तोच्छेदप्रसङ्गात् कस्यासौ मोक्षः स्यात् ? कथञ्चित्तदभेदस्तु परैर्नाभ्युपगम्यते अपसिद्धान्तप्रसङ्गात् । तथापि तदभ्युपगमे सर्वथा तदुच्छेदासिद्धिः कथञ्चित्तदनुच्छेदस्याप्येवं प्रसिद्धेः ।

सन्तानत्वञ्च साधनं सामान्यरूपम्, विशेषरूपं वा ? यदि सामान्यरूपम्, तदा स्वरूपासिद्धो हेतुः, व्यक्तिभ्यः सर्वथा भिन्नस्यास्य सामान्यपरीक्षायां प्रतिक्षिप्तत्वात् । अस्तु वा तद्रूपं तत्, तथापि परसामान्यरूपम्, अपरसामान्यरूपं वा स्यात् ? प्रथमपक्षे गगनादिनाऽनेकान्तः, अत्यन्तोच्छेदाभावेऽपि अत्र सत्तापरपर्यायस्य सन्तानत्वहेतोः सद्भावात् । अथ अपरसामान्यरूपम्, विशेषगुणाश्रिता हि जातिः सन्तानत्वम्, तर्हि द्रव्यविशेषे प्रदीपे तस्यासंभवात् साधनविकलो दृष्टान्तः ।

अथ विशेषरूपम्, तत्रापि उपादानोपादेयभूतबुद्ध्यादिक्षणलक्षणविशेषरूपम्, पूर्वापरसमानजातीयक्षणप्रवाहमात्ररूपं वा ? प्रथमपक्षे सन्तानत्वस्य असाधारणाऽनैकान्तिकत्वम्, तल्लक्षणस्यास्य अन्यत्र क्वचिदप्यप्रवृत्तेः । अभ्युपगमविरोधश्च, बुद्ध्यादिक्षणानाम् उपादानोपादेयभावस्य यौगैरनभ्युपगमात्, अन्यथा तत्सन्तानस्य अत्यन्तोच्छेदो न स्यात् मुक्तावस्थायामपि पूर्वपूर्वबुद्ध्याद्युपादानक्षणाद् उत्तरोत्तरोपादेयबुद्ध्यादिक्षणोत्पत्तिप्रसङ्गात् । द्वितीयपक्षे तु पाकजपरमाणुरूपादिना अनेकान्तः, तथाविध-

(१) बुद्ध्यादिगुणानाम् । तुलना- तथा बुद्ध्यादीनां विशेषगुणानां परेण स्वसंविदितत्वेनानभ्युपगमात् ज्ञानान्तरग्राह्यत्वे चाऽनवस्थादिदोषप्रसक्तेरवेद्यत्वमित्यज्ञातस्य सत्त्वासिद्धेः पुनरप्याश्रयासिद्धः सन्तानत्वादिति हेतुः । -सन्मति० टी० पृ० १५६ । प्रमेयक० पृ० ३१७ । (२) सन्तानत्वम् । (३) विशेषगुणसन्तानस्यात्मनापि । (४) कथञ्चिद्भेदप्रकारेण । (५) सन्तानत्वं हेतुत्वेनोपादीयमानं यदि सामान्यमभिप्रेतं तत्र बुद्ध्यादिविशेषगुणेषु प्रदीपे च तेजोद्रव्ये सत्तासामान्यव्यतिरेकेण अपरसामान्यस्यासंभवात् स्वरूपासिद्धः । सत्तासामान्यरूपत्वे वा सन्तानत्वस्य सत्सदिति प्रत्ययहेतुत्वमेव न पुनः सन्तानप्रत्ययहेतुत्वम् -सन्मति० टी० पृ० १५६। प्रमेयक० पृ० ३१७। (६) पृ० २८७। (७) तुलना- 'किमुपादानोपादेयभावप्रबन्धेन प्रवर्तमानत्वम् कार्यकारणभावप्रबन्धेन प्रवृत्तिः अपरापरपदार्थोत्पत्तिमात्रं वा ? -रत्नाकराव० ७।५७ । प्रमेयक० पृ० ३१७ । ननु किमिदं सन्तानत्वम्-स्वतन्त्रम्, अपरापरपदार्थोत्पत्तिमात्रं वा एकाश्रयापरापरोत्पत्तिर्वा ? -स्या० म० पृ० ८३ । किं कार्यकारणभावेन प्रवृत्तिः, एकाधारापरोत्पत्तिर्वा ? -न्यायसारटी० पृ० २८७ । (८) "सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तिरसाधारणः । -सक्ष० अनु० । नन्वेवं तस्य तथाभूतस्यान्यत्राननुवृत्तेरसाधारणानैकान्तिकत्वम् अभ्युपगमविरोधश्च ।'-सन्मति० टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । (९) सपक्ष । (१०) तुलना- पार्थिवपरमाणुरूपादिसन्तानेन व्यभिचारात् । -प्रश० कन्द० पृ० ४ । 'अनैकान्तिकश्च

[1] असंभवाच्च ब० । [2] तत्तद्रूपं तथापि ब० । [3] अत्र सत्ताभावेऽप्यत्र सत्तापर-आ० । [4]-सम्यगत्र श्र० । [5]-गमधमविरो-श्र० । [6] उत्तरोपादेयबु-श्र० ।

सन्तानत्वस्यात्र सद्भावेऽपि अत्यन्तोच्छेदासंभवात् ।

विरुद्धश्चायं हेतुः, कार्यकारणक्षणप्रवाहलक्षणसन्तानत्वस्य नित्यानित्यैकान्तयोरसंभवात्, अर्थक्रियाकारित्वस्य अनेकान्त एव प्रतिपादितत्वात् । साध्यविकलश्च दृष्टान्तः, प्रदीपादेरत्यन्तोच्छेदासंभवात्, तस्य स्वरूपान्तरेण अवस्थानात् । न च ध्वस्तस्यापि प्रदीपादेः रूपान्तरेणावस्थानोपगमे प्रत्यक्षबाधा, वारिस्थिते तेजसि भासुररूपोपगमेऽपि तत्प्रसङ्गात् । अथ उष्णस्पर्शस्य भासुररूपाधिकरणतेजोद्रव्याभावेऽसंभवात् तत्र अनुद्भूतस्यास्य परिकल्पनम्, तर्हि प्रदीपादेरपि अनुपादानोत्पत्तेरिव अन्त्यावस्थातोऽपरापरपरिणामाधारत्वमन्तरेण सत्त्वकृतकत्वादेरनुपपत्तेः अत्यन्तस तत्यनुच्छेदोऽपि परिकल्प्यतामविशेषात् । प्रयोगः —पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामवान् प्रदीपादि, सत्त्वादिभ्यः घटादिवत् । सत्प्रतिपक्षश्चायं हेतुः, तथाहि—बुद्ध्यादिसन्तानो नात्यन्तोच्छेदवान्, अखिलप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदत्वात्, य एवंविधः स न तथैवोपादेयः यथा पाकजपरमाणुरूपादिसन्तानः, तथा चायम्, तस्मान्नात्यन्तोच्छेदवानिति । न च प्रस्तुतानुमानादेव सन्तानोच्छेदोपलब्धेः सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदत्वमसिद्धमित्यभिधातव्यम्, अस्य अनेकदोषदुष्टतयाऽननुमानत्वप्रतिपादनात् ।

किञ्च, अतोऽनुमानात् इन्द्रियजानां बुद्ध्यादिविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदः साध्येत, अतीन्द्रियाणां वा ? तत्राद्यविकल्पे सिद्धसाधनम्, अस्माभिरपि तत्र तदुच्छेदाभ्युपगमात् । द्वितीयविकल्पस्त्वनुपपन्नः, अतीन्द्रियाणां तेषामत्यन्तोच्छेदे मुक्तौ कस्यचिदपि प्रवृत्त्यनु-

पाकजपरमाणुरूपादिभिः नयाविधसन्तानत्वस्य तत्र सद्भावेऽपि अत्यन्तोच्छेदाभावात् ।'—सन्मति० टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० प० ३१८ । रत्नाकराव० ७।५७ । स्या० मं० प० ८४ । न्यायसारटी० पृ० २८७ । चित्सु० पृ० ३५७ ।

(१) "विरुद्धश्चायं हेतुः, शब्दबुद्धिप्रदीपादिषु अत्यन्तानुच्छेदवत्स्वेव सन्तानत्वस्य भावात् ।' —सन्मति० टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० प० ३१८ । रत्नाकराव० ७।५७ । षड्द० बृह० श्लो० ५२ । (२) प० ३७२ । (३) 'साधनविकलश्च दृष्टान्तः, प्रदीपादेरत्यन्तोच्छेदासंभवात्, तैजसपरमाणूनां भास्वररूपपरित्यागेन अन्धकाररूपतयाऽवस्थानात् ।'—षड्द० बृह० श्लो० ५२ । न्यायसारटी० पृ० २८७ । रत्नाकराव० ७।५७ । (४) उष्णजलस्थिते तेजोद्रव्ये । (५) भासुररूपस्य । (६) तुलना—' तर्हि प्रदीपादेरप्यनुपादानोत्पत्तिवन्न सन्ततिविपर्ययभावमन्तरेण विपत्तिः संभवतीत्यनुमानं किन्न कल्प्यते तत्सन्तत्यनुच्छेदः ।'—सन्मति० टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । (७) ' पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामवान् प्रदीपः सत्त्वात् घटादिवत् ।"—षड्द० बृह० श्लो० ५२ । (८) "न चासत्प्रतिपक्षत्वमप्यस्य । तथाहि—बुद्ध्यादिसन्तानो नात्यन्तोच्छेदवान् सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदत्वात् ' —सन्मति० टी० पृ० १५८ । प्रमेयक० प० ३१८ । (९) 'किमिन्द्रियजानां बुद्ध्यादिगुणानामुच्छेदः साध्यमानोऽस्ति उत अतीन्द्रियाणाम् ?' —षड्द० बृह० श्लो० ५२ । (१०) "तथ्यदृष्टहेतुकानां बुद्ध्यादीनामात्मान्तःकरणसंयोगजानां च मुक्तौ निवृत्तिं ब्रुवाणा न निवार्यन्ते, कर्मक्षयहेतुकयोस्तु प्रशमसुखानन्तज्ञानयोर्निवृत्तिमाचक्षाणास्ते न स्वस्थाः प्रमाणविरोधात् । ननु कथञ्चित् बुद्ध्यादिविशेषगुणानां निवृत्तिः कथञ्चिन्निवृत्तिर्मुक्तौ व्यवतिष्ठते ।'—अष्टसह० पृ० ६८ । षड्द० बृह० श्लो० ५२ ।

1–पादे स्वरूपा–ब०, भ० । 2–सत्तैवास्या–ब० । 3 घटादिवत् आ० ।

पपत्तेः। मोक्षार्थी हि सर्वो निरतिशयसुखज्ञानादिप्राप्त्यभिलाषेणैव प्रवर्तते न पुनः सकलबुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदाभिलाषेण, अस्य केनचिदप्यनभिलषणीयत्वात्। न हि कश्चित् प्रेक्षावान् आत्मनः सद्गुणोच्छेदाय यतते तदुत्कर्षणार्थमेवास्य प्रयत्नप्रतीतेः। यदि हि मोक्षावस्थायां शिलाशकलकल्पः अपगतसुखसंवेदनलेशः पुरुषः सम्पद्यते तर्हि कृतं मोक्षेण[1] संसार एव वरमस्तु यत्र सान्तरापि सुखलेशप्रतिपत्तिरस्ति। तच्चिन्त्यतामिदम्–'किम् अल्पसुखानुभवो भद्रकः, किं वा सकलसुखोच्छेदः' इति? अतो न वैशेषिकोपकल्पिते निखिलगुणोच्छेदलक्षणे पाषाणकल्पे मोक्षे कस्यचिद् गन्तुमिच्छाप्युपपन्ना। उक्तञ्च–

"वरं वृन्दावनं रम्यं शृगालत्वं प्रपद्यते।
न तु वैशेषिकीं मुक्तिं गौतमो गन्तुमिच्छति॥" [ ] इति।

किञ्च, मुक्तौ बुद्ध्यादिविशेषगुणानामभावः कारणाभावात्, निष्प्रयोजनत्वात्, विरुद्धत्वाद्वा स्यात्? तत्राद्यपक्षे कस्य कारणस्य तत्राऽभावः–चक्षुरादेः, तत्प्रतिबन्धकापायस्य वा? चक्षुरादेश्चेत्; तर्हि तज्जन्यस्यैव ज्ञानादेः तत्राभावः स्यात् नान्यस्य, अतः सिद्धसाध्यता। ननु सर्वस्य ज्ञानादेः धर्माधर्मशरीरेन्द्रियादिकारणकलापाधीनजन्मत्वात् तदभावे ज्ञानादेरेवाऽसंभवात् कथं सिद्धसाध्यता? इत्यप्यसाधीयः, महेश्वरज्ञानाद्यभावानुषङ्गात्। नित्यत्वात् तज्ज्ञानादेरदोषोयम्, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, तन्नित्यत्वस्य ईश्वरनिराकरणप्रघट्टके[3] प्रतिव्यूढत्वात्। ततः चक्षुराद्यपायेऽपि ईश्वरस्य प्रतिबन्धकापायप्रभवं ज्ञानाद्यभ्युपगन्तव्यम्, तद्वद् अन्यमुक्तात्मनामपि तेषां तत्स्वभावत्वात्। न च स्वभावापाये तद्वतोऽवस्थानं युक्तमतिप्रसङ्गात्। अथ मुक्तस्य कृतकृत्यतया ज्ञानादिना प्रयोजनाभावात् मुक्तौ तदभावः; तन्न, प्रतिबन्धकापायोपेतस्य आत्मस्वरूपस्यैव एवंविभत्वेन निष्प्रयोजनत्वासिद्धेः। अनन्तज्ञानादिलक्षणविशिष्टगुणावाप्तिरेव च आत्मनः कृतकृत्यता न पुनः निखिलगुणोच्छेदः, गुणोत्कर्षे एव लोकेऽपि कृतकृत्यशब्दप्रयोगप्रतीतेः।

एतेन विरुद्धत्वपक्षोऽपि प्रत्युक्तः, स्वरूपेण कस्यचिद्विरोधाऽसंभवात्। मुक्तौ तेषां विरोधाभ्युपगमे च महेश्वरेऽप्येषां विरोधतोऽभावानुषङ्गात् लाभमिच्छतो मूलोच्छेदः स्यात्।

किञ्च, बुद्ध्यादिविशेषगुणानामात्यन्तिकोच्छेदस्य मोक्षरूपतायां संसारस्वरूपं वक्तव्यम्–तत्खलु तद्विशेषगुणानुच्छेदः, भवान्तरावाप्तिर्वा स्यात्? प्रथमपक्षे महेश्वरस्य संसारित्वप्रसङ्गः। ततोऽन्येषामेव तदनुच्छेदः तल्लक्षणम् [4]अतो नास्य संसारित्वानुषङ्गः, इत्यपि श्रद्धामात्रम्, अर्धजरतीयन्यायानुसरणप्रसङ्गात्। असाधारणं हि स्वरूपं भावस्य

(१) अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स इच्छति। न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतमः। –सम्बन्धवा० श्लो० ४२३। विवरणप्र० पृ० १३७। वरं वृन्दावने वासः शृगालैश्च सहोषितम् –षड्द० बृह० श्लो० ५२। 'वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टुत्वमभिवाञ्छितम्' –स्या० मं० पृ० ८६। (२) मुक्तौ। (३) पृ० १०८। (४) अनन्तज्ञानादिविशिष्टत्वेन। (५) ज्ञानादीनाम्। (६) महेश्वरातिरिक्तप्राणिनाम्। (७) संसारलक्षणम्। (८) महेश्वरस्य। (९) द्रष्टव्यम्–पृ० १६८ टि० ११।

1 कृतमवर्गमिल–आ०। 2 इत्यप्यप्रसा–ब०। 3 च नास्ति ब०। 4 अतोस्य आ०।

लक्षणम्। तद्यदि तदनुच्छेदः संसारलक्षणम्, तर्हि यत्रासौ अस्ति तत्र सर्वत्र संसारित्वप्रसङ्गः मुक्तस्वरूपेणास्य विरोधात्। द्वितीयपक्षे तु अस्मन्मतसिद्धिः, 'स्वोपात्तकर्मवशाद् भवाद् भवान्तरावाप्तिः संसारः' इत्यस्माभिरभ्युपगमात्।

किञ्च, अत्यन्तं बुद्ध्यादिगुणोच्छेदस्य मोक्षत्वे प्रदीपनिर्वाणवादिनः भवतः को विशेषः स्यात्? तत्र हि स्वरूपेण आत्मनोऽसत्त्वम्, भवन्मते तु सतोऽप्यस्य सर्वथा तद्विकलस्य ग्राहकप्रमाणाभावात्। तथाभूतं हि तत्स्वरूपं प्रत्यक्षतः, अनुमानतो वा प्रतीयेत? न तावत् प्रत्यक्षतः, मोक्षावस्थायां तस्यैवाऽसंभवात्। नाप्यनुमानतः, प्रत्यक्षाभावे भवन्मते अनुमानानुदयात्, प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन तस्याभ्युपगमात्।

यदपि-तत्त्वज्ञानस्य विपर्ययज्ञानव्यवच्छेदक्रमेण निःश्रेयसहेतुत्वमुक्तम्, तदुपपन्नम्, सकलबुद्ध्यादिसन्तानोच्छेदहेतुत्वं तु तस्यानुपपन्नम्, स्वविरुद्धमिथ्याज्ञानसन्तानोच्छेदहेतुत्वस्यैव तत्रोपपत्तेः शुक्तिकादौ तथादर्शनात्। ननु मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ रागाद्यनुत्पत्तेः तत्पूर्वकधर्माप्रादुर्भावतः शरीराद्यसंभवे सिद्ध एव मोक्षदशायां सकलबुद्ध्यादिसन्तानोच्छेदः, इत्यप्यपेशलम्, शरीरादेरभावेपि अनन्तातीन्द्रियाऽखिलपदार्थविषयसम्यग्ज्ञानसुखादिसन्तानस्य उच्छेदासिद्धेः, इन्द्रियजज्ञानादिसन्तानस्यैव तदभावेऽभावप्रसिद्धेः, तत्र च सिद्धसाधनम् इत्युक्तम्। अतीन्द्रियज्ञानादिसद्भावश्च सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे प्रसाधितः।

यत्तूक्तम्-'आरब्ध' इत्यादि, तदपि न सूक्तम्, उपभोगात् कर्मणामात्यन्तिकप्रक्षयानुपपत्तेः। तदुपभोगसमये हि अपरकर्मोत्पत्तिकारणस्य अभिलापपूर्वकमनोवाक्कायव्यापारादेः संभवात् अविकलकारणस्य प्रचुरतरकर्मणो भवतः कथमात्यन्तिकप्रक्षयः?

यदपि 'समाधिबलात्' इत्याद्युक्तम्, तदप्ययुक्तम्, अभिलापरूपरागाद्यभावे साति-

(१) ज्ञानाद्यनुच्छेदः। (२) ज्ञानाद्यनुच्छेदस्य। (३) "कर्मविपाकवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः"-सर्वार्थसि० ९।७। "आत्मोपचितकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः।"-राजवा० २।१०। 'यदवष्टम्भेनात्मनः संसरणमितश्चेतश्च गमनं भवति स संसारः, अथवा बलवतो मोहस्यास्था संसारः, नारकाद्यवस्था वा संसारः।'-तत्त्वार्थभा० व्या० २।१०। (४) बौद्धात्। "यस्मिन्न जातिर्न जरा न मृत्युर्न व्याधयो नाप्रियसंप्रयोगः। नेच्छाविपन्नप्रियविप्रयोगः क्षेमं पदं नैष्ठिकमच्युतं तत्। दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥ एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥"-सौन्दरनन्द० १६।२७-२९। (५) वैशेषिकस्य। (६) बौद्धमते। (७) वैशेषिकसिद्धान्ते। (८) 'असत्त्वम्' इति शेषः। (९) सकलबुद्ध्यादिगुणशून्यम्। (१०) प्रत्यक्षस्यैव। (११) "तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्"-न्यायसू० १।१।५। (१२) पृ० ८२४ पं० ७। (१३) तत्त्वज्ञानस्य। (१४) शरीराभावे। (१५) पृ० ८९-। (१६) पृ० ८२४ पं० ११। (१७) "उपभोगात् कर्मणः प्रक्षये तदुपभोगसमये"-प्रमेयक० पृ० ३१९। सन्मति० टी० पृ० १५९। (१८) समुद्भवतः। (१९) पृ० ८२५ पं० २। (२०) "अभिलापरूपरागाद्यभावे

1 तत्र संसा-ब०। 2 अस्य तद्बुद्ध्या-श्र०। 3 भवतां को आ०। † एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ०, ब०। 4-त्यनुपपत्ते आ०। 5 उच्छेदसिद्धे आ०। 6 तदभावाभावप्र-ब०। 7-समयो हि श्र०।

शयद्धिमतो भवदभिप्रायेण योगिनोऽपि तत्त्वज्ञानादवगतकर्मसामर्थ्यस्य नानाशरीराणि निधाय अङ्गनाद्युपभोगाऽसम्भवात्। तत्सम्भवे वा अवश्यम्भावी नृपत्यादेरिव अतिभोगिनो योगिनोऽपि प्रचुरतरकर्मसम्भवः।

यदपि–'वैद्योपदेशेन' इत्याद्यभिहितम्, तदप्यभिधानमात्रम्, आतुरस्यापि नीरुग्भावाभिलाषेणैव औषध्याद्याचरणे प्रवृत्त्युपपत्तेः, अतः कथं तद्दृष्टान्तात् निरभिलाषस्यापि तत्त्वज्ञानिनः तत्त्वज्ञानमात्रात् कर्मक्षयार्थितया अङ्गनाद्युपभोगं साधयितुं शक्यम्, दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात्? तत्र अशेषशरीरद्वाराऽवाप्ताशेषभोगस्य कर्मान्तरानुत्पत्तिः। किं तर्हि? परिपूर्णसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्य इत्यलं विवादेन, जीवन्मुक्तेरिव परममुक्तेरपि त्रितयात्मकादेव कारणादुत्पत्तेः। संसारकारणं हि मिथ्यादर्शनादित्रयात्मकम् अतः तन्निवर्त्तकेनापि त्रितयात्मकेनैव भवितव्यम्, एकरूपेण सम्यग्ज्ञानादिमात्रेण अस्य निवर्त्तयितुमशक्तेः। सम्यग्ज्ञानं हि विपरीताभिनिवेशविविक्ताऽऽत्मस्वरूपस्वभावसम्यग्दर्शनोपचितं बाह्याभ्यन्तरक्रियानिवृत्तिलक्षणचारित्रोपबृंहितं त्रितयात्मकमेव आगामिकर्मानुत्पत्तौ सञ्चितकर्मक्षये च समर्थम्, उष्णस्पर्शस्य भाविशीतस्पर्शानुत्पत्तौ प्रवृत्ततत्स्पर्शप्रध्वंसे च सामर्थ्यवत्।

यदपि–'विनाशापन्न शरीरादिनिवृत्तावात्मा' इत्याद्यनुमानम् 'न ह वै' इत्याद्यागमश्च आत्मनः सर्ववैषयिकसुखादिशून्यतायां प्रमाणम्' इत्युक्तम्, तदप्ययुक्तमेव, सिद्धसाधनात्, शरीरादिनिवृत्तौ हि समस्तधर्माधर्मनिवृत्तेः तत्प्रभवमेव सुखादि मुक्तात्मनो निवर्त्तेत न स्वात्मोत्थम्। यद्धि यत्कार्यं तत् तदभावे न भवति नान्यत् अतिप्रसङ्गात्। धर्माद्यभावे कुतस्तदुत्पत्तिः इति चेत्? 'प्रतिबन्धापायात्' इत्यसकृदावेदितम्। अतः परमकाष्ठाप्राप्तं सम्यग्दर्शनादित्रयं परमप्रकर्षप्राप्तज्ञानादिस्वरूपं मोक्षं प्रसाधयतीति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यमिति ॥ छ ॥

न्याद्युपभोगासम्भवात्।'–सन्मति० टी० पृ० १५९। प्रमेयक० पृ० ३३९।

(१) स्त्र्यादिभोगं क्रियमाणं तु। (२) पृ० ८२५ पं० ८। (३) वैद्योपदेशप्रवर्त्तमानातुरदृष्टान्तोऽप्यसङ्गतः –सन्मति० पृ० १६०। प्रमेयक० पृ० ३१९। (४) योगिनः। (५) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। –तत्त्वार्थसू० १।१। 'नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा। अगुणिस्स णत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥'–उत्तरा० २८।३०। (६) संसारस्य। (७) पृ० ८२५ पं० १०,१३। (८) तुलना– "शुभाशुभादृष्टपरिपाकप्रभवेन भवसम्भविनी हि प्रियाप्रिये परस्परानुषक्ते अपेक्षाय व्यवस्थिते सकलादृष्टक्षयकारणकं पुनरनागन्तुकात्यान्तिकरूपं केवलमेव प्रियं निःश्रेयससमयाभिष्याने कथं प्रतिपद्यते ?'–रत्नाकराव० ७।५७। स्या० म० पृ० ८५। षड्द० बृह० श्लो० ५२। (९) स्वात्मोत्थसुखादिसमुत्पत्तिः।

1 औषधाद्या–ब० श्र०। 2–नुपपत्ति आ० ब०। 3–दर्शनचारित्र–श्र०। 4 कारणादुत्पत्तिः ब०, कारणानुत्पत्तेः आ०। 5 त्रयात्मकेनैव ब०। 6–दृपत्यमावात्मा–आ०। 7 समस्तकर्मादि–ब०। 8 प्रतिबन्धकापा–श्र०। 9 परमप्रकर्ष–आ०। 10–तव्यम् आ०।

आनन्दरूपो मोक्ष इति वेदान्तिनां पूर्वपक्षः–

ननु परमप्रकर्षप्राप्तसुख[1]स्वभावतैव आत्मनो मोक्षः न तु ज्ञानादिस्वभावता, तत्र प्रमाणाभावात्। सुखस्वभावतायां तु तत्सद्भावादसौ युक्ता। तथाहि–आत्मा सुखस्वभावः, [2]अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वात्, [3]अनन्यपरतयोपादीयमानत्वाच्च, यद् यदेवंविधं तत्[1]तत्सुखस्वभावम् यथा वैषयिकं सुखम्, तथा चात्मा, तस्मात्सुखस्वभाव इति। तथा, आत्मा सुखस्वभावः, वस्तुत्वे सति मुख्यप्रेयोबुद्धिविषयत्वात्, निरुपचरितप्रेयःश[2]ब्दवाच्यत्वाद्वा, रागिणां वैषयिकसुखवदिति। इष्टार्थो मुमुक्षु[4]प्रयत्नः, प्रेक्षापूर्वकारिप्रयत्नत्वात्, कृष्यादिप्रयत्नवत् इति। परमातिशयप्राप्तता च तत्सुखस्य अतोऽनुमा[3]नात्प्रसिद्धा–सुखतारतम्यं क्वचिद् विश्राम्यति, तारतम्यशब्दवाच्यत्वात्, परिमाणतारतम्यवदिति। तथा आगमोऽपि आत्मनो मोक्षे तत्[5]स्वभावतायां प्रमाणम्–

"[6]आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते।" [ ]

"[7]यदा दृष्ट्वा परं ब्रह्म सर्वं त्यजति बन्धनम्।

तदा तन्नित्यमानन्दं सुखं स्वात्मनि विन्दति॥" [ ] इति

श्रुतिसद्भावात्।

ननु नित्यानन्दस्य आत्मनि सर्वदा सद्भावाभ्युपगमे संसारदशायामप्युपलम्भप्रस-

(१) 'एष एव ह्यानन्दयाति' "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन"–तैत्ति० २।७।४,९। "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्"–तैत्ति० ३।७। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'–बृहदा० ३।९।२८। 'आनन्दमयोऽभ्यासात्'–ब्रह्मसू० १।१।१२। "तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा"–शा० भा०। 'ब्रह्मण्यानन्दशब्दोऽयं प्रयुक्तः सुखवाचकः। संवेद्ये च सुखे लोके आनन्दाख्या प्रयुज्यते॥'–बृहदा० वा० ३।९।१६६। विव० प्र० पृ० २१६। "इत्यनवच्छिन्नानन्दप्राप्तिरेव स्वतः पुरुषार्थ इत्याहुः।–सिद्धान्तले० पृ० ५०९। (२) 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा ... आत्मानमेव प्रियमुपासीत॥'–बृहदा० १।४।८। 'आत्मनः सुखरूपत्वात् आनन्दत्वं स्वलक्षणम्। परप्रेमास्पदत्वेन सुखरूपत्वमात्मनः॥ सुखहेतुषु सर्वेषां प्रीतिः सावधिरीक्ष्यते। कदापि नावधिः प्रीतेः स्वात्मनि प्राणिनां क्वचित्॥ आत्माऽयं परमप्रेमास्पदं सर्वशरीरिणाम्। यस्य शेषतया सर्वमुपादेयत्वमृच्छति॥ एष एव प्रियतमः पुत्रादपि धनादपि। अन्यस्मादपि सर्वस्मादात्मायं परमान्तरः॥"–सर्ववेदान्तसि० श्लो० ६२३–२७। "आत्मा सुखाभिन्नः सुखलक्षणवत्त्वाद् वैषयिकसुखवत् आत्मा सुखम् अनौपाधिकप्रेमगोचरत्वात्"–सक्षेपशा० टी० पृ० ३०–३१। "परमप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरप्यात्मनः सुखरूपत्वे प्रमाणम्।"–चित्सु० पृ० ३५८। सिद्धान्तबि० पृ० ४४५। (३) वित्तस्त्रीपुत्रादयो हि आत्मार्थमुपादीयन्ते, परन्त्वात्मन उपादानं तु नान्यार्थम् स्वयमात्मा आत्मार्थमेवोपादीयते इत्यर्थः। (४) प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च यच्च यावच्च चेष्टितम्। आत्मार्थमेव नान्यार्थं नातः प्रियतमः परः।–सर्ववेदान्तसि० श्लो० ६३०। (५) सुखस्वभावतायाम्। (६) 'मोक्षेऽभिपद्यते'–प्रश० व्यो० पृ० २० ख०। "आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्।"–वेदान्तसि० पृ० १५१। तुलना–"नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षेऽभिव्यज्यते।–न्यायभा० १।१।२२। न्यायम० पृ० ५०९। प्रकृतपाठः–सन्मति० टी० पृ० १५१। षड्द० बृह० श्लो० ५२। (७) उद्धृतोऽयम्–षड्द० बृह० श्लो० ५२।

1 तत्सुख–श्र०। 2–शब्दवाचित्वाद्वा आ०। 3–मानात्सिद्धा श्र०।

ज्ञात् मुक्तेतरावस्थयोरविशेषप्रसङ्ग इति च न वाच्यम्, नित्यानन्दस्य नित्यात्मनि सदा सद्भावेपि संसारदशायामावृतत्वेन अनभिव्यक्तितोऽनुपलम्भसंभवाऽविरोधात्, योगाभ्यासादावरणप्रक्षये मोक्षावस्थायां तदभिव्यक्तेरुपलम्भ इति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्–'आत्मा सुखस्वभाव' इत्यादि, तत्र किमिदं

मोक्षावस्थायां कथञ्चित्सुखादिप्रसाधनम्–

सुखस्वभावत्वं नाम–सुखत्वजातिसम्बन्धित्वम्, सुखाधिकरणत्वं वा ? न तावत् सुखत्वजातिसम्बन्धित्वम्, गुणे एव अस्याः सद्भावात् ।§ नहि एका काचिज्जातिः द्रव्यगुणयोः आत्मसुखयोः साधारणा उपलभ्यते ।§ नापि सुखाधिकरणत्वम्, नित्याऽनित्यविकल्पाऽनतिक्रमात्–यस्य हि सुखस्य अधिकरणमात्मा तत्सुखं किं नित्यम्, अनित्यं वा ? न तावदनित्यम्, आत्मनोऽपि तत्स्वभावतयाऽनित्यत्वप्रसङ्गात् । न खलु स्वभावाभावे तद्वतोऽवस्थानं युक्तम् अतिप्रसङ्गात् । अथ नित्यम्, किं कथञ्चित्, सर्वथा वा ? यदि कथञ्चित्, जैनमतसिद्धिः, द्रव्यतो नित्यस्य पर्यायतश्च अनित्यस्य कथञ्चिदाविर्भावतिरोभाववतः सुखपर्यायस्य आत्मनि ज्ञानादिपर्यायवत् स्याद्वादिभिरभ्युपगमात् ।

ननु मुक्तौ सुखादिपर्यायस्य अपरापरस्य आविर्भावाभ्युपगमे तत्कारणं वक्तव्यम्, अकारणकस्य तत्पर्यायस्य आविर्भावानुपपत्तेः इति च न चेतसि निधेयम्, आत्मन एव तत्प्रतिबन्धकापायोपेतस्य तत्र तत्कारणत्वेन प्राक् प्ररूपितत्वात् । सौख्यादिप्रतिबन्धकमोहादिकर्मापायोपेतो हि आत्मैव मोक्षावस्थायां तथाभूतसुखज्ञानादिकारणम् घटाद्यावरणापायोपेतप्रदीपक्षणवत् स्वपरप्रकाशकाऽपरप्रदीपक्षणोत्पत्तौ । किमपेक्षोऽसौ तदा तज्जनयतीति चेत् ? 'तत्प्रतिबन्धकापायापेक्ष एव' इति ब्रूमः । तथाभूतस्यास्य तदुत्पादनस्वभावतया तदाऽन्यापेक्षाऽनुपपत्तेः, यद् यदा यदुत्पादनस्वभावं न तत्तदा तदुत्पादने अन्यापेक्षम् यथा अन्त्यावस्थायाम् अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादने, तदुत्पादनस्वभावश्च मोक्षावस्थायाम् अतीन्द्रियसुखाद्युत्पत्तौ प्रतिबन्धकापायोपेत आत्मा

(१) 'तस्मान्नित्यानन्दस्वभावस्यात्मनोऽविद्यातिरोधानमेव बन्धः विद्यानिमित्तस्तन्निरासो मोक्ष इति सिद्धम् । –चित्सु० पृ० ३६१ । "प्रत्यगेव परानन्दस्तिरोभूतः स्वमोहतः । स्वकण्ठचामीकरवत् प्राप्तप्राप्यः स्वविद्यया ॥ –वे० सि० सू० ४ । १० । 'यद्यपि संसारदशायामविद्यावृतस्वरूपत्वादात्मा परमानन्दरूपतया न प्रथते तथापि तत्त्वविद्ययाऽविद्यानिवृत्तौ स्वप्रकाशतया स्वयमेव परमानन्दस्वरूपतया प्रकाशते –सिद्धान्तबि० पृ० ४५० । (२) पृ० ८३१ पं० ५ । (३) "ननु यदि सुखस्वभावत्वं सुखत्वजातिसम्बन्धित्वम् तन्न आत्मनि सम्भाव्यते गुण एवास्योपलम्भात् । न ह्येका हृद्धारादिवत्परा जातिः द्रव्यगुणयोः साधारणोपलभ्यते । अथ सुखाधिकरणत्वम् तन्नास्ति नित्यानित्यविकल्पानुपपत्तेः ।"–प्रश० व्यो० पृ० २० ग० । (४) सुखत्वजातिसम्बन्धित्वस्य । (५) अनित्यसुखस्वभावतया । (६) मोक्षे । (७) सुखादिपर्यायाविर्भावकारणत्वेन । (८) मोक्षावस्थायाम् । (९) सुखम् । (१०) आत्मनः ।

1 सदास्वभावेऽपि आ० । §एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ० श्र० । 2 स्याद्वा १विभि ब० । 3 तथान्या–श्र० । 4–यं तत्तदा तदुत्पादनेऽन्यापेक्षम् आ० ।

इति । [1]दृश्यते हि–संसारावस्थायामपि वासीचन्दनकल्पानां सर्वत्र समवृत्तीनां विशिष्टध्यानादिव्यवस्थितानां सेन्द्रियशरीरादिव्या[1]पाराजन्यः परमाह्लादरूपोऽनुभवः । स एव [2]उत्तरोत्तरभावनाविशेषव[3]शादुत्तरोत्तरामवस्थामासादयन् परमकाष्ठां प्रतिपद्यते इति सर्वं सुस्थम् । [4]ततः तद्दशायामपि तत्पर्यायस्य कथञ्चिदाविर्भावनिमित्तसद्भावात् कथञ्चिदेवानित्यः सुखादिपर्यायोऽभ्युपगन्तव्यः ।

सर्वथा तन्नित्यत्वग्राहिणः कस्यचिदपि प्रमाणस्याऽसंभवाच्च । तस्य हि ग्राहकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, आगमो वा स्यात् ? [2]प्रत्यक्षञ्चेत्, किमैन्द्रियम्, मानसम्, स्वसंवेदनं वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः, इन्द्रियाणां प्रतिनियतरूपादिगोचरचारितया तत्प्रभवप्रत्यक्षस्य ततोऽन्यत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । द्वितीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः, [5]बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य [4]मनसः क्वचिदपि प्रवृत्त्यसंभवात् । "[3]अस्वतन्त्रं बहिर्मनः" [ ] इत्यभिधानात् । बहिरेव अर्थे तन्निरपेक्षस्याप्रवृत्तिः [6]नान्तः इति चेत्, न, तत्रापि सम्बद्धस्य असम्बद्धस्य वा तस्य स्वसंवेदनसिद्धौ तत्र ज्ञानान्तरस्य प्रतिषेधात् । तृतीयविकल्पोऽप्यसुन्दरः, तथा प्रतीत्यभावात् । नहि स्वसंवेदनप्रत्यक्षे अनवच्छिन्नदेश[5]कालकलापः त्रिकालानुयायी नित्यनिरंशः सुखस्वभावोऽनुभूयते प्रतीतिविरोधात् । तन्न प्रत्यक्षं सर्वथा नित्यसुखग्राहकम् । नाप्यनुमानम्, सर्वथा तन्नित्यत्वाविनाभाविनः कस्यचिल्लिङ्गस्याऽसंभवात् । नाप्यागमः, सर्वथा सुखनित्यत्वप्रतिपादकस्य तस्याप्यप्रतीतेः ।

अस्तु वा कुतश्चित्तन्नित्यत्वप्रतीतिः [8]तथापि येतस्तत्प्रतीतिः तत् नित्यम्, अनित्यं वा ? न तावदनित्यम्, तथाविधात्ततो [6]नित्यतत्प्रतीतिविरोधात् । कुतश्चास्य उत्पत्तिः

(१) तुलना–"उपलभ्यते च वासीचन्दनकल्पस्य मुमुक्षोः सर्वत्र समवृत्तेर्विशिष्टध्यानादिव्यवस्थितस्य सेन्द्रियशरीरव्यापाराजन्यः परमाह्लादरूपोऽनुभवः, तस्यैव भावनावशादुत्तरोत्तरामवस्थामासादयतः परमकाष्ठागतिरपि सम्भाव्यते"–सन्मति० टी० पृ० १६१ । (२) तुलना–'आत्मनो नित्यसुखसत्तायां प्रमाणाभावात् । प्रत्यक्षं तावदस्मदादीनामन्यथा वा केषाञ्चिदस्मिन्नर्थे न प्रभवतीति केयं कथा । अनुमानमपि न संभवति, लिङ्गस्यानवलोकनादिति ।'–न्यायम० पृ० ५०९ । तस्य ग्राहकं प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा स्यात ?"–स्या० र० पृ० १११५। (३) द्रष्टव्यम्–पृ० ४३२ टि० १। (४) मनसः । (५) बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य । (६) अन्तः सुखादावपि । (७) मनसः । (८) पृ० १८५। (९) यस्मात्संवेदनात् तन्नित्यसुखानुभवः तत्संवेदनम् । तुलना–"तदनन्तं सुखं मुक्तौ पुंसः संवेद्यस्वभावमसंवेद्यस्वभावं वा ? संवेद्यञ्चेत्, तत्संवेदनस्य अनन्तस्य सिद्धिः, अन्यथा अनन्तस्य सुखस्य स्वयं संवेद्यत्वविरोधात् । यदि पुनरसंवेद्यमेव तत्, तदा कथं सुखं नाम ? सातसंवेदनस्य सुखत्वप्रसिद्धेः ।'–अष्टसह० पृ० ६९ । 'स किमानन्दो मुक्तावनुभूयते न वा ? यदि नानुभूयते, स्थितोऽप्यस्थितान्न विशिष्यते अनुपभोग्यत्वात् । अनुभूयते चेत्, अनुभवस्य कारणं वाच्यम् –प्रश० कन्द० पृ० २८६ । 'नित्यं सुखमभिव्यज्यते इति कोऽभिव्यक्त्यर्थः ? ज्ञानमिति चेत् नित्यमनित्यं वेति कल्पनानुपपत्तिः ।"–न्यायवा० पृ० ८५। 'अस्तु वा यत्किञ्चित्तद्ग्राहकं तथापि तन्नित्यमनित्यं वा ?"–स्या० र० पृ० १११६ । (१०) अनित्यसंवेदनात् ।

1–व्यापारजन्य ब० । 2–उत्तरभावना–ब० । 3–वशात्तदुत्तरोत्त–श्र० । 4 ततस्तद्दशायां –आ० । 5–कालकलाप ब० । 6 नित्यत्वप्रतीति–ब० ।

स्यात्, [1]अनित्यस्य अनुत्पत्तिधर्मकत्वानुपपत्तेः ? इन्द्रियान्तरेभ्यश्च [2]तदुत्पत्त्यभ्युपगमे सुखविपर्ययस्य न प्राप्नोति इत्युक्तमनन्तरमेव । [3]अथ योगजधर्मापेक्ष आत्ममनःसंयोग एव तज्जनकः, ननु योगजधर्मस्य मुक्तावसम्भवात् कथमसौ [4]तत्संयोगेन अपेक्ष्येत यतस्तत्र [5]ततस्तदुत्पत्तिः स्यात् ? अथ [1]आद्यं योगजधर्मापेक्षः [6]तत्संयोगः ज्ञानं जनयति, [7]तन्निरपेक्ष्य उत्तरोत्तरं [8]ज्ञानमसौ [9]जनयति इति; तदप्यसाम्प्रतम्, अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्। नहि शरीरसम्बन्धानपेक्षं [2]ज्ञानं [10]तत्संयोगस्य ज्ञानोत्पत्तौ सहकारिकारणमिति भवता राद्धान्तः, [11]तदपेक्षस्यैव [12]तस्य तदुत्पत्तौ कृतान्ते तत्सहकारिकारणत्वोपवर्णनात्।

अथ नित्यम्; [13]तर्हि मुक्तेतरावस्थयोरविशेषप्रसङ्गः, सुखतत्संवेदनयोर्नित्यत्वेन उभयत्र सद्भावाऽविशेषात्। इन्द्रियजसुखेन चास्य [14]संसारावस्थायां साहचर्यानुभवप्रसङ्गात् सुखद्वयोपलम्भः स्यात्। प्रतिबद्धत्वात्तदा तस्याऽनुपलम्भ इति चेत्; [15]केनास्य प्रतिबद्धत्वम्–शरीरेण, अविद्यया, वैषयिकसुखाद्यनुभवेन, बाह्यविषयव्यासङ्गेन वा ? न तावत् शरीरेण, [16]अस्य सुखसाधनत्वेन तत्प्रतिबन्धकत्वायोगात्। नहि यद् यदर्थं

(१) 'अनित्यस्य हेतुवचनम्' –न्यायभा० १।१।२२। (२) सवन्तोत्पत्तिस्थाकरणे। (३) तुलना–'आत्ममनःसंयोगस्य निमित्तान्तरसहितस्य हेतुत्वम्। धर्मस्य कारणवचनम्–यदि धर्मो निमित्तान्तरम्, तस्य हेतुर्वाच्यो यत उत्पद्यत इति ? योगसमाधिजस्य कार्यावसायविरोधात् प्रक्षये संवेदननिवृत्तिः–यदि योगसमाधिजो धर्मो हेतुः, तस्य कार्यावसायविरोधात् प्रक्षये संवेदनमत्यन्तं निवर्तेतेति।' –न्यायभा० १।१।२२। न्यायवा० पृ० ८५। न्यायवा० ता० पृ० २४०। (४) आत्ममनःसंयोगेन। (५) मुक्तौ। (६) योगजधर्मापेक्षादात्ममनःसंयोगात्। (७) ज्ञानोत्पत्तिः। (८) तुलना–'अथाद्यं योगजधर्मादुपजातं विज्ञानमपेक्ष्य उत्तरं विज्ञानं तस्माच्चोत्तरमिति सन्तानम्, तन्न, प्रमाणाभावात्। तथा च शरीरसम्बन्धानपेक्षं विज्ञानमेव आत्मान्तःकरणसंयोगस्य अपेक्षाकारणमिति न दृष्टम्।' –प्रश० व्यो० पृ० २० ग०। अथ आद्यं ज्ञानं योगजधर्मापेक्षस्तत्संयोगो जनयति –स्या० र० पृ० १११६। (९) ज्ञानं क्रमभूतम्। (१०) आत्ममनःसंयोगः। (११) आगमान्तम्। (१२) आत्ममनःसंयोगः। (१३) आत्ममनःसंयोगस्य। (१४) शरीरसम्बन्धापेक्षस्यैव। (१५) आत्ममनःसंयोगस्य। (१६) तुलना–'सुखं नित्यमिति चेत्; संसारस्थस्य मुक्तेनाविशेषः, अभ्यनुज्ञाने च धर्माधर्मफलेन साहचर्यं यौगपद्यं गृह्येत–यदिदमुत्पत्तिस्थानेषु धर्माधर्मफलं सुखं दुःखं वा संवेद्यते पर्यायेण तस्य च नित्यसंवेदनस्य च सहभावः यौगपद्यं गृह्येत। न सुखाभावो नानभिव्यक्तिरस्ति उभयस्य नित्यत्वात्।' –न्यायभा०, वा० १।१।२२। 'ततश्च धर्माधर्मफलाभ्यां सुखदुःखाभ्यामस्य नित्यस्य सुखस्य साहचर्यमनुभूयेत।' –न्यायमं० पृ० ५१०। स्या० र० पृ० १११६। (१७) नित्यसुखस्य। (१८) संसारावस्थायाम्। (१९) 'केनास्य प्रतिबद्धत्वम्–शरीरेण अविद्यया वैषयिकसुखाद्यनुभवेन बाह्यविषयव्यासङ्गेन वा ?' –स्या० र० पृ० १११६। (२०) शरीरस्य। तुलना–'शरीरादिसम्बन्धः प्रतिबन्धहेतुरिति चेत्; न, शरीरादीनामुपभोगार्थत्वात् विपर्ययस्य चाननुमानात्। स्यान्मतम्–संसारावस्थस्य शरीरादिसम्बन्धो नित्यसुखसंवेदनहेतोः प्रतिबन्धकः तेनाविशेषो नास्तीति, एतच्चायुक्तम्, शरीरादय उपभोगार्थास्ते भोगप्रतिबन्धं करिष्यन्तीत्यनुपपन्नम्। न चास्त्यनुमानम्–अशरीरस्य आत्मनो भोगः कश्चिदस्तीति।' –न्यायभा० १।१।२२। न्यायवा० पृ० ८६। न्यायवा० ता० पृ० २४०। न्यायमं० पृ० ५१०।

1 आद्ययोग–ब०। 2–सम्बन्धापेक्षं ज्ञानं आ० –सम्बन्धोऽपेक्षज्ञानं।

तत् तस्यैव प्रतिबन्धकम् अतिप्रसङ्गात्। प्रतिबन्धकं हि कार्यविघातकमुच्यते। न च शरीरं सुखस्य विघातकम् तस्मिन् सति तस्य आत्मलाभात्। यस्मिन् सति यस्यात्मलाभः न तत् तस्य प्रतिबन्धकम् यथा बीजमङ्कुरस्य, शरीरे सति आत्मलाभश्च सुखस्येति। तस्य तत्प्रतिबन्धकत्वे च तदपहन्तुर्हिंसाफलं न स्यात्, प्रतिबन्धविघातकस्य उपकारकत्वेन लोके प्रसिद्धेः। नापि अविद्यया, तस्याः तुच्छरूपतया तत्प्रतिबन्धलक्षणार्थक्रियाकारित्वाऽसम्भवात्। यत् तुच्छरूपं न तदर्थक्रियाकारि यथा मृगतृष्णिकाजलम्, तुच्छरूपा च अविद्या भवद्भिरिष्टा इति। प्रतिषिद्धश्च अविद्यायाः प्रतिबन्धकत्वं ब्रह्माद्वैतप्रघट्टके प्रपञ्चेन इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन। नापि वैषयिकसुखानुभवेन, तेन हि नित्यसुखस्य तदनुभवस्य वा प्रतिबन्धः अनुत्पत्तिलक्षणो विनाशलक्षणो वा न युक्तः, द्वयोरपि नित्यत्वाभ्युपगमात्। नापि बाह्यविषयव्यासङ्गेन, तेन हि प्रमातुः इन्द्रियादेर्वा सम्बन्धिना तत्प्रतिबन्धः क्रियते? पक्षद्वयमप्येतदयुक्तम्, आत्मनो हि प्रमातुर्व्यासङ्गः रूपादौ विषये ज्ञानोत्पत्तौ विषयान्तरे ज्ञानानुत्पत्तिः, इन्द्रियस्यापि एकस्मिन् विषये ज्ञानजनकत्वेन प्रवृत्तस्य विषयान्तरे ज्ञानाऽजनकत्वम्। स चात्र असम्भाव्य, सुखवत् तज्ज्ञानस्यापि सदा सत्त्वात्।

किञ्च, यथा मुक्तावस्थायाम् अनित्यं सुखं ज्ञानञ्चाऽतिक्रम्य नित्यं तत्परिकल्प्यते तथा नित्यत्वधर्माधिकरणं देहेन्द्रियादिकमपि परिकल्प्यतामविशेषात्। अथ धर्मादेः कार्यो देहः कथं तदभावे तत्र भवेत् प्रतीतिविरोधात्? तदन्यत्रापि समानम्। अथ ससार(रि)सुखविलक्षणं तत्सुखम् तेनायमदोषः, तर्हि देहोऽपि संसारिदेहाद् विलक्षणः तत्र अस्त्वास्तु विशेषाभावात्।

किञ्च, सुखवत् ज्ञानस्य मुक्तावभ्युपगमे तदुत्पत्ते विपरीताभिनिवेशनिवृत्तिल-

(१) 'प्रतिबन्धकं व्यासङ्गव्याघातकदुच्यते, न च नित्यसुखस्य अनुत्पत्तिः सम्भवति। –प्रश० व्यो० पृ० २० ग०। (२) शरीरस्य। "प्रतिबन्धकत्वेन तदपहन्तुर्हिंसाफलं न स्यात्। तथा हि प्रतिबन्धविघातक उपकारक एवेति दृष्टम्। न हि नित्यसुखसंवेदनस्य प्रतिबन्धकस्य शरीरादेरपहन्तुर्हिंसाफलस्य अभाव इत्यलम्।"–प्रश० व्यो० पृ० २० ग०। स्या० र० पृ० ११९७। (३) "प्रकाशस्य तुच्छेनावरीतुमशक्यत्वात् मया अपि स्वैरस्य स्वरूपेण च वास्तवा। तत्त्वावरत्वाद्यविद्या सु नाविद्या घरणसमा॥"–न्यायमं० पृ० ५१०। (४) पृ० १४३। (५) नित्यसुखतदनुभवयोः। (६) 'नित्यसुखं हि अनुभवतोऽपि नित्यत्वाद् व्यासङ्गानुपपत्तिः। तथा हि आत्मनः रूपादिविषयज्ञानोत्पत्तौ विषयान्तरे ज्ञानानुत्पत्तिर्व्यासङ्गः। एवमिन्द्रियस्यापि एकस्मिन् विषये ज्ञानजनकत्वेन प्रवृत्तस्य विषयान्तरे ज्ञानाजनकत्वं व्यासङ्गः। न चैवमात्मनो रूपादिविषयज्ञानोत्पत्तौ नित्यसुखे ज्ञानानुत्पत्तिः तज्ज्ञानस्यापि नित्यत्वात्।"–प्रश० व्यो० पृ० २० ग०। (७) तुलना–'दृष्टानित्यमदृश्यं न्द्रियेषु सुखम्। यथा दृष्टमनित्यं सुखं परित्यज्य नित्यसुखं कामयते, एवं देहेन्द्रियबुद्धीरनित्या दृष्टा अतिक्रम्य मुक्तस्य नित्या देहेन्द्रियबुद्धयः कल्पयितव्याः।'–न्यायभा० वा०, ता० टी० १।१।२२। 'सुखवज्ज्ञानवच्चास्य यानं देहेन्द्रियादपि। नित्यं प्रकल्प्यतामित्थं मोक्षो रम्यतरो भवेत्।'–न्यायमं० पृ० ५१०। (८) मनःसमाधानधारणाय ... ध्यानाभ्यासे।

1 सम्बन्धन ... –ब०। 3 तदभावे तत्र आ०, तदभावे तत्र

क्षणदर्शनस्य च सामर्थ्यसिद्धत्वात् अनन्तचतुष्टयस्वरूपलाभलक्षणमोक्षप्रसिद्धेः जैनमतसिद्धिः स्यात्, 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' इत्येकान्तत्यागात्[1]। तत्र सुखस्वभावत्वलक्षणं साध्यं विचार्यमाणं भवन्मते घटते।

साधनञ्च अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वम् अनन्यपरतयोपादीयमानत्वञ्च अनैकान्तिकत्वादसाधनम्, दुःखाभावेऽपि भावात्। अनन्यपरतयोपादीयमानत्वञ्चासिद्धम्, नहि आत्मा अन्यार्थं नोपादीयते, सुखाद्यर्थमस्योपादानात्। अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वमप्यसिद्धम्, दुःखितायामप्रियबुद्धेरपि भावात्।

यदपि 'आत्मा सुखस्वभावः वस्तुत्वे सति मुख्यप्रेयोबुद्धिविषयत्वात्' इत्युक्तम्, तदप्येतेन प्रत्युक्तम्, सुखस्वभावत्वे प्रागुक्ताशेषदोषानुषङ्गात्। प्रेयोबुद्धिविषयत्वं निरुपचरितप्रेयःशब्दवाच्यत्वञ्चासिद्धम्, कस्याञ्चिद् दुःखितायां तदभावात्। अन्यथासिद्धञ्च, आत्मनो हि आत्यन्तिको दुःखाभावो मोक्षे स्यात् इति तत्र तत् साधनद्वयं न पुनः सुखस्वभाव इति। विरुद्धञ्च, सुखस्वभावताविपरीतस्य दुःखाभावस्वभावत्वस्यैव अतः प्रसिद्धेः। तथाहि–दुःखाभावरूपोऽयमात्मा, वस्तुत्वे सति मुख्यप्रेयोबुद्धिविषयत्वात्, निरुपचरितप्रेयःशब्दवाच्यत्वाद्वा, रागिणा वैषयिकदुःखाभाववदिति।

यदप्युक्तम्–'इष्टार्थो मुमुक्षूणां प्रयत्नः' इत्यादि, तदप्यसुन्दरम्, हेतोरनैकान्तात्। नहि इष्टार्थसाधनार्थैव प्रेक्षावतां प्रयत्नो भवति, व्याधिविशेषपरिक्लान्तानां तेषाम् अनिष्टोपरमार्थमपि प्रयत्नप्रतीतेः।

किञ्च, इष्टशब्देनात्र किं सुखमभिधीयते, अभिप्रेतप्रयोजनमात्रं वा? यदि अभिप्रेतप्रयोजनमात्रम्, कथमतः पुंसः सुखस्वभावता सिद्ध्येत्? परस्परविरुद्धानेकापवर्गसिद्धिप्रसङ्गश्च, कपिलादिमतानुसारिणामपि मुमुक्षूणां प्रयत्नस्य तदिष्टापवर्गलक्षणप्रयोजनप्रसाधकत्वप्रसक्तेः। प्रयत्नस्य प्रेक्षावत्त्वविशेषणात् न अनेकविरुद्धापवर्गसिद्धिरिति चेत्; न, तद्विवेकस्य कर्तुमशक्यत्वात्। नहि भवन्मतानुसारिणः प्रेक्षावन्तः न कपिलादिमतानुसारिणः इति विवेकः कर्तुं शक्यः, प्रमाणप्रबाधितसर्वथानित्यादि-

(१) दुःखाभावेऽपि भावात्। अनन्यपरतयोपादीयमानत्वञ्चासिद्धम्, सुखाद्यर्थमुपादानात्। अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वमप्यसिद्धम् दुःखितायामप्रियबुद्धेरपि भावात्। –प्रश० व्यो० पृ० २० ग०। (२) पृ० ८३१ पं० ६। (३) प्रेयस्त्वाभावात्। (४) पृ० ८३१ पं० ७। (५) तुलना–'इष्टाधिगमार्था प्रवृत्तिरिति चेत्; न, अनिष्टोपरमार्थत्वात्। –न्यायभा०, वा० १।१।२२। 'नानिष्टोपरमार्थत्वादनिष्टस्यापि शान्तये। सन्तः प्रयतमाना हि दृश्यन्ते व्याधिबाधिताः ॥ अनिष्टविरहश्चायं संसारदुःखसम्भार इति तदुपशमाय व्यवस्यन्तः सन्तो न निष्प्रयोजनप्रयत्ना भवन्तीत्यनैकान्तिको हेतुः।' –न्यायमं० पृ० ५०९।

1–कान्तपरित्यागात् श्र०। 2–चिद्दुःखितायां ब०। 3 सुखस्वभावविप–आ०। 4–भावाद्वादिति श्रा०, –भावादिति ब०। 5–ष्टार्थमुमुक्षु–आ० –ष्टार्थमिष्टाय मुमुक्षु–ब०। 6–ल्यादिमनुसारि–आ०। 7–प्रमाणबाधि–श्र०।

स्वभावतत्त्वाङ्गीकारेण अशेषाणामप्यप्रेक्षावत्त्वप्रसिद्धेः । अथ सुखम् दृष्टशब्देन उच्यते, तदा साध्यविकलता दृष्टान्तस्य । न खलु कृषीवलादीनां कृष्यादिप्रयत्नः साक्षात्सुखार्थो भवति, कृष्यादिफलनिष्पत्त्यर्थत्वात्तस्य । परम्परया तस्य तदर्थत्वे मुमुक्षुप्रयत्नस्यापि तथा तदर्थत्वमस्तु । ननु मुमुक्षुणो यदि साक्षात्सुखार्थप्रयत्ना न भवन्ति तदा ते निष्प्रयोजनप्रयत्ना एव स्युः प्रयोजनान्तरस्य तत्प्रसाध्यस्याऽसंभवात्, तदप्यपेशलम्, संसारदुःखोच्छेदलक्षणप्रयोजनस्य तत्प्रयत्नप्रसाध्यस्य सद्भावात् । दुस्सहो हि संसारदुःखभारोऽयम् अतः तदुज्झित्तये प्रयतमानास्ते न निष्प्रयोजनप्रयत्ना भवितुमर्हन्ति ।

यत्पुनः 'सुखतारतम्यं क्वचिद्विश्राम्यति' इत्याद्यभिहितम्, तदप्यभिधानमात्रम्, परत्वादिना अनेकान्तात् । परापरादिबुद्धिप्रकर्षसमधिगतो हि परत्वादिप्रकर्षः तारतम्यशब्दवाच्यो न च क्वचिद्विश्रान्तः ।

किञ्च, दुःखेऽप्येवं परमप्रकर्षप्रसङ्गः–दुःखतारतम्यं क्वचिद्विश्राम्यति तारतम्यशब्दवाच्यत्वात् परिमाणतारतम्यवत् इति । न च दुःखपरमप्रकर्षो भवद्भिरिष्ट इत्यनेनापि अनेकान्तः ।

यदपि–'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' इत्याद्यागमः मोक्षे सुखस्वभावतायामात्मनः प्रमाणम्' इत्याद्युक्तम्, तदतीवाऽसङ्गतम्, तस्य प्रामाण्यासंभवात् । गुणवद्वक्तृकत्वेन हि वचनस्य प्रामाण्यम् । न च वेदे भवद्भिः तदिष्टम् । अपौरुषेयत्वेनास्य प्रामाण्यम्, इत्यपि श्रद्धामात्रम्, तदपौरुषेयत्वस्य प्रागेव प्रतिव्यूढत्वात् । अस्तु वा तस्य तथा प्रामाण्यम्, तथापि यथासौ मुक्तौ आनन्दरूपताम् आत्मनः प्रतिपादयति तथा तदभावमपि "न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः ।" [छान्दो० ८।१२।१] इत्यादिवचनात् । अतः क्वास्य प्रामाण्यम् इति व्याघ्रतटीन्यायो भवतः समायातः । अथ इदमागमवचनम् अन्यथा व्याख्यायते–'सशरीरस्य' इति प्रक्रमात् सांसारिके सुखदुःखे अनुकूलेतरविषयोपलम्भसंभवे मोक्षे

(१) परम्परया । (२) मुमुक्षुप्रयत्न । (३) पृ० ८३१ पं० ८ । (४) दुःखपरमप्रकर्षेण । (५) पृ० ८३१ पं० ११ । (६) पृ० ७२४–। (७) "स्यादेतदेवं यद्येतदेव केवलमागमवचनमश्रोष्यत, वचनान्तरमपि तु श्रूयते–न ह वै... । ननु भवत्पठितमागमवचनमन्यथापि व्याख्यातुं शक्यते–सशरीरस्येति प्रक्रमात् सांसारिके सुखदुःखे अनुकूलेतरविषयोपलम्भसंभवे तदानीमशरीरमात्मानं न स्पृशत इत्ययम् । हन्त तर्हि त्वदधीतमपि चेन्वचनमानन्दं ब्रह्मेति संसारदुःखपरिहारक्रमप्रकरणान्नेव तदद्दुःखापायविषयं व्याख्यास्यते । न खलु व्याख्यानस्य भगवतः काचिदभूमिरस्ति । दृष्टाश्च दुःखोपशमे सुखशब्दप्रयोगाः । चिरज्वरशिरोरोगादिव्याधिदुःखेन खेदिताः । सुखिनो वयमद्येति तदपाये प्रयुञ्जते ॥"–न्यायमं० पृ० ५०९ । (८) "कुटुम्बमपि मे प्रेयान् प्रेयास्त्वमपि हे सखे । किं करोमि द्विधा चित्तं इतो व्याघ्र इतस्तटी ॥"–परिशि० ३ । १६६ । लौकिक न्या० तृ० भा० । "इतस्तटमितो व्याघ्रः केनास्तु प्राणिनो गतिः ।"–यश० उ० पृ० १३८ । (९) 'न ह वै' इत्यादि वचनम् ।

1 तस्यास्त–ब० । 2 तदा तद–ब०, श्र० । 3 न क्वचि–आ० । 4 दुःखे तारतम्य आ० । 5–वक्तृत्वेन हि आ०, श्र० । 6–रपघातिरस्ति श्र० । 'समायातः' नास्ति श्र० ।

अशरीरमात्मानं न स्पृशतः' इति, तदपि मनोरथमात्रम्, 'आनन्दं ब्रह्म' इत्यस्यापि अन्यथा व्याख्यातुं सुशकत्वात्, आत्यन्तिकसंसारदुःखाभावविषयो हि अत्र आनन्दशब्दः न पुनः सुखविषयः। दृष्टश्च दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगः यथा भाराक्रान्तस्य चिरज्वरशिरोर्त्त्यादिव्याधिदुःखितस्य वा तदपाये 'चिरं तदु सेन सिञ्चा सुखिनो वयमद्य' इति तदात्मना प्रतिभासप्रतीतेः।

यच्चोक्तम्–'नित्यानन्दस्य संसारावस्थायाम् आवृतत्वेनाऽनभिव्यक्तितोऽनुपलम्भः' इत्यादि, तदप्ययुक्तिमात्रम्, अविनाशे तदावारकत्वप्रतिषेधात्, नित्यैकस्वभावस्य स्वप्रकाशात्मनः आव्रियमाणत्वायोगाच्च, परिणामिन एव हि वस्तुनः केनचिदावरणं युक्तम् कथञ्चिदनावृतरूपपरित्यागेन आवृतरूपस्वीकारात्। अतः कथञ्चिदेव नित्यज्ञानाद्यनन्तस्वभावो मुक्तौ आत्मा प्रतिपत्तव्य इति ॥ छ ॥

ननु कार्यकारणभूतज्ञानक्षणप्रवाहव्यतिरेकेण अपरस्य आत्मनोऽसंभवात् कस्य

नैरात्म्यभावनातो विशुद्धज्ञानोत्पत्तिरूपो मोक्ष इति बौद्धस्य पूर्वपक्षः–

ज्ञानादिस्वभावता मुक्तौ प्रसाध्येत ? मुक्तिश्च आत्मदर्शिनो दूरोत्सारिता। यो हि पश्यति आत्मानं स्थिरादिरूपं तस्य आत्मनि स्थैर्यादिगुणदर्शननिमित्तः स्नेहोऽवश्यम्भावी, आत्मस्नेहाच्च आत्मसुखेषु परितृष्यन् सुखेषु तत्साधनेषु च दोषांस्तिरस्कृत्य गुणानारोपयति, गुणदर्शी च परितृष्यन् ममेति सुखसाधनान्युपादत्ते, ततो यावद् आत्मदर्शनं तावत्संसार एव। तदुक्तम्–

'यः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः। स्नेहात्सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥

(१) आत्यन्तिके च संसारदुःखाभावे सुखवचनादागमेऽपि सत्यविरोधः। यद्यपि कश्चिदागमः स्याद् मुक्तस्यात्यन्तिकं सुखमिति। सुखशब्द आत्यन्तिके दुःखाभावे प्रयुक्त इत्येवमुपपद्यते। दृष्टो हि दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगो बहुलं लोके। –न्यायभा०, वा० १।१।२२। 'मुख्ये हि बाधकोपपत्तौ गौण इति। तथाहि दुःखाभावेऽप्यानन्दशब्दः प्रयुक्तो दृष्टः। सुखशब्दो दुःखाभावे यथा भाराक्रान्तस्य वाहिकस्य तदपाय इति। –प्रश० व्यो० पृ० २० ग०। (२) पृ० ८३२ पं० २। (३) 'यः पश्यत्यात्मानं तत्रात्मनि अस्य द्रष्टुः अहमिति शाश्वतः अनपायी स्नेहो भवति। स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णावान् भवति, तृष्णा च सुखसाधनत्वेनाध्यवसितानां वस्तूनां दोषाननुषङ्गिणस्तिरस्कुरुते प्रच्छादयति। दोषतिरस्करणात् गुणदर्शी शुचित्वप्रत्ययगुणान् पश्यन् परितृष्यन् ममेति ममेदं सुखमिति गृह्णानः तस्य सुखस्य साधनानि गमागमनादीन्युपादत्ते। तेन आत्मदर्शनमूलत्वेन जन्मादेः आत्माभिनिवेशो यावत्तावत् स आत्मदर्शी संसार एव। न केवलं जन्मप्रबन्धस्तस्य दोषाः सर्वे समस्ता सन्तीत्याह। आत्मनि सति ततोऽन्यस्मिन् परसंज्ञा परबुद्धिर्भवति, स्वपरयोर्यथाक्रमं परिग्रहोऽभिष्वङ्गः द्वेषः परित्यागः तौ भवतः। अनयोः अनुनयप्रतिघयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः रागमात्सर्यादयः प्रजायन्ते।" –प्रमाणवा० मनोरथ०। उद्धृता इमे–बोधिचर्या० पं० पृ० ४९२। अनेकान्तजय० पृ० २८। प्रमा० उ० प० २५२। न्यायवि० वि० पृ० ५८१ A। षड्द० बृह० श्लो० ५२। मानवि० प० १४७ A। 'यः पश्यत्यात्मानं तस्यात्मनि भवति' –सिद्धिवि० टी० पृ० ५५ B। 'आत्मनि सति'–अभि० आलोक० प० ६७। प्रमा० क० प० २७९।

1 चिरदुःखेन ब० भ०। 2–स्वभावतयास्य प्रकाशा–ब०। 3 मुक्तौ ब०। 4–कारकभूत–आ०। 5–तृष्यन् आ०, ब०। 6–तप्यन् आ० ब०। 7 तप्यति आ०।

गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते । तेनात्माभिनिवेशो यावत्तावत् स संसारः ॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ । अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥"
[प्रमाणवा० १।२१९-२१] इति ।

ततो मुक्तिमिच्छता स्वरूपं पुत्रकलत्रादिकञ्च अनात्मकमनित्यमशुचि दुःखमिति श्रुतमय्या चिन्तामय्या च भावनया भावयितव्यम्, एवं भावयतः तत्र अभिष्वङ्गाभावात् अभ्यासविशेषतो वैराग्यमुपजायते, अतः सास्रवचित्तसन्तानलक्षणसंसारनिवृत्तिरूपा मुक्तिरुपपद्यते । निरन्वयविनश्वरेषु हि चित्तक्षणेषु एकत्वाध्यारोपेण आत्माभिनिवेशात् आत्मप्रेमानुगतः प्राण्यभिधानः स्कन्धसन्तानः सांसारिकसुखसाधनेषु प्रवर्त्तमानः सास्रवचित्तसन्तानं सन्तनोति । ततोऽस्य व्यलीकाभिनिवेशस्य अपोहार्थं यत्र नैरात्म्याभ्यासादिलक्षणं असत्यपि आत्मनि नित्यनिरंशादिस्वभावे मोक्षमि इति । उक्तञ्च–

(१) तत्र श्रुतमयी श्रूयमाणेभ्यः परार्थानुमानवाक्येभ्यः समुत्पद्यमानेन श्रुतशब्दवाच्यतामास्कन्दता निर्वृत्ता परं प्रकर्षं प्रतिपद्यमाना स्वार्थानुमानलक्षणया चिन्तया निर्वृत्ता चिन्तामयीं भावनामारभते ।"–आत्मप० का० ८३। (२) अभिष्वङ्गो रागः । (३) कायकारणभूताश्च तथा विद्यादयो मताः । बन्धस्तद्विगमादिष्टो मुक्तिर्निर्मलता धियः ॥ यथोक्तम्–चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम् । तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते । –तत्त्वसं०, पं० पृ० १८४ । (४) "तस्मादनादिसन्तानतुल्यजातीयबीजिकाम् । उत्खातमूलां कुरुत सत्त्वदृष्टिं मुमुक्षवः ॥'–प्रमाणवा० २।२५६ । किं पुनरिदं नैरात्म्यं नाम यदसत्सु नोपदेष्टव्यं सत्सु चोपदेष्टव्यमित्याह–अद्वितीयं शिवद्वारं कुदृष्टीनां भयङ्करम् । विषयः सर्वबुद्धानामिति नैरात्म्यमुच्यते ।–तत्रात्मा नाम योऽपरायत्तस्वरूपः स्वभावः, तदभावो नैरात्म्यम् । तच्च धर्मपुद्गलभेदात् द्वयं प्रतिपद्यते । धर्मनैरात्म्यं पुद्गलनैरात्म्यञ्च । तत्र पुद्गलो नाम यः स्कन्धानुपादाय प्रज्ञप्यते । स च स्कन्धेषु पञ्चधा मृग्यमाणो न संभवति । धर्मास्तु स्कन्धायतनधातुसंज्ञिताः पदार्थाः तदेतेषां धर्माणां पुद्गलस्य च यथास्वं हेतुप्रत्ययाधीनजन्मत्वादुपादाय प्रज्ञप्यमानत्वाच्च स्वायत्तमपरायत्तं निजमकृतकं रूपं नास्तीति पुद्गलस्य धर्माणाञ्च न स्वाभाव्यं व्यवस्थाप्यते । यस्य चार्थस्य स्वरूपसिद्धिर्नास्ति तस्य केनात्मनाऽस्तु सिद्धिरिति । तस्मात्सर्वथाऽसिद्धलक्षणा एव पदार्था मूढजनस्य विभवात्मनात्मना प्रतीत्य चोपादाय या वर्त्तमाना मूढधियां सङ्गास्पदं भवन्ति । यथास्वभावं तु सम्यग्दर्शनेन प्रतिभास्यमाना धर्मपुद्गलाः सङ्गपरिक्षयहेतवो भवन्ति । सङ्गपरिक्षयश्च निर्वाणप्राप्तिकारणम् । विदितनैरात्म्यस्य हि सर्वेषु परिक्षीणसङ्गस्य न क्वचित् काचित्प्रार्थना कुतो वा निमित्तात्स्यात् इत्यद्वितीयमेव शिवद्वारमाभरणम् । (पं० १५१) तस्मात् नैरात्म्यमिति यस्यैव भवते मतिः । तस्य भावात्सुत प्रीतिरभावेन कुतो भयम् ॥'–चतुःशत० पृ० १५१, १५६ । तत्त्वसं० पृ० ८६६ । "यत्रात्मा वास्तु भयं यदि नाम विद्यते । अहमेव न किञ्चिच्चेत् भयं कस्य भविष्यति ॥ –बोधिच० ९।५७ । 'वरं नैरात्म्यभावना नैरात्म्यस्य पुद्गलाभिनिविष्टस्य भावना अभ्यासः वरमुत्तमम्, आत्मदर्शनप्रवृत्ताहङ्कारनिवृत्तिहेतुत्वात् । तथाहि यावद् भावात्मदर्शनपर्यन्तगमनात् साक्षान्नैरात्म्यदर्शनात् विरोधिनः स्वभावं च निवर्तते । तन्निवृत्तौ तदनुगामिनो दर्शनाभावात् पूर्वापररूपविकल्पस्य क्षणमात्रस्य दर्शनम् । तत्र पूर्वापरसंसाराभावात्सन्तानगतमुपलापेन किञ्चिदात्मनः पश्यति ततो न तस्य क्वचिदपि रागो जायते नापि तत्प्रतिविरोधिनि द्वेषः आशङ्काभावात् । नाप्यसावात्मनं प्रति आकारस्थानं पश्यति, यतः यस्मिन् कुतो

1–तृप्यन् ब० । 2 चित्तक्षणेषु ब० । 3–गुणम् आ–ब० । 4 प्रामाण्यमि–ब० । 5 मोक्षमि–ब० । 6–दिलक्षणं ब० ।

"मिथ्याध्यारोपहानार्थं यत्नोऽसत्यपि मोक्तरि" [प्रमाणवा० १।१९४] इति ।

नैरात्म्याभ्यासादिलक्षणयत्नाभावे तु आत्माभिनिवेशाऽनिवृत्तेः इन्द्रियादिषु उपभोगाश्रयत्वेन गृहीतेषु आत्मीयबुद्धेर्निवारयितुमशक्यत्वतो वैराग्यासंभवात् मोक्षाय दत्तो जलाञ्जलिः । तदुक्तम्–

"उपभोगाश्रयत्वेन गृहीतेष्विन्द्रियादिषु ।
ईरत्वधीः केन वार्येत वैराग्यं तत्र तत्कृतम् ॥" [प्रमाणवा० १।२२९] इति ।

अथोच्यते–नेन्द्रियादिषु उपभोगाश्रयत्वबुद्धिनिबन्धनस्वत्वबुद्धिप्रभवोऽयम् आत्मीयस्नेहः येनायं दोषः स्यात् किन्तु गुणदर्शननिबन्धनः, अतः तद्विरुद्धदोषदर्शने तन्निवृत्तितो वैराग्योपपत्तेः मुक्तिरुपपन्नेति, तदयुक्तम्; तन्निबन्धनस्वत्वबुद्धेरेव अस्याविर्भावात्, स्वचक्षुरादिषु गुणदोषपरीक्षाविकलानामपि बालपशुप्रभृतीनाम् उपभोगाश्रयत्वबुद्धिनिबन्धनायाः स्वत्वबुद्धेः तत्र स्नेहस्याविर्भावात् । आत्मीयेष्वपि च पिचण्डपाणकुण्डादिदोषदर्शनेऽपि अस्य भावात्, परकीयेषु गुणदर्शनेऽप्यभावात् । आत्मीयेष्वपि अतीतेषु स्वदेहच्युतेषु च अङ्गावयवेषु गुणदर्शनेऽपि आत्मीयबुद्धित्यागे स्नेहस्याभावात् तन्निबन्धनस्वत्वबुद्धिप्रभव एवासौ अभ्युपगन्तव्यः । अतः पुनः तद्व्यवच्छेदाय नैरात्म्यादिभावनाभ्यासः ।

प्रकार तयोर्द्वयोरपि द्वितीयलक्षणाभावात् । न चायं तु कृतेऽपकारे प्रभावतोऽन्यत्र वैरनिर्यातनमुचितम् नापि यस्य कृतस्तेनापि । एवं रागादिनिवृत्तौ अपि तत्प्रभवा क्लेशोपक्लेशा नोत्पद्यन्ते । नापि वस्तुतः कश्चित् कस्यचिदपकारकारी । इदं प्रतीत्यसमुत्पद्यते इति प्रतीत्यसमुत्पादवचनात् । एवं हि पुद्गलशून्यतायां सत्कायदर्शननिवृत्तौ छिन्नमूलत्वात् क्लेशा न समुदाचरन्ति । यथोक्तमार्यतथागतगुह्यसूत्रे–तद्यथापि नाम शान्तमते वृक्षस्य मूलच्छिन्नस्य सर्वशाखापत्रपलाशाः शुष्यन्ति । एवमेव शान्तमते सत्कायदृष्टिप्रशमात् सर्वक्लेशा उपशाम्यन्तीति । तस्मादियं नैरात्म्यभावना ।'–बोधिचर्या० प० पृ० ४९२–९३ । नैरात्म्यपरि० प० १२ ।

(१) मिथ्याध्यारोपस्य संसारित्वाध्यवसायस्य हानाय यत्नोऽसत्यपि कस्मिंश्चिन्नरमादौ मोक्तरि । न हि यथातत्त्वमेव व्यवहारः किन्तु यथाध्यवसायमेव । तथाहि रज्जुरपि सर्पाध्यवसायविषयत्वात् परिहारविषयः । एवमहमेव बद्धोऽहमेव मोक्ष्यामीत्यध्यारोपो मुक्तये व्यायामः ।–प्रमाणवा० मनोरथ० । उद्धृतोऽयम्–त० बृह० प० पृ० १८३ । प्रमेयक० पृ० ३२१ । सन्मति० टी० पृ० १६२ ४१८ । (२) आत्मीयबुद्धिहान्यात्र त्यागो न तु विषयस्य । उपभोगाश्रयत्वेन आत्मीयबुद्धिहान्या तत्राहितुं शक्यते त्यागो न तु विषये आत्मीयबुद्धिसत्तायाम् । यस्मात् उपभोगस्य आश्रयत्वेन कारणत्वेन गृहीतेष्विन्द्रियादिषु स्वत्वधीः आत्मीयत्वबुद्धिः केन हेतुना वार्येत ? न केनचित् । तत्कुतस्तत्र उपभोगसाधने स्वीयावयवे वैराग्यं येन त्यज्यते । ततो यत्त्यज्यते आत्मीयबुद्धिहान्या एव । न चैव स्नेहादित्वात्मीयबुद्धिहानिरस्ति यतस्तथा त्यागः स्यात् ।–प्रमाणवा० मनोरथ० । उद्धृतोऽयम्–न्यायवि० वि० पृ० ५८१ B । (३) भोगसाधनत्वनिबन्धनः । (४) स्नेहस्य । (५) उपभोगाश्रयत्वनिबन्धनः । (६) स्नेहः ।

1–ध्यारोप–श्र० । 2–णप्रयत्ना–श्र० । 3 आत्मीयबुद्धे–आ० । 4 स्वत्वधी ब० । 5 'इति' नास्ति ब० । 6–निबन्धनसत्त्वबु–ब० । 7 चेदयुक्तम ब० । 8 अस्याभावात आ० । 9–यबुद्धि–ब० । 10–दर्शनेऽप्यस्याभा–ध० ।

अथ तद्भावनाभावेऽपि कायक्लेशलक्षणात्तपसः सकलकर्मप्रक्षयान्मोक्षो भविष्यति, तन्न, कायक्लेशस्य कर्मफलतया नारकादिकायसन्तापवत् तपस्त्वायोगात्। विचित्रशक्तिकञ्च कर्म विचित्रफलदानाऽन्यथानुपपत्तेः, तच्च कथं कायसन्तापमात्रात् क्षीयेत अतिप्रसङ्गात्। अथ तपः कर्मशक्तीनां संकरेण क्षयकरणशीलमिति कृत्वा एकरूपादपि तपसः चित्रशक्तिकस्य कर्मणः क्षयः, नन्वेवं स्वल्पक्लेशेन एकोपवासादिनाऽपि अशेषस्य कर्मणः क्षयापत्तिः शक्तिसाङ्कर्यान्यथानुपपत्तेः। उक्तञ्च–

"कर्मक्षयाद्विमोक्षः स च तपसः तच्च कायसन्तापः।
कर्मफलत्वान्नारकदुःखमिव कथं तपस्तत्स्यात्॥
अन्यदपि चेकरूपं तच्चित्रक्षयनिबन्धनं न स्यात्।
तच्छक्तिसङ्करक्षया(य)कारीत्यपि वचनमात्रं तु॥
अल्पक्लेशात्स्तोकेऽपि क्षीणे सर्वक्षयप्रसङ्गो यत्।" [   ] इति॥ छ॥

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'कार्यकारण' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, कार्यकारणभूतज्ञानक्षणप्रवाहव्यतिरिक्तस्य आत्मनः सन्ताननिषेधावसरे व्यासतः समर्थितत्वात्।

सात्मशुद्धचित्तसन्तानरूपस्य मोक्षस्य समर्थनम्–

यत्पुनरुक्तम्–'यः पश्यत्यात्मानं स्थिरादिरूपम्' इत्यादि, तत्सूक्तमेव, किन्तु

(१) "तपसा निर्जरा च"–तत्त्वार्थसू० ९।३। (२) "फलवैचित्र्यदृष्टेश्च शक्तिभेदोऽनुमीयते। कर्मणां तापसंक्लेशात् नैकरूपात्ततः क्षयः॥–कर्मणां फलवैचित्र्यस्य नानागत्युपभोग्यानेकविधोपकरणसाध्यविविधसुखदुःखोपभोगप्रकारस्य दृष्टेश्च शक्तिभेदः सामर्थ्यनानात्वमनुमीयते, अतो नानाप्रकारफलजननसामर्थ्यानि कारणान्येकरूपात् फलात् तापसक्लेशान्न कर्मणां क्षयः।"–प्रमाणवा० १।२७७। (३) "अथापि तपसः शक्त्या शक्तिसंकरसंक्षयः। क्लेशात्कुतश्चित् हीयेताशेषमल्पेन क्लेशतः॥–अथापि तपसः शक्त्या शक्तिसंकरेण तापक्लेशमात्रफलेन तानि हीयन्ते। तपःशक्त्या कर्मणां संक्षयेण वा जन्माभावः। यच्च किञ्चिद्विशिष्टं तत् क्लेशात्कुतश्चित् केशोल्लुञ्चनादेः क्षीयते। कर्मक्षयाच्च मुक्ति-रत्राह–हीयेताशेषमल्पेन क्लेशेन। यदि तपसा कर्मक्षयोऽशेषं कर्म हीयेत अल्पेनापि विनैव केशोल्लुञ्चनादिदुःखात कर्मणः क्षीणत्वात्। यथा नारकादिदुःखं न भवति तथा अल्पीयोऽपि न स्यात्। शक्तिसाङ्कर्येऽपि क्लेशतः सन्तापक्लेशात् केवलात् कर्म हीयेत, न दुःखान्तरानुबन्धी संसारप्रबन्धः तपस्विनः स्यात्। यस्तीव्रमपरं क्लेशात् ततः क्लेश एव चेत्। तत्कर्मफलमित्यस्मान्न शक्तेः संकराश्रितम्॥ तपसः क्षयः शक्तिसंकरतः क्षयश्च तस्य भवतु, क्षयो यदि क्लेशादिष्टः क्लेशादपरमन्यत्तपो नान्यथा। क्लेश एव चेत्तपः तत्क्लेशरूपं तपः कर्मफलमित्यस्मात् कर्मफलभूतात्तपसः शक्तिसंकराश्रितं न युक्तम्। आश्रितम्* स्यात् तपः।'–प्रमाणवा० मनोरथ० १।२७८-७९। (४) '...क्षयनिमित्तमिह न स्यात्। तच्छक्तिसङ्कर क्षयकरीत्यपि ...'–षड्द० बृह० श्लो० ५२। तच्छक्तिसंकरक्षयकारीत्यपि '–स्या० र० पृ० ११११८। (५) पृ० ८३८ पं० ११। (६) पृ० ९। (७) पृ० ८३८ पं० १८। (८) तुलना–'तत्पुनरमेव पश्यतो जनो दुःखानुषक्तं सुखसाधनं पश्यन्नात्मस्नेहात् सांसारिकेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते आत्माद्यो च मूर्च्छितुरक्तः।'–षड्द० बृह० श्लो० ५२। स्या० र० पृ० १११८।

1 भवतत्स्वभाव-श्र०। 2-कर्मक्षया-ब०। 3 संकरेण क्षय-श्र०। 4 तच्चित्रं क्षय-आ०, ब०। 5 यत श्र०।

अज्ञो जनः दुःखानुषक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् मासादिरिपु दुःखानुषक्त-सुखसाधनेषु प्रवर्त्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधनं स्त्र्यादिकं परित्यज्य आत्मस्नेहात् आत्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्त्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु तत्परित्यज्य पेयादौ आरोग्यसाधने प्रवर्त्तते। उक्तञ्च-

''तदात्वसुखसञ्ज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते।
हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः॥'' [ ] इति।

यदप्युक्तम्-'ततो मुक्तिमिच्छता स्वरूपं पुनःक्षणिकादिकञ्च' इत्यादि, तदप्येतेन प्रत्युक्तम्, सैर्वथाऽनित्याऽनात्मकत्वादिभावनाया निर्विषयत्वेन मिथ्यारूपत्वात् सर्वथा नित्यादिभावनावन्मुक्तिहेतुत्वानुपपत्तेः। तन्निर्विषयत्वञ्च आत्मसिद्धेः क्षणभङ्गभङ्गस्य च प्रसाधितत्वात् प्रसिद्धम्। न च कालान्तरावस्थायिनोऽनुसन्धातुर्व्यतिरेकेण भावनाप्युपपद्यते इत्युक्तं सन्तानविषेधप्रघट्टके। यो हि निगडादिभिर्बद्धः तस्यैव तन्मुक्तिकारणपरिज्ञानानुष्ठानाभिसन्धिव्यापारे सति मोक्ष इति ऐकाधिकरण्ये सत्येव बन्धमोक्ष-व्यवस्था लोके प्रसिद्धा, इह तु अन्यः क्षणो बद्धः अन्यस्य च तन्मुक्तिकारणपरिज्ञानम् अन्यस्य च अनुष्ठानाभिसन्धिव्यापारश्चेति वैयधिकरण्यात् सर्वमनुपपन्नम्।

किञ्च, सर्वो बुद्धिपूर्वं प्रवर्त्तमानः 'किञ्चिदितो मम स्यात्' इत्यनुसन्धानेन प्रवर्त्तते। इह च कस्तथाविधो मार्गाभ्यासे प्रवर्त्तमानः 'मोक्षो मम स्यात्' इत्यनुसन्दध्यात्-क्षणः, सन्तानो वा? न तावत् क्षणः, तस्य एकक्षणस्थायितया निर्विकल्पकतया च एतावतो व्यापारान् कर्त्तुमसमर्थत्वात्। नापि सन्तानः, तस्य सन्तानिव्यतिरिक्तस्य सौगतैरनभ्युपगमात्, सन्तानविषेधे निषिद्धत्वाच्च।

यच्चान्यदुक्तम्-'निरन्वयविनश्वरेषु' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, आत्मनोऽन-

(१) उद्धृतोऽयम्-न्यायवि० वि० पृ० ५८१। स्या० र० पृ० ११११। (२) पृ० ८३९ पं० ४। (३) तुलना- 'क्षणिकादिभावनाया मिथ्यारूपत्वात् न च मिथ्याज्ञानस्य निःश्रेयसकारणत्वमतिप्रसङ्गात्।'-प्रश० व्यो० पृ० २० घ०। भावनाया विकल्पात्मिकाया श्रुतमय्याश्चिन्तामय्याश्चावस्तुविषयाया वस्तुविषयस्य योगिज्ञानस्य जन्मविरोधात्। कुतश्चिन्तत्त्वविषयात् विकल्पज्ञानात्तत्त्वविषयस्य ज्ञानस्यानुपलब्धेः।-आप्तप० का० ८३। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१। षड्द० बृह० श्लो० ५२। (४) 'न बन्धमोक्षौ क्षणिकैकसंस्थौ-क्षणिकमेकं यच्चित्तं तत्संस्थौ बन्धमोक्षौ न स्याताम्। यस्य चित्तस्य बन्धः तस्य निरन्वयप्रणाशादुत्तरचित्तस्याबद्धस्यैव मोक्षप्रसङ्गात्। यस्यैव बन्धः तस्यैव मोक्ष इति एकचित्तसंस्थौ बन्धमोक्षौ'-युक्त्यनु० टी० पृ० ४१। (५) क्षणिकवादिपक्षे। (६) तुलना-किञ्च सर्वो बुद्धिपूर्वं प्रवर्तमानः किञ्चिदितो मम स्यादित्यनुसन्धानेन प्रवर्तते।-षड्द० बृह० श्लो० ५२। (७) पृ० ८३९ पं० ७।

1-साधनं पश्यन् आ०। 2-विवेकस्तु आ०। 3-विवेकस्तु आ०। 4-नित्यादिभाव मु-आ०। 5 अयत्नानुष्ठा-ब०। 6-सर्वेष्यौपा-आ०। 7-पूर्वं वर्तमानः ब०। 8 सन्ताननिषिद्ध-श्र०।

भ्युपगमे तथाभूतचित्तक्षणेषु एकत्वाध्यारोपेऽनुपपत्ते । तदनुपपत्तिश्च सन्तानभङ्गप्रघट्टके प्रपञ्चिता । निरन्वयविनश्वरत्वे च संस्काराणां मोक्षार्थं प्रयासो व्यर्थ । रागाद्युपरमो हि भवन्मते मोक्ष , तदुपरमश्च विनाश , तस्य च निर्हेतुकतया अयत्नसिद्धत्वात् तदर्थानुष्ठानादिप्रयासो निष्फल एव । तेन हि प्राक्तनस्य रागादिचित्तक्षणस्य नाश क्रियेत, भाविनो वाऽनुत्पाद , तदुत्पादकशक्तेर्वा क्षय , सन्तानस्य वोच्छेद अनुत्पादो वा, निराश्र(स्र)वचित्तसन्तत्युत्पादो वा ? तत्राद्य पक्षोऽनुपपन्न , विनाशस्य निर्हेतुकतया भवन्मते कुतश्चिदुत्पत्तिविरोधात् । द्वितीयपक्षोऽप्यत एव अनुपपन्न , उत्पादाभावो हि अनुत्पाद , सोऽभावरूपत्वात् कथं कुतश्चिदुत्पद्येत अपसिद्धान्तप्रसङ्गात् ? तच्छक्तिक्षयार्थोऽपि तत्प्रयासोऽसङ्गत , तत्क्षयस्याप्यभावरूपतया कुतश्चिदात्मलाभासंभवात् । 'सन्तानस्योच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थो वा तत्प्रयास ' इत्यप्येतेन प्रत्युक्तम्, क्षणोच्छेदानुत्पादवत् तदुच्छेदानुत्पादयोरभावरूपतया कुतश्चिदुत्पत्त्यनुपपत्ते ।

किञ्च, सिद्धे वास्तवे सन्ताने तदुच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थो वा तत्प्रयासो युक्त , न चासौ तथाभूत सिद्ध , क्षणातिरिक्तस्य तस्य वास्तवस्य भवताऽनभ्युपगमात्, सन्ताननिषेधे निषिद्धत्वाच्च ।

किञ्च, अन्त्यज्ञानस्य ज्ञानान्तराकर्तृत्वे सन्तानोच्छेदो भविष्यति । तच्च कुतो न करोति सत्त्वात् तदुत्पादे शक्तत्वाच्च ? शक्तमपि सहकारिकारणाभावात् नोत्पादयति, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, तदभावस्य अप्रतिबन्धकत्वात् । तेन हि प्रतिबन्धो भावस्योत्पत्ते , उत्पादकत्वस्य वा ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्न , शैक्यपक्षे हि कारणान्तराभाव अभावरूपतया सकलशक्तिविरहस्वभावो भावस्य नोत्पत्तिप्रतिबन्धं कर्तुमर्हति । यत् सकलशक्तिविरहस्वभाव न तत् कस्यचिदुत्पत्तिप्रतिबन्धकम् यथा शशविषाणम्,

(१) तुलना–"अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसक । चित्तसंततिनाशश्च मोक्षो नाष्टाङ्गहेतुक ॥"–आप्तमी० का० ५२ । "आकस्मिकेऽर्थे प्रलयस्वभावे मार्गो न युक्तो वधकश्च न स्यात् ॥–तथा च सकलास्रवनिरोधलक्षणमोक्षस्य चित्तसंततिनाशरूपस्य वा शान्तनिर्वाणस्य मार्गो हेतु नैरात्म्यभावनालक्षणो न युक्त स्यात् नाशकस्य कस्यचिद्विरोधात् । –युक्त्यनु० टी० पृ० ४० । 'निर्हेतुकतया विनाशस्य उपायवैयर्थ्यम्, अयत्नसाध्यत्वात् ।'–प्रश०व्यो० पृ० २० ५। (२) तपोऽनुष्ठानाग्निना । 'किंच, तेन मोक्षार्थानुष्ठानेन प्राक्तनस्य रागादिक्षणस्य नाश क्रियेत, भाविनो वाऽनुत्पाद , तदुत्पादकशक्तेर्वा क्षय , सन्तानस्योच्छेदोऽनुत्पादो वा, निराश्रयचित्तसन्तत्युत्पादो वा ?"–षड्द० बृह० श्लो० ५२ । (३) सौगतमते । (४) निर्हेतुकाऽभाववाद विशीर्यत इत्यर्थ । (५) सन्तानोच्छेदानुत्पादयो । (६) तुलना–'किंच वास्तवस्य सन्तानस्यानभ्युपगमात् किं तदुच्छेदादिप्रयासेन ? नहि मृतस्य मारणं क्वापि दृष्टम् ।"–षड्द० बृह० श्लो०५२। (७) सहकारिकारणाभावस्य । (८) सहकारिकारणाभावेन ।

1–रोपानुपपत्तिश्च संता–व० । 2 संसारिणाम् ब०,श्र० । 3 चोच्छेद व० । 4 निराश्रयचित्त–आ० । 5–दुत्पद्यते आ० । 6 कुतश्चिदात्मलाभासंभवात् सन्तानस्योच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थो वा तत्प्रयासो युक्तो न चासौ ब० । 7–त्पद्यनुप–श्र० । 8–न्तराकर्तृत्वे ब० । 9 सत्त्वादुत्पादे आ० । 10 तदभावस्य ब० । 11 साध्यपक्षे द० । 12–राभावाभावरूपतया ब० ।

तथाभूतश्च शाक्यमते सहकारिकारणाभाव इति । द्वितीयविकल्पोऽप्येतेन प्रतिव्यूढः, उत्पादकत्वस्य हि प्रतिबन्धः कार्योत्पादकपदार्थसत्ताऽपहारः, स च अश्वविषाणप्रख्ये तदभावे दुर्घटः ।

किञ्च, अन्त्यचित्तक्षणस्य अनर्थक्रियाकारित्वे अवस्तुत्वं स्यात्, ततः तज्जनकस्य इति, एवमायातमशेषस्य चित्तसन्तानस्य अवस्तुत्वम् । अथ स्वसन्तानवर्तिनो ज्ञानक्षणस्य अजनकत्वेऽपि सन्तानान्तरवर्तिनो योगिज्ञानस्य जननात् नाऽशेषस्य तत्सन्तानस्याऽवस्तुत्वम्, तदयुक्तम्, रसादेरेककालस्य रूपादेः अव्यभिचार्यनुमानाऽभावानुषङ्गात्। अन्त्यक्षणवत् रूपादेर्विजातीयकार्यजनकत्वेऽपि सजातीयाजनकत्वसम्भवात् । एकसामग्र्यधीनत्वेन रूपरसयोर्नियमेन कार्यद्वयारम्भकत्वे अन्यत्रापि कार्यद्वयारम्भकत्वं स्यात्, योगिज्ञान-अन्त्यक्षणयोरपि एकसामग्र्यधीनत्वाऽविशेषात् । अथ स्वसन्तानवर्तिकार्यजननसामर्थ्यवद् भिन्नसन्तानवर्तिकार्यजननसामर्थ्यम् अन्त्यक्षणस्य नेष्यते, तर्हि सर्वथा अर्थक्रियासामर्थ्यरहितत्वेन अस्य आकाशकुशेशयवदवस्तुत्वं स्यात् । तथाविधस्यापि वस्तुत्वे सर्वथाऽर्थक्रियारहितस्य अक्षणिकस्यापि वस्तुत्वं स्यात्, तथा च सत्त्वादयः क्षणिकत्वं न साधयेयुः अनैकान्तिकत्वात् । तन्न सन्तानोच्छेदलक्षणा मुक्तिः तत्कारणानुष्ठानप्रयासेन प्रसाध्या इति पक्षः क्षेमङ्करः ।

निराश्र(स्र)वचित्तसन्तत्युत्पत्तिलक्षणा सा तत्प्रयासप्रसाध्या इति पक्षस्तु ज्यायान् । केवलं 'सा चित्तसन्ततिः सान्वया, निरन्वया वा' इति वक्तव्यम्? तत्र यदि सान्वय-

(१) सहकारिकारणाभावे । (२) अर्थक्रियाकारित्वाभावे । तुलना- चरमक्षणस्याकिञ्चित्करत्वेन अवस्तुत्वापत्तौ पूर्वपूर्वक्षणानामप्यवस्तुत्वापत्तेः सकलसन्तानाभावप्रसङ्गः । विद्यमानं सजातीयाकरणेऽपि योगिज्ञानस्य करणान्नावस्तुत्वमिति चेत्, न, आस्वाद्यमानरससमानकालरूपोपादानस्य रूपाकरणेऽपि रससहकारित्वप्रसङ्गात् ततो रसाद्रूपानुमानं न स्यात् । -सन्मति० टी० प० १६१ । स्या० र० पृ० ११२१ । प्रमेयक० प० ४९७ । (३) अन्त्यक्षणोत्पादकस्य उपान्त्यक्षणस्य । (४) यतो हि कश्चित्सर्वज्ञो योगी तम् अन्त्यक्षणं जानाति तदा सोऽन्त्यः क्षणः योगिज्ञानस्य सहकारितया समुत्पादको भवति नाकारणं विषयः इति सिद्धान्तात् । अतः सजातीयक्षणानुत्पादकोऽपि अन्त्यक्षणः योगिज्ञानस्य सहकारितया जनकत्वात् अर्थक्रियाकारी भवत्येव । (५) बौद्धमते हि द्वितीयक्षणवर्तिनो रसस्य प्रथमक्षणवर्ती रसः उपादानम् प्रथमक्षणवर्तिरूपञ्च सहकारि भवति । प्रथमक्षणवर्तिरूपं हि सजातीयं द्वितीयक्षणवर्तिनं रूपं जनयित्वैव विजातीये द्वितीयक्षणवर्तिरसे सहकारि भवति । यदि हि अन्त्यो ज्ञानक्षणः सजातीयं ज्ञानक्षणान्तरमनुत्पाद्यापि विजातीये सन्तानान्तरवर्तिनि योगिज्ञाने आलम्बनतया सहकारि स्यात् तदा पूर्वक्षणवर्तिरूपमपि द्वितीयक्षणवर्तिसजातीयरूपक्षणान्तरमजनयित्वैव विजातीये द्वितीयक्षणवर्तिनि रसे सहकारि स्यात् । तथा च द्वितीयक्षणवर्तिरसात् रूपानुमानं न स्यात् इति भावः । (६) रसोत्पादकत्वेऽपि । (७) रूपक्षणान्तरानुत्पादकत्वसम्भवात् । (८) योगिज्ञान । (९) अन्त्यक्षणस्य । (१०) चित्तसन्ततेः ।

1 शाक्यमते ब० । 2 क्युत्पादकस्य हि श्र० उत्पादकत्वे हि ब । 3-मनापचित्त-आ० । 4 अन्तक्ष-आ० । 5 सजातीयजनकत्वासम-व० । 6 तत्कारणानुष्ठान-आ०, स्वकारणानुष्ठान-ब० । 7 निराश्रयचि-आ० । 8-या चेति श्र० ।

पक्ष एव युक्तः, तथाभूते एव चित्तसन्ताने मोक्षोपपत्तेः, बद्धो हि मुच्यते नाऽबद्धः । न च निरन्वये चित्तसन्ताने बद्धस्य मुक्तिः सम्भवति, तत्र हि अन्यो बद्धः अन्यश्च मुच्यते । सन्तानैक्याद् बद्धस्यैव मुक्तिरत्रापि इति चेत्; ननु सन्तानार्थः परमार्थसन्, संवृतिसन् वा स्यात्? यदि परमार्थसन्; तदा आत्मैव नामान्तरेण उक्तः स्यात्। अथ संवृतिसन्; तदा एकस्य परमार्थसतोऽसत्त्वाद् 'अन्यो बद्धः अन्यश्च मुच्यते' इत्यायातम्, तथा च बद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिर्न स्यात् ।

अथ अत्यन्तनानात्वेऽपि क्षणानां दृढतररूपतया एकत्वाध्यवसायात् 'बद्धमात्मानं मोचयिष्यामि' इत्यभिसन्धाय प्रवर्त्तते, कथमेवं नैरात्म्यदर्शनम्? यतस्तद्भावनाभ्यासान्मुक्तिः स्यात् । अथ शास्त्रसंस्कारप्रभवं तद्दर्शनमस्ति, न तर्हि एकत्वाध्यवसायः अस्खलद्रूपः, इत्येकः सन्धित्सोरन्यः प्रच्यवते । अतः कुतो बद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिः स्यात्? यतो '*मिथ्याध्यारोपहानार्थं यत्नोऽसत्यपि मोक्तरि*" [प्रमाणवा० १।१९४] इत्युक्तं शोभेत?

यत्पुनरुक्तम्–'उपभोगाश्रयत्वेन' इत्यादि, तदप्यविचारितरमणीयम्, हेयोपादेयपक्षो हि आत्यन्तिकसुखसाधनम् उपभोगाश्रयमात्मीयञ्चाभिमन्यते न तात्त्विकसुखसाधनम्, तथाहि–

"एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ [भावपाहु० गा० ५९]
संजोगमूलं जीवेण पत्ता दुक्खपरंपरा ।
तम्हा संजोगसंबंध सव्वं तिविहेण वोसरे ॥" [मूलाचार० २।४८ ४९]

(१) "चित्तानां तत्त्वतोऽन्वितत्वसाधनात् सन्तानाच्छेदानुपपत्तेश्च"–अष्टसह० पृ० ६१ । प्रमेयक० पृ० ३२० । सन्मति० टी० पृ० १६२ । 'केवलं सा चित्तसन्ततिः सान्वया निरन्वया वेति वक्तव्यम् । आद्ये सिद्धसाधनं तथाभूत एव चित्तसन्ताने मोक्षोपपत्तेः ।'–स्याद्० मञ्ज० श्लो० ५२ । (२) निरन्वयक्षणिकपक्षेऽपि । (३) "सन्तानस्याप्यवस्तुत्वाद् यथात्मा तथाच्यताम् । कथञ्चिद्द्रव्यतादात्म्यादिना सन्तत्यसम्भवात् ।'–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३ । "यदि सन्तानार्थः परमार्थसन् तदा आत्मैव सन्तानशब्देनोक्तः स्यात् । अथ संवृतिसन्, तदा एकस्य परमार्थसतोऽसत्त्वादन्यो बद्धोऽन्यश्च मुच्यत इति बद्धस्य मुक्त्यर्थं न प्रवृत्तिः स्यात् ।'–सन्मति० टी० पृ० १६२। प्रमेयक० पृ० ३२१ । (४) 'तर्हि न नैरात्म्यदर्शननिमित्ता कुतस्तन्निबन्धना मुक्तिः?"–सन्मति० टी० पृ० १६२ । प्रमेयक० पृ० ३२१ । (५) नैरात्म्यभावनायामस्खलद्रूपायां हि 'बद्धमेव आत्मानं मोचयिष्यामि' इत्येकत्वाध्यवसायस्य सम्भावनैव नास्ति । (६) नैरात्म्यदर्शनस्य समर्थने क्रियमाणे । (७) एकत्वाध्यवसायः । (८) पृ० ८४० पं० ५ । (९) 'हेयोपादेयपक्षो हि आत्यन्तिकसुखसाधनमुपभोगाश्रयमात्मीयञ्चाभिमन्यन्ते न तात्त्विकसुखसाधनम् ।'–स्या० र० पृ० ११११ । (१०) "एगो मे सासदो अप्पा–"–नियमसा० गा० १०२ । एको मे शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः । शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः । संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा । तस्मात्संयोगसम्बन्धं सर्वं त्रिविधेन व्युत्सृजामि ।

1 बद्धात्मानं ब० । 2 यत्पुन–ब० । 3 उपभोगाश्र–आ० । 4–मात्मना–ब० । 5 हि उपलभ्य प्राकृतश्लोक एगो ब० । 6 सासदो ब० । 7 संयोग–आ० । 8 संयोग–आ० ।

"दारा परिभवकारा बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः ।

कोऽयं (कोऽयं) जनस्य मोहो ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा ॥" [ ]

इत्येवं भावयतो विवेकिनः संयोगसम्बन्धिषु दुःखहेतुषु भावेषु सुखलेशसाधनत्वस्य सद्भावेऽपि अन्यदा आत्यन्तिकसुखसाधनं रत्नत्रयं पश्यतः कुतस्तेषु आत्मीयबुद्धिः यतस्ततो निवृत्तिर्न स्यात् ? ननु आत्मीयबुद्धेः तत्र स्यान्निवृत्तिः यदि एकान्तेन तेषां दुःखहेतुत्वमेव स्यात्, न चैवम्, लेशतः सुखहेतुत्वस्याप्यत्र सम्भवात्, तेन दुःखहेतुत्वेऽपि आत्मीयस्नेहात् येनाकारेण सुखहेतुता तावतांशेन स्वस्योपकारकान् इन्द्रियादीन् मन्यमानः तेषु नात्मीयबुद्धिं जहातीति, तदप्यसाम्प्रतम्, तेषां सुखलेशसाधनत्वेऽपि अन्यस्य आत्यन्तिकसुखसाधनस्य सद्भावेन निर्विषान्नस्य सद्भावेन सविषान्नस्येव त्यागसम्भवात् ।

यदप्यभिहितम्-'पिच्चटचरणकुण्टादिदोषदर्शनेऽपि' इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्, यतो न सौरूप्यादिगुणदर्शनात् स्नेहो भवतीत्यस्माभिरिष्यते, किन्तु उपभोगाश्रयत्वाख्यगुणदर्शनात् । विवेकिनश्च संयोगसम्बन्धिषु भावेषु जातिजरामरणप्रबन्धलक्षणसंसारदुःखहेतुत्वाख्यम् आत्यन्तिकदोषं पश्यतो न उपभोगाश्रयत्वाख्यस्य गुणस्य दर्शनमस्तीति तन्निबन्धनस्नेहस्य व्यावृत्तेः कथं दोषदर्शनं स्नेहस्य बाधकं न स्यात् ।

ननु तद्दोषं पश्यतो यद्यपि तत्कालेऽनुरागिणी मतिश्चलिता, तथापि तन्नासौ नैव अत्यन्तं विरक्तो द्रष्टव्यः, पुनस्तद्गुणलेशदर्शनादनुरागसम्भवात्, इत्यप्यसुन्दरम्, अन्यो हि तादात्विकदुःखहेतुत्वाख्यस्य तादात्विकदोषस्य दर्शनाद् विरक्तः तादात्विकसुखहेतुत्वाख्यस्य तादात्विकगुणस्य दर्शनात् पुनरनुरज्यते इति युक्तम्, हेयोपादेयतत्त्वज्ञस्तु जातिजरामरणप्रबन्धलक्षणदुःखहेतुत्वाख्यस्य आत्यन्तिकदोषस्य दर्शनाद्विरक्तो न तादात्विकसुखहेतुत्वाख्यस्य तादात्विकगुणस्य दर्शनात् पुनरनुरज्यते, किन्तु आत्यन्तिकसुखहेतुत्वाख्यगुणदर्शनात् । न च संयोगसम्बन्धिषु तद्दर्शनमस्ति इति साकल्येनासौ तत्र उपेक्षालक्षणं वैराग्यमात्मसात्करोति । ननु यदि तत्प्रबन्धलक्षणदुःखहेतुत्वेन

(१) सगृहीतोऽयं श्लोकः सुभाषितरत्नभाण्डागारे । (२) 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'-तत्त्वार्थसू० १।१ । तुलना- तत्र प्रथमं तावत् त्रीणि रत्नानि तद्यथा-बुद्धो धर्मः संघश्चेति ।'-धर्मसं० पृ० १ । (३) तात्कालिकसुखसाधनेषु स्त्र्यादिषु । (४) तादात्विकसुखसाधनस्त्र्यादीनाम् । (५) रत्नत्रयस्य । (६) पृ० ८४० पं० ११ । (७) 'यद्यप्यकत्र दोषेण तत्क्षणं चलिता मतिः । विरक्तो नव तत्रापि कामीव वनितान्तरे ।'-प्रमाणवा० १।२४१ ४२ । (८) विरागवती जाता । (९) तत्त्वज्ञः । (१०) संयोगसम्बन्धिषु स्त्र्यादिषु ।

1-जना ब-ज० । 2-सम्बन्धिषु श्र० । 3 दुःखहेतुषु ब०, आ० । 4-अभावात् ब० । 5-स्वेऽस्मात्मीय-श्र० । 6-त्यागसम्भा-ब । 7 निर्विशेषात्तस्य सद्भावेन ब० । 8-त्तस्येव त्यागे सम्भवात् श्र० । 9 सारूप्यादि-श्र० । 10-सम्बन्धाभावेषु श्र० । 11 गुणदर्शनमस्तीति ब० आ० । 12-स्नेहव्याघ-ब० । 13 स्नेहबाध-ब० । 14 इत्यसु-ब० । 15 अयो हि आ० । 16-हेतुत्वाख्यगुणदर्शनात् ब०, श्र० । 17 अपेक्षा-श्र० ।

तत्रासौ विरज्यते तदा आत्मन्यपि विरज्यताम् तथाविधदुःखहेतुत्वस्य तत्राप्यविशेषात्, तत्राविरागे वा अन्यत्रापि न विरज्येत विशेषाभावादिति, अत्र अज्ञमात्मानमभिप्रेत्य एवमुच्यते, तद्विपरीतं वा ? यदि अज्ञम्, तदा सिद्धसाधनम्, हेयोपादेयतत्त्वज्ञानरहिते तथाविधदुःखहेतौ आत्मनि वैराग्याऽभ्युपगमात्। हेयोपादेयतत्त्वज्ञानवति तु तस्मिन् तथाविधदुःखहेतुत्वाभावान्न वैराग्यम्।

यच्चोक्तम्–'कायक्लेशस्य कर्मफलत्वात्' इत्यादि, तदप्यनल्पतमोविलसितम्, हिंसाविरतिलक्षणव्रतोपबृंहकस्य कायक्लेशस्य कर्मफलत्वेऽपि तपस्त्वाविरोधात्। व्रताविरोधी हि कायक्लेशः कर्मनिर्जराहेतुत्वात् तपोऽभिधीयते। न चैवं नारकादिकायक्लेशस्यापि तपस्त्वानुषङ्गः, तस्य हिंसाद्यावेशप्रधानतया तन्निरोधित्वाभावात्। अतः कथं प्रेक्षावता तेन समानता मुमुक्षुकायक्लेशस्य आपादयितुं युक्ता ?

यदपि शक्तिसङ्करपक्षे 'स्वल्पेनैव' इत्याद्युक्तम्, तत्सूक्तम्, विचित्रफलदानसमर्थानां कर्मणां शक्तिसङ्करे सति क्षीणमोहान्त्यसमये अयोगिचरमसमये च अक्लेशतः स्वल्पेनैव परमशुक्लध्यानरूपेण तपसा प्रक्षयाभ्युपगमात्, जीवन्मुक्तेः परममुक्तेश्चान्यथानुपपत्तेः। स तु तच्छक्तिसङ्करः बहुतरक्लेशसाध्य इति युक्तः तदर्थोऽनेकविधोपवासादिदुर्धरकायक्लेशानुष्ठानप्रयासः, तमन्तरेण तत्सङ्कराऽप्रसिद्धेः। अतः कथञ्चिन्ननवच्छिन्नो ज्ञानसन्तानोऽनेकविधदुर्धरतपोऽनुष्ठानात् मुच्यते इति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्॥ छ॥

सुषुप्ताद्यवस्थायां नास्ति ज्ञानमिति वैशेषिकादीनां पूर्वपक्षः –

ननु 'अनवच्छिन्नो ज्ञानसन्तानः' इत्ययुक्तम्, सुषुप्ताद्यवस्थायामपि तदवच्छेदप्रतीतेः। किञ्चिदपि अपरिच्छिन्दतो हि 'सुषुप्तः' इत्युच्यते, तत्र ज्ञानसद्भावे तत्परिच्छेदानुपपत्तेः। यदि च तत्र ज्ञानसद्भावः स्यात् तदा जाग्रत्सुषुप्तावस्थयोर्भेदो न स्यात्, उभयत्र स्वपरावभासिज्ञानसद्भावाऽविशेषात्। तत्र तत्सद्भावेऽपि निद्रयाऽभिभवात्, जाग्रदवस्थायाञ्च तदभावात्

(१) जन्मजरामरणादिप्रबन्धकारणत्वस्य। (२) स्त्र्यादिष्वपि। (३) तुलना– यादृशो दुःखहेतुस्तादृशो हेय एव, सोपाधिश्च तथा। निरुपाधिरपि हीयतामिति चेन्न, अशक्यत्वान्निष्प्रयोजनत्वाच्च। –आप्तमी० पृ० १०६। (४) आत्मनि। (५) पृ०८४१ प० २। (६) 'हिंसाविरतिरूपव्रतोपबृंहकस्य कायक्लेशस्य कर्मत्वेऽपि तपस्त्वाविरोधात्।'–षड्द० बृह० श्लो० ५२। (७) व्रताविरोधित्वाभावात्। (८) नारकादिक्लेशेन। (९) पृ० ८४१ प० ५। (१०) "विचित्रफलदानसमर्थानां कर्मणां शक्तिसङ्करे सति"–षड्द० बृह० श्लो० ५२। (११) 'सुषुप्तिकाले त्वच त्यक्त्वा पुरीतति वर्तमानेन मनसा ज्ञानाजननमिति।'–मुक्ता० का० ५६। (१२) "सुषुप्तावस्थायां ज्ञानसद्भावे जाग्रदवस्थातो न विशेषः स्यात्, उभयत्रापि स्वसंवेद्यज्ञानस्य सद्भावाविशेषात्।"–प्रश० व्यो० पृ० २०८। (१३) "सुषुप्तौ निद्रयाभिभूतत्वं विशेष इति चेत्, असदेतत्, तद्धर्मतया तस्यापि तादात्म्यात् अभिभावकत्वासम्भवात्। व्यतिरेके तु रूपादिपदार्थानामेव सत्त्वात् तत्स्वरूपं निरूप्यम्। अभिभवश्च यदि

1–लक्षण ब–ज०। 2 'तत्सूक्तम्' नास्ति श्र०। 3 बाक्लेशत श्र०। 4–दुश्चराप–श्र०। 5–सन्तानो नवविध–ब०। 6–यै च तदपरि–ब०।

नानयोरविशेष इति चेत्, ननु कोऽयं तदा ज्ञानस्याऽभिभवो नाम–नाशः, तिरोभावो वा? यदि नाशः, कथं तत्र तत्सद्भावः तस्य तद्विरोधित्वात्। अथ तिरोभावः, तन्न, स्वपरप्रकाशरूपज्ञानाभ्युपगमे तस्याप्यनुपपत्तेः। अतः सुषुप्ताद्यवस्थायाम् उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य ज्ञानस्यानुपलम्भे अभाव एव ज्यायानिति ॥छ॥

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'किञ्चिदप्यपरिच्छिन्दन्नेव हि' इत्यादि, तदसमीचीनम्, सुषुप्ताद्यवस्थायां स्वापादिसंवेदनस्य तत्सुखसंवेदनस्य च सद्भावात्। तत्र हि ज्ञानानभ्युपगमे 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति सुप्तोत्थितस्य स्वापसुखस्मरणस्य 'एतावत्कालं निरन्तरं सुप्तोऽहम् एतावत्कालञ्च सान्तरम्' इति स्वापस्मरणस्य चाभावानुषङ्गात्, तस्य ज्ञातवस्तुविषयत्वेन स्वविषयज्ञानान्तराविनाभावित्वात्। यत् स्मरणं तत् स्वविषयज्ञानान्तराविनाभावि यथा घटादिस्मरणम्, स्मरणञ्च सुप्तोत्थितस्य स्वापसुखादिसंवेदनमिति। अस्य स्वविषयज्ञानान्तरमन्तरेणाप्याविर्भावे घटादिस्मरणस्यापि तदन्तरेणाविर्भावः स्यात्, अतः पुनस्तदनुभवादिरपि सिद्ध्येत्? ततः सुषुप्ताद्यवस्थायां येनानुभवेन स्वापसुखादिस्मरणमाविर्भाव्यते स तद्विषयोऽभ्युपगन्तव्यः।

एतेन मत्तमूर्च्छिताद्यवस्थायामपि ज्ञानसद्भावः प्रसाधितः, तदवस्थायाः प्रच्युतस्य 'तदा मया न किञ्चिदनुभूतम्' इति स्मरणनिबन्धनेन येनानुभवेन सता आत्मा निखिलानुभवविकलोऽनुभूयते तस्यामवस्थायां सोऽनुभवोऽभ्युपगन्तव्यः, तमन्तरेण तत्स्मरणानुपपत्तेः। न च सुषुप्ताद्यवस्थायां स्वापसुखस्य तत्संवेदनस्य वा 'इदमित्थम्'

विनाशः न विज्ञानस्य सत्त्वे विनाशस्य वा निर्हेतुकत्वम्। अथ तिरोभावः, न, विज्ञानस्य सत्त्वेन तत्सत्त्वे संवेदनमित्यभ्युपगमे तस्यानुपपत्तेः। –प्रश० व्यो० पृ० २०८।

(१) निद्रया। (२) नाशस्य। (३) सद्भावविरोधित्वात्। (४ पृ० ८४७ पं० १८। (५) "तथा सुषुप्तावनुभूत आनन्द आत्मा भावरूपाज्ञानञ्चेति त्रयमप्युत्थितेन परामृश्यते सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमिति।" –विवरणप्र० पृ० ६०। (६) अस्ति चात्र स्वापलक्षणार्थनिरूपणम्–एतावत्कालं निरन्तरमुप्तोऽहमेतावत्कालं सान्तरमित्यनुस्मरणप्रतीतेः। –प्रमेयक० पृ० ३२१। (७) स्मरणस्य। (८) अनुभवात्मकः। (९) तुलना– सुप्तमूर्च्छाद्यवस्थासु येनो मति च न श्रुतः। निश्चयो वेदनाभावाश्चिन्ति चलस सुता गत। यदीत्थं भवतस्तासु निश्चयः सम्प्रवर्तते। न वेद्मि चित्तमित्येवं सति सिद्धा सचित्तता॥ यदि च तासु मूर्च्छाद्यवस्थासु न वेदम्यहं चित्तमित्येव निश्चयः प्रवर्तते भवतः तदा तेनैव तथा प्रवर्तते निश्चयेन सचित्तता सिद्धा। –तत्त्वसं० पं० पृ० ५४०। प्रमेयक० पृ० ३२३। स्वप्नमूर्च्छाद्यवस्थासु चित्तं च यदि नेष्यते। मतिः स्यात्तत्र चोत्पत्तौ मरणाभाव एव वा। –तत्त्वसं० पृ० ५४१। (१०) निखिलानुभवविकलस्य आत्मनः स्मरणानुपपत्तेः। (११) तुलना–'स्यान्मतं यदि विज्ञानं दशास्वास्वस्ति तत्कथम्। न स्मृतिः प्रतिबुद्धादेः तदाकारा भवेदिति॥ तदकारणमत्यर्थं पाटवादेरसम्भवात्। स्मरणं न प्रवर्तेत सद्योजातादिचित्तवत्॥'–यदि ह्यनुभूत इत्येतावन्मात्रेणैव स्मरणं स्यात्तदा स्यादेतत् यावता सत्यप्यनुभवे पाटवाभ्यासार्थित्वादिवैकल्यात् स्मरणं न भवति, यथा सद्योजाताद्यवस्थायामनुभूतस्यापि चित्तस्य। –तत्त्वसं० पं० पृ० ५४०। प्रमेयक० पृ० ३२५।

1 स्वप्नादिसं–ब०। 2 तत्सुखसंवेदनस्य' नास्ति ब०। 3 तत्र विज्ञाना–ब०। 4–मस्वापम् ब०। 5 यत स्वसस्मरण ब०। 6–निबन्धनो येना–आ० ब०। 7 ननु सुषुप्ता–ब०, 8 च सुप्ता–आ०।

इति निरूपणाभावादभाव इत्यभिधातव्यम्, तदहर्जातबालकस्य मुखप्रक्षिप्तस्तन्यजनितसुखेन तत्संवेदनेन चाऽनेकान्तात्। न खलु तत्तेन 'इदमित्थम्' इति निरूप्यते, अथ च अस्ति। न च दुःखाभावात् सुखशब्दप्रयोगोऽत्र गौणः, अभावस्य प्रतियोगिभावान्तरस्वभावतया अभावविचारावसरे व्यवस्थापितत्वात्।

यदप्युक्तम्–'तत्र ज्ञानसद्भावे' इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, तत्र ज्ञानसद्भावेऽपि जाग्रत्सुषुप्तावस्थयोर्भेदोपपत्तेः। यत्र हि अनभिभूतं बाह्याध्यात्मिकार्थविचारचतुरं ज्ञानं सा जाग्रदवस्था, यत्र तु निद्राद्यभिभववशात्तद्विपरीतं सा सुषुप्ताद्यवस्था।

यदपि–'कोऽयं निद्रादिना ज्ञानस्याभिभवः' इत्याद्युक्तम्, तत्रास्य तद्वशात् बाह्याध्यात्मिकार्थविचारविधुरत्वमेवाऽभिभवः। स्वपरप्रकाशस्वभावत्वात्तस्य कथं तद्विधुरत्वम्? इत्यप्यनुपपन्नम्, गच्छत्तृणस्पर्शसंवेदनेन व्यभिचारात्, तस्य तत्स्वभावत्वेऽपि तन्निरूपणासामर्थ्यप्रतीतेः। नहि तत्स्वभावत्वमात्रेणैव ज्ञानस्य तन्निरूपणसामर्थ्यम्, सर्वत्राऽनभिभूतस्यैवास्य तन्निरूपणसामर्थ्यसंभवात्। यथा च गच्छत्तृणस्पर्शसंवेदनम् अन्यमनस्कतयाऽभिभूतम् तथा सुप्तादिसंवेदनं निद्रादिना इति युक्तमुत्पश्यामः। कथञ्चैवं दाहादिनो मणिमन्त्रादिना अग्न्यादेः शरावादिना च प्रदीपादेः प्रतिबन्धः सिद्ध्येत्? नहि तेन तस्य नाशः प्रतिबन्धः संभवति, प्रत्यक्षविरोधात्। नापि तिरोभावः, स्वकार्यजननसमर्थस्यास्य तिरोभावस्याप्यसंभवात्। प्रतीत्यनतिक्रमेणात्र स्वरूपसामर्थ्यप्रतिबन्धाभ्युपगमः अन्यत्रापि समानः।

किञ्च, सुषुप्ताद्यवस्थायां ज्ञानाभावं स एवात्मा प्रतिपद्यते, पार्श्वस्थो वा? यदि स एव, किं तत एव ज्ञानात्, तदभावात्, तदनुपलम्भात्, जाग्रत्प्रबोधदशाभाविज्ञानान्तराद्वा? न तावत्तत एव, अस्याऽसत्त्वात्। यदसत् न तत् कस्यचित्प्रतिपत्तिहेतुः

(१) प्रतियोगिनः सकाशात् यत् भिन्नं भावान्तरं भूतलादि तत्स्वभावतया। (२) पृ० ८४७ पं० ११। (३) 'निद्रादिसामग्रीविशेषात्, विशिष्टे सुषुप्ताद्यवस्थायां गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानतुल्यं बाह्याध्यात्मिकार्थानवधारणग्रहणविमुखं ज्ञानमस्ति अन्यथा जाग्रत्प्रबुद्धज्ञानप्रवाहयोरप्यभावप्रसक्तिरिति। –सन्मति० टी० पृ० १६३। प्रमेयक० पृ० ३२३। (४) पृ० ८४० पं० १। (५) ज्ञानस्य। (६) स्वपरप्रकाशनस्वभावत्वमात्रेण (७) ज्ञानस्य। (८) तुलना– 'मणिमन्त्रादिना अग्न्यादिप्रतिबन्धे शरावादिना प्रदीपादिप्रतिबन्धेऽपि च समानत्वात्।'–प्रमेयक० पृ० ३२२। (९) मन्त्रादिना शरावादिना वा। (१०) अग्न्यादेः प्रदीपस्य वा। (११) निद्रया ज्ञानस्याभिभवेऽपि। (१२) तुलना–"तदवस्थायां विज्ञानाभावग्राहकप्रमाणासंभवात्। तथाहि–न तावत्सुप्त एव तदवस्थायां विज्ञानाभावं वेत्ति, तदा विज्ञानानभ्युपगमात्। तदभ्युपगमे च तस्यैव ज्ञानत्वात् न तदवस्थायां तदभावः। नापि पार्श्वस्थितोऽपरस्तदभावं वेत्ति कारणव्यापकस्वभावानुपलब्धीनां विरुद्धविधेर्वाऽत्र विषयव्यापारात् अन्यस्य तदभावावभागकत्वायोगात्। –सन्मति० टी० पृ० ९०। प्रमेयक० पृ० ३२३।

1 तत्र तेन श्र०। 2 सुषुप्तादिसंविदनं श्र०। 3 वेदनतस्य श्र०। 4 नाशः सम–ब०। 5 स्वकार्यजनन–श्र०।

यथा वन्ध्यास्तन्धय, अभवच्च सुषुप्ताद्यवस्थायामभिप्रेत भवद्भि ज्ञानमिति। नापि तद्-भावात्, परिच्छेदकत्वस्य ज्ञानधर्मतया तदभावे सम्भवाभावात्, अन्यथा ज्ञानस्यैव 'अभाव' इति नामकृत स्यात्।

तदनुपलम्भतोऽपि तत्कालभाविन, अन्यकालभाविनो वा तत्र तदभावप्रतिपत्ति स्यात्? प्रथमपक्षे कथ तत्र सर्वथा ज्ञानाभाव? तदभावग्राहिणोऽनुपलम्भज्ञानस्य तत्र विद्यमानत्वात्। नापि अन्यकालभाविन, तस्य तत्प्रतिपत्तिहेतुत्वायोगात्। नहि अन्यकालोऽनुपलम्भोऽन्यकालस्याभावस्य प्रतिपत्तिहेतु अतिप्रसङ्गात्। अनुपलम्भश्च उपलम्भाभाव, अभावश्च आश्रयग्रहण-प्रतियोगिस्मरणसापेक्ष प्रतीतु शक्य, तत्परतन्त्र-तया तद्ग्रहणस्मरणाभावे प्रतीतुमशक्यत्वात्। अत अनुपलम्भ तत्रेच्छता तदाश्रय-तया तत्र प्रथममात्मा परिच्छेत्तव्य प्रतियोगी च स्मर्त्तव्य, अत कथ सुषुप्ताद्यव-स्थाया सर्वथा ज्ञानाभाव सिद्ध्येत्? तत्र अनुपलम्भतोऽपि तत्र तदभावसिद्धि।

नापि जाग्रत्प्रबोधदशाभाविज्ञानान्तरात्, तदपेक्षया सुषुप्तादिज्ञानस्य उपलब्धिल-क्षणप्राप्तत्वाभावात्, तद्दशाभाविन तदभावग्राहिण कस्यचिज्ज्ञानान्तरस्याऽप्रतीतेश्च। 'निर्भरसुप्तेन मया न किञ्चिज्ज्ञातम्' इति प्रबोधदशाभाविज्ञान तदभावग्राहकत्वेन प्रतीयते एव, इत्यप्यपेशलम्, एतस्मात् तदा तत्सद्भावस्यैव प्रतीते। स्मृतिरूप हि इदम्, 'स्मृतिश्च तद्दशाया तदभावग्राहिज्ञानान्तरमन्तरेण नोपपद्यते' इत्युक्तमनन्तरमेव, तन्न सुषुप्ताद्यवस्थाया स एवात्मा ज्ञानाभाव प्रतिपत्तु समर्थ।

नापि पार्श्वस्थ, कारणस्वभावव्यापकानुपलब्धे विरुद्धविधेर्वा तदभावाऽविनाभा-विनो लिङ्गस्य असम्भवात्। न च तत्र तत्सद्भावाऽविनाभाविनोऽप्यस्याऽसम्भव समान इत्यभिधातव्यम्, स्वात्मनि तदविनाभावित्वेनाऽवधारितस्य प्राणापानशरीरोष्णताकार-विशेषादे तत्सद्भावाऽविनाभाविनो लिङ्गस्य अत्रोपलब्धे, जाग्रद्दशायामपि अन्यचेतो-वृत्ते तद्व्यतिरेकेण अन्यतोऽप्रतिपत्ते।

ननु द्विविधोऽत्र प्राणादि-चैतन्यप्रभव, प्राणादिप्रभवश्च। तत्र चैतन्यप्रभवो

(१) ज्ञानाभाव। (२) सुषुप्ताद्यवस्थायाम्। (३) ज्ञानाभाव। (४) आश्रयभूतस्य आत्मनो ज्ञानस्य च ज्ञानाभावस्य प्रतियोगिनो ज्ञानस्य स्मरणमन्यवति भाव। (५) सुषुप्तिदशायाम्। (६) ज्ञानाभाव। (७) लिङ्गस्य। (८) तुलना- स्वात्मनि स्वसंवित्तिविनाभाविनाभूतत्वेन निश्चितस्य प्राणापानशरीरोष्णताकारविशेषादे तदवस्थायामुपलभ्यमानलिङ्गस्य सम्भावेन अनुमान प्रतीत्युत्पत्त। -सन्मति० टी० पृ० ९०। प्रमेयक० पृ० ३२४। (९) ज्ञानाविनाभावित्वेन। (१०) प्राणापानशरीरोष्णतादिभ्य एव ज्ञान प्रतीयत इत्यर्थ। (११) ननु द्विविधोऽत्र प्राणादि चैतन्यप्रभवो जाग्रद्दशायाम् प्राणादिप्रभवश्च सुषुप्ताद्यवस्थायामिति। -प्रमेयक० पृ० ३२४।

1 तत्प्रतिहेतुत्वा-आ० ब०। 2-कालस्य भावस्य आ०। 3 निर्भरस्वप्नेन मया न कि-ब० आ०। 4 मया किञ्चिज्ज्ञातम् ब०। 5 तदभावस्यैव ब०।

जाग्रद्दशायाम् प्राणादिप्रभवश्च सुषुप्ताद्यवस्थायामिति । तत्र चैतन्यप्रभवप्राणादेर्जाग्रद्दशाया चैतन्यानुमान युक्तम् न पुन प्राणादिप्राणादे । न खलु गोपालघटिकादौ धूमप्रभवधूमादग्न्यनुमान दृष्टम् अग्निप्रभवधूमादेव तद्दर्शनात्, इत्यप्यचार, सुषुप्तेतरावस्थयो प्राणादेर्विशेषाऽप्रतीते । यथैव हि सुषुप्त प्राणिति तथैव इतरोऽपि, अन्यथा 'किमय सुषुप्त किं वा जागर्ति' इति सन्देहो न स्यात् । यदि चैते सुषुप्तस्य चैतन्यप्रभवा न स्यु तर्हि जाग्रत परवञ्चनाभिप्रायेण सुषुप्तव्याजेनाऽवस्थितस्य तादृशामेव तेषा सभवो न स्यात् । नहि अग्नेर्जायमानो धूम प्रयत्नशतैरपि धूमादन्यतो वा जायते, धूमप्रभवो वाऽग्ने इति । दृश्यन्ते च यादृशा एव सुषुप्तस्य प्राणाद्य तादृशा एव अस्यापि । तन्नैते भिन्नकारणप्रभवा । चैतन्येतरप्रभवाश्च प्राणादीन विवेचयन् वीतरागेतरप्रभवान् व्यापारादीनपि [3]विवेचयतु । तथा च *"सरागा अपि वीतरागवच्चेष्टन्ते वीतरागाश्च सरागवत् अतो वीतरागेतरविभागो निश्चेतुमशक्य "* [   ] इति विप्लवते ।

सुषुप्तादौ च प्रथम प्राणादि कुतो जायताम् ? जाग्रद्विज्ञानसहकारिणो जाग्रत्प्राणादे इति चेत्, न, एकस्माज्जाग्रद्विज्ञानात् अनन्तरभावी प्राणादि कालान्तरभावि च प्रबोधज्ञानम् इत्यस्याऽसम्भाव्यमानत्वात् । नहि एकस्मात् सामग्रीविशेषात् क्रमभाविकार्यद्वयसभवो युक्त, अन्यथा नित्यादप्यक्रमात् क्रमवत्कार्यद्वयोत्पत्ति स्यात् । तथा च *"नाक्रमात् क्रमिणो भावा "* [प्रमाणवा० १।४५] इत्यस्य विरोध । तस्मात् सुषुप्तावस्थाभाविन एव ज्ञानात् तत्कालभाविप्राणादिप्रभवोऽभ्युपगन्तव्य, अत कथ तत्र ज्ञानाभावसिद्धि ? ततो ज्ञानस्य कदाचिदपि व्यवच्छेदासभवात् सिद्धोऽनवच्छिन्नो ज्ञानसन्तान, तस्य च मुक्तिकारणानुष्ठानात् प्रतिबन्धककर्मप्रक्षये अनन्तचतुष्टयस्वरूपलाभो मोक्ष इति ।

तथा च घातिकर्मप्रक्षये समुत्पन्नकेवलज्ञानादेर्भगवतो मुक्तिर्यैरभिप्रेता [6]तै जीवन्मुक्तये दत्तो जलाञ्जलि अनन्तचतुष्टयासभवात् । कवलाहारो हि क्षुद्वेदनोदये गृह्यते, तदुदये च क्षुद्दु खसभवात् भगवत कथमनन्त सौख्यम् ? यतोऽनन्तचतुष्टयस्वरूपलाभलक्षणा जीवन्मुक्ति स्यात् । न च तत्र भुक्त्यावेदकं किञ्चित्प्रमाणमस्ति ॥७॥

(१) "यथैव हि सुषुप्त प्राणिति तथेतरोऽपि, अन्यथा 'किमय सुषुप्त किंवा जागर्ति' इति सन्देहो न स्यात् । यदि चैते सुषुप्तस्य चैतन्यप्रभवा न स्यु किन्तु प्राणादिप्रभवा तर्हि जाग्रत परवञ्चनाभिप्रायेण सुषुप्तव्याजेनावस्थितस्य तादृशामेव तथा भावो न स्यात । –प्रमेयक० पृ० ३२४। (२) प्राणप्रभवाणामेव प्राणादीनाम् । (३) द्रष्टव्यम्–पृ०६०२ टि० १। (४) "एकस्माज्जाग्रद्विज्ञानान्नन्तरभावी प्राणादि कालान्तरभावि च प्रबोधज्ञानमित्यस्यासम्भाव्यमानत्वात ।"–प्रमेयक०पृ०३२५। (५) द्रष्टव्यम्–पृ० ६१९ टि० १० । (६) श्वेताम्बर यापनीयश्च । (७) कवलिनि ।

1 सुप्त आ० । 2 एव सुप्तस्य ब० । 3 विवेचयत् श्र० । 4 सुप्तादौ च आ० । 5–भाविप्राणादेका–श्र० । 6–द्वयस्य सभ–ब० । 7–सिद्धे श्र० । 8 कथमनन्तसौख्यं आ० । 9–क कञ्चित् ब० ।

केवलिन कवलाहारेण इति श्वेताम्बराणां यापनीयशाकटायनस्य च पूर्वपक्ष –

नन्विदमस्ति–यदा भुक्ति अविकलकारणा तदाऽसौ भवत्येव यथा छद्मस्थावस्थायाम्, तथाभूता चासौ सयोगिकेवल्यवस्थायामिति । [1]द्विविध हि भुक्ते कारणम्§–बाह्यम् आभ्यन्तरञ्च । तत्र बाह्यम्–आहारादि, तत्तावदविकलमास्ते न तत्र विप्रतिपत्ति । आभ्यन्तरमपि पर्याप्ति-वेद्य-तैजस-दीर्घायुष्कोदयलक्षणम्§ भगवति अविकलमेव । यतो हि शरीरेन्द्रियादिनिष्पत्ति सा पर्याप्ति । वेद्य सुखदुःखसाधक कर्म । तैजसम् अन्तःस्थेन शरीरोष्मा, यतो भुक्ताऽन्नादिपाको भवति इति । दीर्घमायु चिरजीवनकारण कर्म । एतदुदयात् क्षुद्वेदना उपजायते, अस्ति च तदुदयो भगवति अतो भुक्तिसिद्धि । तदनभ्युपगमे वा तत्र क्षुदभाव प्रमाणात् प्रतिपत्तव्य । तच्च प्रमाणम्–आगम, अन्यद्वा स्यात् ? न तावदागम, सिद्धयत् सयोगकेवलिनि क्षुदभावप्रतिपादकस्य आगमस्याऽसम्भवात्

प्रमाणान्तराच्च निषेध स्वभावानुपलम्भात्, अन्यतो वा स्यात् ? न तावत् स्वभावानुपलम्भात्, केवलिनो विप्रकृष्टस्वभावत्वात् । नच विप्रकृष्टस्वभावे भावे स्वभावानुपलम्भो युक्त, एकज्ञानससर्गिपदार्थान्तरोपलम्भलक्षणत्वात्तस्य । अन्यतोऽपि विधीयमानात्, निषिध्यमानाद्वा तन्निषेध स्यात् ? यदि विधीयमानात्, तदा तेन विरोधिना भवितव्यम्, अविरुद्धविधेरभावाऽसाधकत्वात् । न च क्षुद्विरोधि केवलिनि किञ्चित् प्रतीयते । न च [2]ज्ञानादिगुणा एव तत्र तद्विरोधिन इत्यभिधातव्यम्, यतो ज्ञानादिमात्रस्य क्षुधा विरोध, तद्विशेषस्य वा ? यदि ज्ञानादिमात्रस्य, तर्हि यथा यथा तद्गुणा विवर्द्धन्ते तथा तथा क्षुधो हानितारतम्येन भवितव्यम् प्रकाशविवृद्धाविव तमस, न चैवमस्ति । नहि बालादौ ज्ञानाद्यपचये क्षुदुपचय, तत प्रभृति च ज्ञानाद्युपचये तारतम्येन क्षुदपचयो लक्ष्यते । तन्न ज्ञानादिमात्रस्य क्षुधा विरोध । अथ ये

(१) अस्ति च केवलिभुक्ति समग्रहेतुर्यथा पुरा भुक्ते । पर्याप्तिवेद्यतैजसदीर्घायुष्कोदयो हेतु ॥ नष्टानि न कर्माणि क्षुधो निमित्त विरोधिनो न गुणा । ज्ञानादयो जिने किं सा ससारस्थितिर्नास्ति । –केवलिभु० श्लो० १–२ । सन्मति० टी० पृ० ६१२ । स्या० र० पृ० ४७४ । आध्यात्मिक० पृ० ६३ B । 'नास्ति केवलिनो भुक्ति समग्रसामग्रीकत्वात् पूर्वभुक्तिवत् । सामग्री चेय प्रक्षेपाहारस्य, तद्यथा पर्याप्तत्वं वेदनीयोदय आहारपक्तिनिमित्त तैजसशरीर दीर्घायुष्कत्व चेति ।'–सूत्रकृ० शी० पृ० ३४५ । युक्तिप्र० पृ० १५३ । (२) यत कवलाहारभुक्तेर्द्विधा कारण बाह्यमाभ्यन्तर च । तत्र बाह्यमन्नादि तत्तावत्तस्यैव न तत्र कस्यापि विवाद । आभ्यन्तर पर्याप्तिवेद्यतैजसदीर्घायुष्कोदयलक्षणम । –स्या० र० पृ० ४७५ । (३) तम इव भासो वृद्धौ ज्ञानादीना न तारतम्येन । क्षुधु हीयमानत्व न च तज्ज्ञानादीना विरोधगति ॥ अविकलकारणभावे तदन्यभावे भवेदभावेन । इदमस्य विरोधीति माने न तदस्ति केवलिनि ।'–केवलिभु० श्लो० ३–४ । स्या० र० पृ० ४७३ । 'न कवलाहारवत्त्वेन तस्यासर्वज्ञत्व कवलाहारसर्वज्ञत्वयोरविरोधात । –प्रमाणनय० २।२७ ।

1 सयोगिकेव–ब० । § एतन्तर्गत पाठो नास्ति आ० । 2 भावे नास्ति ब० । 3–तद्यम विधेरभा–आ० । 4 ज्ञानापचये ब० ।

केवलिगता ज्ञानादयः प्रकर्षपर्यन्तप्राप्ता तेषामेव क्षुधा निरोधः, तन्न, तथाप्रतिपत्तुमशक्तेः। नहि केवलिज्ञानादयः क्षुधं निरुन्धन्ति इति अर्वाग्दृशा प्रतिपत्तुं शक्यम्, अतीन्द्रियत्वात्तेषाम्।

किञ्च, अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावात् निरोधगतिर्भवति शीतस्पर्शस्येव अग्निसन्निधौ। एतच्चात्र दुर्घटम्–केवलिगुणानामतीन्द्रियतया 'एतत्सन्निधौ क्षुन्न भवति' इति प्रतीतेरनुपपत्तेः। तन्न विधीयमानात् कुतश्चित् तत्र क्षुधोऽभावसिद्धिः।

निषिध्यमानश्च भावः तस्याः कार्यम्, कारणम्, व्यापको वा स्यात्? यदि कार्यम्, तदात्मनिर्वर्त्तनसमर्थाऽविकलकारणस्यैव तत् निवृत्तिमवगमयेत् न कारणमात्रस्य, अस्य कार्याभावेऽपि भावाविरोधात्। कारणमपि निवर्त्तमानं कार्यं निवर्त्तयति यथा वह्निर्धूमम्, व्यापकं वा निवर्त्तमानं व्याप्यम् यथा वृक्षः शिंशपाम्। न चात्र क्षुधः कारणस्य व्यापकस्य वा कस्यचिन्निवृत्तिरस्ति। नच मोहनीयादिकर्मचतुष्टयाऽभावात् क्षुधोऽभावः, तस्याः तत्कार्यत्वस्य तत्स्वभावत्वस्य वाऽसंभवात्। नहि क्षुत् तत्कर्मचतुष्टयकार्या, प्राक्प्रतिपादितबाह्याभ्यन्तरकारणप्रभवत्वात्तस्याः। प्रतिपक्षभावनाऽनिवर्त्यत्वेन मोहस्वभावत्वाऽसंभवाच्च, यो हि मोहस्वभावः स प्रतिपक्षभावनया निवर्त्यते यथा क्षमादिभावनया क्रोधादिः, मोहस्वभावा च क्षुद् भवद्भिरिष्टा इति। तथा च क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थं शास्त्रे प्रतिपक्षभावनैव उपदिश्येत न क्लेशभूयिष्ठध्यानाध्ययनविघातकारिणी पिण्डैषणा। शीतोष्णबाधातुल्यत्वाच्च क्षुधो न मोहस्वभावत्वम्, अन्यथा तद्बा-

(१) "अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावाद्विरोधगतिः।"–न्यायबि० पृ० ९६। (२) विरोधमानम्। (३) "निषिद्धमानश्च भावस्तस्याः कार्यं कारणं व्यापको वा स्यात्।"–स्या० र० पृ० ४७३। 'किमेव सति कवलाहारस्य व्यापकं कारणं कार्यं सहचरादि वा सावयन् विरोधमधिवसेत।"–रत्नाकराव० २।२७। आध्यात्मिक० श्लो० ५। (४) क्षुधः। (५) 'यदि कार्यम्, तदा तन्निवर्तमानम् आत्मनिवर्तनसमर्थाया एव क्षुधो निवृत्तिमवगमयेत् न तु सर्वथा, कारणमात्रस्य कार्याभावेऽपि भावाविरोधात्।'–स्या० र० पृ० ४७३। (६) कारणमात्रस्य अनुकूलात्मनः। (७) "ज्ञानावरणीयादेर्ज्ञानावरणादिक्रमेण कार्यम्। क्षुत् तद्विलक्षणास्या न तस्य सहकारिभावोऽपि॥"–केवलिभु० श्लो० १०। 'न हि क्षुत् मोहनीयकार्या वेदनीयप्रभवत्वात्।'–स्या० र० पृ० ४७३। (८) "न क्षुद् विमोहपाको यत्प्रतिसंख्यानभावननिवर्त्या। न भवति, विमोहपाकः सर्वोऽपि हि तेन विनिवर्त्यः॥"–केवलिभु० श्लो० ७। स्या० र० पृ० ४७४। शास्त्रवा० टी० पृ० ३९३ B। आध्यात्मिक० पृ० ५९ B। "यतो मोहविपाका क्षुद् भवति तद्विपाकस्य प्रतिपक्षभावनया प्रतिसंख्यानेन निवर्त्यमानत्वात्; तथाहि कषाया प्रतिकूलभावनया निवर्तन्ते क्षुद्वेदनीयं तु रोगशीतोष्णादिवत् औषधादिना विनिवर्त्यमाना न प्रतीपवासनामात्रेण निवर्तते अतो न मोहविपाकस्वभावा क्षुदिति'–सूत्रकृ० शी० पृ० ३४६ A। युक्तिप्र० पृ० १५०। (९) 'शीतोष्णबाधातुल्या क्षुत्तत्प्रतिविधानकाङ्क्षा तु। मूढस्य भवति मोहात् तथा भृशं बाध्यमानस्य। शीतोष्णक्षुदुपतापो हि ननु वेदनीय इति।"–केवलिभु० श्लो० ८।१३। स्या० र० पृ० ४७४।

1–सत्यात्सन्निधौ ब०। 2 भगवतीति आ०। 3 तदात्मनिवर्त्तनसमर्थाविकल–ब०। 4–भावे भावा–ब०। 5 निवर्त्यते ज०।

धाया अपि मोहस्वभावत्वं स्यादविशेषात् ।

ननु भगवतः क्षुदभ्युपगमे अशेषज्ञत्वादिविरोधः, क्षुदुदये अस्मदादिवत्तत्र ज्ञानदर्शनचेष्टादेः प्रक्षयात्, तदसमीचीनम्; ज्ञानावरणादिप्रक्षये जातायामपि क्षुधि ज्ञानादिक्षयाऽयोगात्, तत्क्षयो हि ज्ञानावरणादिकर्मोदयनिबन्धनः । अतः अस्मदादौ तदुदयातिशयात् तत्क्षयातिशयो युक्तः भगवति तु तदावरणादेरशेषस्यापगमात् सत्यामपि क्षुधि न ज्ञानादिक्षयः । नहि अग्न्यभावे सत्यपीन्धने धूमो भवति । तत्कर्मचतुष्टयप्रभवत्वे च क्षुधः "एकादश जिने क्षुत्पिपासादयः परीषहा वेदनीयप्रभवाः" [ ] इत्यागमविरोधः । नैव उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिं विहरतः सयोगकेवलिनः तावत्कालं कायस्थितिः भुक्तिं विना घटते । अथ अनन्तवीर्यत्वात् तां विनाप्यस्य तत्स्थितिः, तर्हि आयुष्कर्मणापि विना तत्स्थितिप्रसङ्गात् न कदाचित् शरीराद्यपायः स्यात् इति मोक्षाय दत्तो जलाञ्जलिः । तत्स्थितौ आयुष्कर्मापेक्षणे वा आहारापेक्षणमप्यस्तु उभयस्यापि तत्कारणत्वाऽविशेषात् ।

किञ्च, प्रदीपज्वालाजलधारासमानं शरीरम्, तत्र च यथा तैलक्षये न प्रदीपज्वालाऽवतिष्ठते जलागमनमन्तरेण वा जलधारा तथा शरीरमपि भुक्त्यभावे न स्थितिमास्तिघ्नुते ।

अथ भुक्तिर्दोषः, यदुपवासान्निप्रत्याख्यानं क्रियते, निर्दोषे च केवलिनि दोषो विरुद्धः, तर्हि निषद्या गमनञ्च अर्हति न प्राप्नोति स्थानयोगादिना निषद्यादेः प्रत्याख्यानात्, वचनञ्च न प्राप्नोति मौनव्रतिकोपलम्भात् ।

अथ मतम्–अशेषज्ञस्य मासादिकं पश्यतः कथं भुक्तिः अन्तरायोपपत्तेः ? तद-

(१) 'अनन्तं च सुखं मतं ज्ञानादिगुणसंगतम् । क्षुधादयो न बाधन्ते पूर्णं स्वामिन् महोदयः ॥' –द्वात्रिं० ३०।११ । जनतरमा० पृ० ८ । (२) ज्ञानावरणोदयात् । (३) ज्ञानक्षयातिशयः । (४) 'निरस्तघातिकर्मचतुष्टये जिने वेदनीयसद्भावात्तदाश्रया एकादश परीषहाः सन्ति अथवा एकादश जिने न सन्तीति वाक्यशेषः कल्पनीयः ।' –सर्वार्थसि० ९।११ । (५) 'देशोनपूर्वकोटीविहरणमेवं सतीह केवलिनः । सूत्रोक्तमुपपादि न भुक्तिश्च न नियतकाला स्यात् ।'–केवलिभु० श्लो० २४ । सन्मति० टी० प० ६१३ । सूत्रकृ० शी० पृ० ३८६ B । स्या० र० पृ० ४८० । शास्त्रवा० टी० पृ० ३९५ A । (६) भुक्तिम् । (७) आयुरिवाभ्यवहारो जीवनहेतुर्विनाभ्यवहृते । केवलिष्ठत्वनन्तवीर्ये विनायुषा कस्मिन्नपि तिष्ठन् ॥ न च ज्ञानवदुपयोगो वीर्ये क्रमक्षयेण लब्धिस्तु । तत्रायुरिवाहारोऽपेक्ष्येत न तत्र बाधास्ति ॥ –केवलिभु० श्लो० २०–२१ । स्या० र० पृ० ४८० । (८) तैलक्षये न दीपो न जलागममन्तरेण जलधारा । तिष्ठति यथा तनो स्थितिरपि न विनाहारयोगेन ॥'–केवलिभु० श्लो० ३१ । स्या० र० पृ० ४८० । (९) 'भुक्तिर्दोषो यदुपोष्यते न दोषश्च भवति निर्दोषे । इति निर्गतो निषद्यार्हति न स्थानयोगात् ॥ –केवलिभु० श्लो० २८ । स्या० र० पृ० ४८० । (१०) 'परमावधियुक्तस्य छद्मस्थस्यैव नान्तरायोऽपि । सर्वविदोऽपि स्यान्न चान्यथा पूर्वमपि भुक्तिः ॥ –केवलिभु० श्लो० ३२ । स्या० र० पृ० ४८० ।

1–ज्ञानप्रघाति–ब० । 2–वति तथा–भ० । 3 कर्मचतु–ब० । 4 इत्याद्यागम–ब० । 5–पूर्वकोटिविह–ब० । 6 घटते ब० । 7 तत्र यथा आ० । 8 भुक्ताभावे आ० । 9–मास्तिष्ठते ब० । 10 भुक्तिर्दोषो यदु–आ० ।

सङ्गतम्, अवधिज्ञानिभिः परमर्षिभिरनेकान्तात्, ते हि सकलं त्रैलोक्यं पश्यन्ति अथ च भुञ्जते, एवं केवल्यपि। इन्द्रियविषये एव हि अन्तरायो नान्यत्र, अन्यथा छद्मस्थावस्थायामप्यन्तरायः स्यात्, भगवता तदापि अवधिज्ञानेन अशेषवस्तुसाक्षात्करणात्।

न च भुक्तौ जिह्वारसप्राप्तेः केवलिनो मतिज्ञानानुषङ्गः, यतो न इन्द्रियविषयसम्बन्धमात्रेण मतिज्ञानं भवति। किं तर्हि ? तत्सम्बन्धे मतिज्ञानावरणक्षयोपशमे च सति। एतच्च प्रक्षीणाशेषावरणे केवलिनि नास्ति इति न तज्ज्ञानानुषङ्गः, अन्यथा श्रोत्रादीन्द्रियाणां दिव्यतूर्यादिरवेण गणधरदेवादिरूपेण सुगन्धिकुसुमधूपवासादिगन्धेन मरकतसिंहासनस्पर्शेन सम्बन्धेऽपि मतिज्ञानमनुषज्येत।

स च भगवान् पूर्वाह्णे अपराह्णे च पादोनप्रहरं धर्मोपदेशनाकाल एव सिंहासनाधिरूढ आस्ते, शेषदिनं तु दिव्यस्थाने देवच्छन्दकाभिधाने गणधरदेवान्विहाय अन्यमनुष्यतिरश्चामगोचरे ईशानदिशायां समवशरणीयद्वितीयप्राकाराभ्यन्तरवर्त्तिनि गत्वा पल्यङ्के आसने वा यथा सुखमास्ते। तत्र च गणधरदेवैरानीतमाहारं सकलदोषशुद्धं ज्ञात्वा क्षुद्वेदनोदये गृह्णाति। ते च 'आहारं तदीयहस्ते निक्षिप्तं पश्यन्ति, कथमसौ भुङ्क्ते' इत्येतत्तु न पश्यन्ति, मनुष्यतिरश्चां सर्वज्ञाहारनी(नि)हाराणामगोचरत्वात् इति॥छ॥

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'आहारवेदनीयकर्मोदयलक्षणबाह्याभ्यन्तरकारणसद्भावात् क्षुदुदये सति अविकलकारणा भगवतो भुक्तिर्भवत्येव' इत्यादि, तदसमीचीनम्, यतः तत्सद्भावात्तदुदये केवलिनि आहारमात्रं प्रसाध्येत कवलाहारो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनम्,

कवलाहारनिरसनपुरस्सरं केवलिनोऽनाहारप्रसाधनम्–

(१) 'इन्द्रियविषयप्राप्तौ यदभिनिबोधप्रसञ्जनं भुक्तौ। तच्छब्दगन्धस्पर्शप्राप्त्या प्रतिव्यूढम्॥'–केवलिभु० श्लो० ३३। स्या० र० पृ० ४८०। 'रासनं च मतिज्ञानमाहारेण भवेद्यदि। घ्राणीयं स्यात्तदा पुष्पघ्राणतर्पणयोगतः॥'–द्वात्रिं० ३०।२१। (२)"पूर्वद्वारेण समवसरणं प्रविशत्यथ। प्रदक्षिणीकृत्य पूर्वसिंहासने निषीदति। पादपीठन्यस्तपादः कृततीर्थनमस्कृतिः। विधत्ते देशनां स्वामी गम्भीरमधुरध्वनिः।'–काललोक० ३०।३१ ३२। (३) 'प्राकारस्य द्वितीयस्यान्तरं चोत्तरपूर्वतः। देवच्छन्दं विचक्रुस्ते स्वामिविश्रामहेतवे॥'–त्रिषष्टि० १।३।४४, ६७९। "इत्थं बलिविधौ पूर्णे जिनाः प्रथमवप्रतः। अवतीर्य द्वितीयस्य वप्रस्येशानकोणके। देवच्छन्दमागत्य सुखं तिष्ठन्ति नाकिभिः।'–काललोक० ३०।६८ ६९। 'तथाहि स भगवान् पूर्वाह्णे अपराह्णे च पादोनप्रहरं यावत् धर्मोपदेशनाकाल एव सिंहासनाधिरूढ आस्ते, शेषं तु दिनं देवच्छन्दकनाम्नि दिव्यस्थाने यथासुखं गमयति। तत्र च गणधरदेवैरानीतमाहारं निखिलदोषविशुद्धं विज्ञाय क्षुद्वेदनोदये गृह्णाति। आहारं च तदीयपाणिपल्लवन्यस्तं मांसचक्षुषः पश्यन्ति कथमसौ भुङ्क्ते इत्येतत्तु न पश्यन्ति सर्वज्ञाहारनिहारयोर्मांसचक्षुषामगोचरत्वात्।"–स्या० र० पृ० ४६९। (४) पृ० ८५२ पं० १। (५) 'अत्र किमाहारमात्रं प्रसाध्यते कवलाहारो वा ?"–रत्नक० टी० पृ० ५। प्रमेयक० पृ० ३००।

1 परममहर्षिभिरमहर्षिभिर–ब०। 2–धूमवासादि–ब०। 3 पूर्वाह्णे च पादोन–आ०, ब०। 4 अस्ति ब०। 5 तत्र गणधर–आ०। 6 तदभावात्त–ब०।

"आसयोगकेवलिनो जीवा आहारिणः" [ ] इत्यभ्युपगमात्। षड्विधो हि आहारः प्रवचने प्रसिद्धः –

"णोकम्म-कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।

उज्ज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥" [भावसं० गा० ११०]

इत्यभिधानात्। तत्र च कवलाहाराभावेऽपि अन्यस्य कर्म-नोकर्माऽऽदानलक्षणस्य आहारस्य भावात् न आहारित्वं भगवतो विरुद्धम्। न च कवलाहारेणैव आहारित्वं जीवानामित्यभ्युपगमो युक्तः, एकेन्द्रियाण्डजत्रिदशानाम् असुज्ञानतिर्यङ्मनुष्याणाञ्च अनाहारित्वप्रसङ्गात्। द्वितीयपक्षे तु त्रिदशादिभिर्व्यभिचारः, तेषां वेदनादिकर्मोदयात् क्षुदुदये सत्यपि कवलाहाराभावात्। अथात्र तदुदयः तंमसाधयन्नपि केवलिनि प्रसाधयति, तदेतत् केवलिनो महामाहात्म्यम्–यद्विषयविषमग्रहाभिभूतप्राणिषु

(१) 'आहारा एइंदियप्पहुडि जाव सजोगकेवलि त्ति–अत्र कवललेपोष्ममन कर्माहारान् परित्यज्य नोकर्माहारो ग्राह्यः।' –धवला, टी० पृ० ४०९। आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगकेवल्यन्तानि। –सर्वार्थसि० १।८। 'थावरकायप्पहुडी सजोगिचरमोत्ति होंति आहारी।' –जीवका० गा० ६९७। (२) 'णोकम्म कम्महारो कवलाहारो य लेप्पहारो य। उज्ज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेओ॥ णोकम्मकम्महारा जीवाण होइ चउगइगयाणं। कवलाहारो णरपसु रुक्खगु य लेप्पमाहारो॥ पक्खीणुज्जाहारो अंडयमज्झेसु वट्टमाणाणं। देवेसु मणाहारो चउव्विहो णत्थि केवलिणो। णोकम्मकम्महारो उवयारेण तस्स आयमे भणिओ। ण हु णिच्छएण सो वि हु स वीयराओ परो जम्हा॥' –भावसं० गा० ११०–११३। भावसं० श्लो० २२६। उद्धृतम्–प्रमेयक० प० ३००। प्रवचनसा० टी० पृ० २८। रत्नक० टी० टि० पृ० ५। श्वेताम्बरागमेषु त्रिविध आहारः प्ररूपितः–भावाहारो तिविहो ओए लोमे य पक्खेवे। सरीरेणोयाहारो तयाय फासेण लोमआहारो। पक्खेवाहारो पुण कावलिओ होइ नायव्वो। ओयाहारा जीवा सव्वे अपज्जत्तगा मुणेयव्वा। पज्जत्तगा य लोमे पक्खेवे होइ नायव्वा॥ एगिंदियदेवाणं नेरइयाणं च नत्थि पक्खेवो। सेसाणं पक्खेवो संसारत्थाण जीवाण॥ –सूत्रकृ० नि० गा० १७०-७३। बौद्धधर्मसंग्रहे पञ्चधा आहाराः प्ररूपिताः– पचाहाराः ध्यानाहाराः कवलीकाहाराः प्रत्याहाराः स्पर्शाहाराः मचननिकाहाराश्चेति। –धर्मसं० पृ० १५। (३) जरवाहिदुक्खरहियं अहारणिहारवज्जियं विमलं। सिंहाण खेल सेओ णत्थि दुगंछा य दोसो य। –बोधपा० गा० ३७। पडिसमयं दिव्वतमं जोगी णोकम्मदेहपडिबद्धं। समयपबद्धं बंधदि गलिदवसेसा उमेत्तठिदी॥ –लब्धिसा० गा० ६१४। लाभान्तरायस्याशेषस्य निरासात् परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलिनां यतः शरीरबलाधानहेतवोऽन्यमनुजासाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्माः अनन्ताः प्रतिसमयं पुद्गलाः संबन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभः। –सर्वार्थसि० २।४। नोकर्मकर्मनामानमाहारं गृह्णतोऽर्हतः। देहस्थितिर्भवत्यतदस्माकमपि सम्मतम्॥ –भावसं० श्लो० २२८। प्रथमपक्षे सिद्धसाधनता, आसयोगकेवलिन आहारिणो जीवा इत्यभ्युपगमात्। –रत्नक० टी० प० ५। प्रमेयक० पृ० ३००। 'ततो नोकर्माहारापेक्षया केवलिनामाहारकत्वम्।' –प्रव० टी० प० २९। (४) एकेन्द्रियेषु जीवेषु लेपाहारः प्रजायते। आहारो मानसो देवसमूहेष्वखिलेष्वपि। इति हेतोर्जिनेन्द्रस्य कवलाहारपूर्विका। देहस्थितिर्न वक्तव्या' –भावसं० श्लो० २३०-३१। प्रमेयक० पृ० ३००। (५) देवदेहस्थित्या व्यभिचारः –रत्नक० टी० पृ० ५। (६) देवादिषु। (७) कवलाहारम्।

1 नोकम्मकम्महारो ब०। 2 ॥ कव–आ०। 3 यदुदये आ० ब०। 4 यद्विषये विषम–आ०।

कवलाहारप्रसाधनाऽसमर्थोऽपि तदुदय तत्र समर्थो भवतीति[1]

किञ्च, 'तत्र तदुदय तत्साधनसमर्थ' इत्येतत् कुत प्रतिपन्नम्–अभ्युपगममात्रात्, प्रमाणतो वा ? यदि अभ्युपगममात्रात्, अतिप्रसङ्ग, सर्वस्य स्वेष्टतत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्। अथ प्रमाणत, किमत्र प्रमाणम्–प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, आगमो वा ? प्रत्यक्षञ्चेत्; किम् ऐन्द्रियम्, अतीन्द्रिय वा ? न तावदैन्द्रियम्, तस्य अशेषकाहारनिहाराऽगोचरत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा "आहारा य निहारा केवलिणो पच्छन्ना" [　　] इत्यागमविरोध । 'अतीन्द्रिय तु तत्रैव प्रवर्त्तते' इत्यत्र कोशपान विधेयम्।

अथानुमानम्, किमत्र लिङ्गम्–तदुदय एव, मनुष्यत्वम्, देहस्थितित्व वा ? न तावत्तदुदय एव, अस्य त्रिदशादिभिर्व्यभिचारप्ररूपणात्। नापि मनुष्यत्वम्, अयोगकेवलिना अनेकान्तात्। अथास्य मनुष्यप्रकृत्यतिक्रान्तत्वात् नाऽनेन अनेकान्त, तर्हि असिद्धो हेतु, सयोगकेवलिनोऽपि तद्वत्तदतिक्रान्तत्वात्। तदुक्तम्–

"मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यत ॥"

[बृहत्स्व० अनन्त० श्लो० ७५] इति।

नापि देहस्थितित्वम्, तथाहि–'भगवतो देहस्थिति आहारपूर्विका देहस्थितित्वात् अस्मदादिदेहस्थितिवत्' इत्यत्र प्रयोगे किम् आहारमात्रपूर्वकत्व तत्स्थिते प्रसाध्येत, कवलाहारपूर्वकत्व वा ? प्रथमपक्षे 'सिद्धसाध्यता' इत्युक्तम्। द्वितीयविकल्पे तु त्रिदशादिभिर्व्यभिचार, तेषा कवलाहाराभावेऽपि देहस्थितिसम्भवात्। अथ 'औदारिकशरीरस्थितित्वात्' इति विशिष्य उच्यते ततो न व्यभिचार, तन्न, तदीयौदारिकशरीरस्थिते परमौदारिकशरीरस्थितिरूपतया अस्मदाद्यौदारिकशरीरस्थितिविलक्षणत्वात्। तस्याश्च केवल्यवस्थाया केशादिवृद्ध्यभाववत् तद्भुक्त्यभावेनोऽविरुद्ध एव।

अथ तद्वृद्ध्यभावो देवोपनीत न घातिकर्मक्षयज येन तद्वत् केवल्यवस्थाया तद्भुक्त्यभावोऽप्यापाद्येत, बालोत्पाटनानन्तर हि इन्द्रो यत्र नखकेशेषु भगवतो भ्रामयति अतस्तद्वृद्ध्यभाव इति, तदयुक्तम्, वशप्रभावत तेषा मूलतोऽभ्युत्थानाभावप्रसङ्गात्, सर्वतीर्थकृतामेकादशकेशाद्यप्रतीतिप्रसङ्गाच्च, न चैवम्, ऋषभादितीर्थ-

(१) वेद्यादिकर्मोदय । (२) केवलिनि कवलाहारसाधनसमर्थ । (३) कवलाहारसाधनसमर्थ । (४) "पच्छन्न आहारनीहारे अदिस्से मसचक्खुणा ।"–समवा० सू० ३४। (५) प्रत्यक्ष अशेषकाहारसाक्षात्करण । (६) अयोगिन मनुष्यप्रकृत्यतिक्रान्तत्वात्। (७) "एरिसगुणहि सव्व अइसयवत सुपरिमलामोय । ओरालिय च काय णायव्व अरहपुरिसस्स ॥"–बोधप्रा० गा० ३९। "तद् भगवत शरीरमौदारिक न भवति किन्तु परमौदारिकम्–शुद्धस्फटिकसकाश तेजोमूर्तिमय वपु । जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम्।"–प्रव० टी० पृ० २८। (८) परमौदारिकशरीरस्थित । (९) केशादिवृद्ध्यभाव । "अवट्ठिए केसमसुरोमनहे"–समवा० सू० ३४।

1 तु न प्रवर्त्तते ब०। 2 नानेकान्त ज०, न तेनानेकान्त श्र०। 3–वस्थितित्वात् ध०। 4 केशादिवृद्ध्य–श्र०,ब०। 5 देवोपनीत ब०। 6 घातिक्षयज ब० श्र०। 7 बालोत्पाटनान्तरं आ०,प्र०।

कृता केशनखादेरस्य गुरुलघुभावेन विलक्षणस्य स्वरूपे । ततो घातिकर्मक्षयावस्थायां यस्य यावन्तो नखकेशाः तस्य तावन्त एवाऽवतिष्ठन्ते इति । केवल्यवस्थायां घातिक्षयतो यथा तच्छरीरस्थितौ केशादिवृद्धयभावलक्षणोऽतिशयोऽस्ति तथा तद्भुक्त्यभावलक्षणोऽप्यस्तु अविशेषात् । तदवस्थायां स्वाभाव्यं भुक्त्यनभ्युपगमे अभिप्रेतविशेष (षेण) नखकेशावृद्धयादिश्चाभ्युपगम्यताम् । तदभावातिशयाभ्युपगमे वा भुक्त्यभावातिशयोऽप्यभ्युपगन्तव्यो विशेषाभावात् । तपोमाहात्म्यात् चतुरास्यत्वादिवच्च अभुक्तिपूर्वकत्वेऽपि शरीरस्थितेर्न कश्चिद्विरोधः । दृश्यते हि पक्षादरतो भुञ्जानस्य यादृशी शरीरस्थितिः तादृश्येव प्रतिपक्षभावनोपेतस्य चतुर्थषष्ठादिभोजनस्यापि, तथा प्रतिदिनं भुञ्जानस्य यादृशी सा तादृश्येव एकद्वयादिदिनान्तरितभोजिनोऽपि । श्रूयते च बाहुबलिप्रभृतीनां संवत्सरप्रमिताहारवैकल्येऽपि विशिष्टा शरीरस्थितिः । आयुः कर्मैव हि प्रधानं तत्स्थितेर्निमित्तम्, भुक्त्यादि तु सहकारिमात्रम् । तच्छरीरोपचयोऽपि लाभान्तरायप्रक्षयात् प्रतिसमयं तदुपचयनिमित्तभूतानां दिव्यपरमाणूनां लाभाद् घटते ।

ननु मासं वर्षं वा तदभावे तत्स्थितावपि नाऽनन्तं तत्स्थितिः पुनः तदाहारेऽप्रतिप्रतीतेरिति चेत्; कुतः तत्स्थितेः आपादनप्रतीतिः -प्रत्यक्षात्, अनुमानाद्वा ? यदि प्रत्यक्षात्, सर्वज्ञवीतरागाय दत्तो जलाञ्जलिः तद्वत् तेन तदप्रतीतेरप्यविशेषात् । अनुमानात् तत्सिद्धिरन्यत्राप्यविशिष्टा । यथैव हि 'ज्ञानमरूपं दोषावरणापकर्षं क्वचित् परमप्रकर्षमापद्यते प्रकृष्यमाणत्वात् परिमाणवत्' इत्युच्यते, तथा 'एकद्व्यादिदिनान्तरितभोजिनाम् अभुक्तिपूर्वको देहस्थितिप्रकर्षः क्वचित् परमकाष्ठामापद्यते तरतमात् तद्वदेव'

(१ कवलिनः । (२) तपोमाहात्म्याच्चतुरास्यत्वादिवच्चाभुक्तिपूर्वकत्वे तस्याः को विरोधः ? -प्रमेयक० पृ० ३०२। (३) द्रष्टव्यम्-पृ० ८५६ टि० ३। 'लाभान्तरायस्याशेषनिरासात् परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलिनां यतः शरीरबलाधानहेतवोऽन्यमनुजासाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्माः अनन्ताः प्रतिसमयं पुद्गलाः सम्बन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभः । तस्मादौदारिकशरीरस्य किञ्चिन्न्यूनपूर्वकोटिवर्षस्थितिः कवलाहारमन्तरेण कथं समवतीति यद्गतं तन्निराकृतं विज्ञायते ।' -राजवा० २।४। 'लाभान्तरायक्षयात्लाभः परमशुभपुद्गलादानलक्षणः परमौदारिकशरीरस्थितिहेतुः । -तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३१४। प्रमेयक० पृ० ३०२। (४) 'मासं वर्षं यानि च तानि शरीराणि तेन भुक्तेन । तिष्ठन्ति न चाहारं नाथया पूर्वमपि मुक्ति ॥ -केवलिभु० श्लो० २२। स्या० र० पृ० ४८०। (५) 'विपक्षभावनावशाद् रागादीनां हानिनिरवशेषाणां केवलिनि तत्परमप्रकर्षसिद्धेः वीतरागतासम्भवः भोजनाभावपरमप्रकर्षोऽपि तत्र किं न स्यात् ? तद्भावनातो भोजनादावपि हानि-तिशयदर्शनाविशेषात् । तथाहि एकस्मिन् दिने योऽनेकवारान् भुङ्क्ते कदाचित् विपक्षभावनावशात् पुनरेकवारं भुङ्क्ते कश्चित्पुनरेकदिनाद्यन्तरितभोजनः अन्यः पुनः पक्षमाससंवत्सराद्यन्तरितभोजन इति । -रत्नक० टी० पृ० ६। प्रमेयक० पृ० ३०२।

1 केवलाव-ब० श्र० । 2-णातिन-श्र० । 3 भुक्त्युपगमे ब० । 4-तिशयो भ्युप-आ० । 5-दिन भोजन भुञ्जा-ब । 6-भावनाऽपि श्र० । 7-ते श्र० । 8 कुतस्तत्रस्थि-आ० । 9 तत तत्प्रता-आ० ।

इत्युच्यतामविशेषात् । तत्र शरीरस्थितेरपि भगवतो वेद्याद्युदयात् क्षुदुदय कवलाहार-प्रसाधनसमर्थ प्रत्येतु शक्य ।

असिद्धश्च अविकलकारणत्व मुक्ते, मोहनीयसहाय हि वेद्यादिकर्म क्षुदादिकार्य-करणेऽविकलसामर्थ्यं भवति, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् । यथैव हि पतिते सैन्यनायके असामर्थ्यं सैन्यस्य, तथा मोहनीये विनष्टे अघातिकर्मणामिति । यथा च निर्विषीकृत मन्त्रिणा उपयुज्यमानमपि विष न दाहमूर्च्छादि कर्तुं समर्थम् तथा शुक्लध्यानानलनिर्दग्धमोहोदय वेद्यादि क्षुधादिकमिति । प्रयोग –भगवति बुभुक्षा नास्ति, तत्कारणमोहाभावात्, यत्र यत्कारणाभावो न तत्र तत्कार्यम् यथा अनग्निप्रदेशे धूम, नास्ति च अर्हति मोह इति ।

किञ्च, कर्मणामुदयो यद्यनपेक्ष कार्यमुत्पादयेत्, तर्हि त्रिवेदाना कषायाणा वा प्रमत्तादिषु उदयोऽस्ति इति मैथुन भ्रुकुट्यादिकञ्च स्यात्, ततश्च मनस सङ्क्षोभात् कथ शुक्लध्यानावाप्ति, क्षपकश्रेण्यारोहण वा यत कर्मक्षपणा स्यात्? नन्वेव नामाद्युदयोऽपि तत्र स्वकार्यकारी न स्यात्, इत्ययुक्तम्, शुभप्रकृतीना तत्र अप्रतिबद्धत्वेन स्वकार्यकारित्वोपपत्ते । यथैव हि बलवता राज्ञा स्वमार्गानुसारिणा लब्धे देशे दुष्टा जीवन्तोऽपि न स्वदुष्टाचरणविधातार सुजनास्तु अप्रतिहततया स्वकार्यस्य विधातार, तथा प्रकृतमपि। कथ पुनरशुभप्रकृतीनामेव अर्हति प्रतिबद्ध सामर्थ्यं न पुन शुभप्रकृतीनामिति चेत्? उच्यते–अशुभप्रकृतीनामर्हन् अनुभाग घातयति न तु शुभप्रकृतीनाम्, यतो गुणघातिना दण्डो नाऽदोषाणाम् ।

यदि च प्रतिबद्धसामर्थ्यमप्यसातावेदनीय स्वकार्यकारि स्यात् तर्हि दण्डकपाटादिविधान भगवतो व्यर्थम् । तद्धि यदा न्यूनमायु वेदनीयादिकमधिकस्थितिक भवति तदा तेन कर्मणा समस्थित्यर्थं विधीयते । नच अधिकस्थितिकत्वेन फलदानसमर्थं कर्म उपायशतेनापि अन्यथा कर्तुं शक्यमिति न कश्चिन्मुक्त स्यात् । अथ तपोमाहात्म्यात्

(१) "घादि व वेयणीय मोहस्स बलेण घाददे जीव ।"–गो० कर्मका० गा० १९। "मोहनीयकर्मसहायस्यैव वेदनीयस्य बुभुक्षोत्पादने सामर्थ्यात् ।"–रत्नक० टी० पृ० ६। प्रमेयक० पृ० ३०३। 'यथा ब्रीह्यादिबीज जलसहकारिकारणसहितमङ्कुरादिकार्य जनयति तथैवासद्वेद्यकर्म मोहनीयसहकारिकारणसहित क्षुधादिकार्यमुत्पादयति ।"–प्रव० टी० पृ० २८। (२) "यदि मोहाभावेऽपि क्षुधादिपरीषह जनयति तर्हि वधरोगादिपरीषहमपि जनयतु, न च तथा ।"–प्रव० टी० पृ० २८। प्रमेयक० पृ० ३०३ । (३) "शुभप्रकृतीना तत्राप्रतिबद्धत्वेन "–प्रमेयक० पृ० ३०३ । (४) "द्रव्यस्वभावत्वात् ... बहिरागमन समुद्घात । ... वेदनीयस्य बहुत्वादल्पत्वाच्चायुषोऽनाभोगपूर्वकमायु समीकरणार्थ द्रव्यस्वभावत्वात् सुराद्रव्यस्य फेनवेगबुद्बुदाविर्भावोपशमनवद्देहस्थात्मप्रदेशानां बहि समुद्घातन केवलिसमुद्घात ।"–राजवा० पृ० ५३। 'मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स । णिग्गमण देहादो होदि समुग्घादणामं तु ।"–जीवका० गा० ६६७ ।

1–धातिकर्म–ब० आ० । 2 उपभुज्यमा–ब० । 3–मोहसहाय आ०, श्र० । 4 च श्र० । 5 क्षपणये–आ० । ... 7 शुभना भ्रम–ब० । 8–बद्धसाम–ब० । 9 दण्डप्रतरादिवि–

[1]निर्जीर्णम् अपि परिशिष्टं येन फलदानाऽसमर्थम् [2]आयुःकर्मवत् धार्यते, तथा वेदनीयमपि तद्दानासमर्थं ध्रियमाणमविशेषात्। [3]तत एव कारणमस्ति इत्येतावतैव कार्योत्पत्तिः, अन्यथा इन्द्रियादिकार्यस्याप्युत्पत्तेः भगवतो मतिज्ञानस्य रागादेश्चाप्रसङ्गः। अथ आवरणक्षयोपशमस्य मोहनीयकर्मणश्च सहकारिणो विरहात् नेन्द्रियादि स्वकार्यं कुर्वाणम्, अत एव वेदनीयमप्यविशेषात्।

न चैव बुभुक्षा मोहनीयानपेक्षस्य[4] वेदनीयस्यैव कार्यम् येन अत्यन्तप्रक्षीणमोहेऽपि स्यात्, [5]तथाहि–बुभुक्षा मोहनीयानपेक्षस्य वेदनीयस्य कार्यं न भवति इच्छात्वात् रिरंसावत्। भोक्तुमिच्छा हि बुभुक्षा, सा कथं वेदनीयस्यैव कार्यम्? अन्यथा योन्यादिषु रन्तुमिच्छा रिरंसापि तत्कार्यं स्यात्, तथा च कवलाहारवत् स्त्र्यादावपि तत्प्रसङ्गात् [illegible]स्य निषेधः। यथा च रिरंसा प्रतिपक्षभावनातो निवर्तते तथा बुभुक्षापि। प्रयोगः– भोजनाकाङ्क्षा प्रतिपक्षभावनातो निवर्तते आकाङ्क्षात्वात् स्त्र्याद्याकाङ्क्षावत्। ननु तद्भावनाकाले तन्निवृत्तिः तदभावे तु प्रवृत्तिः[6] पुनः स्यात्, इत्येतत् स्त्र्याद्याकाङ्क्षायामपि समानम्। यथा चास्याः चेतसः प्रतिपक्षभावनाप्रकर्षात् अत्यन्तनिवृत्तिः तथा भोजनाकाङ्क्षाया अपि, यथा च निर्मोहत्वेन स्त्र्याद्याकाङ्क्षा विरुद्धा तथा बुभुक्षापि। तथा च प्रयोगः–न बुभुक्षावान् केवली, तद्विरोधिनिर्मोहत्वस्वभावोपेतत्वात्, यो यद्विरोधिस्वभावोपेतः नासौ तद्वान् यथा उष्णस्पर्शस्वभावोपेतः कश्चित् प्रदेशः न शीतस्पर्शवान्, क्षुद्विरोधिनिर्मोहत्वस्वभावोपेतश्च केवलीति।

एतेन इदमपि प्रत्युक्तम्–'प्रतिपक्षभावनातः क्षुधो निवृत्तौ क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थं शास्त्रे नैव उपदिश्येत न पिण्डैषणा' इत्यादि, चेतसो हि प्रतिपक्षभावनाप्रकर्षासिद्धेः प्राक् पिण्डैषणोपदेशात्, तत्प्रकर्षसिद्धौ तु कामवेदनानिवृत्तिवत् निःशेषक्षुद्वेदनानिवृत्तिसिद्धेः न किञ्चित् तद्वेदनाप्रतीकारार्थं द्रव्यान्तरैषणया? [7]अथ आकाङ्क्षारूपा क्षुत् भवति तेन वीतमोहेऽपि [8]अस्याः सम्भवः, कथमेवं रिरंसाया अपि अनाकाङ्क्षारूपायाः तत्र सम्भवो न स्यात्? अथ अनाकाङ्क्षारूपताऽस्याः प्रतीतिविरुद्धा, तदेतद् बुभुक्षायामपि समानम्। अस्तु वाऽनाकाङ्क्षारूपत्वमस्याः, तथापि दुःखरूपत्वात् अनन्तसुखे भगवत्यसम्भवः, यद् दुःखरूपं न तत्तत्र सम्भवति यथा कामपीडादि, दुःखरूपा च क्षुदिति।

(१) 'भोक्तुमिच्छा हि बुभुक्षा सा मोहनीयकार्यत्वात् कथं प्रक्षीणमोहे भगवति स्यात् अन्यथा रिरंसाया अपि तत्र प्रसङ्गात्।'–रत्नक० टी० पृ० ६। प्रमेयक० पृ०३०४। (२) पृ०८५२ पं०१५। (३) आकाङ्क्षारूपत्वाभावात्। (४) केवलिनि। (५) रिरंसायाः। (६) 'क्षुत्पीडासंभवे चास्य कथमनन्तसौख्यं स्यात् यतोऽनन्तचतुष्टयस्वामिताऽस्य।'–रत्नक० टी० पृ० ६। 'यदि क्षुधा बाधास्ति तर्हि क्षुधा क्षीणशक्तेरनन्तवीर्यं नास्ति तथैव क्षुधा दुःखितस्य अनन्तसुखमपि नास्ति।'–प्रव० टी० पृ० २८। प्रमेयक० पृ० ३११।

1-निर्जीर्णस्थितिक-आ०। 2 आयुःकर्म क्रियते ब०। 3 तत एव ब०। 4 मोहनीयनिरपेक्ष-ब०। 5 तथाहि चायुम्-ब०। 6 प्रवृत्तिः स्यात् ब०। 7 अथ कांक्षारूपा आ०। 8 अस्यासंभवः ब०, श्र०।

यत्र हि अनन्तसुखं न तत्र दुःखलेशोऽप्यस्ति यथा सिद्धेषु, अनन्तसुखञ्च अर्हति इति । ननु सकलाबाधानिवृत्त्यात्मकं यदनन्तं सुखं तत्राभिप्रेतं तदसिद्धम्, क्षुद्बाधाभ्युपगमात्, सकलकर्मविप्रमुक्तानां सिद्धानामेव हि तथाविधं तदस्ति नार्हताम् तत्र वेदनीयोदयसभवादिति, तदसत्, तदुदयस्य तत्र तद्बाधाहेतुत्वाभावप्रतिपादनात् ।

किञ्च, अर्हति अनन्तं सुखं सर्वप्रदेशव्यापि अव्याहतमास्ते अप्रादेशिकत्वात्तस्य, सुखदुःखयोरेकत्रैकदा विरोधतोऽसंभवाच्च, तत्कथं क्षुद्दुःखलेशोऽपि तत्र संभाव्य ? अन्यथा अस्मदादिसुखवत् प्रादेशिकमेव तत्सुखं स्यात् । अतः तथाविधं सुखं भगवति सन्निधीयमानं स्वनिरुद्धं दुःखं निवर्त्तयति यथा अग्निः शीतम् । तन्निवृत्तौ च तद्व्याप्याया क्षुधो निवृत्तिः, व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्यावश्यं निवृत्तेः वृक्षनिवृत्तौ शिंशपावत् । प्रयोगः–यत्र यद्विरोधि बलवदस्ति न तत्र अभ्युदितकारणमपि तद् भवति यथा अत्युष्णप्रदेशे शीतम्, अस्ति च क्षुद्दुःखविरोधि बलवत् केवलिनि अनन्तसुखमिति । तथा, यत्कार्यविरोध्यनिवर्त्त्यं यत्रास्ति तत्र तदविकलमपि स्वकार्यं न करोति यथा श्लेष्मादिविरुद्धाऽनिवर्त्त्य-पित्तविकाराक्रान्ते पुरुषे न दध्यादि श्लेष्मादि करोति, वेद्यफलविरुद्धाऽनिवर्त्त्यसुखञ्च भगवति इति । ततो निराकृतमेतत्–'नहि बालाग्रं ज्ञानाद्यपचये क्षुदुपचयः' इत्यादि, अनन्तसुखसहभाविनामेव ज्ञानादीनां क्षुद्विरोधित्वव्यवस्थितेः ।

यदप्युक्तम्–'नहि केवलिज्ञानादयः क्षुधं विरुन्धन्ति इत्यर्वाग्दृशा प्रतिपत्तुं शक्यमतीन्द्रियत्वात्तेषाम्' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, अतीन्द्रियत्वात्तेषां तद्विरोधित्वाऽप्रतिपत्तौ सर्वार्थसाक्षात्कारित्वादेरपि अप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । यथैव हि तेषामतीन्द्रियत्वात् 'एतत्सन्निधौ क्षुन्न भवति' इत्यर्वाग्दृशा प्रत्येतुं न शक्यते तथा 'एते सर्वसाक्षात्कारिणः' इत्यपि । अथ अनुमानात्तेषां तत्साक्षात्कारित्वं प्रतीयते, तद्विरोधित्वेन किमपराद्धं येन तेषामनुमानात् तन्न प्रतीयेत ? प्रतिपादितञ्च क्षुद्विरोधित्वानुमानं प्राक् इत्यलमतिप्रसङ्गेन । सर्वज्ञत्वाच्च भगवतः क्षुदभावः, क्षुदभ्युपगमे हि तद्बाधया सर्वज्ञता हीयेत निःशक्तित्वञ्च स्यात् । अस्मदादौ हि क्षुत्प्रभवपीडाक्रान्ते ज्ञानादेरभावः सुप्रतीतः 'क्षुत्पीडितोऽहं न किञ्चिज्जानामि, न किञ्चित्पश्यामि, उत्थातुमपि न शक्नोमि' इति प्रतीतेः ।

यदप्युक्तम्–'ज्ञानावरणादिकर्मोदयनिबन्धनः तत्क्षयः' इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्,

(१) वेदनीयोदयस्य । (२) सर्वप्रदेशव्यापि अनन्तसुखम् । (३) नास्ति केवलिनि क्षुद्दुःखं तद्बलवद्विरोध्यनन्तसुखसद्भावात् । 'यत्र यद्विरोधि' –प्रमेयक० पृ० ३०५ । (४) केवलिनि वेदनीयं स्वकार्यं क्षुद्दुःखं न करोति तत्कार्यविरोध्यनिवर्त्यअनन्तसुखसद्भावात् । (५) पृ० ८५२ प० २० । (६) पृ० ८५३ प० २ । (७) केवलज्ञानादीनाम् । (८) क्षुद्विरोधित्वम् । (९) पृ० ८५४ प० ४ ।

1 सिद्धेऽनन्त–ब० । 2 यदनन्त सुखं ब०, यदनन्त आ० । 3–गमात्सकवि–ब० । 4–निवृत्तिय आ० । 5 तथाविधसुख ब० । 6 यथा आ० ब० । 7 प्रतीयते ब० । 8 क्षुदविरो–आ०. क्षुद्विरत्वानुमा–ब० ।

प्रक्षीणाशेषावरणस्य भगवतो ज्ञानादिक्षयाभावात्, प्रक्षीणाशेषमोहस्य क्षुत्पीडाहेतुत्वस्याप्यनुपपत्तेः। 'मोहनीयसहायं वेदनीयं क्षुत्करणे प्रभु' इति प्राक् प्रपञ्चतः समर्थितत्वात्।

"एकादश जिने" [तत्त्वार्थसू० ९।११] इत्यागमोऽपि क्षुधाद्येकादशपरीषहप्रतिषेधपरः प्रतिपत्तव्यः, 'एकेन अधिका न दश एकादश' इति व्युत्पत्तेः। मोहनीयसहायस्य वेदनीयस्य कार्यभूताः क्षुधाद्येकादशपरीषहाः, तत्सहायस्य च अर्हति अत्यन्तप्रक्षयात् न वेदनीयोदयमात्रात् तत्र ते सन्ति, अन्यथा रोगादिपरीषहाणामपि तत्र सत्त्वप्रसङ्गात्, अस्मदादौ तदुदये क्षुत्पिपासावद् रोगादीनामप्युपलम्भात्। छद्मस्थजिनेषु भोगभूमिजादिषु च तदुदयेऽपि रोगादीनामभावाद् व्यभिचारे कवलाहारस्यापि व्यभिचारोऽस्तु, देवादिषु तदुदयेऽपि तदभावात्।

यच्चान्यदुक्तम्–'उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिं विहरति' इत्यादि, तदप्यचारु, शरीरस्थितेः आयुःकर्मण एव नियतनिमित्तत्वप्रतिपादनात्, भुक्तिं विनापि आकालं तत्स्थितेः समर्थितत्वाच्च।

यदप्यभिहितम्–'भुक्तेर्दोषरूपतया भगवत्यसंभवे वचनादेरप्यसंभवः स्यात्' इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्, वचनादेः तीर्थकरत्वकर्मोदयापादितत्वात् दोषरूपत्वासंभवाच्च, नहि अष्टादशदोषेषु मध्ये क्षुधादिवद् वचनमपि पठ्यते। भुक्तेरपि वेदनीयोदयापादितत्वात् तत्र सत्त्वमस्तु, इत्यप्यसङ्गतम्, मोहसद्भावसहायस्यैवास्य तत्सम्पादने सामर्थ्यप्रतिपादनात्। यथैव हि मोहप्रक्षयसहायं तीर्थकरत्वं विशिष्टवचनादिविधाने समर्थं तथा मोहसद्भावसहायं वेद्यं भुक्त्यादिविधाने इति।

यदप्युक्तम्–'अवधिज्ञानिवत् सकलज्ञस्य सकलं जगत्पश्यतोऽपि अन्तरायासंभवः'

---

(१) अथवा 'एकादश जिने न सन्ति' इति वाक्यशेषः कल्पनीयः सोपस्कारत्वात्सूत्राणाम्। –सर्वार्थसि० ९।११। 'अथवा नायं वाक्यशेषः 'एकादश जिने न सन्ति' इति। किं तर्हि? एकादश सन्तीति। कथम्? उपचारात्, यथा निरवशेषनिरस्तज्ञानावरणे परिपूर्णज्ञाने एकाग्रचिन्तानिरोधाभावेऽपि कर्मरजोविधूननफलसंभवात् ध्यानोपचारः तथा क्षुधादिवेदनाभावपरीषहाभावेऽपि वेदनीयकर्मोदयद्रव्यपरीषहसद्भावात् एकादश जिने सन्तीत्युपचारो युक्तः।'–राजवा० ९।११। "नाम्नैव केवलिन्येकादश परीषहाः सन्ति न पुनरस्तित्वेन केवलाद् वेदनीयाद् व्यक्तक्षुधाद्यसंभवादित्युपचारतस्तत्र परिज्ञातव्याः।–तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४९२। 'तेण असादणिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि।'–कर्मका० गा० २७५। क्षुत्पिपासादयो यस्मात् समर्था मोहसंश्रयाः। द्रव्यकर्मास्त्यतस्तासां तत्रमुपचारतः। –भावस० श्लो० २३४। यच्चोपचारतोऽप्येकादश परीषहा न संभाव्यन्ते तत्र तन्निषेधपरत्वात् सूत्रस्य एकेनाधिका न दश परीषहा जिने एकादश जिने इति सूच्यते।'–प्रमेयक० पृ० ३०७। (२) वेदनायोदय। (३) पृ० ८५४ पं० ८। (४) पृ० ८५४ पं० १५। (५) क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः। न रागद्वेषमोहाश्च चशब्दात् चिन्तारतिनिद्राविस्मयमदस्वेदखेदा गृह्यन्ते। एते अष्टादश दोषाः।'–रत्नक०, टी० १।६। (६) पृ० ८५५ पं० १।

---

1 तत्र न सन्ति श्र०। 2 भुक्तेरपि वेदनीयोदयापादितत्वात् तत्र सत्त्वमस्तु इत्यप्यसंभवाच्च नहि अष्टादश–आ०। 3 दोषोदयत्वा–ब०। 4 वेदनीयोपादि–आ०। 5 मोहसहा–ब०, श्र०।

इत्यादि, तदप्यनुपपन्नम्, तज्ज्ञानस्य[1] सोपयोगतया तत्काल[2] एव स्वविषयाऽशेषार्थसाक्षात्करणसंभवात्। यदैव हि अवधिज्ञानोपयोगमवधिज्ञानी करोति तदैवासौ तद्विषयभूतमशेषं वस्तु पश्यति नान्यदेति, भोजनकाले यद्यसौ उपयोगं करोति तदाऽन्तरायो भवत्येव, नचायं प्रकारः केवलज्ञाने संभवति तस्य[3] सदा उपयुक्तत्वात्।

यदप्युक्तम्[4]–'नेन्द्रियार्थसम्बन्धमात्रेण मतिज्ञानं भवति' इत्यादि, तदप्यसुन्दरम्, विषयविषयिसम्बन्धे समुपजायमानस्य ज्ञानस्य अमतिज्ञानत्वे मतिज्ञानवार्त्तोच्छेदप्रसङ्गात्। अथ मतिज्ञानावरणक्षयोपशमस्य सहकारिणोऽभावात् नेन्द्रियाणि स्वविषयसम्बन्धेऽपि स्वकार्यमाविर्भावयन्ति, तर्हि मोहनीयस्यापि सहकारिणोऽभावात् वेद्यमपि स्वकार्यं न कुर्यात् इत्युक्तम्।

किञ्च, किमर्थमसौ भुङ्क्ते–शरीरोपचयार्थम्, ज्ञानदर्शनवीर्यादिक्षयनिवृत्त्यर्थम्, क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थम्, आयुषोऽसाधितमुक्तिकस्यापवर्त्तननिवृत्त्यर्थम्, रसगृद्ध्युपशमार्थम्, लोकानुग्रहार्थं वा ? न तावत् शरीरोपचयार्थम्, लाभान्तरायप्रक्षयात् प्रतिसमयं विशिष्टपरमाणुलाभादेव तत्सिद्धेः। तदर्थं तद्ग्रहणे च कथमसौ निर्ग्रन्थः स्यात् शरीरसम्मूर्च्छासंभवात् प्राकृतपुरुषवत्। नापि ज्ञानादिक्षयनिवृत्त्यर्थम्, तत्क्षयनिबन्धनाभावादेव तत्क्षयप्रसिद्धेः। ज्ञानादिक्षयस्य हि निबन्धनं ज्ञानावरणादिक्षयोपशमः, तस्मिन् सति भोजनाद्यभावे तत्क्षयप्रतीतेः। स च प्रक्षीणाशेषावरणे भगवति नास्ति इति कथं तत्प्रक्षयाशङ्काऽपि यतो भुक्तिः स्यात् ? नापि क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थम्, अनन्तसुखवीर्ये भगवति अस्याः संभवाभावस्य उक्तत्वात्। नापि आयुषोऽसाधितमुक्तिकस्य अपवर्त्तननिवृत्त्यर्थम्, चरमोत्तमदेहानामनपवर्त्यायुष्कत्वादेव तथाविधस्यास्य अपवर्त्तनानुपपत्तेः। नापि रसगृद्ध्युपशमार्थम्, वीतमोहस्य रसगृद्धेरेवानुपपत्तेः। नापि लोकानुग्रहार्थम्, अनन्तवीर्यस्य वीर्यक्षयनिबन्धनाभावतो भुक्तिमन्तरेणापि लोकमनुग्रहीतुं समर्थत्वात्।

यच्चोक्तम्–'देवच्छन्दके गत्वा यथासुखमास्ते' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, यत

(१) अवधिज्ञानस्य। (२) उपयोगसमये। (३) केवलज्ञानस्य। (४) पृ० ८५५ प० ४। (५) तुलना–"ण बलाउसाहणट्ठं ण सरीरस्स य चयट्ठ तेजट्ठं। णाणट्ठ संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजंति।"–मूलाचा० ६। ६२। प्रव० टी० पृ० २९। प्रमेयक० पृ० ३०६। (६) शरीरोपचयार्थम्। (७) ज्ञानावरणीयकर्मणोऽभावादेव। (८) 'औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।'–तत्त्वार्थसू० २।५३। 'चरम उत्तमो देहो येषां ते चरमोत्तमदेहाः विपरीतसंसाराः तज्जन्मनिर्वाणार्हा इत्यर्थः।'–सर्वार्थसि०। "चरमदेहा अन्त्यदेहा इत्यर्थः ये तेनैव शरीरेण सिद्ध्यन्ति, उत्तमपुरुषाः तीर्थकरचक्रवर्त्यर्धचक्रवर्तिनः"–तत्त्वार्थाधि०। 'देवा नरइयावि य असंखवासाउया य तिरमणुआ। उत्तमपुरिसा य तहा चरमसरीरा य निरुवक्कमा॥"–ठाणांगवि०। (९) "बाह्यप्रत्ययवशादायुषो ह्रासोऽपवर्तः।"–राजवा० २।५३। (१०) पृ० ५५८ प० १०।

1 सदोपयुक्त–श्र०। 2 आयुषोऽनुदितमुक्ति–श्र०। 3 शरीरमूर्च्छास–श्र०। 4 अपवर्त्तनिव–ब०, अपवर्त्तन निव–आ०। 5 भुक्तिम–श्र०।

समवशरणं विहाय भगवान् किमर्थं तत्र गच्छति–मनोविक्षेपपरिहारेण ध्यानसिद्ध्यर्थम्, निरोधाक्षमत्वतो यथासुखमवस्थानार्थम्, रहस्यकार्यानुष्ठानार्थं वा ? तत्राद्य पक्षोऽयुक्त , अमनस्कतया भगवतो मनोविक्षेपाऽसंभवात्, योगनिरोधसद्भावेन उपचारत तत्र ध्यानाभिधानाच्च। द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्न , अनन्तवीर्यस्य निरोधाऽक्षमत्वानुपपत्ते । अनन्तसुखस्य तु सलेशस्याप्यभावतो 'यथासुखम्' इत्यस्यापि दुर्घटत्वात् ।

रहस्यकार्यञ्च नित्यम्, अनित्य वा ? न तावन्नित्यम्, प्रक्षीणाशेषकर्मोपाधस्य नित्य-कार्यानुष्ठाननिरोधात् । अथ अनित्यम्, तत्किं भोजनम्, कर्मक्षपणं वा ? न तावद्भोजनम्, तस्य अमोहे भगवति प्रतिषिद्धत्वात् । अप्रतिषेधे वा कस्मादसौ एकान्ते गत्वा भुङ्क्ते–दृष्टि[दोष]भयात्, याचकभयात्, अनुचितानुष्ठानत्वाद्वा ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्न , भगवतो दृष्टिदोषागोचरत्वात् । यदीयेन हि नाम्ना अन्येषां दृष्टिदोषादेरुपशमो भवति स कथं तद्दोषगोचर स्यात् ? द्वितीयविकल्पे तु भगवतो महद्दीनत्वं प्रख्यापितम् । न खलु महासत्त्वस्य पुरुषस्य लभ्यान् बुभुक्षापीडितशिष्यान् विहाय पितुरिव पुत्रम् एकान्ते गत्वा भोजनं युक्तम् । अनुचितानुष्ठानत्वे तु न तत्र तत्परिकल्पना श्रेयसी स्त्र्यादिसेवनपरिकल्पनावत् ।

कर्मणामपि क्षपणं पूर्वोपार्जितानाम्, भुक्तिकालोपार्जितानां वा तत्र अर्हता विधीयते ? पूर्वोपार्जितानाञ्चेत्, घातिनाम्, अघातिनां वा ? न तावत् घातिनाम्, तेषां पूर्वमेव क्षपितत्वात् । नाप्यघातिनाम्, तेषां यथाकालं क्षपयिष्यमाणत्वात्, सततं शुक्लध्यानानलेन कर्मेन्धननिचयनिर्दहनसमर्थत्वाच्चास्य । नहि 'भगवत शुक्लध्यानानलो देवच्छन्दके एव प्रज्वलति न तु समवशरणादौ' इत्यभ्युपगमो युक्त , तत्रस्थस्यास्य ध्यानान्तरप्रसङ्गात् ।

भुक्तिकालोपार्जितकर्मणां तु कथं क्षपणम् ? प्रतिक्रमणतश्चेत्, अस्तु, परन्तु भगवतो निर्दोषता दुर्लभा । य प्रतिक्रमणं करोति नासौ निर्दोष यथा अस्मदादि , प्रतिक्रमणं करोति च भगवानिति । कृतदोषनिराकरणं हि प्रतिक्रमणम्, तत्कुर्वत कथमस्य निर्दोषता स्यात् ? अथ ना (सौ) न करोति, कथं भुक्तिक्रियात समुत्पन्नदोषं निराकुर्यात् ? आहारकथामात्रेणापि हि अप्रमत्तोऽपि सन् साधु प्रमत्तो भवति नार्हन् भुञ्जानोऽपि इति महच्चित्रम् । दोषवत्त्वे चास्य श्रेणीत पतितत्वाच्च केवलभाक्त्वं स्यात् ।

(१) निरस्तघातिकर्मावरणे युगपत् सकलपदार्थावभासिकेवलज्ञानातिशये चिन्तानिरोधाभावेऽपि तत्फलकर्मनिर्हरणफलापेक्षया ध्यानोपचार्यम् । –सर्वार्थसि० ९।११। (२) एकासने शरीरावस्थानस्य निरोध । (३)एकान्ते । (४)समवशरणस्थितस्य भगवत । (५) तुलना–किं स्वामी भुक्त्वा प्रतिक्रमणादिकं करोति न वा ? –प्रमेयक० पृ० ३०६ । (६) मिथ्या दुष्कृताभिधानाभिव्यक्तप्रतिक्रियं प्रतिक्रमणम् । –सर्वार्थसि० ९।२२। (७) प्रतिक्रमणम् । (८) 'अप्रमत्तो हि साधुराहारकथामात्रेणापि प्रमत्तो भवति नार्हन् भुञ्जानोऽपीति महच्चित्रम् ।' –रत्नक० टी० पृ० ८६४। प्रमेयक० पृ० ३०६ ।

1 तत्राद्यपक्षो–श्र० । 2 वचनम–श्र० । 3 प्रज्वलित श्र०, ज्वलति आ० । 4 परं स्व भग–श्र० । 5 कथं ब० । 6 प्रतिक्रमि–श्र० ।

यदप्युक्तम्–'भुञ्जानोऽसौ गणधरदेवैरपि न दृश्यते' इत्यादि, तत्रादर्शने किं कारणम्–बहलतम पटलाच्छादितत्वम्, काण्डपटाद्यावृतत्वम्, विद्याविशेषेण स्वस्य तिरोधानम्, अन्यजनातिशायी माहात्म्यविशेषो वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्न, तद्देहदीप्त्या तम पटलस्य निर्मूलोन्मूलितत्वात् । काण्डपटाद्यावृताय च तस्मै कथ भिक्षा दीयेत ? विद्याविशेषाभ्युपगमे चास्य विद्याधरादिवत् निर्ग्रन्थताविरोध । अथ अन्यजनातिशायी माहात्म्यविशेष कश्चिदस्येष्यते येन भुञ्जानो नाऽवलोक्यते इति, ननु अन्यजनातिशायी भोजनाभावलक्षण एवाऽतिशय अस्य इष्यताम् तस्यैव प्रमाणोपपन्नत्वात् । ततो भगवतोऽनन्तचतुष्टयलाभलक्षणा जीवन्मुक्तिमिच्छता अनन्तसौख्यमेष्टव्यम् । तदिष्टौ च च भुक्त्यभावोऽभ्युपगन्तव्य तमन्तरेणास्य अनन्तसौख्यानुपपत्ते प्रतिपादितत्वात् इति ॥ छ ॥

तल्लक्षणा च मुक्ति पुंस एव न स्त्रिया, तस्या नपुंसकवत्तद्योग्यत्वात्, तन्मुक्तिप्रसाधकप्रमाणासभवाच्च ।

ननु इदमस्ति तत्प्रसाधक प्रमाणम्–अस्ति स्त्रीणां निर्वाणम् अविकलकारणत्वात् पुंवत् । निर्वाणस्य हि कारणं रत्नत्रयम्, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग " [तत्त्वार्थसू० १।१] इत्यभिधानात् । तच्च स्त्रीषु विद्यते, तथाहि–सर्वज्ञोक्तार्थानाम् 'इदमित्थमेव' इति श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्, यथावदवगम सम्यग्ज्ञानम्, तदुक्तव्रतस्य यथावदनुष्ठान सम्यक्चारित्रम्, एतद्रत्नत्रयम् । एतच्च स्त्रीषु सिद्ध्यत् सर्वकर्मविप्रमोक्षलक्षण मोक्ष साधयति । नहि स्त्रीषु रत्नत्रयस्य केनचिद्विरोधोऽस्ति यतोऽविकलकारणत्वासिद्धि स्यात् ।

स्त्रीनिर्वाणवादे सितपटाना शाकटायनस्य च पूर्वपक्ष –

---

(१) पृ० ८५५ पं० १३ । (२) "तत्रादर्शनप्रयुक्तसेवित्वान्नैकान्तमाश्रित्य भुङ्क्ते इति कारणम्, बहलान्धकारस्थितभोजनं वा, विद्याविशेषेण स्वस्य तिरोधानं वा ?"–प्रमेयक० पृ० ३०७ । 'तत्र तु प्रच्छन्नभुक्तौ मायास्थान दैन्यवृत्ति अन्येऽपि पिण्डशुद्धिकथिता बहवो दोषा ।'–प्रव० टी० पृ० २९ । (३) 'तर्हि परमौदारिकशरीरत्वाद् भुक्तिरेव नास्त्ययमेवानिशय किं न भवति ।'–प्रव० टी० पृ० २९ । (४) "अस्ति स्त्रीनिर्वाणं पुंवत् यदविकलहेतुश्च स्त्रीषु । न विरुध्यति हि रत्नत्रयसम्पन्निर्वृतेर्हेतु ॥"–स्त्रीमु० श्लो० २ । सन्मति० टी० पृ० ७५२ । एतत्प्रथम उत्तराध्ययनस्य पाइयटीकापि विलोकनीया । "इत्थीलिङ्गसिद्धा–सम्यग्दर्शनादीनि पुरुषाणामिव स्त्रीणामप्यविकलानि दृश्यन्ते तथाहि '–प्रज्ञा० मलय० प० २० A । नन्दि० मलय० पृ० १३१ B । रत्नाकराव० ७।५७ । षड्द० बृह० श्लो० ५२ । "यथोक्तं यापनीयतन्त्रे–णो खलु इत्थी अजीवो ण यावि अभव्वा ण यावि दंसण विरोहिणी, णो अमाणुसा, णो अणारिउप्पत्ती, णो असंखेज्जाउया, णो अइकूरमई, णो ण उवसन्त मोहा, णो ण सुद्धाचारा, णो असुद्धबोंदी, णो ववसायवज्जिया णो अपुव्वकरणविरोहिणी, णो णवगुण ठाणरहिया, णो अजोग्गा लद्धीए, णो अकल्लाणभायणं ति कहं न उत्तमधम्मसाहिगत्ति ।'–ललितवि० प० ५७ B । शास्त्रवा० यशो० प० ४२९ B ।

1–पटलसंछादितत्वम श्र० । 2 दीयते ब० । 3–याभ्युपगमाच्चास्य ब० । 4 यथार्थावगम ब० । 5 तदुक्तस्य [illegible] व्रतस्य ब० । 6–विप्रमोक्षणं मोक्ष आ० ।

अथोच्यते–स्त्रियो रत्नत्रयविरुद्धाः पुंसोऽन्यत्वात् देवादिवत्। सुप्रसिद्धो हि देवनारकतिर्यग्भोगभूमिजानां पुंसोऽन्येषां देवादित्वेन रत्नत्रयस्य विरोधः, एवं स्त्रीणां स्त्रीत्वेनास्य विरोधः सिद्ध इति; तदसमीक्षिताभिधानम्; यतोऽविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावात् विरोधगतिर्भवति। स्त्रीत्वसद्भावे च रत्नत्रयाभावः प्रत्यक्षतः, अनुमानात्, आगमाद्वा प्रतीयेत ? न तावत् प्रत्यक्षतः, रत्नत्रयस्य अतीन्द्रियत्वात्। नाप्यनुमानतः, तदभावाविनाभाविनो लिङ्गस्य कस्यचिदभावात्। नाप्यागमात्, तत्र तदभाववेदिनस्तस्याप्यसम्भवात्। नहि सुरनारकादिवत् तत्र तदभावप्रतिपादकं किञ्चित् प्रवचनमपरं सम्भवति। यत्तु रत्नत्रयमात्रं तत्र न तदस्माभिर्निषिध्यते तस्य मोक्षासाधकत्वात्, यत्तु मोक्षप्रसाधकं प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तम् तस्य तत्राभावात् मोक्षाभाव इति; तदप्ययुक्तम्; अदृष्टे विरोधप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः। न खलु प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तं रत्नत्रयम् अस्मादृशां दृश्यम्, न चादृश्यस्य विरोधः प्रतिपत्तुं शक्यः अतिप्रसङ्गात्। न चाप्रतिपन्नविरोधस्य तस्य तत्राभावो प्रतीतुं शक्यः अतिप्रसक्तेरेव।

अथ मतम्–अनुमानतः स्त्रीणां निर्वाणाभावप्रतीतेस्तत्र तत्सद्भावाभ्युपगमो युक्तः, तथाहि–नास्ति स्त्रीणां निर्वाणम् सप्तमपृथिवीगमनाभावात् सम्मूर्छिमादिवत् इति; तदसङ्गतम्; विपर्ययव्याप्तेरसिद्धेः तद्गमनाभावस्य निर्वाणाभावेनाव्याप्तेः। इह यद् यत्र निगम्यते तद्विपर्ययेण तद्विपक्षस्य व्याप्तौ नियमो दृष्टः, यथा अग्निना धूमस्य व्याप्तौ धूमाभावेन अग्न्यभावस्य, शिंशपात्वस्य च वृक्षत्वेन व्याप्तौ वृक्षत्वाभावस्य शिंशपात्वाभावेन व्याप्तिः। न चैवमत्र विपर्ययव्याप्तिरस्ति, तदभावश्च सप्तमपृथिवीगमनाद् निर्वाणं प्रत्यकारणत्वात् अव्यापकत्वाच्च सिद्धः। नहि सप्तमपृथिवीगमनं निर्वाणस्य रत्नत्रयवत् कारणं सिद्धम् वृक्षत्ववद्वा व्यापकम् येन तदभावे निर्वाणाभावः

(१) "[illegible] सिद्धं स्त्रीत्वेन [illegible] [illegible] इति [illegible] मात्र प्रमाणमागमो-[illegible]॥ [illegible] जिनवचन [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] नानुरूपविरोध [illegible]।"–स्त्रीमु० श्लो० १४। "[illegible] स्त्रीत्वस्य [illegible] विरोधासिद्धेः। [illegible] स्त्री [illegible] [illegible] [illegible] सिद्धो भवेत्।"–सन्मति० टी० पृ० ७५२। प्रमेयक० पृ० ३० [illegible]। [illegible] पृ० ११२ B। (२) [illegible]। (३) [illegible]। (४) [illegible]। (५) [illegible] निर्वाणाभाव [illegible]॥–स्त्रीमु० श्लो० ५। सन्मति० टी० पृ० ७५३। प्रमेयक० पृ० ३०॥। [illegible] पृ० ११२ B। रत्नाकराव० ७।५७। [illegible] श्लो० ५२। [illegible] पृ० ४२८ [illegible]। [illegible] पृ० ११५।

१ [illegible] ब०। २ [illegible] ब०। ३–[illegible] ब०,–[illegible] ब०। ४ [illegible] ब०। ५ [illegible] ब०। ६–[illegible] न दृष्टं विरो–ब०। ७ [illegible] ब०। ८–[illegible] ब०। ९ वृक्षत्वव्यापकत्वाभाव–ब०।

स्यात् । नचाकारणाऽव्यापकस्य निवृत्तौ अकार्यव्याप्यस्य निवृत्ति अतिप्रसङ्गात्, अत सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकमिद साधनम् । चरमदेहै निश्चितव्यभिचारश्च, ते हि तेनैव जन्मना मुक्तिभाजो न सप्तमपृथिवीं गच्छन्ति अथ च मुच्यन्ते ।

किञ्च, विषमगतयोप्यधस्तात् उपरिष्टात्तुल्यमासहस्रार गच्छन्ति च तिर्यञ्च तदधोगैत्यूनताऽहेतु । नहि अधोगतौ स्त्रीपुंसयोरतुल्य सामर्थ्यमिति शुभगतावपि अतुल्यत्व युक्तम्, अशुभपरिणामस्य शुभपरिणाम प्रत्यहेतुत्वात् । तथाहि–भुजगखगचतुष्पात्सर्पजलचराणा विषमाऽधोगति –भुजगाना स(नामस)ज्ञिना प्रथमायाम्, खगाना तृतीयायाम्, चतुष्पदा पञ्चम्याम्, सर्पाणा षष्ठ्याम्, जलचराणा सप्तम्यामधोभूमौ उत्पादात्, शुभगतिस्तु समा सर्वेषामेवैषा सहस्रारान्तस्योपरि उत्पादस्य संभवात् ।

न च वादादिलब्ध्यभावात्तासा मोक्षाभाव , 'इत्थमेव मोक्ष ' इति नियमा-

(१) 'विषमगतयोप्यधस्तादुपरिष्टात्तुल्यमासहस्रारम । गच्छति च तिर्यञ्चस्तदधोग त्यूनताऽहेतु ॥''–स्त्रीमु० श्लो० ६ । ''अपि च भुजपरिसर्पा द्वितीयामेव पृथिवी यावद् गच्छन्ति न परत परपृथिवीगमनहेतुतथारूपमनोवीर्यपरिणत्यभावात्, तृतीया यावत् पक्षिण, चतुर्थी चतुष्पदा, पञ्चमीमुरगा, अथ च सर्वेप्यूर्ध्वमुत्कर्षत सहस्रार यावद गच्छन्ति । तस्मादधोगतिविषये मनोवीर्यपरिणतिवैषम्यदर्शनादूर्ध्वगतावपि च न तद्वैषम्यम् ।''–प्रज्ञा० मलय० पृ० २१ A । नंदि० मलय० पृ० १३३ A । षड्द० बृह० श्लो० ५२ । शास्त्रवा० यशो० प० ४२८ B । युक्तिप्र० प० ११५ । (२) 'प्रथमायामसज्ञिन उत्पद्यन्ते प्रथमद्वितीययो सरीसृपा तिसृषु पक्षिण चतसृषूरगा पचसु सिंहा षट्सु स्त्रिय सप्तसु मत्स्यमनुष्या '–राजवा० पृ० ११८ । ''अमण सरिसप विहगम फणि सिंहित्थीण मच्छमणुवाण । पढमादिषु उप्पत्ती अडवारादो दु दोण्णि वारोत्ति ॥''–त्रिलोक सा० गा० २०५ । ''असन्नी खलु पढम, दुच्च च सरीसवा तइय पक्खी । सीहा जति चउत्थि उरगा पुण पंचमिं पुढविं । छट्ठि च इत्थिआओ मच्छा मणुया य सत्तमिं पुढविं । एसो परमुववाओ बोधव्वो नरयपुढवीसु ॥''–बृहत्स० गा० २८४–८५ । त्रैलोक्यदी० गा० २५३ । (३) ''तमग्मोनषु असज्ञिन पर्याप्ता पचेन्द्रिया सख्येयवर्षायुष अल्पशुभपरिणामवशात पुण्यबन्धमनुभूय भवनवासिषु व्यन्तरेषु चोत्पद्यन्ते । ॥ एव सज्ञिनो मिथ्यादृष्टय सासादनसम्यग्दृष्टयश्चासहस्रारादुत्पद्यन्त त एव सम्यग्दृष्टय सौधर्मादिषु अच्युतान्तेषु जायन्ते । –राजवा० पृ० १६९ । पचिंदियतिरियाण उववाओक्को समो सहस्सारे''–बृहत्स० गा० १६४ । (४) ''वादादिविकुर्वणत्वादिलब्धिविरहे श्रुत यनीयसि च । जिनकल्पमन पर्यवविरहेऽपि न सिद्धिविरहोस्ति ॥ वादादिलब्ध्यभाववदभविष्यद् यदि च सिद्धयभावोऽपि । तासामवारयिष्यद् यथव जम्बूयुगावारात ।''–स्त्रीमु० श्लो० ७ ८ । प्रज्ञा० मलय० पृ० २१ A । रत्नाकराव० ७ । ५७ । ''नापि वादादिलब्धिरहितत्वेन, मूकवेवलिभिव्यभिचारात् । –षड्द० बृह० श्लो० ५२ । 'मापतुषादीना लब्धिविशेषहेतुसयमाभावेऽपि मोक्षहेतुत्वश्रवणात्, क्षायोपशमिकलब्धिविरहेऽपि क्षायिकलब्धेरप्रतिघातात् ।''–शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२७ B ।

1–व्याप्यनिवृ–ब० । 2–गति न ता हेतु ब०,–गति यूनताऽहेतु श्र० । 3–रतुल्यसाम–आ० । 4 शुभगतावपि ब०, श्र० । 5 भुजगाना प्रथमायां आ०, श्र०, भुजगानां सज्ञिनां प्रथमायां ब०, पू० मु० । 6 प्रथमाया संज्ञिनां द्वितीयायां खगानां तृतीयायाम् भुजगानां चतुर्थ्यां चतुष्पदानां पञ्चम्याम स्त्रीणां षष्ठ्या जलचराणां ब०, प्रथमायां खगाना तृतीयायां चतुष्पदानां पचम्यां सर्पाणां षष्ठ्याम, जलचराणां त्रुटिताया पू० प्रतौ । 7 उपपादस्य श्र० ।

भावात्। "श्रूयन्ते हि अनन्ताः सामायिकमात्रसिद्धाः" [तत्त्वार्थभा० सम्ब० का० २७(?)] यदि च स्त्रीणां यथा वादाद्यतिशयाः तपोनिभवजन्मानो न सम्भवन्ति तथा मोक्षोपि न स्यात्, तदा आगमे तदतिशयाभाववत् मोक्षाभावोऽप्युच्येत। न ह्यस्य परिरोपणे किञ्चिन्निबन्धनं पश्यामः।

अथ स्त्रीणां वस्त्रलक्षणपरिग्रहसद्भावान्न मोक्षः, तर्हि मोक्षार्थित्वात् किन्न तैत् ताभिः परित्यज्यते? न खलु वस्त्रं प्राणाः, 'तेऽपि हि मुक्त्यर्थिना परित्यज्यन्ते किं पुनर्न वस्त्रम्? अथ 'नो कप्पइ णिग्गंथीए अचेलाए होत्तए" [कल्पसू० ५।२०] इत्यागमविरोधस्तस्याः तत्परित्यागे, तर्हि प्रतिलेखनवत् मुक्त्यङ्गमेव तत्स्यात्। यथैव हि सर्वज्ञैर्मोक्षमार्गप्रणायकैः उपदिष्टं प्रतिलेखनं मुक्त्यङ्गं भवति न पुनः परिग्रहः तथा वस्त्रमप्यविशेषात्। यदि च धर्मसाधनानां सूत्रविहितानां परिग्रहत्वं स्यात् तदा पिण्डौपधिशय्यादीनामपि वस्त्रवत् परिग्रहत्वं स्यात्§ तथा च तदुपायिना मोक्षाभावः स्यात् §। नन्वपि वस्त्रे मोक्षाभ्युपगमे गृहिणां कुतो न मोक्षः इति चेत्? ममत्वसद्भावात्। नहि गृही वस्त्रे ममत्वरहितः। ममत्वमेव च परिग्रहः। सति हि ममत्वे नग्नोऽपि परिग्रहवान् भवति। आर्यिकायाश्च ममत्वाभावाद् उपसर्गाद्यासक्तमिव अम्बरमपरिग्रहः। नहि यतेरपि ग्रामं गृहं वा प्रविशतः कर्मनोकर्म च आददानस्य अपरिग्रहत्वे अममत्वादन्यत् शरणमस्ति।

अथ वस्त्रे जन्तूत्पत्तेः हिंसासद्भावतः चारित्रस्यैवाऽसम्भवात् कथं मोक्षप्राप्तिः? तन्न, प्रमादाभावे हिंसाऽनुपपत्तेः। प्रमादो हि हिंसा। "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" [तत्त्वार्थसू० ७।१३] इत्यभिधानात्। अन्यथा पिण्डौपधिशय्यादौ यतेरपि हिंसकत्वं स्यात्। अर्हदुक्तेन यत्नेन सञ्चरतोऽस्य प्रमादाभावादहिंसकत्वे आर्यिकाया

(१) श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिकमात्रपदसिद्धाः'-तत्त्वार्थभा०। 'अनन्ताः सामायिकमात्रसिद्धा इति वचनात्'-राजवा० पृ० १०। (२) "यदि वस्त्रादविमुक्तिः, त्यजतत्, अथ न कल्पते हातुम्। उत्सङ्गप्रतिलेखनवदन्यथा देशको दूष्यते। त्यागः सर्वत्यागो ग्रहणरूपो दोष इत्युपालम्भि। वस्त्रं गृह्णात्यार्यिका परिग्रहोऽपीति चूर्ण्यादौ। तत्सममोपकाराय वर्तते प्रोक्तमेतदुपकरणम् ॥ धर्मस्य हि तत्साधनमतोऽन्यदधिकरणमाहार्हन् ॥'-स्त्रीमु० श्लो० १० १२। रत्नाकराव० ७।५७। षड्द० बृह० श्लो० ५२। (३) वस्त्रम्। (४) प्राणा अपि। (५) नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलियाए होत्तए -कल्पसू०। न कल्पते निर्ग्रन्थ्या अचेलया भवितुम्। (६) 'जिह्णिय सुण च्चिय जओ धरेज्ज तिहि कारणेहि वत्थं ति। तेण च्चिय तदवस्सं निरतिसएणं धरेयव्वं ॥ जिणकप्पाजोग्गाणं हीकुच्छपरीसहा जओऽवस्सं। हीलज्ज त्ति व सो संजमो तदत्थं विसेसेण॥ -विशेषा० गा० २६०२ ३। सन्मति० टी० पृ० ७४८। (७) 'मूर्च्छा परिग्रहः -तत्त्वार्थसू० ७।१७। मुच्छा परिग्गहो वुत्तो -दश० ६।२१। (८) ससत्त्वे सत्यामपि चोदितयत्नेन परिहरत्यार्या। हिंसावती पुमानिव न जन्तुमालाकुले लोके॥ -स्त्रीमु० श्लो० १५। 'प्राणातिपातपरिणामाभावात्' -शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२७ B

1 श्रूयन्ते हि व श्र०। 2 सामयिकमात्र-आ०। 3 न सन्ति आ० ब०। 4-णां च वस्त्र-श्र०। 5 पुनर्नेव वस्त्रं श्र०। 6 कप्पदि ब०, श्र०। 7 होंताए ब०, श्र०। § एतन्तर्गतः पाठो नास्ति श्र०। 8 अम्बरमविग्रहः आ०। 9-वा हि पि-श्र०। 10 अर्हदुक्तयत्नेन श्र०। 11 आर्यिकायामपि आ०।

अपि अहिंसकत्व स्यादविशेषात् । तदुक्तम्–

"मियदु य मरुदु अ जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामत्तेण समिदस्स ॥" [प्रवचनसा० ३।१७]

न च पुरुषैरवन्द्यत्वात् स्त्रीणा मोक्षाभाव , गणधरादिभिर्व्यभिचारात्, ते हि नार्हदादिभिर्वन्द्यन्ते अथ च मुच्यन्ते। ततो रत्नत्रयमेव तत्कारण न वन्द्यत्वमवन्द्यत्व वा ।

न च मायाबाहुल्यात्तासा निर्वाणाभाव , पुसामपि तद्बाहुल्यमश्रवणात्। मोहोदयो हि तत्कारणम्, स च उभयोरप्यविशिष्ट ।

न च हीनसत्त्वा स्त्रिय ततो न निर्वान्ति इत्यभिधातव्यम्, यत सत्त्व तप-शीलसाधारणम् इह एष्टव्यम् नान्यत्, तस्यै निर्वाण प्रत्यनङ्गत्वात् । तच्च आर्यासु सुप्रसिद्धमेव । उक्तञ्च–

"गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वा विख्याता शीलवत्तया जगति ।
१ सीतादय कथ तास्तपसि विशीला विसत्त्वाश्च ॥" [स्त्रीमु० श्लो० ३१]

तथा– "अट्ठ(ट्ठ)सयमेगसमये पुरुसाण णिव्वुदी समक्खादा ।
थीलिंगेण य वीस सेसा दसकं त्ति बोधव्वा ॥" [ ]

(१) "मरदु व जियदु जीवो'–प्रव० । उद्धृतोऽयम्–सर्वार्थसि० ७।१३। म्रियता वा जीवतु वा जीवो अयताचारस्य निश्चिता हिसा। प्रयतस्य नास्ति बधो हिंसामात्रेण समितस्य । (२) "अप्रतिबन्धत्वाच्चत्सयतवर्गेण नायिकासिद्धि । वन्दता ता यदि ते नोनत्व कल्प्यते तासाम् ॥ सन्त्यूना पुरुषभ्यस्ता स्मारणवारणादिकारिभ्य । तीर्थकराऽकारिभ्यो न च जिनकल्पादिरिति गणधरादीनाम् । अर्हन् न वन्दत न तावताऽसिद्धिरगगत । प्राप्ता यथा विमुक्ति स्थान स्त्रीपुसयोस्तुल्यम ॥"–स्त्रीमु० श्लो० २४–२६ । "अथ महाव्रतस्थपुरुषावन्द्यत्वात न तासा मुक्त्यवाप्ति , तर्हि गणधरादेरपि अर्हदवन्द्यत्वात् न मुक्त्यवाप्ति स्यात । –सन्मति० टी० पृ० ७५४ । रत्नाकराव० ७।५७। षड्द० बृह० श्लो० ५२ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२९ A । युक्तिप्र० पृ० ११४ । (३) "मायादि पुरुषाणामपि द्वैपायनप्रसिद्धभावश्च । षण्णा सस्थानाना तुल्यो वर्णत्रयस्यापि ॥"–स्त्रीमु० श्लो० २८ । रत्नाकराव० ७।५७ । षड्द० बृह० श्लो० ५२ । 'चरमशरीरिणामपि नारदादीना मायादिप्रकर्षवत्त्वश्रवणात ।"–शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२७A । (४) "स्त्री नाम मन्दसत्त्वा उत्सङ्गसमप्रतानात्र । तत्कथमनल्पवृत्तय सन्ति हि शीलाम्बुधेर्वेला ॥ ब्राह्मीसुन्दर्यार्या राजीमती चन्दना गणधराद्या । अपि देवमनुजमहिता विख्याता शीलसत्त्वाभ्याम् ॥"–स्त्रीमु० श्लो० २९ ३० । षड्द० बृह० श्लो० ५२। (५) तप शीलव्यतिरिक्तस्य । (६) " शीलवतितमा जगति । तपसि विसत्त्वा विशीलाश्च ।"–स्त्रीमु० । (७) "अत्रवार्थे विशेषान्तरप्रतिपादिका प्रक्षेपगाथा –विसित्थिगाउ पुरिसा अट्ठसय एगसमयओ सिज्झे । दस चेव नपुसा तह उवरि समएण पडिसेहो । एकस्मिन् समये उत्कृष्टत स्त्रियो विशति सिध्यन्ति । पुरुषा अष्टशतमष्टाधिकं शतम् । तथा समयनकेन नपुसका दशैव सिध्यन्ति । उक्तसख्याया उपरि सर्वत्रापि प्रतिषेध ।"–बृहत्स०, मलय० गा० ३४७ । "अष्टशतमक समय पुरुषाणामादिरागम (माहुरागमे) सिद्धि (सिद्धम्) । स्त्रीणा न मनुष्ययोगे गौणार्थो मुख्यहानिर्वा ।'–स्त्रीमु० श्लो० ३५ ।

1 वोसो ब० । 2–मित्तेण ब० । 3 अय मुच्य–श्र० । 4 आर्यासु सिद्धमेव ब० । 5 अठसमय–श्र०, अट्ठसय–ब० । 6 समदा ब०, समखादा आ० । 7–त्ति श्र० ।

इत्याद्यागमश्च स्त्रीनिर्वाणे प्रमाणम् ।

अथ अत्र स्त्रीशब्देन स्त्रीवेदो गृह्यते, कथमेवमपि स्त्रीणां निर्वाणनिषेधः ? यथैव हि स्त्रीवेदेन पुंसः सिद्धिः तथा स्त्रीणामपि स्यात्, भावो हि सिद्धेः कारणम् ।

किञ्च, द्रव्यतः पुरुषः भावतः स्त्रीरूपो भूत्वा यथा निर्वाति तथा द्रव्यतः स्त्र्यपि भावतः पुरुषो भूत्वा किं न निर्वाति अविशेषात् ? न च सिद्ध्यतो वेदः सम्भवति, अनिवृत्तिबादरसाम्पराये एव अस्य परिक्षयात् । अथ भूतपूर्वगत्या क्षपकश्रेण्यारोहणं येन वेदेन करोति तेनासौ मुक्त इत्युच्यते, ननु किमनेन उपचारेण स्त्रिया एव स्तनजघनादिधर्मादिमत्या निर्वाणमस्तु इति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्–'अविकलकारणत्वात्' इत्यादि, तत्र अविकल-

द्रव्यस्त्रीणां तद्भवनिर्वाणप्राप्तिनिरसनम्–

कारणत्वमसिद्धम्, तत्कारणं हि रत्नत्रयम्, तत्किं परमप्रकर्षप्राप्तं सत् तत्कारणं स्यात्, तन्मात्रं वा ? यदि तन्मात्रम्, तदा गृहिणामपि निर्वाणप्रसङ्गः । अथ परमप्रकर्षप्राप्तम्, तन्न, तत्र तस्य परमप्रकर्षप्राप्तत्वाऽनुपपत्तेः । तथाहि–निर्वाणकारणज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति, परमप्रकर्षत्वात्, सप्तमपृथिवीगमनकारणाऽपुण्यपरमप्रकर्षवत् । तथा चेन्मयुक्तम्–'अदृष्टे विरोधप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः' इत्यादि । प्रत्यक्षतो हि अदृश्यस्यार्थस्य विरोधः प्रतिपत्तुमशक्यो न तु अनुमानादितोऽपि, अन्यथा कथं सप्तमपृथिवीगमनकारणाऽपुण्यपरमप्रकर्षस्यापि तत्र विरोधप्रतिपत्तिः स्यात् ?

यदप्युक्तम्–'सप्तमपृथिवीगमनाभावस्य निर्वाणाभावेनाऽव्याप्तेः' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्, अकार्यकारणस्यापि कृत्तिकोदयात् शकटोदयादेः प्रतिपत्तिदर्शनात् । अविनाभावो हि गम्यगमकभावे निबन्धनं न कार्यकारणत्वादि, स चात्र अस्त्येव । न खलु तादात्म्यतदुत्पत्त्योरेव अविनाभावो नियतः, कृत्तिकोदयादेः शकटोदयादिं प्रत्यगमकत्वप्रसङ्गात् इति । एतच्च सौगतोपकल्पितव्याप्तिविचारावसरे सप्रपञ्चं प्रपञ्चितम् । अतश्च 'सप्तमपृथिवीगमनादेः निर्वाणं प्रत्यकारणत्वादव्यापकत्वाच्च' इत्यादि प्रत्युक्तम् । कथञ्चैवंवादिनो अर्वाग्भागाभावात् परभागाभावो निश्चीयेत, अनयोः तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धासम्भवात् ? अथात्र एकार्थसमवायः सम्बन्धोऽस्ति तस्मा-

(१) 'न च पुंदेहे स्त्रीवेदोदयभावे प्रमाणमङ्गञ्च । भाव सिद्धौ पुंवत् पुमा अपि (पुंसोऽपि) न सिद्ध्यतो वेदः ॥ क्षपकश्रेण्यारोहे वेदेनोच्यन्त पूर्वमेनेन । स्त्रीति नितरामभूद्ये मुख्येऽर्थे युज्यते नतराम् ॥"–स्त्रीमु० श्लो० ३९ ४० । (२) वेदस्य । (३) पृ० ८६५ पं० १३ । (४) स्त्रीषु । (५) 'मोक्षहेतुज्ञानादिपरमप्रकर्षः '–प्रमेयक० पृ० ३२८ । (६) पृ० ८६६ पं० १० । (७) पृ० ८६६ पं० १५ । (८) अविनाभावः । (९) पृ० ४४६ । (१०) अर्वाग्भागाभावपरभागाभावयोः । (११) एकस्मिन्नेव भित्त्याख्ये अवयविनि अर्वाग्भागपरभागाख्ययोः अवयवयोः समवायात् तयोः परस्परमेकार्थसमवायः समस्त्येव ।

1 इत्याद्यागम–श्र० । 2 –बादरसपराय–आ० । 3 'तथा' नास्ति आ०, श्र० । 4 –प्रतिपत्तेरित्यादि आ० । 5 अदृश्यार्थस्य ब० ।

देव अनयो गम्यगमकभावो भविष्यति, ननु नैयायिकस्य मतमेतन्न सिताम्बरस्य[1]। न खलु समवायासिद्धौ तस्य[2] एकार्थसमवायसिद्धिरुपपद्यते तत्सिद्धिपूर्वकत्वात्तस्याः[3]। अस्तु वा तत्सिद्धिः, तथापि–अतस्तयोर्गम्यगमकभावे प्रकृतयोरपि सोऽस्तु तत्राप्येकार्थसमवायसद्भावात्, यत्रैव हि आत्मनि सप्तमपृथिवीगमनयोग्यता समवेता तत्रैव मुक्तिगमनयोग्यतापि। न च सप्तमपृथिवीगमनाभावात् स्त्रीणां निर्वाणनिषेधः साधयितुमिष्टः येनोक्तदोषानुषङ्गः स्यात्, किं तर्हि ? परमप्रकर्षवत्त्वाद्धेतोः दृष्टान्ते सिद्धसाध्यव्याप्तिकात् निर्वाणकारणाभावः तत्र साधयितुमिष्टः। तदभावाच्च निर्वाणाभावः स्वयमेव तत्र सेत्स्यति। न खलु निर्हेतुका कार्यस्योत्पत्तिः अतिप्रसङ्गात्। ततोऽयुक्तमुक्तम्–'सप्तमपृथिवीगमनं न निर्वाणस्य रत्नत्रयवत् कारणम्' इत्यादि।

यदपि–'चरमदेहे निश्चितव्यभिचारम्' इत्याद्युक्तम्, तदप्ययुक्तम्, यतः सप्तमपृथिवीगमनाभावः तन्निर्वर्त्तनसमर्थकर्मार्जनसामर्थ्याभावः। स च स्त्रीष्वेवास्ति न चरमशरीरिषु। श्रूयते हि भरतप्रभृतिचक्रवर्त्तिनां चरमशरीराणामपि प्रयाणकसमये सप्तमपृथिव्या गमनयोग्यकर्मार्जना, देवार्चनसमये तु सर्वार्थसिद्धाविति। उत्कृष्टो हि शुभोऽशुभश्च परिणामः यथाक्रमम् उत्कृष्टाया शुभगतेः अशुभगतेर्वा हेतुभूतं कर्म आरभते, तत्परिणामप्रारम्भे च पुरुषस्यैव सामर्थ्यं न स्त्रियाः। यथैव हि तस्याः तीव्रतराशुभपरिणामे सामर्थ्याभावः तथा उत्कृष्टशुभपरिणामेऽपि। उत्कृष्टशुभपरिणामेन च मुक्तिः।

एतेन 'विषमगतयोऽप्यधस्तात्' इत्याद्यपि[11] प्रतिव्यूढम्, प्रकृष्टगतिप्रारम्भहेतुभूतकर्मोपार्जनसमर्थस्यैव मुक्तियोग्यतोपपत्तेः न तद्विपरीतस्य। श्रूयते हि प्रतिनियताऽवान्तरगतिप्रारम्भककर्मवशात् प्रतिनियतोत्पादस्थानानामपि नारकाणां क्षपितकर्मणां तिर्यग्लोके सर्वेषामपि नियमतः [12]संज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु तिर्यक्षु मनुष्येषु चोत्पादः, देवानाञ्च तथाविधकर्मवशात् प्रतिनियतोपपादस्थानोत्पन्नानां तिर्यग्लोक एव तेषु[13] एकेन्द्रियेषु च

(१) तन्मते हि अवयवावयविनोः कथञ्चित्तादात्म्याभ्युपगमात्। (२) श्वेताम्बरस्य। (३) एकार्थसमवायसिद्धेः। (४) एकार्थसमवायात्। (५) सप्तमपृथिवीगमनसामर्थ्य मुक्तिगमनसामर्थ्ययोश्च। (६) स्त्रीषु। (७) निर्वाणकारणाभावाच्च। (८) पृ० ८६६ पं० २०। (९) पृ० ८६७ पं० २। (१०) दिग्विजययात्रासमये। (११) पृ० ८६७ पं० ४। (१२) णिरयादो णिस्सरिदो णरतिरिए कम्मसण्णिपज्जत्ते। गब्भभवे उप्पज्जदि सत्तमपुढवीदु णिरिए व॥"–त्रिलोकसा० गा० २०३। "णरयियाण गमणं सण्णीपज्जत्तकम्मतिरियणरे। चरमचऊ तित्थूणे तरिच्छ चव सत्तमिया॥"–कर्मका० गा० ५३८। (१३) संज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु तिर्यक्षु मनुष्येषु च। 'आहारगा दु देवे देवाणं सण्णिकम्मतिरियणरे। पत्तेयपुढविआऊबादरपज्जत्तगे गमणं॥ भवणतियाणं एवं तित्थूणणरेसु चेव उप्पत्ती। ईसाणंताणेगे सदरदुगंताणसण्णीसु॥'–कर्मका० गा० ५४२–४३।

1 समवेता न तत्रैव मुक्तिगमनायोग्यतापि व०। 2 निर्हेतुककार्य–श्र०। 3 ततो युक्तमुक्तम् व०। 4–शरीरेषु व० श्र०। 5–णामप्रारम्भे च व०। 6 यथाविध–आ०। 7–नियतस्थाना–आ०, नियतोत्पादस्थानो–व०।

नियमेनोत्पाद इति । न च तथाविधकर्मोपार्जनसामर्थ्येन मुक्तियोग्यता सम्भवति इति न मुक्तियोग्यताविचारावसरे किञ्चिदनेन प्रयोजनम् । यस्य तु उपरिष्टात् प्रकृष्टशुभगति-प्रसाधने सामर्थ्यम् तस्य अधस्तात् प्रकृष्टाशुभगतिप्रसाधनेऽपि तदस्ति यथा पुंस इति स्त्रीणां प्रकृष्टायां शुभगतौ सामर्थ्यमभ्युपगच्छता अशुभगतावपि तथाविधायां तदभ्युपगन्तव्यम् । तथा च "ईत्थी छट्ठीओ अहो न उप्पजति" [ ] इत्यादि भवदीयागमविरोधः ।

यच्चान्यदुक्तम्–'न च वादादिलब्ध्यभावात्तासां मोक्षाभावः' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, यतो यत्र गेहिनां वादविक्रियाचारणादिलब्धीनामपि हेतुः संयमविशेषो नास्ति तत्र मोक्षहेतुरसौ भविष्यतीति कः सुधीः श्रद्दधीत ? वादलब्धिः खलु इन्द्रादीनामास्थानेषु बृहस्पत्यादिष्वपि प्रतिवादिषु सत्सु छलजात्यादिपरिहारेण स्वतत्त्वप्रतिपादनसामर्थ्यम् । विक्रियालब्धिः इन्द्रादिरूपोपादानशक्तिः । चारणलब्धिः गगनगमनसामर्थ्यम् । आदिशब्दात् अक्षीणमहानसादिलब्धिपरिग्रहः । तद्धेतुश्च संयमविशेषो न स्त्रीणां प्रवचने प्रतिपाद्यते ।

यदप्यभिहितम्–'आगमे वादादिलब्ध्यतिशयाभाववत् मोक्षाभावोऽप्युच्येत' इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्, संयमविशेषनिषेधादेव आगमे तासां मोक्षाभावप्रतिपादनप्रसिद्धेः । सुप्रसिद्धो हि आगमे पुंसां मोक्षहेतोः आचेलक्यादिसंयमविशेषस्य विधिः, स्त्रीणां तु निषेधः । न च कारणाभावे कार्योत्पत्तिः अतिप्रसङ्गात् । संयममात्रं तु सदपि आसां न मोक्षहेतुः निर्ग्रन्थगृहस्थासंयमवत् । तथा, नास्ति स्त्रीणां मोक्षः परिग्रहवत्त्वात् गृहस्थवत् ।

यदप्युक्तम्–'प्रतिलेखनवत् मुक्त्यङ्गमेव वस्त्रम्' इत्यादि, तदप्यचारु, यतः प्रति-

(१) पृ० ८६७ पं० १० । (२) 'स्त्रीणां संयमो न मोक्षहेतुः नियमनर्द्धिविशेषाहेतुत्वान्यथानुपपत्तेः ।'–प्रमेयक० पृ० ३३० । (३) संयम । (४) नाकाविष्वपि प्रतिवादिषु सत्सु अप्रतिहततया निरुत्तराभिधानपरस्य प्रावेशणश्च वादित्वम् । –राजवा० पृ० १४४ । (५) लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षप्राप्तेभ्यो यतिभ्यो यतो भिक्षा दीयते ततो भाजनात् चक्रधरस्कन्धावारोऽपि यदि भुञ्जीत तद्दिवसे नान्नं क्षीयते ते अक्षीणमहानसाः । –राजवा० पृ० १४५ । (६) पृ० ८६८ पं० ३ । (७) लिंगं इत्थीण हवे भुंजइ पिंडं सु एयकालम्मि । अज्जियवि एकवत्था वत्थावरणेण भुंजइ । णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो । णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥ लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु । भणिओ सुहुमो काओ तासं कह होइ पव्वज्जा ॥ जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सावि संजुत्ता । घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण पावया भणिया ॥ चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण । विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु णऽसंकया झाणं ॥ –सूत्रप्रा० गा० २३ २६ । णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा । तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥ निश्चयनयात् पृथक् वर्णितं विकल्पितं कथितं लिङ्गं प्रावरणसहितं चिह्नं स्त्रीणामिति । –प्रव०टी० पृ० ३०२ । (८) पृ० ८६८ पं० ८ ।

1–गतिसाधने–आ० । 2 इत्थीऊ छट्ठीदो अहो ण उ–श्र० । 3 यतो नास्ति ब०, श्र० । 4–स्यादिवत् आ०, ब० ।

लेखन तावत् संयमप्रतिपालनार्थं भगवतोपदिष्टम्, वस्त्रं तु किमर्थमुपदिष्टमिति ? तदपि तत्प्रतिपालनार्थमिति चेत्, तथाहि–अभिभूयन्ते प्रायेण निवृताङ्गोपाङ्गसन्दर्शनजनितचित्तभेदै पुरुषै अङ्गना अकृतप्रावरणा घोटिकेव घोटकैरिति, तत्र कुतस्ता तैरभिभूयन्ते न पुनस्ते ताभि अकृतप्रावरणत्वाविशेषेऽपि इति वक्तव्यम् ? तासामल्पसत्त्वोपेततया अभिभाव्यत्वाच्चेत्, सुप्रसिद्धो ह्यय विभाग गवाश्वादौ स्त्रीप्रकृतिरभिभाव्या पुरुषप्रकृतिरभिभाविका इति, तदेतन्महामोहविजृम्भितम्, यासामतितुच्छसत्त्वाना प्राणिमात्रेणाप्यभिभव ता सकलत्रैलोक्याभिभावककर्मराशिप्रक्षयलक्षण मोक्ष महासत्त्वप्रसाध्य प्रसाधयन्तीति !

यदप्युक्तम्–'यदि धर्मसाधनाना परिग्रहत्व स्यात्' इत्यादि, तत्र कोऽय धर्म यत्साधनत्व वस्त्रस्य स्यात्–पुण्यविशेष, संयमविशेषो वा ? प्रथमपक्षे कथ तत् मुक्तिहेतु ? आगमविहितविधिना गृह्यमाणस्यास्य गृहस्थवत् पुण्यस्यैव हेतुत्वात् । पुण्यहेतोश्च मुक्तिहेतुत्वे दानादेरपि तद्धेतुत्वप्रसङ्ग । संयमविशेषहेतुत्व तु तस्य दुरुपपादम्, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागो हि संयम, स च याचनसीवनप्रक्षालनशोषणनिक्षेपादानचौरहरणादिमन सङ्क्षोभकारिणि वस्त्रे गृहीते कथ स्यात् ? प्रत्युत संयमोपघातकमेवैतत् बाह्याभ्यन्तरनैर्ग्रन्थ्यप्रतिपन्थित्वात् ।

नन्वेव पिण्डोपध्यादीनामपि परिग्रहत्वप्रसङ्गात् कथ तदादायिनामपि मोक्ष स्यात् ? इत्यप्यसारम्, तेषाम् उद्गमादिदोषपरिहारेण उपादीयमानाना रत्नत्रयोपबृंहणहेतुत्वात् । न हि ते सिद्धान्तविहितविधिना उपादीयमाना मोक्षहेतोरपकर्त्तार । तदग्रहणे च अपूर्णेऽपि काले विपत्तेरापत्ते आत्मघातित्व स्यात्, वस्त्राऽग्रहे तु नाऽय दोष । षष्ठाऽष्टमादिक्रमेण च मुमुक्षुभि पिण्डादिकमपि त्यज्यते, परमनैर्ग्रन्थ्यभाग्भि तैं प्रतिलेखनञ्च, न तु स्त्रीभि कदाचिद्वस्त्रम् । नच गृहीतेऽपि वस्त्रे ममेदभावस्य आमामसंभवादपरिग्रहत्व वाच्यम्, विरोधात्, बुद्धिपूर्वं हि पतित वस्त्र हस्तेनादाय परिदधानाया मूर्च्छारहितत्वानुपपत्ते, यद् बुद्धिपूर्वं पतितमप्यादीयते न तत्र मूर्च्छाभाव यथा सुवर्णादौ, तथा आदीयते च स्त्रीभिर्वस्त्रमिति ।

(१) स्त्रिय । (२) पुरुषा । (३) पृ०८६८ पं० १० । (४) वस्त्रस्य । (५) 'गण्हदि व चेलखंड भायणमत्थित्ति भणिदमिह सुत्ते । जदि सो चत्तालंबो हवदि कहं वा अणारम्भो ॥ वत्थक्खंडं दुद्दियभायणमण्णं च गेण्हदि णियदं । विज्जदि पाणारम्भो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि ॥ गेण्हइ विधुणइ धोवइ सोसइ जदं तु आदव खित्ता । पत्तं च चेलखंडं विभेदि परदो य पालयदि ॥ किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स । तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥'–प्रव० टी० पृ० २९७ । प्रमेयक० पृ० ३३१ । (६) "बुद्धिपूर्वक हि हस्तेन पतित वस्त्रमादाय"–प्रमेयक० पृ० ३३३ ।

1–विशेषणेन वस्त्र–ब० । 2–भाव्या पुरुष–श्र० । 3–राशिक्षय–श्र० राशिप्रक्षयलक्षण आ० । 4 संयमादाय–आ० । 5–पूर्वक हि श्र० ।

एतेन 'उपसर्गाद्यासक्तमित्र अम्बरमपरिग्रह' इत्यादि प्रत्याख्यातम्, उपसर्गाद्यासक्ते वस्त्रे पतिते बुद्धिपूर्वग्रहणासंभवात्।

अथोच्यते–स्त्रीणां वस्त्रत्यागाभ्युपगमे कुलस्त्रीणां लज्जाभूयिष्ठत्वात् दीक्षाग्रहणमेव न स्यात्, वस्त्रे तु सति तत्परिग्रहमात्रं दोषः समस्तशीलपरिपालनं तु गुणः इति त्यागोपादानयोः गुणदोषाल्पबहुत्वनिरूपणेन भगवता वस्त्रमुपदिष्टं तासामिति, तदेतदस्माकमभीष्टमेव, नहि अत्रार्थे वयं विप्रतिपद्यामहे, मोक्षे एव अस्माकं विप्रतिपत्तेः। नच तच्छीलं मोक्षप्रसाधनाय प्रभवति परिग्रहवदाश्रितत्वात् गृहस्थशीलवत्। नहि गृहस्थशीलं त्यागोपादानयोः गुणदोषाल्पबहुत्वनिरूपणेन भगवतोपदिष्टमपि मोक्षप्रसाधनाय प्रभवति एवं प्रकृतमपि। अथ तच्छीलं हिंसाद्यकलितत्वात् न तत्प्रसाधनाय प्रभवति, तदन्यत्रापि समानम्। न खलु स्त्रीसम्बन्धि शीलं हिंसाशबलं न भवति, यूकालिक्षाद्यनेकजन्तुसम्मूर्च्छनाधिकरणवस्त्रसमन्वितत्वात्, गृहस्थशीलवत्। तत्सम्मूर्च्छनाधिकरणस्य च वस्त्रस्य हिंसानङ्गत्वे मूर्द्धजानामपनयनानर्थक्यं स्यात्।

यदप्यभिहितम्–'प्रमादाभावे तासां हिंसानुपपत्तेः' इत्यादि, तदप्यपेशलम्, लोभकषायपरिणतौ तासामप्रमत्तत्वानुपपत्तेः, तत्परिणतेरेव प्रमादत्वात्। तदुक्तम्–

"विकहा तहा कसाया इंदिय णिद्दा य तह य पणओ (यो) य।
चदु चदु पण एगेगे हुंति पमादा दु पण्णरस॥" [पञ्चसं० १।१५] इति।

लोभकषायपरिणतिश्च स्त्रीणां बुद्धिपूर्वं वस्त्रस्वीकारात् अस्तीत्यवसीयते। अथ वीतरागत्वेऽप्यासां लज्जापनोदार्थं तत्स्वीकारसंभवात् नातस्तासां तत्परिणतिसिद्धिः, नन्वेवं कामपीडापनोदार्थं कामुकादिस्वीकारोऽप्यासां किन्न स्यादविशेषात्? अथ तत्पीडासद्भावे वीतरागत्वं तासां विरुध्यते, तदेतत् लज्जासद्भावेऽपि समानम्। न खलु वीतरागस्य लज्जा उपपद्यते, सति रागे बीभत्सावयवप्रच्छादनेच्छारूपत्वात्तस्याः। यो वीतरागो नासौ लज्जावान्, यथा शिशुः, वीतरागा च भवद्भिरभिप्रेता आर्यिका इति।

(१) अर्शोभगन्दरादिषु गृहीतचीरो यतिर्न मुच्यते। उपसर्गे वा चीरे न्यादिः न्यस्यते चास्ते॥' –स्त्रीमु० श्लो० १७। (२) गृहस्थशीलम्। (३) पृ० ८६८ पं० १७। (४) 'पइदी पमादमइया एत्तासि वित्ति भासिया पमदा। तम्हा ताओ पमदा पमादबहुला त्ति णिद्दिट्ठा॥ सन्ति धुवं पमदाणं मोहपदोसा भयं दुगुंछा य। चित्ते चित्ता माया तम्हा तासिं ण णिव्वाणं॥ –प्रव० टी० पृ० ३०२। मायापमायपउरा पडिमासं तेसु होइ पक्खलणं। णिच्चं जोणिस्सावो दारउन्न णत्थि चित्तस्स॥ –भावसं० गा० ९३। (५) विकथास्तथा कषाया इन्द्रियनिद्रास्तथैव प्रणयश्च। चतुश्चतुःपञ्चैकैकं भवन्ति प्रमादाः खलु पञ्चदश॥ गाथेयं जीवकाण्डेऽपि (३४) वर्तते। उद्धृतेयम्–धवलाटी० पृ० १७८। (६) ह्रीशीतार्तिनिवृत्त्यर्थं वस्त्रादि यदि गृह्यते। कामिन्यादिस्तथा किन्न कामपीडादिशान्तये।' –प्रमेयक० पृ०३३१। (७) कामपीडा। (८) लज्जायाः।

1–सर्गादि द्यासक्त–आ०। 2 अत्रार्थेऽवद्य विप्र–ब०। 3–प्रसाधाय ब०। 4–नाय भवत्येव प्रकृत–ब०। 5 जूकालि–ब०। 6–भावे तासां–ब०। 7 एतक श्र०। 8 बुद्धिपूर्ववस्त्र–आ०, बुद्धिपूर्वकवस्त्र–श्र०। 9 कान्तादि–श्र०।

यदि च पुंसाम् अचेल संयमो मुक्तेर्हेतु स्त्रीणां तु सचेल, तदा कारणभेदात् मुक्तेरप्यवश्यमनुपज्येत भेद। योऽत्यन्तभिन्न संयम सोऽत्यन्तभिन्नकार्यारम्भक यथा यतिगृहिसंयमोऽत्यन्तभिन्नस्वर्गाद्यारम्भक, अत्यन्तभिन्नश्च सचेलाऽचेलरूपो मुक्तिहेतुतयाऽभिप्रेत आर्य-आर्यिकासंयम इति। न चानयो मुक्तिभेदोऽस्ति, सकलकर्मक्षयलक्षणाया मुक्ते. उभयोर्भवद्भिस्तुल्यतयाऽभ्युपगमात्।

किञ्च सचेलसंयमस्य मुक्तिहेतुत्वे मुक्त्यर्थिना न वस्त्रादेस्त्याग कर्त्तव्यतया उपदिश्येत, उपदिश्यते चासौ तेषां तथा, अतो वस्त्रादेर्मुक्त्यङ्गतानुपपत्ति। प्रयोग – वस्त्र मुक्तेरङ्ग न भवति, मुक्त्यर्थिना तत्त्यागस्य कर्त्तव्यतयोपदिश्यमानत्वात्, यत्त्यागो मुक्त्यर्थिना कर्त्तव्यतयोपदिश्यते न तत् मुक्तेरङ्गम् यथा मिथ्यादर्शनादि, कर्त्तव्यतयोपदिश्यते च तेषां वस्त्रत्याग इति। यत्पुन मुक्तेरङ्ग न तत्त्यागस्तदर्थिना कर्त्तव्यतया उपदिश्यते यथा सम्यग्दर्शनादेरिति।

यच्चान्यदुक्तम्–'पुरुषैरवन्द्यत्वस्य गणधरैर्व्यभिचार' इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्, यतोऽर्हतां तीर्थकरत्वनामपुण्यातिशयवशात् परममहत्त्वपदप्राप्तत्वेन अखिलजनैर्वन्द्यत्वमेव न वन्दकत्वम्। नहि कश्चित् तत्पदादधिकपदार्हो जगत्यस्ति यस्य ते वन्दका भविष्यन्ति, गणधराणां तु तथाविधपुण्याऽभावात् तत्पदप्राप्तेरभावाच्च तद्वद्वन्द्यत्वम्। मुक्तिसामग्री तु तीर्थकरेतरेषा सिद्धता न विशिष्यते। आर्यिकायास्तु सा विशिष्यते, तद्धेतुरत्नत्रयाभावात्। तथा, स्त्रीणां न निर्वाणपदप्राप्ति, यतिगृहिदेवयन्द्यपदाऽनर्हत्वात्, नपुंसकादिवत्। यतीनां हि वन्द्य पद द्विविधम्–परम्, अपरञ्च। तत्र परम्–तीर्थकरत्वलक्षणम्। अपरम्–आचार्यादिलक्षणम्। तदुभयमपि पुंसामेव उपदिश्यते न स्त्रीणाम्। तथा गृहिणां देवानाञ्च वन्द्य पद द्विविधम्–पराऽपरभेदात्। तत्र तेषां वन्द्य पर पदम्–चक्रवर्तित्वम् इन्द्रत्वञ्च। अपरम्–महाम(मा)ण्डलिकादि सामानिकादि च। तदपि पुंसामेव श्रूयते न स्त्रीणाम्। प्रतिगृहञ्च प्रभुत्व पुंसामेव न स्त्रीणाम्। तथा पितरि सत्यसति च पुत्रस्यैव लघो विरूपकस्यापि सर्वत्र कार्येऽधिकारो न पुत्रीणां महतीनां सुरूपाणामपि। अतो यासां सांसारिकलक्ष्म्यामपि अधिकारो नास्ति तासां मोक्षलक्ष्म्यामधिकारो भविष्यति इति किमपि महाद्भुतम्!

ननु यदि महत्या श्रियोऽनर्हत्वाचासाममुक्ति तदा गणधरादीनामप्यमुक्ति

(१) "तर्हि कारणभेदान्मुक्तेरप्यनुषज्येत भेद स्वर्गादिवत्। –प्रमेयक० पृ० ३३०। (२) आर्य-आर्यिकयो। (३) वस्त्रत्याग मुक्त्यर्थिना कर्त्तव्यतया। (४) पृ० ८६९ पं० ४। (५) तीर्थकरा। (६) परममहत्त्वपदप्राप्त। (७) तीर्थकरत्वेन सकलजगद्वन्द्यत्वम्।

1 वन्दका च भवि–श्र०। 2–पुण्यानुभावतस्तत्प–आ०,–पुण्येभावतस्तत्पद–ब०। 3–भाव स्तत्पद–श्र०। 4 तद्वद्वन्द्यत्वम् ब० श्र०। 5–करे तेषां श्र०। 6 आर्यिकायास्तु सा ब०। 7 वन्द्यपदं ब०। 8 चक्रवर्त्यादित्वं ब०। 9 विरूपकस्यापि ब०।

स्यात् महत्या तीर्थकरत्वश्रिय तेषामप्यनर्हत्वाविशेषात्, इत्यप्यसुन्दरम्, व्यक्तिभेद-स्यात्र विधिनिषेधयोरनङ्गत्वात्। पुम्पवर्गो हि महत्या श्रियामभिकृतो न स्त्रीवर्ग अतस्तत्परिहारेण तस्यैव मुक्तिरभ्युपगन्तव्या, न पुन क्वचिद्व्यक्तौ तथाविधश्रियोऽसम्भवेऽपि मुक्त्युपलम्भाद् व्यभिचारमुद्भाव्य मुक्ति प्रति स्त्रीणा तत्समानताऽऽपादयितु युक्ता। न खलु एकस्य राजपुत्रस्य राज्यप्राप्तौ अन्यतत्पुत्राणा तदप्राप्तित ततो हीनत्वेऽपि पुन्या समत्व युक्तम्, पुंवर्गात् पुत्रीवर्गस्य सकलव्यवहारेषु लोके अत्यन्तविलक्षणतया प्रसिद्धे। अत स्त्रीणा न मोक्ष पुरुषेभ्यो हीनत्वात् नपुंसकादिवत्। न च तेभ्यो हीनत्वमासामसिद्धम्, अनन्तरमेव अस्य समर्थितत्वात्।

इतश्च तत्सिद्धम् यत सारणवारणपरिचोदनादीनि स्त्रीणा पुरुषा कुर्वन्ति न स्त्रिय पुरुषाणाम्, तीर्थकराकारधराश्च पुरुषा न स्त्रिय। उक्तञ्च–

"सारणवारणपरिचोयणाइ पुरिसा करेंई णहु ईत्थी" [ ]

ननु न हीनत्वमधिकत्व वा मुक्तेरङ्गम्, किन्तु रत्नत्रय शिष्याचार्यवत्, तथाहि–शिष्या आचार्येभ्यो हीना तेषु तेभ्योऽधिका अथ च उभयेषा मुक्ति, तद्वद् आर्याणाम् आर्यिकाणाञ्च सा भविष्यति, इति च श्रद्धामात्रम्, यत शिष्याचार्यवत् हीनाधिकत्वेऽपि स्त्रीपुरुषयोर्मुक्ति अविशेषत स्यात् यदि तद्वत् तयोरपि मुक्तिहेतुभूत रत्नत्रयमविशेषत स्यात्, न च स्त्रीषु तदस्ति, तद्धेतुभूतस्यास्य प्रपञ्चत तासु प्रागेव प्रतिषिद्धत्वात्। रत्नत्रयमात्र तु तत्र सदपि न तद्धेतु, गृहस्थादेरपि मुक्तिप्रसङ्गात्। नहि प्रचण्डमार्तण्डप्रसाध्ये कार्ये प्रदीपस्य स्वप्नेऽपि सामर्थ्य प्रतीयते।

यदप्युक्तम्–'गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वा' इत्यादि, तदप्यविचारितरमणीयम्, नहि यथा अनेकदुर्धरपरीषहसहस्त्रेण अखिलकर्मनिर्मूलनसमर्थं महासत्त्व पुंसा प्रसिद्धम् तथाविध स्वप्नेऽपि स्त्रीणामस्ति। स्त्रीवर्गापेक्षयैव सीतादीना सत्यप्रकर्षसम्भवात् 'महासत्त्वा' इत्युच्यन्ते। नहि तासा पुंसामिव सत्त्वाधिक्यमस्ति क्वापि कार्ये। तथाविधसत्त्वविकलानाञ्च तासा कथ महासत्त्वसाध्यमुक्तिहेतुरत्नत्रयसमग्रता स्यात्। तथाहि–न स्त्रीशरीर मुक्तिहेतुरत्नत्रयसमग्रतोपेताऽऽत्माश्रय महता पापेन निर्वर्तितत्वात् नारकादिशरीरवत्।

किञ्च, अखिलकर्मक्षपणाप्रारम्भहेतोस्तस्य तदाश्रयतोपपद्यते। न च स्त्रीशरी-

(१) स्त्रीवर्गपरिहारेण। (२) तीर्थकरत्वश्रिय। (३) सारणा हिते प्रवर्तनलक्षणा कृत्यस्मारणलक्षणा वा उपलक्षणत्वाद वारणा अहितान्निवारणलक्षणा, चोयणा संयमयोगेषु स्खलितस्य युक्तमिद भवादृशा विधातुमित्यादिवचनेन प्रेरणा प्रतिचोदना तथैव पुन पुन प्रेरणा। –गच्छा० व० गा० १७। ओघनि० टी० गा० ४४८। (४) शिष्याचार्यवत् आर्य-आर्यिकयोरपि। (५) पृ० ८६९ पं० ११। (६) शरीरस्य। (७) मुक्तिहेतुरत्नत्रयसमग्रतोपेतात्माश्रयता।

1 व्यक्तिभेद स्यात विधि–आ०। 2 तत्प्राप्तित व०। 3 सारणचारण–आ०। 4 सारणचारण–आ०। 5 इत्थी आ०। 6 आचार्याणामपि–श्र०। 7–विषयमपि क्वापि आ०। 8 न च शरीरस्य आ०।

रस्य तत्प्रारम्भहेतुतोपपद्यते । तथाहि–न स्त्रीशरीरं सकलकर्मक्षपणाप्रारम्भहेतु महता पापेन मिथ्यात्वसहायेन उपार्जितत्वात् नारकादिशरीरवत् । स्त्रीनिर्वर्त्तकं हि कर्म महत्पापम् न मिथ्यादृष्टेरन्येन उपार्ज्यते । यद्यपि सासादनसम्यग्दृष्टिरपि तदुपार्जयति तथाप्यसौ सम्यग्दर्शनमवमादयन् मिथ्यादृष्टिरेव, मिथ्यादर्शनाभिमुखस्यास्य मिथ्यादर्शनेनैव व्यपदेशात् । सम्यङ्मिथ्यादृष्टिरपि हि तत्तावत् नार्जयति, किमङ्ग पुनः सम्यग्दृष्टिः ? स्त्रीत्वेन उत्पद्यमानोऽपि जीवो मिथ्यात्वपरिणत एव उत्पद्यते । तदुक्तम्–

"छसु हेट्ठिमासु पुढविसु जोइस-वण-भवण-सव्वइत्थीसु ।
बारस (बारस) मिच्छुववादे सम्माइट्ठी ण उप्पयदि ॥" [पञ्चसं० १।१९३ (?)]

यासाञ्च उत्कृष्टस्थितिनिर्देवपदप्राप्तिरपि नास्ति ताः मोक्षपदं प्राप्स्यन्ति इति महद्व्यायामकौशलम् ।

यदप्युक्तम्–'अट्ठसमयेगसमये' इत्याद्यागमश्च स्त्रीनिर्वाणे प्रमाणम्' इत्यादि, तदप्यनल्पतमोविलसितम्, अस्य आगमस्य अस्मत्प्रत्यप्रमाणत्वात्, तदप्रमाणत्वञ्च प्रमाणबाधितार्थप्रतिपादकत्वात् सुप्रसिद्धम् । यथा च स्त्रीनिर्वाणलक्षणोऽर्थः प्रमाण-

(१) "चित्तस्सावो तासिं सित्थिल्लं अत्तवं च पक्खलणं । विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहुममणुआणं ।"–प्रव० टी० पृ० ३०३। 'सुहुमापज्जत्ताणं मणुआणं जाणिणाहिकक्खसु । उप्पत्ती होइ सया वण्णेसु य तणुपएसेसु ॥ जह्मा अत्थि तणं तेसिं इत्थीणं दुविहसंजमोद्धरणं । सज्झमचरणेण विणा ण हु मोक्खो तेण जम्मेण ॥"–भावसं० गा० ९४–९५ । "स्रवत्यशुद्धता यासां गर्भमलाश्रयत्वतः । रजःस्वलत्वमेतासां मासं मासं प्रति प्रजायते ॥ उत्पद्यन्ते सदा स्त्रीणां योनौ कक्षादिमर्मसु । सूक्ष्मापर्याप्तिका मर्त्यास्तद्देहस्य स्वभावतः ॥ स्वभावं कुत्सितस्तासां लिङ्गं चापल्यवृत्तिमत् । तस्मान्न प्राप्यते तासां दृढा संयमभावना ॥ उत्कृष्टसंयमं मुक्त्वा शुक्लध्यानं न योग्यता । नो मुक्तिस्तद्विना तस्मात्तासां मोक्षोऽतिदूरगः ॥ सप्तमं नरकं गन्तुं शक्तिर्यासां न विद्यते । आद्यसंहननाभावान्मुक्तिस्तासां कुतस्तनी ॥ योषित्स्वरूपमनीर्येण तल्लिङ्गमननुमापिता । अर्चा प्रतिष्ठिता क्वापि नियन्ते चेत्प्रदर्श्यताम् ॥ न सन्ति च मनोभावं सन्ति चेद भण्डिमास्पदम् । एवं भावद्वयाभावान्मोक्षो न घटते स्त्रियः ॥'–भावसं० श्लो० २४४–५० । (२) "सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो । णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो ॥'–जीवका० गा० २० । "विपरीताभिनिवेशतोऽसद्दृष्टिर्वा । तर्हि मिथ्यादृष्टिमवतु तस्य नास्य सासादनव्यपदेश इति चेत्, न, सम्यग्दर्शनचारित्रप्रतिबन्ध्यनन्तानुबन्ध्युदयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र सत्त्वाद् भवति मिथ्यादृष्टिरिति । मिथ्यात्वकर्मोदयजनितविपरीताभिनिवेशाभावात्र तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेशः किन्तु सासादन इति व्यपदिश्यते ।"–धवलाटी० पृ० १६४ । (३) ' बारसमिच्छावादे सम्माइट्ठिस्स णत्थि उववादो ।'–पञ्चसं० । ' णदगुणमुववज्जइ सम्माइट्ठी दु जो जीवो"–धवलाटी० पृ० २०९ । "हेट्ठिमछप्पुढवीण जोइसि वण भवण सव्व इत्थीणं । पुण्णिदरे णहि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे ॥'–जीवका० गा० १२७ । अधस्तनासु षट्पृथ्वीषु ज्योतिष्कव्यन्तरभवनवासिषु तिर्यङ्मनुष्यदेवस्त्रीषु द्वादशसु मिथ्यादृष्ट्युपपादस्थानेषु सम्यग्दृष्टय उत्पद्यन्ते ... ।
(४) पृ० ८६९ पं० १३ ।

1–वमादयन् मि–आ० । 2–रपि हतु तावत् ब० । 3 किंपुन ब० । 4–मानोऽपि–ब० । 5 बारसमिच्छुववादे आ०, ब० । 6–यासामपि इत्थि न उप–ब० । 7 महदग्ग–आ० । 8 अस्मान् प्रत्यप्र–ब० ।

वाधित तथा प्रपञ्चत प्राक् प्रतिपादितमेव ।

ननु–"पुंवेद वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा ।
मेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति ॥" [प्रा० सिद्धभ० गा० ६]

इत्यादेरपि प्रमाणभूतागमस्य तन्निर्वाणप्रतिपादकस्य सद्भावात् कथ प्राक्तनागमस्य प्रमाणबाधितार्थप्रतिपादकत्वम्, आगमात् स्त्रीनिर्वाणोऽसिद्धिर्वा ? इत्यपि मनोरथमात्रम्, तस्यं तन्निर्वाणावेदकत्वाऽसम्भवात्, न हि पुंवेदोदयवत् शेषवेदोदयेनापि पुंसामेव अपवर्गावेदक, उभयत्र 'पुरुषा' इत्यभिसम्बन्धात्। वेद इति हि मोहनीयोदयजन्मा चित्तविकारोऽभिलापरूपोऽभिधीयते, उदयश्च भावस्यैव न द्रव्यस्य ।

यदप्युक्तम्–'द्रव्यत पुरुषा' इत्यादि, तदप्यचर्चिताभिधानम्, द्रव्यत स्त्रीवेदस्य मोक्षप्रसाधनसामर्थ्याभावस्य प्रतिपादितत्वात् कथ द्रव्यत स्त्र्यपि भावत पुरुषो भूत्वा निर्वास्यति ? यद् द्रव्यतो मोक्षप्रसाधने असमर्थ तद् भावतोऽपि तत्र साधतेऽसमर्थमेव यथा तिर्यगादि, द्रव्यतो मोक्षप्रसाधने असमर्था च स्त्री इति । अतो द्रव्यत पुरुषस्यैव भावतो वेदे यत्र क्वचिदारूढस्य नि शेषतो निखिलकर्मारातिनिर्दहनसामर्थ्यमभ्युपगन्तव्यम् लोकवत् । यथैव हि लोके पुरुषो महासत्त्वोपेतो गजतुरगादौ यत्र क्वचिदारूढ किञ्चिद्दिव्यमस्त्रमादाय रणरङ्गे निखिलशत्रुवर्गमुन्मूलयन् परमैश्वर्यमनुभवति इति आबाल प्रसिद्धम् न पुन यथार्थनामा अबला, तथा द्रव्यत पुरुष एव भावतो वेदत्रयान्यतमवेदाधिरूढ शुक्लध्यानानुपमास्त्रमादाय कर्मारातिवर्गमुन्मूलयन् परमैश्वर्यमनुभवति इति ।

यदप्यभिहितम्–'न च सिद्ध्यतो वेद ' इत्यादि, तदसत्यमेव, नहि अस्माभिर्वेदात मुक्तिरभ्युपगम्यते, कर्मनिचयनिर्दहनसमर्थतीव्रतरशुक्लध्यानानलात् परापरमुक्तेरभ्युपगमादिति ॥ छ ॥

इदानी शास्त्रकार शास्त्राध्ययनस्य प्रयोजन प्ररूपयन्नाह–

भव्य पञ्चगुरूंस्तपोभिरमलैराराध्य बुध्वागमम्,
तेभ्योऽभ्यस्य तदर्थमर्थविषयाञ्छब्दादपभ्रशतः ।

(१) 'भावपुवेदमनुभवन्तो य पुरुषा क्षपकश्रेणीमारूढा, न केवलं भावपुवेदेनैव अपि तु सेसोदयेण वि तहा–अभिलापरूपभावस्त्रीनपुंसकवेदोदयेनापि तथा क्षपकश्रेण्यारूढप्रकारेण झाणुवजुत्ता य शुक्लध्यानोपयुक्ताश्च ते द्रव्यपुवेदास्तु सिज्झंति सिद्ध्यन्ति । –सिद्धभ० टी० । (२) 'पुंवेदं वेदंता' इत्यागमस्य । (३) "अवेदत्वेन, त्रिभ्यो वा वेदेभ्य सिद्धिर्भावत न द्रव्यत द्रव्यत पुल्लिङ्गेनैव ।'–सर्वार्थसि० १०।९। अतीतगोचरनयापेक्षया अविशेषेण त्रिभ्यो वेदेभ्य सिद्धिर्भवति भाव प्रति, न तु द्रव्य प्रति । द्रव्यापेक्षया तु पुल्लिङ्गेनैव सिद्धि । –राजवा० पृ० ३६६ । पुल्लिङ्गेनैव तु साक्षाद् द्रव्यतो –तत्त्वार्थश्लो० १०।९। (४) पृ० ८७० पं० ३। (५) पृ० ८७० पं० ५ ।

1–णसिद्धिर्वेत्यपि श्र० –णासिद्धिरित्यपि–ब०। 2–त्र तन्निर्वाणा–ब०,–र्त्र स्त्रीनिर्वाणा–श्र० । 3–विकारो ह्यभिधी–ब०। 4 मोक्षसाधन–ब०। 5–तोऽखिल–ब०। 6 लोकेषु पुरुषो आ०। 7 बाला श्र०।

दूरीभूततरात्मकादधिगतो बोद्धाऽकलङ्कं पदम्,
लोकालोककलावलोकनबलप्रज्ञो जिनः स्यात् स्वयम् ॥ ७७ ॥
प्रवचनपदान्यभ्यस्य अर्थास्ततः परिनिष्ठितान्,
असकृदवबुद्ध्येद्धाद्बोधाद्बुधो हतसंशयः ।
भगवदकलङ्कानां स्थानं सुखेन समाश्रितः,
कथयतु शिवं पन्थानं वः पदस्य महात्मनाम् ॥ ७८ ॥

विवृतिः–लक्षण-संख्या-विषय फलोपेतप्रमाण नय-निक्षेपस्वरूपप्ररूपके हि हेतुवादरूपे आगमे गुरूपदेशपरम्परातो यथावदधिगते परमप्रकर्षेण अभ्यस्ते सति आत्मनो जिनेश्वरपदप्राप्तिलक्षणस्वार्थसम्पत्तिर्भवति । तत्सम्पत्तौ च मुमुक्षुजनमोक्षमार्गोपदेशद्वारेण परार्थसम्पत्तये असौ चेष्टते इति ॥ छ ॥

इति श्री भट्टाकलङ्कशशाङ्कानुस्मृतप्रवचनप्रवेशः समाप्तः ॥ छ ॥



(१) "स्याद भवेत । क भव्य मोक्षहेतुरत्नत्रयरूपेण भविष्यति परिणस्यतीति भव्य अभव्यस्य मुक्तावनधिकारात । किंविशिष्ट स्यात ? जिन स्यात । पुन कथम्भूत ? लोकालोककलावलोकनबलप्रज्ञ, षड्द्रव्यसमवायो लोक ततो बहिरलोक केवलाकाशरूप तयो कला विभाग । अथवा लोकश्च अलोकश्च कलाश्च जीवादय पदार्था तासामवलोकन तत्र बल शक्ति प्रज्ञा प्रकृष्टं ज्ञान च विद्यते यस्य स तथोक्त कथ स्वय स्वेनात्मना नेन्द्रियादिसाहाय्येन इत्यर्थ । पुनरपि किंविशिष्ट ? अधिगत । किम् ? पदम स्थानम । किंविशिष्टम् ? आकलङ्कम अकलङ्कानामिदम आर्हन्त्यमित्यर्थ । बोद्धा । किंकृत्वा ? अभ्यस्य पुन पुनर्भावयित्वा । कम ? तदर्थम्, तस्यागमस्य अर्थो जीवादिवस्तु तम । आदौ कृत्वा ? बुध्वा अधीत्य ज्ञात्वा च । कम ? आगम श्रुतम । केभ्य ? तेभ्य पचगुरुभ्य सकाशात । कस्मादवधिभूताद ? शब्दात् । किंविशिष्टात ? अर्थविपयात । पुन किंविशिष्टात ? अपभ्रंशात भ्रंशा लक्षणलोप तस्मादपगत अपभ्रंश तस्मात । तत पूर्व कि कृत्वा ? आराध्य गुरुन अर्हदादीन । कति ? पच । क गुण ? तपोभि बाह्याभ्यन्तर इच्छानिरोध । अमलै मिथ्यात्वादिमलरहित "–लघी० ता० पृ० १०० । (२) 'कथयतु प्रतिपादयतु । क ? बुध ज्ञानी । कम् ? पन्थान मार्गप्राप्त्युपायम् । किं विशिष्टम् ? शिवम् । कस्य ? पदस्य स्थानस्य । केषाम् ? महात्मनाम । केभ्य कथयतु ? व युष्मभ्यं विनेयेभ्य । केन ? सुखेन तात्वोष्ठपुटव्यापारक्लेशाभावेन । किंविशिष्ट सन ? समाश्रित प्राप्त । किम् ? स्थानम् अवस्थानम् न क्षणभगं तत्रोपदेशाभावात । किंविशिष्टम ? भगवत् त्रिलोकपूजार्हम् । केषा स्याम् ? अकलङ्कानाम् अर्हतामित्यर्थ । किंविशिष्ट सन ? हतसशय । किं कृत्वा ? अवबुद्ध्य निश्चित्य । कथम् ? असकृत् पुन पुनर्ध्यात्वा । कान् ? अर्थान् जीवादितत्त्वानि । किंविशिष्टान् ? परिनिष्ठितान् व्यवस्थितान् । क्व तत ? तेषु प्रवचनपदेषु । कस्मात् ? बोधात । किंविशिष्टात् ? इद्धात् उज्ज्वलात् गोचरव्यतिकरव्यतिरेकात अहमहमिकया प्रकाशमानादित्यर्थ । किंकृत्वा । अभ्यस्य परिशील्य । पुन पुनरभ्यस्येत्यर्थ । कानि ? प्रवचनपदानि । परमागमाभ्यासात् परिणतश्रुतज्ञान शुक्लध्यानानलनिर्दग्धकर्मप्रपञ्चभावकलङ्क सार्वश्यमापन्नो मोक्षमार्गोपदेशाय परार्थाय चेष्टतामिति भावो दयालाम् ।"–लघी० ता० पृ० १०१ ।

1–निश्चिता–ब० । 2–स्वरूपके हि भ० । 3 परार्थसम्प–भ० । 4 चेष्ट इति भा० ।
5 इति ग्रन्थ समाप्त ब० ।

बोधो मे[1] न तथाविधोऽस्ति न सरस्वत्या प्रदत्तो वर,
साहाय्यञ्च न कस्यचिद्वचनतोऽप्यस्ति प्रबन्धोदये ।
यत्पुण्य जिननाथभक्तिजनित तेनायमत्यद्भुत,
सञ्जातो निखिलार्थबोधनिलय साधुप्रसादात्पर ॥ १ ॥

कल्याणावसथ सुवर्णरचित विद्याधरै सेवित,
तुङ्गाङ्गो विबुधप्रियो बहुविधश्रीको गिरीन्द्रोपम ।
भ्राम्यद्भिर्न बृहस्पतिप्रभृतिभि प्राप्त यदीय पदम्,
[3]न्यायाम्भोधिनिमन्थन चिरमसौ स्थेयात् प्रबन्ध पर ॥ २ ॥

मूल यस्य समस्तवस्तुविषय ज्ञान पर निर्मलम्,
स्कन्ध सद्व्यवहारसिद्धमखिल स्याद्वादि मान महत् ।
शाखा सर्वनया प्रपञ्चनिवहो निक्षेपमालामला,
जीयाज्जैनमताऽङ्घ्रिपोऽन्य फलित स्वर्गादिभि सत्फलै ॥ ३ ॥

भव्याम्भोजदिवाकरो गुणनिधि योऽभूज्जगद्भूषण,
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रजलधि श्रीपद्मनन्दिप्रभु ।
तच्छिष्यादकलङ्कमार्गनिरतात् सन्न्यायमार्गोऽखिल,
सुव्यक्तोऽनुपमप्रमेयरचितो जात प्रभाचन्द्रत ॥ ४ ॥

अभिभूय निजविपक्ष निखिलमतोद्योतनो गुणाम्भोधि ।
सविता जयतु जिनेन्द्र शुभप्रबन्ध प्रभाचन्द्र ॥ ५ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे सप्तम परिच्छेद समाप्त ॥छ॥

---

(१) प्रभाचन्द्रस्य । (२) न्यायकुमुदचन्द्रविरचने । (३) न्यायकुमुदचन्द्र । (४) न्यायकुमुदचन्द्र ।

1-वय श्र० । 2-यम ब० । 3 न्यायाम्भोधिनिबद्धन आ० न्यायाम्भोनिधिमन्थन श्र० । 4 तन्याय-श्र० । 5 समाप्त । इति श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन न्यायकुमुदचन्द्रो लघीयस्त्रयालङ्कार कृत इति मङ्गलम् । श्रीचन्द्रनाथाय नम । श्रीविजयकीर्तिमुनये नम । श्र० ।

श्रीनन्दिसघकुलमन्दिररत्नदीप(प),सिद्धान्तिमूर्ध(र्ध्न)तिलको [ग]ण्दिनागा।
चूडामणिप्रभृतिसर्वनिमित्तवेदी चूडामणिर्भवनिमित्तविदा बभूव ॥ १ ॥

शिष्यस्तस्य तपोनिधि शमनिधिर्वि [द्यानिधि] र्धीनिधि ।
शीलानन्दितभव्यलोकहृदय सौरयैकनन्दीत्यभूत् ॥
आरुह्य प (प्र) तिभागुणप्रवहण सद्बोधिरत्नो [द्दह]।
[सत्सि] द्धान्तमहोदधेरनघे पार पर दृष्टवान् ॥ २ ॥
अन्तेवासी समजनि मुनेस्तस्य यो देवनन्दी,
दीप्तोत्तप्तप्रभृतितपसा [सा धाम यो] देवनन्दी ।
चातुर्वर्ण्यश्रमणगणिभिर्वन्द्यवद्वर(द) नीयो,
देवश्चासावजनि परमानन्दयोगाच्च नन्दी ॥ ३ ॥
एतस्मादुदयाचलाद्वि [धियशा] द्वी [प्ते] दयेनाश्रित ।
श्रीमद्भास्करण(न)न्दिना दृशन्शिस्तेनोभिरुद्योतिता ॥
विद्वत्तारकचक्रवालमखिल मिथ्यातमोभे [दिभि-
र्योद्धा] सवचोमरीचिनिचयैर्गच्छान्ति सर्वत ॥ छ ॥ ४ ॥
त्यक्ता वाक्कथापि वादिनिवहैर्नाल्पोऽपि जल्प कृत ।
जल्पाके [ऽपया च नो] निगम्ति पारसण्ढवैतण्डिकै ॥
षट्तर्कोपनिपन्निशाणनिशितप्रज्ञस्य ते सेव्यते ।
श्रीमद्भास्करण(न)न्दिपण्डितपते [पादारविन्दद्व]यी ॥ छ ॥

इति न्यायकुमुदचन्द्रवृत्तितर्क समाप्त मि (प्र ह) ति ॥ छ ॥



ग्रन्थाग्र १६००० ॥ १५२० ॥ छ ॥ शुभ भवतु ॥ छ ॥ श्री ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः



१ प्रशस्तिरियम् आ० प्रतावेव उपलभ्यते ।

न्यायकुमुदचन्द्रसम्पादकप्रशस्तिः ।

भजति सागरमण्डलमुद्धुरे सुकृतिभिः 'खुरई'विक्रमत्पुरे ।
सुपरवार'जवाहरलालतः' समजनिष्ट 'महेन्द्रकुमारकः' ॥ १ ॥

कटनीनाथितवीनाख्यनगरे 'धर्मदासतः' ।
नाभिनन्दनमद्विद्यालये संस्कृतशिक्षणम् ॥ २ ॥

प्रारम्भिकमुपादाय विशेषाधिजिगासया ।
विद्वत्सुन्दरमिन्दूरविद्यालयमवाप्तवान् ॥ ३ ॥

'वंशीधरात्'धर्ममधीत्य 'जीवन्धराच्च' तर्कं श्रमतः सतर्कम् ।
स्याद्वादविद्यालयमेत्य तस्मिन्नश्रान्तमध्याप्यमहं चिराय ॥ ४ ॥

न्यायमध्यापयन्नन्तेवासिनोऽपि निरन्तरम् ।
अभूवमुत्तमश्रेण्या न्यायाचार्यस्ततः परम् ॥ ५ ॥

गवेषणापूर्णधियेह टिप्पणीतिहाससम्यक्तुलना मया श्रमात् ।
विलिख्य तत्रानवधानदूषणं सुधीजनः शोधयितेत्युपेक्ष्यते ॥ ६ ॥

रसैरसयुगनेत्रे वीरनिर्वाणवर्षे,
प्रथमदलनवम्या भौमवारान्वितायाम् ।
कृतिरियमगमन्मे पूर्णतां मासि माद्रे,
गुरुचरणकृपौघेनान्तरेणान्तरायम् ॥ ७ ॥

न्यायकुमुदचन्द्रस्य

॥ परिशिष्टानि ॥

[INDEXES.]



"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयाज्जैनेन्द्रचन्द्रस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

—अकलङ्कदेव

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥"

—हरिभद्र

"परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥"

—अमृतचन्द्र

§ १. लघीयस्त्रयस्य कारिकार्धानामकाराद्यनुक्रमः ।



§ २ सविवृतिलघीयस्त्रयगतानि अवतरणानि ।

§ ३. सविवृतिलघीयस्त्रयस्य लाक्षणिकानां विशिष्टदार्शनिकानां च नाम्नां सूचिः ।

परिशिष्टेऽस्मिन् स्थूलोऽङ्कः पृष्ठसंख्यां सूचयति सूक्ष्मोऽङ्कश्च पङ्क्तिसंख्याम्। स्थूलाक्षरमुद्रिताश्च नाम्

§ ४ अन्याचार्यैः स्वग्रन्थेषु समुद्धृतानां लघीयस्त्रयकारिकाणां विवृत्यंशानाञ्च तुलना ।

१ वीरसेन

लघी०		धवलाटीका
का० ५१		पृ० १७

२ रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य

लघी०		सिद्धिविनिश्चय टीका
का० ७		पृ० १८४ A
का० ७	प्रमाणफलयो	पृ० ९९ B
का० ५६		पृ० १८७ B
का० ५७		पृ० १९३ A
का० ५९		पृ० १० B
का० ६२		पृ० ४ A

३ विद्यानन्द

लघी०		
		प्रमाणपरीक्षा
का० ३		पृ० ६९
		अष्टसहस्री
का० ३		पृ० १३४
का० २२	तिमिराद्युपप्लव	पृ० २७७
		पत्रपरीक्षा
का० ३		पृ० ५
		आप्तपरीक्षा
का० ४	तदस्ति सुनिश्चिता	पृ० ५६
		सत्यशासनपरीक्षा
का० ३७		पृ० १५ B
		तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
का० ४	तदस्ति सुनिश्चिता	पृ० १८५
का० ७		पृ० ४२४
का० १०		पृ० २३९
का० ३२		पृ० २७०
का० ५४	इन्द्रियमनसी	पृ० ३३०
का० ७०		पृ० २७१
		नयविवरण
का० ३२		श्लो० ६७

४ प्रभाचन्द्र

लघी०		प्रमेयकमलमार्तण्ड
का० ३	तज्ज्ञानं प्रमाणं	पृ० २५

५ अनन्तवीर्य

लघी०		प्रमेयरत्नमाला
का० १९-२०		३।५

६ वादिराज

लघी०		न्यायविनिश्चयविवरण
का० ३		पृ० ४८ A
का० ५		पृ० ३२ A
का० ५	विषयविषयि	पृ० ३२ A
का० १४		पृ० ५२७ A
का० ५२		पृ० ३२ A
का० ५९		पृ० ३३ A
		प्रमाणनिर्णय
का० ४	तदस्ति सुनिश्चिता	पृ० २९

७ आशाधर

लघी०	अनगारधर्मामृतटीका
का० ७३-७६	पृ० १६९
	इष्टोपदेशटीका
का० ५७	पृ० ३०

८ शीलाङ्काचार्य

लघी०	सूत्रकृताङ्गटीका
का० ४	पृ० २२७ A
का० ७२	पृ० ३२६ A

९ अभयदेव

लघी०	सन्मतितर्कटीका
का० ५ विषयस्तावत्	पृ० ५५३
का० ५ कथञ्चिदभेदेऽपि	पृ० ५५३
का० १० अविसंवादस्मृते	पृ० ५५३
का० २२	पृ० ५९५
का० २२ तिमिराद्युपप्लव	पृ० ५९५
का० ३२	पृ० २७२
का० ५६	पृ० ५४४

१० वादि देवसूरि

लघी०	प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार
का० ३ सन्निकर्षनिराशस्य	१।४
का० ४ अनुमानाद्यतिरेकेण	२।३
का० ५ कथञ्चिदभेदेऽपि	२।१२
	स्याद्वादरत्नाकर
का० ४	पृ० ३१६
का० १९	पृ० ४९८

११ रत्नप्रभ

लघी०	रत्नाकरावतारिका
का० १९।२०	३।३

१२ हेमचन्द्र

लघी०	प्रमाणमीमांसा
का० ४ तदस्ति सुनिश्चिता	पृ० १४
का० ४ यावज्ज्ञेयव्यापि	पृ० १४
का० ४ अत्रानुपलम्भं	पृ० १४
का० ५ विषयस्तावत	पृ० २१
का० ५ कथञ्चिदभेदेऽपि	पृ० २२
का० ६ धारणा	१।२।१९
का० ७	१।१।२९
का० ८	पृ० १४
का० १९-२०	पृ० ३५

१३ मलयगिरि

लघी०	आव० नि० मलयगिरिटीका
का० ३०	पृ० ३७० B
का० ५७	पृ० १७
का० ६३	पृ० ३६९ B
का० ६३ क्वचित्स्यात्कार	पृ० ३६९ B
का० ७२	पृ० ३८१ B
	नन्दिसूत्रटीका
का० ५७	पृ० ६६ B

१४ देवेन्द्रसूरि

लघी०	प्रथमकर्मग्रन्थटीका
का० ५७	पृ० ८

१५ यशोविजय

लघी०	अनेकान्तव्यवस्था
का० ७६ अप्रस्तुतार्थापाकरणात्	पृ० २५
	शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका
का० ४	पृ० ३१०B
	गुरुतत्त्वविनिश्चय
का० ३०	पृ० १६ B
का० ६३	पृ० १६ A

§ ५. न्यायकुमुदचन्द्रगतान्यवतरणानि ।



§ ६. न्यायकुमुदचन्द्रनिर्दिष्टा न्यायाः ।

§ ७. न्यायकुमुदचन्द्रगतानाम् ऐतिहासिक-भौगोलिकनाम्नां सूचिः ।

§ ८. न्यायकुमुदचन्द्रनिर्दिष्टा ग्रन्था ग्रन्थकृतश्च ।

§ ६ न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गतानां लाक्षणिकशब्दानां सूचिः।

लाक्षणिकशब्दाः	पृ०	पं०			
अज्ञान	३३४	३	अप्रापक	३३२	१२
अज्ञाननिवृत्ति	२०९	१६	अप्रतिपत्ति	३२९	१४
अणिमा	११०	१२	अप्रतिभा	३३४	६
अधिक	३३३	८	अप्रतिसंख्यानिरोध	३९२	३
अधिकरण	८०२	१९	अप्राप्तकाल	३३३	३
अधिकरणसिद्धान्त	३१३	४	अप्राप्तिसम	३२५	१३
अध्यवसाय	६७८	८	अप्रामाण्य	१९८	२४
अध्येषण	५८८	७	अभ्यनुज्ञा	५८८	८
अननुभाषण	३३३	१७	अभ्युपगमसिद्धान्त	३१३	७
अनुत्पत्तिसम	३२६	९	अमूर्तत्व	६८९	१५
अनुपलब्धिसम	३२८	८	अर्थान्तर	३३२	१
अनुमान	५१८	९	अर्थापत्ति	५०५	५
अनुसंधान	८२५	५	अर्थापत्तिसम	३२७	१०
अनित्यसम	३२८	१५	अल्पबहुत्व	८०३	४
अनैकान्तिक	३१९	११	अवयव	३१३	११
अनौपक्रमिकी	८१२	१०	अवर्ण्य	३२४	१९
अन्तर	८०३	३	अवर्ण्यसमा	३२५	२
अपकर्षसमा	३२४	१६	अविज्ञप्ति	३९१	६
अपक्षपण	२८७	३	अविज्ञातार्थ	३३२	८
अपवर्ग	३१०	६	अविद्या	३९३	१०
अपसिद्धान्त	३३५	५	अविशेषसम	३२७	१३
			अविसंवाद	४१०	५

§ १० न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गताः केचिद्विशिष्टाः शब्दाः।

§१२ मूल-टिप्पणाद्युपयुक्तग्रन्थसङ्केतविवरणम् ।

अकलङ्कग्र० परि०–अकलङ्कग्रन्थत्रयपरिशिष्टम् [सिंघी जैन सीरिज कलकत्ता] ७८०

अद्वयवज्रसं०–अद्वयवज्रसंग्रह [गायकवाड सीरिज वडोदा] ४०९

अद्वयवज्रसं० तत्त्वरत्ना०–अद्वयवज्रसंग्रहतत्त्वरत्नावली [गायकवाड सीरिज वडोदा] १२५

अनागारध०–अनागारधर्मामृतम् [माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थ० बम्बई] ७९९

अनुयोगद्वा० } अनु० सू० } अनुयोगद्वारसूत्रम् [आगमोदयसमिति सूरत] २४२, ६०५, ६०९, ६२२, ६३२, ६३६–६३८ ७८२, ७९९–८०१, ८०४–८०७

अनेकान्तवाद० } अनेकान्तप्र० } अनेकान्तवाद प्रवेश [हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावली पाटन] ५३७, ६२०

अनेकान्तवादप्र० टि०–अनेकान्तवादप्रवेशटिप्पणम [हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावली पाटन] ३६९

अनेकान्तजय० } अनेकान्त० प० } अनेकान्तजयपताका [यशोविजय ग्रन्थमाला काशी] ५१, १४०, ५२६, ५३४, ५३६, ५३७, ५८०, ५८१ ५५३–५५५, ५५९, ५६० ५६४, ६२०, ६२१, ६४०, ८३८

अयोग०–अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका स्याद्वादमञ्जर्यन्तर्गता [रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई] ५६६

अपोहसि०–अपोहसिद्धि [एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता] ५५४

अभि० आलोक०–अभिसमयालङ्कारालोक [गायकवाड सीरिज वडोदा] ५ १२४, १२६, ३८२, ३८४, ५२४, ८३८

अभि० कोश } अभिध० } अभिधर्मकोश [ज्ञानमण्डल प्रेस काशी] ८३, १२०, २७२, ३११, ३१२, ३१५, ६०२

मुक्ताव० दिन०
न्यायमुक्ता० दिन० } मुक्तावली दिनकरीटीका [निर्णयसागर बम्बई]
९७, १०९, २८२, ३१०, ५६७, ५७७, ५७९

मुक्ता० दिन० रामरुद्री, रामरु० } मुक्तावलीदिनकरीरामरुद्रीटीका [निर्णयसागर बम्बई] २९, ५६७

मुण्डकोपनि०—मुण्डकोपनिषत् [निर्णयसागर बम्बई] १४८

मूलाचार—[माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला बम्बई] ७९९–८०१, ८४५, ८६३

मैत्र्युप०—मैत्र्युपनिषत् [निर्णयसागर बम्बई] १४७, ५४८

यजुःसंहिता—[बम्बई] ७७०

यशस्तिलक०—यशस्तिलकचम्पू [निर्णयसागर बम्बई] ६५३

यश० उ०—यशस्तिलकचम्पू उत्तरभाग [निर्णयसागर बम्बई] ६३४, ८०१, ८२५, ८३७ ८३८

युक्तिदी०
सांख्यका० युक्तिदी० } युक्तिदीपिका [कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला] ५०३ ५७३, ६८९, ८१३–८१५

युक्तिप्रबो०—युक्तिप्रबोध [श्वेताम्बर संस्था रतलाम] २५८, ८५२, ८५३, ८६६, ८६७ ८६०

युक्त्यनु०—युक्त्यनुशासनम् [माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई] १५, १९, ५१, १२४ १२९, २८८ ३४८, ६२३, ८४२

युक्त्यनुशा० टी०—युक्त्यनुशासनटीका [माणिकचन्द्र ग्र० बम्बई] १३०, १८६, १८९, ३४१ ३४४ ३४८, ६४५ ७१२ ७५४ ८१७ ८२०, ८२१ ८४२, ८ ३

योगदा।रका—साङ्ख्ययोगदर्शनान्तर्गता [चौखम्बा काशी] ४०, १८९ ६२५, ८१३

योगद० व्यासभा०
योगभा० व्यासभा०
योगसू० व्यासभा० } योगसूत्रव्यासभाष्यम् [चौखम्बा काशी] २५ ४०, १०९–१११, ११४, १२४, १५० ४०१ ६०५, ६१४, ६२५ ६२८, ७४५ ८११, ८१२ ८१४, ८१५

योगभा० तत्त्वव०
योगसू० तत्त्वव०, तत्त्वव०
योगद० तत्त्वव०, } योगसूत्रतत्त्ववैशारदी टीका [चौखम्बा काशी] २८ ४०, ११०, १११ ११४ १२२, १२४ १००, ४०८ ४७६, ५०६ ६२८ ७४५, ७४७ ८१५

योग० भास्वती
योगसू० भास्व०, भास्वती } योगसूत्रभास्वती टीका [चौखम्बा काशी] ६२८ ७४५ ८१५ ८१७

योगवा०—योगवार्तिकम् [चौखम्बा काशी] २४ ४०, ५९६ ६२५ ६२८ ७४५, ८१५

योगशा०—योगशास्त्रम् [एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता] २५४

योगसू०} योगसूत्रम् [चौखम्बा काशी] १०० ... ८१५, ८१६

योगसू० भोजव०—योगसूत्रस्य भोजवृत्ति [चौखम्बा काशी] ८१९

योगसं०—योगसंग्रह [चौखम्बा काशी] ५९६

रत्नक०—रत्नकरण्डश्रावकाचार [माणिकचन्द्र ग्र० बम्बई] ५०३, ८०१, ८६२

रत्नक० टी०—रत्नकरण्डश्रावकाचारस्य प्रभाचन्द्रीया टीका [माणिकचन्द्र ग्र० बम्बई] ८५५ ८५६, ८५८–८६०, ८६२ ८६४

रत्नक० टी० टि०—रत्नकरण्डश्रावकाचारटीका टिप्पणम् [मा० ग्र० बम्बई] ८५६

रत्नाकरावता०—रत्नाकरावतारिका [यशोविजय ग्रन्थमाला काशी] ४ २० ५२ ७८ ८०– ८३, ८५ ८६, १६७, १७२ ४११ ४६४ ४८०, ५०५, ५१२ ५३७ ५५९ ५६५, ६७० ६८७ ६९२ ७०३, ७११ ७२०, ७२३ ७२६ ७३०, ८२६ ८२७ ८३० ८५३ ८६१–८६०

राजनिघ०—राजनिघण्टुकोश ६६९

राजव०—राजवल्लभ कोश ६६९

लङ्कावतार०—लङ्कावतारसूत्रम् [Kyoto] १२८ १३२, ६६२ ६८४

लघी०—लघीयस्त्रयम् [मा० ग्र० बम्बई] ४५ ५२०

लघी० टि०—लघीयस्त्रयटिप्पणम् अकलङ्कग्रन्थत्रयान्तर्गतम् [सिंघी जैन सीरिज कलकत्ता] ६५६, ६८२

लघी० ता०
लघी० अभ०
लघी० व० } लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्ति [माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई] ५ २२ ७४, ४१८, ४२७, ४३४, ४५० ४५९ ४६१ ४६२ ४८३ ४८५ ४८७, ४८९ ५०२, ५०४ ५२२ ५२५ ५२७ ५२९ ५३० ५९८ ६०० ६०२–६०५ ६०८ ६०९ ६११, ६१२ ६१६ ६१९, ६२२, ६२४ ६२८ ६३२, ६३६ ६३७ ६४४ ६४८ ६५० ६५२ ६५३, ६५५ ६५६, ६५८ ६६१ ६६३, ६६५ ६७४, ६७५ ६७८ ६७९ ६८२ ६८६, ६९१ ६०६ ७८२ ७८८ ७९० ७९२ ७९३ ७९८, ८७०

लब्धिसा०—लब्धिसार [रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई] ८५६

ललितवि०—ललितविस्तरा [श्वेताम्बर संस्था रतलाम] ८६५

लौकिक न्यायाञ्जलि—[निर्णयसागर बम्बई] १६८

लौकिक न्या० तृ०—लौकिक न्यायाञ्जलितृतीयभाग [निर्णयसागर बम्बई] ४३२ ८२७

वाक्यप०—वाक्यपदीयम् [चौखम्बा सीरिज काशी] ६८ १६०, १६५ २७९ २८२, ३६९ ५६५, ५५० ५५३ ५६६ ५९६, ६४८ ६६९ ७११, ७३७–७४२, ७४८–७५०, ७५८, ७५७ ७५७ ७५९–७६१, ७६०

वाक्यप० वृ०
वाक्यप० स्वव०
वाक्यप० हरि० } वाक्यपदीयस्वोपज्ञा वृत्ति [लाहौर] ५५१ ७४०, ७५७

आ० आदर्शत्वेन कल्पिता ईडरभण्डारीया न्यायकुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रति ।

आ० टि० आदर्शप्रते प्रान्तभागे उपलब्धा टिप्पणी ।

ई० वि० ईडरभण्डारीयत्रुटितप्रत्यन्तर्गता स्वविवृतिप्रति ।

ज० वि० जयपुरीया स्वविवृतिप्रति ।

ब० बनारसस्थस्याद्वादविद्यालयसत्का न्यायकुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रति ।

मु० लघी० मुद्रित लघीयस्त्रयम् ।

श्र० श्रवणबेलगोलस्थ श्री [पण्डिताचार्य] चारुकीर्तिभट्टारकसत्का न्यायकुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रति ।

का० कारिका

गा० गाथा

श्लो० श्लोक



शुद्धिपत्रम्

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
४१४–३, ४२९–१२, ४६३–१२, ५३८–५		प्रथक्	पृथक्
४१९	१	प्रमाण्यात्	प्रामाण्यात्
४३६	१६	–संस्कृतस्या–	–सङ्केतस्या–
४४६	१२	यक–	वक–
४६४	८	स्स्मृत्वा	स्मृत्वा
४६७	१२	(१) अभावस्य	(१) अभावप्रमाणस्य
४६९	१०	रूपित्व	रूपित्व
४७३	२१	(४ घटधर्मतया	(४) भूतलधर्मतया
४७३	२१	(५) घटात्	(५) भूतलात्
४८८	१८	योग्ययोग्यौ	योग्यायोग्यौ
५१५	९	त्रिधिनो यते	त्रिविनोऽयत
५७२	१७	–विशिष्ट	–विशिष्ट
५७२	२२	–नियतद्रव्य–	–नियततद्रव्य–
५७३	२१	विधर्मिण–	विधर्मण–
६१४	१८	वायम इति	वायमितरथा कारणम् इति
६३८	११	को विनया	कोऽविनया
६७४	२८	प्रवात–	प्रवात–
६७१	१२	–प्राप्ति–	–प्राप्ति–
७४०	८	वाक्यप०	वाक्यप०
७५७	७	गम्भारीनाम	गाम्भारीनाम्
७६७	३	गावीन गर	गावीशर
७०७	२७	तन्त्रि–	सूरि–
८०२	१७	–रूपक–	–रूपक–
८२४	३	पणमराणा	पणछपदयद्
८२४	७	–स्यच्छे–	–स्यच्छु–
८२	१३	इति	इति
८३७	८	–तम	–तम्
८८६	७	महुशाला	सुदशाला
८९१	२१	मुक्ति–	मुक्त–
८५५	०	पूर्वाह्ण	पूर्वाह्णे
८६४	२२	–स्यद्गार	–स्यद्भोर
प्र० ५	१०	–सूत्र	–सूत्र

माणिकचन्द्र-जैनग्रन्थमालामें प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची

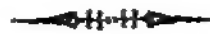


१	लघीयस्त्रयादिसंग्रह	।=)
२	सागारधर्मामृत सटीक (अप्राप्य)	
३	विक्रान्तकौरव (नाटक)	।=)
४	पार्श्वनाथचरित (काव्य)	॥)
५	मैथिलीकल्याण (नाटक)	।)
६	आराधनासार सटीक	।)॥
७	जिनदत्तचरित (काव्य)	।)॥
८	प्रद्युम्नचरित (काव्य)	॥)
९	चारित्रसार (अप्राप्य)	
१०	प्रमाणनिर्णय (अप्राप्य)	
११	आचारसार ,,	
१२	त्रिलोकसार सटीक (अप्राप्य)	
१३	तत्त्वानुशासनादिसंग्रह (अप्राप्य)	
१४	अनगारधर्मामृत सटीक	३॥)
१५	युक्त्यनुशासन	॥।-)
१६	नयचक्रसंग्रह	॥।=)
१७	षट्प्राभृतादिसंग्रह	३)
१८	प्रायश्चित्तसंग्रह	१=)
१९	मूलाचार सटीक पूर्वार्द्ध	२॥)
२०	भावसंग्रहादि	२।)
२१	सिद्धान्तसारादिसंग्रह	१॥)
२२	नीतिवाक्यामृत सटीक	१॥।)
२३	मूलाचार सटीक-उत्तरार्द्ध	१॥)
२४	रत्नकरण्डश्रावकाचार सटीक	२)
२५	पंचसंग्रह	॥।-)
२६	लाटीसंहिता	॥)
२७	पुरुदेवचम्पू	॥।)
२८	जैन शिलालेखसंग्रह	२)
२९	पद्मचरित (पद्म पुराण) प्रथम खण्ड	१॥)
३०	,, ,, द्वितीय खंड	२)
३१	,, ,, तृतीय खंड	२)
३२	हरिवंशपुराण प्रथम खंड	२)
३३	द्वितीय खण्ड	१॥)
३४	नीतिवाक्यामृत सटीक (परिशिष्ट)	।)
३५	जम्बूस्वामिचरित (काव्य)	१॥)
३६	त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र मराठी टीकासहित	॥)
३७	महापुराण (प्रथम खंड)	१०)
३८	न्यायकुमुदचन्द्र—भट्टाकलंकदेवके लघीयस्त्रय प्रकरण श्रीप्रभाचन्द्राचार्यकृत भाष्य (प्रथम खंड)	८)
३९	न्यायकुमुदचन्द्र (द्वितीय खण्ड)	८॥)
४०	वराङ्गचरित—जटाचार्य (सिंहनन्दि) कृत प्राचीन महाकाव्य	३)
४१	महापुराण (द्वितीय खंड)	१०)

नोट—सभी ग्रंथ बहुत सस्ते हैं लागतमात्र मूल्यमें बेचे जाते हैं।

मिलनेका पता—नाथूराम प्रेमी
मंत्री—माणिकचन्द्र जैनग्रंथमाला
ठि० हीराबाग पो० गिरगाँव बम्बई नं० ४

माणिकचन्द्र-जैनग्रन्थमालामें प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची



१	लघीयस्त्रयादिसंग्रह	।=)
२	सागारधर्मामृत सटीक (अप्राप्य)	
३	विक्रान्तकौरव (नाटक)	।=)
४	पार्श्वनाथचरित (काव्य)	॥)
५	मैथिलीकल्याण (नाटक)	।)
६	आराधनासार सटीक	।)॥
७	जिनदत्तचरित (काव्य)	।)॥
८	प्रद्युम्नचरित (काव्य)	॥)
९	चारित्रसार (अप्राप्य)	
१०	प्रमाणनिर्णय (अप्राप्य)	
११	आचारसार	
१२	त्रिलोकसार सटीक (अप्राप्य)	
१३	तत्त्वानुशासनादिसंग्रह (अप्राप्य)	
१४	अनगारधर्मामृत सटीक	३॥)
१५	युक्त्यनुशासन	।||-)
१६	नयचक्रसंग्रह	।||=)
१७	षट्प्राभृतादिसंग्रह	३)
१८	प्रायश्चित्तसंग्रह	१=)
१९	मूलाचार सटीक पूर्वार्द्ध	२॥)
२०	भावसंग्रहादि	२।)
२१	सिद्धान्तसारादिसंग्रह	१॥)
२२	नीतिवाक्यामृत सटीक	१।||)
२३	मूलाचार सटीक उत्तरार्द्ध	१॥)
२४	रत्नकरण्डश्रावकाचार सटीक	२)
२५	पंचसंग्रह	।||-)
२६	लाटीसंहिता	॥)
२७	पुरुदेवचम्पू	।||)
२८	जैन शिला लेखसंग्रह	२)
२९	पद्मचरित (पद्म पुराण) प्रथम खंड	१॥)
३०	" " द्वितीय खंड	२)
३१	" " तृतीय खंड	२)
३२	हरिवंशपुराण प्रथम खंड	२)
३३	" द्वितीय खण्ड	१॥)
३४	नीतिवाक्यामृत सटीक (परिशिष्ट)	।)
३५	जम्बूस्वामिचरित (काव्य)	१॥)
३६	त्रिषष्ठिस्मृतिशास्त्र मराठी टीकासहित	॥)
३७	महापुराण (प्रथम खंड)	१०)
३८	न्यायकुमुदचन्द्र—भट्टाकलंकदेवके लघीयस्त्रय ग्रंथपर श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यकृत भाष्य (प्रथम खंड)	८)
३९	न्यायकुमुदचन्द्र (द्वितीय खण्ड)	८॥)
४०	वराङ्गचरित—जटाचार्य (सिंहनन्दि) कृत प्राचीन महाकाव्य	३)
४१	महापुराण (द्वितीय खंड)	१०)

नोट—सभी ग्रंथ बहुत सस्ते हैं, लागतमात्र मूल्यमें बेचे जाते हैं।

मिलनेका पता—नाथूराम प्रेमी
मंत्री—माणिकचन्द्र जैनग्रंथमाला
ठि० हीराबाग पो० गिरगांव, बम्बई नं० ४